लोक वित्त

(PUBLIC FINANCE)

डॉ. डी. एन. गुर्टू
माइक्रो इकानामिक थ्योरी, मैक्रो इकानामिक थ्योरी एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र आदि पाठ्यपुस्तकों के रचयिता

कॉलेज बुक डिपो
जयपुर • नयी दिल्ली • मुंबई

ISBN 81 85789 42 8
First Edition 1970
Thoroughly Revised Edition 1998



Note Due care and diligence has been taken while editing and printing the book neither the author nor the publishers of the book hold any responsibility for any mistake

Published by College Book Depot, 83 Tripolia Bazar Jaipur 2
Branches 2/44 Ansari Road Daryaganj New Delhi 2
601 Atlas Lokhandwala Complex Andheri (West) Mumbai 53
Type setting at Amarjyoti Computers Jaipur 2
Printed at S L Offset Printers Jaipur

प्रकाशकीय

लोक वित्त अर्थशास्त्र का एक अभिन्न एव अति महत्वपूर्ण भाग है । विशेषकर 1930 के बाद के केन्स के क्रान्तिकारी विचारों से राजकीय नियत्रण से सरकारी क्षेत्र के महत्व मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई । एडम स्मिथ के समय से आधुनिक काल तक लोक वित्त की प्रकृति मे परिवर्तन एक लोक कल्याणकारी सरकार की स्थापना आर्थिक विकास मे विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के स्वरूप के निर्धारण मे लोक वित्त एक अहम् भूमिका निभाता है ।

इस पुस्तक मे लोक वित्त से सबधित विभिन्न विचारधाराओं एव सिद्धातो का अध्ययन सरल और सुगठित रूप से किया गया है । भारतीय लोक वित्त के विभिन्न पहलुओं को इस पुस्तक का आधारबिंदु बनाया गया है । यथास्थान एव आवश्यकतानुसार चित्रो साख्यो एव उदाहरणो के माध्यम से तथ्यो को स्पष्ट किया गया है । पाठ्य सामग्री का सकलन इस प्रकार से किया गया है कि यह पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो का समावेश करती है एव नवीनतम पठनीय सामग्रियो का जैसे आर्थिक समीक्षा राजा चलैया समिति रिपोर्ट भारत सरकार के बजट प्रपत्रो का समुचित सकलन करती है ।

यह पुस्तक विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं—आई ए एस आदि की तैयारी कर रहे विद्यार्थियो के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगी ।

प्रकाशक

दो शब्द

कल्याणकारी राज्य के आदर्श ने 'लोक वित्त' के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। अर्थशास्त्रीय विज्ञान के लिए ही नहीं, अपितु राज्य की महत्त्वपूर्ण नीतियों के निर्माण एव क्रियान्वयन मे इसकी भूमिका केन्द्रीय है। यह देश के आर्थिक जीवन मे नया प्राण फूँकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति एव दिशा का भी यह निर्धारण करता है। देश के आर्थिक सामाजिक राजनीतिक और सॉस्कृतिक जीवन मे परिवर्तन लाने की दृष्टि से भी यह एक बहुत ही प्रभावी साधन-यन्त्र है। भविष्य मे इसका महत्त्व बढेगा यह प्रश्न भी निर्विवाद है। देश के प्रबुद्ध वर्ग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह लोक वित्त की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करे।

प्रस्तुत रचना लोक वित्त की विषय-वस्तु तथा रीति-नीतियो को समझाने का एक विशेष प्रयास है। बौद्धिक विवेचन की दृष्टि से गम्भीर होते हुए भी यह विषय रुचिकर और बोधगम्य बन सके इसका पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। यथास्थान एव आवश्यकतानुसार चित्र साँख्य और उदाहरण आदि के माध्यम से तथ्यों को स्पष्ट किया गया है। भारतीय अर्थतन्त्र का विशेष सन्दर्भ प्रस्तुत रचना को मूल्यवान बनाता है। आँकडे एव तथ्य नवीनतम है। आशा है पाठक-जगत् इसका स्वागत कर हमारा उत्साहवर्द्धन करेगा।

डी एन गुर्टू

अनुक्रमणिका

1

लोक वित्त की प्रकृति और क्षेत्र
(Public Finance : Nature and Scope)

लोक वित्त अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अग है । यह आर्थिक सिद्धान्त की उस शाखा का प्रतिनिधित्व करता है जिसका उद्देश्य राज्य द्वारा आय और व्यय की समस्याओं का अध्ययन करना है । दिन-प्रतिदिन राज्य के बढते हुए कार्यों तथा आर्थिक जीवन पर राजकोषीय कार्यवाहियो के दृष्टिकोण से आज लोक वित्त का अध्ययन एक अनिवार्य आवश्यकता है ।

लोक वित्त का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Public Finance)

'लोक वित्त' दो शब्दों के योग से बना है—लोक+वित्त । लोक (Public) का आशय जन-समूह अथवा व्यक्तियों के समूह से है जिसमे राज्य एव सरकार के रूप मे जन समूह सम्मिलित है जबकि वित्त (Finance) का अर्थ आर्थिक व्यवस्था से है । यहाँ जन-समूह का अर्थ सार्वजनिक सस्थाओं से लगाया जाता है । इन सार्वजनिक सस्थाओं में राज्य के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करने वाली केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारे, स्थानीय निकाय (जिला मण्डल, नगरपालिकाएँ ग्राम पचायते आदि) सम्मिलित हैं, अतएव इन सस्थाओं की आय-व्यय सम्बन्धी क्रियाओं के समुचित अध्ययन को ही लोक वित्त कहा जाता है । 'लोक वित्त' को 'राजस्व' भी कहा जाता है ।

सक्षेप मे, लोक वित्त से आशय सरकार के वित्तीय पहलुओं (Financial Aspects) लोक निकायो (Public Bodies) तथा स्थानीय निकायों (Local Bodies) के वित्त अध्ययन से है । लोक वित्त राज्य की वित्तीय व्यवस्था के विज्ञान और कला का अध्ययन है । राजनीतिक और अर्थशास्त्री मिलकर राज्य के रूप मे जनता की भलाई के लिए कार्य करते हैं । डॉल्टन के अनुसार "लोक वित्त अर्थशास्त्र एव राजनीतिशास्त्र की मध्य रेखा पर स्थित विषय है ।'

सामान्यतया लोक वित्त की परिभाषाओं को तीन वर्गों मे बॉटा जा सकता है—

1. अत्यधिक विस्तृत परिभाषाएँ *(Very Wide Definitions)*

विभिन्न परिभाषाओं मे 'लोक वित्त शब्द का उपयोग अत्यधिक विस्तृत अर्थ में किया गया है । इन परिभाषाओं के प्रतिनिधि अर्थशास्त्री डॉल्टन बेस्टेबल, फिण्डले शिराज आदि है ।

डॉल्टन के अनुसार— 'लोक वित्त उन विषयो मे से एक है जो अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के बीच की सीमा पर स्थित है । इसका सम्बन्ध लोक सस्थाओं की आय तथा व्यय और उनके पारस्परिक समायोजन से है ।"[1]

सी एस बेस्टेबल के अनुसार—' लोक वित्त राज्य की लोक सत्ताओ के आय-व्यय उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा वित्तीय प्रशासन और नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है । [2]

फिण्डले शिराज के अनुसार— 'लोक वित्त सार्वजनिक सस्थाओं की आय की प्राप्ति तथा व्यय से सम्बन्धित सिद्धान्तो का अध्ययन है ।' [3]

1 *Dalton* Principles of Public Finance p 1
2 *C F Bastable* Public Finance p 1
3 *Findlay Shirras* The Science of Public Finance Vol I

इनको विस्तृत परिभाषा इसलिए कहते हैं कि इनमें एक ओर लोक वित्त के अध्ययन में लोक सत्ताओं को शामिल किया गया है तथा दूसरी ओर उनकी सभी प्रकार की आय तथा मौद्रिक व्यय को भी लिया गया है ये परिभाषाएं दोषपूर्ण है क्योंकि—

(क) शिक्षण सस्थाओं सार्वजनिक चिकित्सालयों लोक सस्थाओं या राजकीय सस्थाओं का लोक वित्त से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता।

(ख) सभी प्रकार के आय व्यय को लोक वित्त के अध्ययन क्षेत्र में शामिल करने से यह बडा अनिश्चित विज्ञान बन जाएगा। लोक वित्त मे केवल राज्य के मौद्रिक एव साख सम्बन्धी साधनो को सम्मिलित करना चाहिए।

इसके *अतिरिक्त विभिन्न मौद्रिक तथा अमौद्रिक साधनों के बीच वर्गीकरण करना कठिन है।* मुद्रा के महत्त्व मे वृद्धि के साथ लोक वित्त का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है अत ये परिभाषाएँ अपना औचित्य रखती है।

2 विस्तृत परिभाषाएँ (Wide Definitions)

इन परिभाषाओं के प्रतिनिधि अर्थशास्त्री लुटज स्मिथ श्रीमती हिक्स प्लेहन आदि है।

लुट्ज के अनुसार— लोक वित्त उन साधनो की व्यवस्था सुरक्षा और वितरण का अध्ययन करता है जो राजकीय अथवा प्रशासनिक कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं।[1]

स्मिथ के अनुसार— राजकीय व्यय और राजकीय आय की प्रकृति तथा उसके सिद्धान्तो की खोज को लोक वित्त या राजस्व कहते है।[2]

श्रीमती हिक्स के अनुसार— लोक वित्त के अध्ययन में उन पद्धतियो और प्रणालियो का विश्लेषण किया जाता है जिनके अनुसार शासन सस्थान जन साधारण के हितार्थ धनराशि एकत्रित करके सामूहिक सुख सुविधाओं की व्यवस्था करते है।[3]

प्लेहन के अनुसार— लोक वित्त राजकोषीय आय व्यय की नीतियो का एक अध्ययन है।[4]

उपरोक्त परिभाषाएँ भी दोषपूर्ण है क्योकि—

(क) इनमे आय और व्यय का अर्थ अनिश्चित है। राज्य के आय और व्यय मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनो प्रकार के हो सकते है। यदि सरकार वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप मे सार्वजनिक सुविधा प्रदान करती है तो यह व्यय सरकार के लिए अमौद्रिक होगा।

(ख) अमौद्रिक आय व्यय का अध्ययन अनिश्चित सा है अत इसे लोक वित्त में स्थान देना अनुचित है। हमारे पास नापने के लिए मुद्रा का मापदण्ड अधिक सुलभ है अत लोक वित्त मे मौद्रिक आय व्यय को ही लिया जाना चाहिए।

(ग) आधुनिक अर्थशास्त्री राजकीय अर्थशास्त्र और लोक वित्त मे अन्तर प्रकट करते हुये राजकीय अर्थशास्त्र मे मौद्रिक एव अमौद्रिक आय तथा व्यय को शामिल करते है। इस प्रकार वे लोक वित्त को *राजकीय अर्थशास्त्र का एक अग बताते है। इस दृष्टि से ये परिभाषाएँ उचित नहीं मानी गई है।*

3 सकीर्ण परिभाषाएँ (Narrow Definitions)

प्रो मेहता की परिभाषा इस वर्ग के लिये उचित प्रतीत होती है—

मेहता एव अग्रवाल के अनुसार— लोक वित्त में राज्य के मौद्रिक एव साख साधनो के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।[5]

प्रो मेहता के अनुसार लोक वित्त के अन्तर्गत केवल राज्य की मौद्रिक आय व्यय का ही अध्ययन किया जाता है। मौद्रिक एव अमौद्रिक आय तथा व्यय में भेद करना आवश्यक है। व्यवहार में वित्त का अर्थ केवल मुद्रा से ही होता है अत लोक वित्त मे राज्य के द्राव्यिक साधनों का ही समावेश किया जाना चाहिए।

---

1 *H L Lutz* Public Finance p 3
2 *A m tage Sm h* Princ ples and Methods of Taxation p 14
3 *M s U K H cks* Pub c Finance p 6
4 *C Plehn* In roduction to Publ c Finance p 1
5 *Mehta and Ag awal* Publ c Finance p 12

अन्य परिभाषाएँ (Other Definitions)

हैराल्ड ग्रोव्स के अनुसार—"लोक वित्त जॉच अथवा खोज का वह क्षेत्र है जो सरकार (सघीय, राज्यीय और स्थानीय) के आय-व्यय से सम्बन्ध रखता है । लोक वित्त के अन्तर्गत चार तत्त्व शामिल किए जाते हैं—(i) सरकारी आय, (ii) सरकारी व्यय, (iii) सरकारी ऋण तथा (iv) सम्पूर्ण रूप मे राजकोषीय व्यवस्था (Fiscal System) की कुछ समस्याएँ, जैसे—राजकोषीय नीति ।"[1]

बुचलर ने लिखा है—"लोक वित्त के क्षेत्र में शासन के व्यय, ऋण तथा अन्य विधियों से प्राप्त होने वाली आय और वित्तीय प्रशासन को सम्मिलित किया जाता है ।"[2]

निष्कर्ष (Conclusion)

इन सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इनमें केवल शब्दो का अन्तर है, विभिन्न विद्वानो के दृष्टिकोण मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है । सभी लेखकों ने सरकारी आय (Public Income), सरकारी व्यय (Public Expenditure), सरकारी ऋण (Public Debt), वित्तीय प्रशासन (Financial Administration) तथा आर्थिक स्थायित्व (Economic Stabilisation) को लोक वित्त की विषय-सामग्री माना है । आर्थिक स्थायित्वीकरण के अन्तर्गत देश की आर्थिक स्थिरता के लिए राजकोषीय नीति के उपयोग का अध्ययन किया जाता है । निष्कर्षत लोक वित्त अर्थशास्त्र का एक विशिष्ट अग है जो सरकार की वित्त व्यवस्था (आय, व्यय, ऋण आदि) से सम्बन्धित सिद्धान्तो, नीतियो, समस्याओं तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है ।

लोक वित्त की विषय-सामग्री एवं क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Public Finance)

लोक वित्त की परिभाषाओं के विश्लेषण से इसकी विषय-सामग्री और क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है । व्यक्ति की भाँति सरकार का कार्य भी धन अथवा मुद्रा के अभाव मे नहीं चल सकता अत सरकार के समस्त धन सम्बन्धी कार्य लोक वित्त की विषय-सामग्री का निर्माण करते है । सरकार द्वारा लोक-कल्याण के लिए धन एकत्र करना और उसका व्यय करना, यही लोक वित्त की विषय-सामग्री है । डॉल्टन द्वारा लोक वित्त के क्षेत्र की निर्धारित सीमा आज भी स्वीकार्य है । उनके शब्दो मे, "लोक वित्त अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है ।' सरकार को राज्य शासन के सुचारु सचालन के लिए राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों पर चलते हुये जन-कल्याण की अधिकतम वृद्धि के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेना पडता है, क्योकि लोक वित्त अर्थशास्त्र का ही एक अग है । डॉल्टन के अनुसार—"लोक वित्त की दो टाँगो मे से एक राजनीतिशास्त्र और दूसरी अर्थशास्त्र में फँसी हुई है । *यदि इन टाँगो को फैलाने की सीमा जानना चाहे तो इतना ही कहा जा सकता है कि लोक वित्त के* अन्तर्गत सरकार तथा लोक सत्ताधिकारियो की उन सभी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध राज्य के आय-व्यय से होता है ।'

लोक वित्त की विषय-सामग्री को निम्नलिखित पॉच भागो मे बॉटा जा सकता है—

1. सार्वजनिक या सरकारी व्यय (Public Expenditure)—प्रो प्लेहन के अनुसार "लोक वित्त के इस भाग मे सरकारी व्यय के वर्गीकरण और उन सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार सरकार विभिन्न मदो पर अपनी आय व्यय करती है ।" सरकार का यह कार्य है कि किन मदो पर पहले एव किस परिमाण में व्यय किया जाए, यह व्यय किन सिद्धान्तो के अनुसार एव इनका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पडेगा तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली कठिनाइयो को किस प्रकार हल किया जाना है, आदि ?

सरकारी व्यय के महत्त्व का अनुमान सार्वजनिक कल्याण के सभी कार्य सम्पन्न होने पर लग जाता है । सार्वजनिक व्यय की मदे और व्यय की जाने वाली राशि को देखकर उस देश विशेष की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक नीतियॉ तथा स्थितियॉ जानी जा सकती है । लोक व्यय के कारण ही आय एकत्रित और अन्य वित्तीय क्रियाएँ सम्पन्न की जाती है । लोक व्यय आय सम्बन्धी क्रियाओं का साध्य और उद्देश्य है ।

1 *Harold Groves* Financing Government p 1

2 *A G Buchler* Public Finance, p 5

2. सार्वजनिक आय (Public Income)—लोक वित्त के इस भाग के अन्तर्गत सार्वजनिक आय के विभिन्न स्रोतो, स्रोतो के अपेक्षित महत्त्व तथा सिद्धान्त और उनका उपयोग, उत्पादन, वितरण, बचत और विनियोग पर प्रभाव, आदि विषयो का सुचारु रूप से अध्ययन किया जाता है। सरकार को आय विभिन्न स्रोतो, जैसे—कर, शुल्क कीमत, विशेष कर निर्धारण, अर्थ-दण्ड, उपहार एव सार्वजनिक सम्पत्ति से मिलने वाला लाभ आदि से प्राप्त हो सकती है। इन सभी स्रोतो में प्रमुख स्थान करों का है। इसमें विशेष रूप से कर-पद्धतियो, करारोपण और कर-भार का अध्ययन किया जाता है। इस अग मे सरकार का कार्य होता है कि कर का कलेवर एव रूप भार किस पर पडेगा, किस कर की दर को घटाया-बढ़ाया जाए, वसूली कब और कैसे की जाए एव यह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, आदि ?

3. सार्वजनिक ऋण (Public Debt)—आर्थिक विकास की किसी योजना की पूर्ति के लिए विशेष परिस्थितियो मे, जैसे—सूखा, भूचाल तूफान, अकाल, युद्ध से उत्पन्न आकस्मिक कठिनाइयो से मुक्त होने के लिए सरकार को ऋण लेने पडते है, क्योकि नियमित आय से आकस्मिक व्यय-पूर्ति नहीं की जा सकती। देश की जनता या अन्य स्रोतो (सरकार, बैक, अन्तर्राष्ट्रीय सस्थान आदि) से लिये जाने वाले ऋणो को लोक या सार्वजनिक ऋण कहते है।

सार्वजनिक ऋण भी सार्वजनिक आय का एक साधन है और इसका अध्ययन भी उसी के अन्तर्गत किया जाना चाहिए परन्तु यह अध्ययन पृथक् रूप से किया जाता है। सार्वजनिक आय के वास्तविक साधन से प्राप्त किए धन को लौटाने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता किन्तु ऋण द्वारा प्राप्त धन का पुनर्भुगतान राज्य को करना पड़ता है और आवश्यकतानुसार ब्याज भी देना पडता है।

लोक ऋण के अन्तर्गत राज्य किन सिद्धान्तो पर ऋण लेता है और यह किन कार्यों के लिए होगे ब्याज की दर क्या है इसके क्या प्रभाव होगे और इन ऋणो का भुगतान किस प्रकार किया जायेगा आदि तथ्य आते है। ऋण लेते समय देश की आवश्यकता की गम्भीरता तथा ऋण की शर्तों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है क्योकि समय पर ऋण एव ब्याज न चुकाने से देश की प्रतिष्ठा को धक्का लगने का भय रहता है।

4. वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)—व्यय, आय और ऋण लोक वित्त के वे अग है जिनसे जनता सरकार व लोक सस्थाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। इन सबका यथोचित प्रबन्ध करने के लिए पृथक् सगठन स्थापित किया जाता है जो आय, व्यय, ऋण और ब्याज की प्राप्ति एव व्यय की उचित व्यवस्था करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य मे एक बजट विभाग होता है जिसका मुख्य कार्य आगामी बजट तैयार करना और उसकी स्वीकृत मदो का नियमित हिसाब-किताब रखना होता है। प्रशासन ही नए ऋणो की प्राप्ति और पुराने ऋणो के मूल एव ब्याज के भुगतान के लिए उत्तरदायी होता है।

वित्तीय प्रशासन लोक वित्त का प्रमुख अग है जिसका महत्त्व विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद काफी बढ गया है। बेस्टेबल ने लिखा है हमें केवल विधियो (Processes) का अध्ययन ही अपेक्षित नही है वरन् उन सिद्धान्तो (Principles) का पर्यवेक्षण भी आवश्यक है जिनके अनुसार वे विधियाँ अपनाई जाती है। कोई वित्त की पुस्तक तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि वह वित्तीय शासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।

लोक वित्त के ये सभी भाग एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है। इनके सामजस्य पर समाज के अधिकतम कल्याण की प्राप्ति निर्भर करती है। आजकल सघीय वित्त (Federal Finance) का महत्त्व लोक वित्त के एक भाग के रूप मे काफी बढ गया है। कुछ देशो मे सघ नमूने के सरकारी सगठन, जैसे—कनाडा आस्ट्रेलिया भारत स्विटजरलैण्ड आदि देशो मे कुछ प्रमुख समस्याएँ है कि सघ सरकार और उसके अधीन इकाई सरकारो (Unit Governments) मे कैसे वित्तीय सम्बन्ध हों विभिन्न क्रियाओं का विभाजन कैसे हो, सघीय वित्त के क्या सिद्धान्त हो, आदि ?

लोक वित्त की प्रकृति
(Nature of Public Finance)

लोक वित्त की प्रकृति के अन्तर्गत यह निश्चित करना है कि सार्वजनिक वित्त विज्ञान है या कला अथवा दोनों। इस सम्बन्ध मे मतभेद है फिर भी स्वतन्त्र और निष्पक्ष दृष्टि से लोक वित्त विज्ञान और कला दोनो है।

लोक वित्त विज्ञान है

लोक वित्त के विज्ञान होने के पक्ष मे प्रो. प्लेहन (Plehn) ने निम्नलिखित तथ्य दिये हैं—

1. यह सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का अध्ययन नहीं करता बल्कि इसका सम्बन्ध मानवीय ज्ञान के निश्चित और सीमित क्षेत्र तक ही सीमित है।
2. इस विज्ञान मे तथ्य और सिद्धान्तों को नियमित क्रम मे सग्रहीत किया जाता है और कुछ नियम ऐसे है जो केवल इसी विज्ञान मे लागू किए जाते है।
3. सार्वजनिक वित्त के अध्ययन और अन्वेषण मे वैज्ञानिक विधियो का व्यापक प्रयोग किया जाता है।
4. यह किसी विशिष्ट प्रकार के द्रव्य अथवा वस्तुस्थिति के सम्बन्ध मे निश्चित विवेचना प्रदान करता है और उसके बारे में पूर्व अनुमान लगा सकता है।

पद्धति एव स्वरूप में लोक वित्त वैज्ञानिकता लिए हुए है। आय, व्यय और ऋण आदि एक निश्चित योजना और मान्य सिद्धान्तो के अनुसार ही निर्धारित किए जाते है। ये सिद्धान्त वैज्ञानिक मान्यताओं एव अनुभवो पर आधारित होते है। लोक वित्त में इन सिद्धान्तो की अवहेलना घातक होती है। लोक वित्त एक आश्रित विज्ञान है क्योंकि इसके अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की विषय-सामग्री का सहारा लेना पडता है। इसे स्वतन्त्र प्रकृति का विज्ञान नही माना जा सकता।

लोक वित्त कला भी है

लोक वित्त कला (Art) भी है। कला का अर्थ किसी विज्ञान के प्रयोगात्मक रूप से है। व्यावहारिक विज्ञान मे वस्तु की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराया जाता है तथा आदर्श विज्ञान आदर्श प्रस्तुत करता है और इन दोनो स्वरूपो के मध्य स्थिति के अन्तर की समस्या का निराकरण कला है। कला यह बतलाती है कि आदर्श स्थिति किस प्रकार प्राप्त की जाए ? लोक वित्त कला का रूप उस समय धारण कर लेता है जब किसी राष्ट्र की सरकार विविध स्रोतो से सरकारी आय प्राप्त करके इस भाँति व्यय करने का निश्चय करती है जिससे सामाजिक कल्याण अधिकतम हो सके। कर लगाने और उससे प्राप्त साधनो को यथोचित रूप से व्यय करने का कार्य कठिन है। प्रत्येक कर का जनता द्वारा विरोध होता है अत किस समय कौनसी मद पर कितना कर लगाना चाहिए, यह एक दूरदर्शी और कुशल आर्थिक कलाकार ही ठीक ढग से निश्चित कर सकता है। सार्वजनिक आय मे प्राप्ति की मात्रा, स्थान और समय का औचित्य महत्त्वपूर्ण होता है। व्यय की मद मात्रा एव समय का ध्यान रखना भी बडा आवश्यक है। यदि अनुचित रूप से कर लगाए जाएँ या करारोपण इस प्रकार के हो कि जनता पर करो का भार अधिक लगे या अनुचित मदों पर अनावश्यक व्यय किया जाए तो जनता द्वारा विरोध होना स्वाभाविक है। इस प्रकार लोक वित्त निश्चय ही कला है।

निष्कर्ष यह है कि लोक वित्त विज्ञान और कला दोनो है। लोक वित्त का विज्ञान ईंटो के ढेर को ठीक-ठाक एक मकान के रूप मे बनाने का नक्शा दिखाता है तो लोक वित्त की कला उस नक्शे को क्रियात्मक रूप प्रदान करती है।

लोक-वित्त की प्रकृति सम्बन्धी प्रमुख विचारधाराएँ

लोक वित्त की प्रकृति के सम्बन्ध मे राजकोषीय-सिद्धान्त-वेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ प्रस्तुत की है जिनमे निम्नांकित प्रमुख है—

1. लोक वित्त का विशुद्ध सिद्धान्त (Pure Theory of Public Finance)—लोक वित्त के विशुद्ध सिद्धान्त का उल्लेख सेलिगमैन (Seligman) ने किया है। यह सिद्धान्त सार्वजनिक आय और ऋण की समस्याओं पर तटस्थ रूप से विचार करता है। यह सिद्धान्त स्वय को कल्याण की विचारधारा से सम्बद्ध नहीं करता। उदाहरणार्थ, यह सिद्धान्त ऐसा कोई आग्रह नही करता कि राजकोषीय नीति का उद्देश्य धन की असमानताओं को दूर करना होना चाहिए।

2. लोक वित्त का सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त (Socio-Political Theory of Public Finance)—लोक वित्त के सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त के समर्थको मे वैगनर (Wagner), एजवर्थ (Edgeworth), पीगू (Pigou) आदि मुख्य हैं। इस विचार के अनुसार राजकोषीय नीति का उद्देश्य होना चाहिए कि धनिको के पास से निर्धनो की ओर धन का स्थानान्तरण समुदाय के 'सामाजिक कल्याण मे अधिकतम वृद्धि के लिए हो।

3. नवीन अर्थशास्त्र का सिद्धान्त (Theory of New Economics)—नवीन अर्थशास्त्र की नई विचारधारा का प्रतिपादन कीन्स (Keynes) एव हैन्सन (Hansen) ने किया है। यह आवश्यक है कि उपभोग मे स्थायित्व लाया जाए तथा उसका उचित नियमन किया जाए और इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति द्वारा क्षतिपूरक कार्यवाही (Compensatory Action) की जाए। इनका विश्वास था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था उचित दिशा में स्वय कार्यशील नही हो सकती अत राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अर्थव्यवस्था के उद्धार के लिए आगे आए।

4. क्रियाशील वित्त का सिद्धान्त (Theory of Functional Finance)—क्रियाशील वित्त का सिद्धान्त ए पी लर्नर (A P Lerner) का है। लर्नर ने लोक वित्त की कीन्सियन विचारधारा को ही 'क्रियाशील वित्त' का नाम दिया है जिसका आशय उस पद्धति से है जिसके अन्तर्गत हम राजकोषीय उपायो (Fiscal Measures) का मूल्याकन सम्बन्धित अर्थव्यवस्था मे क्रियाशील कार्यों के आधार पर करते है। लर्नर एव उनके समर्थक अर्थशास्त्रियो की धारणा है कि क्रियाशील वित्त कराधान सार्वजनिक व्यय और ऋण की राजकोषीय कार्यवाही मे कमी करके नीति विषयक कार्यवाहियो मे वृद्धि कर देता है ताकि देश मे मुद्रा की मात्रा प्रभावित की जा सके और कुल माँग बढ सके। लर्नर की मान्यता है कि कराधान का मुख्य उद्देश्य आय की प्राप्ति न होकर ऐसे उद्देश्यो की प्राप्ति होना चाहिए जो सामाजिक रूप से औचित्यपूर्ण हो। कराधान का मुख्य कार्य राज्य के लिए धन एकत्र करना न होकर लोगो की क्रय शक्ति घटाना होता है। इसी तरह सार्वजनिक व्यय का मुख्य उद्देश्य कुल माँग की मात्रा को इस तरह प्रभावित करना है जिससे वह कुल पूर्ति (Aggregate Supply) के बराबर हो जाए।[1]

5. सक्रियकारी वित्त का सिद्धान्त (Theory of Activating Finance)—सक्रियकारी वित्त (Activating Finance) का विचार क्रियाशील वित्त (Functional Finance) से भिन्न है। इस विचार के अनुसार राष्ट्रीय आय प्रत्येक समय और स्थान पर बचत एव विनियोग की कार्यवाहियो का फल होती है और लोग राष्ट्रीय आय की मात्रा कम होने के कारण गरीब होते है अत राष्ट्रीय आय की मात्रा बढाई जानी चाहिए और इसके लिए यह आवश्यक है कि साधनो का अनुकूलतम बँटवारा हो। काम मे लगाए जाने वाले सभी सभाव्य (Potentials) और सम्पूर्ण साधनो को सर्वोत्तम सम्भव तरीके से प्रयोग में लाया जाना चाहिए। राजकोषीय समायोजन (Fiscal Adjustment) ऐसा होना चाहिए कि विनियोग का प्रभावी ढग से प्रवाह शुरू हो जाए और उससे साधनो का अनुकूलतम विभाजन सम्भव हो सके। क्रियाशील वित्त और सक्रियकारी वित्त मे आधारभूत अन्तर यही है कि जहाँ प्रथम ने व्यय (Spending) को अपना प्रारम्भ-बिन्दु (Starting Point) माना है वहाँ द्वितीय ने उत्पादन को अपना प्रारम्भ बिन्दु स्वीकार किया है अत सक्रियकारी वित्त की विचारधारा प्रथम की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।[2]

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे लोक वित्त की भूमिका
(भारत के विशेष सन्दर्भ मे)
(Role of Public Finance in National Economy)

सरकार के कार्यक्षेत्र तथा आर्थिक जीवन पर राजकोषीय कार्यवाहियो का प्रभाव बढने के साथ-साथ लोक वित्त का महत्त्व भी बढता जा रहा है। लोक वित्त केवल अङ्कगणित ही नही है वरन एक महान् नीति है। सुदृढ लोक वित्त के अभाव मे सुदृढ सरकार सम्भव नहीं है। श्रीमती उर्मिला हिक्स ने लिखा है— किसी राष्ट्र का कल्याण जितना उसके कारीगरों की कुशलता एव श्रम तथा उसके सैनिको की वीरता पर निर्भर है उतना ही उसके लोक वित्त सम्बन्धी प्रश्नो के सफल समाधानो पर भी निर्भर है। 19वीं शताब्दी तक लोक वित्त का विशेष महत्व नही था क्योकि उस युग की सरकारे आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करती थीं। उस युग के अर्थशास्त्री अहस्तक्षेप की नीति (Laissez Faire Policy) के समर्थक थे और उनका आग्रह था कि सरकार को अपने नागरिको के जीवन मे कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। सरकार का कार्य केवल देश की आन्तरिक एव बाह्य सुरक्षा सचार एव विदेश नीति तक ही सीमित होना चाहिए।

---

1 *एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल* लोक अर्थशास्त्र एव लोक वित्त

2 This truth was used by Dr Baljit Singh [illegible] first time in his book Federal Finance and Under Developed Economy

20वीं शताब्दी मे कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की धारणा के उदय के परिणामस्वरूप सरकार का लोक वित्त के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतया बदल गया और अब सरकार आर्थिक विषयो में अपना हस्तक्षेप कम करने लगी है बल्कि यह कहा जाये तो उचित होगा कि सरकार ने अपना काफी उत्तरदायित्व जनता का अपने हितो की पूर्ति हेतु उनकी चुनी हुई कम्पनियो को दे दिया है। इसके साथ ही सरकार जनता के उन सभी तथ्यो पर अपना ध्यान केन्द्रित रखती है ताकि किसी आवश्यकता के समय उनकी मदद की जा सके। लोक वित्त का महत्त्व आज एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और निर्बाधावादी विचारधारा मृत हो चुकी है। देश मे आर्थिक नियोजन की विचारधारा के प्रारम्भ होने समाजवादी समाज एव लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना पर बल दिए जाने तथा उसका महत्त्व स्वीकार किए जाने तथा आर्थिक स्थायित्व के लिए अर्थव्यवस्था मे राज्य का हस्तक्षेप अमान्य हो जाने के कारण भी राज्य के कार्यक्षेत्र मे अविराम वृद्धि होती गई है और लोक वित्त का महत्त्व भी बढता गया है। लोक वित्त अब केवल मात्र बतख के पर नोचने की वह कला नहीं माना जाता जिससे वह कम से कम शोर करे (अर्थात् लोक वित्त जनता से केवल कर वसूल करने की कला ही नहीं माना जाता)।[1] भारत जैसे विकासशील देश में लोक वित्त का विशेष महत्त्व है क्योंकि देश के चहुँमुखी आर्थिक विकास के लिए अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप एक सीमा तक ही होना आवश्यक है।

लोक वित्त का महत्त्व निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) आर्थिक क्षेत्र मे महत्त्व (Importance in Economic Field)

राज्य की आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि के साथ लोक वित्त का महत्त्व बढता जा रहा है। सरकार देश की आर्थिक स्थिति को नियमित और नियन्त्रित करती है तथा सरकार के इस कार्य मे लोक वित्त एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र का कार्य करता है। फिण्डले शिराज के शब्दों में— राज्य की बढती हुई क्रियाओं के लिए वित्त की आवश्यकता पडती है और इस वित्त को विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं पर सतर्कता से व्यय करना पडता है। यह सब लोक वित्त के सिद्धान्तो की सहायता से ही किया जा सकता है। भारत जैसे विकासशील देश मे जहाँ सविधान मे समाजवादी अर्थव्यवस्था को स्थापित करने तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने का सकल्प लिया गया है लोक वित्त का विशेष महत्त्व है।[2] लोक वित्त के महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है—

1. आर्थिक नियोजन मे महत्त्व—लोक वित्त देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास मे बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। आर्थिक नियोजन की सफलता लोक वित्त की उचित और प्रभावी व्यवस्था पर निर्भर करती है। आर्थिक नियोजन के लिए बडी मात्रा मे ससाधन जुटाने आवश्यक होते है और फिर प्राथमिकताओं के अनुरूप उनको विभिन्न क्षेत्रों मे प्रभावित करना होता है। यह कार्य पूर्ण रूप से लोक वित्त की कुशल प्रणाली पर ही निर्भर है। आर्थिक नियोजन केवल भौतिक नियोजन ही नही होता यह वित्तीय नियोजन होता है और वित्तीय नियोजन की सफलता उचित राजकोषीय नीतियों पर निर्भर करती है।[3]

भारत ने अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया है। आठ पचवर्षीय योजनाएँ समाप्त हो चुकी है। नवीं योजना बनाई गई किन्तु वर्ष 1991 मे केन्द्र मे नई सरकार सत्तारूढ हुई। उसने आठवीं योजना वर्ष 1992 से लागू करने का निर्णय लिया तब से वर्ष 1995 96 तक वार्षिक योजना ही बनाई गई। हमारी योजनाओं की सफलता सरकार की लोक वित्त की नीतियो (राजकोषीय नीतियो) पर निर्भर है। योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक धनराशि करो द्वारा प्राप्त की जाती है और इसी धनराशि से देश की परियोजनाओं को क्रियान्वित किया जाता है। यदि आय और व्यय की व्यवस्था सही नहीं हो तो हमारा आर्थिक नियोजन सफल नहीं हो सकता।

2. पूँजी-निर्माण मे महत्त्व—प्रख्यात अर्थशास्त्री नर्क्स (Nurkse) ने लिखा है— पूँजी निर्माण की समस्या के समाधान मे लोक वित्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक वित्त की उचित नीति द्वारा पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। इस नीति के अनेक पहलू हो सकते है यथा—पूँजी-विनियोजन मे निश्चित अवधि के लिए करो की छूट देना दीर्घकालीन बचत तथा जीवन-बीमा प्रीमियम को आयकर से मुक्त करना नई कम्पनी के अशो के विक्रय को प्रोत्साहन देने के लिए एक निश्चित अवधि तक

1 3 *एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृ 18

मिलने वाले लाभांश को आयकर से मुक्त करना, आदि । भारत जैसे विकासशील देश मे, जहाँ पूँजी-निर्माण व। अभाव है लोक वित्त विशेष महत्त्व रखता है ।

3. धन-वितरण से सम्बन्धित विषमताओं को कम करने में सहायक—लोक वित्त का आर्थिक विषमताओं को दूर अथवा कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है । यह कार्य धनी वर्ग की आय और सम्पत्ति पर भारी करारोपण करके और इस आय को निर्धन वर्ग पर व्यय करके किया जाता है । ऐसा करने से आर्थिक असमानताओं को घटाना सम्भव है । सरकार निर्धनो को कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करती है, यथा—सस्ता अनाज, सस्ते मकान नि शुल्क चिकित्सा, बच्चो के लिए नि शुल्क शिक्षा, आदि । लोक वित्त की सहायता से सरकार धन को अमीरो से गरीबो को हस्तान्तरित कर सकती है ।

भारत सरकार लोक वित्त की उचित नीति द्वारा आर्थिक विषमताओं को कम करने के लिए प्रयत्नशील है । सरकार धनी वर्ग पर भारी आय-कर सम्पत्ति-कर, धन-कर आदि लगाकर उनसे प्राप्त धन को यह निर्धन वर्ग के आर्थिक विकास पर व्यय कर रही है ।

4. औद्योगिक विकास मे महत्त्व—लोक वित्त की प्रभावी नीति द्वारा देश के औद्योगिक विकास को गति दी जाती है । देश मे आवश्यक वस्तुओं की मात्रा बढाने के लिए विभिन्न उद्योगो को सरकार द्वारा उपदान दिये जाते है । भारत जैसे विकासशील देशो मे उन उपदानो का सरकारी व्यय मे विशेष महत्त्व है । देश मे हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन को कम करने के लिए सरकार द्वारा वस्तु कर लगाए जाते है । इनका उद्देश्य इन वस्तुओं के उत्पादन को कम करना है । इसी प्रकार सरकार अपनी कुशल कर-नीति द्वारा शिशु-उद्योगो को सरक्षण प्रदान करके उन्हे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचा सकती है । वह विदेशी माल के आयात पर भारी कर लगाकर देशी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देती है । नई औद्योगिक नीति के अन्तर्गत विदेशी पूँजी निवेश को प्रोत्साहित किया जा रहा है । नए-नए उद्योगो को कुछ वर्षों के लिए करो से छूट देकर उनकी स्थापना को प्रोत्साहित किया जाता है । सरकारी उद्योगो की स्थापना और उनका विकास किया जाता है । भारत के लोहा एव इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग सीमेण्ट उद्योग जूट उद्योग इजीनियरिंग उद्योग आदि की स्थापना और विकास मे हमारी राजकोषीय नीतियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

5. रोजगार के अवसरो मे वृद्धि—रोजगार के आधुनिक सिद्धान्त मे लोक वित्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसे—मदीकाल मे रोजगार की मात्रा बढाने के लिए असन्तुलित बजट अनिवार्य होता है । ऐसे समय लोगो को रोजगार के अवसर अधिकाधिक देने के लिए सरकार को यथासम्भव सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिकाधिक मात्रा मे धन व्यय करना चाहिए । इसके अतिरिक्त मदीकाल मे बेरोजगारो को भत्ते भी दिए जा सकते है ताकि वे अपने उपभोग-स्तर को बनाए रख सके । कीन्स का मत है कि देश मे पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश की सरकार को विभिन्न कार्यों का निष्पादन करना अति आवश्यक है जिनका अध्ययन लोक वित्त मे ही किया जाना सम्भव है । उदाहरणार्थ, करो मे छूट देकर उद्योगों को प्रोत्साहित करना नए-नए उद्योगो की स्थापना करना सरकारी उपक्रमो की स्थापना पर बल दिया जाना लघु तथा कुटीर उद्योगो को करो मे छूट तथा कम ब्याज पर ऋण देकर स्व-रोजगार की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करना आदि कार्य लोक वित्त की उचित नीति द्वारा ही सम्भव है । इन योजनाओं के फलस्वरूप रोजगार के साधनो का विकास होगा और बेरोजगारी मे कमी आएगी । भारत में बेरोजगारी एक जटिल समस्या है जिसके समाधान मे लोक वित्त महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है ।

6. आर्थिक एव सामाजिक जीवन मे महत्त्व—समाजवादी और साम्यवादी देशो मे लोक वित्त की सहायता से ही आर्थिक एव सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव है ।

7. आर्थिक स्थायित्व मे भूमिका—1929 30 की आर्थिक मदी के बाद से यह स्वीकार किया जाने लगा है कि देश मे आर्थिक स्थायित्व लाने मे लोक वित्त की विशिष्ट भूमिका है । लोक व्यय, करारोपण तथा ऋण-नीतियो के मध्य उचित समायोजन करके आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है । उदाहरणार्थ, मदी के समय घाटे का बजट बनाकर जनता पर कर-भार मे कमी तथा निर्माण कार्यों पर अधिक व्यय किया जा सकता है । तेजी-काल मे करो मे वृद्धि करके नई औद्योगिक इकाइयों को प्रोत्साहित करने हेतु उन्हे छूट दी जा सकती है । आज भारत का आर्थिक ढाँचा डगमगा रहा है । मूल्यो मे निरन्तर भारी वृद्धि हो रही है । इसकी रोकथाम केवल उपयुक्त राजकोषीय नीति द्वारा ही की जा सकती है ।[1]

1 एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल वही पृ 9

8. स्वायत्तशासी उद्योगो की स्थापना एवं विकास मे महत्त्व—कम्युनिस्ट, समाजवादी, पूँजीवादी देशो में बडी तेजी से विभिन्न उद्योगो की स्थापना एव विकास किया जा रहा है। इन उद्योगो मे बडी मात्रा मे पूँजी का विनियोजन करना पडता है। सामाजिक हित मे इन उपक्रमों को घाटे पर भी चलाया जाता है। इन उद्योगो के लिए अधिक मात्रा में पूँजी की व्यवस्था करने तथा उनके घाटे को पूरा करने की दृष्टि से लोक वित्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

कुछ समय पहले भारत मे समाजवादी अर्थव्यवस्था थी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी उपक्रमो की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनको आर्थिक साधन जुटाने में भी लोक वित्त की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[1]

9. राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की दृष्टि से महत्त्व—राष्ट्रीय आय के लिए अनेक कदम उठाए जा सकते है, यथा—सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण के उपयोग का अधिकाश भाग उत्पादन कार्यों पर लगाना, निजी बचतों और विनियोगो को प्रोत्साहित करना, ऐसी कर प्रणाली अपनाना जिसके द्वारा अधिकतम बचत करके विनियोग किया जा सके, आदि। भारत मे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय दोनों में वृद्धि की दृष्टि से लोक वित्त की नीति का विशेष महत्त्व है।

10. साधनो का उचित उपयोग—आर्थिक विकास के लिए देश मे उपलब्ध प्राकृतिक एव मानवीय साधनों का पूर्ण एव उचित उपयोग आवश्यक है। इस कार्य मे लोक वित्त की उचित नीति अपनाई जाती है। सरकार अपनी बजट-नीति द्वारा उपभोग उत्पादन और वितरण को वाछित दिशा मे प्रवाहित कर सकती है। उदाहरणार्थ, सरकार पिछडे क्षेत्रों मे उद्योग-धन्धे चलाने के लिए कर सम्बन्धी छूट और रियायते दे सकती है ताकि ऐसे क्षेत्रो का समुचित विकास हो सके और सभी क्षेत्रो मे सन्तुलित आर्थिक विकास की दिशा मे आगे बढा जा सके। भारत जैसे विकासशील देश मे साधनों के उचित उपयोग की अत्यधिक आवश्यकता है। सरकार लोक वित्त की प्रभावी नीतियों के माध्यम से इस दिशा मे निरन्तर प्रयत्नशील है।

(ख) सामाजिक क्षेत्र मे महत्त्व (Importance in Social Field)

लोक वित्त को सामाजिक न्याय का एक शक्तिशाली अस्त्र माना जाता है। वर्तमान मे समाज में भयकर असन्तोष विद्यमान है। इसका मुख्य कारण आर्थिक असमानताएँ अज्ञानता, निर्धनता, पिछडापन व बेरोजगारी है। इन सामाजिक समस्याओं का समाधान लोक वित्त के द्वारा किया जा सकता है। सरकार आर्थिक असमानताओं को दूर करने के लिए धनी वर्ग पर भारी करारोपण करके उससे प्राप्त होने वाले धन को गरीबों के आर्थिक उत्थान के कार्यक्रमो पर व्यय कर सकती है। इसी तरह देश मे अज्ञानता, निर्धनता, पिछडापन व बेरोजगारी दूर करने के लिए तथा देश के लोगों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए कुशल लोक वित्त नीतियो का निर्धारण किया जा सकता है। प्रो डॉल्टन ने लोक वित्त का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य एव सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक लाभ प्रदान करना ही बतलाया है।[2]

(ग) राजनीतिक क्षेत्र मे महत्त्व (Importance in Political Field)

डॉल्टन के अनुसार—"लोक वित्त अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है।" सरकार को शासन के लिए जहाँ एक ओर राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार चलना पडता है, वहाँ दूसरी ओर अर्थशास्त्र की पूर्ति और जन-कल्याण के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का पालन करना आवश्यक हो जाता है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य सीमित साधनो का प्रयोग करके जन-कल्याण करना होता है, इन लक्ष्यों को निर्धारित करने का कार्य सरकार का शासन-वर्ग करता है अत विधिवत् राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना तथा ऐसे सिद्धान्तो और विधियो का उल्लेख करना जिनसे जनता के सुख-समृद्धि में आशातीत वृद्धि हो, सरकार का कार्य होता है। इन कार्यों को पूरा करने मे धन की आवश्यकता होती है और धन सम्बन्धी क्रियाएँ लोक वित्त के अन्तर्गत आती है। लोक वित्त की दो टाँगों मे से एक राजनीतिशास्त्र और दूसरी अर्थशास्त्र मे फँसी हुई है। एक राजनीतिज्ञ के लिए लोक वित्त का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना उसे अपने देश की भौगोलिक स्थिति को समझना आवश्यक है इसीलिए कहा जाता है—"राज का लोक वित्त ही राज्य है"।

1 *एण्डले, सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृ 9
2 *एण्डले, सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृ 1 1

लोक वित्त और निजी वित्त में अन्तर

(Difference between Public and Private Finance)

लोक वित्त के मूलभूत सिद्धान्तो को भली-भाँति समझने के लिए लोक और व्यक्तिगत अर्थ प्रबन्ध के भेद को समझ लेना आवश्यक है। लोक वित्त और निजी वित्त मे विशेष अन्तर नही है तथा दीर्घ काल में राज्य और व्यक्ति दोनों ही आय तथा व्यय में सामजस्य स्थापित करते हैं। दोनो प्रकार की वित्त-व्यवस्थाओं के सिद्धान्त मूल रूप से एक से होते हैं। दोनो की समस्याएँ लगभग एक-सी प्रतीत होती हैं और दोनो का मुख्य उद्देश्य भी 'अधिकतम लाभ' की प्राप्ति करना होता है। थोडे समय के लिए दोनों के बजट असन्तुलित होते है, लेकिन किसी न किसी स्थिति मे पहुँच कर आय और व्यय में सामजस्य स्थापित करना पडता है। कभी-कभी आकस्मिक आवश्यकताओं को ऋण लेकर पूरा करना पडता है। सक्षेप मे, दोनो ही इस प्रकार व्यय करना चाहते है जिससे कि अधिकतम सन्तुष्टि मिल सके। दोनों सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) के अनुसार व्यय कर अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहते है। आर्थिक उच्चावचनो (Fluctuations) का दोनो के अर्थ-प्रबन्धन पर समान प्रभाव पडता है। यदि देश मे मुद्रा-स्फीति अथवा महँगाई की स्थिति व्याप्त है तो इसका प्रभाव व्यक्ति और राज्य दोनो पर पडता है।

व्यक्ति और राज्य की वित्तीय व्यवस्था मे इतनी समानता होने पर भी पर्याप्त अन्तर है। दोनो के उद्देश्य, प्रकृति, व्यवस्था और प्रशासन के कुछ मौलिक भेद है। व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध मे एक व्यक्ति-विशेष की आवश्यकताओं की तृप्ति के सम्बन्ध मे वित्तीय क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि लोक-वित्त मे सरकार की उन वित्तीय क्रियाओं का अध्ययन होता है जिनके द्वारा जनता की सामूहिक आवश्यकताएँ पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता है।

लोक वित्त की प्रकृति को स्पष्ट करने और इसकी भ्रान्तियो को दूर करने के लिए निजी एव सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध का अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। दोनो वित्त व्यवस्थाओं मे मुख्य अन्तर इस प्रकार है—

1. उद्देश्य मे अन्तर—व्यक्ति का हित सदैव निजी स्वार्थ पर केन्द्रित होता है। उसके बजट का मूल उद्देश्य सामाजिक कल्याण होता है। इसके विपरीत राज्य क्षेत्र-विशेष के नागरिको की सुविधाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। यद्यपि राज्य के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र मे कुछ ऐसे विभाग हो सकते हैं *जो लाभ के आधार पर सचालित होते हो (जैसे—रेल या डाक-तार विभाग आदि) प्राय* सेवाओं में लोक-कल्याण की भावना ही प्रमुख रहती है।

दूसरे, निजी वित्त मे केवल एक व्यक्ति के निर्णय केवल उसकी आर्थिक परिस्थितियों और मान्यताओं द्वारा प्रभावित होते हैं पर लोक-वित्त मे बहुधा राजनीतिज्ञो का प्रभाव शक्तिशाली होता है और वे कभी-कभी सरकार को (व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण) अनुचित कार्य करने के लिए बाध्य कर देते है।

तीसरे, व्यक्ति साधारणत अपनी तात्कालिक सन्तुष्टि से ही मतलब रखता है क्योकि वह इस कथन में विश्वास करता है कि—'दीर्घकालीन मे तो हम सब मर जाएँगे'। लेकिन राज्य इतनी अल्पदृष्टि वाला नहीं होता। पत्ते झडते हैं पर वृक्ष खडा रहता है और इसी तरह व्यक्ति आते-जाते रहते है किन्तु राज्य का जीवन अमर रहता है। वास्तव में राज्य को वर्तमान और भविष्य के हितो मे एक सन्तुलन बनाए रखना पड़ता है।

चौथे, व्यक्ति अपने व्यय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार आयोजित करने की चेष्टा करता है लेकिन राजकीय व्यय विभिन्न राजनीतिक निर्णयों द्वारा निश्चित किये जाते हैं और सम-सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त कोने में खडा-खडा सिसकियाँ भरता है।

2. आय-व्यय के समायोजन मे अन्तर—व्यक्ति अपनी आय का अनुमान लगा कर अपना व्यय निर्धारित करता है, अर्थात् 'जितनी चादर देखो उतने पाँव पसारो' (Cut your coat according to your cloth) वाली कहावत में विश्वास रखता है। इसके विपरीत लोक-वित्त के अन्तर्गत सरकार द्वारा पहले यह निश्चित किया जाता है कि उसे विभिन्न मदों पर कुल कितना खर्चा करना है। खर्चा तय करने के बाद राज्य आमदनी के साधन जुटाता है।

दोनों ही वित्त व्यवस्थाएँ अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण उचित सिद्धान्तों के अनुकूल नही चल पार्ती। व्यक्ति का व्यय जब बढने लगता है तब उसे अधिक आय के साधन खोजने पडते है। कमी-कमी व्यक्ति के सामने कुछ ऐसे खर्चे आ जाते है जिन्हे पूरा करना आवश्यक होता है चाहे आय उतनी है या नहीं। ऐसी दशा में व्यय के अनुसार आय करनी होती है। यदि राज्य के दृष्टिकोण से देखे तो ज्ञात होगा कि जब सरकार के बजट में आय व्यय से अधिक हो जाती है तब अतिरिक्त आय को वह जन-हित में व्यय करने का निश्चय करती है। दूसरे शब्दों में, सरकार को आय के अनुसार व्यय का समायोजन करना पडता है जो लोक वित्त के सामान्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह भी आवश्यक नहीं है कि राज्य सदैव ही अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करने मे सफल हो जाए। कमी-कमी आय के अभाव में सरकार को अपना व्यय कम करना पड़ता है। व्यय मे कटौती कर देने से वह उसी आय द्वारा ही समायोजित हो जाता है।

3. अवधि मे अन्तर—सार्वजनिक वित्त का आयोजन दीर्घकाल के लिए होता है क्योंकि सरकार की अधिकाश योजनाएँ मध्यम अथवा दीर्घकालीन होती हैं क्योकि सरकार निरतर है और व्यक्ति मरणशील है। इस दृष्टि से व्यक्ति प्राय. अल्पकालीन आयोजन करता है।

4. दबावकारी शक्ति मे भिन्नता—टेलर के अनुसार, "सरकार और निजी व्यवसाय मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि लोगों पर दबाव डालने की दोनो की शक्तियो मे भिन्नता ह। जहाँ लोकप्रिय शासन होता है, वहाँ व्यवसाय-नीति की अपेक्षा सरकारी नीति का निर्धारण हो जाने पर कर तो देने पडते हैं और ऐसा नहीं हो सकता कि कर से बचने के लिए आप कर-योग्य आय न कमाएँ। जिन चीजों पर कर लगा हो वे न खरीदे, जीवन मे सम्पत्ति का अर्जन न करे। कर देने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। बिक्री-कर से बचने का एक तरीका है कि करशुदा माल खरीदा न जाए। यह ध्यान देने योग्य है कि व्यवसाय पर एकाधिकार के कारण ग्राहको को यह गुजाइश नहीं रहती कि माल की किस्म पसन्द करे और तब दाम दें। यहाँ भी बाध्यता का प्रभावकारी तत्त्व विद्यमान है। बैजामिन फ्रेकलिन ने कहा था कि मानव के लिए दो तथ्य निश्चित है—मृत्यु और कर। इससे पता चलता है कि राजकोषीय शक्ति कितनी बाध्यकारी है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस बाध्यकारी शक्ति को देखते हुए राजकोषीय नीति का निर्धारण बडी जिम्मेदारी का काम है। इस शक्ति को केवल इस आधार पर उचित कहा जा सकता है कि *इसके प्रयोग से जन-साधारण का कल्याण होता है*।[1]

5. आय की प्रकृति और लोच मे अन्तर—राज्य की बाध्यकारी शक्ति के आधार पर व्यक्ति की आय की तुलना मे राजकीय आय की 'अनिवार्य विशेषता' (Compulsory Character) बताई गई है। राज्य व्यक्तियो को कर देने के लिए बाध्य करके अपने अनुसार आय प्राप्त कर सकता है जबकि व्यक्ति इस ढग से अपनी आय मे वृद्धि नहीं कर सकता। व्यक्तिगत आय की अपेक्षा राजकीय आय लोचपूर्ण अधिक होती है। सरकार पुराने करो मे वृद्धि कर, नए कर लगाकर, आन्तरिक और बाह्य ऋण प्राप्त करके तथा पत्र-मुद्रा छाप कर आय बढा सकती है जबकि निजी वित्त व्यवस्था में आय के साधन लगभग बेलोच होते हैं अर्थात् बदले नहीं जा सकते हैं।

राजकीय आय की विशेषता अनिवार्य और लोचपूर्ण होते हुए भी ऐसी नहीं है कि वह सीमाओं से सर्वथा अप्रतिबन्धित हो। राजकीय आय पर निम्नलिखित कारक निश्चित रूप से प्रभाव डालते है और उसे सीमित बनाते हैं—

(i) सरकार अपने राज्य की सीमाओं मे ही आय प्राप्त कर सकती है।

(ii) सरकार अपने देश की जनता से जो आय वसूल करती है, उसके प्रतिफल मे उसे आवश्यक सेवाएँ देनी होती हैं।

(iii) अधिक करारोपण का देश के उत्पादन पर उल्टा प्रभाव पड सकता है और करारोपण की अधिक दर से राजकीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। *'Laffer Criteria'* इसी बिन्दु को समझाता है।

(iv) यदि राज्य अपनी आय मे वृद्धि करता है तो व्यक्तियो की आय कम हो जाती है अत राज्य अपनी आय बढाने के बदले केवल उस अनुपात को बदल सकता है जिसमे देश की कुल आय राज्य

1 *फिलिप ई टेलर* राजवित्त का अर्थशास्त्र पृ 7

और नागरिकों के बीच बँटी रहती है। श्रीमती हिक्स कहती है कि— व्यक्ति अपनी आय का एक भाग अपनी इच्छा से व्यय करता है और दूसरे भाग को वह सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर व्यय करता है। यदि वह सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि मे अधिक व्यय करेगा तो उसकी व्यक्तिगत आय कम हो जाएगी। चूँकि राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति से धन प्राप्त करता है अत राज्य की आय की प्रकृति निश्चित ही 'अनिवार्य रूप' की है।

राजकीय आय की लोचशीलता और उसके विस्तार पर फिलिप ई टेलर की टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"यह ठीक है कि सरकार की सम्भावित आय की सीमा किसी निजी व्यवसाय की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है। सरकार कोई खर्च करने से पहले उसके सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टिकोण अपनाती कि उस खर्च से प्रत्यक्ष आय होगी या नही। सरकार के नियम व्यवसाय के नियमो की तुलना मे अधिक बाध्यकारी होते है फिर भी सरकार और व्यवसाय दोनो एक ही अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करते है। सरकार सामान्य आय स्रोत से कर प्राप्त करती है वह अपना कोष सामान्य आय-स्रोतो मे व्यय करती है वह उन्हीं साधनो से ऋण लेती है जिनसे निजी व्यवसाय उधार प्राप्त करता है वह गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों को अपने लिए उत्पादन करने के लिए नियुक्त करती है और राजकोषीय नीति गैर-सरकारी अर्थव्यवस्था पर अपने प्रभाव के बलबूते पर ही चलती है या असफल होती है। राजकोषीय नीति के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण यह मानने मे है कि सरकार अर्थव्यवस्था का एक तत्त्व है न कि वह अर्थव्यवस्था पर एक फोडे के समान है।

6 ऋण की प्रकृति मे अन्तर—दोनो व्यवस्थाओं में ऋण की प्रकृति मे अन्तर होता है। एक व्यक्ति जब ऋण लेना चाहता है तो यह ऋण-दाता की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह ऋण दे या नहीं लेकिन सरकार नागरिको को ऋण देने के लिए विवश कर सकती है यह अन्तर विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि हम समान प्रवृत्ति वाली वस्तुओ की तुलना करे तो जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार एक राज्य दूसरे राज्य को ऋण देने के लिए विवश नहीं कर सकता। इस प्रकार आज की प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था मे बलपूर्वक ऋण लेना सुगम नहीं है क्योकि इस व्यवस्था मे राज्य अपने नागरिको का ही सामूहिक रूप होता है। ऐसा केवल तानाशाही देशों मे ही सम्भव है।

7. साधनो की प्रचुरता मे अन्तर—सार्वजनिक और निजी वित्त मे एक मौलिक अन्तर यह है कि सरकार या सार्वजनिक संस्था की बाजार मे किसी एक व्यक्ति से अधिक साख और दोनों के साधनों मे अत्यधिक भिन्नता होती है। व्यक्तिगत आय के साधन सीमित होते है जबकि सरकार की वित्तीय पहुँच अत्यन्त व्यापक होती है। इसके फलस्वरूप—

(i) सरकार अपने देश अथवा विदेशो से ऋण प्राप्त कर सकती है जबकि व्यक्ति का ऋण-क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। व्यक्ति सरकार की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ से ऋण प्राप्त नहीं कर सकता है।

(ii) व्यक्ति की अपेक्षा सरकार को अधिक सरल और सुविधाजनक शर्तों पर ऋण प्राप्त हो जाते है। कभी-कभी सरकार को ब्याज रहित ऋण भी मिल जाते है।

(iii) सरकार को बहुत बडी मात्रा में दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो जाते है जबकि यह सुविधा व्यक्ति को उपलब्ध नहीं हो पाती है।

(iv) सरकार ऋण-पत्र चालू कर आय प्राप्त कर सकती है जबकि व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता है।

(v) जब किसी भी रीति से सरकारी व्यय की मदों के लिए आय का प्रबन्ध नहीं हो पाता तो सरकार घाटे के बजट बनाकर रकम की व्यवस्था कर सकती है। हीनार्थ प्रबन्धन एक ऐसा साधन है जिससे राज्य संकट के समय अपने को उभार सकता है। व्यक्ति के पास ऐसी सुविधाओं का अभाव होता है।

(vi) सरकार केन्द्रीय बैंक से रकम प्राप्त कर सकती है जबकि व्यक्तिगत क्षेत्र मे यह सुविधा उपलब्ध नहीं है।

सरकार वैधानिक संगठन है जिसके अधिकार वैधानिक रूप से निर्धारित और मान्यता प्राप्त होते है अत उसकी वित्त प्राप्त करने की शक्ति की तुलना व्यक्तिगत और निजी वित्त से करना उचित नहीं है।

8. घाटे और बचत सम्बन्धी अन्तर—निजी वित्त-व्यवस्था मे बचत करना श्रेष्ठता का प्रतीक है। व्यक्ति द्वारा अपनी आय मे से कुछ बचाने की नीति को बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य समझा जाता है किन्तु लोक वित्त मे यह स्थिति नहीं है। यदि कोई सरकार बचत का बजट (Surplus Budget) बनाती है तो यह समझा जाता है कि वह जनता पर अनावश्यक करारोपण कर अतिरिक्त आय प्राप्त कर रही है। सरकार द्वारा बचत के बजट से दूसरा अर्थ यह लिया जाता है कि सरकार के पास रकम लगाने के लिए विकास योजनाएँ नही है और देश मे आर्थिक विकास की गति शिथिल है। आजकल विकासशील देशो मे सरकारे प्राय. घाटे के बजट (Deficit Budget) बनाकर आय की कमी की पूर्ति अतिरिक्त मुद्रा निकालकर करती है।

इससे निम्न निष्कर्ष निकलते है—

(क) व्यक्ति के लिए बचत का बजट श्रेष्ठ है घाटे का नहीं।

(ख) सरकार के लिए घाटे का बजट श्रेष्ठ है, बचत का नहीं।

किसी भी सरकार के लिए निरन्तर घाटे के बजट बनाने की नीति अपनाना हानिकारक हो सकता है। इस नीति के कारण देश मे निरन्तर मुद्रा-स्फीति होती जाएगी वस्तुओ के मूल्यों मे वृद्धि होगी, देश की मुद्रा का मूल्य गिरेगा और सरकार की साख मे निरन्तर कमी आती जाएगी, जिसके फलस्वरूप विदेशी व्यापार मे विभिन्न कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी अत हीनार्थ प्रबन्धन की नीति अनियन्त्रित और अनियमित काल तक नहीं चलनी चाहिए। ऐसी नीति पर पर्याप्त अकुश लगाए रखना आवश्यक है।

9. नियोजन की प्रकृति और सरकार मे अन्तर—व्यक्ति अपने आय-व्यय का पूर्व अनुमान लगाकर अपनी गृहस्थी की योजनाएँ बनाता है। राज्य भी व्यक्तियो को अधिकतम लाभ पहुँचाने के लिए अपनी सामाजिक और आर्थिक क्रियाओ का नियोजन करता है तथा योजनाओ पर व्यय किए जाने वाले धन की उपलब्धि के लिए कार्यक्रम निर्धारित करता है। दोनो व्यवस्थाओ मे नियोजन की प्रकृति और आकार मे अन्तर है। राज्य की नियोजन-प्रणाली अति विस्तृत होती है और व्यक्ति की योजना अति लघु। व्यक्ति द्वारा भविष्य के लिए आयोजन करना सरकार की अपेक्षा अधिक सरल और महत्त्वपूर्ण है, लेकिन राज्य के सामने प्रतिदिन नवीन समस्याएँ उत्पन्न होती है तथा विश्व-अशान्ति अकाल महामारी, राष्ट्रीय सकट, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति आदि अनेक घटनाएँ सरकार के पूर्व निर्धारित अनुमानो को समाप्त कर सकती है।

10. गोपनीयता का अन्तर—व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था गोपनीय रहती है जबकि सार्वजनिक अर्थ-नीति और साधनो का व्यापक प्रचार किया जाता है। व्यक्ति अपने आय-व्यय का और अपनी बचत एव ऋणो का परिचय किसी अन्य व्यक्ति को नही देना चाहता। उसका दृष्टिकोण यही रहता है कि 'बँधी मुट्ठी लाख की, खुल गई तो खाक की । इसके विपरीत सार्वजनिक वित्त का ब्यौरा न केवल प्रकाशित किया जाता है बल्कि उसके मदो पर परामर्श कर वह जनता की जानकारी मे लाया जाता है। सार्वजनिक वित्त की सम्पूर्ण मदो और उसके हिसाब-किताब का लेखा परीक्षण होता है तथा रिपोर्ट लोकसभा, विधानसभा या साधारण बैठक मे प्रस्तुत की जाती है। व्यक्तिगत वित्त इन सब बन्धनो से मुक्त रहता है।

11. सगठन और सुरक्षा सम्बन्धी अन्तर—सार्वजनिक वित्त की व्यवस्था एक शक्तिशाली सगठन के माध्यम से होती है क्योकि लेन-देन की रकमे बहुत बडी व महत्त्वपूर्ण होती है। निजी वित्त की व्यवस्था के लिए ऐसे किसी सगठन की आवश्यकता नहीं होती। यह अन्तर दोनो क्षेत्रो के आधार की भिन्नता का फल है।

दोनो व्यवस्थाओ मे सुरक्षा पर व्यय किए जाने के सम्बन्ध मे भी अन्तर है। व्यक्ति को सुरक्षा पर व्यय करने की चिन्ता इतनी अधिक नही होती जबकि राज्य का यह प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह जनता के जान-माल की सुरक्षा करे। सरकार को विदेशी शत्रुओ से रक्षा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में सेना और सुरक्षात्मक सामग्री की व्यवस्था करनी होती है। स्वायत्त सस्थाओ को भी सुरक्षा के लिए गार्ड रखने पडते है। व्यक्तियो को ऐसी व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सुरक्षा पर व्यय करना राज्य के लिए कभी-कभी तो इतना आवश्यक होता है कि अन्य मदो पर की जाने वाली व्यय की मात्रा मे कमी करके सुरक्षा विभाग पर अधिकतम व्यय किया जाता है। सार्वजनिक वित्त की यह विशेषता निजी वित्त मे नही होती।

अत व्यक्तिगत अर्थ प्रबन्ध और सार्वजनिक वित्त आय-व्यय दोनो मदो में कुछ मौलिक अन्तर है और दोनों को समानान्तर स्तरों पर चलाना कठिन है । आज के चेतनाशील और प्रजातान्त्रिक युग में राज्य का उत्तरदायित्व असीमित होता जा रहा है । आज राज्य न केवल सुरक्षा के लिए ही उत्तरदायी है अपितु राष्ट्र का सम्पूर्ण विकास दायित्व भी उसके कन्धों पर है । अपने इन सब कार्यों के लिए राज्य को विशाल आय-व्यय के साधन जुटाने पडते हैं ।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त

(Doctrine of Maximum Social Advantage)

दो शताब्दियों पूर्व सत्ता की स्थिति स्वरूप और कार्य क्षेत्र अत्यन्त सीमित और परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचार लोक वित्त के सम्बन्ध में बहुत सकीर्ण थे । वे लोग सबसे अच्छी सरकार उसे समझते थे जो लोगों की आर्थिक स्वतन्त्रता पर कम से कम दबाव डालती हो । प्राचीन अर्थशास्त्री द्रव्य को व्यक्तियों की जेबों में रखना अधिक उचित समझते थे । उनकी मान्यता थी कि व्यक्तियों के द्वारा किए गए व्यय उत्पादक हैं जबकि सरकार द्वारा किया गया व्यय अनुत्पादक होता है तथा द्रव्य को सरकार की अपेक्षा अधिक कुशलता और सावधानी से व्यय करता है । अत व्यक्ति के स्तर पर व्यय से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।

प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे कि राज्य का कार्य क्षेत्र सीमित होना चाहिए । फ्रेंच अर्थशास्त्री जे बी से (J B Say) का कहना था कि लोक वित्त की वही योजना सबसे अच्छी है जिसके अन्तर्गत कम से कम व्यय किया जाए और सब करो मे उत्तम कर वही है जो मात्रा में न्यूनतम हो । इसी तरह रिकार्डो (Ricardo) का मत था कि 'यदि तुम शान्तिमय सरकार चाहते हो तो तुम्हें बजट को कम करना होगा । हैनरी पार्नेल ने अपने समय की विचारधारा को अधिक स्पष्ट रूप मे लिखा था कि जितना व्यय व्यवस्था की रक्षा तथा विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक है उससे तनिक भी अधिक व्यय करना अपव्यय और जनता के ऊपर अत्याचार है । प्राचीन अर्थशास्त्रियों को यह विश्वास था कि करों से समाज को किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता केवल हानि ही होती है । जब निर्बाधवादी लोगों ने राज्य को आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप करने से रोकने का प्रचार किया तो इस मत को और अधिक बल मिला ।

उपरोक्त मत अर्थात् न्यूनतम सामूहिक कर सिद्धान्त के विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों ने न्यूनतम सामूहिक त्याग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । उन्होंने कहा कि लोक वित्त का उत्तम सिद्धान्त यह होना चाहिए कि कर का बोझ समाज में उचित तरीके से बॉटा जाए । इन लोगो ने यह सुझाव दिया कि सरकार को कम से कम कर लगाने चाहिए । इन दोनो विचारो के अतिरिक्त अर्थशास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया कि लोक वित्त का सिद्धान्त मितव्ययिता होना चाहिए । व्यय करते समय सरकार इतनी सावधानी और सतर्कता नहीं बरत सकती जितनी एक व्यक्ति बरत सकता है ।

इस तरह स्पष्ट है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने लोक वित्त के तीन सिद्धान्त बताये है—

(1) न्यूनतम कर सिद्धान्त
(2) न्यूनतम सामूहिक त्याग का सिद्धान्त एव
(3) मितव्ययिता का सिद्धान्त ।

यह सिद्धान्त किसी समय कुछ भी उपयोगिता रखते हों किन्तु वर्तमान समय मे लोक वित्त के लिए उन्हें उपयुक्त सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रथम दो सिद्धान्त इसलिए ठीक नहीं है कि आधुनिक परिस्थितियों में राज्य के कार्यों का क्षेत्र इतना बढ गया है कि थोडे से कर लगा कर सम्पूर्ण कार्यों को सम्पादित नहीं किया जा सकता । तीसरा मितव्ययिता का सिद्धान्त इस दृष्टि से उपयुक्त नहीं लगता कि व्यक्ति प्रत्येक व्यय को अपने स्वार्थ की दृष्टि से देखता है जबकि राज्य को व्यय करते समय सभी तथ्यो को देखना पडता है । कम से कम व्यय करना एक बात है और बुद्धिमानी से व्यय करना दूसरी बात । राज्य व्यय में बुद्धिमानी को विशेष स्थान दिया जाता है जिसे व्यक्ति कभी कभी नहीं कर पाता । आज के युग मे कल्याणकारी भावना के उदय होने से राज्य जिन महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है उनमें मितव्ययिता लागू नहीं हो सकती । आज लोक वित्त का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ ही स्वीकार किया जाता है ।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त
(Doctrine of Maximum Social Advantage)

आधुनिक अर्थशास्त्री रेकार्डो एडम स्मिथ आदि विद्वानों के इस विचार से सहमत नहीं है कि राज्य द्वारा किया गया व्यय अनुत्पादक और व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय उत्पादक होता है। कोई राज्य-व्यय उत्पादक है या नहीं यह इस पर निर्भर करता है कि उससे समाज के सामूहिक कल्याण मे कितनी सहायता मिली है। स्वास्थ्य शिक्षा चिकित्सा आदि पर किए गए सार्वजनिक कार्यों से सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है इसके विपरीत व्यक्ति द्वारा किए गए समस्त व्यय समाज के लिए लाभदायक नहीं होते जैसे—*व्यक्तियो द्वारा मदिरा घुड दौड आदि पर किये गये व्यय व्यर्थ होते है।* डॉ डाल्टन के अनुसार कोई भी व्यय उत्पादक है अथवा नहीं इसकी आर्थिक जाँच उस व्यय की आर्थिक कल्याण की उत्पादकता से लगती है जैसे—शिक्षा एव स्वास्थ्य पर किया जाने वाला राजकीय व्यय बहुधा व्यक्तिगत भोग-विलासों पर तथा नए पूँजी माल पर किए जाने वाले व्यय की अपेक्षा अधिक उत्पादन और कल्याणकारी है।

प्रत्येक कर अनुचित नहीं होता है। यदि शराब तथा अन्य मादक पदार्थों पर लगा कर इनके विक्रय और उपभोग को कम कर देता है तो इस कर से बहुत अधिक सामाजिक कल्याण ही होता है। इसलिये न तो सब प्रकार के 'कर और न ही सब प्रकार के 'राजकोषीय व्यय' अनुचित होते है। लोक वित्त के आय और व्यय के दोनो क्षेत्रों पर लागू किये जाने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन डाल्टन ने किया— लोक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिससे राज्य अपने कार्यों द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करता है। अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का आशय यह है कि सरकार इस सिद्धान्त के अनुसार आय प्राप्त करके उसे व्यय करती है तो समाज का अधिक से अधिक कल्याण होता है।

सिद्धान्त की ***व्याख्या***—डॉल्टन के विचार 'लोक वित्त के मूल मे एक बुनियादी सिद्धान्त होना चाहिए। इसे हम अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कह सकते हैं। लोक वित्त की समस्त क्रियाएँ वास्तव में समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण हैं। इस क्रय-शक्ति के *हस्तान्तरण का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है।*

राजकीय व्यय प्रत्येक दिशा में उस सीमा तक बढते रहना चाहिए जब तक इस व्यय से उत्पन्न होने वाला सन्तोष राज्य द्वारा लगाए गए करो से उत्पन्न होने वाले असन्तोष के बराबर न हो जाए। यह सीमा ही राजकीय आय और व्यय में वृद्धि करने की आदर्श सीमा हो सकती है।

इसका आशय यह है कि प्रत्येक सरकार कर ऋण आदि विभिन्न साधनो से आय प्राप्त करती है। जब सरकार जनता से कर प्राप्त करती है तो यह स्वाभाविक है कि समाज पर भार पडता है जिसके फलस्वरूप जनता को त्याग करना पडता है। जनता से कर प्राप्त करके सरकार विभिन्न सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करती है जिसके फलस्वरूप समाज को लाभ प्राप्त होता है अर्थात् उपयोगिता उत्पन्न होती है। सरकार को इन दोनों का समायोजन इस प्रकार करना चाहिए कि समाज को मिलने वाली उपयोगिता उसके द्वारा किए गए त्याग से कम न हो।

उपरोक्त विचार के अनुसार समाज को अधिकतम सामाजिक लाभ उसी दशा मे प्राप्त होगा जब लोक वित्त के व्यय से समाज को सन्तुष्ट किया जा सके। यदि लोक वित्त इतनी सन्तुष्टि नहीं दे कि उस आय को प्राप्त करने पर समाज के त्याग की मात्रा को पूरा कर सके तो वह सार्वजनिक कार्य उचित नहीं ठहराया जा सकता। अधिकतम सामाजिक लाभ उसी दशा में प्राप्त किए जा सकते है जबकि सार्वजनिक आय व्यय की उचित सीमाएँ निर्धारित कर ली जाएँ। कर के रूप में जनता को जो त्याग करना पडता है उसे हम अर्थशास्त्र की भाषा में सीमान्त सामाजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice) कहते है और सार्वजनिक व्यय द्वारा जो उपयोगिता अथवा सतुष्टि प्राप्त होती है उसे सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि (Marginal Social Satisfaction) कहते हैं। राज्य को सार्वजनिक व्यय उसी सीमा तक बढाते जाना चाहिए जब तक उस आय को प्राप्त करने से जनता को होने वाले सीमान्त सामाजिक त्याग के बराबर सीमान्त सामाजिक उपयोगिता दी जा सके। अत जिस प्रकार एक व्यक्ति सदैव सम सीमान्त उपयोगिता' के नियम के अनुसार अपने व्यय का इस प्रकार विभाजन करता है कि द्रव्य की सीमान्त

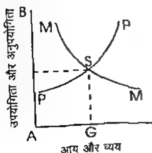
उपयोगिता बराबर हो ताकि उसे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो सके ठीक उसी तरह लोक वित्त मे सरकार व्यय करते समय ऐसा प्रयत्न कर सकती है।

जैसे-जैसे लोगो के पास द्रव्य कम होता जाता है वैसे-वैसे उसकी उपयोगिता बढती जाती है। इस प्रकार जब कोई नया कर लगाया जाता है अथवा किसी तरह पुराने कर की दर बढाई जाती है तो कर की प्रति-अतिरिक्त इकाई के लगाने से पहले की अपेक्षा समाज पर अधिक बोझ पडता है और वह बढता जाता है। दूसरे दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र के बढते हुए त्याग का सिद्धान्त कर के सम्बन्ध मे लागू होता है। दूसरी ओर राज्य अपने व्यय द्वारा लोगो को सुविधाएँ प्रदान करता है किन्तु व्यय की प्रति-अतिरिक्त इकाई से समाज के लिए इसकी उपयोगिता पूर्वापेक्षा कम होती जाती है और एक ऐसा बिन्दु आ जाता है जिस पर व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता तथा कर देने की मात्रा (त्याग) के बराबर हो जाती है और सरकार को इस बिन्दु तक ही अपने आय-व्यय को ले जाना चाहिए। यदि कर इस सीमा का उल्लघन करते हैं तो ऐसी स्थिति में जनता को सार्वजनिक व्यय से मिलने वाली उपयोगिता की अपेक्षा कर देने मे अधिक कष्ट होगा। इसके विपरीत यदि कर इस सीमा से कम लगते है तो जनता को कष्ट तो कम होगा किन्तु वह उस लाभ से वचित रहेगी जो अधिक कर लगाने से प्राप्त होने वाली आय को सार्वजनिक हित के लिए व्यय करने से होता। अत ये दोनो स्थितियाँ राष्ट्र के हित मे नहीं हैं इसीलिए लोक वित्त इतना होना चाहिए कि किसी भी दशा मे (व्यय अथवा आय) थोडी-सी वृद्धि करने से प्राप्त सामाजिक लाभ किसी अन्य साधन से आय मे हुई उतनी ही तनिक-सी वृद्धि की हानि के बराबर हो जाए।

उदाहरण—अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है—

इकाई	कर की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न त्याग	सार्वजनिक व्यय की प्रति इकाई से उत्पन्न सन्तुष्टि
1	30	75
2	35	65
3	40	55
4	50	50
5	55	40
6	60	30

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट होता है कि कर की इकाई के बढने के साथ साथ कर की प्रति इकाई का समाज पर अधिक बोझ पड़ता जाता है अर्थात् सीमान्त त्याग क्रमश बढता जाता है जबकि सार्वजनिक व्यय की प्रति अतिरिक्त इकाई से समाज के लिए उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होती जाती है। अत अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार उदाहरण मे चौथी इकाई के बाद सरकार को कर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यहाँ पर सीमान्त सामाजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice) और सीमान्त सामाजिक सन्तोष (Marginal Social Satisfaction) समानता के बिन्दु पर आ जाते हैं।



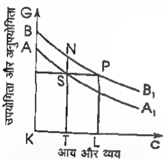
रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—इसमें जनता द्वारा कर के रूप मे किया गया त्याग बढता हुआ होता है अर्थात् समाज को होने वाली अनुपयोगिता वक्र की प्रवृत्ति ऊपर को उठने की होती है क्योंकि सरकार अपनी आय बढाने हेतु कर की मात्रा एव आय के अन्य साधनों में वृद्धि करती है और जनता का सीमान्त त्याग बढता जाता है। दूसरी ओर लोक वित्त द्वारा प्राप्त उपयोगिता वक्र घटता हुआ होता है क्योंकि सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कार्यशील होता है। ये

दोनो वक्र जिस बिन्दु पर काटते है वह सार्वजनिक व्यय की सर्वोच्च स्थित होती है। उसी बिन्दु तक सार्वजनिक आय-व्यय को बढाकर अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

चित्र मे P P वक्र रेखा सामाजिक अनुपयोगिता को प्रदर्शित करती है। M M वक्र रेखा समाज को प्राप्त उपयोगिता का द्योतक है। ये दोनों वक्र S बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। इस तरह A G राज्य के लोक वित्त की वह सीमा है जिससे समाज को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त होगा। S वह सीमा है जिस तक राज्य को अपना कार्यक्षेत्र बढाते जाना चाहिए और इस दशा में बढती हुई उपयोगिता प्राप्त होगी किन्तु यदि S बिन्दु से आगे भी राज्य ने अपना कार्य किया तो इसका परिणाम यह होगा कि करारोपण से जनता को त्याग अधिक करना होगा अत इस स्थिति में कर की मात्रा कम करनी पड़ेगी।

सामाजिक आय और व्यय का विभाजन (Allocation of Public Revenue and Expenditure)—अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त केवल यही नहीं बतलाता है कि सार्वजनिक व्यय और आय की मात्रा में किस सीमा तक वृद्धि करनी चाहिए, वरन् यह भी बतलाता है कि—(क) राजकीय व्यय का विभाजन विभिन्न मदों पर किस प्रकार करना चाहिए तथा (ख) कर को किन-किन स्रोतों मे विभाजित करना चाहिए।

(क) राजकीय व्यय का विभाजन—अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न कार्यों पर इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि प्रत्येक कार्य पर जो रकम व्यय की जाए उससे प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक सन्तोष बराबर हो, जिससे जनता को अधिकतम मात्रा मे कुल उपयोगिता प्राप्त हो सके। उदाहरणार्थ, यदि सरकार रक्षा कार्य पर आवश्यकता से अधिक व्यय करती है और शिक्षा एव स्वास्थ्य पर आवश्यकता से कम, तो इस प्रकार के सार्वजनिक व्यय से समाज को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा क्योकि उक्त ढग से व्यय करने पर तीनों की सीमान्त उपयोगिता बराबर नहीं होगी। फलस्वरूप समाज को अधिकतम लाभ पहुँचाने के उद्देश्यों से सरकार को रक्षा कार्य पर व्यय घटाकर स्वास्थ्य एव शिक्षा कार्य पर व्यय बढाना होगा ताकि तीनों ही मदों से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके। इसे रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते है—



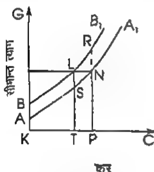
रेखाचित्र में AA_1 तथा BB_1 उस समय की उपयोगिता वक्र रेखाये हैं जब राज्य A और B मदो पर व्यय करता है। यदि राज्य BkT राशि A मद पर तथा K L राशि B मद पर व्यय करता है तो इस स्थिति में सम्पूर्ण उपयोगिता A मद से KTSA तथा B मद से KLPB होगी। दोनों ही मदो से सम्पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होगी क्योकि दोनों मदो की सीमान्त उपयोगिता बराबर है।

(ख) राजकीय आय के स्रोतो का निर्धारण—यह सम-सीमान्त त्याग सिद्धान्त द्वारा संचालित होता है। अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त यह बतलाता है कि करों को किन स्रोतों में विभाजित करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार करों के भार का विभिन्न स्रोतों में विभाजन इस तरह किया जाना चाहिए कि प्रत्येक स्रोत का सीमान्त त्याग समान हो क्योंकि ऐसा करने से जनता द्वारा किए गए कुल त्याग की मात्रा न्यूनतम रह सकेगी। यदि सीमान्त त्याग एक मद में दूसरे मद की अपेक्षा अधिक रहा तो समाज के हित मे यह होगा कि पिछले मद पर कर की दर कम कर दी जाए और दूसरे मद पर कर की दर बढा दी जाए। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति कैसी है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि एक धनी व्यक्ति के लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता एक गरीब व्यक्ति की तुलना में कम होती है। इसलिए धनी व्यक्ति गरीब की अपेक्षा अधिक कर दे सकता है। इसे हम अग्रांकित उदाहरण द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं—

मान लीजिए चार व्यक्ति हैं—अ ब स द और जब इनमें से किसी को रुपये देने पडते है, तो उसका त्याग इस प्रकार है—

रुपयों की इकाइयाँ	त्याग			
	अ	ब	स	द
1 रुपया	8	10	14	16/
2 रुपये	10	12	16/	20
3 रुपये	14	16/	20	24
4 रुपये	16/	18	26	30
5 रुपये	10	22	30	36

अब मान लीजिए कि सरकार को 20 रुपये कर से वसूल करने हैं तो उसे अ से 8 रुपये, ब से 6 रुपये, स से 4 रुपये और द से 2 रुपये वसूल करने चाहिए, क्योंकि इस स्थिति मे सबका सीमान्त त्याग बराबर है (अर्थात् 16) । दूसरे शब्दों में धनी व्यक्तियों से अधिक कर लेना चाहिए और गरीब व्यक्तियो से कम । इसके साथ ही कर-प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए । इसको हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं—



इस रेखाचित्र के अनुसार जब A वस्तु पर कर लगाया जाता है तो AA_1 सीमान्त त्याग वक्र है । इसी तरह BB_1 सीमान्त त्याग वक्र B वस्तु का है । जब A वस्तु से KP कर तथा B वस्तु से KT कर वसूल किया जाता है तो इस स्थिति में सीमान्त त्याग बराबर रहता है अर्थात् LT = NP । स्पष्ट है कि इस स्थिति में ही सामाजिक त्याग की कुल मात्रा न्यूनतम होगी । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए—

(i) सरकारी व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता और कर-भार से होने वाला त्याग (सीमान्त भार) बराबर होना चाहिए ।

(ii) विभिन्न क्षेत्रों मे किए गए व्ययो से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर होनी चाहिए ।

(iii) विभिन्न व्यक्तियों से प्राप्त होने वाले कर से पडने वाला सीमान्त भार (त्याग) बराबर या लगभग बराबर होना चाहिए ।

सिद्धान्त की सीमाएँ एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ

(Limitations and Difficulties of the Doctrine)

लोक वित्त का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण बडा स्पष्ट, सरल और न्यायसगत है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने से सार्वजनिक वित्त के लक्ष्य को प्राप्त करना सरकार के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाएगा ।

इस सिद्धान्त की जो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं, वे निम्न हैं—

1. यह कहना और समझना बडा सरल है कि कर देने से करदाताओं को होने वाली अनुपयोगिता तथा राजकीय व्यय से समाज को प्राप्त होने वाली उपयोगिता का तुलनात्मक अध्ययन करके लोक वित्त की क्रियाओं की सीमा बाँधी जा सकती है, किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि यह माप कैसे की जाए ? जब करदाता कर देते हैं तो यह निर्णय लेना पडता है कि कर का भार करदाता पर उसकी योग्यता अथवा क्षमता से अधिक न पड़े और इसमें भी यही कठिनाई उपस्थित होती है कि कर का भार कैसे मापा जाए ? हमारे पास कपडा नापने का गज अथवा वजन तोलने का किलो जैसा कोई मापक यन्त्र

नहीं है जिसकी सहायता से हम करदाता की क्षमता तथा करदाता को होने वाली अनुपयोगिता एव व्यय से मिलने वाली उपयोगिता का माप-तोल करके निष्कर्ष निकाल ले । जब एक व्यक्ति के लिए यह बतलाना मुश्किल होता है कि उसके त्याग से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता और आय से मिलने वाली उपयोगिता कब बराबर होगी तो राज्य के लिए यह बतलाना और भी मुश्किल कार्य है क्योकि राजकीय आय तथा करारोपण विभिन्न सरकारी कर्मचारियों द्वारा, विभिन्न क्षेत्रो में और विभिन्न विभागो के अन्तर्गत होता है । उदाहरणार्थ, यदि केन्द्र सरकार किसी एक प्रान्त के किसी व्यापारी से कर के रूप में एक अतिरिक्त रुपया प्राप्त करे और वही रुपया दूसरे प्रान्त के किसी सरकारी कार्यालय के लिए लेखन-सामग्री पर अतिरिक्त व्यय करे तो यह ऑकना बडा कठिन होगा कि कर दाता द्वारा किए गए सीमान्त त्याग की अनुपयोगिता प्रान्तीय सरकार द्वारा किए गए व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओ से कम है अथवा अधिक । इसी प्रकार यह मालूम करना भी मुश्किल होगा कि एक ओर किसी स्कूल पर व्यय करने पर अधिक सामाजिक लाभ होगा जब इस रुपये को स्वास्थ्य और चिकित्सा पर व्यय किया जाये तो इससे अधिक लाभ होगा । स्पष्ट है कि ऐसा व्यावहारिक निर्णय लेना सरल नहीं है ।

2 राज्य की क्रियाएँ बडी जटिल होती है । लोक वित्त अनेक अनार्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक तथ्यों से प्रभावित होता है इसलिए राज्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अनुपयोगिता का पूर्ण विवरण तैयार कर उसमें सन्तुलन स्थापित कर सके ।

3. करारोपण से होने वाले मिश्रित लाभो और हानियो का पता लगाना कठिन है । इस कार्य मे मुख्यत तीन कठिनाइयाँ आती है—

(क) जब राज्य कर लगाता है तो नागरिको की क्रय-शक्ति में कमी आती है । फलस्वरूप या तो उनकी बचत घट जाती है अथवा उनको उपभोग कम करना पडता है । कभी-कभी व्यक्तियों को बचत और उपभोग दोनो ही कम करने पडते हैं । उपभोग से कार्यकुशलता और अन्त मे उत्पादकता मे कमी आती है । बचत में कमी होने से व्यक्ति की उत्पादक-शक्ति में कमी आ जाती है, किन्तु इस प्रकार के त्याग कभी-कभी व्यक्तियो के लिए लाभप्रद होते है । उदाहरणार्थ, नशीली वस्तुओ के प्रयोग पर कर लगाने से उनके प्रयोग मे कमी आ जाती है जिसके परिणाम साधारणत अच्छे ही होते है । इससे नागरिकों को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है ।

(ख) राज्य जब कर लगाता है तो समाज में आय के वितरण में अन्तर आ जाता है जिससे कुछ लोगो को लाभ होता है तो कुछ को हानि । किस वर्ग को कितना लाभ हुआ अथवा किस वर्ग को कितनी हानि उठानी पडी इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है । इस तरह व्यय द्वारा किस वर्ग को कितना लाभ मिला और किस वर्ग को कितनी हानि हुई—इसे नापना सम्भव नहीं है ।

(ग) अल्पकालिक और दीर्घकालिक दृष्टिकोणो का अन्तर कठिनाई का एक कारण बन जाता है । व्यवहारत राज्य भावी उपयोग के लिए आय प्राप्त करता है जबकि करो का भार जनता पर तात्कालिक पडता है । इस प्रकार भविष्य के लाभ और वर्तमान त्याग के आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती ।

सामाजिक लाभ की आर्थिक कसौटी

(Economic Tests of Social Advantage)

इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतम सामाजिक लाभ के माप के व्यवहार में कठिनाइयाँ आती है लेकिन दूसरी ओर यह ध्यान रखना चाहिए कि आर्थिक जगत में हम अधिकाशत अनुमान और परिकल्पना पर चलते है और कुछ बिन्दुओं का ध्यान रखने से राजस्व क्रियाओं का निश्चय करने मे थोडा-बहुत मार्ग-दर्शन मिल जाता है । इस सम्बन्ध मे डाल्टन ने कुछ आधारों अथवा कसौटियो की ओर सकेत किया है जिनके द्वारा राज्य के आय-व्यय से सामाजिक लाभ की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है । ये कसौटियाँ निम्नानुसार हैं—

1. सुरक्षा और शान्ति—किसी भी देश की सरकार का यह आधारभूत कर्त्तव्य है कि वह जनता को विदेशी आक्रमणो से बचाए तथा आन्तरिक अशान्ति और व्यवस्था से उसकी रक्षा करे अत इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाने वाला राजकीय व्यय उचित और न्याय-सगत माना जाता है क्योकि

सुरक्षा के अभाव मे शान्तिपूर्ण एव न्यायसगत नीतियों को अपनाना चाहिए । प्राय राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक नीतियो के उचित न होने पर ही देश मे असन्तोष पैदा होता है । यदि उचित और न्यायपूर्ण नीति का अवलम्बन किया जाए तो विदेशी आक्रमणों के भय के कारण सेना और आन्तरिक भय के कारण पुलिस आदि पर अविवेकपूर्ण व्यय नहीं करना पडे ।

2. आर्थिक कल्याण मे वृद्धि—अधिकतम सामाजिक कल्याण के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण बात देश के आर्थिक कल्याण की वृद्धि करना है । समाज का आर्थिक कल्याण दो बिन्दुओं पर निर्भर करता है—

(क) उत्पादन शक्ति मे वृद्धि एव

(ख) उत्पादित धन के वितरण मे सुधार ।

डॉल्टन के अनुसार उत्पादन में सुधार को निम्न भागो में बॉटा जा सकता है—

(i) उत्पादक शक्ति में सुधार—जिससे कम से कम प्रयास से प्रत्येक श्रमिक द्वारा पहले अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके ।

(ii) उत्पादन के सगठन में सुधार—जिससे बेकारी तथा अन्य कारणों से आर्थिक साधनों के अपव्यय को कम किया जा सके एव

(iii) उत्पादन के स्वरूप तथा आकार मे सुधार—जिससे समाज या समुदाय की आवश्यकताएँ सर्वोत्तम ढग से पूर्ण की जा सकें ।

उत्पादन की शक्ति मे वृद्धि के लिए यह वाछित है कि अनिवार्य वस्तुओ पर कर नहीं लगाया जाना चाहिए और उद्योगो पर बहुत अधिक करारोपण नहीं करना चाहिए क्योकि ऐसा करना उनके विकास को निरुत्साहित करना है । चूँकि विदेशी वस्तुओं के आयातो पर कर लगाने से देश के उद्योग विकसित होने मे सहायता मिलती है अत यह उचित और न्यायसगत है ।

जहाँ तक उत्पादित धन के वितरण मे सुधार का प्रश्न है इसमे सुधार निम्नलिखित प्रकार से सम्भव है—

(i) धन के वितरण की असमानताओ में कमी लाना एव

(ii) समय पर परिवारो और विशेषकर समाज के गरीब वर्ग की आय मे होने वाले उच्चावचनों को कम करना ।

डॉल्टन ने लिखा है कि धन के वितरण की विषमता को कम करना इसलिए वाछनीय है कि इससे एक ओर तो व्यक्तियों और परिवारो को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार आय मिल सकेगी वहीं दूसरी ओर उनकी आय उपभोग करने की शक्ति के अनुसार होगी ।

3 भावी पीढी पर प्रभाव—डॉल्टन का कहना है कि राजकीय क्रियाओ का भावी पीढी के हितों पर पडने वाले प्रभावो का ध्यान रखना चाहिए क्योकि राज्य न केवल वर्तमान बल्कि भावी पीढी के लिए जिम्मेदार होता है । व्यक्ति मर जाते है परन्तु वे जिस समुदाय के भाग होते है वह जीवित रहता है । इसलिये राज्य को चाहिए कि भविष्य के अधिकतम सामाजिक कल्याण के लिए वर्तमान में कम सामाजिक कल्याण को स्वीकार करे । सरकार को चाहिए कि वह राजस्व की क्रियाओ का दीर्घकालीन दृष्टिकोण से चुनाव करे ।

4 स्थायित्व की आवश्यकता—सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिये देश के आर्थिक जीवन और रोजगार के स्तर मे स्थायित्व पैदा करना आवश्यक है । जब आर्थिक क्रियाओ में अस्थिरता आ जाती है तो आर्थिक सकटों के अनेक कारण उत्पन्न हो जाते है अत लोक वित्त मे ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन देना चाहिये जिनसे आर्थिक जीवन मे स्थायित्व आ जाए ।

यदि इन सबको ध्यान मे रखते हुए राजस्व-क्रियाओं के सम्बन्ध में सोचे कि वे जनता के सामूहिक कल्याण मे अधिकतम वृद्धि करने मे सहायक हो सकती हैं या नहीं तो हमे अवश्य ही अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की कठिनाइयाँ पूरी करने में सहायता मिलेगी । यदि राजस्व क्रियाओं के सम्बन्ध में वैकल्पिक प्रस्ताव हो तो राजनीतिज्ञों को दोनो से प्राप्त होने वाले लाभों का सभी दृष्टिकोणों से तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि किस क्रिया के द्वारा सामाजिक लाभ अधिकतम हो सकता है तथा उसे ही चुनना चाहिये । डॉल्टन के ये शब्द उल्लेखनीय है कि—मृग-तृष्णाओं को छोडकर हम बराबर अधिकतम सामाजिक लाभ के सरल किन्तु व्यापक सिद्धान्त

पर लौट आते है । किसी भी विचाराधीन वित्तीय प्रस्ताव के सभी सम्भव परिणामो का जिनका अनुमान किया जा सके, पूरा लेखा-जोखा करे, समाज से होने वाले सम्भावित लाभों और हानियो से तुलना करे, इस सन्तुलन की तुलना दूसरे वैकल्पिक प्रस्तावो के सन्तुलनो से करे और इन तुलनाओ के परिणाम पर अमल करें । जो लोग लेखे-जोखे की इन कठिनाइयो से आक्रान्त हो उठे है उन्हे प्राचीन यूनानियो की इस कहावत से सान्त्वना प्राप्त करनी चाहिए कि चीजे सरल नहीं किन्तु सुन्दर हुआ करती है और इसका कोई सस्ता ढग है ही नहीं ।

श्रीमती हिक्स के विचार (Views of Mrs Hicks)

श्रीमती हिक्स ने सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को दूसरी तरह समझाया है । श्रीमती हिक्स का मत है कि लोक वित्त की नीति और कार्यों को निश्चित करते समय दो आधार बनाने चाहिए—

(क) अनुकूलतम उत्पादन स्तर (Production Optimum) तथा

(ख) अनुकूलतम उपयोगिता स्तर (Utility Optimum) ।

श्रीमती हिक्स के अनुसार लोक वित्त का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करना है, अत अधिकतम आवश्यकताओ की सतुष्टि करने के लिए उत्पादन अधिकतम करना चाहिए । यदि साधन स्थिर हो और उत्पादन को अधिकतम नही किया जाता है तो यह स्पष्ट है कि वस्तु का वितरण चाहे किसी प्रकार भी क्यो न किया जाए सामाजिक सन्तुष्टि तुलनात्मक रूप मे कम ही होगी । अत आदर्श उत्पादन प्राप्त करने के लिए साधनो का उचित वितरण भी होना चाहिए । दूसरे शब्दो मे 'अनुकूलतम उत्पादन स्तर' तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उत्पादन के साधनो का बँटवारा उपयुक्त ढग से हुआ हो । इस सम्बन्ध में श्रीमती हिक्स ने लिखा है—उत्पादन को अधिकतम करने का या अनुकूलतम उत्पादन-स्तर का इस प्रकार साधनो के वितरण से सम्बन्ध है । उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पादित वस्तुओ के स्थिर रहने की दशा मे साधनो के वितरण मे परिवर्तन करके दूसरी वस्तुओ का उत्पादन कम किए बिना, एक वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि करना असम्भव हो । यद्यपि उत्पादन स्तर का आधार बहुत पहले ही साधनो के समान सीमान्त उत्पत्ति के नियम के रूप मे प्रकट हो चुका था और यह कोई नया विचार नहीं है परन्तु यह अधिक सूक्ष्म है और दूसरे इसमे वस्तुओ का प्रस्थापन मूल्य के आधार पर नही किया जाता इसलिए यह सभी क्षेत्रो मे लागू होता है ।

लोक वित्त का दूसरा आधार उपयोगिता आदर्श को प्राप्त करना है जिसमे ऐसी उपभोग सामग्रियो की ऐसी वितरण व्यवस्था का चयन करना आवश्यक है जिससे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके । यहाँ पर एक व्यक्ति की सन्तुष्टि की दूसरे व्यक्ति की सन्तुष्टि से तुलना करने की कठिनाई उत्पन्न होती है । फिर भी इसको क्षतिपूर्ति की विधि द्वारा किया जा सकता है । श्रीमती हिक्स के शब्दो मे यदि वस्तुओ का कोई विशेष पुनर्वितरण पहले व्यक्ति को पहले से इतनी अधिक सन्तुष्टि प्रदान कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर सके और फिर भी तुलनात्मक रूप से अधिक अच्छा रहे तो दोनो ही इसमे सहमत होगे कि यह परिवर्तन पहली स्थिति मे एक सुधार होगा । इस प्रकार सन्तुष्टियो को अधिकतम करना या 'अनुकूलतम उपयोगिता स्तर' ठीक उसी प्रकार परिभाषित किया जा सकता है जैसे कि 'अनुकूलन उत्पादन स्तर । उपयोगिता उस समय अधिक होती है जब एक व्यक्ति की सन्तुष्टि को कम किये बिना दूसरे की सन्तुष्टि बढाना असम्भव हो ।"

इस विश्लेषण से यही स्पष्ट होता है कि लोक वित्त की वही क्रिया उपयुक्त है जिसके करने से यदि मनुष्य की सन्तुष्टि मे वृद्धि हो तो दूसरे मनुष्य की सन्तुष्टि मे कमी भी हो, परन्तु पहले मनुष्य की सन्तुष्टि की वृद्धि दूसरे मनुष्य की सन्तुष्टि की कमी से अधिक होनी चाहिए । श्रीमती हिक्स का लोक वित्त के विषय मे यह विचार व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही कठिन है जितना डॉल्टन का अधिकतम सामाजिक लाभ का विचार । अधिकतम सामाजिक कल्याण के नियम की भाँति यह भी केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही महत्त्वपूर्ण है । इनको क्रियान्वित करने के लिए बडी सतर्कता की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त व्यक्ति को बहुत ही निष्पक्ष और हिसाब-किताब मे निपुण होना होगा । यदि इन आधारो को ध्यान मे रख कर सार्वजनिक नीतियो का निर्धारण किया जाए तो समाज को अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होगा, परन्तु इनकी सफलता मे इतनी कठिनाइयाँ भरी पडी है कि सरलता से उन्हे दूर नहीं किया जा सकता ।

लोक वित्त का अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध
(Relation of Public Finance with Other Sciences)

लोक वित्त के क्षेत्र और विषय-सामग्री से स्पष्ट है कि इसका अन्य अनेक शास्त्रो जैसे—अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र इतिहास समाजशास्त्र नीतिशास्त्र मनोविज्ञान कानूनशास्त्र आदि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। लोक वित्त वास्तव मे व्यावहारिक जीवन मे काम आने वाले सैद्धान्तिक नियमो और नीति सम्बन्धी विचारो का एक सयुक्त रूप है।

लोक वित्त एव अर्थशास्त्र (Public Finance and Economics)

लोक वित्त और अर्थशास्त्र दोनो एक ही वश के है। दोनो सामाजिक विज्ञान है और दोनों ही सहोदर है। अर्थशास्त्र ज्येष्ठ है तो लोक वित्त कनिष्ठ यथार्थ में अर्थशास्त्र ही एक प्रकार से लोक वित्त का जन्मदाता है। लोक वित्त के सिद्धान्तों को समझने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। अर्थशास्त्र के मूल नियमो के ज्ञान बिना हम लोक वित्त के सिद्धान्तो का प्रतिपादन नहीं कर सकते। कोई नया कर लगाने से पूर्व यह आवश्यक है कि वित्त मन्त्री को माँग की लोच तथा माँग का नियम का ज्ञान हो। राजकीय ऋण और विशेषकर ऋण-भुगतान की विधियों का अध्ययन करने के लिए मुद्रा साख तथा बैंकिग का समुचित ज्ञान होना जरूरी है। अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक आय को विभिन्न मदो पर किस प्रकार व्यय किया जाए इसके लिए सरकार को अर्थशास्त्र के सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का सहारा लेना पड़ता है। इस क्रम मे एडम्स ने लिखा है— लोक वित्त की एक उचित नीति राजनीतिक अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण ज्ञान पर आधारित होनी चाहिए। लोक वित्त की अनेक समस्याएँ अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री का भी एक भाग है। बैस्टेबल के शब्दो मे अर्थशास्त्र के आधारभूत नियमों के अभाव में लोक वित्त के नियमो का निर्माण करना सम्भव नहीं है।

लोक वित्त एव राजनीतिशास्त्र (Public Finance and Political Science)

डॉल्टन का कथन है कि लोक वित्त अर्थशास्त्र एव राजनीतिशास्त्र की मध्यवर्ती सीमा पर स्थित है। इससे प्रकट होता है कि लोक वित्त का राजनीतिशास्त्र से भी अर्थशास्त्र की तरह ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव मे किसी भी देश की आर्थिक नीति और राजस्व व्यवस्था अधिकाशत इस पर आधारित होती है कि उस देश का राजनीतिक ढाँचा कैसा है उस देश की राजनीतिक आकाक्षाएँ क्या है आदि। राज्य की सरकार जिस वाद पर विश्वास करती है उसके अनुसार राज्य की आर्थिक क्रियाएँ सचालित होती है। एक साम्यवादी अथवा समाजवादी देश की आर्थिक नीति एक पूँजीवादी देश की आर्थिक नीति से भिन्न होगी। एक परतन्त्र देश की आर्थिक नीति एक स्वतन्त्र देश की आर्थिक नीति से भिन्न होगी। कोई भी नया कर लगाने से पूर्व सरकार को उसके आर्थिक परिणामों पर विचार करना ही होता है उसे राजनीतिक वातावरण और कलेवर को जानना आवश्यक होता है। एक समाजवादी सरकार की नीति धनी वर्ग से अधिकाधिक धन एकत्र करने की होगी ताकि आर्थिक विषमताओ को कम किया जा सके। वास्तव में मूल्य-निर्धारण धन का उत्पादन एव वितरण देश के उद्योगो का स्थायित्व नियन्त्रण तथा नियमन सम्बन्धी निर्णय काफी सीमा तक देश के राजनीतिक ढाँचे वहाँ की राजनीतिक सस्थाओ और जनता के राजनीतिक कलेवर पर निर्भर करते हैं। राजनीति के नियम कुछ ऐसी कच्ची सामग्री प्रदान करते है जिसकी सहायता से हम लोक वित्त के नियमो का निर्माण करते है। ब्रिटेन का समूचा सावैधानिक इतिहास उस सघर्ष से भरा पड़ा है जो राजा और ससद के बीच राष्ट्रीय कोष पर नियन्त्रण करने के लिये हुआ करता था। बिना प्रतिनिधित्व के कराधान एक अत्याचार है—यह वह नारा था जिसने अमेरिकी उपनिवेशो को स्वतन्त्रता की प्रेरणा दी। मतदान (Voting) और कराधान (Taxation) के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। करदाता चाहता है कि वह उन तरीको पर नियन्त्रण करे अथवा कम से कम उन्हे प्रभावित अवश्य करे जिनके द्वारा सरकार उससे लिये हुए धन को खर्च करती है।

लोक वित्त और मनोविज्ञान (Public Finance and Psychology)

लोक वित्त और मनोविज्ञान मे बडा गहरा सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध को सारभूत रूप मे दर्शाते हुए एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल ने लिखा है कि चूँकि वित्त मनुष्यो से सम्बन्ध रखता है अत इसकी अधिकाश समस्याएँ मानवीय समस्याएँ (Human Problems) है तथा वे मानव-व्यवहार (Human Behaviour) पर निर्भर करती है और यह मानव-व्यवहार ही मनोविज्ञान की विषय सामग्री है । कम्पनियो के लाभों पर लगाए जाने वाले कर के मामले को ही लीजिए । चूँकि लाभ जोखिम उठाने के पुरस्कार समझे जाते है अत यदि कम्पनी के लाभो पर कर मे वृद्धि की जाए तब यह हो *सकता है कि मिश्रित पूँजी वाले उद्यमो (Joint Stock Ventures) मे होने वाले विनियोग* (Investment) पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पडे परन्तु यह भी सम्भव है कि लोगो मे जुआ खेलने की भावना अत्यन्त तीव्र रूप मे विद्यमान हो । अतएव वे औद्योगिक उद्यमो मे उस समय तक विनियोग करना जारी रखेंगे जब तक कि उनमे जोखिम रहेगी तथा कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होने की सम्भावना रहेगी । अनेक सरकारो ने लोगों की जुए की इस प्रवृत्ति के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से पूँजी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार लोक वित्त का अध्ययन तभी अधिक फलदायक हो सकता है जबकि उसे मनोविज्ञान के पर्याप्त ज्ञान से सम्बद्ध किया जाए ।

लोक वित्त और समाजशास्त्र (Public Finance and Sociology)

लोक वित्त का समाजशास्त्र से भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । सरकार कर लगाते या ऋण लेते समय इसका ध्यान रखती है कि उसके कदम से समाज के गरीब या निर्धन वर्ग पर विपरीत प्रभाव तो नहीं पडेगा । देश मे *कल्याणकारी शासन स्थापित करने हेतु आर्थिक दृष्टि से निर्धन वर्गों के लिए सहायता* की व्यवस्था करनी पडती है । यह इस बात का प्रमाण है कि लोक वित्त और समाजशास्त्र में गहरा सम्बन्ध है ।

लोक वित्त और इतिहास (Public Finance and History)

लोक वित्त का इतिहास से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । इतिहास के अध्ययन द्वारा हमे अतीत की घटनाओ और *प्रभावों का ज्ञान प्राप्त होता है जिसके आधार पर हम भावी योजनाओ का निर्माण करते* हैं । कोई लोक वित्त नीति अतीत के ऐतिहासिक विकास को ध्यान मे रखे बिना नहीं बनाई जा सकती । ऐतिहासिक तथ्य आँकडे और विभिन्न उदाहरण हमे ऐसी सामग्री प्रदान करते है जिसका लोक वित्त की नीति और उसकी क्रियाओं के निर्धारण मे बडा महत्त्व होता है । विभिन्न देशो के इतिहासों से पता चलता है कि उसके द्वारा किसी समय विशेष मे अपनाए गए लोक वित्त के विभिन्न सिद्धान्त किस सीमा तक और क्यों सफल या असफल सिद्ध हुए और यह ज्ञान लोक वित्त की वर्तमान तथा भावी नीति को प्रभावित करता है । अतीत के अनुभव के आधार पर लोक वित्त की नीतियों में आवश्यक हेर-फेर किए जा सकते हैं । बैस्टेबल ने ठीक ही लिखा है— लोक वित्त विज्ञान को इतिहास से महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है । यह लोक वित्त के सिद्धान्त की व्याख्या प्रमाणीकरण *और कुछ दशाओ में आँकडों के रूप में होती है ।*

लोक वित्त और कानूनशास्त्र (Public Finance and Law)

लोक वित्त का नीतिशास्त्र और कानूनशास्त्र से भी गहरा सम्बन्ध है । साम्य (Equity) तथा न्याय (Justice) की अनेक वित्तीय समस्याएँ धनिको के पास से निर्धनो की ओर धन का स्थानान्तरण तथा मानव कल्याण सम्बन्धी अन्य अनेक प्रश्न निर्णयो के लेने से सम्बन्धित है और *उनकी जडें दर्शनशास्त्र (Philosophy) तथा नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र मे गहराई तक पहुँची* हुई हैं । इसी प्रकार लोक वित्त की समस्याओ के सम्मुख अनेक कानूनी मसले खडे हो सकते है । *कानूनी मसलों से आशय सरकारी नीति को लागू करते समय उत्पन्न होने वाले कानून सम्बन्धी प्रश्नो* से है । उदाहरण के लिए किसी कर को लगाना लाभदायक हो सकता है परन्तु यह सम्भव है कि

उसके कारण कभी न समाप्त होने वाला विवाद अथवा मुकदमेबाजी आरम्भ हो जाए अत ऐसी स्थिति मे सरकार यह निर्णय कर सकती है कि कर लगाया ही न जाए ।[1]

लोक वित्त और साख्यिकीशास्त्र (Public Finance and Statistics)

लोक वित्त और साख्यिकी मे निकट का सम्बन्ध है क्योकि लोक वित्त सही और वैज्ञानिक ऑकडो से चलता है । ऑकडो के द्वारा सरकार को पता चल जाता है कि उसका व्यय किन-किन मदो पर कितना-कितना होता है कुल व्यय मे अमुक व्यय के मद का क्या सापेक्षिक महत्त्व है गत वर्षों की तुलना मे व्यय की मात्रा कितनी बढी है आदि । ऑकडो की सहायता से यह मालूम हो जाता है कि सरकार को किन-किन मदो से कितनी आय हुई है गत वर्षों मे इनसे कितनी आय हुई थी और अब इनसे प्राप्त आय मे क्या वृद्धि हुई है आय के विशिष्ट स्रोत का कुल आय मे क्या सापेक्षिक महत्त्व है आदि । ऑकडो से करो के अध्ययन मे समुचित सहायता मिलती है । उदाहरणार्थ करो से राज्य को कितनी आय होती है प्रत्येक नागरिक कितना औसत कर चुकाता है यह कर-भार नागरिको पर कैसा है कर का पूँजी-निर्माण पर क्या प्रभाव पड रहा है करदाता की करदेय क्षमता कितनी है राष्ट्रीय आय का कितना प्रतिशत करो से प्राप्त होता है करो का वस्तुओ के उत्पादन और वितरण पर क्या प्रभाव पडता है आदि । सरकार को अपनी वित्तीय नीति बनाने से पहले सार्वजनिक आय-व्यय के ऑकडे एकत्रित करने पडते है । बजट-निर्माण मे ऑकडो का अत्यधिक महत्त्व है । बजट चालू वर्ष के आय-व्यय के अनुमानित ऑकडो का एक विवरण होता है जिसमे आय-व्यय के सम्बन्ध मे जो भी अनुमान लगाए जाते है वे साख्यिकीशास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार बनाए जाते है । वास्तव में साख्यिकीशास्त्र लोक वित्त को एक मजबूत आधार प्रदान करता है । देश की राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति आय व्यक्तियो का जीवन स्तर जनसख्या मुद्रा-बैकिंग साख व्यापार बचत एव विनियोग सम्बन्धी जानकारी जिसका प्रभाव देश के राजस्व पर पडता है बिना साख्यिकीशास्त्र की सहायता के नही जाना जा सकता ।

इस प्रकार लोक वित्त अनेक ऐसे सामाजिक विज्ञानो से सम्बन्ध रखता है जो कि मानव-व्यवहार के विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित है ।

2

अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका एवं राजकीय कार्य के लिए क्षेत्र, इष्टतम बजट-व्यवस्था

(The Role of Government in the Economy and the Scope for Fiscal Action, Optimal Budgeting)

राज्य मानव के आर्थिक जीवन मे प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप मे हस्तक्षेप करता रहा है। न केवल साम्यवादी एव समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ मे बल्कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे भी मानव के आर्थिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप रहा है। यह विषय प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहा है कि राज्य को आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं और यदि करना चाहिए तो किस सीमा तक। इसमे कोई सन्देह नहीं कि राज्य के हस्तक्षेप का कोई न कोई कारण अवश्य है। राज्य या तो इसलिए हस्तक्षेप करता है कि उसके ऐसा न करने से किसी ऐसे सामान्य हित को आघात पहुँच सकता है जिसकी सुरक्षा का दायित्व उस पर हो राज्य इसलिए भी हस्तक्षेप करता है कि उसके हस्तक्षेप न करने से कुछ ऐसे कार्य अपूर्ण रह सकते है जो सामान्य कल्याण के लिए आवश्यक है। वस्तुत राज्य वह सस्था है जो समाज का प्रतिनिधित्व करती है और सरकार वह एजेन्सी है जो राज्य का प्रतिनिधित्व करती है। समाज का आर्थिक परिस्थितियो से गहरा सम्बन्ध है। समाज की स्थिति बहुत कुछ आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर करती है। अत जब अर्थ-व्यवस्था का जन-समाज से सम्बन्ध है और समाज का राज्य से तो राज्य का आर्थिक क्रियाओ से सम्बन्ध स्वाभाविक है। अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के कार्य-कलापो और समाज के हित से रहता है और इसका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियो से रहता है। अत समाज के अधिकाधिक सामान्य कल्याण के लिए राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था मे हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है।

राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने के पक्ष मे एक तर्क यह दिया जाता है कि समाज के सन्तुलित विकास के लिए मनुष्य के आर्थिक एव सामाजिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप अत्यावश्यक है। इसके विपरीत उन लोगो का जो व्यक्तिवाद में आस्था रखते है मत है कि राज्य का मानव के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए परन्तु वर्तमान मे सर्वमान्य मत यह है कि देश के आर्थिक जीवन मे पर्याप्त विकास के लिए राज्य-नियमन तथा नियन्त्रण अनिवार्य है। इसके अभाव मे राज्य कल्याणकारी स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता।

19वीं शताब्दी के अन्त मे जैसे-जैसे पूँजीवादी देशो मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता बढती गई और बाजार सकुचित होते गए देश का अधिकाधिक औद्योगीकरण होने लगा। इसके अतिरिक्त ज्यो-ज्यो ससार मे आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) की भावना जोर पकडती गई त्यो-त्यो आर्थिक क्षेत्र मे पुरानी निर्बाधावादी नीति का अन्त होता गया। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण व्यापार-चक्रो निरन्तर बढती हुई बेकारी और धन की असमानताओ जैसी विषम समस्याओ का जन्म हुआ जिन्हे सुलझाने के लिए आर्थिक नियोजन (Economic Planning) का आश्रय लेना पडा। आर्थिक नियोजन योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था (Planned Economy) का प्रतीक है जिसमे राज्य केवल आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप ही नही करता है वरन् निजी उद्योगो की व्यवस्था स्वय प्रारम्भ कर देता है और उनका पथ-प्रदर्शन करता है।

20वीं शताब्दी में चार ऐसी क्रान्तिकारी घटनाएँ और हुईं जिनके कारण अन्तत संसार को स्वतन्त्रता की नीति का परित्याग कर देना पड़ा। ये घटनाएँ थीं—प्रथम महायुद्ध रूस की 1917 की क्रान्ति महामन्दी काल एव द्वितीय महायुद्ध। रूस में क्रान्ति के फलस्वरूप सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर सरकारी आधिपत्य स्थापित हो गया। पूँजीवादी देश प्रारम्भ में आर्थिक नियोजन की आलोचना इसलिए करते रहे कि उनकी दृष्टि में यह केवल साम्यवाद का प्रतीक थी लेकिन प्रथम महायुद्ध की घोर आपदाओं ने उनकी रुचि को इस ओर बढाया। भीषण आर्थिक मन्दी ने आग में घी का काम करते हुए उनकी आँखें खोल दीं और वे भी आर्थिक नियोजन की नीति अपनाने के लिए मजबूर हो गए। अमेरिका में न्यू डील (New Deal) तथा फ्रास में 'ब्लूम प्रयोग' (Blum Experiment) की सफलता ने इसके प्रत्यक्ष प्रमाण दिए कि आर्थिक नियोजन की विचारधारा को अपनाने से अनेक आर्थिक कठिनाइयो से बचा जा सकता है। आज आर्थिक नियोजन प्रत्येक देश में राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य अग है चाहे वह देश पूँजीवादी हो या समाजवादी। राज्य सभी देशों में मनुष्य की व्यक्तिगत और आर्थिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करता है। धन के असमान वितरण बेकारी मूल्यों के उतार-चढाव और उपभोक्ताओं के शोषण को रोकने के लिए राज्य विभिन्न प्रकार से मानवीय आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करने की दिशा में अग्रसर है। साम्यवादी देशों में समस्त आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। वहाँ सभी आर्थिक क्रियाएँ सरकार के स्वामित्व नियन्त्रण और निर्देशन में सचालित की जाती हैं। आर्थिक विकास का सारा उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। विश्व की स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में भी राज्य का हस्तक्षेप इतना बढता जा रहा है कि सयुक्तराज्य अमेरिका तक में देश के कुल उत्पादन (Total Output) का लगभग एक-चौथाई सरकार द्वारा खरीदा जाता है और कुल आय का लगभग एक तिहाई करों (Taxes) के रूप में सग्रह किया जाता है। ये आँकड़े कनाडा और पश्चिमी यूरोप की अन्य विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से कम हैं। इन अर्थ व्यवस्थाओं में बजटीय कार्यकलापों का भाग (Share of Budgetary Activities) और भी अधिक है। बजटीय कार्यों के अतिरिक्त सार्वजनिक नीति मौद्रिक नियामकीय तथा अन्य उपायों के माध्यम से आर्थिक क्षेत्र को प्रभावित करती है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था एक पूर्ण मिश्रित अर्थव्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र एकीकृत रूप में काम करते हैं।[1] स्वतन्त्र अथवा पूँजीवादी अर्थ व्यवस्थाओं में न केवल घरेलू उत्पादन और कुल पूँजी निर्माण पर व्यय में सरकारी भाग में तेजी से वृद्धि हो रही है बल्कि कुल व्यय में सरकारी व्यय का अनुपात भी बढ रहा है। एक सयुक्त राष्ट्र सघीय सर्वेक्षण के अनुसार दक्षिण पूर्व एशिया के अर्द्ध विकसित देशों में कुल राष्ट्रीय व्यय में सरकारी व्यय का अनुपात बढता जा रहा है। विकासशील देशों में सरकारी व्यय में वृद्धि की मात्रा अनेक बिन्दुओं पर निर्भर करती है जैसे—आर्थिक विचारधारा निजी क्षेत्र की सम्भावनाएँ और पहल की मात्रा सरकार की प्रशासनिक कुशलता निजी क्षेत्र की योग्यता सरकार के साधनों को गतिशील बनाने की शक्ति आवश्यक विनियोगों के प्रकार और उसकी अनिवार्यता जनता की प्रवृत्ति और सहयोग देश की राजनीतिक स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ आदि। यही कारण है कि विभिन्न देशों में व्यय की वृद्धि भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है। इसका प्रमुख कारण सरकार द्वारा विकास-योजनाओं में रुचि लेना है। 21वीं शताब्दी में विश्व सरकार का मत सामने आया है। इसमें सभी सरकारों का अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप बढ गया है।

आर्थिक नियोजन एव सरकारी हस्तक्षेप अतर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक स्वरूप एव उसके दुष्परिणामों के परिप्रेक्ष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सिंगर प्रिबिश परिकल्पना (Singer Prebish Hypothesis) के अनुसार व्यापार की दरें (Terms of Trade) अविकसित देशों के विपरीत होती हैं अत उन्हें लाभस्वरूप बनाने हेतु सरकारी हस्तक्षेप ही एक मात्र उपाय है। सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता अल्पविकसित देशी उद्योगों को अतिविकसित विदेशी उद्योगों की प्रतियोगिता से बचाने हेतु भी है।

सरकारी हस्तक्षेप की प्रकृति

(Nature of Government Intervention)

आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप अथवा निर्बाधावादी नीति के दिन लद चुके है अब राजकीय हस्तक्षेप को सभी क्षेत्रों में उचित और आवश्यक समझा जाने लगा है। डब्ल्यू. ए लेविस के शब्दों में

1 *Musgrave and Musgrave* Public Finance in Practice pp 3-4

"कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार से सक्रिय प्रोत्साहन पाए बिना आर्थिक विकास नहीं कर सकता।"[1] विकसित देशों में आर्थिक विकास की स्वय-स्फूर्त क्रिया सचालित होती रहती है और आर्थिक उतार-चढ़ावों को रोकने के अतिरिक्त सरकारी प्रयत्नों की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता रहती है, किन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में निर्धनता के विषैले चक्रों (Vicious Circles) को तोड़ने तथा विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव सस्थागत अवरोधों (Bottlenecks) पर विजय प्राप्त करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्द्ध-विकसित देशों में विकास की क्रियाओं को सचालित करने के लिए विशिष्ट रूप में विशिष्ट गति से भारी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। इन देशो को विकास के लिए 'बड़े धक्के' (Big Push), 'धक्के का व्यवहार' (Push Treatment) आदि की जरूरत होती है ताकि अर्थ-व्यवस्था को स्वय-स्फूर्त (Self-Sustained) बनाया जा सके। यह कार्य मूल्य-यन्त्र या व्यक्तिगत उपक्रम के द्वारा सम्भव नहीं है। वास्तव में अर्थ-व्यवस्था को सचयी गति (Cumulative Momentum) देने के लिए सरकार का उत्तरदायित्व बढ जाता है। सोवियत सघ, चीन आदि साम्यवादी देशों में सम्पूर्ण आर्थिक तन्त्र पर सरकार का शिकजा है, सभी छोटे-बडे उद्योगों की स्थापना और विकास का कार्य सरकार के हाथ में है।

पूँजीवादी देशों में भी अर्थ-व्यवस्था की वृद्धि में प्राविधिक और भौतिक आधार पर सरकारी हस्तक्षेप बढ रहा है। यदि हम पश्चिमी राष्ट्रों के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्थिक विकास के क्षेत्र में राज्य ने प्रमुख भूमिका निभाई है। राज्य व्यापार और व्यवसाय में आने वाली बाधाओं के प्रति सरक्षण की व्यवस्था करता रहा है। यह जन-सरक्षण के लिए पुलिस-शक्ति की व्यवस्था करता है और सार्वजनिक कल्याण की देख-रेख करता है ताकि सम्पत्ति आदि की सुरक्षा हो सके। राज्य यह जाँच करता है कि अर्थ-व्यवस्था का कौन-सा अग अविकसित रह गया है। वह विकास की तकनीकों को विकसित करने का प्रयत्न करता है। इन सभी क्रियाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अर्थ-व्यवस्था से है और अर्थ-व्यवस्था में राज्य का पर्याप्त हस्तक्षेप रहा है। यह कहा जा सकता है कि सामान्यतया उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकारी क्रियाएँ प्रधानत नियन्त्रण की है जबकि अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में ये सहायक प्रकृति (Assisting Nature) की हैं।

किसी देश की आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करने में उस देश की सरकार का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। आर्थिक विकास की दिशा में उन्मुख सरकारी नीतियों से पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। लेविस की दृष्टि में सरकार निम्नलिखित कार्यवाहियों द्वारा देश के आर्थिक विकास को प्रभावित कर सकती है—(1) लोक सेवाओं को बनाए रखना, (2) विकास के अनुकूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करना, (3) आर्थिक सस्थान बनाना, (4) साधनों के सदुपयोग को प्रभावित करना, (5) आय के वितरण को प्रभावित करना, (6) मुद्रा की मात्रा को विकास की आवश्यकतानुसार नियन्त्रित करना, (7) पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना, (8) उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करना, (9) विकास दर की आवश्यकतानुसार निवेश के स्तर को प्रभावित करना। यदि किसी देश की सरकार लोगों की आर्थिक प्रेरणा में वृद्धि करती है, उन्हें बचत करने और विनियोग करने के लिए परिस्थितियों का निर्माण करती है, उद्योगों की स्थापना, सरक्षण और विकास में सहायता देती है या स्वय ऐसा करती है, नियोजित विकास की नीति को अपनाती है, तो उस देश का आर्थिक विकास तेजी से होता है।

जिस प्रकार सरकारें आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हो सकती हैं उसी प्रकार सरकार की कार्यवाहियों से आर्थिक विकास में बाधा भी पड़ सकती है। कुछ देशों के आर्थिक जीवन को वहाँ की सरकारों से इतने आघात पहुँचा है कि आर्थिक क्रियाओं में सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध जो चाहे कहा जा सकता है। अन्य दलों से समर्थित व कमजोर सरकारें अपनी नीतियों द्वारा विकास में बाधक बन जाती हैं और अर्थव्यवस्था में गिरावट या गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। आर्थिक विकास में सरकार की असफलता का कारण कम सहयोग तथा ऐसी नीतियाँ हैं जिनसे विकास के विपरीत शक्तियों का उद्भव होता है। सरकारें जिन कारणों से आर्थिक गतिरोध या गिरावट उत्पन्न कर देती हैं उन्हे प्रो डब्ल्यू. ए. लेविस ने निम्न नौ समूहों में विभाजित किया है—(1) शान्ति बनाए रखने में विफल होकर, (2) एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को बढाकर,

1 डब्ल्यू ए लेविस आर्थिक विकास के सिद्धान्त पृष्ठ 487

(3) विदेशी सम्पर्क के मार्ग मे बाधाएँ उपस्थित कर (4) लोकोपयोगी सेवाओ की अवहेलना कर (5) अत्यधिक निर्बाध नीति को अपना कर (6) अत्यधिक नियन्त्रण लगा कर (7) अत्यधिक धन खर्च कर (8) नागरिको को लूट कर (9) खर्चीले युद्ध आरम्भ कर।

वस्तुत आज स्वतन्त्र व्यापार नीति के सिद्धान्तो का युग समाप्त हो चुका है। आज सर्वत्र यह माना जाने लगा है कि पूँजीपतियो और उद्योगपतियो के विशाल तथा शक्तिशाली सगठनो और एकाधिकारो के सम्मुख समाज के अधिकाश साधनहीन वर्गों का टिक सकना उस समय तक सम्भव नही हो सकता जब तक कि सरकार उनकी आर्थिक दशा मे सुधार करने के उद्देश्य से आर्थिक क्षेत्र मे सक्रिय भाग नहीं लेती। निजी अर्थव्यवस्था के दोषो के निवारण के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। सामाजिक और न्याय स्थापित करने तथा आर्थिक सत्ता का कुछ व्यक्तियो या उनके समूहो मे केन्द्रीयकरण रोकने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। सार्वजनिक लाभ के कार्यों को सरकार को अपने ही हाथ मे लेना पडता है। आज प्रश्न राज्य के हस्तक्षेप का नहीं रहा है अपितु यह है कि राज्य का हस्तक्षेप किस भाति और किस सीमा तक किया जाए ? निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र दोनो का समुचित योग कितना होना चाहिए ? यदि अर्द्ध विकसित देशो मे आर्थिक विकास का प्रसार करना है तो राज्य का अधिकाधिक हस्तक्षेप अत्यावश्यक है। अर्द्ध विकसित देशो मे सामाजिक और आर्थिक वातावरण विकसित देशो की अपेक्षा पूर्णत भिन्न होता है अत पूर्ण रूप से निजी लाभ पर आधारित सिद्धान्त इन देशो के लिए अधिक उपयुक्त नही हो सकता। अनुकूलतम उत्पादन के लिए उत्पादन साधनो मे विवेकपूर्ण वितरण के लिए चक्रीय विकृति की असगत स्थिति को समाप्त करने के लिए एकाधिकार को मिटाने के लिए भेद रहित लाभ की स्थापना के लिए तथा निजी क्षेत्र द्वारा उपेक्षित किए गए क्षेत्रो के विकास के लिए सरकार का आर्थिक क्षेत्र मे प्रवेश आवश्यक हो गया है।

उल्लेखनीय है कि विगत वर्षों मे सरकारी व्यय मे काफी वृद्धि हुई है और अन्य बातो के अतिरिक्त इस अतिवृद्धि का कारण आर्थिक विकास मे लोकतान्त्रिक सरकारो द्वारा विशेष रुचि लेना है। प्रो डी ब्राइटसिंह (D Brightsingh) के अनुसार एशिया के कुछ देशो मे सरकार द्वारा विगत वर्षों मे अपने लोक कल्याणकारी कार्यों पर हुए वृद्धिमान व्ययो से निम्नलिखित तीन निष्कर्ष निकलते है—

(क) राष्ट्रीय उपज के अनुपात मे सरकार का विनियोग व्यय (Investment Outlay) बढ गया है।

(ख) कुल राष्ट्रीय विनियोजन मे सार्वजनिक विनियोजन की मात्रा अधिक है अर्थात् निजी विनियोग की अपेक्षा सार्वजनिक विनियोग अधिक हो रहा है।

(ग) कुल सरकारी व्यय मे सरकारी विनियोग व्यय (Govt Investment Expenditure) का अनुपात भी बढ गया है।

उक्त स्थिति का यह स्वाभाविक परिणाम है कि इन देशो मे सार्वजनिक विनियोग का प्रतिशत सकल राष्ट्रीय उपज (Gross National Product) राष्ट्रीय विनियोग (National Investment) तथा कुल सरकारी व्यय (Total Govt Expenditure) में बढ गया है।

विकसित देशो मे अर्द्धविकसित देशो की तुलना मे इस क्षेत्र मे काफी भिन्नता है। ब्रिटेन डैनमार्क फिनलैण्ड सयुक्त राज्य अमेरिका फ्रास न्यूजीलैण्ड आदि उन्नत पूजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे निजी क्षेत्र का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक अध्ययन के अनुसार सामान्यत पाश्चात्य औद्योगिक देशो मे सार्वजनिक विनियोग की मात्रा कुल राष्ट्रीय विनियोग अश के 1/5 से 2/5 के मध्य रहा है जबकि एशियाई देशों मे यह अश 1/4 से 2/3 के बीच रहा है। विकासशील देशों मे सार्वजनिक विनियोग की यह वृद्धि अस्वाभाविक नही है। इन देशो मे द्रुत आर्थिक विकास के लिए कम से कम प्रारम्भिक अवस्थाओ मे सार्वजनिक विनियोग बढाना अत्यावश्यक है। जहा निजी क्षेत्र का अनुपात कुल सरकारी व्यय से अधिक है वहॉं राष्ट्रीय साधनो के कुशल उपयोग के लिए निजी क्षेत्र की तुलना मे सार्वजनिक क्षेत्र को उपयुक्त समझा गया है। यही सरकारी हस्तक्षेप की प्रकृति है।

आर्थिक क्षेत्र मे सरकारी हस्तक्षेप का महत्त्व

(Importance of Governmental Intervention in Economic Sector)

आर्थिक क्रियाओ मे राजकीय हस्तक्षेप और उसके विस्तार के लिए कई कारण उत्तरदायी रहे है। निजी क्षेत्र की बुराइयों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र का सर्वाधिक विस्तार हो रहा है। दुर्लभ साधनो का

समुचित वितरण आय और धन की विषमताएँ आर्थिक अस्थिरता व्यापक बेरोजगारी एकाधिकारी प्रवृत्तियो मे वृद्धि सार्वजनिक हित की अवहेलना अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मे उचित समन्वय के अभाव में होने वाले विनाशकारी आर्थिक उतार चढाव असन्तुलित आर्थिक विकास दीर्घकालीन दृष्टिकोण न होना परस्पर विरोधी आर्थिक निर्णय आदि निजी क्षेत्र के ऐसे गम्भीर दोष है जिन्होने सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया है। इन दोषो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक क्रियाओ के सचालन का भार पूर्णत निजी क्षेत्रों के हाथो मे नहीं छोडा जा सकता। इन बुराइयो को रोकने के लिए ऐसी सस्था की आवश्यकता है जो अर्थव्यवस्था की नियमित देखमाल कर सके और आर्थिक क्रियाओ का उपयुक्त ढग से सचालन कर सके। इसीलिए राज्य को आर्थिक क्रियाओं मे हस्तक्षेप करना पडा और इस क्षेत्र में उसका हस्तक्षेप निरन्तर बढता जा रहा है। डॉ ब्राइटसिह के मतानुसार प्रगतिशील अर्थव्यवस्थाओं मे सरकारी हस्तक्षेप पूँजीवादी सकट के निदान के रूप मे पनपा है लेकिन विकासशील देशों मे राज्य ने अपनी आर्थिक शक्ति प्रचलित पिछडेपन के कारण बढाई है। आर्थिक क्षेत्र मे सरकारी योगदान और उसके विस्तार के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारणों को हम सक्षेप में निम्नानुसार व्यक्त कर सकते है—

1 **आर्थिक विकास मे प्रत्यक्ष रुचि**—प्रत्येक देश अपने देशवासियो के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए तेजी से आर्थिक विकास करना चाहता है। द्रुत आर्थिक विकास के लिए विशाल मात्रा मे धन और साधनो की आवश्यकता होती है। सरकारी सहायता के बिना निजी उपक्रम पर बल देने से देश के आर्थिक विकास मे वाछनीय गति प्राप्त करना असम्भव है। यही कारण है कि विकासशील देशो की सरकारों ने पूँजीगत परियोजनाओं पर प्रत्यक्ष विनियोग करना शुरू कर दिया है।

2 **कुछ अनिवार्य आवश्यक कार्य**—कुछ कार्य इतनी अनिवार्य प्रकृति के होते है कि जिन्हे राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई सस्था कर ही नही सकती। उदाहरणार्थ—आन्तरिक शाति बनाए रखना बाह्य आक्रमणो से देश और समाज की रक्षा करना नियम बनाना और विभिन्न प्रकार के हितो की सुरक्षा के लिए न्याय की व्यवस्था आदि कार्य मात्र राज्य द्वारा सम्पन्न किए जा सकते है। आज सामाजिक सुरक्षा और विदेशी विनिमय नियन्त्रण को भी आवश्यक कार्यो मे सम्मिलित कर लिया गया है तथा इनका उत्तरदायित्व भी राज्य पर ही है। सडकों का निर्माण और शिक्षा का प्रबन्ध ऐसे कार्य है जिन्हे निजी उपक्रम समुचित ढग से आवश्यकतानुसार सम्पादित नहीं कर सकते। वस्तुत राष्ट्रीय सुरक्षा जान-माल की रक्षा छल-कपट व धोखेबाजी की रोकथाम नियमो को लागू करना आदि कार्य इतने लाभकारी और महत्त्वपूर्ण हैं कि इनके बिना कल्याणकारी राज्य के विचार को मूर्तरूप दे पाना असम्भव है।

3 **जन कल्याण सम्बन्धी कार्य**—वर्तमान विश्व में लगभग सभी जगह लोकतन्त्रात्मक कल्याणकारी राज्यो की स्थापना हो गई है। भारत भी समाजवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। ऐसे कल्याणकारी समाज की स्थापना करना राज्य के लिए कोई सरल कार्य नहीं है। इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि नागरिकों की उत्पादन शक्ति और कार्यक्षमता मे वृद्धि हो ताकि देश का सतत निर्बाध रूप से आर्थिक विकास हो सके। यही कारण है कि यातायात एव सन्देशवाहन की व्यवस्था सिंचाई एव शक्ति के विभिन्न साधनो की व्यवस्था उद्योगो का सही दिशा मे सरक्षण विक्रय सम्बन्धी सुविधाएँ आदि कार्यो द्वारा राज्य वर्तमान आर्थिक जीवन की अनिश्चितता और बाधाओ को दूर कर रहा है।

4 **जन हित के कार्यों का नियमन**—आज यह माना जाता है कि व्यक्ति अपने दु ख सुख के लिए स्वय उत्तरदायी नहीं होता। यह उत्तरदायित्व समाज पर है क्योंकि मनुष्य का समुचित विकास सामाजिक वातावरण पर निर्भर होता है। निजी उपक्रम इस प्रकार के सामाजिक वातावरण का निर्माण नहीं कर सकते जिसमे आर्थिक असमानताओं का अन्त हो या उनमें कमी आए शोषण मिटे राष्ट्र के भावी विकास के दृष्टिकोण से आवश्यक ससाधनो का निर्माण हो और अर्थव्यवस्था का इस भाँति सतुलित विकास हो कि अधिकतम सामाजिक लाम की प्राप्ति हो सके। केवल राज्य ही ऐसे प्रयत्न करने मे सक्षम है जिनसे मनुष्य के विकास के लिए समुचित सामाजिक वातावरण का निर्माण हो सके मनुष्यों के कष्टो मे कमी हो और सुख में वृद्धि हो। इसके लिए राज्य कुछ क्रियाओं को नियमित करता है तो कुछ क्रियाओं को स्वय सम्पन्न करता है।

5. दुर्लभ साधनों का आवंटन—आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप इसलिए आवश्यक है कि दुर्लभ साधनो का समुचित आवटन (Allocation of Scarce Resources) हो सके । विकासशील देशों में साधनो की न्यूनता होती है और इन न्यून साधनो का अपव्यय न हो सके, इसके लिए राज्य का हस्तक्षेप वाछित है । विकसित देशो मे भी राज्य का हस्तक्षेप, अभाव और दुर्बलता के सभय आवश्यक हो जाता है । पियरे मेन्डस फ्रेंग तथा सेब्राइल आरडेन्ट का तर्क है कि विकासशील देशो में उक्त कारणों से समूहवाद (Collectivism) आकर्षित और सर्वप्रथम विकसित हुआ है । साधनो की दुर्लभता और विभिन्न सामाजिक एव आर्थिक दुर्बलताओ के कारण विकासशील देशो में स्वत विकास असम्भव है । इसलिए इन देशो में सरकार द्वारा आर्थिक मामलों मे विवेकशील निर्देशन किया जाना चाहिए । प्रो आर्थर लेविस का यह दृढ मत है कि विकासशील देशों में आर्थिक क्षेत्र मे सरकार के विवेकपूर्ण निर्देशन के अभाव में इन देशों की आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती और आर्थिक क्रियाओ का सचालन व्यवस्थित नहीं किया जा सकता ।

6. संतुलित आर्थिक विकास—देश का समुचित और सतुलित ढग से आर्थिक विकास हो, इस दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र का विशेष महत्त्व है । सामाजिक क्षेत्र के द्वारा उचित और सन्तुलित योजनाओ के निर्माण से विकासशील देशो मे सन्तुलित आर्थिक विकास की नीव स्थापित करना सभव है । आर्थिक विकास का कार्य निजी क्षेत्र मे छोडने से यह पूरी सम्भावना रहती है कि देश के कुछ भाग, जो प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न हैं, अधिक विकसित हो जाएँ और कुछ भाग आर्थिक दृष्टि से एकदम पिछडे बने रहे । निजी व्यक्ति उन्हीं कार्यों को अपने हाथ मे लेता है जिनमे बिना कठिनाई के उन्हे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके । इस व्यवस्था में प्राकृतिक ससाधनों का असन्तुलित प्रयोग होता है और भावी विकास की दृष्टि से आवश्यक आधारित सरचना (Infrastructure) के निर्माण की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता । इसके अतिरिक्त चूँकि कार्यक्रमो को व्यक्तिगत रूप से तैयार किया जाता है इसलिए अनेक प्रकार की आर्थिक हानियाँ भी होती है । अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मे उपयुक्त समन्वय न होने के कारण विनाशकारी आर्थिक उतार-चढाव होते रहते है । इन सब कारणो से यह आवश्यक लगता है कि देश के सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए आर्थिक क्रियाओं मे सरकारी योगदान अधिकाधिक हो ।

7. निजी उपक्रम के परिपूरक के रूप मे—कई व्यवसायो और उद्योगो को निजी उपक्रमी इसलिए प्रारम्भ नहीं करते कि उनमे लाभ की मात्रा बहुत कम रहती है या प्रारम्भ में हानि होने की आशका रहती है । जबकि इस प्रकार के उद्योग राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते है अत. विभिन्न सरकारे निजी उपक्रम की इस कमी की पूर्ति के लिए स्वय नए उपक्रमी के रूप में प्रकट हुई है ।

8. सामाजिक पूँजी का निर्माण—देश के आर्थिक विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा आदि के लिए सडको, रेलो, नहरों आदि का विकास आवश्यक है । मानव पूँजी के निर्माण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, श्रम कल्याण आदि मे व्यवसाय की आवश्यकता होती है । केवल सरकार ही इतने व्यापक स्तर पर विनियोग करने मे समर्थ होती है । इस प्रकार के मदो में निजी उपक्रम द्वारा आवश्यक पूँजी लगाना न तो सम्भव है और न ही वे ऐसा करना पसन्द करते है क्योंकि प्रतिफल की आशा तुलनात्मक रूप मे बहुत कम रहती है ।

9. सामाजिक लागतो मे कमी—अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप के माध्यम से औद्योगिक बीमारियों व दुर्घटनाओ, चक्रीय बेरोजगारी अस्वस्थ वातावरण आदि सामाजिक कठिनाइयों को दूर कर सामाजिक लागतो मे कमी की जा सकती है तथा प्रयत्न करने पर इनसे छुटकारा भी पाया जा सकता है ।

10. आर्थिक विषमताओ को दूर करना और पूँजी संचय—विकासशील देश मे आर्थिक विषमताओ को दूर करने तथा पूँजी-सचय के लिए सरकारी हस्तक्षेप वाछित है । विकसित देशों में आर्थिक क्राति के बाद राजनीतिक क्रान्ति आई है किन्तु विकासशील देशो मे राजनीतिक क्राति के बाद आर्थिक क्रान्ति हुई है । अत इन देशों मे पूँजी-सचय मे विषम कठिनाइयाँ आ रही है । औद्योगिक क्रान्ति पूर्ण होने से पहले ही श्रम की मजदूरी बढने लगी है । अत इसका विशेष महत्त्व है कि सामाजिक और आर्थिक समानता लाने वाले उपायों को क्रियान्वित किया जाए । विकसित देशो मे कल्याणकारी

राज्य-नीति से असमानताएँ काफी कम हो गई हैं किन्तु विकासशील देशो मे आर्थिक विषमताएँ बढती जा रही हैं। इन देशो मे समान और न्यायोचित वितरण के उपायो से केवल गरीबी का ही सम्पूर्ण विभाजन होगा क्योंकि उत्पादन स्तर न्यूनतम आवश्यकताओ के अनुरूप नहीं है। गुन्नार मिर्डल के अनुसार इन देशों में समान वितरण के उपायो से अधिक महत्वपूर्ण धन का सचय है चूँकि धन के बिना वृद्धि के वितरण से मात्र गरीबी का वितरण होगा। आवश्यकता यह है कि सरकार दोनों स्तर पर साथ-साथ कार्य करे—प्रथम, पूँजी का सचय और आर्थिक विकास तथा द्वितीय आय और धन का न्यायोचित वितरण।

11. जनसंख्या सम्बन्धी विकास—*आज अधिकाश विकासशील देशो में जनाधिक्य की समस्या है* अर्थात् तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या विभिन्न आर्थिक समस्याओ को जन्म दे रही है। वृद्धिमान जनसख्या और जनाधिक्य के कारण यह आवश्यक हो गया है कि विकासशील देश कम से कम इतना *आर्थिक विकास करें कि उनका वर्तमान जीवन-स्तर बना रहे। अधिकाश अर्थशास्त्रियों का यही मत है* कि जनसख्या सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण तभी हो सकता है जबकि विशाल क्षेत्र में भारी विनियोग किए जाएँ। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था को 'बडा धक्का' (Big Push) बिना सरकारी प्रयत्नों के असम्भव है। *जब तक राष्ट्रीय आय में पूँजी-निर्माण की वर्तमान दर अधिक नहीं हो जाती तब तक यह सम्भव* नहीं दिखता कि विकासशील देश दुर्बलता के विषैले वृत्तो और आर्थिक जडता (Economic Stagnation) से मुक्ति पा सकेगे। इस प्रसग मे विख्यात अमेरिकन अर्थशास्त्री हेनरी जी अब्रे ने कहा *है कि साधनो तथा सख्या की कैची (Scissors of Resources and Numbers) बन्द करने का सर्वोत्तम* उपाय औद्योगीकरण है। इससे आर्थिक और राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि होगी। यह तभी सम्भव है जब राज्य सरकार इसमें प्रवेश करे। सामाजिक ऊपरी लागते (Social Overheads) सरकार द्वारा प्रदान की जाती हैं, जिन पर आर्थिक विकास का सम्पूर्ण कार्य निर्भर करता है।

12. बाजार को विस्तृत करना—सरकार का प्रमुख कार्य बाजारो को विस्तृत बनाना है। *विकासशील देशो के बाजार सकुचित होते है अत इन्हें विस्तृत करने के लिए सरकार स्वय इस क्षेत्र में प्रवेश करती है और ऐसी सस्थाओं का विकास करती है जो विस्तृत बाजार का आधार बन सके।* विकासशील देशो मे बैंकिंग प्रणाली बहुत पिछड़ी हुई है। जीवन-बीमा जैसी वित्तीय सस्थाएँ भी बहुत कम विकसित हुई हैं। सगठित मुद्रा बाजार (Organised Money Market) भी सीमित है। सरकार को इन सभी सुविधाओं को बढाने के लिए *महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभाना पडता है।* वह इस सम्बन्ध में निष्क्रिय नहीं बैठी रह सकती। निजी लाभ की खोज में रहने वाले उद्योगपतियों से इस प्रकार के कार्यों की आशा करना व्यर्थ है।

13. सरकारी उद्यम मे अधिक कुशलता—*सामान्यत यह माना जाता है कि निजी उपक्रम* सरकारी उद्योगों की अपेक्षा अधिक कुशलता से उत्पादन कर सकते हैं क्योंकि वे लाभ के उद्देश्य से सचालित होते हैं। फिर भी कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें सरकारी उत्पादन निजी उपक्रमों की तुलना में *अधिक कुशल सिद्ध होता है। आज विश्व के लगभग सभी विकासशील देश आर्थिक नियोजन के आधार* पर विकास करने का प्रयास कर रहे हैं। योजना के कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए विशाल पूँजी विनियोग की आवश्यकता होती है जिसकी उपलब्धि केवल निजी क्षेत्र के आधार पर नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त *कुछ उद्योग जोखिम वाले होते हैं जिनमें धन लगाने से तात्कालिक लाभ की* आशा नहीं की जा सकती। चूँकि निजी क्षेत्र ऐसे उद्योगों में धन लगाने से हिचकते हैं अत इनका विकास सरकारी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत ही हो सकता है। सुरक्षा और सैनिक महत्त्व के उद्योग ऐसे होते हैं जिनमें गोपनीयता की आवश्यकता सर्वोपरि होती है, अन्यथा राष्ट्र को खतरा उत्पन्न *हो सकता है। ऐसे उद्योगों के सचालन का भार निजी क्षेत्र पर नहीं छोड़ा जा सकता। जिन उद्योगों में* अत्यधिक पूँजी विनियोग की आवश्यकता होती है उन्हें भी निजी क्षेत्र के भरोसे नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से उनके विकास में बहुत अधिक विलम्ब हो सकता है।

सरकारी उपक्रम इसलिए *भी लाभकारी हैं कि उनसे प्राप्त होने वाले लाभ का उपयोग आर्थिक* विकास और सामाजिक *कल्याण* के लिए किया जा सकता है। तकनीकी दृष्टिकोण से कुछ उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र अधिक उपयोगी और कुशल हैं, विशेषकर ऐसी दशाओं में जब विदेशी निजी कारखाने

तकनीकी ज्ञान और पेटेन्ट अधिकारो (Patent Rights) को तब तक देने को तैयार न हो जब तक ऐसे उपक्रमो के स्वामित्व और नियन्त्रण में उन्हे हिस्सा न दिया जाए।

14. बेरोजगारी—बेरोजगारी की स्थिति का सामना करने के लिए आर्थिक क्षेत्र मे सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक है। बाजार की आर्थिक व्यवस्था अनेक स्थितियो मे बेरोजगारी का पूरी तरह सामना करने मे असफल रही है। जब बेरोजगारी बढने लगती है तो कोई भी अकेला उद्यम उसमे सुधार नहीं कर सकता और पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं ला सकता। यदि अनेक निजी उद्यम इस दिशा मे प्रयास करे तो भी वे कुछ हद तक ही बेरोजगारी की समस्या से निपट सकते है सम्पूर्ण रूप से नहीं। केवल सरकार ही इस दृष्टि से सक्षम होती है कि वह विभिन्न उद्योगो और कार्यों मे बेकार व्यक्तियो को खपाए तथा रोजगार के अवसर बडी सख्या मे उपलब्ध करा सके। पूर्ण रोजगार के महत्त्वाकाक्षी लक्ष्य की प्राप्ति उसी के माध्यम से सम्भव है।

15. युद्ध एव अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ—देश की सुरक्षा के लिए आधुनिक सरकारो को अधिक व्यय करना पड रहा है और उसके लिए अधिक साधन जुटाने पडते है क्योकि आधुनिक नई-नई तकनीक से युद्ध अत्यधिक महँगे हो गए है। देश की सुरक्षा और आर्थिक विकास के लिए अन्य देशों से सहयोग लेना पडता है। अधिकाधिक विदेशी मुद्रा की प्राप्ति के लिए आयात-निर्यात व व्यापार को सरकार नियन्त्रित करती है।

आर्थिक क्षेत्र मे सरकार का अधिकाधिक प्रवेश आज अनेक दृष्टियो से औचित्यपूर्ण है। विशेषकर विकासशील देशों के लिए सरकार द्वारा आर्थिक क्रियाओं का किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। इन देशो मे सरकार नव-प्रवर्तक और अनुकरणकर्त्ता (Innovator and Adoptor) दोनो ही है। हम प्रो हान्स सिगर के इस निष्कर्ष से सहमत नही है कि यदि सरकार उद्यमकर्त्ता का कार्य भी आरम्भ कर देगी तो वह अपने सामान्य कर्त्तव्यो से विचलित हो जाएगी और प्रशासन पर काफी भार बढ जाएगा। इससे एक चरम राष्ट्रवाद का जन्म होगा लेकिन हान्स सिगर का यह भय अतिरंजित है। वास्तव मे देश जितना पिछडा होता है सरकार का उतना ही अधिक महत्त्व होता है। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का प्रवेश इसलिए भी उचित है कि उसके पास इसको वहन करने की क्षमता है। आधुनिक सरकार केवल साधनो की स्वामी और नव-प्रवर्तक ही नहीं है बल्कि बहुत बडी उपभोक्ता व्ययकर्त्ता और बचतकर्त्ता भी है। अपनी इस आर्थिक शक्ति के प्रभाव से वह सामाजिक लाभ मे वृद्धि कर सकती है जो निजी पूँजी द्वारा सम्भव नही है। सार्वजनिक विनियोग की विवेकपूर्ण वृद्धि से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से निजी क्षेत्र का विस्तार हो सकता है और देश की अर्थ-व्यवस्था सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर हो सकती है।

राज्य की आर्थिक क्रियाओ का क्षेत्र
(Scope of the State's Economic Activity)

यह विचार सर्वमान्य बन जाने से कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करना चाहिए निर्बाधावादी विचारधारा मृत प्राय हो चुकी है। आज अर्थशास्त्रियो मे विवाद यह नहीं है कि राज्य को आर्थिक *विकास के कार्य करने चाहिए या नहीं बल्कि विवाद इस पर है कि राज्य को किस अश तक आर्थिक* क्रियाओं को करना चाहिए अर्थात् राज्य की आर्थिक क्रियाओ का क्षेत्र क्या होना चाहिए। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख विचारधाराएँ है—

प्रथम विचारधारा के अनुसार सम्पूर्ण विकास कार्य सरकार के हाथ मे होने चाहिए। यह आवश्यक है कि सभी प्रकार के नियोजन कार्य सरकार ही करे अधिकतम उद्यमी क्रियाएँ पूँजी-निर्माण सरकार द्वारा ही हो।

द्वितीय विचारधारा के समर्थक पूर्ण सरकारी हस्तक्षेप के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न दृष्टिकोण रखते है। ये विचारक सीमित सरकारी हस्तक्षेप के साथ साथ बाजार-क्रिया या बाजार सयत्र (Market Mechanism) और निजी प्रयत्नशीलता पर अधिक बल देते है। इनकी नीति धीरे चलने की है। ये राज्य द्वारा क्रमश विकास का समर्थन करते हैं। इनका कहना है कि किसी भी दौड के लिए कम से कम निश्चित गति अवश्य होनी चाहिए। विकास मे उपस्थित अवरोधों को समाप्त करने के लिए न्यूनतम निश्चित प्रयास तो किए जाने चाहिए किन्तु निजी क्षेत्र की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। राज्य के इस विचार को हम विकास का न्यूनतम आवश्यक

प्रयास (Critical Minimum Effort Thesis) कह सकते है जिसके अनुसार विकास कार्यक्रम कम से कम न्यूनतम आकार का तो होना ही चाहिए ताकि विकास के मार्ग मे अवरोधक शक्तियो को समाप्त किया जा सके। विकासशील देशो मे आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए भारी मात्रा में पूँजी सचय की आवश्यकता होती है। यह तभी सम्भव है जबकि वृहत् मात्रा मे विनियोग कार्यक्रम सचालित किए जाएँ। अल्प-मात्रा में सीमान्त वृद्धियो से कुछ नहीं हो सकता।

राज्य की आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र के सम्बन्ध मे इन विचारधाराओ के प्रकाश मे व्यवहार का तकाजा है कि प्रत्येक विकासशील देश को अपनी परिस्थितियो उद्देश्यो प्रशासनिक शक्ति और प्रचलित सस्थाओं को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक कार्य क्षेत्र की सीमा निर्धारित करनी चाहिए।

वर्तमान मे अधिकाश विकासशील देशो मे मिश्रित अर्थ व्यवस्था अपनाई जा रही है जहाँ सार्वजनिक और निजी क्षेत्र सम्मिलित रूप से अपने अपने उत्तरदायित्व निभाते है। उदाहरणार्थ स्वतन्त्र भारत मे मिश्रित अर्थ व्यवस्था को ही देश की औद्योगिक नीति का आधार माना गया है और यह निश्चित किया गया है कि आर्थिक क्षेत्र मे सरकार और पूँजीपति दोनो भाग लेगे तथा देश मे उत्पादन के अधिकतम स्तर को बढाने का भरसक प्रयास किया जाएगा। भारत मे सरकारी और निजी दोनो ही क्षेत्रो में उद्योगो की कुछ श्रेणियाँ निर्धारित की गई है। कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र के लिए अनिवार्य रूप से सुरक्षित रखे गये है तो कुछ क्षेत्रो को सरकारी और निजी दोनो ही क्षेत्रों के लिए खुला रखा गया है यद्यपि इन पर धीरे-धीरे सरकारी आधिपत्य बढते जाने की व्यवस्था है। कुछ उपक्रम पूरी तरह से निजी क्षेत्र के लिए खुले छोड दिए गए है। वर्तमान मे विश्व उदारीकरण की लहर के चलते अब सरकारी क्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया गया है। अनेक सरकारी उपक्रमो का निजीकरण कर दिया गया है तथा इसे और बढावा दिया जा रहा है। अब सरकारी हस्तक्षेप नियमन एव नियन्त्रण तक सीमित होता जा रहा है। उद्योगो में सरकार की • ग्नदारी कम होती जा रही है।

वस्तुत सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की बहस मे यह सामान्य उक्ति कि अति सर्वत्र वर्जयेत उपयुक्त लगती है। निरकुश निजी उपक्रम और प्रेरणाओ की समाप्ति तक जाने वाला सरकारी हस्तक्षेप दोनो ही अर्थ व्यवस्था को भारी क्षति पहुँचाते है। इसलिए अब यह सभी देशो मे अनुभव किया जाने लगा है कि निजी उपक्रम को ठीक प्रकार से कार्य करते रहने और बढने के लिए सरकारी सहायता आवश्यक है और सरकार भी उद्यमशील उपक्रमी वर्ग के सक्रिय सहयोग के बिना अधिक समय तक सफल नहीं हो सकती।

आधुनिक राज्य की आर्थिक क्रियाएँ

(Economic Activities of Modern State)

राज्य के कार्यों से सम्बन्धित राज्य की नीति पर विदेशी विचारधाराओ का व्यापक प्रभाव पडता रहता है और विचारधाराओ के परिवर्तनो के साथ साथ राज्य की नीति भी बदलती रहती है। राज्य की आर्थिक क्रियाओ को निम्नलिखित श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है—

1 राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे की रक्षा करना—राज्य देश के आर्थिक जीवन के रूप और स्वभाव को निश्चित करता है। राज्य ही इस बात का निर्णय करता है कि राष्ट्र के आर्थिक जीवन का ढाचा कैसा हो और उसको किस प्रकार स्थायी बनाया जाए ? इन प्रश्नो का उत्तर राज्य देश की परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर ढूँढता है और आवश्यक निर्णय लेता है। विभिन्न देशो की परिस्थितियो साधनो और सभ्यताओ में विभिन्नता होती है अत भिन्न भिन्न देशो का आर्थिक ढाँचा स्वत ही भिन्न भिन्न किस्म का हो जाता है। राज्य आर्थिक ढाँचे के अनुरूप कानून की व्यवस्था करता है। सरकार और अन्य सस्थाएँ इन कानूनो को बनाती है और कार्यरूप देती है। इन कानूनो द्वारा सरकार देशो की आर्थिक उलझनों को दूर करती है। ये कानून सम्पत्ति के उत्तराधिकारियो मालिको और श्रमिको के पारस्परिक सम्बन्धो प्रसविदो आदि के सम्बन्ध मे होते है और इनका मुख्य उद्देश्य देश के आर्थिक जीवन की बाधाओ को दूर करना होता है। चूँकि मनुष्य का जीवन देश की आर्थिक प्रणाली और विदेशों के साथ आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्धो से काफी प्रभावित होता है अत राज्य इनका भी निर्धारण करता है और समय समय पर परिस्थितियो के बदलने के साथ साथ इनमे उचित परिवर्तन करता रहता है।

2 नियमन और नियन्त्रण—राज्य का प्रमुख कार्य आर्थिक जीवन को नियमित और नियन्त्रित करना है। राज्य श्रमिको और उपभोक्ताओ के शोषण को रोकने के लिए सरकार के माध्यम से आर्थिक जीवन को नियमित करता है और उस पर आवश्यक नियन्त्रण रखता है। वह श्रमिको एव मालिकों के सम्बन्धो को ऐसा स्वरूप प्रदान करता है कि मालिक श्रमिको का शोषण नहीं कर पाते। उपभोक्ताओं के हित मे वह एकाधिकारियो के कार्यों और प्रसार पर नियन्त्रण रखता है। राज्य मूल्य की स्थिरता प्राप्त करने के लिए बैकों और व्यापारिक क्रियाओं को नियन्त्रित करता है राष्ट्रीय हित मे देश के साधनो के उपयोगो को नियमित करता है और कुछ आधारभूत उद्योगो को स्वय भी चलाता है। हानिकारक तथा अस्वास्थ्यप्रद वस्तुओ के उत्पादन और उपभोग को रोकता है तथा आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति पर नियन्त्रण रखता है। इन सब कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए राज्य कानून बनाता है और इस बात की पूरी व्यवस्था करता है कि कानूनो का यथोचित रूप से पालन होता रहे। कानून के उल्लघनकर्त्ताओं को राज्य दण्डित भी करता है।

3 वित्तीय सहायता—राज्य व्यक्तियो को उनकी आर्थिक क्रियाओ को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार की वित्तीय सहायता प्रदान करता है। इस दृष्टि मे राज्य उनके आर्थिक हितो का सरक्षक है। वह कृषकों उद्योगपतियों और व्यापारियो को आवश्यक ऋण सरक्षण एव तकनीकी व्यावसायिक परामर्श देता है। वह यह भी ध्यान रखता है कि वस्तुऐं उचित मूल्य पर बिके तथा उपभोक्ताओं को उनकी सुविधापूर्वक उपलब्धि हो सके। इसके लिए राज्य उचित विपणन व्यवस्था करता है और उनका नियमन करता है। राज्य व्यक्तियो को विभिन्न व्यवसायो के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ देता रहता है। यह आवश्यक वस्तुओ की माग और पूर्ति का सन्तुलन बनाए रखने के लिए विक्रेताओ उत्पादको तथा बाजार पर नियन्त्रण बनाए रखता है। उसका यह प्रयास होता है कि आर्थिक जीवन की अनिश्चितताए और बाधाए नियमित ढग से दूर होती रहे।

4 प्रत्यक्ष सहभागिता—राज्य व्यक्तियो के आर्थिक विकास मे न केवल परोक्षत बल्कि प्रत्यक्षत भी भाग लेता है। इस दृष्टि से वह देश की प्रमुख व्यापारिक सेवाओ और उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करता है अथवा सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओ को स्वय सचालित करता है (जैसा कि रूस और चीन मे है)। भारत मे भी सीमित रूप से राज्य व्यक्तियो की आर्थिक क्रियाओ का सचालन करता है। जीवन बीमा बैकों रेल और वायु यातायात आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। ये कार्य इतने विस्तृत और विशाल है कि व्यक्तिगत स्तर पर न तो इनका सचालन किया जा सकता है और न ही इनके सचालन का भार निजी उपक्रमो पर छोडा जा सकता है। सामान्यत राज्य द्वारा इस प्रकार की प्रत्यक्ष सहभागिता (Direct Participation) का उद्देश्य यह होता है कि देश आर्थिक विकास और उन्नति की ओर अग्रसर हो तथा सामाजिक कल्याण — मार्ग प्रशस्त बना रहे।

5 मौद्रिक नीति—देश के औद्योगिक और व्यावसायिक विकास के लिए उचित मौद्रिक नीति का निर्धारण भी राज्य का कर्तव्य है। वस्तुत देश का आर्थिक विकास बहुत कुछ सरकार की नीति पर निर्भर करता है। राज्य अपने क्षेत्र मे मुद्रा और साख व्यवस्था पर उचित नियन्त्रण लगाता है तथा उत्पादन और मूल्यो मे स्थिरता बनाए रखने के लिए निरन्तर सचेष्ट रहता है। इन कार्यों की मौद्रिक पूर्ति के लिए प्राय केन्द्रीय बैक और प्रमुख वाणिज्यिक बैकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है जैसा कि इग्लैण्ड और भारत आदि देशो मे किया गया है।

6 सार्वजनिक वित्त—राज्य का एक अन्य प्रमुख कार्य सार्वजनिक वित्तीय कार्यों का सम्पादन करना है। देश मे धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने के लिए उपरोक्त क्रियाओ को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए राज्य वित्त सम्बन्धी क्रियाएँ सम्पन्न करता है। वह व्यक्तियो से कर और ऋण के रूप मे धन प्राप्त करता है तथा इसे जनहित मे व्यय करता है। इन क्रियाओ के माध्यम से राज्य धन के विषम वितरण पर अकुश रखता है उत्पादन और वितरण की समस्याओ से निपटता है तथा देश के आर्थिक विकास को अग्रसर करता है।

7 कुशल श्रम शक्ति का निर्माण—सरकार को शिक्षा चिकित्सा स्वास्थ्य सेवा प्रशिक्षण व्यावसायिक शिक्षण आदि के द्वारा कुशल श्रम शक्ति का निर्माण भी करना होता है क्योकि तकनीकी कर्मचारियो का अभाव विकास मे एक बहुत बडा सरचनात्मक अवरोध होता है। यदि आवश्यक हो तो विदेशो मे भेजकर श्रमिको को तकनीकी कुशलता का प्रशिक्षण उपलब्ध करवाया जाता है। श्रमिको मे

उचित प्रेरणा बनाए रखने के लिए शोषण से मुक्ति और न्यूनतम वेतन की व्यवस्था करनी होती है। आर्थिक विकास के लिए श्रम और पूँजी मे सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध और औद्योगिक शान्ति आवश्यक है। अत सरकार को श्रम और पूँजी में अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने और उत्पादन प्रतिफल की दोनो पक्षों मे उचित वितरण की व्यवस्था करनी होती है। सरकार को पूर्ण रोजगार सम्बन्धी नीति भी अपनानी होती है। प्रो हरमन फाइनर के अनुसार आर्थिक विकास के लिए श्रम-पूँजी सम्बन्धी नीति के निम्न आधार होने चाहिए—(i) श्रम और पूँजी की शत्रुता और सघर्ष को कम करना (ii) हडताले तालाबन्दी आदि के द्वारा होने वाली उत्पादन की हानियो को घटाना एव (iii) श्रमिको मे उत्पादन वृद्धि के प्रति उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना।

8. पूर्ण रोजगार—सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने देशवासियो को पूर्ण रोजगार देने रहन-सहन के स्तर में वृद्धि एव स्थायित्व की उचित व्यवस्था करे। प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का अधिकार है अत यह राज्य का उत्तरदायित्व है कि यह अपने विकास कार्यों को इस प्रकार सन्तुलित करे कि देश मे रोजगार के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध हों। आज के विकासशील और विकसित सभी राष्ट्र अपने साधनो के अनुरूप इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना अपना कर्त्तव्य समझते है कि उनकी जनता को पर्याप्त काम मिले। पूर्व साम्यवादी रूस मे तो सविधान के अन्तर्गत राज्य का यह कर्त्तव्य निश्चित कर दिया गया था कि वह सभी लोगो को रोजगार दे। रोजगार पाना वहाँ नागरिको का मौलिक अधिकार माना गया था। इग्लैण्ड मे बेरोजगारी भत्ता देने की व्यवस्था है।

9. विनियोगकर्त्ताओ तथा नव प्रवर्तनो को प्रभावित करना—आज के राज्य विकास कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए विनियोगकर्त्ताओ और नव-प्रवर्तनो (Investors & Innovations) को प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील रहते है। इस कार्य को करने के लिए एकाधिकार को समाप्त करना होता है। सरकार इस पर नियन्त्रण लगाकर अथवा इसे अवैधानिक घोषित करके समाप्त कर सकती है जैसा कि साम्यवादी देशो मे किया जाता है। यदि राज्य इस प्रकार से सफल नही होता तो वह उद्योगो को अपने हाथ मे ले लेता है। शिशु उद्योगो की रक्षा करने जनता को विनियोग की ओर आकर्षित करने और बचत के प्रति उत्साहित करने का कार्य राज्य का है। विनियोगकर्त्ताओं को विकास के प्रति आकर्षित करने के लिए राज्य मूल्य वृद्धि और ब्याज दर को नियमित करता है और प्राय इस नियम का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक पर छोड देता है। राज्य बाजार से मुद्रा को उपलब्ध और उपयोगी विनियोग की ओर आकर्षित करने के लिए अनुचित सट्टेबाजी को कम करने का भी प्रयास करता है। राज्य जनता से अपने ऋण बॉण्डो द्वारा मुद्रा आकर्षित कर सकता है तथा अधिक ब्याज दर रख कर जनता द्वारा असचित राशि को भी अपनी ओर आकर्षित करता है। राज्य विशाल पूँजी निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसके लिए वह विनियोज्य क्रिया और मुद्रा बाजार को नियन्त्रित तथा सन्तुलित करने का प्रयत्न करता है। राज्य विनियोगो पर लाभ और स्थायित्व की गारण्टी देकर विनियोगकर्त्ताओं को आकर्षित और प्रभावित करता है। राज्य इन सभी कार्यों को करने के लिए जनता पर अपना प्रभाव डालता है और आवश्यकतानुसार शक्ति का प्रयोग भी करता है।

10 प्रवृत्तियो को प्रभावित करना—यह सर्वविदित है कि विकास के प्रतिकूल प्रवृत्तियो की अपेक्षा उसके अनुकूल प्रवृत्तियाँ राष्ट्र के विकास मे बहुत अधिक सहायक होती है। प्रो आर्थर लेविस ने बतलाया है कि सरकार का दूसरा काम प्रवृत्तियो को प्रभावित करना है—काम के प्रति मितव्ययिता के प्रति परिवार के आकार के प्रति विदेशी व्यवसायियो के प्रति सामाजिक गतिशीलता के प्रति लाभार्जन के प्रति पशुधन की पवित्रता के प्रति नई तकनीको के प्रति। इन प्रवृत्तियो के निर्धारण मे सरकारे बडा योग देती है। यद्यपि सरकारो पर जनमत का प्रभाव रहता है और वे जनमत की अधिक अवहेलना नही कर सकती है किन्तु जनमत तैयार करने मे सरकार का बडा हाथ होता है। विख्यात नेताओं के भाषण और लेख तथा विधान-मण्डलो द्वारा कोई कार्यवाही करने या न करने का निश्चय जनमत तैयार करने मे बडा योगदान देते है। जो समाज तेजी से आर्थिक विकास करना चाहता है वहाँ की सरकार का बडा उत्तरदायित्व देश मे विकास के अनुकूल दृष्टिकोण और प्रवृत्तियो को विकसित करना है।

मूल्यॉकन—इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आज के युग मे आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप बडा व्यापक हो गया है। कृषि उद्योग व श्रम अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण व नियमन और जन-कल्याण

इन सभी क्षेत्रो मे आज राज्य नये-नये दायित्वो को वहन कर रहा है। राज्य के आर्थिक कार्यों को सारांश रूप मे प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि उद्योग के विकास के लिए सरकार ने पूँजी यन्त्र सामग्री इत्यादि सभी सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया है। श्रमिक उद्योगो मे अपना दिल लगाकर काम कर सके इस उद्देश्य से उन्हे सुविधा देने हेतु अनेक योजनाएँ तथा नियम बनाए है। उनके लिए अच्छे और आधुनिक सुविधाओं से युक्त सस्ते मकानो की व्यवस्था काम करने की दशाओं मे सुधार कारखानो मे हवा प्रकाश सफाई कल्याणकारी कार्यक्रम मनोरजन तथा शिक्षा की सुविधा तकनीकी शिक्षण की सुविधा चिकित्सालय उपभोक्ता भण्डार-गृह दुर्घटना के कारण क्षति-पूर्ति स्त्री व बच्चो को काम देने के सम्बन्ध मे विशेष नियम एव नियन्त्रण श्रमिक की सामूहिक सौदा करने की शक्ति मे बढावा देने की गरज से श्रमिक सघो को प्रोत्साहन रोजगार के दफ्तर बेकारी वृद्धावस्था तथा बीमारी के समय पेशन की व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को हाथ मे लेकर सरकार ने अपने कार्य-क्षेत्र मे बहुत अधिक विस्तार कर लिया है। उद्योगो के हित मे प्रशुल्क नीति आयात-निर्यात नीति एव नियन्त्रण उत्पादन तथा वितरण पर नियन्त्रण तथा औद्योगिक विकास से सम्बन्धित सारे कार्यों को सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया है।

कृषि उत्पादन तथा उत्पादक शक्ति मे वृद्धि के लिए सरकार नाना प्रकार के कार्य अपने हाथ मे लेने लगी है। किसानो के लिए साख सुविधाएँ अच्छे बीज खाद खेती को नुकसान पहुँचाने वाले कीडे मकोडो को नष्ट करने की दवाइयाँ आधुनिकतम यन्त्र तथा औजारो की पूर्ति सिचाई की सुविधाएँ कृषि वस्तुओं की बिक्री तथा भाव स्थिर रखने सम्बन्धी नियम भूमि कटाव को रोकने तथा भूमि सरक्षण खेतो के उप विभाजन तथा बिखरी खेती पर रोक तथा अन्य भूमि सुधार इत्यादि के कार्य सरकार ने अपने हाथ मे लिये है।

कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न करने वाली सरकारो के व्यय काफी तीव्र गति से बढ रहे है। आजकल जन कल्याण की वृद्धि के लिए सरकार शराब तथा ऐसी अन्य हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर राजस्व के माध्यम से रोक लगा सकती है नए नए व्यवसायो तथा औद्योगिक इकाइयो की स्थापना कर सकती है और रोजगार के अवसरो मे वृद्धि कर सकती है। जनता की आय तथा जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकती है। अपनी प्रशुल्क नीति की सहायता से भिन्न-भिन्न व्यवसायो तथा क्षेत्रो के बीच साधनो के वितरण को निर्धारित कर सकती है शिशु उद्योगो को विभिन्न प्रकार के सरक्षण प्रदान करके विदेशी प्रतियोगिता से बचा सकती है तथा आर्थिक सहायता देकर उनकी प्रगति तीव्र कर सकती है। वह राष्ट्रीय हित के सरकारी तथा गैर सरकारी उपक्रमो का विकास कर सकती है। ऐसे ठोस कदम उठा सकती है ताकि राष्ट्र के सारे ही साधनो का उपयोग राष्ट्र के हित मे हो। राष्ट्र के सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मात्रा मे विदेशी विनिमय और मुद्रा प्राप्त कर सकती है। सरकार जनता की सुविधा के लिए जल बिजली यातायात स्वास्थ्य और चिकित्सा शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रबन्ध कर सकती है। जनता की सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाएँ जैसे—बेकारी बीमा स्वास्थ्य बीमा प्रसव लाभ बीमारी बीमा वृद्धावस्था पेशन इत्यादि का प्रबन्ध कर सकती है। आर्थिक अवसादो तथा मुद्रा प्रसार से उत्पन्न होने वाली समस्याओं तथा दोषो को दूर कर सकती है देश के चहुँमुखी विकास के लिए आर्थिक नियोजन का सफलतापूर्वक सम्पादन कर सकती है डाक तार रेल तथा अन्य आवागमन के साधन एव सचार का प्रबन्ध कर सकती है युद्धो से देश की सुरक्षा कर सकती है।

प्रजातान्त्रिक सरकारे सामान्य नागरिक प्रशासन पर बढता हुआ व्यय जो चुनाव सभाओं ससद् ग्राम पचायतो आदि पर होता है सहन कर सकती है वे दूसरे देशो मे अपने दूतावासो पर भारी व्यय कर सकती है बढती हुई जनसख्या की आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था पर उत्तरोत्तर बढते हुए व्यय का भार सहन कर सकती है। वे जनता के हित मे वस्तुओं के भावो को स्थिर रखने का प्रयत्न करती है। नियोजन-काल मे हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन के कारण तथा युद्ध के दिनो मे वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगते है। अत ऐसी परिस्थिति मे सरकार अपनी राजस्व की क्रियाओं के माध्यम से और विभिन्न प्रतिबन्धो से ही मूल्य नियन्त्रण करने मे सफल होती है।

राज्य के आर्थिक जीवन मे सक्रिय भाग लेने के सम्भाव्य ससाधन

(Potentials of State's Active Role in Economic Life)

सरकार निम्न समाव्य रूपो मे राज्य के आर्थिक जीवन मे सक्रिय भाग ले सकती है—

1 सरकार उपभोक्ता तथा बचतकर्त्ता के रूप मे—अर्द्ध विकसित और विकासशील राष्ट्रो मे विकास कार्यो मे सरकार का सक्रिय कार्य एक उपभोक्ता और बचतकर्त्ता के रूप मे प्रारम्भ होता है। सरकार एक बचतकर्त्ता के रूप मे इसलिए कार्य करती है क्योकि उसे इसका निर्णय लेना होता है कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय के कितने भाग की बचत करना जरूरी है ताकि विकास के लिए पर्याप्त विनियोग राशि उपलब्ध हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार विभिन्न प्रकार की राजकोषीय तथा मौद्रिक नीति अपनाती है परन्तु सरकार द्वारा प्राप्त राशि इस पर निर्भर करती है कि वह जनता को कर देने के लिए कहाँ तक प्रभावित करने मे सफल हो सकती है। उपभोक्ता के रूप मे भी सरकार कार्य करती है क्योकि बचत का सम्बन्ध उपभोग से है। सरकार द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि किसी वस्तु का कितना उपभोग किया जाए और किसका उपभोग बढाया जाए अथवा घटाया जाए। इसी के अनुकूल सरकार को अपनी कर नीति का निर्धारण करना पडता है। स्पष्ट है कि सरकार इन दोनो रूपो मे अर्थात् उपभोक्ता तथा बचतकर्त्ता के रूप में विकास को महत्त्वपूर्ण ढग से प्रभावित कर सकती है और सरकार की ये तीनो स्थितियाँ सहायक ससाधनो के रूप मे काम करके उसे सक्रिय बनाने मे योगदान दे सकती है।

2 सुरक्षाकर्त्ता एव उत्पादक के रूप मे –सरकार ऋणो की गारण्टी देने विभिन्न क्रियाओं को आरोपित कर गृह निर्माण के लिए ऋण देने फसलो का बीमा करने विदेशी विनियोगो को गारन्टी देने आदि का कार्य करती है और इन रूपो मे वह एक प्रकार से सुरक्षा इकाई का काम करती है। उत्पादक के रूप मे भी सरकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस रूप मे वह विभिन्न प्रकार के उद्योगो का स्वय सचालन करती है और जिन उद्योगो का सचालन नहीं करती उन्हे निजी क्षेत्र को सौप देती है (जहाँ पर मिश्रित अर्थव्यवस्था है) और उन उद्योगो के विकास मे उचित सहयोग प्रदान करती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के आर्थिक क्षेत्र मे सरकार का निश्चित योगदान रहता है और वह विभिन्न उद्योगो तथा ससाधनो का सचालन करती है। अभिप्राय यह है कि लगभग सभी देशो मे राज्य सुरक्षा इकाई और उत्पादक के रूप मे कार्य करता है। आर्थिक विकास के सन्दर्भ मे दोनो रूपो मे स्थान होने के कारण राज्य सक्रिय भाग लेता है।

3 ससाधन धारक एव नव प्रवर्तक –सरकार इन दोनो रूपो मे प्रभावशाली ढग से सक्रिय रहती है। ऐसे साधन जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं सरकार अर्थात् राज्य के अधिकार मे रहते है। उदाहरण के लिए—खनिज शक्ति जल आदि ससाधनो को लिया जा सकता है जिनका सचालन राज्य स्वय करता है अथवा जिनके लिए वह निजी व्यक्तियो को लाइसेस देता है। इस तरह राज्य या सरकार का स्थान ससाधन धारक (Resource owner) के रूप मे होता है। इतना ही नहीं राज्य विभिन्न प्रकार की प्रायोजनाओं के प्रवर्तक (Innovator) के रूप मे महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। उदाहरण के लिए अमेरिका मे टैनेसी घाटी योजना जैसी योजनाओं का प्रवर्तक राज्य ही है। प्रश्न उठता है कि सरकार को इनका सचालन स्वय करना चाहिए अथवा यह दायित्व निजी व्यक्तियो पर छोड देना चाहिए ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि यह निर्णय देश की परिस्थितियो पर निर्भर करता है। स्थिति जो भी रहे यह अवश्य है कि राज्य की स्थिति एक महत्त्वपूर्ण सम्भाव्य साधन के रूप मे कार्य करती है।

विभिन्न ससाधनो का सचालन राज्य स्वय कर सकता है और निजी व्यक्ति को भी दे सकता है किन्तु अनेक देशो का आर्थिक इतिहास यही प्रकट करता है कि जब इन सभी साधनो को निजी व्यक्तियों के ऊपर छोड दिया जाता है तो यह स्थिति विकास मे साधक न होकर बाधक होने लगती है। यही कारण कि अन्ततोगत्वा राज्य को इन ससाधनो अथवा कार्यों को अपने हाथ मे लेने के लिए बाध्य होना पडा है। समाजवादी राज्यो मे तो यह ससाधन पूर्णत राज्य द्वारा सचालित किए जाते है किन्तु प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के हाथ मे ये ससाधन तुलनात्मक दृष्टि से कम होते है। इन सब के अतिरिक्त विकास प्रणाली सास्कृतिक स्थिति और सामाजिक स्थिति पर भी ससाधनो के ऊपर अधिकार की बात निर्भर करती है।

सरकार का कोई भी रूप हो वह दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक तभी कार्य कर सकती है जबकि वह कुछ आवश्यक बाते ध्यान मे रखे। सक्षेप मे हम कह सकते है कि सरकार के लिए दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए आवश्यक है कि—

1 देश की सास्कृतिक मानवीय और तकनीकी तैयारियो को ध्यान मे रखते हुए विकास कार्य हाथ मे लिये जाएँ। प्रारम्भिक अवस्था मे विकास कार्य बहुत अधिक और सनसनी पैदा करने वाले न हो। यह उपयोगी है कि शनै-शनै अनुभव के आधार पर कार्यक्रमो को आगे बढाया जाए और नए कार्यक्रम हाथ मे लिए जाएँ। विकास कार्यों की अन्तिम सफलता जनता के त्याग और सहयोग पर निर्भर करती है अत यह आवश्यक है कि विकास कार्यों की प्रारम्भिक अवस्था मे ही जनता से बहुत अधिक धन न लिया जाए।

2 देश मे राजनीतिक वातावरण को विकास कार्यों के अनुकूल ढाला जाना भी विकास के वातावरण को निर्मित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। राजनीतिक परिस्थितियो को इस तरह अनुकूल बनाया जाए कि योजनाओं पर पुनर्विचार हो सके सुधार लाए जा सके और आवश्यकतानुसार उन्हे आगे बढाने या समाप्त करने मे सहयोग मिल सके। जनता मे विश्वास पैदा करने के लिए और विकास कार्यों के प्रति आस्था जमाने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार अपनी त्रुटियो को छिपाने का प्रयत्न न करे बल्कि त्रुटियो को दूर करने की प्रवृत्ति रखे।

3 आर्थिक विकास कार्यक्रमो के निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उपर्युक्त सस्थाओं की व्यवस्था की जाए जैसे—योजना विकास मूल्याकन समिति आदि।

4 उच्च तकनीकी योग्यता के आधार पर अधिकतम स्थानीय विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन दिया जाए और इस बात के प्रभावशाली प्रयास किए जाएँ कि देश के विभिन्न क्षेत्रो मे रहने वाले विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो पर विकास का उत्तरदायित्व पडे।

5 देश मे प्रजातान्त्रिक वातावरण को बल दिया जाए क्योकि एक आर्थिक विकास के लिए सर्वोत्तम शिक्षा प्रजातन्त्र ही है और स्वतन्त्रता की कठिनाइयो को ठीक करने के लिए अधिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है।

यदि इन सभी तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक विकास के क्षेत्र मे सरकार कार्य करे तो उसकी आर्थिक क्रियाओं की सफलता निश्चित है।

तीव्र आर्थिक विकास के लिए सरकारी प्रयास

(Government's Efforts for Rapid Economic Growth)

आर्थिक क्षेत्र मे सरकार के योगदान के सन्दर्भ मे सरकार की आर्थिक क्रियाओं और उनकी वृद्धिमान प्रकृति पर पहले ही विचार किया जा चुका है। आर्थर लेविस के अनुसार लोक सेवाओं को बनाए रखकर आर्थिक सस्थान बनाकर साधनो के उपयोग को प्रभावित करके आय के वितरण को प्रभावित करके मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके और विनियोग के स्तर को प्रभावित कर सरकार आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देती है। साथ ही सरकार आर्थिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर आर्थिक गतिरोध भी उत्पन्न कर सकती है। आर्थर लेविस के ही मतानुसार शान्ति बनाए रखने मे विफल होकर सरकार नागरिको को लूटकर एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को बढाकर विदेशी ससर्ग के मार्ग मे रोडे अटकाकर लोक सेवाओं की अवहेलना कर अत्यधिक स्वतन्त्रता की नीति अपनाकर अत्यधिक नियन्त्रण लगाकर अत्यधिक धन खर्च करके और खर्चीले युद्ध आरम्भ करके आर्थिक गतिरोध उत्पन्न कर सकती है। ये सरकार के वे कार्य है जो देश के आर्थिक विकास मे बाधक होते है। अत स्पष्ट है कि किसी उपयुक्त अवसर पर देश का नेतृत्व ठीक व्यक्तियो के हाथ मे होने पर ही देश नव-निर्माण का एक नया मोड ले सकता है। ऐसा न होने पर अथवा सरकार द्वारा अनुचित और गलत नीतियाँ अपनाए जाने पर देश आर्थिक विकास की अपेक्षा आर्थिक पतन की ओर बढ सकता है। यह विशेष महत्त्वपूर्ण है कि सरकार आर्थिक विकास की वृद्धि के लिए किन उपायो का आश्रय लेती है।

सरकार आर्थिक विकास को आगे बढाने और समाज के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने के लिए जो उपाय करती है उन्हे दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है—(क) प्रत्यक्ष उपाय तथा (ख) अप्रत्यक्ष उपाय।

(क) प्रत्यक्ष उपाय

तीव्र आर्थिक विकास के लिए सरकार निम्न प्रत्यक्ष उपाय अपना सकती है—

1. आर्थिक एवं सामाजिक ऊपरी सेवाओं की व्यवस्था (Provision of Economic and Social Overhead Facilities)—किसी भी देश के तीव्र आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से आर्थिक एवं सामाजिक ऊपरी पूँजी तथा सेवाएँ अनिवार्य है। आर्थिक ऊपरी पूँजी का तात्पर्य परिवहन, सचार-साधन, शक्ति सिंचाई, भूमि प्राप्ति आदि मे विनियोग से है। जबकि सामाजिक ऊपरी पूँजी के विस्तार का अर्थ शिक्षा स्वास्थ्य, गृह निर्माण और अन्य कल्याणकारी कार्यों पर व्यय करना है। इन दोनो ही प्रकार की सुविधाओं के मिलने से अन्य उद्योगो को बाह्य मितव्ययताएँ प्राप्त होती है और इस तरह उनकी पूँजीगत विनियोग की आवश्यकता में कमी आती है। इससे साधारण विनियोग की स्थिति अच्छी होती है। इससे विकास-दर मे तीव्रता आती है। आज सभी विकासशील देशो मे ये ऊपरी सुविधाएँ आवश्यकता अनुसार उपलब्ध नहीं है। चूँकि निजी साहसी न तो सुविधाओं के अभाव मे विकास का काम कर सकते है और न इन्हें निर्मित ही कर सकते है। ऐसी स्थिति मे इन विकासशील देशो की सरकारो को यह कार्य करना पड रहा है। विकासशील देशो की सरकारो मे उपरोक्त कमी को पूरा करने के लिए वृहत् विनियोग कार्यक्रम प्रारम्भ किये गए है। भारत म्यामार (बर्मा) श्रीलका फिलीपाइन्स थाइलैड आदि के विनियोगो को देखने से ज्ञात होता है कि इन देशो के विकास के प्रारम्भिक काल मे कुल विनियोगो का आधे से अधिक धन इन्हीं दो मदो पर व्यय किया गया है। सयुक्त राष्ट्र की विशेषज्ञो की समिति की मान्यता है कि विकासशील देशो मे मानवीय विनियोग भौतिक विनियोग से अधिक फलदायक होता है फलत उत्पादकता में तीव्र गति से वृद्धि होती है।

2. संस्थागत और सगठनात्मक परिवर्तनो का लाना (Bringing out Institutional and Organisational Changes)—आर्थिक विकास को गति देने की दृष्टि से सरकार द्वारा किये जाने वाले सस्थागत और सगठनात्मक परिवर्तन विशेष महत्वपूर्ण हैं। सरकार भूमि-सुधार उत्तराधिकार तथा भू-स्वामित्व के नियमो मे सुधार कर सस्थागत परिवर्तन कर सकती है और इन सुधारो के माध्यम से कृषकों की स्थिति में परिवर्तन कर सकती है परन्तु इन परिवर्तनो को वास्तव मे लाने के लिए सरकार को विशेषत. विकासशील देशो में निवासियो के व्यवहार और उनके सामाजिक दृष्टिकोणो मे व्यापक परिवर्तन लाना होता है। सस्थागत परिवर्तन के क्षेत्र मे सरकार प्रतियोगिता का नियमन करती है और एकाधिकार की व्यवस्था समाप्त करके उपभोक्ताओं और उद्योगो की स्थिति के आधारभूत ढाँचे मे परिवर्तन करती है। ग्रामीण क्षेत्रो में नेतृत्व की जागृति लाने की व्यवस्था सरकार पचायतो और समकक्ष सस्थाओं का विकास करके करती है। सामुदायिक विकास योजनाओं सहकारी समितियो और अन्य इसी प्रकार के कार्यक्रमो द्वारा विकासशील देशों के ग्रामीण व्यक्तियो मे सरकार द्वारा सुधार लाया जाता है। सरकार का दायित्व पूँजीपतियों और श्रमिको के मध्य अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना भी है। सामाजिक और श्रम सम्बन्धी कानूनो द्वारा सरकार इनके पारस्परिक सघर्षों को कम कर सकती है और श्रमिको में उत्पादन बढाने तथा लागत घटाने की भावना जाग्रत कर सकती है। विभिन्न नियमो और परिस्थितियो मे सुधार लाकर राज्य द्वारा लोगो की आर्थिक स्थिति और रहन-सहन के स्तर मे सुधार लाया जा सकता है तथा पुराने परम्परागत रूढिवादी वातावरण को समाप्त किया जा सकता है।

आर्थिक विकास की गति बढाने मे सरकार बाजारो की उन्नति करके महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। विकासशील देशो के विभिन्न सस्थागत कारणो और सीमित मौद्रिक क्षेत्र के कारण बाजार का आकार सकुचित होता है। यहाँ पर सरकार सस्थागत बाधाओं को दूर कर मुख्य भूमिका अदा करती है। सरकार पूँजी बाजार की व्यवस्था करके वित्तीय क्रियाएँ बढा सकती है। विभिन्न स्तरों पर साख की सुविधा देकर लोगो की उत्पादन क्रय-शक्ति मे वृद्धि कर सकती है। क्रय-शक्ति बढाने से मूल्यो की दर उचित रहेगी जिसके फलस्वरूप औद्योगिक साधनो द्वारा विकसित बाजार के आकार को परिवर्तित किया जा सकता है। सरकार द्वारा माँग और पूर्ति का स्तर बढाया जा सकता है जहाँ एक ओर उपभोक्ताओं को साख की सुविधाएँ प्रदान कर सरकार माँग-पक्ष को प्रभावित कर सकती है वहीं दूसरी ओर न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा श्रम बाजार के पूर्ति-पक्ष को प्रभावित कर सकती है। सम्पूर्ण राष्ट्र के उपभोग स्तर मे वृद्धि करके भी उद्योगों के विकास मे और राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जाती है किन्तु यहाँ उपभोग का एक आदर्श सीमा तक बढना ही उचित है अन्यथा

अत्यधिक उपभोग वृद्धि के फलस्वरूप पहले से ही न्यून बचतो मे अत्यधिक कमी से विनियोग की गम्भीर कठिनाई उपस्थित हो सकती है। इन सबके अतिरिक्त परोक्ष रूप से भी सरकार सस्थागत परिवर्तन करके विकास में सहायता दे सकती है। वह औद्योगीकरण की उन्नति और आय तथा रोजगार के स्तर को बढाकर बाजारो के विस्तार मे मदद कर सकती है।

3 उत्पादन के साधनो की पूर्ति और गतिशीलता बढाना (Augmenting the Supply and Increasing the Mobility of the Factors of Production)—विकासशील देशो मे पूँजी के अभाव और साधनो की अगतिशीलता की समस्याएँ बहुत जटिल होती है। इन देशो मे श्रमिको की सख्या पूँजी की तुलना मे अधिक रहती है किन्तु केवल सामान्य श्रम ही अधिक पाया जाता है कुशल श्रम तो सदैव आवश्यकता से कम मात्रा मे ही उपलब्ध होता है। पूँजी और उद्यमी दक्षता की बहुत अधिक कमी रहती है। इन सब कार्यों के फलस्वरूप इन देशो का औद्योगीकरण धीमा हुआ है अथवा बडी मन्द गति से बढ पा रहा है। साहस का अभाव तो इन देशो की एक बहुत बडी बाधा है।

स्पष्ट है कि विकासशील देशो मे आर्थिक क्षेत्र मे बहुत कुछ परिवर्तन सम्भव है। उद्यमशीलता की कमी हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है कि इन देशो मे विनियोग के अवसर बहुत है जिनका उपयोग नहीं हुआ है और सरकार आवश्यक पर्यावरण तथा उद्यमशीलता के विकास के लिए पूर्व आवश्यकताओं को उत्पन्न करने की दिशा मे बहुत कुछ नही कर सकी है। साधनो मे गतिशीलता और साहस का निर्माण प्रबन्ध और शिक्षा के प्रचार व प्रसार द्वारा लाया जा सकता है। श्रमिको की कुशलता मे वृद्धि प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से प्राप्त हो सकती है। विशाल पैमाने पर सरकारी उद्यम द्वारा उद्यमीय दक्षता के विकास के अवसर उपलब्ध कराए जा सकते है। इसके अतिरिक्त छोटे उद्योगो की स्थापना के लिए सरकार पूजीगत सेवाएँ स्वय उपलब्ध करवा सकती है। यदि आवश्यक हो तो विकास के प्रारम्भिक चरणो मे सरकार विदेशी उद्यमियो की सेवाओं को भी प्राप्त कर सकती है। पूजी और वित्तीय साधनो की कमी को विदेशी पूँजी के आयात तथा घरेलू पूँजी के कारगर उपयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। सरकार साधनो के उचित विदोहन के लिए वित्तीय सस्थाओं और साख को विकसित कर सकती है और उनकी सख्या मे वृद्धि कर सकती है। वित्त निगमो और अधिकोषो की स्थापना से पूँजी मे गतिशीलता लाई जा सकती है। यह स्मरणीय है कि उद्यमशीलता सामाजिक चेतना तथा सामाजिक सस्थाओं आदि पर निर्भर करती है। यद्यपि इनके विकास में काफी समय लगता है लेकिन यह भी सच है कि एक बार विकास की गति प्रारम्भ हो जाने पर उद्यमशीलता की पूर्ति बढती ही जाती है।

4 औद्योगीकरण मे प्रत्यक्ष भाग लेना (Direct Participation in Industrialisation)—कुछ विकासशील देशो मे राज्य ने आधारभूत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण द्वारा औद्योगीकरण मे प्रत्यक्ष भाग लिया है। इसके अतिरिक्त सरकार ने नवीन उद्योगो की स्थापना मे भी पहल की है। इस पहल और प्रत्यक्ष भाग लेने का मुख्य ध्येय यह रहा है कि देश मे एकाधिकारी प्रवृत्तियो पर अकुश लगाया जाए और धन को कुछ हाथो मे केन्द्रीभूत होने से रोका जाए। भारत जैसे कुछ देशो मे सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार हुआ है किन्तु अब निजीकरण की प्रवृत्ति प्रबल है जबकि अनेक अन्य देशो मे सरकार उद्योगो को प्रारम्भ करती है और उन्हे पर्याप्त रूप से सक्रिय करने के बाद निजी क्षेत्र को सौप देती है। कुछ ऐसे देश भी है जहाँ निजी क्षेत्र का काफी महत्त्व है। कुछ ऐसे भी देश है जहा निजी क्षेत्र को समाज विरोधी समझा जाता है। अनेक देश इन दोनो ही चरम विचारो के मध्य है। फिलिपाइन्स चिली मेक्सिको आदि देशो मे सरकारे औद्योगीकरण मे प्रत्यक्ष भाग नही लेती वरन् वित्तीय और तकनीकी सहायता देना ही उपयुक्त समझती है। इसके विपरीत अन्य कई देशो मे विकास के प्रारम्भिक चरणो मे निजी क्षेत्र का मार्गदर्शन करने के लिए औद्योगीकरण हेतु कदम उठाए गए है। इसमे मुख्य तथ्य यह है कि औद्योगीकरण की गति बढ जाने पर उद्योगो को पुन निजी क्षेत्र के सुपुर्द किया जा सकता है। जर्मनी आस्ट्रेलिया स्विटजरलैण्ड कनाडा जापान आदि का औद्योगीकरण इसकी पुष्टि करता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल सरकार के द्वारा पहल करना ही औद्योगीकरण के लिए पर्याप्त नहीं होता। देश के निवासियो का चरित्र और चातुर्य भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। टर्की का औद्योगीकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अत सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण की सफलता सम्पूर्ण देश की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियो तथा उपलब्ध मानवीय साधनो के गुणों पर निर्भर

करती है। यद्यपि औद्योगीकरण की सुदृढ नींव डालने के लिए सरकारी पहल आवश्यक है वही दूसरी ओर जब तक यह नीव पर्याप्त रूप से सुदृढ न हो जाए तब तक सरकारी आश्रय भी निहायत जरूरी है।

(ख) परोक्ष उपाय

तीव्र आर्थिक विकास के लिए उपर्युक्त प्रत्यक्ष उपायो के अलावा सरकार निम्न परोक्ष उपाय भी काम मे लेती है—

1. मौद्रिक नीति (Monetary Policy)—मौद्रिक नीति का अर्थ अर्थव्यवस्था मे वाछनीय परिवर्तन लाने की दृष्टि से मुद्रा और साख की मात्रा मे परिवर्तन करना है। नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रम में मौद्रिक नीति विशेष भूमिका अदा करती है अत सरकार को इस प्रकार की मौद्रिक नीति अपनानी चाहिए जिससे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्रो का निर्माण हो सके आवश्यक वित्त उपलब्ध हो सके अधिक मुद्रा प्रसार न हो और धनात्मक भुगतान सन्तुलन बनाए रखने में सहायक हो तथा मौद्रिक नीति देश की आवश्यकतानुसार साख सृजन कर सके। आर्थिक क्रियाओं के सामान्य स्तर को नियमित करने के लिए बैक दर नीति और खुले बाजार की क्रियाएँ आदि की अपेक्षा व्यापारिक बैको के सुरक्षित कोष सम्बन्धी नीति और चयनात्मक साख-नियन्त्रण पद्धतियाँ आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। भारत मे रिजर्व बैंक मुद्रा और साख के नियन्त्रण के लिए उपयुक्त नीतियो को अपनाता है।

2 मूल्य नीति (Price Policy)—आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरणो मे परिवहन सिचाई भारी उद्योग आदि आधारिक सरचना (Infra structure) के तत्त्व के विकास पर तथा पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन पर भारी व्यय करना पडता है। इनसे उत्पादन मे वृद्धि देर से होती है क्योकि इनकी परिपक्व होने की अवधि लम्बी होती है किन्तु इन परियोजनाओं पर बडी मात्रा मे व्यय से लोगो की आमदनियाँ बढ जाती है जिससे वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढ जाती है। इन सब कारणो से मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है जिसके कारण मजदूरी कच्चे माल आदि की कीमते भी बढने लगती है। इससे विकास योजनाओ की लागते भी बढ जाती है और सामान्य जनता को कठिनाइयो का सामना करने के साथ-साथ विकास के मार्ग मे भी बाधाएँ उपस्थित होती है। यद्यपि विकास के लिए मूल्यो के ऊँचे होने की प्रवृत्ति वाछनीय और अनिवार्य मानी जाती है किन्तु एक सीमा के पश्चात् इनमे कमी या वृद्धि विकास के लिए घातक बन जाती है। अत सरकार को उचित मूल्य नीति अपनानी चाहिए जिसका उद्देश्य समाज के सभी वर्गों को उचित मूल्य पर उपभोक्ता सामग्री उपलब्ध कराना उत्पादन विशेषज्ञता और कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए कृषको को प्रेरणास्पद मूल्य दिलवाना और निर्दिष्ट दिशाओं मे साधनो को प्रवाहित करना होना चाहिए।

3. राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—विकासशील राष्ट्रो मे राष्ट्रीय आय बहुत कम होती है अत ऐसे देशो के स्थायी विकास के लिए विस्तृत और कारगर वित्तीय नीति का उपयोग महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्बन्ध मे सरकार की आय सम्बन्धी नीति अथवा राजकोषीय नीति कई प्रकार से सहायता कर सकती है—

(क) ऐसी कर प्रणाली लागू की जाए जो देश मे उपलब्ध सभी न्यून साधनो को बचाकर विनियोग में लगा सके।

(ख) सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋण को अधिकाशत निर्माण की दिशा मे लगाया जाए। औद्योगिक और सामाजिक महत्त्व के उद्योगो का विकास सरकार स्वय करे। स्प्रैगलर का भी यही मत है कि सरकार बहुत-से कार्य स्वय करके साहसियो की कमी को पूरा कर सकती है।

(ग) विभिन्न तरीको से सरकार व्यक्तिगत विनियोगो को प्रोत्साहित करे जैसे—व्यक्तिगत उद्योगो से कर हटा ले या कम कर दे उनको आर्थिक सहायता प्रदान करे यातायात के साधनो का विकास करे आदि। राज्य द्वारा इन समस्त उपायो को काम मे लाने से देश की आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे राष्ट्रीय आय और समृद्धि मे वृद्धि होगी।

(घ) विकासशील देश के सुप्त और अविकसित साधनो का विदोहन करके देश का आर्थिक विकास करने के लिए प्राय घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लिया जाता है जिसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कीमते बढ जाती हैं अर्थात् मुद्रास्फीतिजनक परिणाम उत्पन्न हो जाते है। राजकोषीय नीति का प्रयोग करके सरकार प्रभावपूर्ण माँग मे कमी लाकर मुद्रा-प्रसार की गति को रोक सकती है। यद्यपि यह एक कठिन कार्य है किन्तु अग्रलिखित उपायों से सफल हो सकती है—

(क) लोगों की क्रय-शक्ति का एक भाग अनिवार्य बचत और सार्वजनिक ऋण रीतियो के द्वारा कम करके।

(ख) विशेष प्रकार के मुद्रा-स्फीति विरोधी कर जैसे—अधि-लाभ कर वस्तु-कर विलासिता की वस्तु पर कर आदि लागू करके।

(ग) पूँजीगत कर नकदी-शेष (Cash Balance) एव तरल सम्पतियो पर कर लगा कर।

(घ) ऐच्छिक बचतों पर अधिक जोर देकर और एक निश्चित सीमा के ऊपर की क्रय-शक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न करे।

(ङ) मुद्रा-स्फीति विरोधी कर-नीति अपनाकर।

वास्तव में आर्थिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों मे उत्पादन और निवेश पश्चात्-सम्बन्ध (Leg relation) होने के कारण मुद्रा-स्फीति की समस्या बडी गम्भीर होती है और ऐसी स्थिति मे राजकोषीय नीति स्वय मुद्रा-स्फीति को रोकने में उस समय तक आशिक रूप मे ही सफल होगी जब तक कि उसके पूरक तत्त्वो के रूप में मौद्रिक बचत और उत्पादन के उपाय न अपनाए जाएँ। स्पष्ट है कि सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा साधनो के वितरण आय के वितरण पूँजी-सचय और मुद्रा स्फीति को प्रभावित करती है।

4 विदेशी व्यापार नीति (Foreign Trade Policy)—आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए विदेशो से बडी मात्रा मे मशीने औजार कच्चा माल विभिन्न पूँजीगत सामान और तकनीकी विशेषज्ञो का आयात करना पडता है। यह तभी सम्भव है जबकि एक देश के पास पर्याप्त मात्रा मे विदेशी विनिमय हो, अत सरकार को अपनी विदेशी-व्यापार नीतियों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि जिससे निर्यातों मे वृद्धि और अनावश्यक आयातो मे कमी हो और व्यापार-सन्तुलन मे आधिक्य प्राप्त करके पर्याप्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध की जा सके किंतु आयात नियन्त्रण स्थापित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी वस्तुओं के आयात पर रोक लगे जिससे आर्थिक विकास मे बाधा पहुँचती हो। इसी प्रकार उन वस्तुओं के निर्यात को भी रोका जाना चाहिए जिनका देश में ही उपयोग करके अधिक आर्थिक प्रगति की जा सकती हो।

5. तटकर नीति (Tariff Policy)—तटकर नीति के द्वारा सरकार विदेशी वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगाकर स्वदेशी उद्योगो को सरक्षण प्रदान कर सकती है किन्तु पहले यह देख लेना चाहिए कि उस उद्योग के विकास के लिए देश मे आवश्यक परिस्थितियाँ है या नहीं। इस दिशा मे तनिक भी गलत निर्णय सम्पूर्ण आर्थिक विकास को अस्त-व्यस्त करके दिशाहीनता उत्पन्न कर सकता है।

6. कार्यशील वित्त प्रबन्धन (Working Finance Management)—राजकोषीय साधन समाज मे जिस प्रकार कार्य करते हैं उसे कार्यशील प्रबन्ध कहा जाता है। इसके प्रमुख समर्थक ए पी लर्नर की मान्यता है कि राजकोषीय नीतियो का प्रयोग देश में अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिए किया जा सकता है। सार्वजनिक वित्त अथवा राजस्व क्रियाओं की उपादेयता का निर्धारण इससे किया जाना चाहिए कि वे अर्थ-व्यवस्था मे क्या कार्य करती है ? दूसरे शब्दो मे करारोपण सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक ऋण रोजगार व आय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सन्तुलित-असन्तुलित बजट-निर्माण आदि सरकारी अस्त्रो के औचित्य या अनौचित्य का निर्माण इस आधार पर किया जाना चाहिए कि इन अस्त्रो के प्रयोग का समाज में उचित या अनुचित किस प्रकार का प्रभाव पडेगा। कार्यशील प्रबन्ध द्वारा वास्तव मे सरकार पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के चलन पर निगरानी रखने का भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। राज्य देश के आर्थिक अवरोधो के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ जब देश मे रोजगार गिर रहा हो आय स्थिर हो रही हो लाभ मे गिरावट आने लगी हो तो किसी भी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह देश की इस अव्यवस्था की स्थिति मे मूक दर्शक बनी रहेगी। इस स्थिति मे सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह राजकोषीय साधनो द्वारा स्थिति को सामान्य करने के व्यापक प्रयास करे और अर्थव्यवस्था को उत्थान के मार्ग पर डाले।

कार्यशील वित्त प्रबन्धन का उद्देश्य माँग के ऊँचे स्तर पर्याप्त पूर्ति उचित कीमतो और रोजगार व आय के ऊँचे स्तर को बनाए रखना है। कार्यशील वित्त प्रबन्धन अरूढिवादी इसीलिए कहा जाता है कि वह ऐसी नीति का समर्थन करता है जो राज्य को एकाधिक क्रियाएँ प्रदान करती है। उदाहरणार्थ लर्नर का यह दृढ मत है कि करारोपण का मुख्य उद्देश्य आय की प्राप्ति न होकर ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति होनी

चाहिए जो सामाजिक रूप से औचित्यपूर्ण हो। मादक पदार्थों जैसे—शराब अफीम गाँजा पर लगाए गए कर का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करने के स्थान पर इन वस्तुओं के उपयोग को कम करना होना चाहिए। स्वदेशी उद्योगो को बाह्य प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध सरक्षण देने के लिए आयात पर भारी आयात-कर लगाया जा सकता है। निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर कर से छूट इस दृष्टिकोण से दी जा सकती है कि जिससे देशी वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे प्रतियोगिता का सामना कर सके। यदि अर्थव्यवस्था से मुद्रा-प्रसार के कारण कीमतो मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है तो उपभोक्ताओ पर भारी कर लगाकर मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव को कम किया जा सकता है। विकासशील राष्ट्रो मे करारोपण के द्वारा चालू उपभोग को कम करके बचत मे वृद्धि की जा सकती है ताकि पूँजी निर्माण के लिए अधिक से अधिक राशि प्राप्त हो सके। प्रगतिशील करो द्वारा आय और धन के वितरण की विषमताओं को भी कम किया जा सकता है। करारोपण का मुख्य उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना ही नहीं है बल्कि इससे कई प्रकार के सामाजिक उद्देश्यो की प्राप्ति की जाती है। सार्वजनिक व्यय का प्रमुख उद्देश्य केवल आन्तरिक शांति व सुरक्षा बनाए रखना और देश की बाह्य आक्रमणो से रक्षा करना ही नहीं है बल्कि विकसित अर्थव्यवस्था मे व्यापार-चक्रो को सार्वजनिक आय मे परिवर्तित करके रोका जा सकता है। वस्तुत सार्वजनिक आय वह यन्त्र है जिसका प्रयोग व्यावसायिक क्रिया कलापों मे रहने वाले उतार-चढाव को रोकने के लिए किया जा सकता है। प्रगतिशील सार्वजनिक आय से धन के वितरण की विषमता को कम किया जा सकता है बल्कि विकसित अर्थव्यवस्था मे व्यापार-चक्रो को सार्वजनिक आय मे परिवर्तित करके रोका जा सकता है। वस्तुत सार्वजनिक आय का दीर्घकालीन उद्देश्य देश मे पूर्ण रोजगार की अवस्थाओं को पैदा करना होता है। इसी तरह सार्वजनिक ऋण का उद्देश्य भी आर्थिक विकास करना होता है। जब तक सार्वजनिक ऋण का उपभोग उत्पादन कार्यों मे होता है तब तक इन ऋणो की व्यापक मात्रा भी चिन्ता का विषय नहीं है।

स्पष्ट है कि राजकोषीय नीति देश मे स्थायी आर्थिक विकास की अवस्थाओ को उत्पन्न करने और इसको निरन्तर गति देने के लिए महत्वपूर्ण यन्त्र है। रूढिवादी विचारको की प्रतिक्रियाओ के बावजूद आज सभी देशों मे कार्यशील वित्त-प्रबन्धन एक स्थायी स्थान ग्रहण कर चुका है।

अनुकूलतम/इष्टतम बजट-व्यवस्था
(Optimal Budgeting System)

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे बजट नीति का मुख्य उद्देश्य आवटन वितरण व स्थिरीकरण शाखाओ मे समुचित समायोजन करना होता है। आवटन शाखा के अन्तर्गत बजट नीति का यह उद्देश्य रहता है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे साधनो का इस प्रकार आवटन किया जाए कि कुल आर्थिक कल्याण अधिकतम हो सके। वितरण शाखा के अन्तर्गत बजट नीति का उद्देश्य यह रहता है कि आय का वितरण इस प्रकार किया जाये कि अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। स्थिरीकरण शाखा के अन्तर्गत बजट नीति का उद्देश्य यह रहता है कि अर्थव्यवस्था मे उच्चावचनों पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिए माँग का ऐसा स्तर निरन्तर बनाए रखा जाए कि पूर्ण रोजगार की स्थिति रहे। इस प्रकार बजट नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति इन तीनो शाखाओं के बजट मे उपयुक्त समायोजन द्वारा की जाती है। तीनों शाखाओं के बजट तैयार हो जाने के पश्चात् उन्हे सकलित (Consolidated) कर लिया जाता है तथा अर्थव्यवस्था के लिए आय-व्यय कार्यक्रम निर्धारित कर लिया जाता है।

जैसा कि हम जानते है कि सार्वजनिक वित्त यथार्थ विज्ञान होने के साथ-साथ आदर्श विज्ञान भी है तथा आधुनिक समय मे इसका आदर्श पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। सार्वजनिक वित्त के प्रति एक आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने पर इष्टतम बजट के सिद्धान्त स्वत ही महत्वपूर्ण बन जाते है। वास्तव मे इष्टतम बजट-व्यवस्था द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि वास्तविक बजट इष्टतम (Optimal) बन सके। समस्त आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करना होता है। राज्य आर्थिक कल्याण मे वृद्धि के लिए जिन आर्थिक क्रियाओ को सम्पन्न करता है वे बजट व्यवस्था की आवटन वितरण व स्थिरीकरण शाखाओ के अन्तर्गत आती है। प्रत्येक शाखा का अपना आय-व्यय कार्यक्रम होता है। इन शाखाओं के आय-व्यय कार्यक्रम को एकीकृत कर यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य को कितनी आय प्राप्त करनी है व कितनी आय व्यय करनी है।

आधुनिक समय मे इष्टतम बजट की सकल्पना करदान क्षमता की सकल्पना के विकल्प के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। करदान क्षमता के विचार के अनुसार निश्चित सीमा के बाद करो का कार्य करने बचत करने व जोखिम उठाने पर विपरीत प्रभाव पडता है। इष्टतम बजट का विचार करदान क्षमता तक ही सीमित नही है वरन् यह बजट की सारी क्रियाओ की जॉच करता है। करदान क्षमता के अन्तर्गत केवल बजट के एक पक्ष करदान तक ही समस्या सीमित रहती है जबकि व्यय पक्ष को पूर्णतया उपेक्षित रखा जाता है। इस प्रकार करदान क्षमता का विचार पक्षपातपूर्ण है। मसग्रेव के मतानुसार करदान क्षमता शब्द ही अपने आप मे पक्षपातपूर्ण है। प्रारम्भ से यह समस्या को बजट के कर-पक्ष तक ही सीमित रखता है तथा व्यय-पक्ष को उपेक्षित रखता है। साथ ही यह क्षमता पर ध्यान केन्द्रित रख कर सार्वजनिक व्यय की अधिकतम सीमा प्रस्तावित करता है जो निजी क्षेत्र वहन कर सके जबकि यह उस न्यूनतम सीमा की अवहेलना करता है जिसके बिना निजी क्षेत्र का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है।

करदान क्षमता के अन्तर्गत निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र मूलत प्रतिस्पर्द्धी होते है। यह माना जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का तात्पर्य निजी क्षेत्र मे कमी से है किन्तु इष्टतम बजट व्यवस्था के अन्तर्गत दोनो क्षेत्रो को पूरक रूप मे स्वीकार किया गया है। आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत करदान क्षमता के विचार के स्थान पर इष्टतम बजट-व्यवस्था को अधिक उपयुक्त माना गया है। इष्टतम बजट-व्यवस्था का विचार करदान क्षमता के विचार से निम्न कारणो से श्रेष्ठ माना जाता है—

(अ) इष्टतम बजट-व्यवस्था बजट के आय-व्यय दोनो पक्षो का अध्ययन करती है जबकि करदान क्षमता केवल एक ही पक्ष अर्थात् कर-पक्ष का ही अध्ययन करती है अत इष्टतम बजट-व्यवस्था करदान क्षमता से श्रेष्ठ है।

(ब) इष्टतम बजट-व्यवस्था निजी व सार्वजनिक क्षेत्र को एक-दूसरे से पूरक के रूप मे स्वीकार करती है जबकि करदान क्षमता इन्हे प्रतिस्पर्द्धा मानती है।

इष्टतम बजट का निर्माण
(Formulation of Optimal Budget)

सरकार के आय-व्यय का कार्यक्रम बजट कहलाता है। इष्टतम बजट कुछ आदर्श स्थापित करता है जिसके आधार पर वास्तविक बजट मे सशोधन किए जा सकते है। किसी भी बजट के निम्नलिखित तीन उद्देश्य होते है—

(अ) साधनो का आवटन (Allocation of Resources)—साधनो का विभिन्न उत्पादन क्षेत्रो मे इस प्रकार आवटन किया जाए जिससे कि कुल आर्थिक कल्याण अधिकतम प्राप्त हो सके।

(ब) राष्ट्रीय आय का वितरण (Distribution of National Income)—राष्ट्रीय आय का वितरण इस तरह से किया जाए कि उससे समाज को प्राप्त होने वाली कुल सन्तुष्टि अधिकतम की जा सके।

(स) स्थिरीकरण (Stabilization)—स्थिरीकरण के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न होने वाले उच्चावचनो से बचने के लिए प्रभावपूर्ण मॉग एव राष्ट्रीय आय की मात्रा के उस स्तर को निरन्तर बनाए रखा जाता है जिससे पूर्ण रोजगार की अवस्था बनी रहे।

ये तीनो उद्देश्य बजट की तीनो शाखाओं अर्थात् आवटन शाखा वितरण शाखा एव स्थिरीकरण शाखा द्वारा प्राप्त किये जाते है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक प्रणाली पर आधारित सरकारो के समक्ष इन तीनो ही शाखाओ के उद्देश्य एक साथ प्राप्त करना आवश्यक होता है। यहॉ पर तीनो शाखाओ के कार्यों का अलग-अलग वर्णन निम्नानुसार है—

(i) आवटन शाखा मे बजट (Budget in Allocation Branch)—बजट की आवटन शाखा की मुख्य समस्या यह है कि सामाजिक वस्तुएं जिनका कोई बाजार नही होता है के लिए कितने साधन आवटित किए जाएँ। ये वस्तुएँ है—सुरक्षा बाढ नियन्त्रण राष्ट्रीय राज-मार्ग आदि। करारोपण के क्या सिद्धान्त होने चाहिए जिससे सामाजिक वस्तुओ की लागत उचित ढग से व्यक्तियो मे बॅट जाए। सामाजिक वस्तुओ के लिए सर्वोत्तम ढग से साधन आवटन एव व्यक्तियो के कर हिस्सो के वितरण के लिए सरकार को सामाजिक वस्तुओ के प्रति उपभोक्ताओ की सही रुचियॉ जाननी चाहिए। सामाजिक वस्तुओ के लिए उपभोक्ताओ की सही पसन्द जानना आसान बात नही है।

यदि सामाजिक वस्तुओ की सही पसन्द निर्धारित नहीं होती है तब किए गए प्रयत्नों की सफलता सीमित ही रह जाती है अर्थात् यह आवश्यक नही होता है कि समुदाय को प्राप्त होने वाला आर्थिक कल्याण अधिकतम हो। अधिमान का निर्धारण न होने पर सरकारी व्यय तथा करारोपण मे भी लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपालन सही ढग से लागू नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार करारोपण के समान त्याग सिद्धान्त की सफलता भी सीमित ही रहेगी तथा सीमान्त सामाजिक लाभ एव सीमान्त सामाजिक लागत का सिद्धान्त सही अधिमान के निर्धारण के अभाव में पूर्णरूप मे लागू नहीं हो सकेगा क्योकि करारोपण के लाभ का सिद्धान्त समान त्याग या भुगतान की योग्यता सिद्धान्त एव सीमान्त सामाजिक लाभ और सीमान्त सामाजिक लागत का सिद्धान्त सही पसन्द अर्थात् अधिमानो (Preferences) के अभाव में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाते है।

प्रो मसग्रेव ने सामाजिक वस्तुओ के प्रति उपभोक्ताओं की पसन्द जानने के लिए राजनीतिक मतदान क्रिया (Politucal Process of Voting) को सही तरीका माना है। मसग्रेव का मत है कि मतदान क्रिया के आधार पर सामाजिक वस्तुओ के प्रति उपभोक्ताओ की पसन्द को नही जाना जा सकता है। प्रो ऐरो (Arrow) का मत है कि मतदान से भी सही पसन्द को नहीं जाना जा सकता है। यदि उपभोक्ता की पसन्द का नमूना बहु-बिन्दु (Multiple Peaked) है तो सही पसन्दो को निकालना सम्भव है। माना कि तीन व्यक्तियो A B व C के समुदाय के तीन विकल्प है—बडा बजट (I) मध्यम बजट (II) तथा छोटा बजट (III) और उपभोक्ताओं की पसन्द का नमूना निम्नानुसार है—

A की पसन्द का नमूना I > II > III

B की पसन्द का नमूना II > III > I

C की पसन्द का नमूना III > I > II

(यहाँ पर चिन्ह > अच्छी अवस्था को प्रकट करता है।)

इस प्रकार A की पसन्द के अनुसार सबसे अच्छा बजट छोटा बजट होता है B की पसन्द के अनुसार सबसे अच्छा बजट बडा बजट होता है तथा C की पसन्द के अनुसार सबसे अच्छा बजट मध्यम बजट होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपभोक्ताओ की पसन्द एक जैसी नही है अत सरकार को यह ज्ञात नही हो सकता है कि समाज बडा बजट मध्यम बजट अथवा छोटे बजट मे से किसको पसन्द करता है परन्तु प्रो मसग्रेव का मत है कि मतदान के द्वारा यद्यपि सही पसन्द प्राप्त नही होती है किन्तु यह अनुमान तो अवश्य ही लगाया जा सकता है कि सामान्यत समाज की धारणा क्या है? मसग्रेव दो प्रकार के मतदान की व्याख्या करता है—(i) Majority based voting (ii) Plurality based voting इनमे से Plurality based voting उत्तम है क्योकि इस प्रक्रिया मे विभिन्न विकल्पो को ranking दी जाती है।

आवटन शाखा मे बजट का निर्धारण ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार कि पूर्ण प्रतियोगिता मे निजी उत्पादक अपने सर्वोत्तम उत्पादन का निर्धारण करते है। सरकार द्वारा सामाजिक वस्तुओ को उस मात्रा तक प्रदान करना चाहिए जहाँ पर कि व्यक्तियो की सामाजिक वस्तुओ के लिए समग्र माँग की पूर्ति बराबर हो जाए। इसी प्रकार आवटन शाखा के बजट मे व्यक्तियो की करदेयता का भी निर्धारण हो जाता है जो व्यक्ति सामाजिक वस्तुओ के लिए अधिक पसन्द देता है उसकी करदेयता भी अधिक होती है। जो कम पसन्द देता है उसकी करदेयता भी कम होती है। इस प्रकार आवटन शाखा के बजट मे समाज को अधिक से अधिक आर्थिक कल्याण पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ii) **वितरण शाखा मे बजट** (Budget in Distribution Branch)—बजट की वितरण शाखा का मुख्य कार्य सरकारी आय-व्यय कार्यक्रम को इस प्रकार से समायोजित करना है कि आर्थिक कल्याण का आदर्श वितरण सम्भव हो सके। यहा पर आर्थिक कल्याण के आदर्श वितरण से तात्पर्य मनुष्यो के मध्य कल्याण के समान वितरण से है परन्तु समानता का अर्थ यहाँ पर भी स्पष्ट नही किया गया है क्योकि समानताएँ कई प्रकार की होती है जैसे—आय की समानता कल्याण की समानता अवसरो की समानता आदि। इन सब समानताओ के लिए एक ही प्रकार की नीति की आवश्यकता नही होती है। उदाहरण के लिए आय की समानता एव कल्याण की समानता के लिए एक बजट नीति काम आ सकती है जबकि एक दी हुई आय से सब व्यक्ति समान कल्याण प्राप्त करने की स्थिति मे हो यह कभी सम्भव नहीं हो सकता है। आय के आर्थिक कल्याण प्राप्त करने की क्षमताएँ भिन्न नही होतीं वरन् कभी-कभी

आय-व्यय प्रक्रिया भी आय की असमानताएँ उत्पन्न कर देती है अत ऐसा कोई वैज्ञानिक तरीका नहीं है जिसके आधार पर उपयोगिताओं की अन्तर-व्यक्तीय तुलना सम्भव हो सके । इसलिए कल्याण की समानता या अवसरों की समानता का प्रयत्न करना निरर्थक होगा अत वितरण शाखा में बजट-नीति का उद्देश्य आय की समानता लाना होता है ।

(iii) स्थिरीकरण शाखा में बजट (Budget in Stabilisation)—स्थिरीकरण शाखा में बजट का उद्देश्य बिना मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-सकुचन के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था को प्राप्त करना होता है । जब पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में निजी विनियोग, उपभोग एव विदेशी सन्तुलन अपर्याप्त रहते हैं तब सरकार को अपना व्यय बढाना चाहिए अथवा निजी विनियोगकर्त्ताओं को विनियोग बढाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए । एक समय के दौरान तथा एक समय पर पूर्ण रोजगार प्राप्त करने की समस्या भिन्न-भिन्न होती है । एक समय के दौरान निजी और सार्वजनिक विनियोग बढ़ा कर उत्पादन क्षमता को बढाया जा सकता है जिससे पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है । इस दौरान सार्वजनिक एव निजी विनियोग केवल बढना ही नहीं चाहिए वरन् पर्याप्त दर पर बढी हुई क्षमता को सोखना (Absorb) भी चाहिए ।

उप-बजटों का एकीकरण (Integration of Sub Budgets)—तीनों उप-बजटों को मिलाकर एक व्यापक बजट बनाया जाता है जो सरकार द्वारा बढाई गई आय और किए गए व्ययों की सूचना प्रदान करता है ।

मसग्रेव का अनुकूलतम/इष्टतम बजट मॉडल
(Musgraves's Optimal Budgeting Model)

इष्टतम बजट बनाना अत्यन्त कठिन कार्य होता है क्योंकि व्यापक बजट बनाने से पूर्व बजट को तीन उप-बजटों में विभक्त करना होता है अर्थात् आवटन शाखा वितरण शाखा तथा स्थिरीकरण शाखा में बजट का निर्माण करना होता है । इस बजट का निर्माण सर्वप्रथम प्रो मसग्रेव ने किया था । इसी कारण से इष्टतम बजट को मसग्रेव का इष्टतम बजट मॉडल भी कहते हैं । प्रो मसग्रेव ने तीनों उप-बजट के निर्माण के लिए कुछ मान्यताएँ निर्धारित कीं जो निम्नानुसार हैं—

(1) अर्थव्यवस्था में दो ही करदाता हैं ।

(2) एक ही प्रकार की सामाजिक सेवा प्रदान की जा रही है ।

आवटन शाखा वितरण शाखा व स्थिरीकरण शाखा के व्यवस्थापक अपनी-अपनी शाखा के बजटों का निर्माण उन मान्यताओं को लेकर करेंगे जो निम्नानुसार हैं—

(अ) आवटन शाखा मे बजट निर्माण—आवटन शाखा में बजट-निर्माण करते समय निम्न तथ्यों का ध्यान रखना चाहिए—

(i) समाज का निर्माण दो व्यक्तियों X तथा Y से हुआ है । आवटन शाखा में बजट सन्तुलित होना चाहिए । सरकारी व्यय की राशि और X व Y व्यक्तियों से प्राप्त कर-राशि की मात्रा बराबर होनी चाहिए ।

(ii) आवटन शाखा के बजट में X व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला कर का भुगतान X व्यक्ति की शुद्ध कमाई का परिणाम है । X व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले करों का मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि वह कितनी मात्रा में सामाजिक वस्तुओं का उपयोग करता है । यदि X व्यक्ति सामाजिक वस्तुओं से अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है तो उसकी करदेयता भी अधिक होगी ।

(iii) आवटन शाखा के बजट में व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला भुगतान Y व्यक्ति की शुद्ध कमाई पर निर्भर करेगा । Y व्यक्ति द्वारा सामाजिक वस्तुओं से अधिक उपयोगिता प्राप्त की गई है तो उसकी करदेयता भी अधिक होगी ।

(iv) बजट आवटन शाखा के द्वारा X व्यक्ति को प्रदान की गई सामाजिक वस्तुओं एव बाजार द्वारा प्रदान की गई निजी वस्तुओं की कीमतों का अनुपात वस्तुओं की लागत एव X व Y व्यक्तियों द्वारा किए गए करों के भुगतान के अनुपात पर निर्भर करता है ।

(v) बजट की आवटन शाखा के द्वारा Y व्यक्ति को प्रदान की गई सामाजिक वस्तुओं एव बाजार द्वारा प्रदान की गई निजी वस्तुओं की कीमतों का अनुपात उन वस्तुओं की लागत एव Y तथा X व्यक्तियों द्वारा किए गए कर भुगतान के अनुपातों का परिणाम या फलन है ।

(ब) वितरण शाखा मे बजट निर्माण—वितरण शाखा मे बजट का निर्माण करते हुए निम्न तथ्यो का ध्यान रखना चाहिए—

(i) X व्यक्ति की आय सरकार एव निजी उपभोक्ताओ को बेची जाने वाली वस्तुओ से प्राप्त आय का योग होती है।

(ii) Y व्यक्ति की आय पूर्ण रोजगार की अवस्था में राष्ट्रीय आय मे से X व्यक्ति की आय घटाकर जो शेष बचता है उसके बराबर होती है।

(iii) वितरण शाखा में भी बजट सन्तुलित होना चाहिए अत Y व्यक्ति द्वारा प्राप्त किये गये हस्तान्तरण भुगतान और X व्यक्ति द्वारा की गई कर भुगतान की राशि बराबर होनी चाहिये।

(iv) वितरण शाखा X व्यक्ति की आय कुल आय के उचित अनुपात मे होनी चाहिए।

(स) स्थिरीकरण शाखा मे बजट निर्माण—स्थिरीकरण शाखा में बजट का निर्माण करते समय निम्न तथ्यो का ध्यान रखना चाहिए—

(i) पूर्ण रोजगार की अवस्था मे कुल राष्ट्रीय आय (Q) उपभोग (C) विनियोग (I) तथा सरकारी व्यय (G) के बराबर होती है अर्थात—$Q = C + I + G$

(ii) कुल निजी उपभोग (C) X तथा Y व्यक्तियो द्वारा किए गए कुल उपभोग (C_x+C_y) की मात्रा के बराबर होता है।

(iii) X व्यक्ति का उपभोग उसकी आय एव सामाजिक और निजी वस्तुओ की कीमत अनुपात का फलन है।

(iv) Y व्यक्ति का उपभोग भी उसकी आय एव सामाजिक और निजी वस्तुओ की कीमत अनुपात पर निर्भर करता है।

(v) स्थिरीकरण शाखा मे X व्यक्ति द्वारा किए गए करो का भुगतान उसकी उचित करदेयता के अनुकूल होना चाहिए।

प्रो मसग्रेव ने उपरोक्त सभी मान्यताओ को निम्न समीकरणो द्वारा स्पष्ट किया है—

आर्वटन शाखा

$$G = T_{ax} = T_{ay} \quad (1)$$

$$T_{ax} = T_{ax} \left[(E_x - T_{ax} - T_{xy}) \frac{P_{ax}}{P_p}\right] \quad (2)$$

$$T_{ay} = T_{ay} \left[(E_y - T_{ay} - T_{ry}) \frac{P_{ay}}{P_p}\right] \quad (3)$$

$$\frac{P_{ax}}{P_p} = \frac{P_{ax}}{P_p} \left[U_a, U_p, \frac{T_{ay}}{Y_{ay}}\right] \quad (4)$$

$$\frac{P_{ay}}{P_p} = \frac{P_{ay}}{P_p} \left[U_a \quad U_p \quad \frac{T_{ay}}{Y_{ax}}\right] \quad (5)$$

वितरण शाखा

$$E_x = (C + I) + (m + v) - G \quad (6)$$

$$E_y = Q - E_x \quad (7)$$

$$E_x = T_{ax} = -j(E_x + E_y) \quad (8)$$

$$T_{dx} = -T_{dy} \quad (9)$$

स्थिरीकरण शाखा

$$Q = C + I + G \quad (10)$$

$$C = C_x + C_y \quad (11)$$

$$C_x = C_x \left[(E_x - T_{ax} - T_{xy}) \frac{P_{ax}}{P_I}\right] \quad (12)$$

$$C_y = C_y \left[(E_y - T_{ay} - T_{ry}), \frac{P_{ay}}{P_p}\right] \quad (13)$$

$$T_{rx} = j\,(T_{rx} + T_{ry}) \quad ..(14)$$

यहाँ पर

Q = पूर्ण रोजगार आय

I = निजी निवेश पर व्यय

U_a = आवटन शाखा मे दी जाने वाली वस्तुओ की लागत

U_p = निजी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए प्रदत्त वस्तुओ की लागत

m = X द्वारा निजी खरीददारो को बिक्री से प्राप्त आय का अश

v = X द्वारा राज्य को बिक्री से प्राप्त आय का अश

j = आय का वह अश जो X को उपयुक्त वितरण के अन्तर्गत मिलेगा

E = उत्पादन के करो की आय

C = कुल निजी उपभोग

G = वस्तुओ व सेवाओ पर आवटन शाखा का व्यय

T = कर भुगतान (+) अथवा अन्तरण भुगतान (–)

B = बजट सन्तुलन अधिशेष (+) व घाटा (–)

Pp = निजी रूप मे क्रय की गई वस्तुओ की कीमत

P_{ax} = X के लिए आवटन शाखा की वस्तुओ की कीमत

P_{ay} = Y के लिए आवटन शाखा की वस्तुओ की कीमत

a = आवटन शाखा मे

d = वितरण शाखा मे

r = स्थिरीकरण शाखा मे

X = X व्यक्ति

Y=Y व्यक्ति

n=निबल बजट (Net Budget)

इस प्रकार तीनो उप-बजटो के निर्धारण के बाद सभी करो व अन्तरणो का योग करने पर हमे निम्न तीन समीकरण प्राप्त होगे—

$$T_{px} = T_{ax} + T_{dx} + T_{rx} \quad (15)$$

$$T_{ny} = T_{ay} + T_{dy} + T_{ry} \quad (16)$$

$$T_{nx} + T_{ny} - G = B \quad (17)$$

अत. उपरोक्त तीनो समीकरणो से हमे सकलित बजट प्राप्त होगा । यहाँ पर समीकरण (15) X व्यक्ति द्वारा तीनो शाखाओ मे किए गए कर भुगतानो के योग को प्रकट करता है । समीकरण (16) Y व्यक्ति द्वारा तीनो शाखाओ मे किए गए कर भुगतानो के योग को प्रकट करता है तथा समीकरण (17) X तथा Y व्यक्तियो द्वारा किए गए कुल भुगतानो के योग को प्रकट करता है । यहाँ पर बजट (B) आधिक्य सन्तुलन अथवा घाटा तीनो ही प्रकार का हो सकता है ।

सन्तुलित बजट मे कुल कर आय और सरकारी व्यय बराबर होता है अर्थात $ET = T_{nx} + T_{ny} = G$ होता है । घाटा बजट मे सरकारी व्यय से कर आय कम होती है अर्थात् $G > ET$ होता है । आधिक्य बजट मे कर आय सरकारी व्यय से अधिक होती है अर्थात् $ET > G$ होता है । आवटन शाखा एव वितरण शाखा मे बजट हमेशा सन्तुलित रहता है । कुल बजट यदि असन्तुलित होता है तो इसका अर्थ यह है कि स्थिरीकरण शाखा के बजट मे किसी प्रकार का असन्तुलन है ।

व्यावहारिक समस्याएँ—उपरोक्त विधि से यदि इष्टतम बजट का निर्माण किया जाता है तो अग्र कुछ व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न होती है—

1 सरकार सामाजिक वस्तुएँ प्रदान करती है तो इसका यह अर्थ नही कि सरकार स्वय इन वस्तुओं का उत्पादन करे। सुरक्षा के लिए साज-सज्जा के साधन राज्य भी प्रदान कर सकता है तथा निजी उत्पादकों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि सरकार सामाजिक वस्तुओं का उत्पादन करने की सोचती है तो उसे शीघ्र अतिरिक्त आर्थिक निर्णय लेने होगे।

2 बजट की आवटन शाखा साघनो का सामाजिक वस्तुओ (सुरक्षा शिक्षा राष्ट्रीय राजमार्ग आदि का निर्माण) में आवटन करने का निर्णय ले लेती है। यहाँ पर यह भी निर्णय लेना पडेगा कि किस माध्यम से साघनो को व्यय कराया जाए और सामाजिक वस्तुएँ प्रदान कराई जाएँ अत इसके लिए कोई उचित तर्क नहीं दिया जा सकता है क्योकि सामाजिक वस्तुओ का उत्पादन एव पूर्ति का कार्य राज्य अथवा निजी सस्थाएँ दोनो ही कर सकती है।

आलोचना—मसग्रेव के इष्टतम बजट मॉडल को व्यावहारिक रूप से लागू करने मे कई कठिनाइयाँ आती है अत इसकी निम्नलिखित कारणो से आलोचना की गई है—

1 इस व्यवस्था मे पूर्ण रोजगार आय की मान्यता को माना गया है जो सही नहीं है।

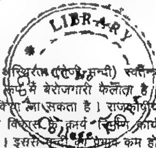
2 एक सघीय वित्त-व्यवस्था मे इष्टतम बजट प्रणाली का क्रियान्वयन और अधिक कठिन हो जाता है क्योकि यहाँ पर प्रत्येक उप-बजट को पहले राज्य के बजट से समायोजित करना होता है तत्पश्चात् राज्य के बजट को केन्द्र के बजट के अनुसार समायोजित करना होता है अत सघीय वित्त प्रणाली के अन्तर्गत इष्टतम बजट-व्यवस्था का क्रियान्वयन सरल नही है।

3 इष्टतम बजट तन्त्र अर्थव्यवस्था के कुछ समष्टि चरो के आधार पर कार्य करता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे जहाँ पर साख्यिकीय सस्थानो का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है व जहाँ पर आवश्यक समष्टि चरो के सही ऑकडे उपलब्ध नहीं हो पाते है वहाँ पर इसका क्रियान्वयन कठिन होता है।

4 विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे जहाँ पर आर्थिक विकास पर अधिक महत्त्व दिया जाता है वहाँ पर स्थिरीकरण पर अधिक बल दिया जाना सम्भव नही होता है। वास्तव मे इन देशो के लिए आर्थिक विकास के लिए स्थिरता की अवसर लागत बडी ऊँची होती है। ये देश यदि स्थिरता पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लेगे तो आर्थिक विकास की दर या गति कम होगी अत इष्टतम बजट-व्यवस्था की तीसरी शाखा इन देशों के लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण नही है।

रोजगार स्थायित्व

(Employment Stability)



रोजगार स्थायित्व अर्थव्यवस्था का उत्तम लक्षण है। आर्थिक अस्थिरता (तेजी मन्दी) स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में सभी देशो मे व्याप्त रहती है। इसका प्रभाव बुराई के रूप में बेरोजगारी फैलाता है। अर्थव्यवस्था में सामाजिक कल्याण इस उतार-चढाव को समाप्त कर स्थिरता ला सकता है। राजकोषीय व्यवस्था द्वारा रोजगार के ऊँचे स्तर बनाये रखे जाते है। सार्वजनिक विकास के कार्य निर्माण कार्य आदि से राजकीय व्यय मे वृद्धि कर सरकार रोजगार उपलब्ध कराती है। इससे मन्दी का प्रभाव कम हो जाता है। उत्तम रोजगार से मॉग वृद्धि होती है व्यावसायिक स्थिति स्थिर बनी रहती है। इसे रोजगार स्थायित्व कहते है। मुद्रास्फीति की अवस्था मे राजकीय ऋण तथा उच्च कराधान द्वारा मूल्यो पर नियन्त्रण रखा जाता है। रोजगार स्थायित्व को पूर्ण रोजगार के नाम से भी जाना जाता है। यद्यपि स्थिरीकरण भी आर्थिक विकास के साथ आवश्यक होता है परन्तु प्राथमिक महत्त्व अधिक विकास को देना पडता है।

निष्कर्ष—इष्टतम बजट प्रणाली का सैद्धान्तिक मॉडल के रूप मे महत्त्व है परन्तु जहाँ तक इसकी व्यावहारिकता का प्रश्न है अर्थव्यवस्थाओ की सरचना के अनुसार इस प्रणाली का महत्त्व होगा। विकसित देशो के लिए यह व्यवस्था अधिक उपयुक्त है किन्तु विकासशील देशो के लिए यह व्यवस्था अधिक व्यावहारिक नहीं है।

3

सार्वजनिक व्यय सिद्धान्त एवं उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव

(Public Expenditure Theory & Effects on Production and Distribution)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय की अवहेलना मुख्यत दो कारणों से की थी—प्रथम उनका विचार था कि राज्य का कार्यक्षेत्र केवल न्याय पुलिस और सेना तक ही सीमित रहना चाहिए। द्वितीय यह विश्वास किया जाता था कि सार्वजनिक आय अपव्ययपूर्ण होती है और धन का उपयोग सरकार की अपेक्षा निजी व्यक्तियो द्वारा अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। इसी प्रकार के चिन्तन के फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय राजस्व शास्त्र में उपेक्षित विषय बना रहा लेकिन 19वीं शताब्दी से यह मान्यता दृढता पकडने लगी कि सार्वजनिक व्यय को राजस्व शास्त्र में समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। आज की परिवर्तित परिस्थितियो में यह सर्वमान्य है कि सार्वजनिक आय और सार्वजनिक व्यय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

सार्वजनिक व्यय का अर्थ और बढता हुआ महत्त्व

(Meaning of Public Expenditure and Its Extensive Importance)

सार्वजनिक व्यय सरकारी प्राधिकारियों द्वारा किया जाने वाला व्यय है। यह उन खर्चों का सूचक होता है जो सरकारी प्रशासन (केन्द्र राज्य एव स्थानीय सरकारो) द्वारा अपने नागरिको की रक्षार्थ तथा उनके आर्थिक एव सामाजिक कल्याण की दृष्टि से किए जाते है। आधुनिक राज्यों का स्वरूप अधिकाधिक कल्याणकारी राज्यों का होता जा रहा है अत अपने विशाल कार्यों और उत्तरदायित्वों के सम्पादन के लिए उन्हें पर्याप्त आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। समाज की आय का एक बडा भाग राज्य द्वारा जनता के हितार्थ व्यय किया जाता है। सार्वजनिक व्यय एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे सुधार और देश के आर्थिक विकास का कार्य आगे बढाया जाता था। नागरिक सदैव यह जानने को उत्सुक रहते है कि उनसे लिए गए धन का उपयोग राज्य द्वारा अच्छे कार्यों में हो रहा है अथवा नहीं और इस व्यय का समाज पर क्या प्रभाव पड रहा है? आज की परिस्थितियो में सार्वजनिक आय और व्यय का सम्बन्ध चोली दामन जैसा है। लोक वित्त के कुछ सामान्य सिद्धान्त तो इन दोनो विभागो पर समान रूप से लागू होते है। यहाँ तक कि सार्वजनिक व्यय की किसी बडी रकम को खर्च करने सार्वजनिक आय की एक भारी मात्रा प्राप्त करने के सम्बन्ध मे निश्चय करने के लिए लोक वित्त की सम्पूर्ण योजना का सहारा लेना पडा है। इस योजना मे सार्वजनिक व्यय का उतना ही अधिक महत्त्व होता है जितना कि सार्वजनिक आय का।

आर्थिक क्रियाओं मे राज्य की निरन्तर बढती हुई भूमिका तथा सार्वजनिक व्यय द्वारा उत्पादन वितरण और आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित किए जाने के कारण सार्वजनिक व्यय आज अत्यधिक महत्त्व प्राप्त कर चुका है। जिन कारणो से आधुनिक राज्यो के कार्यों मे वृद्धि हुई है मुख्यत उन्हीं कारणो से सार्वजनिक व्यय भी बढा है। आधुनिक काल मे राज्य के कार्यों मे गहनता और विस्तार दोनो दृष्टियों से आशातीत वृद्धि हुई है। गहन वृद्धि से आशय यह है कि उन कार्यों पर व्यय जो राज्य द्वारा प्राचीन काल से सम्पन्न किए जाते रहे है (जैसे—प्रतिरक्षा एव कानून की व्यवस्था) आज पहले की अपेक्षा इन पर कई

गुना अधिक व्यय किया जाता है। विस्तार व वृद्धि का अभिप्राय यह है कि राज्य ने अनेक नये-नये कार्यों को अपनाया है जिन पर भारी व्यय किया जाता है। इटली के विख्यात अर्थशास्त्री एफ एस निटटी का निष्कर्ष है कि चाहे केन्द्रीकृत सरकारे हो या विकेन्द्रीकृत युद्धप्रिय राष्ट्र हो या शान्तिप्रिय बडे राष्ट्र हो अथवा छोटे सार्वजनिक कार्यों के सन्दर्भ मे सभी मे अधिकाधिक वृद्धि की समान प्रवृत्ति पाई है। प्रख्यात जर्मन राजकोषीय सिद्धान्तवेत्ता एडोल्फ वेगनर के अनुसार—*सरकारी क्रियाओं का क्षेत्र निरन्तर बढ रहा है और उनकी मात्रा भी। सरकारे नये-नये कार्यों को आरम्भ कर रही है और पुराने तथा नये दोनो प्रकार के कार्यों को अधिक कार्यक्षमता के साथ सम्पन्न कर रही है। ऐसी स्थिति मे सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि होना स्वाभाविक है।*

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के कारण
(Causes of Increasing in Public Expenditure)
अथवा
सार्वजनिक व्यय का उद्‌गम व विकास
(Origin and Development of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के प्रमुख कारण सक्षिप्त मे निम्नानुसार प्रस्तुत कर सकते हैं—

1 कल्याणकारी राज्य की विचारधारा—सरकार की क्रियाओं का निरन्तर विस्तार हुआ है। जहाँ प्राचीन समय मे सरकारे अपने को विदेशी प्रतिरक्षा की समस्याओं तथा कानून व व्यवस्था की स्थापना तक सीमित रखती थी वहाँ अब उन्होने अनेक ऐसे कार्यों तथा सेवाओं को सम्पन्न करने का जिम्मा ले लिया है जो प्राचीन समय मे सम्पन्न नही किए जाते थे। उन्नत देशो मे सरकारी क्षेत्र अथवा सगठन का महत्त्व तथा उसका विस्तार इसलिए अधिक बढ गया है क्योकि इसी शताब्दी के मन्दी काल में गैर-सरकारी क्षेत्र के कार्य सम्पादन में बडी गम्भीर कमियाँ पाई गईं। आज ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसे सरकार अपने हाथ मे नही ले सकती हो ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमे वह प्रवेश न कर सकती हो। राज्य की क्रियाओं मे वृद्धि का मूल कारण यह है कि पिछले सौ वर्षों की अवधि मे वे मूलमूत उद्देश्य एव लक्ष्य ही बदल गए है जिनके लिए राज्य की स्थापना होती है। 19वीं शताब्दी का राज्य मुख्य एव मूल रूप से एक पुलिस राज्य था जिसका मुख्य कार्य नागरिको की विदेशी हमलों से रक्षा करना तथा देश के अन्दर कानून व व्यवस्था की स्थापना करना था परन्तु पुलिस राज्य की इस पुरानी विचारधारा का स्थान अब 20वीं शताब्दी की कल्याणकारी राज्य की विचारधारा ने ले लिया है जिसका मुख्य लक्ष्य अपने नागरिकों का आर्थिक राजनीतिक एव सामाजिक कल्याण करना है। राज्य की प्रकृति तथा उद्देश्य मे भारी परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आधुनिक सरकारे यह समझती हैं कि देश के आर्थिक एव सामाजिक कल्याण व सामाजिक जीवन मे सुधार करने के अलावा उनका आधारभूत कार्य व्यावसायिक चक्रो को समाप्त करना देश मे पूर्ण रोजगार की दशाएँ उत्पन्न करना तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को *ऊँचा उठाना है। यहाँ आर्थिक क्रियाओं के तीन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम* सरकारे पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाए रखने के लिए क्षतिपूरक व्यय करती है। दूसरे भारत जैसे अल्पविकसित देशो मे भारी मात्रा मे धन आर्थिक विकास तथा प्रगति के लिए विकास कार्यों पर व्यय किया जा रहा है। तीसरे सरकारे शिक्षा पर विशेष रूप से नि शुल्क शिक्षा पर तथा सामाजिक सुरक्षा के उपायो पर बडी रकमे खर्च करती है। इस प्रकार राज्य की मूलमूत विचारधारा मे परिवर्तन हो गया है जिसके परिणामस्वरूप अब राज्यो द्वारा नये-नये कार्य सम्पन्न किए जा रहे है जिससे सरकारी खर्च मे वृद्धि हो रही है।[1]

2. जनसख्या मे वृद्धि—राज्यो के क्षेत्रफल तथा जनसख्या मे वृद्धि का सीधा प्रभाव राजकोष व्यय पर पडा है। समाज मे अधिकतम लाभ के अनुसार सरकार को जनसख्या की सुरक्षा और सुख-सुविधा के विभिन्न साधन जुटाने पर काफी व्यय करना पडता है। भारत जैसे देश मे तो जनसख्या वृद्धि की दृष्टि से प्रतिवर्ष एक नया आस्ट्रेलिया बन जाता है। जनसख्या बढने से जन स्वास्थ्य सार्वजनिक शिक्षा आवागमन के साधनों के विकास सार्वजनिक मनोरजन केन्द्रो के निर्माण आदि की विकट समस्याएँ

1 *एण्डले सुन्दरम एव अग्रवाल* वही पृ 1 267 1 268

उत्पन्न हो जाती है और बिना पर्याप्त व्यय के सरकार इन समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। जनसख्या वृद्धि जनता के प्रति जिम्मेदारी को बढा देती है अत सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है।

3 नगरीकरण की प्रक्रिया—नगरीकरण की निरन्तर प्रक्रिया के फलस्वरूप ऐसे खर्चों में पर्याप्त वृद्धि हो गई है जो जान माल की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। शहरी जीवन की परिस्थितियाँ सरकार पर अनेक नये उत्तरदायित्व डाल देती हैं जैसे—खाद्य पदार्थों का निरीक्षण और समुचित वितरण जन स्वास्थ्य मे सुधार शुद्ध पेयजल की व्यवस्था मलमूत्र विसर्जन के स्थानों का प्रबन्ध शिक्षा के उच्च स्तर का विकास आवास-गृहो का निर्माण आदि।

4 युद्ध एव युद्ध की तैयारियाँ—युद्ध व्यय सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के सबसे बडे कारणों में से एक है। आधुनिक राज्य युद्ध की तैयारियों तथा युद्धो पर जितनी व्यापक मात्रा मे व्यय कर रहे हैं उतना व्यय मानव इतिहास के किसी युग मे नहीं हुआ। आधुनिक राजनीति के शीत-युद्ध और साम्यवादी तथा पूँजीवादी खेमो मे विश्व के विभाजन ने ससार के सभी देशो को बाध्य कर दिया है कि वे सदा सशस्त्र रहे और युद्ध की तैयारियो मे ढील न आने दे। पड़ौसी देशो के निरन्तर आक्रामक रवैये के कारण भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र को भी प्रतिरक्षा पर भारी धनराशि व्यय करनी पड रही है जिसका आकार प्रतिवर्ष बढता ही जा रहा है। प्रतिरक्षा मद पर इतना अधिक व्यय किया जाता है कि अनेक देशो की सरकारों को प्राय आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार के ऋण लेने पडते हैं जिन पर प्रतिवर्ष काफी ब्याज चुकाया जाता है। सार्वजनिक ऋणो का अधिकाश उपयोग यौद्धिक कार्यों में होता है जो युद्ध के पूर्व युद्ध के समय और युद्ध के बाद सदैव चलता रहता है जिसका कुप्रभाव दशाब्दियों तक राष्ट्र और समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप विनाशकारी आणविक शस्त्रो के निर्माण पर प्रतिवर्ष इतना अधिक व्यय किया जा रहा है कि यदि उस धनराशि को आर्थिक और सामाजिक कल्याण में व्यय किया जाए तो हम आज की स्थिति से कई गुना आगे पहुँच सकते हैं। एक अनुमान के अनुसार सयुक्तराज्य अमेरिका लगभग 80 से 85 प्रतिशत भाग केवल प्रतिरक्षा पर खर्च करता है। भारत मे सुरक्षा व्यय 1960-61 में 249 करोड रुपये था जो बढकर 1982 83 में 5 350 करोड रुपये और 1984 85 (बजट) मे 6 800 करोड रुपये हो गया तथापि प्रतिशत के रूप में देखा जाए तो इस व्यय में निरन्तर कमी आ रही है। जहाँ 1965-66 मे सुरक्षा व्यय कुल व्यय का 32.5 प्रतिशत था वहाँ 1982 83 मे यह 16 45 प्रतिशत रह गया। 1983 84 मे 16.2 प्रतिशत 1984 85 में 15.2 प्रतिशत 1985 86 मे 15 प्रतिशत 1986-87 मे 16 1 प्रतिशत 1987 88 में 16 8 प्रतिशत 1988 89 में 16.9 मे प्रतिशत हो गया। 1989 90 के बजट प्रावधान मे सुरक्षा व्यय पर 1300 करोड रुपये व्यय का प्रावधान रखा गया था जबकि वर्ष 1994 95 मे रक्षा सेवाओं पर 23000 करोड रुपये का व्यय किया गया।

5 सामाजिक सुरक्षा और सेवाओं मे वृद्धि—सामाजिक सुरक्षा और सेवाओं मे वृद्धि करके कल्याणकारी राज्य का स्वरूप धारण करने से राजकीय व्यय बहुत अधिक बढ गया है। सामाजिक बीमा पेंशन बीमारी भत्ता प्रसूति लाभ आदि सामाजिक सुरक्षा योजनाओं पर प्रतिवर्ष सरकार को काफी व्यय करना पडता है। शिक्षा स्वास्थ्य आदि का भार धीरे धीरे पूर्णत राज्य पर आता जा रहा है। नागरिकों के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक कल्याण का उत्तरदायित्व जितना आज राज्यो को वहन करना पड रहा है उतना प्राचीनकाल मे कभी वहन नहीं करना पडता था। आज के राज्य 19वीं शताब्दी के पुलिस राज्य से सर्वथा भिन्न है। सामाजिक जीवन मे सुधार करने के अतिरिक्त आधुनिक राज्यों का मूल कार्य व्यावसायिक चक्रों को समाप्त करना देश में पूर्ण रोजगार की दशाएँ उत्पन्न करना तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा उठाना है।

6 राजनीतिक जागरण—राजनीतिक जागरण सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का एक बडा कारण है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों मे चुनाव सभाओ ससद् आदि पर भारी व्यय करना पडता है तथा राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता के सुख और सन्तोष के लिए कल्याणकारी योजनाओं पर अधिकाधिक ध्यान देना पडता है। आज 'जनता द्वारा जनता का तथा जनता के लिए शासन' एक बडा महँगा शासन है।

7. विश्व की महान मन्दी—जैसा कि एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल ने लिखा है—पिछले लगभग 67 वर्षों से सरकार के कार्यों मे वृद्धि के लिए जिम्मेदार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण 1929-30 की बड़ी मन्दी भी रही है। इस बड़ी मन्दी के कारण सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया और इस कारण भी सरकार को अनेक नये कार्य हाथ मे लेने पडे। प्रथम, सरकार ने अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ कीं जिससे कि उद्योग, कृषि तथा श्रम को प्रोत्साहन मिले। दूसरे, सरकार ने अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण बढा लिया। अन्त मे, सरकार ने अपने कन्धो पर यह जिम्मेदारी भी ले ली कि वह पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करेगी और जन-कल्याण के लिए कार्य करेगी। जन-कल्याण के कार्यों में ऐसे लोगों एव वर्गों के लिए सुविधाएँ जुटाना शामिल है जिन्हे कि समाज में कुछ मामलो मे बहुत कम सुविधाएँ तथा अवसर प्राप्त है। मन्दी के कारण उत्पन्न कार्यों मे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व था—सहायता कार्यों का आरम्भ करना जिससे कि बेकार लोगों को रोजगार दिया जा सके। सरकार आर्थिक विकास पर भारी धनराशि खर्च करती है। आधुनिक सरकारो की विनियोग सम्बन्धी क्रियाएँ भी 20वीं शताब्दी मे सरकारी खर्च में होने वाली वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

8. वस्तुओं के मूल्यो मे वृद्धि—वस्तुओं के मूल्यो मे वृद्धि होने से राजकीय व्यय काफी बढा है। एक व्यक्ति की तरह सरकार को भी विभिन्न वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदनी पडती है और इन वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य मे वृद्धि होने से सरकार को पहले की तुलना से अधिक धन व्यय करना पड़ रहा है। सरकार को अपने कर्मचारियो को महँगाई भत्ता देना पडता है समय-समय पर उनकी वेतन वृद्धि करनी पडती है। साथ ही विकास योजनाओं का व्यय भी निरन्तर बढ रहा है।

9. गैर-सरकारी उत्पादको की सहायता—गैर-सरकारी उत्पादको को सरकारी सहायता देने की नीति राजकीय वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। आधुनिक सरकारे किसानो और उद्योगपतियो को ऋण देती हैं, अनेक सस्थाओं को दान और सरकारी अनुदान देती है निजी क्षेत्र के उद्योगो का आवश्यकतानुसार यान्त्रिक ज्ञान तथा अन्य सूचनाएँ प्रदान करती है और इस प्रकार उत्पादन के प्रयत्नो मे अधिकाधिक सहायता कार्यों पर पर्याप्त व्यय करती है।

10. उद्योगो का राष्ट्रीयकरण—उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप सरकारों को व्यापक धनराशि क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पडती है। समाजवादी अर्थनीति से प्रभावित राज्य अधिकाधिक उद्योगों को अपने हाथ मे लेते जा रहे है और स्वय बडे-बडे उद्योगों की स्थापना कर रहे है जिनका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना इतना अधिक नहीं होता जितना जन-सामान्य की सुरक्षा और सेवा करना। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत सरकार ने बडे बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। आज के बैंक समाज के निर्धनतम वर्ग को सहायता देने लगे है जिससे उत्पादन और उत्पादकता मे आशातीत वृद्धि हुई है।

11. आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि—आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि को आज भारी महत्त्व दिया जाने लगा है। इससे एक ओर तो मितव्ययता होती है तथा दूसरी ओर नागरिको को व्यक्तिगत असुविधाओं का सामना नही करना पडता। जो कार्य पहले व्यक्तियो द्वारा किए जाते थे वे अब अधिकतम राज्य द्वारा किए जाने लगे हैं। उदाहरणार्थ नगरो मे जल-विद्युत यातायात व्यवस्था आदि पर सरकार व्यापक व्यय कर रही है।

12. जीवन-स्तर मे वृद्धि—राष्ट्रीय धन राष्ट्रीय आय और जनता के जीवन-स्तर में वृद्धि से सार्वजनिक व्यय बढा है। समाज के प्रत्येक सदस्य की औसत राशि और आय मे जितनी वृद्धि होगी राजकीय व्यय मे भी लगभग उतनी ही बढोत्तरी होगी। साथ ही देश अथवा समाज मे धन तथा आय की जितनी अधिक असमानता होगी राजकीय व्यय का क्षेत्र भी उतना ही अधिक बढेगा। विगत वर्षों में ससार के सभी देशो में राष्ट्रीय धन और राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि हुई है और वितरण में असमानता बढी है अत सार्वजनिक व्यय का क्षेत्र निरन्तर व्यापक होता गया है। जनता के तुलनात्मक रूप से सम्पन्न होने से समाज की करदेय क्षमता बढी है तथा सार्वजनिक आय मे उसी के अनुसार वृद्धि हुई है। सार्वजनिक आय के बढने से सरकार की व्यय क्षमता बढ गई है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि से जीवन-स्तर ऊँचा होता जा रहा है और जनता की सरकार से की जाने वाली माँगो के स्तर मे वृद्धि हो रही है अत सरकार को जनहित के लिए पहले से अधिक रकम खर्च करनी पड रही है। यह दिशा निरन्तर विकासमान है।

13. आर्थिक नियोजन—आर्थिक नियोजन की नीति सार्वजनिक व्यय मे भारी वृद्धि का एक प्रमुख कारण है। आज प्राय सभी विकासशील और विकसित राष्ट्र नागरिकों के जीवन स्तर और देश की आर्थिक समृद्धि के लिए पूर्ण रोजगार की दिशाएँ उत्पन्न करने के लिए आर्थिक नियोजन का सहारा ले रहे है जिसमें भारी राजकीय व्यय होता है। भारत मे पचवर्षीय और एकवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र मे जो विपुल धनराशि व्यय की गई है, वह बढते हुए सार्वजनिक व्यय का एक स्पष्ट प्रमाण है। वर्ष 1994-95 की वार्षिक योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए वर्तमान मूल्यो के आधार पर 1,12,197 करोड रुपये का प्रावधान किया गया था। भारत की योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय-वृद्धि का एक अनुमान निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है

योजना	राशि
प्रथम योजना	1,560 करोड़ रुपये
द्वितीय योजना	3,650 करोड रुपये
तृतीय योजना	6,300 करोड रुपये
चतुर्थ योजना	13,655 करोड रुपये
पचम योजना	36,703 करोड रुपये
छठी योजना	84,000 करोड रुपये
सातवीं योजना	1,80,000 करोड़ रुपये
आठवीं योजना	4,34,100 करोड रुपये

14. विकासशील देशो को सहायता—विकासशील देशों को सहायता देने की नीति के फलस्वरूप वर्तमान काल मे विशेषकर विकसित राष्ट्रो के राजकीय व्यय मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह सहायता ऋण के रूप मे भी होती है और अनुदान के रूप मे भी। भारत को अब पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्रों की अपेक्षा समाजवादी राष्ट्रों से व्यापक सहायता प्राप्त हो रही है।

15. दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था और नागरिक प्रशासन—दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था और स्वार्थपूर्ण नागरिक प्रशासन सार्वजनिक व्यय मे अनावश्यक वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। सरकारी विभागो मे भ्रष्टाचार और वित्तीय अव्यवस्था के उदाहरण प्रतिदिन पत्र-पत्रिकाओं मे पढने को मिल जाते है। विभागों में बहुत से खर्च आवश्यकता से अधिक किए जाते है। भारतीय लोकसभा में इस सम्बन्ध मे अनेक बार वाद-विवाद हो चुका है कि दोषपूर्ण वित्त-व्यवस्था का परिणाम केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों पर बढता हुआ व्यय है, किन्तु अब इस व्यय की अनावश्यक वृद्धि को नियन्त्रित करने के प्रयास हो रहे है और कर्मचारियो की कार्यकुशलता और उत्पादन बढाने के व्यापक प्रयास किए जा रहे हैं। आज ससार के अधिकाश देशो मे प्रशासन का जाल मकडी के जाले की तरह फैलता जा रहा है, जिससे प्रशासनिक व्यय में भारी वृद्धि हुई है।

16. स्थानीय और सामयिक सामाजिक समस्याएँ—स्थानीय और सामयिक सामाजिक समस्याएँ सार्वजनिक व्यय में काफी वृद्धि कर देती है। उदाहरणार्थ, देश के विभाजन के बाद शरणार्थियो के पुनर्वास की समस्या को हल करने के लिए भारत सरकार को विशाल धनराशि व्यय करनी पडी है। बाग्लादेश मुक्ति सग्राम के समय भी एक करोड से अधिक आए शरणार्थियो पर भारी व्यय करना पडा। श्रीलका मे तमिल-समस्या के कारण व आतकवादी गतिविधियो के कारण अनावश्यक व्यय बढ़ा है।

17. आकस्मिक सकट—पडौसी देश अपने ही क्षेत्र में आतक मचाकर दूसरे देश पर अनावश्यक आर्थिक बोझा लाद देते है। अप्रेल 1971 मे पाकिस्तान द्वारा अपने ही भू-भाग पूर्वी बगाल मे जो भीषण नर-सहार किया गया और जिस प्रकार का अनावश्यक आतक पैदा किया गया उसके फलस्वरूप भारत में शरणार्थियो का तॉता लग गया था। 1971-72 के वित्तीय वर्ष में केन्द्रीय सरकार पर 100 करोड रुपये से भी अधिक का भार पडा था और जब से आज तक यह भार बढता ही चला आ रहा है। दक्षिण मे तूफान बाढ व श्रीलका के शरणार्थियो से भारत पर व्यय भार की मार पडी थी।

18. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं संस्थाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और सस्थाएँ किसी न किसी रूप में विभिन्न राष्ट्रो की सार्वजनिक आय का कुछ भाग अवश्य ही व्यय करा देती हैं। उदाहरण के लिए विश्व के लगभग सभी अथवा अधिकाश राज्य सयुक्त राष्ट्रसघ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के सदस्य है। अत. वार्षिक चन्दे के रूप मे और इसके अलावा भी स्थानीय प्रतिनिधियों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो आदि पर भी प्रतिवर्ष काफी व्यय करना पडता है।

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि अयुक्तिसगत अथवा अवाछनीय नहीं है, पर यह वृद्धि ऐसे कार्यों मे होनी चाहिए जिससे जनता को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। सार्वजनिक आय का व्यय मितव्ययिता के साथ किया जाना चाहिए। एक स्वच्छ, ईमानदार और कुशल प्रशासन अवश्य ही सार्वजनिक व्यय की प्रभावशाली और लोक-कल्याणकारी नीति अपना सकता है। वास्तव मे सार्वजनिक व्यय इतना लचीला मुद्दा है कि यह समाज की आवश्यकताओं व इच्छाओं, देश के आर्थिक विकास की अवस्था, जनसख्या के आकार तथा गुण, लोगो की राज्य पर निर्भरता, लोगो की करदेय-क्षमता आदि विभिन्न बिन्दुओं पर निर्भर करता है। प्रो. ब्रिचलर (Brichler) के इस मत से सहमत होना कठिन है कि "कुछ व्यक्तियो के दृष्टिकोण से सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक तुलनात्मक वृद्धि एक अभिशाप है जबकि कुछ के दृष्टिकोण से यह प्रसन्नता की बात है और कुछ इसके प्रति उदासीन है। सरकारी व्यय की समुचित सीमा के रूप मे राष्ट्रीय आय के किसी निश्चित प्रतिशत का सकेत दे पाना असम्भव है क्योकि ऐसी सीमा तुलनात्मक परिस्थितियो पर निर्भर करती है।"

सरकारी सेवाओं के विस्तार के मूलभूत कारण
(Basic Reasons for Extension of Govt Services)

ऐसे अनेक तत्त्व है जो सरकारी खर्च मे निरन्तर वृद्धि के कारणो की व्याख्या करते है तथापि, कुछ राजकोषीय सिद्धान्तवेत्ताओं ने सरकारी सेवाओं मे विस्तार के मूलभूत कारणो का पता लगाने की कोशिश की है। एक कारण है सरकारी सेवाओं की आय की लोच (Income Elasticity) । आय की लोच वास्तविक आय मे परिवर्तन होने पर मॉगो मे होने वाले परिवर्तन का एक माप है। जैसे-जैसे वास्तविक आय बढती है, सभी वस्तुओ व सेवाओं की मॉग बढती है और यह तथ्य इसकी व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है कि लोग अधिक सरकारी सेवाओं की मॉग क्यो करते है। दूसरा कारण यह है कि सरकारी सेवाएँ स्वभावत ही अविभाज्य होती है, अत उनका सामूहिक रूप से चुनाव करना होता है। गैर-सरकारी क्षेत्र की स्थिति मे, मूल्य का सीधा सम्बन्ध किसी विशेष वस्तु अथवा सेवा की प्राप्ति से होता है परन्तु सरकारी सेवाओं की अदायगियो को, पूर्णत अथवा अशत ऐसी सेवाओं के लाभो की प्राप्ति से अलग करना पडता है। सामूहिक आवश्यकताओं को लागतों से पृथक् रखकर चुनना होता है। कुछ लोगो ने वैगनर के नियम की व्याख्या बढते हुए श्रम-विभाजन (Division of Labour) के रूप मे करने की कोशिश की है। अर्थात् यह कि व्यक्ति अपनी अधिकाधिक आवश्यकताओं को राज्य की सहायता से सन्तुष्ट करने लगता है, परन्तु डॉल्टन ने कहा है "श्रम-विभाजन के अर्थो मे इसकी व्याख्या अपर्याप्त है क्योंकि यह इस तथ्य का उल्लेख नहीं करती कि राज्य लगातार नए-नए कार्यों को अपने हाथ मे ले रहा है और पुराने कार्यों पर अपना पजा दृढ कर रहा है"[1] जो ठीक ही है।

डॉल्टन के अनुसार ऐसे तीन मूलभूत कारण है जो वेगनर के नियम (Wagner's Law) की व्याख्या करते है। सर्वप्रथम, अनेक क्षेत्रो मे किए जाने वाले आधुनिक विकास कार्यों ने निजी सगठनो के मुकाबले सरकारी प्रशासन की कार्यक्षमता में अधिक वृद्धि की है। निजी एजेन्सी की तुलना मे सरकारी अधिकारियों का चुनाव (Choice) बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है। दूसरे कुछ क्षेत्रो मे किए जाने वाले आधुनिक विकास कार्यों में सरकारी अधिकारियों (Public Authorities) के लिए यह आवश्यक बना दिया गया है कि वे ऐसे नए कार्यों को अपने हाथ मे ले जो कि वस्तुत गैर-सरकारी उद्यम द्वारा प्रारम्भ नहीं किए जा सके है। इसका एक सुन्दर उदाहरण है आधुनिक नगरो के जन-स्वास्थ्य (Public Health) की व्याख्या करना। तीसरे, जहाँ गैर-सरकारी अथवा निजी खर्च अनेक वस्तुओं और सेवाओं के व्यक्तिगत एव अनन्य उपयोग (Individual and Exclusive Use) की व्यवस्था करता है,

1 *एण्डले, सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृष्ठ 1270-1271

वहाँ सरकारी खर्च एक समुदाय तथा सम्मिलित उपयोग (Communal and Inclusive Use) की व्यवस्था करता है उदाहरण के लिए पार्क अजायबघर और आर्ट गैलेरी आदि ।[1]

सार्वजनिक व्यय तथा निजी व्यय मे अन्तर

(Difference between Public and Private Expenditure)

सार्वजनिक व्यय और निजी व्यय मे काफी समानताएँ पाई जाती है यथा—दोनों की समस्याएँ प्राय एक सी होती है दोनो में आय तथा व्यय के बीच सामजस्य स्थापित किया जाता है दोनों में आय व्यय के सम्बन्ध मे समान नीति अपनाई जाती है दोनो पर आर्थिक नियम समान रूप से लागू होते है और दोनो मे वित्त व्यवस्था का रूप एक सा होता है । इन समानताओं के बावजूद सार्वजनिक व्यय और निजी व्यय मे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है जिन्हे अर्थ वैज्ञानिकों ने निम्नानुसार गिनाया है—

1 **उद्देश्य का अन्तर**—सार्वजनिक व्यय की तुलना मे निजी व्यय का उद्देश्य बहुत सीमित होता है । निजी व्यय का उद्देश्य मुख्यत निजी लाभ प्राप्त करना होता है और जबकि व्यक्ति प्राय ऐसे मदों पर व्यय करता है जिससे उसे स्वय को या उसके परिवार के सदस्यों को लाभ प्राप्त हो । इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य व्यापक होता है । सरकार जन-कल्याण के लिए भारी व्यय करती है । उसे ऐसे कार्यों पर व्यय करना पडता है जिनसे लाभ की कोई आशा नहीं होती । सार्वजनिक व्यय जनहित की भावना पर आधारित होता है ।

2 **आय व्यय के समायोजन मे अन्तर**—निजी व्यय प्राय आय के अनुसार किया जाता है जबकि *सार्वजनिक व्यय राज्य की आय पर निर्भर करता है । निजी व्यय के सम्बन्ध में यह कहावत है कि* कपडे के अनुसार ही कोट को काटना चाहिए (Cut your coat according to cloth) सार्वजनिक व्यय पर लागू नही होती । सार्वजनिक व्यय मे सबसे पहले होने वाले व्यय का अनुमान लगाया जाता है और उस व्यय की पूर्ति के लिए आय के साधनो की खोज की जाती है ।

3 **लोच का अन्तर**—निजी व्यय मे लोच होती है अर्थात् व्यक्ति अपना व्यय घटा बढा सकता है । इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय मे लोच नहीं रहती और कभी कभी तो व्यय को घटाना बहुत ही कठिन हो जाता है क्योकि शासन का प्रत्येक विभाग अपनी माँग पर अडा रहता है । कई बार सरकार चाहते हुए भी अपने कर्मचारियो की छटनी नहीं कर पाती क्योकि कर्मचारियो की हडताल का भय रहता है । इस प्रकार जहा निजी व्यय मे अनिवार्यता नहीं होती वहाँ सार्वजनिक व्यय मे अनिवार्यता का गुण पाया जाता है ।

4 **नियन्त्रण मे अन्तर**—निजी व्यय पर व्यक्ति का अपना नियन्त्रण रहता है जबकि सार्वजनिक व्यय पर ससद् और महालेखा परीक्षक एव नियन्त्रक का नियन्त्रण रहता है । इस प्रकार जहाँ निजी व्यय में व्यक्ति को स्वतन्त्रता रहती है वहा सार्वजनिक व्यय स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं किया जा सकता ।

5 **मितव्ययता का अन्तर**—सार्वजनिक व्यय की तुलना मे निजी व्यय मे मितव्ययता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

6 **प्रभाव का अन्तर**—निजी व्यय यदि सतर्कता और सावधानी के साथ न किया जाए तो उसका प्रभाव व्यक्ति विशेष पर पडता है लेकिन सार्वजनिक व्यय का यदि सतर्कतापूर्ण प्रयोग न किया जाए तो उसका प्रभाव समूचे समाज तथा देश के आर्थिक जीवन पर पडता है । सरकार को क्षति पूर्ति के लिए भारी कर लगाने पडते है जिनका भार जनता पर पडता है ।

7 **कार्य क्षेत्र का अन्तर**—निजी व्यक्ति का कार्य क्षेत्र सीमित होता है अत उसके व्यय का क्षेत्र भी सीमित होता है जबकि सार्वजनिक सस्थाओं का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक होने के कारण व्यय का क्षेत्र भी व्यापक होता है । सार्वजनिक सस्थाओं पर गम्भीर दायित्व होते है जिनकी पूर्ति के लिए उन्हे अपनी व्यय नीति पर्याप्त उदार रखनी पडती है ।

इस प्रकार निजी व्यय और सार्वजनिक व्यय मे उतना ही अन्तर है जितना कि व्यक्तिगत और सामाजिक व्यय मे ।

1 *एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृष्ठ 1 270 1 271

सार्वजनिक व्यय के प्रनियम या सिद्धान्त
(Canons or Principles of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के क्षेत्र में अनुचित व्यय की पर्याप्त सम्भावनाएँ है तथापि सरकार कुछ सामान्य प्रनियमों के आधार पर व्यय करने की चेष्टा करती है । सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रनियम अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किए गए है—

1. लाभ का प्रनियम (Canon of Benefit)

यह प्रनियम सार्वजनिक व्यय का सर्वोपरि प्रनियम है । इसका उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है । अधिकतम सामाजिक लाभ के प्रनियम का विस्तार से विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है अतः यहाँ आधारभूत बिन्दुओं का उल्लेख करना पर्याप्त होगा ।

लाभ के प्रनियम के अनुसार सरकार को इस प्रकार व्यय करना चाहिए जिससे कि समाज का चतुर्दिक् विकास हो और अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो । डॉल्टन के अनुसार प्रत्येक अवस्था मे सार्वजनिक व्यय इस ढग से किया जाना चाहिए कि किसी दिशा मे तनिक-सी वृद्धि करने से समाज को प्राप्त होने वाला लाभ हानि के बराबर हो जो कर की मात्रा मे वृद्धि करने से हो जाती है अर्थात् राजकीय आय और राजकीय व्यय में आदर्श सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए ।[1] पीगू के शब्दों मे व्यय को सभी दिशाओं मे उस बिन्दु तक बढाना चाहिए जहाँ व्यय की अन्तिम इकाई से प्राप्त सन्तुष्टि उस अन्तिम इकाई की सन्तुष्टि के बराबर हो जो सरकारी सेवा आदि पर व्यय की जाती है ।[2]

लाभ के प्रनियम के अनुसार महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यय किसी विशेष वर्ग के लाभ के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिए होना चाहिए अतः आवश्यक है कि पिछडे हुए क्षेत्रो के निर्धन निवासियों की उन्नति पर भी सरकार पर्याप्त व्यय करे । अब प्रश्न यह है कि व्यय से सम्पूर्ण समाज का हित हो रहा है अथवा नहीं इसका पता कैसे लगाया जाए ? इसके लिए विद्वानो ने कुछ कसौटियाँ निश्चित की है । सर्वप्रथम व्यय करने से पूर्व यह जाँच करनी चाहिए कि कौनसी मद मे कितना व्यय करने से समाज को अधिक से अधिक लाभ होगा ? दूसरे शब्दो मे प्राथमिक व्यय को माध्यमिक व्यय से पहले करना चाहिए । इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राथमिक व्यय को ही सदैव प्रमुखता दी जानी है क्योंकि सुरक्षा व्यय को किसी एक सीमा तक पहुँचने के बाद यह आवश्यक हो सकता है कि उस व्यय को आगे बढने से रोका जाए और सार्वजनिक सेवाओं पर अधिक से अधिक व्यय किया जाए अतः यह आवश्यक है कि राजकीय व्यय की भिन्न भिन्न मदो पर पूर्ण रूप से विचार करके और प्रत्येक से मिलने वाले लाभ को ध्यान मे रखते हुए ही व्यय करने का निश्चय किया जाए । दूसरे व्यय इस तरह हो कि देश का उत्पादन और राष्ट्रीय आय बढे । तीसरे देश मे राष्ट्रीय आय का न्यायोचित और समान वितरण होना चाहिए । चौथे देश मे आर्थिक स्थायित्व बनाए रखना चाहिए । उदाहरणार्थ प्रयास यह होना चाहिए कि व्यय द्वारा देश मे मुद्रा सकुचन और मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण स्थापित हो सके तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो सके । पाचवे व्यय केवल वर्तमान पीढी के लिए ही नहीं वरन् भावी पीढियो के हितों को ध्यान मे रखकर किया जाना चाहिए ।

सार्वजनिक व्यय के लाभ का प्रनियम सर्वोत्तम है फिर भी इसके व्यावहारिक प्रयोग मे काफी कठिनाइयाँ हैं—प्रथम यह पता लगाना असम्भव है कि किस व्यय से समाज को कितना लाभ हो रहा है ? दूसरे प्रत्येक व्यय की एक सीमा होती है जिससे आगे व्यय करना अहितकर होता है किन्तु उस सीमा का सरलता से पता नहीं लगाया जा सकता । कभी कभी कुछ व्यय ऐसे होते है जो समाज के लिए प्रायः अहितकर होते हैं लेकिन विषम परिस्थितियो के कारण सरकार को ऐसे व्यय करने पडते है । यह निश्चित करना कठिन है कि किस मद पर कितना धन व्यय किया जाए क्योंकि परिस्थितियो के अनुसार राज्य को कभी किसी मद पर अधिक व्यय करना पडता है तो कभी किसी मद पर कम । इसलिए प्रो शिराज ने कहा है— सार्वजनिक व्यय अन्य बाते समान रहने पर इस ढग से किया जाना

1 *Dalton* Public Finance p 7
2 *Pigue* Public Finance p 30

चाहिए कि समाज को महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो, ताकि उत्पादन मे वृद्धि हो, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा हो, आन्तरिक व्यवस्था बनी रहे और यथासम्भव आर्थिक असमानताएँ कम हो।"[1]

उक्त सन्दर्भ में स्मरणीय है कि सार्वजनिक व्यय के इस प्रनियम के सम्बन्ध मे आज लगभग यह सर्वमान्य धारणा बन चुकी है कि राजकोष में से समाज के किसी विशेष व्यक्ति अथवा समाज के विशेष वर्ग के हित मे कोई भी धन उस समय तक व्यय नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि—

(i) व्यय की जाने वाली राशि कम न हो,

(ii) उस राशि को प्राप्त करने का अधिकार न्यायालय में लागू न किया जा सकता हो,

(iii) व्यय किसी नीति अथवा परम्परा द्वारा मान्य न हो।

इन नियमो का पालन विश्व के लगभग सभी देशो में होता है। उदाहरणार्थ, यदि सेना के किसी वीर सिपाही या अधिकारी को युद्ध में विजय प्राप्त करने की खुशी मे राज्य की ओर से कोई पुरस्कार दिया जाए तो इस व्यय को उपर्युक्त अपवादो के आधार पर मान्यता दी जाती है। इसी प्रकार पाठशालाओं, विद्यालयो, महाविद्यालयो चिकित्सालयो आदि की सहायतार्थ राज्य द्वारा स्वीकृत राशि उक्त सिद्धान्तो के अनुकूल मानी जा सकती है। यदि राज्य मन्दिर अथवा गिरजाघरो आदि को सहायता देता है तो यह न्यायोचित नहीं कहा जा सकता क्योकि ऐसा करना किसी विशेष समुदाय को सहायता देना होगा अथवा ऐसी सहायता मान्य नीति या परम्परा के विरुद्ध होगी।

2. मितव्ययता का प्रनियम (Canon of Economy)

इस प्रनियम के अनुसार सरकार को केवल उन आवश्यक कार्यों पर व्यय करना चाहिए जिनसे सामाजिक अथवा आर्थिक लाभ प्राप्त होने की आशा हो। अधिकाश लोकतन्त्रीय देशो मे नियोजन तथा दूरदर्शिता के अभाव पदाधिकारियो की उत्तरदायित्व के प्रति उपेक्षा-वृत्ति, अपर्याप्त वित्तीय नियन्त्रण आदि से सार्वजनिक धन का अत्यधिक अपव्यय होता है। मितव्ययता के प्रनियम के अनुसार सरकार एक ट्रस्टी के समान है जो जनता से प्राप्त आय को व्यय करती है। अत ट्रस्टी के आधारभूत सिद्धान्तो के अनुसार आवश्यक है कि उस धन का पूर्ण मितव्ययता से उपयोग किया जाए। मितव्ययता का अर्थ कृपणता नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि राज्य धन का व्यय करते समय वही सावधानी बरते जो व्यक्ति अपने धन को निजी कार्यों मे व्यय करते समय रखता है। व्यय की मात्रा आवश्यकतानुसार होनी चाहिए। सक्षेप मे मितव्ययता के प्रनियम की माँग है कि—

(i) किसी भी मद पर आवश्यकता से अधिक व्यय न किया जाए।

(ii) व्यय इस प्रकार हो जिससे जनता की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो सके।

(iii) राजकीय अधिकारियो द्वारा किए गए व्यय और उनके द्वारा तैयार किए गए लेखो पर पूर्ण नियन्त्रण की व्यवस्था हो।

(iv) किसी भी रूप मे धन का अपव्यय न किया जाए।

(v) व्यय नागरिको की क्रय-क्षमता बढाने वाला हो।

(vi) सरकार व्यय के अन्तरिम परिणामो और प्रभावो पर ध्यान दे।

मितव्ययता का प्रनियम अधिकतम सामाजिक लाभ के प्रनियम का ही दूसरा रूप है जिसका अभिप्राय है कि सरकार लोक वित्त का सगठन एक ठोस वित्तीय प्रणाली द्वारा करे और नैतिक दृष्टि से अपना यह कर्त्तव्य समझे कि जनता के धन का अपव्यय करने का उसे अधिकार नहीं है।

3. स्वीकृति का प्रनियम (Canon of Sanction)

स्वीकृति के प्रनियम का अर्थ यह है कि बिना उचित अधिकार के राजकीय द्रव्य का व्यय नही होना चाहिए। व्यय करने से पहले सम्बन्धित अधिकारियो से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस प्रनियम के अनुसार निम्नलिखित मुख्य बिन्दुओं का पालन किया जाना आवश्यक है—

(i) द्रव्य की जितनी मात्रा व्यय करने की स्वीकृति मिली हो उससे अधिक व्यय नही करना चाहिए।

1 *F Shirras* The Science of Public Finance p 40

(ii) जिस कार्य के लिए द्रव्य के व्यय की अनुमति मिली हो उसी कार्य पर व्यय किया जाना चाहिए।

(iii) व्यय की गई राशि का उचित अंकेक्षण होना चाहिए ताकि अनुचित ढंग से व्यय न किया जाये और विभिन्न अधिकारी अपने अधिकारो का अनुचित उपयोग और अपनी सीमाओं का उल्लंघन न कर सके।

(iv) किसी भी सरकारी कर्मचारी को उस राशि से अधिक व्यय करने की स्वीकृति नही दी जानी चाहिए जितना कि उसे स्वयं अधिकार है। यदि किसी अवसर पर उसे ऐसा करना आवश्यक हो जाए तो अपने से बड़े अधिकारी की, जिसे अधिक रकम व्यय करने की स्वीकृति देने का अधिकार है, पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

(v) ऋणो द्वारा लिया हुआ धन केवल उन्हीं कार्यों पर खर्च करना चाहिए जिनके लिए वह प्राप्त किया गया हो।

(vi) ऋण को उचित समय पर लौटाने के लिए शोधन-कोष (Sinking Fund) अथवा अन्य आवश्यक प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

वास्तव मे स्वीकृति के प्रनियम का महत्त्व इसमे निहित है कि इस प्रकार सार्वजनिक व्यय मे मितव्ययता आएगी, दोहरे व्यय नहीं होगे और फिजूलखर्ची रुकेगी। यदि स्वीकृति के नियमो का कठोरता से पालन किया जाए तो सार्वजनिक व्यय में एक नियमितता बनी रहती है क्योंकि प्रजातन्त्र मे सरकार भी सांविधानिक स्वीकृति के बाद व्यय करती है। विभिन्न विभागो को वित्त मन्त्रालय से स्वीकृति लेनी होती है और विभागो मे भी कुछ अधिकारियो की स्वीकृति द्वारा ही व्यय किया जाता [redacted]। यद्यपि इस प्रक्रिया में समय अवश्य नष्ट होता है, किन्तु सामाजिक हित को अधिकतम करने के लिए यह प्रक्रिया आवश्यक है।

4. आधिक्य का प्रनियम (Canon of Surplus)

आधिक्य के प्रनियम से आशय यह है कि सरकार को अपना आय-व्यय ऐसे सन्तुलित करना चाहिए जिससे कि ऋण की आवश्यकता न पड़े। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने व्यय को अपनी आय की सीमा में रखता है, ठीक उसी प्रकार सरकार को भी आय से अधिक अपना व्यय नहीं करना चाहिए। प्रो. शिराज के शब्दो मे, "व्यक्तिगत आय की भाँति सरकार को सन्तुलित बजट की सामान्य नीति का पालन करना चाहिए।" उन्होंने इस पर बल दिया है कि सरकार को प्राय सन्तुलित बजट अथवा थोड़ी-बहुत बचत के बजट बनाने चाहिए। घाटे की अर्थव्यवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन के पास किए गए एक प्रस्ताव का उल्लेख किया गया है जिसमे कहा गया था कि 'जो देश घाटे के बजटो की नीति को स्वीकार करते है, वे फिसलने वाले मार्ग पर चलते है जिसमे अत्यधिक बर्बादी हो सकती है और इससे बचने के लिए जो भी बलिदान किया जाए वह कम होगा। ग्लेडस्टन (Gladstone) ने भी इसी प्रकार कहा था, "जब सरकारे फिजूलखर्ची आरम्भ कर देती है तथा आय और व्यय के बीच का सन्तुलन टूट जाता है तो वित्त के क्षेत्र मे अन्धेरा छा जाता है और इसका परिणाम राजद्रोह तथा बर्बादी होता है इसलिए आधिक्य का प्रनियम ठोस राजस्व का आधार है।'

उपरोक्त विचार ठीक हैं क्योंकि घाटे के बजटो से जनता पर ऋण-भार बढ जाता है और देश तथा विदेशो मे सरकार का विश्वास कम होता है परन्तु कुछ परिस्थितियो मे देश के विकास की स्थिति मे ऐसे बजट नितान्त आवश्यक हो जाते है। उदाहरणस्वरूप युद्ध-काल मे सरकार का घाटे के बजटो के बिना काम नहीं चलता। अवसाद काल मे इस प्रकार के बजट नितान्त आवश्यक है क्योंकि इनकी सहायता से मूल्य-स्तर की गिरावट को रोका जा सकता है। आर्थिक नियोजन काल के घाटे के बजटो द्वारा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा किया जा सकता अत आधुनिक युग में खींच-मीच कर सन्तुलित बजट बनाने का उद्देश्य स्वीकार नही किया जा सकता। कुछ परिस्थितियो मे घाटे का बजट न सिर्फ अन्तिम विकल्प होता है वरन् अर्थव्यवस्था के लिए लाभप्रद भी होता है। वस्तुत कब कैसा बजट बनाया जाए, यह बहुत-कुछ परिस्थितियो पर निर्भर करता है। अवसाद-काल आर्थिक नियोजन-काल तथा युद्धकाल के समय घाटे के बजट मुद्रा-स्फीति के काल मे आधिक्य बजट और सामान्य ... में ... बनाना उपयोगी होता है।

5. लोच का प्रनियम (Canon of Elasticity)

इस प्रनियम के अनुसार व्यय-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे सार्वजनिक व्यय में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा सके अर्थात् परिस्थितियो में परिवर्तन होने पर, वह अपने आय-व्यय मे उसी अनुसार कमी-बेशी कर सके। कभी-कभी सरकार के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है कि उन पर नियन्त्रण के लिए सार्वजनिक व्यय मे एकदम कमी या वृद्धि करनी पडती है, पर व्यय को अनायास बढाने या घटाने मे बडी कठिनाई होती है। सरकार आय के नवीन साधन खोजती है, लेकिन साधनों को खोजने की एक सीमा होती है जिससे आगे आय नहीं बढाई जा सकती। अनायास व्यापक कर घटा देने से अर्थ-व्यवस्था मे अस्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त इन साधनो की खोज कर आय बढाने से समाज पर कभी-कभी बुरे प्रभाव पड जाते है। अत सार्वजनिक व्यय मे यथेष्ट लोच बनाए रखना चाहिए और यथासम्भव व्यय एक साथ न बढा कर धीरे-धीरे बढाना चाहिए तथा इसी प्रकार व्यय एक साथ कम न करके शनै-शनै कम करना चाहिए ताकि साधारण जनता में असन्तोष और अनिश्चितता न फैले। ब्यूहलर ने लिखा है, "सार्वजनिक व्यय के परिणामो का अनुमान लगाते समय उन परिणामो की ओर ध्यान देना होगा जो इस व्यय की पूर्ति करने मे करारोपण अथवा आय के अन्य उपयोगो के परिणामस्वरूप सामने आ सकते है।" सार्वजनिक व्यय ऐसा होना चाहिए कि उसमें समयानुसार परिवर्तन किए जा सके तथा सामाजिक हितो को क्षति न पहुँचे।

6. उत्पादिता का प्रनियम (Canon of Production)

इस प्रनियम के अनुसार सार्वजनिक व्यय इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे देश में नए उद्योगों की स्थापना हो, रोजगारो के अवसरो मे वृद्धि हो और जनता के जीवन-स्तर का विकास हो। राजकीय व्यय करते समय यह देख लेना चाहिए कि देश मे उत्पादन-शक्तियो का विकास किस स्थिति मे है। उत्पादन-शक्तियों का विकास हो रहा है अथवा नहीं ? यदि सरकार सीधे-सीधे उत्पादन पर व्यय नहीं करती तो भी व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिए कि देश का अर्थतन्त्र सुदृढता की ओर अग्रसर हो और उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं को प्रोत्साहन मिले। यदि जनता सन्तोष का अनुभव नहीं करती है और उसके जीवन-स्तर मे समुचित विकास नहीं होता है तो सार्वजनिक व्यय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। हेन्सन ने ठीक ही लिखा है, "कोई भी आधुनिक राष्ट्र सामाजिक और सार्वजनिक सेवाओं मे वृद्धि किए बिना अपने वर्तमान स्वरूप में बहुमुखी और उच्चतर जीवन-स्तर को उपलब्ध नहीं कर सकता।"

पिछली शताब्दी मे सुरक्षा, शान्ति-व्यवस्था और सामाजिक सेवाओं पर किए जाने वाला व्यय अनुत्पादक माना जाता था क्योकि इस व्यय से प्रत्यक्ष उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती परन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ से यह माना जाने लगा है कि इस प्रकार का व्यय अत्यन्त आवश्यक है क्योकि बिना इसके उत्पादन कार्य असम्भव है। चाहे इनसे प्रत्यक्ष उत्पादन-वृद्धि नहीं होती हो लेकिन परोक्ष रूप से इनके द्वारा उत्पादन में निश्चित वृद्धि होती है। जिस व्यय से पूँजी-निर्माण की गति बढती है बेकारी की समस्या हल होती है, उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढता है और सामाजिक हित पूरे होते है वे व्यय निश्चित रूप से उत्पादक है। सामाजिक सेवाओं से मनुष्य की कार्यक्षमता बढती है अत उन पर किया गया व्यय अनुत्पादक कहा जा सकता है।

7. समान वितरण का प्रनियम (Canon of Equity)

इस प्रनियम के अनुसार सार्वजनिक व्यय नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जो सम्पूर्ण जनता के लिए कल्याणकारी हो और जिससे धन के वितरण की विषमता कम हो। ऐसी किसी नीति को, जिससे गरीब अधिक गरीब तथा अमीर अधिक अमीर होते जाएँ, सार्वजनिक व्यय नीति मे कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के मूल मे यह निहित है कि देश मे आर्थिक विषमता मे जितनी कमी की जाएगी विकास उतना ही सर्वतोन्मुखी होगा और अधिकतम सामाजिक लाभ मिलेगा अत सरकार को पूरा ध्यान रखना चाहिए कि देश के पिछडे हुए क्षेत्रो में पर्याप्त सार्वजनिक व्यय किया जाए ताकि वे विकसित क्षेत्रो के समकक्ष आ सके। विकासशील देशों मे जहाँ आर्थिक नियोजन द्वारा देश के आर्थिक विकास के प्रयत्न किए जा रहे हैं इस पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कि धन का अधिकाधिक समान वितरण हो। राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धनी लोगो से प्रगतिशील करों द्वारा अधिकाधिक धन

प्राप्त करता है और निर्धन लोगों के हितो के लिए नि शुल्क शिक्षा चिकित्सा आवास-व्यवस्था मनोरंजन के कार्यों की व्यवस्था पर इस धन को व्यय करता है। इन सुविधाओं के माध्यम से निर्धन जनता का जीवन-स्तर ऊँचा होने मे सहायता मिलती है।

8 समन्वय का प्रनियम (Canon of Co-ordination)

इस प्रनियम के अनुसार विभिन्न स्तरो पर देश की शासक-इकाइयो को पारस्परिक परामर्श करके व्यय निर्धारित करना चाहिए। जिन देशों मे संघात्मक अथवा प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित है उनमे विभिन्न प्रकार की सरकारे स्थापित होती है—केन्द्रीय सरकार राज्य-स्तरीय सरकार तथा स्थानीय सरकार। ये तीनों शासन इकाइयां पृथक्-पृथक् साधनों से आय प्राप्त करती है और पृथक्-पृथक् मदो पर व्यय करती हैं। इनके द्वारा किए गए व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ तभी मिल सकता है जब इनके व्ययो में सामजस्य स्थापित हो पुनरावृत्ति की आशंका न हो और व्यय परिणामो मे परस्पर विरोध न हो।

वैगनर के विचार

(Wagner's Law)

यह नियम बताता है कि आर्थिक विकास के साथ सरकारी खर्च मे Absolute & Relative वृद्धि होती है। प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक विकास के स्तर का ऑकलन उसके सार्वजनिक व्यय से लगाया जाता है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होना इसका प्रतीक माना जाता है कि देश उन्नतिशील है। इसमे वृद्धि से प्रति व्यक्ति उत्पादन बढता है। इससे सकल राष्ट्रीय आय (GNI) मे वृद्धि होती है जिससे उपभोग मे वृद्धि होती है। यही विचार जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर ने प्रस्तुत किया इसे Wagner s Law भी कहते है।

वैगनर का यह नियम तीन दशाओं मे प्रभावक होता है—(i) सार्वजनिक सस्थानो की कार्य-कुशलता निजी सस्थानो से अधिक होती है। यह आर्थिक उन्नति निम्न कारण से होती है (अ) सार्जनिक सस्थानो का उत्पादन उत्तम किस्म का होता है। (ब) बाजार मे मॉग पूर्ति हेतु वस्तुओं का अभाव नहीं होता है। (स) उन्हे लागत हेतु पूँजी सरलता से उपलब्ध हो जाती है। (ii) सार्वजनिक व्यय से सामाजिक सेवाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग को मिलती हैं जैसे—औषधालय स्कूल पार्क आदि (iii) राज्य जो कार्य सम्पन्न कर सकता है ऐसे कुछ कार्य निजी सस्थान नहीं कर सकते अत सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हो जाती है। यह तीसरी स्थिति है। वैगनर ने सरकारी सेवाओ मे आय की लोच (Elasticity of Income) इकाई (Unit) से अधिक बताई है।

अत प्रनियमो पर चलकर सार्वजनिक व्यय द्वारा जनता को अधिकतम लाभ पहुँचाया जा सकता है और उत्पादक एव वितरक शक्तियो को प्रोत्साहित करके धन के वितरण की विषमता को कम किया जा सकता है। भारत का सार्वजनिक व्यय यद्यपि योजनाबद्ध ढग से होता रहा है और लाभ के प्रनियम को यथासम्भव ध्यान में रखकर राष्ट्र कृषि उद्योग शक्ति के साधन यातायात समाज कल्याण आदि पर व्यय करके चहुँमुखी विकास पथ पर अग्रसर है किन्तु अनेक दृष्टियो से यहाँ सार्वजनिक व्यय अमितव्ययी है। विदेशी अतिथियो के स्वागत आए दिन प्रतिनिधि मण्डलो की विदेश यात्रा सम्मेलन आदि पर बहुत अनावश्यक व्यय होता है। प्रशासनिक शिथिलता और दोषपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था के कारण सार्वजनिक व्यय का अपव्यय देखने मे आता है। कभी-कभी पूर्व-स्वीकृति के नियम का पालन नहीं किया जाता है जिससे अनेक धॉधलियॉ उत्पन्न होती है। भारत मे निरन्तर घाटे की अर्थव्यवस्था का आश्रय लिया गया है और लिया जा रहा है। व्यय उत्पत्ति के दृष्टिकोण से किया जाता है लेकिन उत्पादन की दर व्यय के अनुपात में कम है। इसके अतिरिक्त निश्चितता का अभाव है और देश के पहाडी तथा पिछडे क्षेत्रो की समुचित रूप से उन्नति नहीं हो रही है। नई योजनाओं मे इस ओर ध्यान दिया जा रहा है।

सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण

(Classification of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण से अभिप्राय राजकीय कार्यों को क्रमश सूचीबद्ध करना है ताकि राजकीय कार्यों की प्रकृति और इन पर होने वाले व्यय की सुगमता से जानकारी उपलब्ध हो सके।

सार्वजनिक व्यय से सम्बन्धित कोई सर्वमान्य वर्गीकरण आज उपलब्ध नहीं है अत हम यहाँ सभी प्रमुख वर्गीकरणों का सक्षेप में विवेचन करेगे जो निम्न प्रकार है—

1 लाभ के अनुसार वर्गीकरण

19वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने नागरिकों को प्राप्त होने वाले लाभ के आधार पर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किया था। इनमें जर्मनी के कोहेन तथा अमेरिका के प्लेहन के नाम प्रमुख हैं। प्लेहन ने सार्वजनिक व्यय को निम्नांकित चार भागों में बाँटा है—

पहले भाग मे ऐसे व्यय सम्मिलित किए गए हैं जिनसे समाज के सभी नागरिकों को समान लाभ मिलता है जैसे—सुरक्षा व्यय शिक्षा व स्वास्थ्य व्यय शासन और सडकों पर किया गया व्यय आदि। राज्य का सबसे अधिक व्यय ऐसे कार्यों में होता था।

दूसरे भाग मे ऐसे व्यय सम्मिलित किए गए जो कुछ विशेष व्यक्तियो अथवा वर्ग के लाभ के लिए किए गये परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण समाज उनसे लाभान्वित होता है। उदाहरणार्थ गरीबों और अपाहिजों की सहायतार्थ वृद्धों को दिया जाने वाला पेंशन व्यय। इस व्यय से उनका हित तो होता ही है किन्तु इससे सम्पूर्ण समाज भी लाभान्वित होता है क्योंकि उन व्यक्तियो को राज्य की ओर से सहायता न मिलने पर यह सम्भावना रहेगी कि वे समाज में अशान्ति पैदा कर दें।

तीसरे वर्ग मे वे व्यय होते हैं जो नागरिकों के हितों को ध्यान में रखते हुए किए जाते है इनसे कुछ विशेष लोगों को लाभ मिलता है और अन्य लोगों को कुछ न कुछ लाभ होता है। उदाहरणार्थ राजकीय न्यायालयो और न्यायाधीशों की नियुक्ति पर किया जाने वाला व्यय सम्पूर्ण जनता के हित के लिए किया जाता है पर इससे व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने वाले इच्छुक व्यक्तियो को न्यायालयो को कोर्ट फीस के रूप में निर्धारित शुल्क देना पड़ता है। इसमें यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्तियो को जीवनभर ऐसे सार्वजनिक व्यय से लाभ उठाने की आवश्यकता ही न पड़े।

चौथे भाग में वे व्यय सम्मिलित हैं जिनसे केवल उन्हीं लोगों को लाभ मिलता है जो राज्य को उन सेवाओं अथवा वस्तुओं का पूरा मूल्य चुकाते है। उदाहरणार्थ राजकीय उद्योगो जैसे—रेल तार डाक आदि पर किया गया व्यय।

पहली दृष्टि से तो यह वर्गीकरण सरल और युक्तिसगत लगता है क्योकि यह प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने वाले लाभों के अनुसार किया गया है लेकिन इसका गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो वर्गीकरण की व्यावहारिक उपयोगिता सदिग्ध है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमे गिनाए गए चारों वर्ग एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं हैं। लगभग सभी व्यय ऐसे होते है जो एक ओर तो सामूहिक लाभ प्रदान करते हैं और दूसरी ओर वे ही व्यय कुछ व्यक्तियों और वर्गों को भी लाभ पहुँचाते है। चौथा वर्गीकरण जिसमे यह कहा गया है कि कुछ सार्वजनिक व्यय केवल किसी वर्ग विशेष को लाभ पहुँचाने के लिए किए जाते है उचित और न्यायसगत नहीं है। प्रो निकल्सन का स्पष्ट मत है कि जो सार्वजनिक व्यय समस्त समाज को थोड़ा भी लाभ नहीं पहुँचाते अथवा लोक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए नहीं किए जाते वर्तमान राज्यों के ढाँचे में उनके लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तव मे विशेष लाभ और सार्वजनिक लाभ में स्थायी और ठोस भेद नहीं हैं। राज्य के समस्त व्यय जनता के हित मे होते है इसलिए हित के आधार पर व्यर्थ का वर्गीकरण करना बड़ा कठिन है। राजकीय सेवा प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति किसी न-किसी रूप में कुछ न कुछ त्याग अवश्य ही करता है चाहे वह त्याग अप्रत्यक्ष हो या प्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष त्याग की जानकारी कदाचित् सर्वसाधारण को न होती हो परन्तु यह सदिग्ध है कि बिना त्याग के राज्य की ओर से लाभ प्राप्त करना असम्भव है।

2 आय के अनुसार वर्गीकरण

प्रो निकल्सन ने सार्वजनिक व्यय से राज्य को प्राप्त होने वाली आय के आधार पर सरकारी व्यय का वर्गीकरण किया है। व्यय करने के लिए आय चाहिए और सरकार के व्यय प्रावधानों से किसी न किसी रूप मे राजकीय आय प्राप्त होती है। निकल्सन ने भी अपने वर्गीकरण के चार उपवर्ग किए हैं—

प्रथम जिससे राज्य को किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आय प्राप्त नहीं होती है जैसे—युद्ध व्यय निर्धन तथा अपाहिजो की सहायतार्थ किए गए व्यय आदि।

दूसरे जिससे राज्य को प्रत्यक्ष रूप मे तो कोई आय नही होती किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से आय की वृद्धि में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ राज्य की ओर से शिक्षा पर किए गए व्यय से व्यक्तियो की कार्य कुशलता और उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होती है जिससे जनता की करदेय क्षमता बढती है।

तीसरे जिससे राज्य को आशिक रूप में प्रत्यक्ष लाभ होता है अर्थात् जिससे शुल्क की दर सेवा के मूल्य से कम होती है। राज्य की ओर से खेतो की सिचाई के लिए नहरो पर किए गए व्यय जिसमे लागत का कुछ भाग सिचाई शुल्क के रूप मे प्राप्त हो जाता है तथा ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध जिसमे किए गए व्यय के एक भाग की पूर्ति छात्रो से ली जाने वाली फीस से हो जाती है इस वर्गीकरण के अच्छे उदाहरण है।

चौथे जिससे राज्य को इतनी आय हो जाती है कि राज्य की ओर से किया गया सम्पूर्ण व्यय तो वसूल होता ही है राज्य को अतिरिक्त आय भी प्राप्त होती है जैसे—रेल डाकखाने सडके आदि पर किया गया व्यय।

प्रो निकल्सन का वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नहीं है। यह वर्गीकरण केवल वित्त मन्त्री के लिए लाभप्रद हो सकता है क्योकि उनके लिए यह जानना आवश्यक है कि किस मद से कितनी आय होती है। सार्वजनिक व्यय का यह वर्गीकरण सार्वजनिक व्यय की प्रकृति और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट नहीं करता। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के क्षेत्र इसमे अस्पष्ट हैं। सार्वजनिक व्यय की कोई मद ऐसी नहीं होती जिससे राजकीय आय मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि न होती हो। उदाहरणार्थ हम पहले वर्ग को ले तो प्रश्न उठता है—क्या गरीबों और अपाहिजों की सहायतार्थ किया गया व्यय अप्रत्यक्ष रूप से राजकीय आय को सुचारु रूप से चलाने मे और सग्रह करने मे सहायता नहीं करता ? यदि हा तो व्यय के इस वर्ग को दूसरे वर्ग मे लेना चाहिए लेकिन यदि ऐसा किया जाता है तो प्रथम और द्वितीय वर्ग मे कोई अन्तर नहीं रहता। स्पष्ट है कि प्रो निकल्सन द्वारा किया गया वर्गीकरण काहेन और प्लेहन के वर्गीकरण से कहीं उत्तम है।

3 कार्य के अनुसार वर्गीकरण

प्रो एडम्स ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण राज्य के कार्यों के आधार पर किया है। उसके अनुसार सार्वजनिक व्यय तीन प्रकार का है—सुरक्षात्मक व्यापारिक और विकासात्मक। बाह्य आक्रमणो से देश की सुरक्षा और देश मे आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से राज्य सेना और पुलिस आदि पर जो व्यय करता है वे राज्य के सुरक्षात्मक व्यय है। दूसरे वर्ग में वे खर्चे सम्मिलित किए गए है जो राज्य द्वारा व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के लिए किए जाते है जैसे—रेल तार डाक बिजली आदि के नियन्त्रण तथा नियमन पर राज्य द्वारा किया जाने वाला व्यय। अन्तिम वर्ग अर्थात् विकास सम्बन्धी व्यय मे वे खर्चे रखे गए हैं जो देश के विकास के लिए और नागरिको के कल्याण के लिए किए जाते है जैसे—शिक्षा स्वास्थ्य सामाजिक बीमा गृह निर्माण आदि पर किया गया व्यय।

प्रो एडम्स का वर्गीकरण इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त है कि उन्होने व्यय के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग रखने के लिए राजकीय व्यय से नागरिकों के कल्याण पर पडने वाले प्रभाव को आधार माना है परन्तु अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाए है। विभिन्न विद्वानो के अनुसार इस वर्गीकरण का सबसे बडा दोष यह है कि हम एक व्यय को किसी दूसरे व्यय से किसी ठोस आधार पर अलग नहीं कर सकते क्योकि एक ही व्यय विभिन्न दृष्टिकोणो से सुरक्षात्मक व्यापारिक और विकासात्मक हो सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यय देश और नागरिको के विकास मे सहायता करता है। इसी तर्क के आधार पर सैलिगमैन बैस्टेबल एव मिल आदि प्रमुख अर्थशास्त्रियो ने एडम्स के इस वर्गीकरण की आलोचना की है। निष्कर्षत यह स्वीकार करना ही पडेगा कि एडम्स ने राजकीय व्यय के वर्गीकरण का एक बहुत ही उत्तम आधार चुना है।

4 उत्पादक एव अनुत्पादक व्यय के आधार पर वर्गीकरण

इस वर्गीकरण के अनुसार कुछ अर्थशास्त्रियो ने राजकीय व्यय को उत्पादक व्ययो तथा अनुत्पादक व्ययो के आधार पर विभक्त किया है। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि उत्पादक और

अनुत्पादक व्यय किन्हे कहते है तथा दोनो में क्या अन्तर है ? यह भी जानना चाहिए कि जो व्यय उत्पादक है उनकी शक्ति की जॉच का मापदण्ड क्या होना चाहिए और क्या उत्पादक व्यय मे उन व्ययो को ले सकते है जिनसे राज्य को मुद्रा के रूप मे प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है ? यह सर्वविदित है कि प्रत्येक देश में राज्य द्वारा ऐसी अनेक मदो पर धन व्यय किया जाता है जो अनुत्पादक होते है किन्तु उनसे समाज को बहुत लाभ प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, राजकीय सिचाई सम्बन्धी व्यय से आय सदैव कम रहती है, लेकिन इस व्यय को अनुत्पादक नहीं माना जा सकता। यह कहा जाता है कि उत्पादक व्यय वे है जिनसे राज्य को कम से कम इतनी आय प्राप्त हो जाती है कि व्यय पूरा निकल आता है अथवा जिनसे समाज के आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति होती हो, जैसे—रेल सडक तथा शिक्षा आदि पर किया गया व्यय। सिचाई जैसी मदो पर किया गया व्यय राज्य को चाहे कोई मौद्रिक लाभ प्रदान न कर सके फिर भी ऐसे व्यय को सामाजिक कल्याण मे वृद्धि की दृष्टि से उत्पादक कहा जाएगा।

अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साधारणतया राज्य द्वारा बुद्धिमानी से किया गया व्यय उत्पादक ही होगा। ऐसे व्ययो मे से कुछ तो राजकीय आय मे प्रत्यक्ष और तत्काल वृद्धि करते है और कुछ दीर्घकाल मे, किन्तु दोनो ही 'उत्पादन' माने जाएँगे। उत्पादक व्यय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राज्य को मुद्रा के रूप मे ही लाभ की प्राप्ति हो अपितु उस व्यय से समाज का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हित होना आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि राज्य द्वारा यातायात और सवहन, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि पर किए जाने वाले व्यय दीर्घकाल मे उत्पादक ही सिद्ध होगे क्योकि इससे समाज के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत जो व्यय अनुत्पादक होते है उनसे न तो मौद्रिक रूप मे आय प्राप्त होती है और न समाज के आर्थिक क्षेत्र मे वृद्धि हो पाती है। उदाहरणार्थ, युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक ही है जिसमें पराजय हो गई हो। इसका अर्थ यह नही कि जीते गए सभी युद्धो पर होने वाला व्यय उत्पादक होगा।

5. आवश्यक एवं ऐच्छिक व्यय के आधार पर वर्गीकरण

मिल ने प्रो. एडम्स के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए राजकीय व्यय को दो भागो मे विभक्त किया है—(i) आवश्यक (Necessary) तथा (ii) ऐच्छिक (Optional)। आवश्यक व्यय वे है जिन्हे सरकार अपने कुछ पुराने वचनो अथवा कानूनी प्रतिबन्धो के कारण अनिवार्य रूप से करती है, जैसे—रक्षा, न्याय आदि पर किया गया व्यय। ऐच्छिक व्यय वे है जो सरकार की इच्छा पर निर्भर करते है और सरकार उनमे यथासम्भव परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन कर सकती है जैसे—रेलो, लोक-उपक्रमो आदि पर होने वाला व्यय।

यह वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नही है क्योकि सरकार के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों का विभाजन करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव मे आधुनिक राज्य का प्रत्येक व्यय आवश्यक है और राज्य से कोई भी ऐसा व्यय करने की आशा नही की जा सकती जो बेकार या अनावश्यक हो। ऐच्छिक व्यय ऐसे होते है जो आवश्यकतानुसार किये जावे समयानुकूल उन्हे आवश्यक व्यय मे सम्मिलित किया जा सकता है। युद्ध-काल में युद्ध जीतने के लिए किया जाने वाला राजकीय व्यय अनिवार्य प्रकृति का होता है जबकि उन दिनो मे शिक्षा और स्वास्थ्य पर किया जाने वाला राजकीय व्यय ऐच्छिक हो सकता है। इसके विपरीत शान्तिकाल मे यह वर्गीकरण ठीक नही हो सकता। अत स्पष्ट है कि समय की आवश्यकता के अनुसार आवश्यक व्यय ऐच्छिक वर्ग मे और ऐच्छिक व्यय आवश्यक वर्ग मे डाले जा सकते है। इस दृष्टि से भी मिल का वर्गीकरण अनिश्चित है।

6. आवश्यक, लाभदायक एव हानिप्रद व्यय के अनुसार वर्गीकरण

जर्मन अर्थशास्त्री प्रो रोशर (Roscher) ने सार्वजनिक व्यय को आवश्यक उपयोगी और फालतू तीन वर्गों मे विभाजित किया है। इस वर्गीकरण का आधार कदाचित् आवश्यकता की तीव्रता रखा गया है। रोशर के अनुसार आवश्यक व्यय वे है जिन्हे सरकार को आवश्यकतानुसार अनिवार्य रूप से पूरा करना चाहिए। लाभदायक व्यय वे है जिन्हे यथासमय परिस्थिति के कारण स्थगित किया जा सकता है। फालतू व्यय वे है जिन्हे करने या न करने का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। ऐसे व्ययो की महत्ता और आवश्यकता दूसरे वर्ग मे लिए जाने वाले व्ययो से भी कम होती है।

रोशर के वर्गीकरण मे वही कठिनाई आती है जो मिल के वर्गीकरण मे है। इन तीनो प्रकार के व्ययो को एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् रखना या पृथक् करने के लिए ऐसे नियम बनाना कठिन है जिससे निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि राजकीय व्यय का अमुक व्यय द्वितीय वर्ग मे और अमुक व्यय प्रथम वर्ग मे आ जाएगा। यह जानना अत्यन्त कठिन है कि किस व्यय को अनावश्यक माना जाए किसको लाभदायक और किसको आवश्यक। द्वितीय राज्य द्वारा किए गए किसी भी व्यय को फालतू नहीं कहा जा सकता। आज के विश्व का कोई भी राज्य अनावश्यक व्यय करना राजकीय व्यय के प्रनियमों के प्रतिकूल मानता है। तृतीय व्यय किसी विशेष समय मे किसी एक देश के लिए आवश्यक होते है वे ही व्यय दूसरे देश के लिए उसी समय या उसी देश के लिए दूसरे समय के कदाचित् अनावश्यक व्यय की गणना मे सम्मिलित नही किए जा सकते है।

7 हस्तान्तरित एव अहस्तान्तरित व्यय वर्गीकरण

प्रो पीगू ने व्यय को हस्तान्तरित और अहस्तान्तरित (Transferable and Non transferable) नामक दो भागो मे विभाजित किया है। हस्तान्तरित होने वाला व्यय वह है जो राष्ट्र की सम्पत्ति के साधन की सेवाओं को क्रय करने में होता है। हस्तान्तरित व्यय के अनुसार राज्य धन को केवल हस्तान्तरित करता है अर्थात् राज्य समाज से कर आदि के रूप मे लिए गए धन को (धन सग्रह करने के व्यय को काटकर बाकी बचा हुआ) समाज को वापस कर देता है। यह व्यय सरकार द्वारा नागरिको के हितो के लिए किया जाता है। राज्य विभिन्न करों द्वारा समाज के लोगो से द्रव्य प्राप्त करता है जिसे हम राजकीय व्यय कहते है और इस आय के एक भाग को वट वृद्ध लोगो की सेवावृत्ति युद्ध से सेवानिवृत्त सिपाहियो की सेवावृत्ति निर्धन और अपाहिजो की आर्थिक सहायता बीमारी भत्ता बेरोजगारी भत्ता कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन के लिए आर्थिक सहायता आदि के रूप मे पुन वितरण करता है। राजकीय व्यय की यह राशि समाज के लो को या तो मुफ्त मे अथवा उनकी सम्पत्ति के अधिकार के क्रय करने में व्यय की जाती है। ऐसे व्यय का वितरण उत्पादन पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड सकता है। इस व्यय के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का उपभोग नहीं होता और प्रबन्ध व्यय के अतिरिक्त वास्तविक साधनो का समर्पण नहीं होता।

हस्तान्तरित न होने वाले अथवा अहस्तान्तरित व्यय वे है जो सरकार द्वारा अपने लाभ के लिए किए जाते है। प्रो शिराज के शब्दो मे अहस्तान्तरित व्यय मे वे व्यय शामिल किए जाते है जिनसे राज्य समाज की उत्पत्ति के साधनो को काम मे लाता है। इस व्यय के अन्तर्गत जल थल एव नभ सेनाओं पर होने वाले व्यय तथा नागरिक प्रशासन शिक्षा सेवाओं न्यायालयो ड ार आदि पर होने वाले व्यय सम्मिलित है। अहस्तान्तरित व्यय मे राष्ट्रीय आय का उपभोग होता है। राज्य समाज की उत्पत्ति के साधनों को काम मे लाता है और समाज को उन साधनो के उपयोग से वचित रखता है। प्रो पीगू ने अहस्तान्तरित व्यय को वास्तविक अथवा विस्तृत व्यय भी कहा है। सडक नहर पुल शिक्षालय आदि के निर्माण मे राज्य की ओर से किए जाने वाले व्यय के माध्यम से राज्य उत्पत्ति के साधनो का प्रयोग करता है।

प्रो पीगू ने राजकीय विद्युतयन्त्र निर्माण मे किए गए व्यय को वास्तविक और विस्तृत व्यय के उदाहरण के रूप मे दिया है। यहाँ पर यन्त्र निर्माण मे दिया गया मजदूरी व्यय विस्तृत अर्थ मे है किन्तु यह समझ में नही आता है कि क्या केवल वही मजदूरी विस्तृत है जो साधारण तौर पर दी जानी चाहिए अथवा जो साधारण मजदूरी से अधिक दी जाए वह विस्तृत है? वस्तुत अधिक दी जाने वाली मजदूरी हस्तान्तरित व्यय मे शामिल की जानी चाहिए लेकिन बहुधा राजकीय व्यय मे दोनो प्रकार के व्यय शामिल रहते है। यदि देश के निवासियो के लिए वेतन के रूप मे उचित सेवा पुरस्कार से अधिक व्यय किया जाय तो वह इस वर्गीकरण के प्रथम वर्ग मे शामिल होगा क्योकि समाज से प्राप्त किया गया धन समाज के लोगो को हस्तान्तरित किया जाता है। यदि देश की जनता से राजकीय ऋण प्राप्त किया जाए और उस पर ब्याज के रूप मे धन ऋणदाताओं को दिया जाए तो इस व्यय को प्रथम वर्ग मे शामिल किया जाएगा लेकिन यदि विदेशो से ऋण लेकर उन्हे ब्याज के रूप मे धन दिया जाएगा तब वह व्यय दूसरे वर्ग की गिनती मे ही आएगा।

द्वारा व्ययकारी सत्ताओं पर वित्तीय उत्तरदायित्व लागू करना आदि कार्य व्यवस्थापिका के है। अधिकाश लोकतन्त्रात्मक देशो मे इन कार्यों का सम्पादन निम्न सदन करता है जो कि एक निर्वाचित सदन होता है। उच्च सदन की वित्तीय शक्तियाँ विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न है। भारत मे ससदीय पद्धति ब्रिटिश प्रणाली पर आधारित है। ब्रिटिश लोकसभा की भाँति भारतीय लोक-सभा वित्तीय स्वीकृति तभी देती है जब धन के लिए माँगो और करारोपण के प्रस्तावो को ससद् के सम्मुख प्रस्तुत करती है और ससद् इन पर अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। ससद् को इनमे वृद्धि करने का अधिकार नही होता, वह केवल कटौती कर सकती है।

2. कार्यपालिका (The Executive)—वित्तीय प्रशासन का एक दूसरा मुख्य अभिकरण कार्यपालिका है जिसके द्वारा वित्तीय नीति का निर्धारण और वित्तीय माँगो का व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुतीकरण होता है। बजट-निर्माण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद 112 के अनुसार राष्ट्रपति ससद् के दोनो सदनों के सम्मुख वित्तीय वर्ष के लिए सरकार की अनुमानित प्राप्तियो और व्यय का एक विवरण प्रस्तुत करता है।

3. वित्त विभाग (The Finance Department)—वित्तीय मामलो की देख-रेख करने वाला केन्द्रीय विभाग एक या एक से अधिक हो सकता है। यह विभाग विभिन्न प्रशासकीय मन्त्रालयो के साथ मिलकर विचार-विमर्श करके वार्षिक वित्त विवरण तैयार करता है। बजट पर ससदीय अनुमति प्राप्त हो जाने पर वित्त मन्त्रालय सरकार के सम्पूर्ण व्यय को नियन्त्रित करता है और यह देखता है कि प्रशासकीय मन्त्रालयो द्वारा सार्वजनिक व्यय मे मितव्ययिता बरती जाए। वस्तुत वित्तीय प्रशासन का सम्पूर्ण ताना-बाना उसी मन्त्रालय के चारो ओर बुना जाता है। ग्रेट ब्रिटेन मे यह दायित्व राजकोष पर और भारत तथा राष्ट्रमण्डलीय देशो मे वित्त मन्त्रालय पर है। सयुक्तराज्य अमेरिका मे वित्तीय व्यवस्था का सचालन करने के लिए ऐसी कोई एकीकृत व्यवस्था नही है। वहाँ अनेक पृथक् विभाग और अभिकरण वित्तीय प्रशासन के विभिन्न पहलुओं का सचालन करते है।

4. लेखा-परीक्षा विभाग (The Audit Department)—यह विभाग देखता है कि व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत धन का व्यय व्यवस्थापिका के आदेशानुसार ही हुआ है या नही। लेखा-परीक्षा विभाग कार्यपालिका के अधीन न होकर एक स्वतन्त्र निकाय होता है। धन व्यय होने के उपरान्त लेखा-परीक्षा द्वारा सम्पूर्ण व्यय पर अन्वेषी प्रकाश डाला जाता है उसकी बारीकी से जाँच की जाती है ताकि व्यय की वैधता और औचित्य का निश्चय हो जाए। भारत मे 1913 से ही लेखा-परीक्षा की स्वतन्त्रता सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त कर चुकी है और वर्तमान सविधान के अनुच्छेद 148 से 151 लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक के कार्यों एव स्थिति पर प्रकाश डालते है और उसे केवल ससद् के समक्ष उत्तरदायी ठहराते है।

5. संसदीय समितियाँ *(Parliamentary Committees)*—ससद् की दो महत्त्वपूर्ण समितियाँ—अनुमान समिति (Estimates Committee) तथा सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee) देश के वित्तीय सगठन पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है। अनुमान समिति सरकार के विभिन्न विभागो के व्यय मे मितव्ययिता लाने के सुझाव देती है। सार्वजनिक लेखा समिति नियन्त्रक एव महालेखा-परीक्षक के प्रतिवेदन को ध्यान मे रखते हुए विनियोजन-लेखा की जाँच करती है और उनमे पाई जाने वाली वित्तीय अनियमितताओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए भविष्य मे उनकी रोकथाम के लिए सुझाव देती है। ये महत्त्वपूर्ण समितियाँ ग्रेट ब्रिटेन भारत तथा अधिकाश राष्ट्रमण्डलीय देशो मे पाई जाती है सयुक्तराज्य अमेरिका मे नहीं।

उपर्युक्त सभी साधनो अथवा उपकरणो द्वारा सार्वजनिक धन के व्यय पर आवश्यक नियन्त्रण रखा जाता है। वित्तीय नियन्त्रण का अन्तिम उद्देश्य शासन को जागरूकता ईमानदारी और मितव्ययिता के साथ सचालित करना होता है ताकि सरकार को जो धन करदाताओं से प्राप्त हुआ है उसका दुरुपयोग न हो सके।

सार्वजनिक व्यय का उत्पादन और रोजगार पर प्रभाव
(Effect of Public Expenditure on Production and Employment)

डॉल्टन ने सार्वजनिक व्यय के बहुमुखी प्रभावो का तीन शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन किया है—उत्पादन पर प्रभाव वितरण पर प्रभाव एव अन्य प्रभाव। किसी भी देश मे उत्पादन तथा रोजगार के स्तर पर सार्वजनिक व्यय का तीन प्रकार का प्रभाव पडता है—

(क) काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की शक्ति पर प्रभाव
(Effect on Ability to Work, Save and Invest)

सार्वजनिक व्यय लोगो के काम करने बचत करने तथा विनियोग करने की शक्ति और इच्छा को कई तरह से प्रभावित कर सकता है। यदि सरकारी व्यय व्यक्ति की कार्य-क्षमता मे वृद्धि करता है तो उससे उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। सार्वजनिक व्यय से लोगो को आय प्राप्त होती है तथा उनकी क्रय-शक्ति बढती है। पेशन भत्ते बेकारी और बीमार-लाभ वस्तुओं तथा सेवाओं पर किए गए व्यय से सभी लोगो की क्रय-शक्ति बढती है जिससे उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठता है उनकी शारीरिक एव मानसिक प्रगति होती है और उनकी कार्यक्षमता बढती है जिससे दीर्घकाल मे उत्पादन में वृद्धि होती है। सार्वजनिक व्यय देश मे उत्पादन को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। सार्वजनिक व्यय निम्न आय वाले वर्गों के लिए अतिरिक्त आय की व्यवस्था करके उनकी बचतो मे वृद्धि कर सकता है क्योंकि लोगो की आय बढेगी। उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे अधिक बचाएँगे। अन्तत सार्वजनिक व्यय विशेष रूप से सरकारी ऋणो की वापसी पर किया जाने वाला सरकारी व्यय उन लोगो को अतिरिक्त धनराशियाँ प्रदान करेगा जो उसे विनियोग कर सकते है। स्पष्ट है कि बचत करने तथा विनियोग करने की शक्ति मे वृद्धि से उत्पादन एव रोजगार की मात्रा बढ सकती है।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने निर्धन लोगो की क्रय शक्ति और आय बढाने मे भय प्रकट किया है और कहा है कि अधिक धन प्राप्ति से उनकी आदते बिगड सकती है और उनमे अपव्यय की प्रवृत्ति बढ सकती है। ये कार्यक्षमता बढाने वाले पदार्थों पर व्यय न करके मदिरापान और जुआ जैसे हानिकारक तथा कार्यकुशलता घटाने वाले कार्यों या पदार्थों पर व्यय करना शुरू कर देते है। उक्त शका कुछ सीमा तक ठीक हो सकती है तथा यह सम्भव है कि अल्पकाल मे उनकी कार्यक्षमता न बढे किन्तु दीर्घकाल मे उनकी कार्यक्षमता मे अवश्य ही वृद्धि होगी। वास्तव मे मनुष्यों की कार्यक्षमता का घटना या बढना राज्य द्वारा किए गए व्यय की व्यवस्था पर बहुत कुछ निर्भर करता है। सार्वजनिक व्यय के हानिकारक प्रभावो की समस्याओं को मुख्यत तीन उपायो द्वारा दूर एव कम किया जा सकता है—

प्रथम निर्धन वर्ग की आय मे वृद्धि एकदम न करके धीरे-धीरे की जाए। सरकारी सहायता नकद रूप में न दी जाकर वस्तुओं के रूप मे दी जाए ताकि सहायता के दुरुपयोग की सम्भावना न रहे और सहायता प्राप्त व्यक्तियो की कार्यक्षमता मे निश्चित वृद्धि हो। उदाहरण के लिए राज्य नि शुल्क शिक्षा चिकित्सा सस्ते और कम किराए वाले मकान आदि के रूप मे सहायता प्रदान कर सकता है। इन सभी से व्यक्तियो की कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी और सहायता के दुरुपयोग की सम्भावना न्यूनतम रहेगी। इन्हीं लाभो के कारण दिन-प्रतिदिन आधुनिक सरकारे इन मदो पर अपने व्यय बढाती जा रही है।

दूसरे राज्य अपने व्ययो द्वारा कुछ ऐसी सुविधाएँ प्रदान कर सकता है जिनकी सहायता से व्यक्ति अधिक अच्छी तरह उत्पादन कर सके। उदाहरणार्थ रेल सडक सिचाई विद्युत आदि के विकास पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन को प्रोत्साहित करता है।

तीसरे राज्य उपभोग को घटाकर और आय को बढाकर व्यक्तियो की बचत करने की शक्ति मे वृद्धि कर सकता है। चूँकि कुछ सार्वजनिक व्ययो से व्यक्तियो की आय मे वृद्धि होती है अत व्यक्ति अधिक बचत करने मे समर्थ हो जाते है।

स्पष्ट है कि सार्वजनिक व्यय से व्यक्तियो के काम करने और बचत करने की शक्ति पर अच्छा प्रभाव पडता है। यदि राज्य की व्यय-नीति देश की पूँजी बढाने मे प्रोत्साहन देने मे सफल होती है तो अवश्य ही देश मे उत्पादन बढता है। राज्य अपनी व्यय-नीति द्वारा विभिन्न आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा मे आवश्यकतानुसार सन्तुलन रख सकता है।

(iii) विदेशी आक्रमणो के विरुद्ध देश की रक्षा और देश मे शान्ति-व्यवस्था से सम्बन्धित व्यय।
(iv) न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी व्यय।
(v) कृषि उद्योग एव वाणिज्य के विकास तथा इसी प्रकार के अन्य विकास से सम्बन्धित व्यय।
(vi) शिक्षा कल्याण एव सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।
(vii) राजकीय ऋण सम्बन्धी व्यय।

डॉल्टन ने सार्वजनिक व्यय को दो वर्गों मे विभाजित किया है—(क) अनुदान और (ख) क्रय-मूल्य। जब सरकार को किसी व्यय के बदले कोई वस्तु अथवा सेवा प्राप्त नहीं होती तो ऐसे न्याय को अनुदान की सज्ञा दी जाती है। इसके विपरीत जब सरकार को किसी व्यय के बदले कोई वस्तु अथवा सेवा प्राप्त होती है तो उसे क्रय-मूल्य कहा जाता है। अकाल-सहायता बाढ-पीडितो को आर्थिक सहायता वृद्धावस्था-पेंशन आदि अनुदान होते है। अनुदान को निर्यात प्रब्याज और अर्थ-सहायता के रूप मे दिया जा सकता है। अनुदान दो प्रकार के होते है—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष अनुदान वे हैं जो किसी एक व्यक्ति को दिए जाते है और उनका लाभ उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है। अप्रत्यक्ष अनुदा वे होते है जो एक व्यक्ति को दिए जाते है परन्तु उनका लाभ दूसरे व्यक्तियो को भी प्राप्त होता है। डॉल्टन ने अपने वर्गीकरण को एक निश्चित विभाजन-रेखा की आलोचना से बचाने के लिए कहा है—व्यवहार मे कभी कभी दोनो प्रकार के व्यय (अनुदान और क्रय-मूल्य) एक साथ सामने आते है। उदाहरण के लिए सरकार किसी सेवा के लिए जो मूल्य देती है यदि वह उस मूल्य से ऊँचा है जो निजी व्यक्ति द्वारा दिए जाएँगे तो यह आधिक्य अनुदान कहा जाएगा। इसी प्रकार ऋण पर दिया गया ब्याज अनुदान भी है और क्रय-मूल्य भी।

डॉल्टन का वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से इतना उपयुक्त नहीं है जितना तार्किक दृष्टि से। प्रथम यह पता लगाना सरल नही है कि व्यय का कितना हिस्सा अनुदान है और कितना हिस्सा क्रय-मूल्य। दूसरे यह सही नही है कि ऋण पर दिया गया ब्याज अनुदान और क्रय-मूल्य दोनो होता है। ब्याज अनुदान नहीं होता केवल क्रय-मूल्य ही रहता है। उस समय जो ब्याज का भुगतान किया जाता है वह क्रय मूल्य ही रहता है क्योकि सरकार ऋण के बराबर लाभ प्राप्त करती रहती है।

12 श्रीमती हिक्स का वर्गीकरण

श्रीमती हिक्स ने सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे एडम स्मिथ के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। उन्होंने सार्वजनिक व्यय को चार भागों मे बॉटा है—सुरक्षा व्यय नागरिक प्रशासन व्यय आर्थिक व्यय तथा सामाजिक व्यय। प्रथम प्रकार के व्यय मे सीमा सम्बन्धी पूँजीगत सामान उद्योग बारूद वेतनो का भुगतान आदि सम्मिलित है। दूसरे प्रकार का व्यय देश मे प्रशासन कानून और न्याय की व्यवस्था के निमित्त किया जाता है। तीसरे वर्ग का व्यय आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया जाता है। उद्योगो को अनुदान और आर्थिक सहायता देना तथा राजकीय उपक्रमो का सचालन व्यय इसके उदाहरण है। चौथे प्रकार का व्यय अर्थात् सामाजिक व्यय सामाजिक देशो मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा स्वास्थ्य सामाजिक बीमा आदि पर किए गए व्यय इसके उदाहरण है।

13 अमेरिकी वर्गीकरण

सयुक्त राज्य अमेरिका मे सघ सरकार के व्यय मे क्रियात्मक वर्गीकरण को अपनाया गया है जिसके व्यय निम्नलिखित मदो मे बॉटे गए है—

(i) मुख्य राष्ट्रीय सुरक्षा (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विषय एव वित्त (iii) आवश्यक सेवाएँ तथा लाभ (iv) श्रम एव कल्याण (v) कृषि (vi) प्राकृतिक साधन (vii) वाणिज्य एव आवास (viii) सामान्य प्रशासन एव (ix) ब्याज। इनमे से प्रत्येक मद के अन्तर्गत विभिन्न सहायक कार्य सम्मिलित है। इस वर्गीकरण को व्यावहारिक रूप देना बडा कठिन है क्योकि एक मद मे सम्मिलित होने वाले व्यय कई अन्य मदों मे भी सम्मिलित हो सकते है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा व्यय की मदे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों सम्बन्धी मदो मे भी शामिल की जा सकती है विशेषकर विदेशी सहायता। इस व्यावहारिक

कठिनाई के बावजूद अधिकाश अमेरिकन अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण को उत्तम मानते हैं । उनका मत है कि कार्यात्मक वर्गीकरण से बजट के विभिन्न अगो की सामान्य जानकारी सुविधाजनक हो जाती है और यह पता चल जाता है कि सरकार करदाताओं से प्राप्त धन का किस प्रकार उपयोग कर रही है और उसका बजट सम्बन्धी नियन्त्रण कैसा है ?

निष्कर्षत सार्वजनिक व्यय का कोई भी वर्गीकरण न तो पूर्ण हो सकता है और न एकदम दृढ ही । विगत वर्षों में राज्य के कार्यों मे इतनी अधिक और तीव्र गति से वृद्धि हुई तथा राज्य के विभिन्न कार्यों का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि सार्वजनिक व्यय को स्पष्ट रूप से अलग-अलग वर्गों मे नही बाँटा जा सकता । फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सरकार साधारणतया इन मदो पर अवश्य व्यय करती है—शान्ति एव सुरक्षा आर्थिक-निर्माण व विकास सामाजिक कल्याण न्याय-व्यवस्था नागरिक प्रशासन और सामाजिक ऋण-व्यवस्था । वस्तुत सार्वजनिक व्यय का सबसे अच्छा वर्गीकरण वही है जो व्यय के उन सार्वजनिक उद्देश्यो पर प्रकाश डाले जिनसे अधिकतम लोकहित की साधना होती हो ।

सार्वजनिक व्यय का नियन्त्रण
(Control of Public Fxpenditure)

व्यय-नियन्त्रण का वास्तविक उद्देश्य यह है कि सरकार द्वारा जो कुछ व्यय किया जाए वह समस्त समाज के लाभ के लिए हो व्यय नियमितता और मितव्ययिता के आधार पर किया गया हो ताकि जनता के धन का दुरुपयोग या अपव्यय न हो पाए । लुटज ने लिखा है कि— सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय होने वाली धनराशि का विवेकपूर्ण निर्धारण ही व्यय-नियन्त्रण कहलाता है ।

व्यय नियन्त्रण की विधियाँ

व्यय-नियन्त्रण की प्रमुख विधियाँ निम्नानुसार है—

1 सही और प्रभावी बजट का निर्माण—बजट सरकार के आय-व्यय का विस्तृत विवरण होता है । बजट के अनुमान जितने सही होगे अर्थात् जितनी सुघडता से बजट तैयार किया जाएगा वित्तीय नियन्त्रण उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा ।

2. व्यय का पूर्व नियोजन—व्यय-नियन्त्रण के लिए आवश्यक है कि व्यय एक पूर्व निश्चित योजना के आधार पर किया जाए ।

3. लेखा एव अकेक्षण की उचित व्यवस्था—सभी व्ययो के लेखे विधिवत् और व्यवस्थित रखे जाने चाहिए तथा उसके अकेक्षण की प्रभावशाली व्यवस्था होनी चाहिए ताकि सार्वजनिक व्यय की अनियमितताओं और दुरुपयोग का पता चल जाए ।

4 खरीददारी की केन्द्रीय प्रणाली—विभिन्न विभागो के लिए सामग्री खरीदने के लिए सरकार को खरीददारी की एक केन्द्रीय प्रणाली अपनानी चाहिए ताकि न केवल व्यय पर समुचित नियन्त्रण रखा जा सके वरन् भ्रष्टाचार और अपव्यय के उन्मूलन मे अपेक्षित सहायता मिले ।

5. अन्य विधियाँ—व्यय-नियन्त्रण की कुछ अन्य विधियाँ हो सकती है जैसे—शिक्षा का प्रसार वित्तीय सूचनाओं और ऑकडो के सग्रह की समुचित सुविधा वित्तीय अनुसधान करदाताओं के शक्तिशाली सघर्ष की स्थापना आदि ।

भारत मे वित्तीय नियन्त्रण और वित्तीय प्रशासन

भारत मे वित्तीय नियन्त्रण तथा वित्तीय प्रशासन के निम्न मुख्य अभिकरण है—

1 व्यवस्थापिका (The Legislature)—प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में राजस्व पर व्यवस्थापिका का अधिकार होता है । व्यवस्थापिका ही आय-व्यय की मदो को निर्धारित करती है । ससद् की सत्ता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर न लगाया जाए । वार्षिक बजट के माध्यम से सार्वजनिक धन का सरकारी क्रियाओं पर खर्च के लिए विनियोजन कर करो की अनुमति देना तथा करो की वर्तमान दरो मे वृद्धि करना वास्तविक ऋण की शक्ति प्रदान करना लेखो के समुचित नियन्-

प्रो पीगू का वर्गीकरण तर्क की दृष्टि से काफी उत्तम है लेकिन यह भी अनेक कमियों से ग्रस्त है। पिछले वर्गीकरणो के समान इसका भी सबसे बडा दोष यही है कि हस्तान्तरित व्यय और अहस्तान्तरित व्यय इन दोनों वर्गों के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची गई है।

8 प्राथमिक एव गौण व्यय के अनुसार वर्गीकरण

प्रो शिराज ने सार्वजनिक व्यय को प्राथमिक एव गौण वर्गों मे विभाजित किया है और इस वर्गीकरण को आदर्श वर्गीकरण कहा जाता है। इस वर्गीकरण मे व्यय का विभाजन बडा स्पष्ट और सरल है। प्रो शिराज ने प्राथमिक व्यय मे उन व्ययो को सम्मिलित किया है जो सुरक्षा और शान्ति स्थापना के लिए किए जाते है क्योकि सुरक्षा और शान्ति उपलब्ध करवाना सरकार का मुख्य कर्त्तव्य होता है। इन प्राथमिक व्ययो मे समाज की बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा और आन्तरिक शान्ति एव सुव्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित व्यय आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। प्रो शिराज का मत है कि इस प्रकार के व्यय प्रत्येक शासन को भले ही वह नाममात्र का हो सबसे पहले करने होते है। गौण व्यय वे होते है जो समाज की उन्नति मे सरकार द्वारा किए जाते है। प्रो शिराज के शब्दो मे गौण व्यय मे समाज लोक उपक्रम व्यय और कुछ अन्य व्यय सम्मिलित है।

उल्लेखनीय है कि प्रो शिराज ने प्राथमिक व्यय को पुन चार भागो मे विभक्त किया है—(1) सुरक्षा-व्यय जिसमे सामुद्रिक स्थल एव हवाई सेना सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय सम्मिलित है (2) विधि एव व्यवस्था व्यय जिसमे विधि एव न्याय-विभाग का व्यय जेल तथा अपराधियो पर (Convict Settlement) पुलिस-व्यय सम्मिलित है (3) जनपद-शासन व्यय जिसमे शासन अथवा प्रबन्ध के प्रधानो को दिया जाने वाला वेतन तथा भत्ता मन्त्रालय के खर्चे असैनिक सेवाओं के अधिकाश खर्चे, जिसमे विधान-मण्डल के व्यय तथा कुछ राजनीतिक व्यय जैसे—विदेश मे प्रतिनिधियो के खर्चे सम्मिलित है। इनमे कर-सग्रह करने के व्यय को शामिल करना चाहिए (4) ऋण सम्बन्धी व्यय जिसमें साधारण अथवा अनुत्पादक एव उत्पादक ऋण पर किए जाने वाले व्यय इस सिद्धान्त पर है कि उन ऋणो के लिए राष्ट्र की भविष्य की आय गिरवी रखी गई है अत उनका व्यय पर पहला अधिकार होना चाहिए। दूसरी ओर गौण व्यय मे सामाजिक व्यय जैसे—शिक्षा जन-स्वास्थ्य व्यय निर्धनो की सहायता बेरोजगारी भत्ता अकाल पीडितो की सहायता तथा इसी प्रकार की अन्य सामाजिक सेवाओं पर किए जाने वाले व्यय सम्मिलित है।

प्रो शिराज का वर्गीकरण सरल और स्पष्ट होते हुए भी सन्तोषजनक नहीं है। प्राथमिक और गौण व्यय मे भेद करना बडा कठिन है क्योकि राज्य का कोई भी व्यय स्थायी रूप से न तो प्राथमिक हो सकता है और न गौण है। समयानुसार व्यय की प्रकृति मे परिवर्तन होता रहता है। जो इस वर्ष प्राथमिक व्यय है वही 5 या 10 वर्ष के बाद गौण व्यय हो सकता है। दूसरी बात यह है कि प्राथमिक और गौण व्यय वे खर्चे है जो अपनी परिभाषा के लिए एक दूसरे पर आधारित है अत शिराज के वर्गीकरण को सार्वजनिक व्यय का उपयुक्त वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता।

9 अपरिवर्ती और परिवर्ती व्यय के आधार पर वर्गीकरण

प्रो जे के मेहता ने राजकीय व्यय के दो भाग किए है—(1) अपरिवर्तित अथवा स्थिर व्यय एव (2) परिवर्ती या अस्थिर व्यय प्रो मेहता के अनुसार "उनके वर्गीकरण का आधार सार्वजनिक व्यय की प्रकृति है। यह या तो व्यक्तियो के वर्गों के लिए है अथवा व्यक्ति के लिए। लोग इसको नियन्त्रित कर भी सकते है और नही भी। यह वित्तशास्त्रियो के दृष्टिकोण से लाभप्रद है क्योकि वह ज्ञात करना चाहता है कि कहाँ तक अपने व्यय के अनुमान पर निर्भर करता है। प्रो मेहता के शब्दो मे अपरिवर्ती या स्थिर व्यय वह है जिसकी राशि का निश्चय जनता को उस व्यय से प्रदान की जाने वाली सेवाओं के उपयोग (जिनके हित मे यह व्यय किया जाता है) की सीमा पर निर्भर नही रहता। देश की सुरक्षा के लिए किया जाने वाला व्यय का एक अच्छा उदाहरण है। परिवर्ती अथवा अस्थिर व्यय वह है जो उपयोग बढाने के साथ साथ बढता है और उपयोग घटाने के साथ-साथ घटता है जैसे—डाक सेवाओं शिक्षा आदि पर व्यय। प्रो मेहता के शब्दो मे ऐसा व्यय जो जनता के लाभ के लिए किया जाता है और जिसमे जनता द्वारा जनसेवा-कार्यों के उपयोग की वृद्धि के साथ साथ राजकीय व्यय मे वृद्धि होती

है, अस्थिर व्यय कहा जाएगा।' पिछले वर्गीकरणों की आलोचनाओं से बचने के लिए सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण करते हुए प्रो. मेहता ने लिखा है कि इस वर्गीकरण से यह निश्चय नहीं कर लेना चाहिए कि सरकार का प्रत्येक व्यय इसमें से केवल किसी एक वर्ग में आ जाएगा। उनके अनुसार प्रत्येक व्यय का कुछ अंश स्थिर होता है और कुछ अस्थिर। उनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि राजकीय व्यय उक्त दोनों भागो मे पूर्णतया या अंशतया सम्मिलित किया जा सकता है, जैसे—डाक-सेवाओं का बहुत-सा व्यय परिवर्ती व्यय है जबकि एक भाग स्थिर प्रकृति का।

10. प्रशासनिक इकाई के आधार पर वर्गीकरण

कुछ विद्वानो ने प्रशासनिक इकाई के आधार पर सार्वजनिक व्यय को तीन भागो मे विभक्त किया है—(1) केन्द्रीय व्यय, (2) प्रान्तीय व्यय, एवं (3) स्थानीय व्यय। केन्द्रीय व्यय वह है जो देश की केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है, जैसे—भारत सरकार द्वारा किए गए व्यय, सुरक्षा व्यय। प्रान्तीय व्यय में उस व्यय को सम्मिलित किया जाता है जो देश की राज्य सरकारो द्वारा किया जाता है, जैसे—कृषि, पुलिस शिक्षा आदि पर किया गया व्यय। स्थानीय व्यय वह है जो नगर निगम, नगरपालिका, जिला परिषद् पंचायत आदि स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है जैसे—सफाई एवं स्वच्छता पर किया गया व्यय।

संघीय शासन मे सार्वजनिक व्ययो का निर्धारण केन्द्रीय प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारो को संविधान द्वारा सौंपे गए कार्यों पर निर्भर रहता है। इन सरकारो द्वारा किए जाने वाले व्ययों की मात्रा प्रायः उनके आय के साधनों पर निर्भर रहती है लेकिन केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारो को उन्हे सौंपे गए कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए बहुधा आर्थिक सहायता अनुदान दिया करती है। केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों को कौन कौन से कार्य करने चाहिए तथा किस प्रकार से उनकी आय का विभाजन होना चाहिए ? इनका कोई निश्चित प्रामाणिक नियम नहीं है। यह प्रत्येक देश की अपनी ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनीतिक आर्थिक एवं अन्य परिस्थितियो पर निर्भर करता है। यह अवश्य है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा बहुधा उन कार्यों पर व्यय किया जाता है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से होता है और जिससे संघ के सभी राज्यों को लाभ पहुँचता है। उदाहरण के लिए—बाह्य आक्रमण से सुरक्षा, न्याय, डाक-तार, यातायात एवं संदेशवाहन, मुद्रा, केन्द्रीय प्रशासन दूतावास आदि पर व्यय केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाते हैं। इसके विपरीत जो व्यय संघ के राज्यो द्वारा केवल अपने शासन के सम्बन्ध में किए जाते हैं अर्थात् जिसका सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से होता है जिसका क्षेत्र संकीर्ण होता है और जिसको करने के लिए प्रान्तीय विशेषताओं का व्यापक अध्ययन एवं निरी— आवश्यक होता है, वे प्रान्तीय या स्थानीय व्यय होते है। इन व्ययो को प्रान्तीय अथवा स्थानीय वर्गों मे विभक्त करना कार्यकुशलता की दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ—पुलिस जेल शिक्षा चिकित्सा, सड़क नहर, कृषि आदि से सम्बन्धित कार्य प्रान्तीय स्तर पर; पानी प्रकाश ट्राम बस रोशनी सफाई आदि से सम्बन्धित कार्य स्थानीय स्तर पर अधिक कुशलता के साथ सम्पन्न किए जा सकते हैं। यदि साधनो और उत्तरदायित्व में निश्चित विभाजन-रेखा खींची जा सके तो यह वर्गीकरण सन्तोषप्रद ढंग से काम करता है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। कई काम समवर्ती होते हैं अर्थात् जिन्हे समय और परिस्थितियों के अनुसार राज्य सरकार भी कर सकती है और स्थानीय सरकार भी। ऐसी परिस्थितियो मे यह वर्गीकरण प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। यही इसकी सबसे बडी बाधा है।

सार्वजनिक व्यय का प्रशासनिक इकाइयों के आधार पर वर्गीकरण इस दृष्टि से बडा उपयोगी है कि अधिकारीगण अपने क्षेत्रों में अपने अधिकारों के अनुसार तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप करों मे कमी या वृद्धि करने मे स्वतन्त्र होकर निर्णय कर सकते है और अपने बजट पर पूरा नियन्त्रण रख सकते हैं। यह वर्गीकरण शासन तथा कर-नीति की दृष्टि से बडा उचित है।

11. डॉल्टन का वर्गीकरण

डॉल्टन ने सार्वजनिक व्यय के अन्तर्गत निम्नलिखित मदों को सम्मिलित किया है—

(i) विदेशो मे कूटनीतिक प्रतिनिधियों आदि के रख-रखाव सम्बन्धी व्यय।

(ii) नागरिक-प्रशासन सम्बन्धी व्यय।

स्वतन्त्रता पूर्व प्रवृत्ति—सन् 1947 से पूर्व भारत गुलामी के शिकजे मे था। विदेशी सरकार का यही प्रयास रहा था कि यहाँ शान्ति बनी रहे तथा भारत की जनता का शोषण होता रहे। सार्वजनिक व्यय की मद में सरकार का ध्यान विकास कार्यों पर कम था। सार्वजनिक व्यय के रूप मे सुरक्षा पर व्यय सार्वजनिक निर्माण तथा सामाजिक सुरक्षा पर व्यय किया गया था। विश्व की महान् मन्दी (1930) के बाद इस सरकार ने भारत को बाजार के रूप मे स्थापित किया। 1930 मे कीन्स के विचारो को प्रमुखता मिली। उसके अनुसार बिना सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि किये बेरोजगारी जैसी समस्याओं का समाधान नहीं ढूँढा जा सकता अत 1930 के बाद सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई।

इससे एक प्रवृत्ति यह स्पष्ट होती है कि 1930 से पूर्व व्यय अत्यधिक कम रहा है। मन्दी व द्वितीय विश्व युद्धकाल मे सुरक्षा पर व्यय अत्यधिक मात्रा मे हुआ। 1935 मे सविधान निर्माण के बाद उसमें बताये प्रावधानो के अनुसार अनुसूचित जाति/जन-जाति के विकास की दृष्टि से सामाजिक सुरक्षा पर व्यय अधिक किया गया। 1947 मे भारत स्वतन्त्र हुआ।

स्वतन्त्रता पश्चात् प्रवृत्तियाँ—1947 मे स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे सवैधानिक व्यवस्था प्रारम्भ हो गई। उसमे बताई अनुसूचियो के अनुसार केन्द्र व राज्य सरकार की मदें निर्धारित हो गईं। 1950 मे सविधान अनुसार सरकार की सार्वजनिक व्यय की मदे निर्धारित हुईं। वर्ष 1951 मे सरकार ने देश मे आर्थिक नियोजन अपनाकर प्रगति का रास्ता स्वीकार किया। 1951 से अब तक भारत सरकार द्वारा सार्वजनिक व्यय योजनाबद्ध तरीके से किया गया।

इस प्रकार भारत में स्वतन्त्रता के बाद वार्षिक व नियोजन के आधार पर व्यय निर्धारित किया गया। समय के साथ-साथ विकास व्यय मे वृद्धि दर बढती गई। इस वृद्धि के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है—

1 **प्रतिरक्षा सेवा विस्तार**—भारत मे सवैधानिक सरकार की स्थापना के बाद हिन्दू-मुस्लिम विद्रोह हो गया तथा भारत का विभाजन हो गया जिससे भारत को प्रतिरक्षा के विकास पर अत्यधिक व्यय करना पडा।

2 **आधुनिक हथियार तथा सेना विस्तार**—भारत मे स्व-रक्षा हेतु सेना का विस्तार करना पडा। पडौसी देशो को दबाने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को आधुनिक हथियार क्रय करने पर व्यय बढाना पडा।

3 **आन्तरिक सुरक्षा**—भारत मे आन्तरिक दगे नहीं भडके इसके लिए सुरक्षा हेतु सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि करना आवश्यक हो गया।

4 **कश्मीर समस्या**—विभाजन के फलस्वरूप कश्मीर समस्या ने जन्म लिया इसके हल हेतु अनेक प्रकार के सार्वजनिक व्यय वहन करने पडे।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक कारणो से सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई जिसमे नये कारखानो की स्थापना यातायात विकास व्यय नागरिक प्रशासन व्यय कर- भार मे वृद्धि विस्थापितो का व्यय ऋण-ब्याज व्यय आदि प्रमुख है। इन व्यय मदो के अतिरिक्त राज्य सरकार के व्यय की मदे इस प्रकार है—

1 विकास व्यय 2 गैर विकास व्यय 3 शिक्षा व्यय 4 चिकित्सा एव स्वास्थ्य 5 राज्य सुरक्षा व्यय 6 सामाजिक उत्थान हेतु व्यय 7 ग्रामीण विकास व्यय 8 उद्योग आपूर्ति व्यय 9 राज्य ऋण व्यय।

इससे स्पष्ट होता है कि भारत मे नियोजन के आधार पर सार्वजनिक व्यय की बढती प्रवृत्ति है।

4

सार्वजनिक आय एवं उसका कार्यात्मक तथा आर्थिक वर्गीकरण

(Public Revenue and its Functional and Economic Classification)

सार्वजनिक आय का अर्थ और महत्त्व

(Meaning and Importance of Public Revenue)

सार्वजनिक वित्त के अध्ययन मे सार्वजनिक आय का वही स्थान है जो अर्थशास्त्र के अध्ययन मे उत्पादन का है। जिस प्रकार उपभोग के लिए उत्पादन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सार्वजनिक व्यय के लिए सार्वजनिक आय की आवश्यकता होती है। उत्पादन की प्रत्येक क्रिया की भाँति सार्वजनिक आय की क्रिया लोगो के लिए कष्टदायी होती है क्योंकि इस आय को प्राप्त करने हेतु उन्हे त्याग करना पडता है। भूतकाल मे अत्याचारी शासको ने जनता पर अनावश्यक और अनार्थिक कर-भार डालकर उनके दिमाग मे ये भाव पैदा कर दिए कि कर लगाना उचित नही है लेकिन वर्तमान प्रजातान्त्रिक सरकारे लोगों की मुसीबतो का ध्यान रखते हुए उनकी जेब से मुद्रा इस ढग से निकालती है कि उन्हे न्यूनतम कष्ट अनुभव हो। नागरिक यह त्याग इसलिए करते है कि सार्वजनिक आय से उन्हें सामूहिक रूप मे लाभ होने की आशा रहती है।

आज का युग नियोजन का युग है और राज्य का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य का निर्माण करना है। वर्तमान राज्य के कार्यक्षेत्र मे तेजी से वृद्धि हो रही है अत राजकीय व्यय की राशि निरन्तर बढती जा रही है। बढते हुए व्यय की पूर्ति हेतु सरकारो के लिए अपनी आय बढाना आवश्यक हो गया है। सार्वजनिक आय प्राप्त करने के तरीको मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए है इसके अध्ययन का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है।

यह स्वाभाविक है कि आय के बिना व्यय सम्भव नहीं है इसीलिए राज्य को अपनी आय बढाने के लिए नए साधन अधिकाधिक मात्रा मे जुटाने पडते है। राज्य को ये साधन देश के भीतर खोजने पडते है और प्रमुखत व्यक्तियो के रोजगार तथा आय के स्तर एव उद्योग तथा व्यापार की स्थिति पर निर्भर करते हैं। आय के साधनो से अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य की आय प्राप्त करने की नीति या ढग है। आधुनिक युग मे आय सम्बन्धी साधनो का उपयोग केवल आय प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाता वरन् प्रभावशाली राजकोषीय यन्त्र के रूप मे किया जाता है। विशेष रूप से उत्पादन रोजगार बचत और विनियोगो में वृद्धि के लिए इन साधनो का उपयोग होता है। सार्वजनिक आय की नीतियाँ अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सार्वजनिक आय का अर्थ विस्तृत और सकीर्ण दानो रूपो मे लगाया जा सकता है। व्यापक अर्थ मे इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की आय तथा प्राप्तियॉं सम्मिलित की जा सकती है जिनको सामान्य आगम कहा जाता है। सकीर्ण अर्थ मे सार्वजनिक आय मे सरकार को केवल वास्तव मे प्राप्त होने वाली आय ही सम्मिलित की जाती है। विस्तृत अर्थ मे सार्वजनिक आय मे सार्वजनिक ऋणो को सम्मिलित किया जा सकता है लेकिन सकीर्ण अर्थ मे सरकार की केवल वही आय सम्मिलित की जाएगी जिसे लौटाना न पडे। ऋण चाहे आन्तरिक हो या बाह्य सरकार की आय नहीं मानी जा सकती क्योकि सरकार को कभी न कभी उसका भुगतान करना ही होगा। सकीर्ण अर्थ मे सार्वजनिक आय में हम सार्वजनिक ऋण

रोगियो का इलाज कराना पडता है और वह अधिक निर्धन है तो उसे अधिक आर्थिक सहायता दी जाए। चूँकि व्यक्तिगत आवश्यकताओं और राजकीय व्यय मे समायोजन करना सुगम नहीं है और इसमे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ है अत उपयुक्त यही है कि शिक्षा चिकित्सा आदि की सुविधाएँ नि शुल्क प्रदान की जाएँ और वृद्धावस्था पेशन प्रसव व बीमारी-लाभ तथा अन्य प्रकार के भत्ते परिवार की सदस्य-सख्या के आधार पर दिए जाएँ।

उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक व्यय से कभी-कभी आय की असमानता मे वृद्धि भी हो सकती है। उदाहरणार्थ युद्ध के दिनो मे राज्य द्वारा धनिको से ऋण के रूप मे धन लिया जाता है और उस पर उन्हे ब्याज दिया जाता है। इससे धनिको की आय मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त ब्याज की राशि जनता से कर के रूप मे लिया गया धन होती है। यदि इस राशि का कुछ भाग गरीबो से कर के रूप मे वसूल किया गया हो तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि जहाँ धनिको की आय मे वृद्धि होगी वहाँ गरीबो की आय मे कमी होगी। यही कारण है कि युद्ध-काल मे धनिक अधिक धनी हो जाते है और अन्य लोगो की आय मे असमानता बढती है। फिर जिस देश मे प्रत्यक्ष करो की कमी होती है वहाँ आय की असमानता अधिक होती है क्योकि प्रत्यक्ष करो का भार गरीबो पर ही अधिक पडता है।

कुछ राजकीय अनुदान ऐसे होते है जो समाज के किसी वर्ग विशेष के व्यक्तियो को सामान्य रूप मे लाभ पहुँचाते है किन्तु वितरण पर उनका प्रभाव जानना कठिन होता है। राज्य की ओर से बाग-बगीचो या पार्कों पर जो व्यय किया जाता है उसका लाभ मुख्यत उन्ही को प्राप्त होता है जो उनका उपयोग करते है। यह लाभ सामान्य रूप से सभी को मिल सकता है लेकिन उपयोग लेने वाले व्यक्तियों की आय पर इसका प्रभाव जानना असम्भव-सा है। इसके विपरीत जब स्थानीय करदाताओं को उनके कार्यों की पूर्ति के लिए केन्द्र सरकार की ओर से कुछ सहायक अनुदान मिलता है तो उनको सामान्य रूप से प्राप्त होने वाले अनुदान के लाभ का अनुमान लगाना इतना कठिन नहीं होता। उदाहरण के लिए सुरक्षा व्यय। इस व्यय का लाभ जनता को सामान्य रूप से प्राप्त होता है (केवल अपराधी ही इस लाभ से वचित रहते है)। जो व्यक्ति अधिक धनी होते है और जिन्हे अधिक कर देना पडता है उन्हे सुरक्षा से अधिक लाभ प्राप्त होता है जबकि गरीबो अथवा कम धनिको को अपेक्षाकृत कम लाभ होता है। इस तरह स्पष्ट है कि राजकीय अनुदानो के वितरण पर प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति की आय पर अलग-अलग होता है लेकिन जीवन और सम्पत्ति के सरक्षण से धन की विभिन्न मात्रा वाले लोगो को जितना सापेक्षिक लाभ मिलता है इसे ठीक-ठीक आँकना कठिन है।

सार्वजनिक व्यय के प्रतिकूल प्रभाव

(Anti-Activity of Public Expenditure)

लुटज (Lutz) का विचार है कि धन के वितरण को समान करने की नीति को स्थायी बनाने से देश को हानि होगी। यदि व्यय करते समय केवल इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखा जाएगा तो इसका परिणाम यह होगा कि सरकार को बहुत-सा व्यय अनुत्पादक कार्यों पर करना पडेगा। इसके अतिरिक्त पूँजी के एकत्रीकरण एव उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पडेगा लेकिन लुटज की मान्यता पक्षपात रहित नही है। यह कहना उचित नही है कि धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने के लिए किए गए व्यय का एक बडा भाग अनुत्पादक होगा। सच्चाई तो यह है कि व्यक्तियो के हित मे किया जाने वाला सरकार का कोई भी व्यय अनुत्पादक नही होगा। पूँजी के एकत्रीकरण मे यह माना जा सकता है कि इसका थोडे से पूँजीपतियो की बचत करने और कार्य करने की क्षमता पर अवश्य ही विपरीत प्रभाव पडेगा लेकिन दूसरी ओर यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज के बहुत बडे वर्ग की बचत करने तथा कार्य करने की क्षमता मे वृद्धि होगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार धन के वितरण को समान करने की नीति से समाज की कुल बचत करने की क्षमता बढेगी घटेगी नही। ब्यूलहर (Buelher) ने लिखा है कि धन के वितरण की असमानताओं को कम करने के लिए सरकार को निर्धन व्यक्तियो पर उदार मन से व्यय करना होगा और उच्च आय वालो पर अधिक करारोपण की नीति को कुछ समय तक लागू करना पडेगा। ऐसा करते समय सरकार को यह अवश्य ध्यान मे रखना होगा कि उनके कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर गहरा प्रतिकूल प्रभाव न पडे। यदि बचत की दर मे कमी होगी तो भविष्य मे होने वाले धन के वितरण मे कमी होगी और असमानता बढेगी। यह स्वीकार-योग्य है कि यदि राज्य द्वारा धनिको से अधिक ऊँची दर से आय-कर और मृत्यु-कर लिया जाए तो बचत मे अवश्य ही कमी होगी।

कुछ विद्वानो का मत है कि सार्वजनिक व्यय से लोगो को अधिक सुविधाएँ मिलने के कारण उनमे काम करने व बचत करने की इच्छा कम हो जाती है। फलत इन सेवाओं से यदि एक ओर धन के वितरण मे समानता आने लगती है तो दूसरी ओर उत्पादन गिरता है तथा राष्ट्रीय आय कम हो जाने से व्यक्तिगत आय गिरने लगती है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए भारी करारोपण करना पडता है जिससे उत्पादक निरुत्साही होता है। साधनो के ऐसे पुनर्वितरण से समृद्धि का वितरण नहीं होता बल्कि निर्धनता का वितरण होता है। स्मरणीय यह है कि इसका प्रभाव सदैव नहीं पडता। सरकार इसका सदैव ध्यान रखती है कि करारोपण तीव्र प्रतिगामी या तीव्र प्रगतिशील न हो जाए क्योंकि दोनो प्रकार की अति वाली स्थितियो से देश मे उत्पादन हतोत्साहित होता है। कभी-कभी धन के वितरण की असमानताओं को कम करने के लिए सरकार को ऐसे कर लगाने ही पडते हैं। अत यथार्थ रूप मे परिस्थितियो पर निर्भर करता है कि अधिक अच्छे उत्पादन अथवा धन के अधिक अच्छे वितरण के इन दोनो विरोधी उद्देश्यो मे से सरकार कौन से उद्देश्य को प्राथमिकता दे ? उचित यही है कि सरकार की नीति इस प्रकार निर्धारित की जाए कि धन के उचित वितरण और धन के उचित उत्पादन मे सन्तुलन बना रहे क्योंकि न्यायपूर्ण वितरण के अभाव मे अधिक उत्पादन का कोई महत्व नही है और अधिक उत्पादन के अभाव मे न्यायपूर्ण वितरण का प्रश्न ही नही उठता अत दोनो उद्देश्य साथ-साथ चलने चाहिए।

अन्त मे धन के पुनर्वितरण के इस अच्छे प्रभाव को ध्यान मे रखना चाहिए कि इससे देश के आर्थिक जीवन मे सन्तुलन और स्थायित्व आ जाता है। कीन्स ने सिद्ध किया है कि निर्धनो मे धनी व्यक्तियो की अपेक्षा उपभोग पर व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। अत जब धनी व्यक्तियो पर कर लगाकर धन प्राप्त किया जाता है और इस धन को निर्धनो पर खर्च किया जाता है तो देश मे किए गए कुल व्यय तथा धन की मात्रा मे वृद्धि होती है। इससे कुल रोजगार तथा उत्पादन भी बढता है।

भारत मे सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure in India)

सार्वजनिक व्यय का क्षेत्र उस देश की सरकार की कार्य प्रणाली राजनीतिक परिस्थितियों आर्थिक नीतियो देश के आकार एव जनसख्या पर निर्भर करता है। कल्याणकारी राज्य की पृष्ठभूमि वाला देश सार्वजनिक व्यय पर अधिक रुचि लेता है। विकासशील देश का सार्वजनिक व्यय पिछडे देश की तुलना मे अधिक होगा। उदार सरकार के सार्वजनिक व्यय भार मे वृद्धि होना स्वाभाविक है। भारत के सन्दर्भ मे सार्वजनिक व्यय का अध्ययन करने पर इसमे वृद्धि के कारण निम्नांकित है—

1 जनसख्या एव विस्तृत क्षेत्रफल
2 सघ राज्य लोकतन्त्रीय सरकार
3 आर्थिक नियोजन
4 मूल्य नियन्त्रण का अभाव
5 प्रशासन तन्त्र का विशाल रूप
6 प्रतिरक्षा व्यय वृद्धि
7 अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्याज मे वृद्धि
8 सामाजिक कल्याण योजनाओं का विस्तार
9 सरकारी उद्यम व उपक्रम
10 लोकशाही का विस्तार

सार्वजनिक व्यय की मुख्य प्रवृतियाँ

(Main Features of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय वृद्धि के कारणो से भारत मे व्यय की मुख्य प्रवृतियाँ भी स्पष्ट हो जाती है। भारत मे यद्यपि प्राकृतिक ससाधन अन्य देशो की तुलना मे उपयुक्त है। इनका पूर्ण रूप से विदोहन नहीं होने से भारत पिछडी अवस्था मे है। यहाँ प्रति व्यक्ति आय व जीवन स्तर उत्तम नहीं है। यहाँ की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान रही है।

है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में सदैव ही साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं होता इसीलिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। आज सभी देशों में सरकार आर्थिक साधनों को स्थानान्तरित करने के लिए आवश्यक प्रयत्न करती है। सरकार जो व्यय सुरक्षा सरक्षण सम्बन्धी नीति सामाजिक सुरक्षा और परिवहन आदि के साधनों के विकास पर करती है उनसे अप्रत्यक्ष रूप से साधनों के स्थानान्तरण में सहायता मिलती है।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि राज्य द्वारा साधनों का प्रत्येक स्थानान्तरण लाभप्रद होता है अथवा प्रत्येक स्थानान्तरण हानिकारक ही होता है। वास्तव में यह लाभ या हानि तो परिस्थितियों पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ सुरक्षा सम्बन्धी व्यय को ही लीजिए। आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्र राजकीय आय का बहुत बड़ा भाग विदेशों से सुरक्षा और आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए व्यय करते हैं। अनेक लोग इस व्यय को आर्थिक विनाश की सज्ञा देते हैं और मत प्रकट करते है कि इस व्यय से हमारी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिलती है। यह प्रश्न स्वत उठ खड़ा होता है कि क्या यह सुरक्षा व्यय अनावश्यक है अथवा इस व्यय का देश के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पडता ? इन प्रश्नों के उत्तर में हमें यह स्वीकार करना होगा कि सुरक्षा व्यय न तो अनावश्यक ही है और न ही देश का उत्पादन इससे प्रभावित होता है। सुरक्षा व्यय के कारण विदेशी आक्रमणों से हम अपनी रक्षा कर सकते है अथवा आक्रमणों को रोक सक्ते है। ऐसा करने से जितनी आर्थिक क्षति आक्रमणों को न रोक सकने से हो सकती थी उससे कई गुना कम क्षति होती है। यही नहीं कभी-कभी अल्पकालीन और जीते हुए युद्ध किसी देश को कुछ सुविधाएँ पहुँचाकर उसे आर्थिक लाभ भी दे सकते है। जब देश विदेशी आक्रमण के भय से मुक्त रहता है और आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था बनी रहती है तभी उत्पादन सुचारु रूप से हो सकता है। यह सत्य है कि सशस्त्र और सुसज्जित सेना ही आक्रमणों को रोक कर देश को आर्थिक हानि से बचा सकती है अत सुरक्षा व्यय आवश्यक है और अप्रत्यक्ष रूप से इसे उत्पादक माना जा सकता है। देश की सुरक्षा का व्यय अत्यधिक मात्रा में न बढाया जाए अपितु इस व्यय की मात्रा मे कमी करके बचाए गए साधनों का उपयोग अन्य समाज-कल्याणकारी आर्थिक कार्यों की वृद्धि के लिए किया जाना चाहिए लेकिन आज के निरन्तर बढते हुए सुरक्षा व्यय में कमी ससार के राजनीतिक नेताओं के दृष्टिकोणो मे परिवर्तन होने पर ही सम्भव हो सकती है।

निष्कर्षत बुद्धिमत्ता से किए जाने वाले राजकीय व्यय का उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव
(Effects of Public Expenditure on Distribution)

सार्वजनिक वित्त के प्रनियमों का विवेचन करते समय बताया जा चुका है कि अन्य बातें समान रहने पर सार्वजनिक व्यय की वही प्रणाली अधिक वाछनीय है जिसमें आय की आवश्यकता को कम करने की अधिक से अधिक सम्भावना हो। वास्तव मे यह प्रनियम कहने में जितना सरल है क्रियान्वयन में उतना ही कठिन है। आधुनिक विश्व के समाजवादी राष्ट्र इस प्रनियम के पालन की ओर अवश्य ही अग्रसर हो रहे हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आय के वितरण मे बहुत ही असमानता है। समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने की दृष्टि से सार्वजनिक व्यय द्वारा आय-वितरण की असमानता को जितना अधिक कम किया जा सके उतना ही श्रेयस्कर है। प्रो पीगू ने इसे इगित करते हुए लिखा है कि सामाजिक कल्याण मे वृद्धि देश मे वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बढाकर की जा सकती है लेकिन यह सम्भव नहीं हो तो सामाजिक कल्याण की वृद्धि राष्ट्रीय लाभाश के वितरण के द्वारा समाज में धन की असमानता को दूर करके भी की जा सकती है।[1] लोक-कल्याण की वृद्धि हेतु सरकार के पास दुधारा अस्त्र होता है। एक ओर तो वह धनी व्यक्तियों पर कर लगा कर उनकी आय कम कर देती है और दूसरी ओर सार्वजनिक व्यय द्वारा निर्धन व्यक्तियो को सेवाएँ देकर उनकी आय में वृद्धि करती है।

1 *Prof Pigou* Economics of Welfare

करारोपण और सार्वजनिक व्यय की ये दोनो ही क्रियाएँ एक-दूसरे पर अवलम्बित है किन्तु यहाँ हम केवल सार्वजनिक व्यय के प्रावधानो का ही अध्ययन करेगे।

प्रतिगामी, आनुपातिक और प्रगतिशील व्यय

आज वितरण की असमानता को दूर अथवा कम करने के लिए गरीबो की आय मे वृद्धि तथा राज्य की ओर से अनुदान आवश्यक है। राजकीय व्यय में सम्मिलित किए जाने वाले ये अनुदान तीन प्रकार के हो सकते है—

(i) प्रतिगामी (Regressive) (ii) आनुपातिक (Proportional) तथा (iii) प्रगतिशील (Progressive)।

किसी वर्ग की आय जितनी कम होती है उसे उतना ही कम अनुपात मे लाभ प्राप्त होता है इसे प्रतिगामी सार्वजनिक व्यय कहते है। उदाहरणार्थ यदि भारत मे गरीबो के बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा पर व्यय न करके सरकार उच्च वर्ग के बच्चो के लिए पब्लिक स्कूलों पर खर्च करती है तो यह प्रतिगामी व्यय कहलाएगा। यदि विभिन्न वर्गों को उनकी आय के अनुपात मे सार्वजनिक व्यय से लाभ प्राप्त होता है तो इस व्यय को आनुपातिक व्यय कहा जाता है। उदाहरण के लिए सरकारी कर्मचारियो को मकान भत्ता वेतन का 12 5% मिलता है यह सरकार का आनुपातिक व्यय है। किसी वर्ग की आय जितनी कम है सार्वजनिक व्यय से उसे प्राप्त होने वाले लाभ का अनुपात यदि उतना अधिक होता है तो इस व्यय को प्रगतिशील कहा जाता है जैसे—निर्धन वर्ग के लिए शिक्षा चिकित्सा व्यय वृद्धावस्था पेशन आदि।

उक्त तीनो ही प्रकार के सार्वजनिक व्यय वितरण से स्पष्ट है कि प्रतिगामी व्यय से असमानताएँ दूर होने की अपेक्षा और अधिक बढ़ेगी। आनुपातिक व्यय भी असमानताओं को दूर करने मे अधिक समर्थ सिद्ध नहीं होगा। केवल प्रगतिशील व्यय ही धन के वितरण की असमानताओं को काफी हद तक घटा सकता है। कुछ सीमा तक आनुपातिक व्यय भी असमानताओं को कम कर सकता है लेकिन सर्वाधिक उपयुक्त यही है कि तीव्र प्रगतिशील व्यय किया जाए। लोगो की आय की असमानता मे कमी करने की दृष्टि से प्रगतिशील व्यय सर्वश्रेष्ठ माना गया है और अधिकतम सामाजिक कल्याण की दृष्टि से यह वाछनीय है कि सार्वजनिक व्यय मे प्रगतिशील अनुदान नीति का पालन किया जाए।

प्रगतिशील व्यय के निम्नांकित तीन रूप हो सकते है जैसे—

(क) सरकार द्वारा देश के नागरिको को नकदी के रूप मे आर्थिक सहायता जैसे—वृद्धावस्था पेशन दुर्घटना लाभ प्रसव लाभ बेकारी एव बीमारी लाभ आदि। आज इस प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए विभिन्न देशों मे कानून बनाए जा चुके है जैसे—भारत मे कर्मचारी राज्य बीमा कानून (Employee s State Insurance Act) अमेरिका मे रोजगार कानून (Employment Act) आदि।

(ख) प्रगतिशील व्यय मे सरकार निर्धन व्यक्तियो को नि शुल्क अथवा सस्ती सेवाएँ और वस्तुएँ भी प्रदान करती है जैसे—नि शुल्क शिक्षा चिकित्सा सेवाएँ सस्ते मकान बच्चो को स्कूल में मुफ्त दूध देना आदि। ऐसी सेवाओ और वस्तुओं से धन के वितरण की कुछ असमानताए कम होती है और निर्धन व्यक्तियो को अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता है। यदि इस प्रकार की सेवाएँ मुफ्त अथवा सस्ते मूल्यो पर मिलती रहती है तो धन की असमानताएँ अधिक कष्टदायक नहीं होतीं। जब अनुदान नकद रूप मे न दिया जाकर वस्तु या सेवा के रूप मे दिया जाता है तो उस अनुदान अथवा सहायता का मूल्याकन करना कठिन होता है। हम केवल यही कह सकते है कि नि शुल्क अनुदान अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्तकर्त्ताओं के आर्थिक क्षेत्र की तथा समाज की उत्पादन शक्ति को बढाने मे अधिक सहायक होता है।

(ग) प्रगतिशील व्यय का तीसरा रूप व्यक्तियो की आवश्यकताओं से समायोजन का है। धन के वितरण की असमानता को कम करने हेतु सार्वजनिक व्यय व्यक्तियो की आवश्यकतानुसार किया जाए अर्थात् जिस व्यक्ति के कुटुम्ब की सख्या जितनी अधिक है उसे उतनी अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की जाए और जिस व्यक्ति के कुटुम्ब में कम सदस्य हों उसे अपेक्षाकृत कम आर्थिक सहायता दी जाए। इसी प्रकार आय समान रहने की दशा मे यदि एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा अपने कुटुम्ब मे अधिक

की प्राप्ति राजकीय सम्पत्ति के विक्रय से प्राप्त राशि और पत्र-मुद्रा प्रकाशन से प्राप्त राशि को सम्मिलित करेगे। हमारा सार्वजनिक आय का अध्ययन भी सकीर्ण परिभाषा पर ही आधारित है।

उक्त विवेचन के बाद हम कह सकते है कि सकुचित एव उचित अर्थ में सार्वजनिक आय वह आय है जिससे सरकार की सम्पत्ति मे वृद्धि बिना दायित्व मे वृद्धि किए हो जाती है।" एक समृद्धिशाली देश की पहचान वास्तव में उसकी सार्वजनिक आय से भली प्रकार की जा सकती है। जिस प्रकार धनी व्यक्ति का समाज मे सम्मान होता है उसी प्रकार एक धनी देश की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा होती है। धनाढ्य देश न केवल अपने वरन् अन्य देशो के आर्थिक विकास पर धन व्यय कर सकता है। हमे समृद्धिशाली देश की आय का आकार ही नहीं प्रकृति भी देखनी चाहिए कि वह आय किस श्रेणी के नागरिको से प्राप्त होती है। यदि सार्वजनिक आय के सग्रह मे निर्धन जनता योगदान करती है तो देश को धनी नहीं कह सकते, क्योकि उसकी सार्वजनिक आय मे त्याग की मात्रा बहुत अधिक है। इसी तरह केवल धनी नागरिको से आय प्राप्त करने मे पक्षपात हो जाता है। सही और आदर्श वित्त-नीति के दृष्टिकोण से वही देश ठीक प्रकार से नियोजित समझा जाना चाहिए जिसकी आय में लोग अपनी योग्यतानुसार योगदान करते है।

एक अच्छी आय-प्रणाली

(A Good Revenue System)

राजस्व की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास अपनी आय-प्राप्ति के लिए एक स्वस्थ और समुचित प्रणाली हो। एडम स्मिथ ने एक उत्तम आय प्रणाली मे समानता निश्चितता चुकाने की सुविधा एव मितव्ययता के गुणो का समावेश किया है। बाद मे अर्थशास्त्रियो ने आय प्रणाली मे सरलता का गुण और जोड दिया है जो कर दाता के लिए ही नहीं बल्कि सम्बन्धित शासन के लिए भी आवश्यक है। एक श्रेष्ठ आय प्रणाली मे विविधता तथा लोच का होना जरूरी है। कर-नीति की सरचना इस प्रकार होनी चाहिए कि यथासम्भव शासन की विभिन्न इकाइयो के मध्य आय-क्षेत्र विवाद न उठ सके। फिण्डले शिराज ने लचीलेपन, पर्याप्तता तथा उत्पादकता को श्रेष्ठ आय प्रणाली का आवश्यक गुण माना है। इन सबका विस्तृत विवेचन यथास्थान किया गया है।

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

(Classification of Public Revenue)

डॉल्टन के अनुसार, "सार्वजनिक आय के स्रोतो का वर्गीकरण किया जा सकता है लेकिन आगे बहुत से भेद पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है और अन्य स्थानो के वर्गीकरण की खोज, स्वय वर्गीकरण की प्राप्ति से अधिक ज्ञानदायी है।" सार्वजनिक आय के मुख्य वर्गीकरण निम्नानुसार है—

एडम स्मिथ का वर्गीकरण

एडम स्मिथ ने सार्वजनिक आय का वर्गीकरण आय स्रोतो के आधार पर तीन भागों मे बॉटा है—

(क) प्रत्यक्ष आय (Direct Revenue)—*यह वह आय है जो सरकार को सार्वजनिक उद्योगो, उपहारो एव जब्तियो (Forfeitures) से प्राप्त होती है।*

(ख) व्युत्पन्न आय (Derivative Revenue)—यह आय सरकार को करों शुल्को, जुर्माना आदि से प्राप्त होती है।

(ग) प्रत्याशित आय (Anticipatory Revenue)—*इससे अभिप्राय उस आय से है जो सरकारों को राजकोषीय विपत्रो (Treasury Bills) एव अन्य प्रकार के ऋणो से होती है।*

एडम स्मिथ के अनुसार सरकार को कर-आय अर्थात् जनता से प्राप्त आय पर अधिक आय का प्रभावशाली साधन नहीं माना जा सकता। राज्य द्वारा सचालित उद्योगों से भी पर्याप्त आय होती है। एडम स्मिथ का वर्गीकरण आधुनिक राजस्व की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं है क्योकि करों के अतिरिक्त आय के अन्य साधन भी आज महत्त्वपूर्ण समझे जाते है।

सैलिगमैन का वर्गीकरण

प्रो सैलिगमैन ने सार्वजनिक आय को तीन भागो में विभाजित किया है—

(क) नि.शुल्क आय (Gratious Revenue)—इसमें वे सभी आय सम्मिलित है जो राज्यों को उपहारों, चन्दों आदि के रूप मे भेंट की जाती हैं अर्थात् जो सरकार को बिना मॉगे लोगो द्वारा स्वेच्छा से दी जाती हैं। इसे प्राप्त करने के लिए सरकार को श्रम नहीं करना पडता। युद्ध के समय लोगों द्वारा

दिये गए ऐच्छिक चन्दे भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किए जा सकते हैं। वर्तमान में ऐसी आय प्राय कम देखने में आती है।

(ख) अनुबन्धीय आय (Contractual Revenue)—यह आय सरकार को भूमि खानो राजकीय उद्योगो आदि से प्राप्ति होती है। प्रो सैलिगमैन ने इसे कीमत के नाम से सम्बोधित किया है।

(ग) अनिवार्य आय (Compulsory Revenue)—इसमें करों से प्राप्त आय अथवा क्षतिपूर्ति की आय रखी गई है। एक सर्वशक्तिमान सत्ता होने के कारण राज्य अपने नागरिको से कोई भी सम्पत्ति अथवा वस्तु माँग सकता है जिसके लिए राज्य उन्हे कभी क्षतिपूर्ति (Compensation) दे सकता है और कभी नहीं भी दे सके। सरकारी नियमों का उल्लघन करने वाले अपराधियो और अनुचित कार्य करने वालों को जुर्माने देने होते हैं। यह सरकार की आय का एक प्रमुख साधन है।

प्रो बैस्टेबल का वर्गीकरण

प्रो बैस्टेबल ने सार्वजनिक आय को दो भागों मे बाँटा है—

(क) वह आय जो राज्य को एक बडे निगम (Corporation) अथवा 'न्यायाधीश' (Juristic Person) होने के नाते प्राप्त होती है। इस प्रकार की आय और एक साधारण व्यापारिक फर्म की आय मे किसी प्रकार का अन्तर नही होता।

(ख) वह आय जो सरकार सार्वभौमिकता के कारण लोगों से वसूल करती है। करो को इस श्रेणी मे सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रो बैस्टेबल का यह वर्गीकरण सीमित है और सकीर्ण है।

प्रो लुट्ज का वर्गीकरण

प्रो लुट्ज के अनुसार सार्वजनिक आय को छ भागों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) व्यापारिक आय (ख) प्रशासनात्मक तथा विविध आय (ग) करारोपण (घ) सार्वजनिक ऋण (ङ) आर्थिक सहायता व अनुदान तथा (च) बहीखाता या स्थानान्तरण सम्बन्धी आय।

प्रो लुट्ज ने इस वर्गीकरण में सार्वजनिक ऋणों को आय में सम्मिलित कर दिया है यद्यपि यह अनुभव करते हैं कि दीर्घकाल मे सभी ऋणो का भुगतान करना पडता है और उस पर ब्याज भी देना पडता है।

प्रो जे के मेहता का वर्गीकरण

प्रो मेहता ने सार्वजनिक आय को चार भागो में विभाजित किया है—

(क) कर सम्बन्धी आय (ख) शुल्क (फीस) (ग) महसूल तथा (घ) पचमेल आय जैसे—उपहार जुर्माना विशेष कर आदि।

प्रो एडम्स का वर्गीकरण

प्रो एडम्स ने सार्वजनिक आय का जो वर्गीकरण किया है वह अग्रांकित सारिणी मे स्पष्ट किया गया है।

एडम स्मिथ के वर्गीकरण मे प्रथम प्रकार की आय के वर्ग अर्थात् प्रत्यक्ष आय का भी विस्तार हो गया है क्योकि इसके अन्तर्गत व्यापारिक कार्यों से होने वाली आय को प्रशासनिक कार्यों से होने वाली आय में मिला दिया गया है। वास्तव में इन दोनो प्रकार की आयो के स्वरूप में भिन्नता है अत इन्हें अलग अलग देखना चाहिए।

टेलर का वर्गीकरण

टेलर ने सार्वजनिक आय के साधनो को निम्नलिखित चार भागो मे बाटा है—

(क) अनुदान व उपहार—इस वर्ग मे एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को दी गई आर्थिक सहायता आती है जैसे—केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो अथवा राज्य सरकार स्थानीय सत्ताओं को विभिन्न कार्यों के लिए अनुदान देती है। राज्यो को उपहार दानशील नागरिको द्वारा प्राप्त होते हैं।

(ख) प्रशासनात्मक आय—इस वर्ग मे शुल्क लाइसेस फीस जुर्माना आदि से प्राप्त आय तथा वह आय जो राज्य को किसी व्यक्ति के बिना उत्तराधिकारी छोडे मर जाने पर उसकी सम्पत्ति से प्राप्त होती है सम्मिलित की गई है।

(ग) वाणिज्य आय—इस वर्ग मे सामाजिक सम्पत्ति और उद्योगो से प्राप्त आय शामिल है जैसे—पोस्टेज टोल टैक्स आदि।

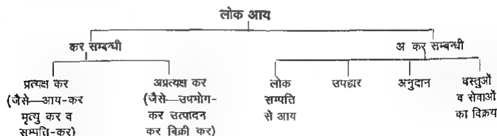
(घ) कर आय—इस वर्ग मे कर सम्बन्धी आय शामिल की गई है—

प्रो एडम्स का सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

- सार्वजनिक आय
  - प्रत्यक्ष (Direct)
    - सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)
    - सार्वजनिक उद्योग (Public Industries)
    - उपहार (Gifts)
    - जब्त तथा हर्जाने (Penalty)
  - व्युत्पादित (Derived)
    - कर
      - प्रत्यक्ष
        - व्यक्तिगत
        - सम्पत्तिगत
          - पूँजी मूल्य (Capital Value)
          - वार्षिक मूल्य (Annual Value)
      - अप्रत्यक्ष
        - उपभोग-कर
        - वस्तु-कर
          - उत्पादन-कर
          - सीमा-कर
            - आयात-कर
            - निर्यात-कर
    - फीस जुर्माने दण्ड तथा विशेष निर्धारण
  - अनुमानजनक (Anticipatory)
    - साख-विपत्रों की बिक्री (Sale of Bonds etc)
    - कोषागार-पत्र (Treasury Notes)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का वर्गीकरण

सार्वजनिक आय का सबसे सरल व्यावहारिक और सक्षिप्त वर्गीकरण रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने किया है जो इस प्रकार है—



स्पष्ट है कि सार्वजनिक आय के साधनो का भिन्न-भिन्न रीतियो के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। इनमे कई वर्गीकरण एक-दूसरे से मिलते-जुलते है । अनेक वर्गीकरणो मे केवल नाम मे परिवर्तन देखने को मिलता है अन्यथा आधार बहुत कुछ समान है । यही लगता है कि सार्वजनिक आय के विभिन्न साधनो मे कोई विशेष अन्तर न होने के कारण उनके मध्य विभेदक रेखा नही खींची जा सकती । कई स्थानो पर वे एक-दूसरे मे समाविष्ट होते हुए मालूम होते है । अनेक बार कर और कीमत की प्रकृति

एक-सी होती है । स्थानीय अधिकारियों द्वारा मीटर की सहायता से पानी की पूर्ति के लिए लिया गया मूल्य इसका एक उदाहरण है । ठीक इसी भाँति विशेष कर-निर्धारण के विषय मे यह सुनिश्चित करना कठिन है कि उसे कर कहा जाए अथवा शुल्क समझा जाए क्योकि अनिवार्य होने के कारण उसे कर कहा जा सकता है और देने वाले व्यक्ति को कुछ विशेष वस्तु, सेवा या सुविधा प्राप्त होने के कारण उसे मूल्य भी कहा जा सकता है । इसी प्रकार सार्वजनिक उपक्रमो के लाभो की प्रकृति भी बहुत कुछ कर के समान होती है । ऐसी स्थिति मे डॉल्टन का यह विचार सही ही है कि 'सार्वजनिक आय के स्रोतो का वर्गीकरण किया जा सकता है परन्तु उसके अनेक भेद पूर्णतया प्रत्यक्ष नहीं है एव अन्य स्थानो के वर्गीकरण की खोज स्वय वर्गीकरण की प्राप्ति से अधिक ज्ञानप्रद है ।

सार्वजनिक आय के साधन

(Sources of Public Revenue)

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर सार्वजनिक आय के मुख्य स्रोतो को स्पष्ट कर सकते है । स्मरणीय है कि उत्तरोत्तर लोक आय की विकासशील आवश्यकता को केवल करारोपण से पूर्ण नहीं किया जा सकता है इसके लिए सरकार को दूसरे साधनो की खोज करनी पडती है ।

इस प्रकार सार्वजनिक आय के दो स्रोत है—

(क) कर सम्बन्धी साधन

करारोपण प्राचीन काल मे सार्वजनिक आय का एक प्रमुख साधन रहा है । आज कुल सार्वजनिक आय का एक बडा भाग करारोपण से ही प्राप्त किया जाता है । प्लेहन के अनुसार कर (Tax) दान के रूप मे दिया गया वह सामान्य अनिवार्य अशदान है जो राज्य के निवासियो को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किए गए खर्चे को पूरा करने हेतु व्यक्तियो से लिया जाता है । कर सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए न्यायसगत कहा जा सकता है लेकिन उसे माना नही जा सकता है । प्रो सैलिगमैन के शब्दो मे कर एक व्यक्ति का सरकार के लिए अनिवार्य अशदान है उन खर्चों को पूरा करने के लिए जो सबके सामान्य हित मे किए जाते है जिसका सकेत विशेष लाभो की प्राप्ति के लिए नही होता ।[1]

फिलिप्स ई टेलर ने लिखा है कि वे अनिवार्य भुगतान जो सरकार को बिना करदाता को किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा के किए जाते है कर हैं ।

इन सभी परिभाषाओं के विश्लेषण से कर की निम्नलिखित मौलिक विशेषताओं की ओर सकेत मिलता है—

1 कर एक अनिवार्य भुगतान है ।

2 कर की आय का उपयोग सामान्य लाभ के लिए किया जाता है ।

3 सरकार करदाता को कर के बदले मे कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करती । राजकीय अधिकारी और करदाता के बीच कोई आवश्यक जैसे को तैसा (Necessary Quid pro quo) व्यवहार का अभाव होता है ।

4 यद्यपि कर देते समय कौन व्यक्ति अपनी आय तथा पूँजी को काम मे ले सकता है लेकिन अन्त मे 'कर आय द्वारा पोषित किया जाता है क्योकि पूँजी भी पिछली बचाई हुई आय ही होती है ।

5 कर वस्तुओं अथवा सम्पत्ति पर लगाया जाता है किन्तु उसका भुगतान व्यक्तियों द्वारा होता है और यह उनका निजी कर्त्तव्य माना जाता है ।

6 करो मे करदाता को बलिदान अथवा त्याग करना पडता है किन्तु यह प्रतिफल रहित त्याग है । कर सेवा का लागत मूल्य नही होता ।

7 करारोपण वैधानिक सत्ता पर आधारित तथा निर्धारित होता है ।

8 कर प्रतिफल नहीं देता लेकिन इसका उपयोग न्यायोचित उद्देश्य के लिए सामूहिक हित मे किया जाता है ।

यदि करारोपण मे सरकार के उद्देश्य को ले तो कहा जा सकता है कि सरकार प्राय (क) अपनी आय मे अभिवृद्धि के लिए (ख) सामाजिक बुराइयो को दूर करने के लिए (ग) आर्थिक जीवन मे स्थायित्व लाने के लिए तथा (घ) धन के वितरण की विषमताओं को दूर करने के लिए करारोपण करती

1 सैलिगमैन एसेज इन टैक्सेशन (10वाँ सस्करण) पृष्ठ 432

है। सरकार का करारोपण में उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, पर यह अवश्य है कि कर सार्वजनिक आय का प्रधान स्रोत है और करारोपण से सरकार की आय अवश्य बढती है। यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक कर इन सभी लक्ष्यो को प्राप्त करे फिर भी सर्वाधिक हितों को ध्यान में रखकर करारोपण के शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक कर में किसी विशेष उद्देश्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है और अन्य उद्देश्य गौण होते है।

(ख) अ-कर साधन

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक करों से प्राप्त होने वाली आय को सार्वजनिक आय का प्रमुख साधन माना जाता रहा परन्तु विश्व-युद्ध ने इस स्थिति को एकदम बदल दिया। आज राज्य को अपने विस्तृत कार्यों के सम्पादन के लिए जितने धन की आवश्यकता पडती है उतना धन वह केवल करों (Taxes) द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। आवश्यक पर्याप्त धन की उपलब्धि के लिए राज्य को आय के अन्य साधनों की खोज करनी पड़ती है। आय के अन्य मामलों में अ-कर साधनों का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। विभिन्न देशों के बजट को देखने से ज्ञात होता है कि कर सार्वजनिक आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन अ-कर साधन भी कुल आय में लगभग 1/4 से लेकर 1/3 भाग तक योगदान करते हैं। अमरेरिका जापान दक्षिणी अफ्रीका व मध्यपूर्व एशिया के देशो में समस्त आय का एक-तिहाई भाग कनाडा और फ्रास मे 1/4 भाग और इग्लैण्ड में 10 प्रतिशत भाग अ-कर साधनों से प्राप्त होता है। भारत मे लगभग 35 से 40% भाग अ-कर साधनों से उपलब्ध होता है और रूस में तो समस्त आय का लगभग 90 प्रतिशत अ-कर साधनो से प्राप्त होता है। आज कल्याणकारी राज्य की स्थापना और समाजवादी विचारधारा के गठन के लिए विभिन्न देश अग्रसर हो रहे हैं। ऐसी अर्थव्यवस्था में अ-कर आय के साधनों का महत्त्व और अधिक बढ जाता है। अ-कर आय के साधनों के महत्त्व की इस अभिवृद्धि के तीन आधारभूत कारण बताए जाते हैं—

1 इन साधनो से राज्य को असीमित आय प्राप्त हो सकती है जबकि करों से सीमित आय प्राप्त होती है। समाज की करदेय-क्षमता समाप्त हो जाने के पश्चात् अनिश्चित मात्रा में कर नहीं लगाए जा सकते जबकि अ-कर साधन पर्याप्त मात्रा में लोचपूर्ण होते हैं।

2 करारोपण का देश के उत्पादन तथा लोगो की बचत और विनियोग की शक्ति पर विपरीत प्रभाव पडता है जबकि अ-कर साधन ऐसा प्रभाव नहीं डालते। अ-कर साधनों के द्वारा देश के उत्पादन में वृद्धि होती है, लोगो को रोजगार और लाभ मिलता है जिससे उनकी आय, बचत तथा विनियोग करने की इच्छा और शक्ति बढती है।

3 अ-कर साधन अर्थव्यवस्था को सन्तुलन में रखने के लिए उपयोगी हैं। राज्य इन साधनों के द्वारा अर्थव्यवस्था पर प्रभावशाली नियन्त्रण रख सकता है। मुद्रा-प्रसार में सरकार उत्पादन करती है तथा निजी एव सार्वजनिक उद्योगों में सामजस्य स्थापित कर रोजगार आदि व्यवस्थाओं में सुधार करती है।

अ-कर आय के जो विभिन्न साधन हैं उन्हे निम्न तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

(क) व्यावसायिक आय या सार्वजनिक उद्यमो से प्राप्त आय (Revenues from Public Enterprises)—व्यावसायिक वाणिज्यिक उद्यमों से प्राप्त आय सम्पत्ति के सरकारी स्वामित्व से तथा सरकारी उद्यमो से प्राप्त होती है। सरकार अथवा अन्य लोक सस्थाएँ विभिन्न प्रकार के व्यापारिक और औद्योगिक कार्य अपने हाथ मे लेती हैं। परिवहन, विद्युत, जल, टेलीफोन एव डाक-तार आदि जनहित की सेवाएँ प्रदान करना तथा विभिन्न उद्योगों का सचालन और उनकी वस्तुओं का विक्रय करना इन कार्यों के उदाहरण है। इनसे मूल्य के रूप मे प्राप्त होने वाली आय व्यावसायिक आय कहलाती है। समाजवादी और साम्यवादी देशो में समस्त उद्योगों पर राजकीय स्वामित्व होता है, जबकि पूँजीवादी देशों में प्राय आधारमूत उद्योग राज्य के अधिकार मे होते हैं शेष निजी अधिकार मे होते हैं।

प्रत्येक देश में कुछ सम्पत्ति ऐसी होती है जो राष्ट्रीय सम्पत्ति कहलाती है, जैसे—वन, पर्वत, नदियाँ आदि। इनसे प्राप्त होने वाली आय इसी वर्ग में आती है। वनों के ठेके, खानों से खनिज, निकालने के पट्टे जल-वहन और पत्थर निकालने के ठेके आदि ऐसी आय के उदाहरण हैं। डॉल्टन ने लिखा है कि सम्पत्ति और उद्योगो से प्राप्त शुद्ध मौद्रिक आय से उनकी सकल आय बढ जाती है। इस आय की प्राप्ति से लोक सत्ता करों मे थोडी कमी और व्ययों में वृद्धि कर सकती है जो इसके अभाव में सम्भव नहीं है।

राज्य द्वारा इन व्यापारिक और औद्योगिक उपक्रमों का सचालन क्यो किया जाता है ? इसके कुछ प्रमुख कारण स्पष्ट किये जा रहे है—

1. सरकार कुछ अनावश्यक सेवाओं की व्यवस्था उस स्थिति मे करती है जबकि व्यक्ति अथवा गैर-सरकारी सगठन सचालन की व्यवस्था स्वय नहीं करना चाहते अथवा यदि उन्हे व्यक्तिगत हाथो में सौप दिया जावे तो उनका सचालन कुशलतापूर्वक नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ—रेल, परिवहन व डाक-तार आदि की व्यवस्था । विभिन्न प्रकार की सेवाओं में आवश्यक पूँजी की मात्रा निजी क्षेत्र के ससाधनो से कहीं अधिक होती है । अतः सरकारी क्षेत्र में पूँजी लगानी पडती है । इसी प्रकार कई सेवाएँ इतनी आवश्यक होती है कि उन्हें निजी क्षेत्र में नहीं रखा जा सकता है ।

2 *कुछ आवश्यक सेवाएँ सरकार द्वारा इसलिए की जाती है कि एकाधिकारी, अर्द्ध-एकाधिकारी अथवा कुशल व्यवस्था वाले गैर-सरकारी सगठनो से उपभोक्ताओं के हितो की रक्षा की जा सके अर्थात्* अनावश्यक प्रतिस्पर्धा तथा उपभोक्ताओं के शोषण की समस्याओं को बढावा न मिल सके, जैसे—नगर परिवहन व नगर जल-पूर्ति की सेवाएँ ।

3. कभी-कभी मादक पदार्थों के उपयोग को कम करने और जनता के जीवन-स्तर को उच्च करने के लिए इनके उत्पादन और विक्रय पर राजकीय नियन्त्रण लगाया जाता है । इन वस्तुओं के उपयोग को नियमित करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा इन वस्तुओं की उत्पत्ति और बिक्री की जाती है । अफीम पर सरकार का एकाधिकार होना इसका उदाहरण है ।

4. लाभोपार्जन के दृष्टिकोण से सरकारी संस्था द्वारा किसी उद्यम का सचालन किया जा सकता है ।

5. किसी वस्तु की पूर्ति कम होने पर राज्य उसका राशनिंग एव व्यापार प्रारम्भ कर सकता है ।

6. *यह सम्भव है कि देश की अर्थव्यवस्था में कुछ उद्योगो का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण हो कि* सरकार ही इनका सचालन करना वाछनीय समझे ।

सामान्यत सरकारी उद्योगों का मुख्य उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं होता बल्कि किसी उद्देश्य की पूर्ति अथवा किसी नीति को क्रियान्वित करना होता है । यह अवश्य है कि सरकारी उद्योगों के पीछे प्रेरणा चाहे जो भी हो, ये भी आय के साधन है । आधुनिक काल मे अ-कर आय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत इन व्यावसायिक उद्योगों से होने वाली बचतें है ये बचतें अनेक देशों के बजटों मे निरन्तर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती जा रही है । ईरान और इराक जैसे कुछ मध्यपूर्वीय देशों में तेल से प्राप्त होने वाली रायल्टी राजस्व का सबसे बडा भाग हो गयी है । राष्ट्रीयकरण की नीति से आय के इस साधन का महत्त्व बढ गया है । राजकीय व्यापार आय का दूसरा रूप है और इसका भी प्रभाव वैसा ही होता है । समाजवादी (Socialist) या समूहवादी (Collectivist) अर्थव्यवस्थाओं मे राजकीय व्यापार और उद्यमो से पर्याप्त मात्रा मे आय प्राप्त होती है ।

उल्लेखनीय है कि राज्य को जो व्यावसायिक आय प्राप्त होती है, उसके बदले मे वह लोगों को प्रत्यक्ष सेवाएँ और वस्तुएँ प्रदान करता है अर्थात् यहाँ 'जैसे को तैसा' (Quid-pro-quo) व्यवहार होता है । प्रत्यक्ष प्रतिफल या आदान-प्रदान का यह तत्त्व ही ऐसी आय को करो से पृथक् करता है । मूल्यों से प्राप्त आय और करों से प्राप्त आय मे जो पृथकता है वह निम्न प्रकार से प्रकट की जा सकती है—

(i) *कर अनिवार्य होते है लेकिन मूल्य ऐच्छिक होते हैं । जनता अनिवार्य रूप से सरकार को कर देती है, लेकिन मूल्य केवल उन व्यक्तियों को देना पडता है जो सरकार द्वारा सुलभ सेवाओ और वस्तुओं का उपभोग करते हैं ।*

(ii) मूल्य उस समय दिया जाता है जब व्यक्ति उसके बदले में कोई सेवा या वस्तु प्राप्त करता है । इसके विपरीत करदाता को सरकार यह गारण्टी नहीं देती कि उससे प्राप्त कर आय को उसी के लाभ के लिए व्यय किया जाएगा । यदि सरकारी एकाधिकारी बनकर कोई व्यवसाय करती है और जनता से अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले मे मनमाना मूल्य लेती है तो उसे मूल्य न कहकर कर ही समझना चाहिए ।

लोक-उपक्रमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं और प्रदत्त सेवाओं का मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाए और सरकारी उद्यम की मूल्य-नीति क्या हो ? इस सम्बन्ध में डॉल्टन ने निम्नलिखित तीन सिद्धान्त बनाए हैं—

(i) *बिना सेवा लागत को ध्यान में रखे हुए सामान्य करारोपण के सिद्धान्तो के अनुसार मूल्य* निश्चित हो,

(ii) सेवा के लागत-मूल्य के अनुसार मूल्य निश्चित हो, तथा

(iii) स्वेच्छापूर्वक मूल्य का निर्धारण हो।

वास्तव में सरकारी उद्यम की मूल्य नीति द्वारा उत्पादित वस्तुओं व प्रदत्त सेवाओं का मूल्य-निर्धारण एक कठिन समस्या है। राज्य यदि लोक-उपक्रमों की वस्तुओं का मूल्य लागत से अधिक रखता है तो इससे जनता का शोषण होता है और उसका जीवन स्तर नीचे गिरता है। यदि वह मूल्य लागत से कम रखता है जो जन-साधारण पर कर-भार बढता है क्योंकि वस्तुओं के विक्रय से लोक-उपक्रमों के व्यय पूरे नहीं हो पाते और उसकी पूर्ति अधिकाधिक करारोपण द्वारा की जाती है। राज्य यदि मूल्य बिना लाभ-हानि के सिद्धान्त के अनुसार मूल्य निर्धारित करता है तो उसे अतिरिक्त आय की प्राप्ति नहीं होती है। इन परिस्थितियो मे वास्तविकता यही है कि लोक-उपक्रमों की वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उपक्रम के उद्देश्य देश-विशेष की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। वाछनीय यही है कि उद्यम कम से कम स्वावलम्बी अवश्य हो और सामान्य राजस्व के लिए भार न बनें लेकिन कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी हो सकती है जब जन-कल्याण की दृष्टि से इस सिद्धान्त का पालन करना सम्भव नहीं हो जैसे—सस्ते खाद्यान्न अथवा दूध आदि की बिक्री की स्थिति। दूसरी ओर अनेक सरकारी उद्योग ऐसी सामान्य व्यावसायिक प्रकृति के होते है कि उनका सचालन लाभ-प्राप्ति के आधार पर किया जा सकता है। विकासशील देशों मे सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय धन-प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकती क्योकि वहाँ सभी साधनों की तीव्र आर्थिक विकास की दिशा गतिशील किए जाने की आवश्यकता होती है लेकिन यह सम्भव है कि सार्वजनिक उद्योगो की स्थापना के प्रारम्भिक दिनो में अधिक बचत न हो सके और कुछ घाटा वहन करना पडे।

सार्वजनिक क्षेत्र मे उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-निर्धारण करने के सम्बन्ध में प्रो हेन्सन के अनुसार निम्नलिखित प्राथमिक आर्थिक उद्देश्यो को ध्यान मे रखना चाहिए—

(i) उपस्थित पूँजी का अधिकतम उपयोग

(ii) बढ़ती हुई दर से उसका सग्रह

(iii) कुछ विशेष प्रकार के उपयोग मे अन्य उपभोगो की अपेक्षा वृद्धि तथा

(iv) कार्यकुशलता की वृद्धि के लिए तीव्रतम प्रोत्साहन।

प्रत्येक निर्णय के लिए कुछ न कुछ समझौता करना पडता है लेकिन न तो उसे बिना समझे करना चाहिए और न किसी राजनीतिक तथा आर्थिक दबाव मे पडकर करना चाहिए। भारत मे सार्वजनिक उद्यमो पर आगे पृथक् अध्याय मे प्रकाश डाला गया है।

(ख) प्रशासनिक आय (Administrative Revenue)—राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य देश की सुरक्षा का वातावरण बनाए रखना है। जब तक किसी देश मे शाति और सुव्यवस्था नहीं होती तब तक आर्थिक-सामाजिक किसी प्रकार की प्रगति सम्भव नहीं होती अत सरकार शान्ति और सुव्यवस्था के लिए नियम बनाती है और जो समाज-विरोधी तत्त्व उन नियमो का उल्लघन करते है उन्हे अर्थदण्ड भी देती है। दण्ड-व्यवस्था के अतिरिक्त वह विभिन्न ढगो से आय प्राप्त करती है। टेलर के अनुसार प्रशासनिक आय उस समय एकत्र की जाती है जब राज्य सामान्य कार्यों की व्यवस्था बनाए रखते समय कुछ विशेष व्यक्तियो के सम्पर्क में आता है। प्रशासनिक आय के मुख्य साधन ये है—

1. शुल्क (Fees)—राज्य समाज को कुछ सेवाएं प्रदान करता है जिनके बदले वह पूर्ण अथवा आशिक लागत प्राप्त करता है इसे शुल्क कहते है। यह शुल्क उन्हीं व्यक्तियो से लिया जाता है जो उस सेवा से लाभ उठा सकते है। शुल्क सेवा की मात्रा के अनुसार लिया जाता है। सरकार बहुत-सी सेवाओं के लिए शुल्क निर्धारित करती है जैसे—फीस स्टाम्प फीस रजिस्ट्रेशन फीस आदि।

एडम्स के अनुसार शुल्क विशेष सेवा के लिए स्वीकार किया जाता है और यह सेवा राज्य के किसी विस्तृत कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। प्लेहन का दृष्टिकोण है कि शुल्क धन के रूप में एक अनिवार्य अशदान है जो किसी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम व्यक्ति को सार्वजनिक अधिकारी की आज्ञानुसार सरकार के किसी कार्य मे लगे व्यय के किसी अश अथवा पूरे भुगतान के लिए देना पडता है यह जहाँ सामान्य लाभ पहुँचाता है वहाँ विशेष प्रकार का लाभ भी पहुँचाता है। सेलिगमैन के विचारानुसार शुल्क एक ऐसा दातव्य है जिसे सरकार अपनी अनवरत् सेवाओं को विशेषकर जन-हित

मे चलाने के लिए करती है परन्तु शुल्क देने वालो को इनसे विशेष लाभ होता है जिसका माप किया जा सकता है। शुल्क की इन सभी परिभाषाओं से इसकी निम्न विशेषताएँ प्रकट होती है—

(i) शुल्क किसी व्यावसायिक सेवा का भुगतान न होकर राज्य के प्रशासनिक एव न्याय सेवा का भुगतान है। (ii) शुल्क मे 'जैसे को तैसा' सम्बन्ध होता है। इसका भुगतान केवल वे ही व्यक्ति करते है जो राज्य प्रदत्त सेवा का लाभ उठाते हैं और यह भुगतान उन्हे अनिवार्य रूप से करना होता है। *(iii) शुल्क की राशि प्रदान की जाने वाली सेवा की पूरी या आशिक लागत के आधार पर तय की जाती है।* (iv) शुल्क के प्रतिरूप मे की गई सेवाएँ कभी-कभी प्रशासनिक नियन्त्रण के लिए की जाती है। (v) शुल्क का भुगतान करने वाले व्यक्ति को विशेष लाभ प्राप्त होता है। शुल्क में लोक-हित का उद्देश्य निहित होता है।

शुल्क द्वारा प्राप्त धन से राज्य के होने वाले सभी व्यय पूरे नहीं होते। इससे केवल लागत का कुछ भाग प्राप्त हो सकता है। ऐसी दशा मे राज्य के सेवा अर्पित करने का यह अभिप्राय होता है कि वे सभी लोग इस सेवा का लाभ प्राप्त कर सके जो शुल्क चुकाने मे असमर्थ है और जिन्हे उस सेवा की आवश्यकता है।

शुल्क और कर मे अन्तर—*शुल्क और कर मे कतिपय आधारभूत अन्तर निम्न है—*

(क) शुल्क किसी विशेष लाभ के बदले मे दिया जाता है जबकि कर सार्वजनिक हित के लिए दिया जाता है।

(ख) करदाता को कर से कोई प्रत्यक्ष एव समान लाभ नही मिलता परन्तु शुल्क के बदले मे सरकार शुल्कदाता को कुछ विशेष लाभ प्रदान करती है।

(ग) शुल्क की मात्रा सेवा की लागत के बराबर होती है अर्थात् शुल्क लाभ के अनुपात मे होता है। इसके विपरीत कर और लाभ मे ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता। हटर के शब्दो मे शुल्क एक अर्द्ध-अनिवार्य कर है जो मुख्यत सार्वजनिक हित के दृष्टिकोण से दिया जाता है किन्तु इससे उस *व्यक्ति को भी एक निश्चित लाभ होता है जो कि शुल्क देता है।*

शुल्क और मूल्य में अन्तर—*शुल्क और मूल्य भी परस्पर भिन्न है।* जिस सेवा के बदले शुल्क दिया जाता है वह सेवा जनता के लिए अधिक महत्त्व की समझी जाती है अपेक्षाकृत उस सेवा के जिसके लिए कीमत देनी पडती है। यही कारण है कि जनता को शुल्क देने से त्याग की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त होता है। *उदाहरण के लिए विद्यार्थी स्कूल मे शुल्क (Fees) देता है लेकिन वह इस शुल्क* से ज्यादा लाभ उठाता है। मूल्य मे ऐसा नहीं होता। इसमे व्यक्ति विशेष को मूल्य के बराबर ही लाभ होता है। उदाहरणार्थ रेल के टिकट का मूल्य इतना ही होता है जितना व्यक्ति विशेष को लाभ मिलता है। इस तरह हम कह सकते है कि जनता को मूल्य की तुलना मे शुल्क द्वारा अधिक लाभ होता है। *सार्वजनिक हितो का मूल्य की अपेक्षा शुल्क मे अधिक महत्त्व है। शुल्क केवल सरकार द्वारा लिया हुआ* बिक्री का रुपया है। जब सरकार एकाधिकारी होती है तो वह मूल्य अधिक भी लेती है। शुल्क की दर प्राय सेवा उत्पादन खर्च से कम रहती है जबकि मूल्य राज्य उद्योगो से सम्बन्धित होता है जिसका निर्धारण लाभ प्राप्त करने के लिए किया जाता है और जिसमे लागत खर्च से ऊँची रखी जाती है। हमारे देश मे रेलो से प्रति वर्ष करोडो रुपये प्राप्त होते है। रेलो के चलने के खर्चे से रेल-भाडा द्वारा प्राप्त धन सदा अधिक होता है।

शुल्क का उद्देश्य—शुल्क का उद्देश्य साधारणतया सरकार द्वारा उत्पादित किसी वस्तु अथवा सेवा के उपयोग के उपभोग को सकुचित करना होता है। इसके विपरीत उत्पादन अथवा उपभोग पर कर लगाने का अभिप्राय निजी स्रोतों द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग का नियमन या सकुचन करना होता है। *ऐसी परिस्थिति मे यह प्रश्न स्वत उठता है कि राज्य अपनी ही उत्पादित वस्तुओं* अथवा सेवाओं का उपभोग सकुचन क्यो करता है ? इसमे यह सम्भावना रहती है कि ऐसी वस्तुओं अथवा सेवाओं का दुरुपयोग हो और चूँकि राज्य को उन पर धन खर्च करना होता है अत यह आवश्यक हो जाता है कि उसका ठीक-ठीक उपयोग हो। उदाहरणार्थ सरकार अदालतो का प्रबन्ध करती है और उसे इतना अधिक खर्च करना पडता है जितना न्यायालय शुल्क द्वारा एकत्र नहीं हो पाता *लेकिन यहाँ न्यायालय शुल्क किए गए खर्चे को पूरा करने के लिए नहीं लगाया जाता बल्कि यह न्यायालय के उपयोगो को सीमित करने के लिए लगाया जाता है। यदि न्यायालय शुल्क न लगाया जाए*

तो न्याय-सेवा का दुरुपयोग हो सकता है और अनावश्यक रूप से मुकदमेबाजी बढने से समाज को लाभ के स्थान पर हानि अधिक होने लगेगी।

शुल्क का सिद्धान्त—शुल्क का उद्देश्य समझ लेने पर उसके सिद्धान्त का निश्चय करना सरल है। जब शुल्क का उद्देश्य उन वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग को जिन पर वह लगाया जाता है नियमन करने का होता है तो कठिनाई यह होती है कि सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए अथवा सभी राज्यो के लिए एक ही प्रकार का नियमन कारगर नही हो सकता क्योकि कुछ मे तो शुल्क को ऊँचा रखने से उद्देश्य की प्राप्ति होती है और कुछ मे उन्हे नीचा रखना श्रेयस्कर होता है अत एक साधारण सिद्धान्त यह बनाया जा सकता है कि वस्तु अथवा सेवा का उपयोग लाभप्रद सीमाओं के अन्दर ही रहे लेकिन प्रश्न उठता है कि लाभप्रद सीमाओं को कैसे निश्चित किया जाए ? सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि जब उस वस्तु या सेवा से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त उत्पादन कार्य-मूल्य के बराबर हो जाए तो लाभप्रद सीमा एक प्रकार से निश्चित हो जाती है। वास्तविकता यह है कि व्यावहारिक जीवन मे सीमान्त सामाजिक लाभ अथवा सीमान्त सामाजिक उत्पादन खर्च का पता लगाना असम्भव-सा प्रतीत होता है अत इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना सम्भव नहीं है।

इस कठिनाई के कारण इस सिद्धान्त को व्यर्थ छोड देना युक्तिसगत नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार शुल्क लगाना सम्भव नही है किन्तु उसके बहुत निकट तक पहुँचा जा सकता है। किसी देश के वित्त मन्त्री सदैव इस दिशा मे प्रयत्नशील रहते है और शुल्को की दरो मे निरन्तर परिवर्तन करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करते है। उदाहरणार्थ शराब पर कर लगाते समय यह कभी नही हो सकता कि शराब के उपभोग पर उसका क्या प्रभाव पडेगा लेकिन इस सम्बन्ध मे एक व्यावहारिक अनुमान लगाया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन मे कर और शुल्क साथ साथ लगाए जाते है पर करो के सिद्धान्त और प्रभाव शुल्कों के सिद्धान्त और प्रभाव की तरह नही होते। इसीलिए इन दोनो को एक साथ लगाने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। वित्त मन्त्री को सदैव एक ऐसे मध्यम मार्ग की तलाश रहती है जिससे कर और शुल्क दोनो मिलकर अधिकतम सामाजिक लाभ उत्पन्न कर सके।

2 लाइसेस शुल्क (Licence Fees)—कुछ लेखको ने शुल्क और लाइसेस शुल्क मे भेद किया है। साधारण बोलचाल मे और व्यावहारिक जीवन मे ऐसा देखने मे नही आता लेकिन आर्थिक दृष्टि से इन दोनो मे थोडा सा अन्तर है। लुटज ने बताया है कि लाइसेस शुल्क उस स्थिति मे आता है जब सरकारी अधिकारी स्वय कोई प्रत्यक्ष या स्पष्ट सेवा न करके किसी व्यक्ति को कार्य करने की आज्ञा प्रदान करते है तथा उसे अधिकारी सौपते है जबकि शुल्क उन मामलो मे दिया जाता है जब वास्तव मे कोई सेवा सम्पन्न की जाती है। लाइसेस शुल्क मे नियमन और नियन्त्रण का अश छिपा रहता है। समाज हित मे कुछ सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए केवल कुछ ही व्यक्तियो को अधिकार दिया जाता है और *लाइसेस द्वारा इन व्यक्तियो की क्रियाओं को नियमित किया जाता है जैसे—मादक पेयो एव* वस्तुओं के विक्रय के लिए या बन्दूक प्रयोग करने के लिए लाइसेस दिए जाते है और लाइसेस शुल्क लिया जाता है। यदि कोई व्यक्ति लाइसेस शुल्क अदा करना भूल जाता है तब वह उन क्रियाओं को नही कर सकता जिनके लिए उसे अधिकार प्राप्त था।

3 *जुर्माना व सम्पत्ति जब्त करना* *(Fines and Punishment)—जुर्माना अथवा अर्थदण्ड* यह धनराशि है जो वैधानिक नियमो का उल्लघन करने वाले व्यक्तियो से अनिवार्य रूप से प्राप्त की जाती है। यह आय का बहुत मामूली साधन है जिसका उद्देश्य लाभ कमाना नही होता है। इसका मुख्य उद्देश्य तो अपराधियो को दण्ड देकर समाज मे होने वाली बुराइयो को दूर करना या रोकना होता है। आधुनिक समाज लोगो का सुधार और आत्म-विकास करने मे विश्वास करता है अत लोकमत दण्ड के विरुद्ध होता जा रहा है।

सम्पत्ति जब्त करने से सरकार को कभी-कभी आय प्राप्त होती है। जब कोई व्यक्ति बिना उत्तराधिकारी के या बिना वसीयतनामा लिखे मर जाता है तो ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती है। ऐसी सार्वजनिक सस्थाओं की सम्पत्ति जिसकी कोई देख-रेख करने वाला नहीं होता राज्य जब्त कर लेता है। इस मद से भी सरकार को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं होती।

4 विशेष निर्धारण (Special Assessment)—जब सरकार की कुछ सेवाओं के फलस्वरूप व्यक्तियो की आय अथवा सम्पत्ति मे अनायास बिना किसी परिश्रम के वृद्धि हो जाती है और बिना कमाई हुई वृद्धि (Unearned Increment) पर सरकार कर लगा देती है तो इस कर को विशेष निर्धारण कहा

जाता है। उदाहरण के लिए कहीं सडक-निर्माण होने अथवा नहर निकाल देने से उसके आस-पास की भूमि का महत्त्व बढ जाता है। ऐसी दशा मे विशेष निर्धारण द्वारा सरकार आय प्राप्त कर लेती है। इसी तरह यदि किसी शहर मे नगरपालिका कोई नई सडक बना दे या पार्क बना दे या नालियों की उचित व्यवस्था कर दे तो उससे व्यक्तियो को विशेष लाभ प्राप्त होगा जिसके लिए नगरपालिका विशेष कर लगाएगी। टेलर का मत है कि लोक क्रियाओं के परिणामस्वरूप नागरिको का सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होने पर विशेष कर निर्धारण किया जाता है। प्रो सैलिगमैन ने इस विशेष निर्धारण की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "विशेष निर्धारण एक अनिवार्य अशदान है जो प्राप्त हुए विशेष लाभों के अनुपात में लगाया जाता है जिससे जनहित के लिए सम्पत्ति में विशेष सुधार करने की लागते पूरी हो जाएँ।

प्रो सैलिगमैन ने विशेष निर्धारण के पाँच गुण बताए हैं—

(1) उनका विशेष उद्देश्य हो (2) विशेष लाभ मापा जा सके (3) निर्धारण प्रगतिशीलता के आधार पर नहीं होकर लाभ के अनुपात मे हो (4) स्थानीय विकास का प्रतिफल हो तथा (5) स्थान के पूँजीगत मूल्य मे वृद्धि होती हो।

सक्षेप में विशेष निर्धारण द्वारा सार्वजनिक कोष मे विकास द्वारा प्राप्त अनार्जित लाभ का एक भाग आता है। वास्तव मे इस विशेष कर की प्रथा का प्रारम्भ अमेरिका मे हुआ था। वहाँ सरकार द्वारा किए गए विकास कार्यों के फलस्वरूप लोगों की सम्पत्ति के मूल्यों में वृद्धि होने से उन्हे अनार्जित लाभ प्राप्त होने लगा था अत इस लाभ का एक भाग सेवा लागत के अश के रूप मे सरकार ने 'व्यक्ति विशेष' से कर लेना शुरू कर दिया।

विशेष निर्धारण और कर में समानताएँ तथा असमानताएँ—समानताओं की दृष्टि से दोनो मे जनहित का अश विद्यमान है और दोनो ही अनिवार्य है। अन्तरो की दृष्टि से दोनो मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण भेद है—

(क) कर सामान्य हित के लिए लगाए जाते है किन्तु विशेष निर्धारण से करदाता को व्यक्तिगत लाभ होता है। (ख) कर के लाभ को नापना कठिन है परन्तु विशेष निर्धारण से प्राप्त लाभ मापा जा सकता है। (ग) कर का निर्धारण किसी निश्चित आधार पर होता है जैसे—आयातित सम्पत्ति मे उपभोग आदि के आधार पर। इसके विपरीत विशेष निर्धारण प्राप्त लाभ के अनुपात मे लगाया जाता है। (घ) विशेष निर्धारण से प्राप्त होने वाली आय को सार्वजनिक स्थायी पूँजी की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए व्यय किया जाता है जबकि कर से प्राप्त होने वाली आय को किसी प्रकार भी व्यय किया जा सकता है। (ड) विशेष निर्धारण से विशेष लाभ मिलता है लेकिन कर से नहीं।

विशेष निर्धारण व शुल्क मे अन्तर—विशेष निर्धारण व शुल्को मे कई मौलिक अन्तर है—

(क) विशेष निर्धारण केवल विशेष स्थानीय सुधार के लिए लगाया जाता है जबकि शुल्क प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए लगाया जाता है। (ख) विशेष निर्धारण केवल सम्पत्ति के मूल्यो मे वृद्धि होने की स्थिति मे दिया जाता है जबकि शुल्क किसी भी प्रकार के प्रबन्ध से उत्पन्न होने वाले लाभो के लिए दिया जा सकता है। (ग) शुल्क का भुगतान बार बार होता है जबकि विशेष निर्धारण केवल एक बार ही होता है। (घ) शुल्क की द   f [रेचत होती है जबकि विशेष निर्धारण मे दर निर्धारण लाभो के अनुपात मे होता है। (ड) शुल्क व्यक्तिगत रूप में लगाया जाता है और इसमे केवल व्यक्ति विशेष को होने वाले लाभ के अनुसार भुगतान करना होता है जबकि विशेष निर्धारण सामूहिक रूप मे लगाए जाते हैं। जब अचल सम्पति पर सुधार होने से एक स्थान पर रहने वाले लोगों को सामूहिक लाभ पहुँचता है तो सब पर विशेष निर्धारण लागू किया जाता है किसी एक व्यक्ति पर नही।

विशेष निर्धारण और मूल्य मे अन्तर—इन दोनो मे प्रमुख अन्तर निम्न हैं—

(क) विशेष निर्धारण अनिवार्य होता है जबकि मूल्य स्वैच्छिक।

(ख) विशेष निर्धारण मूल्य की भाँति किसी विशेष अनुबन्ध विशेष का प्रतिफल नही होता।

इग्लैण्ड मे ऐसे विशेष कर निर्धारण को 'बेटरमेन्ट लेवी' (Betterment Levy) कहते है। भारत में आन्ध्र प्रदेश मद्रास तथा उडीसा राज्य सरकारो ने भूमि पर बेटरमेन्ट लेवी लागू की है। यह विशेष निर्धारण का एक अच्छा उदाहरण है।

विशेष निर्धारण की कुछ समस्याएँ—विशेष निर्धारण बहुधा मनमाना होता है। अत इसमे कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती है जिन्हे दूर करने के लिए कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए है। व्यवहार मे प्रत्येक देश मे स्थानीय अधिकारियों ने अपनी अपनी सुविधानुसार विशेष निर्धारण के सम्बन्ध मे नियम

बना लिये है। इससे एक समस्या यह पैदा होती है कि किस प्रकार और किस सीमा तक व्यक्तियों को विशेष निर्धारण का भुगतान करने के लिए बाध्य किया जाए ? इस प्रकार की सीमा का निर्धारण निश्चय ही बहुत कठिन है लेकिन इस विशेष निर्धारण के न्यायोचित होने के लिए सुधार योजनाओं मे स्थानीय लोगो को जानकारी दी जाती है। यदि स्थान विशेष के अधिकाश व्यक्ति उन सुधार योजनाओं को स्वीकार कर लेते है तभी योजनाओं को क्रियान्वित किया जाता है अन्यथा नहीं। योजनाओं के क्रियान्वयन से जिन व्यक्तियो को सम्पत्ति की हानि होती है उन्हे मुआवजा दिया जाता है और जिनको लाभ होता है उन पर विशेष निर्धारण लगाया जाता है।

किसी विशेष क्षेत्र मे विशेष योजना से स्थानीय लोगो के लाभ के अतिरिक्त सामान्य जनता को भी लाभ मिलता है अत विशेष कर निर्धारण की समस्या रहती है। इस हेतु अलग-अलग सिद्धान्त अपना कर समस्या का निराकरण किया जाता है।

5 **उपहार व अनुदान** (Gifts and Grants)—यह वह राशि है जो सरकार को स्वेच्छा से दी जाती है।

(i) **उपहार**—सरकार को अपनी आय का कुछ भाग उपहार अथवा भेटो द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्येक देश मे कुछ उदार देशभक्त और सरकार से सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति होते है जो सरकार को उपहार देते रहते है। विदेशी सरकारे भी कभी-कभी दूसरी सरकार को उपहार देती है। व्यक्तियों या सरकारो द्वारा यह उपहार साधारणतया विशेष कार्यों के लिए दिया जाता है जैसे—युद्ध-सचालन के लिए अकाल-पीडितो की सहायता के लिए अस्पताल खोलने के लिए आदि। हमारे देश को अमेरिकी सरकार से बहुत बडी राशि उपहार क रूप मे प्राप्त होती रही है। भारत-चीन युद्ध के उपरान्त भारतीय नागरिको ने रक्षा कोष मे बहुत बडी मात्रा मे सोने चॉदी या नकदी सरकार को दी थी। अकाल पीडितो के लिए तथा बाढग्रस्त लोगो की सहायता के लिए भी भारतीय नागरिक उदारतापूर्वक उपहार के रूप मे धन राशि देते रहे है। अन्य साधनो से प्राप्त आय सरकार जन-कल्याण पर खर्च करती है। डॉल्टन ने इस मद से प्राप्त आय को कॉन्शन्स मनी' कहा है।

उपहार बिना किसी अनिवार्यता के सद्भावपूर्वक दिया जाता है और उपहार देने वालो को इनके उपलक्ष मे कोई अप्रत्यक्ष लाभ नही मिलता। कभी-कभी सरकार राजनीतिक नेताओं आदि का दबाव पडने के कारण उपहार अनिवार्य हो जाते है यद्यपि ऊपर से वे ऐच्छिक ही लगते है। राजस्व की आधुनिक व्यवस्थाओं मे भेट या उपहारो को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है।

(ii) **अनुदान**—एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को आर्थिक सहायता के रूप मे जो अनुदान दिए जाते है उनका काफी महत्त्व है। विकसित देश अधिकाशत विकासशील देशो को अनुदान के रूप मे आर्थिक सहायता प्रदान करते है। ये अनुदान तकनीकि सहायता विकास सहायता अथवा सैनिक सहायता के रूप मे होते है। अमेरिका सोवियत सघ कनाडा आस्ट्रेलिया पश्चिमी जर्मनी जापान आदि की सरकारो ने पिछडे देशों के आर्थिक विकास के लिए समय समय पर ऐसी सहायता प्रदान की है। ये अनुदान विकासशील देशो के विकास मे बडे सहायक सिद्ध हुए है किन्तु इनसे कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयॉं व उलझने भी पैदा हो जाती है। इसके अतिरिक्त अनुदान अनिश्चित होते है और इनका जारी रहना या न रहना ससार की तथा अनुदान देने वाले देश की प्रचलित परिस्थितियो पर निर्भर रहता है।

सघीय शासन के अनुदान का अपना ही महत्त्व है। अधिकाश देशो मे स्थानीय सस्थाओं की निधियो (Funds) के बहुत बडे भाग की पूर्ति सरकार द्वारा मिलने वाले अनुदानो से ही की जाती है। सघीय शासन वाले देशो मे साधारणत केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय या-राज्य सरकारो को इसलिए सहायक अनुदान देती है कि वे अपने विकास-कार्यों को पूरा कर सके। सघीय सरकार द्वारा प्रादेशिक सरकारों को दिए जाने वाले अनुदानो का उद्देश्य वित्तीय अभाव को दर करते हुए राज्य के विभिन्न अगो के मध्य समन्वय स्थापित करना और उनका उचित नियमन व निर्देशन करना होता है। ये अनुदान या तो बिना किसी शर्त के दिए जा सकते है अथवा केवल कुछ विशिष्ट कार्यों की पूर्ति के लिए भी दिए जा सकते है। ऐसे अनुदानो के परिणामस्वरूप अनेक प्रशासनिक और वित्तीय समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। जिस तरह सघीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को अनुदान देती है उसी तरह प्रान्तीय या राज्य सरकारें भी स्थानीय सरकारो को अनुदान दे सकती है।[1]

1 विस्तार के लिए देखिये इसी पुस्तक का अध्याय 'सघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त'।

(6) अन्य साधन (Other Sources)—अ-कर आय के उक्त विभिन्न स्रोतों के अतिरिक्त सरकार के पास कुछ अन्य साधन हैं :

(i) महसूल (Duties)—आवश्यकता की सन्तुष्टि करने वाली प्रत्येक वस्तु में उपयोगिता होती है लेकिन उपभोग के कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके प्रयोग से मानवीय कार्यक्षमता पर कुप्रभाव पड़ता है और विविध हानियाँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ मादक पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य गिर जाता है और नैतिक स्तर का पतन होता है। इन सबकी राष्ट्रीय आय पर विपरीत प्रतिक्रिया होती है तथा समाज का विकास अवरुद्ध होता है अत. सरकार भाँग, गाँजा, शराब आदि मादक पदार्थों पर महसूल (Duties) लगा देती है जिससे मूल्य वृद्धि होने से समाज मे इन वस्तुओं का उपभोग कम हो जाता है। महसूल का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्ति नहीं बल्कि अवांछित उपभोग पर नियन्त्रण रखना होता है।

(ii) दरें (Rates)—नगरपालिका और जिला परिषदें अपनी सीमाओं के भीतर स्थानीय जनता की अचल सम्पत्ति पर जो कर लगाती है उन्हे दरें कहते हैं। ये दरें स्थानीय महत्त्व के अनुसार भिन्न-भिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न होती है और स्थानीय महत्त्व के अनुपात में बदलती रहती है।

(iii) ऐच्छिक एवं बलात् ऋण (Voluntary and Compulsory Loans)—ऐच्छिक एवं बलात् ऋण सरकार की अ-कर आय के अन्य स्रोत है। ऐच्छिक ऋण नागरिक स्वेच्छा से देते है। विकासशील देश में इनका यथेष्ट महत्त्व है। भारत सरकार की विभिन्न बचत योजनाएँ इसके उदाहरण हैं। बलात् ऋण राज्य द्वारा आपात्काल मे लिए जाते है। जब सरकार आय के अन्य साधनो द्वारा अपने खर्चे की पूर्ति नहीं कर पाती तो वह बलात् ऋण प्राप्त करती है। ये ऋण सरकार अपनी सार्वभौमिक सत्ता का प्रयोग करके वसूल करती है। यद्यपि बलात् ऋण सरकार आपातकालीन अथवा विशेष परिस्थितियो मे ही प्राप्त करती है लेकिन इन ऋणों से नागरिको का देश की सरकार से विश्वास हट जाने का भय रहता है। कई बार मुद्रा स्फीति की परिस्थितियो से निपटने के लिए बलात् ऋण लिए जाते है। उदाहरणस्वरूप, तीव्र मूल्य को रोकने के लिए भारत सरकार द्वारा समय-समय पर सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य जमा योजना लागू की गई और सामान्य वेतन-वृद्धि के अतिरिक्त अन्य सभी वेतन-वृद्धियो का कुछ प्रतिशत अनिवार्य रूप से जमा किया गया। इस पर यथोचित ब्याज भी दिया गया।

(iv) पत्र मुद्रा निर्गमन (Printing of Paper Money)—अपने खर्चे की पूर्ति सरकार अतिरिक्त मुद्रा का निर्गमन करके भी कर सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार नोट छापकर अपने पास राशि की मात्रा मे वृद्धि करती है। इससे सरकार को जन-कल्याण पर खर्च करने के लिए अतिरिक्त राशि मिल जाती है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे इस साधन को योजनाओं के खर्च की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह विधि उसी समय अपनाई जाती है जब आय के अन्य स्रोत सूख जाते है। कुछ विद्वानो ने इसे परोक्ष विधि कहा है क्योंकि नोट छापने से मूल्य-स्तर ऊँचे हो जाते है और मुद्रा का मूल्य घट जाता है। अधिक मात्रा मे मुद्रा-प्रकाशन से नागरिको के कष्ट बढ जाते है और सफल अर्थव्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने का भय रहता है किन्तु निर्धारित सेवाओं मे इसका उपयोग लाभदायक होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक आय मे सबसे अधिक महत्त्व कर का है और सार्वजनिक आय के विभिन्न साधनो मे मेल करना कठिन है क्योंकि कभी-कभी एक साधन दूसरे साधन में जा मिलते हैं। यह सुनिश्चित है कि सरकार एक नही वरन् विभिन्न साधनो से आय प्राप्त करती है। लोक-आय का महत्त्व अन्य किसी भी काल की अपेक्षा अधिक हो गया है और इसको सरकार एक शक्तिशाली राजकोषीय यन्त्र के समान देश की अनेक आर्थिक समस्याओं को दूर करने के लिए प्रयोग करती है। बचत व विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए तथा उत्पादन को बढाने के लिए सार्वजनिक आय की नीतियों का अब अधिक प्रयोग किया जाने लगा है। विकसित राष्ट्रो मे राजकोषीय प्रणालियों के निर्माण में सार्वजनिक आय नीति का विशेष महत्त्व रहता है क्योंकि इन राष्ट्रो में पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास करने की तीव्र आवश्यकता रहती है। विकसित एवं उन्नत देशो में भी आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने के लिए आय-नीति को प्रयुक्त किया जाता है।

5

करारोपण एवं उसके सिद्धान्त

(Taxation and Canons of Taxation)

सभी देशो मे सरकार की आय के साधनो मे करो का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक सरकारे अपनी आय का एक बहुत बडा भाग केवल करो से प्राप्त करती है। करारोपण का उदय कब और कहाँ हुआ यह निश्चित नहीं है लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शासन-सत्ता के विकास के साथ करारोपण का विकास हुआ। 1500 ई तक करारोपण का कोई स्पष्ट स्वरूप देखने को नहीं मिलता। उसके बाद के काल मे करारोपण धीरे धीरे स्पष्ट होता गया। करारोपण की प्रणाली का पूर्ण विकास आधुनिक युग मे हुआ है। आधुनिक समय मे राज्य का आर्थिक क्रियाओं के प्रति दृष्टिकोण बदल गया है। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राज्य की आय का मुख्य स्रोत कर ही थे।

सरकार के कर्त्तव्यो मे वृद्धि होने से सार्वजनिक व्यय की मात्रा निरन्तर बढती जा रही है जिसको पूरा करने के लिए सरकार द्वारा जनता पर विभिन्न प्रकार के कर लगाए जाते है। कर के सम्बन्ध मे कहा जाता है कर लगाने की शक्ति एक बडी शक्ति है जिस पर समूचे राष्ट्र का ताना बाना आधारित होता है। किसी राष्ट्र के अस्तित्व और समृद्धि के लिए यह उतना ही आवश्यक है जितना कि एक व्यक्ति के लिए श्वास लेने के लिए वायु की आवश्यकता है। यह केवल नष्ट करने की शक्ति ही नहीं है वरन् जीवित रखने की भी शक्ति है।[1]

कर का अर्थ एव परिभाषाएँ

(Meaning and Definitions of a Tax)

कर' से आशय उस धनराशि से है जो सरकार अपने नागरिकों से अनिवार्य रूप मे वसूल करती है ताकि वह सार्वजनिक हित के कार्यों पर होने वाले व्ययो को पूरा कर सके किन्तु कर के भुगतान तथा उसके बदले मे करदाता को मिलने वाले लाभ के मध्य कोई सीधा या प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। यह सरकारी आय का एक मुख्य स्रोत होता है। कर की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है—

डाल्टन के अनुसार कर किसी सत्ता द्वारा लगाया गया एक अनिवार्य अशदान है भले ही इसके बदले मे करदाताओं को उतनी सेवाए प्रदान की जाएँ अथवा नहीं। यह किसी कानूनी अपराध के दण्डस्वरूप नही लगाया जा सकता। स्पष्ट है कि इस परिभाषा के अनुसार कर अनिवार्य अशदान है किन्तु अनियमित क्रियाकलापों के कारण लगाया दण्ड नहीं है इसीलिए कर देना समाज मे असम्मान और हीनता का द्योतक नहीं है।

सैलिगमैन के अनुसार कर एक अनिवार्य अशदान है जो कि एक व्यक्ति द्वारा सरकार को उन व्ययो को पूरा करने के लिए दिया जाता है जिन्हे वह सामान्य हित के लिए करती है तथा जिनका सम्बन्ध कोई विशेष लाभ प्राप्त करने से नहीं होता है।

प्लेहन ने लिखा है कि कर धन के रूप मे लिया गया वह सामान्य अनिवार्य अशदान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किए गए खर्चे को पूरा करने हेतु व्यक्तियो से लिया जाता है। कर सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए न्यायसगत कहा जा सकता है परन्तु उसे मापा नहीं जा सकता। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि कर जहा एक ओर राज्य द्वारा जनता से प्राप्त किया जाता है वहीं दूसरी ओर राज्य समाज को सेवाएँ और सुविधाए भी प्रदान करता है।

1 सयुक्त राज्य अमेरिका का उच्चतम न्यायालय (एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल से उद्धृत) वही पृ 148

शिराज के शब्दों में 'कर सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है जो सार्वजनिक हित के खर्चे को पूरा करने के लिए लिया जाता है जिसका किसी विशेष लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

टॉसिंग के मतानुसार कर तथा अन्य भुगतानों के बीच मुख्य अन्तर यह होता है कि करदाता और सार्वजनिक अधिकारी के बीच कोई प्रत्यक्ष जैसे को तैसा सम्बन्ध नहीं होता है।

बैस्टेबल ने लिखा है कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो सार्वजनिक सेवाओं को चलाने के लिए अनिवार्य रूप से वसूल किया जाता है।

डॉ प्रेम प्रकाश ने लिखा है कर के बदले में राज्य द्वारा करदाता को कोई प्रत्यक्ष हित लाभ प्राप्त नहीं होता किन्तु अकस्मात् ही किसी करदाता को कोई प्रत्यक्ष या विशेष लाभ हो सकता है। कर के पीछे मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है।

डी मार्को के अनुसार कर नागरिकों की आय का वह भाग होता है जिसे राज्य सामान्य जन सेवाओं के सचालन हेतु आवश्यक साधन जुटाने की दृष्टि से एकत्रित करता है।

करारोपण जाँच समिति (1924 25) के अनुसार कर समाज के सदस्यों द्वारा सरकार को दिया जाने वाला एक ऐसा अनिवार्य अशदान है जो सामान्य व्यय पूर्ति के लिए दिया जाता है और जिसके बदले में निश्चित माप योग्य सेवा की कोई गारन्टी नहीं होती।

करारोपण सिर्फ आय प्राप्त करने का ही साधन नही है बल्कि यह विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। सरकार व्यवस्था बनाए रखने तथा अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिए कर वसूली करती है। इस सम्बन्ध मे प्रो ब्यूहलर का मत जानने योग्य है। उन्होने लिखा है कि कर राज्य सत्ता की सहायता के लिए अथवा किसी अन्य सार्वजनिक कार्य के लिए एक अनिवार्य देन है। कर लगाने का उद्देश्य राज्य के लिए आय प्राप्त करना कुछ विशेष क्रियाओं का नियमन करना किसी विशेष सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति अथवा आय और नियमन दोनो हो सकते है।

कर सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति के लिए प्राप्त नहीं किया जाता है यह सामान्य उपयोग के लिए होता है और यह आवश्यक नहीं है कि करदाताओं को कोई सीधा लाभ प्रदान किया जाए। प्रो मेहता के अनुसार 'कर एक मनुष्य द्वारा सरकार को अनिवार्य रूप से देय वह धन है जो सबके लाभ के लिए कार्यों को व्यय की पूर्ति के लिए है लेकिन यह बिना किसी विशेष लाभ देने के सन्दर्भ मे प्राप्त किया जाता है।

विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन एव विश्लेषण करने के पश्चात् कर की एक उपयुक्त एव सरल परिभाषा है—

कर व्यक्तियो (प्राकृतिक अथवा समामेलित) द्वारा सरकार को दिया जाने वाला अनिवार्य भुगतान है जिसे सरकार सामान्य हित के कार्यों पर व्यय करती है और उसके बदले मे करदाता को कोई प्रत्यक्ष सेवा सुविधा प्रदान नहीं करती।[1]

कर की विशेषताएँ

(Characteristics of a Tax)

कर की विभिन्न परिभाषाओं से निम्नांकित आधारभूत विशेषताएँ सामने आती हैं—

1 अनिवार्य देय—कर एक अनिवार्य देय (A Compulsory Liability) है। इसे देने से इन्कार करने पर वैधानिक दण्ड मिल सकता है। प्रत्यक्ष कर जिस समुदाय अथवा व्यक्ति पर लगाये जाते हैं उसे वह देना ही होता है। अप्रत्यक्ष कर वस्तु के उपभोग करने पर देय होता है। वस्तु का उपभोग न किया जाए तो कर देने से बचा जा सकता है उदाहरणार्थ कपडे का कर। इसमे सरकार किसी व्यक्ति को कर देने के लिए तभी बाध्य करती सकती है जब वह कपडा खरीदे।

2 सामूहिक हित पर व्यय—कर सभी नागरिकों को सामान्य हित के लिए किए जाने वाले व्यय भुगतान में अदा किया जाता है। राज्य द्वारा कर सभी व्यक्तियों पर लगाया जाता है ताकि राज्य के खर्चों का भार सामान्य रूप से सभी उठाएँ। कर से प्राप्त आय सम्पूर्ण समाज पर खर्च होती है पर यह

1 *रूण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल* वही पृ 149

सम्भव है कि समाज के किसी अग को या कुछ व्यक्तियों को अधिक लाभ मिल जाए और दूसरो को अपेक्षाकृत कम। कर का यह लक्षण करारोपण के क्षेत्र मे होने वाले आधुनिक विकास की व्याख्या नहीं करता अर्थात् सामाजिक हित मे किए जाने वाले खर्चों की अदायगी के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने वाले एक वस्त्र के रूप मे इसके उपयोग की व्याख्या करता है।

3. कर के बदले मे कोई विशेष लाभ नहीं—सरकार करदाता को कर के बदले मे कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करती और न ही करदाता को सरकार से किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा करनी चाहिए। कर न तो किसी सेवा का मूल है और न ही किसी सरकार द्वारा सुलभ किसी वस्तु का मूल्य अथवा कर के बदले किसी सुविधा या वस्तु देने का वायदा भी नहीं होता।

आधुनिक लेखको के विचार मे राज्य तथा व्यक्तियो मे कर का भुगतान एक प्रकार की विनिमय क्रिया है अर्थात् व्यक्ति भुगतान करते है और इस भुगतान के बदले मे राज्य व्यक्तियो को सेवाएँ प्रदान करता है। प्रो डिमार्को ने लिखा है कर प्रत्येक नागरिक द्वारा सरकार को दी जाने वाली वह कीमत है जो वह उन सामान्य सार्वजनिक सेवाओं की लागत के अपने हिस्से के बदले मे अदा करता है जिनका कि वह उपभोग करता है। इस परिभाषा की व्याख्या मे डिमार्को ने कहा है कि आधुनिक राज्यों मे कराधान का कानून अदला-बदली के सम्बन्धो की अर्थात् राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था के लिए राज्य को की जाने वाली अदायगी की मान्यता पर आधारित है। आधुनिक राज्यो की सांविधानिक व्यवस्था मे जहाँ नागरिक का यह कर्तव्य या दायित्व होता है कि वह कर अदा करे वहाँ राज्य का यह कर्त्तव्य या दायित्व होता है कि वह उनके बदले मे सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था करे।

डिमार्को के ये विचार व्यवहार मे खरे नही उतरते है। प्रत्येक देश मे अनेक ऐसे बच्चे होगे जिन्हे राज्य की सेवाएँ उपलब्ध होती है और जिनका सम्पूर्ण भरण पोषण राज्य करता है लेकिन वे कोई कर नही देते। उदाहरणार्थ लाखो अनाथ व्यक्तियो पागलो अपाहिज व्यक्तियो विधवा औरतो और नव-शिशुओं को राज्य मे विविध सेवाएँ प्राप्त होती है।

सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता और सुविधाओं से मिला लाभ जितना निर्धन लोग उठाते है उतना धनी लोग नही उठा पाते जबकि इन सेवाओं का भार धनिको को अधिक वहन करना पडता है। सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था करना सरकार का कर्तव्य हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नही है कि ये सारी अथवा इनमें से कोई भी सेवा किसी विशेष करदाता को प्राप्त हो ही जाए। इस सम्बन्ध मे प्रो सैलिगमैन ने कहा है सरकार को वास्तव मे उस सहयोग अथवा समर्थन के बदले मे कुछ करना ही चाहिए जो उसे समाज की ओर से प्राप्त होता है परन्तु सरकार का यह परम्परागत दायित्व पृथक् रूप से व्यक्ति के प्रति नही होता अपितु सम्पूर्ण समाज या समुदाय के एक अग के प्रति होता है। विशेष लाभ सामूहिक लाभ मे समा जाता है। सरकार इसका विचार किए बिना कि किसी व्यक्ति ने कर अदा किए है या नहीं या किसी ने अधिक कर अदा किया है और किसी ने कम सभी नागरिको के लिए समान सेवाओं की व्यवस्था करती है।

उल्लेखनीय है कि कभी-कभी कुछ विशिष्ट उद्देश्य वाले कर लगाये जाते है। उदाहरणार्थ सार्वजनिक ऋण के भुगतान के लिए सम्पत्ति पर विशेष कर लगाया जा सकता है किन्तु यहाँ भी व्यक्ति द्वारा कर के रूप मे दी जाने वाली राशि और उसके द्वारा प्राप्त लाभ के मध्य कोई सम्बन्ध नही होता।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कुछ सीमाओं को छोडकर कर अनिवार्य रूप से की जाने वाली एक अदायगी है और इसका उपभोग सरकार की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है तथा सरकार द्वारा किसी भी करदाता को विशेष सेवा प्रदान किए जाने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त कर प्रतिफल भले ही न दे पर यह निश्चित है कि राज्य इसका उपभोग न्यायोचित ढग से पूर्व निर्धारित उद्देश्यो के लिए सामाजिक हित मे ही करेगा।

करारोपण के उद्देश्य
(Objectives of Taxation)

कर क्यो लगाए जाते है ? वे कौन से उद्देश्य है जिनकी पूर्ति के लिए करारोपण आवश्यक है ? इस विचार का औचित्य कि कर का मुख्य उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना है उस युग मे था जब राज्य

के कार्य बहुत सीमित थे। आज का कल्याणकारी राज्य करारोपण केवल आय-प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि अनेक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यो की पूर्ति के लिए करता है। आधुनिक युग मे करारोपण के मुख्यत निम्नलिखित उद्देश्य है—

1. राजकीय व्यय के लिए आय प्राप्त करना—आर्थिक कार्यों के विस्तार ने यह आवश्यक कर दिया कि राजकीय व्यय के लिए पर्याप्त कोष हो। कर ही वह सर्वोत्तम लोचपूर्ण और सुगम साधन है जिसके द्वारा पर्याप्त कोष उपलब्ध हो सकते है। विभिन्न सरकारे प्राय एक न एक नये कर की खोज मे लगी रहती है ताकि करारोपण द्वारा अधिकाधिक आय प्राप्त की जा सके।

2. नियमन एवं नियन्त्रण करना—आज करारोपण द्वारा लाभो उपभोगो आयातो निर्यातो आदि को नियन्त्रित किया जाता है। उदाहरणार्थ तम्बाकू का उपभोग घटाने के लिए सरकार तम्बाकू पर उत्पादन कर लगा देती है और आयातो को कम करने के लिए आयात की जाने वाली वस्तुओं पर आयात-कर लगाकर उनका मूल्य बढा देती है। यदि सरकार देश और समाज के हित मे कुछ वस्तुओं का उपभोग कम करना चाहती है अथवा मौद्रिक व्यवहारो (Monetary Transactions) को सीमित करना चाहती है तो करारोपण के माध्यम से वह मूल्य बढा कर इस उद्देश्य को प्राप्त कर लेती है। नियन्त्रण के लिए जो कर लगाए जाते है उनका मुख्य उद्देश्य नियन्त्रण करना ही होता है आय प्राप्त करना नहीं। विलासिता की वस्तुओं पर कर इसलिए लगाए जाते है ताकि देश की जनता के कोष अन्य प्रकार के उत्पादनो की ओर आकर्षित हो।

3. सम्पत्ति की असमानता मे कमी करना—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे करारोपण का प्रयोग समाज के धन के पुनर्वितरण के लिए किया जाता है। एक ओर राज्य करारोपण द्वारा धनिक वर्ग से अधिकाधिक आय प्राप्त कर उनकी सम्पत्ति और आय को कम करता है तथा दूसरी ओर निर्धनो से कम कर लेकर अथवा उन्हे अधिक सुविधाएँ देकर उनका जीवन स्तर ऊँचा उठाता है। इस उपाय से धनिको और निर्धनों के बीच की खाई कम होती है। हमारे देश मे सरकार ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रगतिशील कर (आय-कर मृत्यु-कर सम्पत्ति-कर आदि) लगा रखे है ताकि क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण धनिक वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर किया जा सके।

4. राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करना—कर से प्राप्त आय को सरकार उत्पादन कार्यों मे लगाती है जिससे उत्पादन, उपभोग और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। भारत मे अधिकाधिक करारोपण के पक्ष में सरकार की ओर से प्रबल तर्क यही दिया जाता है कि वह जनता से धन प्राप्त करके उसे योजनाओं मे लगा रही है और प्रत्येक योजना से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है तथा इस प्रकार विकास-क्रम चलता रहता है।

5. मुद्रा प्रसार की रोकथाम—आधुनिक युग मे करो का एक प्रमुख उद्देश्य मुद्रा-प्रसार पर रोकथाम करना है। देश मे जब मुद्रा का चलन अधिक हो तो राज्य को चाहिए कि भारी करो द्वारा अतिरिक्त मुद्रा को हाथ मे ले ले ताकि अर्थ-व्यवस्था को मुद्रा-स्फीतिजनक दोषो से बचाया जा सके।

6. स्थिरता के साथ विकास—राज्य आर्थिक विकास के लिए उतना ही उत्तरदायी है जितना किसी अन्य कार्य के लिए। राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं मे हस्तक्षेप करने की आवश्यकता 1930 की महान् मन्दी के बाद निरन्तर महसूस की जा रही है। अर्थ-व्यवस्था मे विकास आधुनिक राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य है और राज्य करों द्वारा प्राप्त आय को निवेश कर अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करता है। आय के किसी निर्धारित स्तर को बनाए रखने के लिए करारोपण प्रयुक्त होता है। निर्बाध गति से अर्थ-व्यवस्था अपने संवृद्धि-पथ पर बिना विचलित हुए बढती रहे यह आधुनिक राज्य का उत्तरदायित्व है। इसमें स्थिरता स्वत सन्निहित है। इस प्रकार स्थिरता के साथ विकास प्राप्त करने के लिए राज्य करारोपण का उपयोग करता है।[1]

7. भुगतान शेष—एक देश की अर्थ-व्यवस्था का अनेक देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे राज्य के स्थिरता के प्रयास बढ जाते है। विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के समक्ष भुगतान शेष की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यदि आयात निर्यातो से अधिक है तो इसका तात्पर्य है कि आन्तरिक माँग आन्तरिक पूर्ति से अधिक है। यदि निर्यात अधिक है तो स्थिति विपरीत होगी। राज्य की कर-नीति पर भुगतान शेष का बडा निर्धारक प्रभाव पडता है। देश के घाटे के भुगतान शेष को

1 *प्रेम प्रकाश शर्मा* वही पृ 96 97

कर नीति द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। करों को इस परिस्थिति में मुख्यत निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है[1]—

(अ) कीमत वृद्धि को रोकने के लिए

(ब) आयातों की माँग को हतोत्साहित करने के लिए

(स) आन्तरिक माँग को कम करने के लिए।

8 साधन सग्रह—अर्थव्यवस्था में आवश्यकतानुसार साधन-सग्रह करना करारोपण का एक मुख्य उद्देश्य है। विशेष रूप से अर्द्धविकसित अथवा विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में जहाँ पर आर्थिक विकास के लिए विकास के अवसरों का प्राचुर्य होता है किन्तु साधनों का अभाव पाया जाता है वहाँ करारोपण का यह एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हो जाता है। न्यून उपभोग स्तर को सहन करने के बाद जब आर्थिक विकास से इन देशों में आय स्तर बढता है तो लोगो की यह प्रबल इच्छा होती है कि उपभोग का स्तर ऊँचा किया जाए। जिन अर्थ व्यवस्थाओं में उपभोग का स्तर आर्थिक विकास के साथ साथ बढता जाता है जिनमें बढी हुई आय का कम भाग बच पाता है व निवेश के लिए साधन कम उपलब्ध हो पाते हैं। एक ओर साधनों की कमी होती है दूसरी ओर निवेश के लिए निरन्तर बढती माँग होती है। ऐसी स्थिति में करारोपण के माध्यम से ही उपभोग को नियन्त्रित किया जा सकता है व साधन सग्रह किया जा सकता है। विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में यह नि सन्देह एक उपयोगी यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

साधन सग्रह के लिए प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों कर लगाए जा सकते हैं। विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं में प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष करों का अधिक महत्त्व है व साधन सग्रह की दृष्टि से ये अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। यद्यपि अप्रत्यक्ष कर प्रकृति से प्रतिगामी होते हैं व इनका भार कम आय वाले व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है किन्तु जिस परिमाण में विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं को साधनों की आवश्यकता होती है इनके लगाए जाने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं है। अप्रत्यक्ष करों को युक्तिपूर्वक लगा कर इनके प्रतिकूल प्रभावों को न्यूनतम किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कर साधन सग्रह के लिए महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इन्हें अधिक मात्रा में लगाने पर निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है।[2]

9 बचत व निवेश को प्रोत्साहित करना—साधन-सग्रह के साथ-साथ निवेश को प्रोत्साहित करना कराधान का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं मे सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश तो राज्य द्वारा किया जाता है साथ ही साथ निजी क्षेत्र में निवेश को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है। निवेश वृद्धि के लिए प्राथमिक आवश्यकता बचत में वृद्धि करने की है। इन देशों में विभिन्न प्रकार की बचतों पर कर न लगाकर राज्य को बचत को प्रोत्साहित करना चाहिए। करों का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि वह बचत और निवेश की क्षमता एव इच्छा को कम न करे। उदाहरण के लिए पोस्ट-ऑफिस बीमा निगम आदि में जमा कराई जाने वाली राशि को कर-मुक्त रखना इस दिशा में एक उल्लेखनीय कदम है। राज्य को निजी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए उपयुक्त परिवेश तैयार करने के लिए उसे कर मुक्त रखे। हमारे देश में कुछ निर्धारित क्षेत्रों में निवेश करने पर उस निवेश को एक निश्चित काल के लिए कर मुक्त रखा जाता है।

यह स्पष्ट है कि आधुनिक समय में करारोपण का एकमात्र उद्देश्य राज्य द्वारा आय प्राप्त करना नहीं है अपितु राज्य करारोपण को आर्थिक नीति के प्रभावशाली यन्त्र के रूप में प्रयुक्त करता है व इससे कई उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग मिलता है।[3]

करारोपण के प्रनियम या सिद्धान्त

(Canons or Principles of Taxation)

निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक सरकार अपने देश में करारोपण करती है। करारोपण मनमाने ढग से न होकर क्रमबद्ध और वैज्ञानिक तरीकों से हो इस दृष्टि से करारोपण के कुछ सिद्धान्तों की रचना की गई है। अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से करारोपण के सिद्धान्तों को दो भागों में रख सकते हैं—

(क) एडम स्मिथ के सिद्धान्त तथा

(ख) अन्य सिद्धान्त।

---

1 2 3 प्रेम प्रकाश शर्मा वही पृ 96 97

(क) एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त
(Adam Smith's Canons of Taxation)

एडम स्मिथ सम्भवतः पहला लेखक था जिसने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों का धन' (Wealth of the Nations) में करारोपण के सिद्धान्तों पर विचार प्रकट किए। उसने करारोपण को किसी भी अच्छी कर-पद्धति में समावेश करने के लिए निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रस्तुत किए—

1. क्षमता या समानता का सिद्धान्त (Canon of Ability or Equity)—करारोपण का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। समानता के दृष्टिकोण में मतभेद हो सकते हैं। एक तो सम्भावना यह है कि करदाता की आय तथा परिस्थितियों पर कोई विचार किए बिना ही सब पर समान मात्रा में कर लगा दिए जाये, लेकिन कालान्तर में यह सोचा गया कि दो व्यक्तियों के लिए किसी दी हुई धनराशि की सीमान्त उपयोगिता समान नहीं होती है अतः आनुपातिक कर लगाए जाने पर इसका भार धनिकों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ेगा। इस दृष्टि से दूसरा विचार समानता के दृष्टिकोण से प्रगतिशील कर-प्रणाली के रूप में विकसित हुआ। ऐसी मान्यता है कि इसके अन्तर्गत करदाताओं पर कर-भार समान पड़ता है।

अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए एडम स्मिथ ने कहा है कि "प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा को सरकार की सहायता के लिए यथासम्भव अपने अंशदान अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुपात में देने चाहिए अर्थात् उन्हें उस आय के अनुपात में, जो वे क्रमशः सरकार की सुरक्षा में प्राप्त करते हैं, धन देना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन करने से करारोपण की समानता प्राप्त की जा सकती है और इसकी उपेक्षा करने से करारोपण की असमानता।"[1] यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि सरकार को अपने राज्य शासन के व्यय के लिए राज्य के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुपात में कर वसूल करना चाहिए। अर्थशास्त्रियों के बीच इस 'समानता' शब्द को लेकर बड़ा मतभेद है। वाकर तथा कुछ अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार समानता का अर्थ 'आनुपातिक करारोपण' से है। इसके विपरीत चेपमैन, सैलिगमैन, कोहेन का विचार है कि समानता का अर्थ प्रगतिशील करारोपण से है। आगे चलकर एडम स्मिथ ने स्वयं समानता शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर लिखा है "धनाढ्य व्यक्तियों को अपनी आय के अनुपात में नहीं वरन् इस अनुपात से अधिक कर देना अनुचित न होगा।" इस तरह गतिशील करारोपण की धारणा को ध्यान में रखकर कर लगाना चाहिए अर्थात् धनिकों को अधिक और गरीबों को कम, अपनी क्षमता के अनुसार कर देना चाहिए। संक्षेप में समानता दो प्रकार की होती है—क्षितिजीय (Horizontal) तथा उर्ध्वतलीय (Vertical) क्षितिजीय समानता से हमारा तात्पर्य यह है कि समान परिस्थितियों में रहने वाले सभी व्यक्तियों के साथ एकसमान व्यवहार किया जाए। इससे अलग, ऊर्ध्वतलीय समानता वह समानता होती है जिसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए किया जाए।

2. निश्चितता का सिद्धान्त (Cannon of Certainty)—करारोपण का दूसरा सिद्धान्त यह है कि कर में निश्चितता होनी चाहिए। करदाता और कर-संग्रहकर्ता दोनों को पूर्ण स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि किस समय, किस प्रकार, कितना धन, किस स्थान पर देना होगा या प्राप्त होगा? एडम स्मिथ के शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति को जो भी कर देना हो वह निश्चित होना चाहिए, यह किसी की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए। अदायगी का समय, अदायगी की रीति, कर की मात्रा आदि करदाता तथा अन्य व्यक्तियों को स्पष्ट होनी चाहिए क्योंकि करों की अनिश्चितता बेईमानी को प्रोत्साहन देती है और उन व्यक्तियों को भ्रष्टाचार करने के लिए उत्साह प्रदान करती है जो स्वभावतः बेईमान होते हैं। यहाँ तक कि उन व्यक्तियों को यह अनिश्चितता बेईमानी के दायरे में खींच लेती है जो बेईमान नहीं होते हैं।" एडम स्मिथ ने आगे लिखा है, "कर के मामले में किसी व्यक्ति को जो रकम अदा करनी है उसकी निश्चितता इतने महत्त्व की बात है कि समस्त देशों के अनुभव के आधार पर मेरा विचार है कि काफी बड़ी मात्रा की असमानता इतनी भयानक नहीं होती जितनी कि थोड़ी मात्रा की अनिश्चितता।"[2]

करारोपण में निश्चितता के इस सिद्धान्त को हैडले ने स्वीकार किया है। वास्तव में कर की निश्चितता करदाता और राज्य दोनों के लिए लाभप्रद होती है। करदाता अपने बजट के सम्बन्ध में

1 2. Adam Smith - Wealth of the Nations, Book 2, p. 307

निश्चित रहता है और उसका कर-भुगतान-खर्च कम हो जाता है। प्राय कहा भी जाता है कि "पुराना कर कर नहीं होता।"[1] इसका आशय यही है कि पुराने कर को देने से अभ्यस्त और निश्चय का पूर्व ज्ञान होने से उसका भार अधिक मालूम नहीं पड़ता। कर की निश्चितता से राज्य भी अपने बजट के सम्बन्ध में निश्चित रहता है और उसका कर एकत्र करने का खर्च भी कम होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि आर्थिक कल्याण बढता जाता है।

3. सुविधा के सिद्धान्त (Canon of Convenience)—एडम स्मिथ के अनुसार करारोपण का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त सुविधा का है। एडम स्मिथ के शब्दों में, "प्रत्येक कर ऐसे समय और ऐसी रीति द्वारा वसूल *किया जाना चाहिए कि वह करदाता को सबसे अधिक सुविधापूर्ण हो।"* ऐसे कर जिनके भुगतान के समय और तरीके की निश्चित जानकारी होती है और जो ऐसे समय पर एकत्र किए जाते हैं जबकि लोगों के पास मुद्रा होती है, लोगो को बहुत कम खटकती है। उदाहरणार्थ, भूमि पर लगान फसल कटकर तैयार हो जाने पर लगाया जाना चाहिए क्योंकि उस समय किसान के पास कर की राशि चुकाने के लिए पर्याप्त धन होगा और उसे कर देने से कोई असुविधा न होगी। अप्रत्यक्ष कर इतने सुविधाजनक होते है कि अगर कोई व्यक्ति करो के भुगतान की तुलना मे वस्तुओं की कीमत देने मे अधिक असुविधा महसूस करते है तो यह उसकी अपनी गलती है। उपभोग्य वस्तुओं, जैसे—विलासिता तथा ऐश की वस्तुओं पर कर लगाएँ। कर बहुत सुविधापूर्ण होते है क्योकि उपभोक्ताओं को जिस रूप मे उन्हे कर देना पडता है वह बहुत सुविधाजनक होता है। वह धीरे-धीरे वस्तुएँ खरीदता है वैसे-वैसे वह थोडा-थोडा कर अदा करता रहता है और जब चाहता है तभी अदा कर देता है क्योकि वस्तुओं को खरीदना अथवा न खरीदना उसकी इच्छा पर निर्भर करता है।

***4. मितव्ययिता का सिद्धान्त** (Canon of Economy)*—इस सिद्धान्त के अनुसार कर वसूल करने का खर्च न्यूनतम होना चाहिए। यदि कर वसूल करने में अधिक खर्च होता है तो राज्य को इतनी आय प्राप्त नहीं होगी जितना भार उस कर का एकत्रित करने वाले व्यक्तियो पर पडता है। करारोपण एक प्रकार का उत्पादन कार्य है अत इसमे जितनी अधिक मितव्ययिता होगी, उतना ही अधिक लाभ राज्य और करदाताओं को प्राप्त होगा। एडम स्मिथ के शब्दों मे, "प्रत्येक कर इस प्रकार लगाना और वसूल *किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा सरकारी कोष मे जितना द्रव्य आए उससे अधिक जनता की* जेब से द्रव्य न निकाला जाए अथवा जनता द्वारा दिए जाने वाले कर का सरकारी कोष में आने वाली रकम से आधिक्य न्यूनतम हो।

आधुनिक अर्थशास्त्री मितव्ययिता का अर्थ विस्तृत दृष्टिकोण से लगाते है। उनका विचार है कि यदि किसी कर से देश की आर्थिक स्थिति, व्यापार व उद्योग पर बहुत प्रभाव पड़ता है तो उस कर को मितव्ययी नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से भारी आय-कर मितव्ययिता के सिद्धान्त की सन्तुष्टि नहीं करता, लेकिन मादक पदार्थ पर करारोपण को उचित माना जा सकता है। इस प्रकार मितव्ययिता का अर्थ यह होगा कि कर प्राप्त करने में कम से कम खर्च होना चाहिए और इससे समाज के उत्पादन तथा *लोगो के धन व उनकी बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडना चाहिए"*। कर की *मितव्ययिता की ओर सावधानी इसलिए आवश्यक है कि कर सचय करने मे निम्न कारणो से अपव्यय हो* जाता है—

1 कर सचय के लिए इतने अधिक कर्मचारी नियुक्त कर दिए जाते है कि कर का अधिकतम भाग उनके वेतन मे ही चला जाता है।

2 *कभी-कभी कर व्यक्तियो को ऐसे कार्य में विनियोग के लिए प्रोत्साहित करता है जिससे* व्यक्तियों को बडी मात्रा मे रोजगार प्राप्त नहीं हो पाता।

3 कभी-कभी कर इस प्रकार अर्जित किए जाते है कि उनका भुगतान करने के लिए करदाताओं को विशेषज्ञ रखना पडता है, फलस्वरूप करदाताओं को विशेष भार वहन करना पडता है।

4 करारोपण इस प्रकार भी हो सकता है कि पूँजी में कमी आ जाए। ऐसा होने से भावी उत्पादन पर *विपरीत प्रभाव पडता है और मितव्ययिता समाप्त हो जाती है।*

उक्त सभी कारणों से आज मितव्ययिता के सिद्धान्त को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है और मितव्ययिता का आशय केवल कर वसूल करने में खर्च कम करने से नहीं बल्कि अपव्यय को रोकने से

1 "*An old tax is not tax*

है। डॉल्टन ने लिखा है, "कर की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जिसमें कर वसूल करने की लागत कर से प्राप्त आय के अनुपात में कम से कम हो।" वैगनर, रॉबर्ट, जोन्स, विन्स्टैड और हॉब्सन के अनुसार मितव्ययिता का नियम एक उचित सिद्धान्त है।

एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि उनका पहला सिद्धान्त कर-नीति से सम्बन्धित है तथा कर-नीति का नैतिक और आर्थिक आधार-स्तम्भ है। यह सिद्धान्त इसलिए नैतिक है कि उससे उचित-अनुचित करारोपण ज्ञात होता है और आर्थिक इसलिए है कि राज्य सरक्षण में करदाता को प्राप्त आय के आधार पर कर लगाया जाता है। इस प्रथम सिद्धान्त को छोड़कर अन्य सभी सिद्धान्त व्यावहारिक नियम मात्र है और वे कर-नीति का आधार निश्चित नहीं करते हैं। शिराज के अनुसार, वास्तव में वे सिद्धान्त नहीं हैं, बल्कि कर अधिकारियों के प्रशासन सम्बन्धी निर्देशन (Administrative Directions) हैं। उदाहरणार्थ—सुविधा का सिद्धान्त यह बताता है कि कर किस समय और कैसे वसूल किए जाएँ ? यद्यपि प्रथम सिद्धान्त न्यायशीलता पर आधारित है लेकिन वह दोष रहित नहीं है क्योंकि यह करदेय-क्षमता का कोई निश्चित नाप नहीं बताता।

कुछ भी हो, एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने वे उस समय थे जबकि उनका प्रतिपादन किया गया था। प्रो. शिराज ने लिखा है कि "जितनी सफलता एडम स्मिथ को कर के सिद्धान्त को सूक्ष्म करके सरल और स्पष्ट रखने में मिली है उतनी सफलता अन्य किसी विद्वान् को नहीं मिली। आज एडम स्मिथ के कर सिद्धान्त वित्त के अध्ययन का एक आवश्यक अंग बन गये है।"

(ख) करारोपण के अन्य सिद्धान्त

(Other Canons of Taxation)

कुछ बाद के लेखकों ने इन चार सिद्धान्त के अतिरिक्त कराधान के कुछ नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित है—

1. उत्पादकता का सिद्धान्त (Canon of Productivity)—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बैस्टेबल ने कर की उत्पादकता पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार राजस्व व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य राज्य के व्यय के लिए आय प्राप्त करना है। उनके अनुसार, राजस्व व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य राज्य के व्यय के लिए आय प्राप्त करना है, अत. अच्छे कर का एक आवश्यक गुण उसकी उत्पादकता होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कर ऐसा होना चाहिए कि सरकार को वर्तमान यथेष्ट आय प्राप्त हो सके और भविष्य में भी वह आय का स्रोत बना रहे। छोटे-छोटे अनेक ऐसे करों को लगाने की अपेक्षा जो अनुत्पादक हैं, एक ऐसा बड़ा कर लगाना अधिक उपयुक्त है जो अधिक उत्पादक हो। कर ऐसा होना चाहिए कि करदाता को कर के भार से उत्पादन-शक्ति के ह्रास का अनुभव न हो और उसके उपभोग, आय तथा बचत करने की इच्छा व योग्यता पर बुरा प्रभाव न पड़े। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि व्यक्तियों का जीवन-स्तर उन्नतिशील होता रहेगा तथा देश का उत्पादन बढ़ता रहेगा।

प्रो. जे. के. मेहता ने इस सिद्धान्त को मितव्ययिता के सिद्धान्त का ही एक प्रतिरूप बताया है। व्यावहारिक दृष्टि से यही सिद्धान्त सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि सरकारों की वित्तीय आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती जा रही है। कर की उत्पादकता पर वस्तुत: अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों दृष्टियों से विचार किया जाना चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि कुछ कर वर्तमान समय में तो उत्पादक प्रतीत हों लेकिन दीर्घकाल में उतने उत्पादक सिद्ध न हो सकें। इसके विपरीत कुछ कर ऐसे भी हो सकते हैं जो अल्पकाल में अधिक उत्पादक सिद्ध हों, लेकिन दीर्घकाल में जाकर उत्पादक बन जाएँ।

2. लोच का सिद्धान्त (Canon of Elasticity)—बैस्टेबल ने लोच के सिद्धान्त पर काफी महत्त्व दिया है। करारोपण का ढाँचा ऐसा होना चाहिए कि उसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सके। यदि कर-प्रणाली में लोच का अभाव होगा तो सरकार को सकटकालीन स्थिति में असुविधा का सामना करना होगा। ऐसे अवसर प्रायः आया ही करते हैं जब अधिक धन प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए या विकास कार्यों के लिए अथवा दिन-प्रतिदिन के सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए उत्पन्न हो सकती है। अत. कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि सरकार को जब अधिक आय की आवश्यकता हो तो अतिरिक्त कर लगाकर वह उसे पूरा कर सके। इस दृष्टि से आय कर महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमे पर्याप्त लोच होती है। इसी कारण वर्तमान समय

में यह कर सरकारी आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना गया है। आयकर की तुलना में सम्पत्ति तथा वस्तुओं पर लगाए जाने वाले कर इतने लोचदार नहीं होते हैं।

3. विविधता का सिद्धान्त (Canon of Diversity)—विविधता के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि कर-प्रणाली में विभिन्न प्रकार के कर होने चाहिए ताकि नागरिकों का प्रत्येक वर्ग सरकार को धन प्राप्त करने के उत्तरदायित्व में अपना उचित भाग वहन कर सके। विभिन्न करों का गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि देश का कोई व्यक्ति अपने आप को अपना अशदान देने से न बचा सके। उल्लेखनीय है कि यदि विविधता का अभिप्राय करों की सख्या अधिकाधिक बढाना हो तो यह उचित नहीं है। यदि कर अधिकतम सख्या मे होंगे तो उससे मितव्ययिता और उत्पादकता के सिद्धान्त पूरी तरह से लागू नहीं हो पाएँगे। राज्य को बहुसख्यक करों को एकत्रित करने में अत्यधिक खर्च करना पडेगा। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के कर लगाने से प्रत्येक कर से केवल थोडी-सी ही धनराशि सरकार को आय के रूप में प्राप्त हो सकेगी अत करों की अनेकता अथवा भिन्नता को उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की विविधता का प्रयोग केवल निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही होना चाहिए।

4. सरलता का सिद्धान्त (Canon of Simplicity)—कुछ अर्थशास्त्रियों ने सरलता का भी कराधान के एक सिद्धान्त के रूप मे उल्लेख किया है। इसके अनुसार कर-प्रणाली के अन्तर्गत कर इस प्रकार लगाए जाने चाहिए कि उनके निर्धारण के उद्देश्य और प्रभाव की जानकारी सरलता से हो कर सचय करने मे कोई कठिनाई न हो तथा करदाता को प्रशासनिक और हिसाब-किताब की कठिनाइयो का सामना न करना पडे। यदि कर-प्रणाली जटिल होगी तो जनता सदैव सरकार से असन्तुष्ट बनी रहेगी और कर पूरी मात्रा मे वसूल नहीं हो पाएगा। इसके अतिरिक्त जटिल कर प्रणाली को समझने के लिए लोगो को वकीलों और विशेषज्ञों से सलाह लेने पर अतिरिक्त खर्च करना पडेगा जो व्यर्थ जाएगा और इससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं है कि करदाताओ की सुविधा की दृष्टि से करो मे सरलता वाछनीय है हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सिद्धान्त का अनुगमन सरल काम नहीं है। वास्तविकता यह है कि आधुनिक सरकारों की दिन-प्रतिदिन बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओं ने और कराधान को अधिक समान तथा न्यायपूर्ण बनाने की माँग ने कर-पद्धतियो को उलझनपूर्ण बना दिया है।

5. समन्वय का सिद्धान्त *(Canon of Co-ordination)—कुछ लेखकों के मतानुसार कर प्रणाली* मे समन्वय होना चाहिए। करारोपण ऐसा होना चाहिए कि विभिन्न करो के एकत्रित करने मे सीमाओं का उल्लघन न हो। एक कर अधिकारी दूसरे कर अधिकारी के सीमा-क्षेत्र मे प्रवेश न करे और उनमें आपस में समुचित सामजस्य स्थापित हो जाए। एक लोकतन्त्र में केन्द्र राज्य प्रान्तो तथा स्थानीय निकायों द्वारा विभिन्न कर लगाए जाते है जबकि करदाता वही होते हैं। अत आवश्यक है कि इनके करों के मध्य उचित समन्वय स्थापित किया जाए। विरोधी करो के दोषो को पारस्परिक समन्वय द्वारा दूर किया जा सकता है और एक कर दूसरे कर के लिए पूरक होने का कार्य कर सकता है।

6. वाछनीयता का सिद्धान्त (Canon of Expediency)—वाछनीयता के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कर पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् लगाया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक कर के पीछे कोई न कोई आधार बना रहे और उसकी अनिवार्यता प्रकट की जा सके। करदाता मे यह विश्वास जाग्रत हो कि उस पर लगाया कर उचित है। लोकतान्त्रिक युग मे लोग प्रत्येक कर के सम्बन्ध में यह जानने के इच्छुक होते हैं कि वह कर किन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए लगाया गया है अथवा क्या वह कर उचित है ? वे पूर्ण सन्तुष्ट होकर ही नए कराधान को स्वीकार करते है और अपना सहयोग देते हैं अन्यथा वे अवाछित कर का भरपूर विरोध करते हैं। अनुचित करो का जनता पर बुरा प्रभाव पडता है और वे सरकार की अकर्मण्यता तथा जन-विरोधी विचारधारा के द्योतक होते है। अत जब तक किसी कर का लगाना आवश्यक न हो अर्थात् उसकी वाछनीयता सिद्ध करने के लिए समुचित तथ्य न हो तब तक उस कर को नहीं लगाया जाना चाहिए।

7. परिवर्तनशीलता तथा पर्याप्तता के सिद्धान्त (Canons of Flexibility and Sufficiency)—फिण्डले शिराज के विचार से नम्यता और पर्याप्तता करारोपण के आवश्यक सिद्धान्त होने चाहिए। शिराज के नम्यता का आशय यह बताया है कि कर-प्रणाली इस प्रकार की होना चाहिए कि बिना किसी उथल-पुथल के या परेशानी के नए कर लगाये जा सकें और पुराने कर हटाए जा सकें।

पर्याप्तता बड़ा अस्पष्ट गुण है क्योंकि पर्याप्तता का सम्बन्ध आवश्यकता से है। आय पर्याप्त है या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि राज्य की आवश्यकताएँ कितनी है ? राज्य के निरन्तर बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र के कारण यह आवश्यक नहीं रहा है कि जो आय इस वर्ष है वह अगले वर्ष भी पर्याप्त होगी। इसके अतिरिक्त मूल्यों की वृद्धि आज के आर्थिक जगत् की एक सामान्य घटना है अतः आवश्यकताएँ समान रहते हुए भी राजकीय खर्च में वृद्धि हो सकती है और इस वर्ष की पर्याप्त आय अगले वर्ष अपर्याप्त हो सकती है। स्पष्ट है कि पर्याप्तता एक निरपेक्ष शब्द नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियों से है अतः जब तक उन परिस्थितियों का उल्लेख न किया जाए या तकनीकि दृष्टि से जब तक पर्याप्तता को सापेक्षिक सदर्भ में न देखा जाए, तब तक वह गुण बेकार है।

8. **करों की एकरूपता का सिद्धान्त** (Canon of Uniformity)—निट्टी और कोनार्ड नामक अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसके अनुसार कर एकरूप (Uniform) होना चाहिए परन्तु समरूपता के स्वय में दो अर्थ हो सकते है—प्रथम क्या करो का भार प्रत्येक करदाता पर एक-सा पड़ना चाहिए ? यदि हाँ, तो उससे समान त्याग की ध्वनि निकलती है। द्वितीय, कुछ अर्थशास्त्री एकरूप शब्द का अर्थ कर की दरो का एक-सा होना लगाते है। यह अर्थ बड़ा दोषपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के करों की दरें एक-सी नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए आयकर की दर तथा विक्रय-कर दर को एक-सा करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी।

यद्यपि एक अच्छी कर-प्रणाली उपयुक्त सभी सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए, लेकिन व्यवहार में यह सम्भव नहीं है कि ये सभी गुण एक ही कर-प्रणाली में प्राप्त हो जाएँ। लुट्ज ने लिखा है, "न तो कोई कर पूर्ण रूप से अच्छा है और न ही कोई कर पूर्ण रूप से खराब। अतः यह सम्भव है कि किसी एक कर को लगाते समय उक्त सभी नियमो का पालन करना सम्भव न हो। इसलिए व्यक्तिगत करों को न देखकर सम्पूर्ण कर-प्रणाली को देखना उचित है क्योंकि एक कर के दोष अन्य करो द्वारा दूर हो सकते है। श्रीमती हिक्स का भी कहना है कि प्रत्येक कर को पृथक्-पृथक् न लेकर सम्पूर्ण कर-व्यवस्था को ध्यान में रखना चाहिए और वांछित निवारण व्यवस्था की स्थापना एक ऐसी क्षतिपूरक कर-सरचना द्वारा करनी चाहिए जिसमें एक कर के दोष दूसरे करो से दूर हो जाएँ। केवल उन्हीं करो का चयन करना, जिसमे सभी कर सिद्धान्तो का पालन हो सके, व्यर्थ है। ऐसे कर है ही नहीं।"

यह सर्वमान्य है कि सर्वोत्तम कर-प्रणाली मे बुरे प्रभाव कम से कम होने चाहिए और एक उपयुक्त कर-प्रणाली वही समझी जा सकती है जिसमें उपरोक्त अधिकाश सिद्धान्तों का समावेश है और ऐसी स्थिति में अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त होगा। अन्त मे, करो पर पृथक् रूप से विचार किया जाना उचित नहीं है। उचित यही है कि सरकार के अन्य राजकोषीय उपायों (Fiscal Measures) के साथ करो पर विचार किया जाए, उदाहरणस्वरूप करों का अध्ययन सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋण के साथ किया जा सकता है। वस्तुतः करो को सरकारी सम्पूर्ण आर्थिक नीति का केवल एक अग मानना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि सरकार की कर-नीति का निर्धारण किसी एक पर नहीं बल्कि अनेक तत्वो पर निर्भर है, जैसे—सरकार की आर्थिक तथा राजनीतिक नीति, प्रचलित आर्थिक तथा राजनीतिक दिशाएँ और कराधान का वर्तमान प्रतिरूप तथा ढाँचा।

लिन्डाल का मॉडल
(Model of Lindahl)

कराधान के निर्धारण मे लिन्डाल ने अपना एक सिद्धांत स्थापित किया था जिसे लिन्डाल का मॉडल (Model of Landahl) के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार लोगों की कर देने की क्षमता एवं राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के अनुपात में कर भार का वितरण होना चाहिए। यह व्यवस्था व्यक्तिगत प्राथमिकताओं (Individual Choice) के अनुसार तीन बिन्दुओं पर निर्भर करती है—

1. सरकारी व्यय और कुल करों की मात्रा।

2. विभिन्न सामाजिक सुविधाओं के लिए उपलब्ध कराये गये साधनों पर राज्य सरकार के व्यय का बँटवारा।

3. विभिन्न व्यक्तियों के मध्य करों का कुल बँटवारा।

ये तीनों बिन्दु एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं अत. इन्हें साथ-साथ रखना अनिवार्य है,

लिन्डाल ने इस मॉडल के लिए बाजार की समान मूल्यॉकन प्रक्रिया (Analogous Pricing Process) को आधार बनाया। उन्होने दो वर्ग के करदाता A, B तथा एक सामाजिक वस्तु की सकल्पना रखी। इस वस्तु की पूर्ति दोनों A, B करदाताओं को लाभ पहुँचाती है। इस लाभ को सामूहिक उत्पादन (Collective Production) बताया है। A व B इतना अश देंगे कि उसकी लागत पूरी हो सके। यदि एक अधिक भुगतान करेगा तो दूसरा भुगतान कम करेगा।

लागत के कुछ प्रतिशत का अश भुगतान की राय B करेगा। उसका विश्लेषण A की नजर में सामाजिक सुविधाओं की पूर्ति अनुसूची (Supply Table) के रूप में होगी। इसी तरह A के प्रस्ताव का विश्लेषण B अपने दृष्टिकोण से पूर्ति अनुसूची के रूप में करेगा। यह चित्र द्वारा नीचे प्रस्तुत है—

लिन्डाल मॉडल

लिन्डाल ने उदाहरण देकर समझाया—क्षैतिज रेखा पर वस्तुएँ दर्शायी हैं जिस पर माप भी अकित है। बायीं खड़ी रेखा पर A की लागत का प्रतिशत अकित है। दायीं खडी रेखा पर विपरीत स्थिति में लागत का प्रतिशत अकित है। $A_1 A_1$ वक्र A की कुल मॉंग अनुसूची का प्रतीक है। इसकी स्थिति अनुसार मूल्य का माप लागत के प्रतिशत के रूप में किया जायेगा। A करदाता O G उत्पादन के लिए 100 प्रतिशत लागत देने को तत्पर है जबकि O C उत्पादन के लिए वह 50 प्रतिशत लागत के लिए सहमत है। $B_1 B_1$ वक्र B करदाता की मॉंग अनुसूची प्रदर्शित करता है। B_1B_1 वक्र रेखा B की सामाजिक वस्तुओं की मॉंग के अनुरूप अर्थात् A की सामाजिक वस्तुओं की पूर्ति प्रदर्शित करता है। सक्षेप में B उत्पादन की मात्रा का प्रतिशत 100 अश देने को तैयार है। जबकि A को यह नि शुल्क मिल रहा है। B करदाता सामाजिक वस्तुओं की O F मात्रा का 75 प्रतिशत अशदान देने को तत्पर होता है। जबकि यह मात्रा करदाता A की 25 प्रतिशत ही है। साम्य उत्पादन (Equilibrium Point) उस बिन्दु पर होगा जहाँ $A_1 A_1$ तथा $B_1 B_1$ एक दूसरे को काटेंगी। साम्य की स्थिति मे दोनों हिस्से 100 पर रहेंगे। इस साम्य अवस्था में A का अशदान E D प्रतिशत तथा B का अश D H प्रतिशत है। E O से अधिक वस्तु की कोई मात्रा A B करदाता स्वीकार करने को सहमत होते हैं। यह 100 प्रतिशत से कम होता है। जैसे उत्पादन O C के लिए दोनों का अश योग J M प्रतिशत कम पड़ेगा। इस स्थिति में O C की पूर्ति नहीं की जा सकती। उत्पादन की यह मात्रा घटानी ही पडेगी। O E से कम की किसी भी पूर्ति के लिए दोनो A B करदाता मॉंगों की अपेक्षा अच्छी कीमत देने को सहमत रहेंगे। उदाहरण के लिए O N पर कुल सहमति लागत से R Z प्रतिशत बढता है। A का भाग N R के भाग के बराबर है। B का भाग O N मात्रा पर व T R मूल्य पर उपलब्ध होगी जबकि वह T Z तक देने को तैयार है। यदि इस स्थिति मे B का अश T Z के बराबर है तो A इस मात्रा को N Z मूल्य मे खरीद लेगा। जबकि वह इसके लिए N P तक समर्पण को तैयार है। यदि A अपना अश N J और B अपने अश T J पर सहमत है तो दोनो पहले के अनुपात मे कम अश देंगे।

निष्कर्षत सामाजिक वस्तुओं की इकाई O E तक न पहुँचे दोनों करदाता अधिक मात्राओं का समर्थन करेंगे। सामाजिक सुविधाओं के लिए राजस्व व्यय की प्रक्रिया का निर्धारण वस्तु बाजार की तरह प्रतिस्पर्धा द्वारा होता है। लाभ का आधार विनिमय प्रक्रिया राज्य सेवा की मात्रा कर भार के वितरण के सथ निर्धारित होता है। उन्होने इस प्रकार के कर भार को न्यायोचित माना। यह सिद्धान्त लाभ सिद्धान्त तथा सामर्थ्य-सिद्धान्त को भी स्पष्ट करता है।

एक अच्छी कर-प्रणाली की विशेषताएँ
(Characteristics of a Good Tax System)

उपर्युक्त प्रसग मे यह प्रश्न उठता है कि एक उत्तम कर-प्रणाली किसे माना जाए ? व्यावहारिक जगत् मे ऐसी कर प्रणाली की कल्पना असम्भव है जो दोषो से सर्वथा मुक्त और पूर्णतया आदर्श हो। विख्यात दार्शनिक एडमण्ड बर्क ने रोचक शब्दो में लिखा है कि कर लगाना और लोगो को प्रसन्न रखना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार मुहब्बत करना और बुद्धिमान होना। किसी समय विशेष मे जो कर-प्रणाली उचित हो सकती है वही परिस्थितियाँ बदलने पर अनुचित बन सकती है। यही कारण है कि भारत में प्रति पाँच वर्ष बाद वित्त आयोग की नियुक्ति होती है जो कर-प्रणाली में उचित सामजस्य और सुधार करने की सिफारिश करता है।

एक अच्छी कर-प्रणाली मे क्या विशेषताएँ हो यह सरकारी व्यय की प्रकृति सरकारी कार्यों मे जनता के विचारो राजकोषीय नीति देश की आर्थिक दशा और राजनीतिक लक्ष्य आदि अनेक तथ्यो पर निर्भर करता है। एक समय था जब राज्य के पुलिस कार्यों पर जोर दिया जाता था और यह माना जाता था कि राज्य को करारोपण द्वारा लोगो की अधिक आय अपने हाथ मे नहीं लेनी चाहिए क्योकि इसका अर्थ होगा—साधनो का उत्पादक उपयोगो की ओर से अनुत्पादक उपयोगो की ओर अन्तरण। इसके विपरीत कल्याणकारी राज्य के वर्तमान युग में एक अच्छी कर प्रणाली वह है जो राज्य के सभी आवश्यक कर्त्तव्यो के निर्वाह के लिए पर्याप्त आय का प्रबन्ध कर सके आय का पुनर्वितरण करके गरीबी-अमीरी की खाई को कम करने मे सहायक हो आर्थिक स्थिरता की दिशाएँ उत्पन्न करे आदि। एक अच्छी कर पद्धति की जो कल्पना उन्नत देशो मे होगी उससे भिन्न कल्पना विकासशील देशो मे होगी क्योकि वहाँ राज्य को आर्थिक क्षेत्र मे अधिक सक्रिय और गतिशील योगदान देना होता है। अत यही कह सकते है कि एक अच्छी कर प्रणाली वह हो सकती है जो देश की परिस्थितियो के अनुकूल हो जिसमे अच्छे करो की बहुलता को अर्थात् ऐसे कर हो जो करारोपण के अधिकाश सिद्धान्तो को सन्तुष्ट करते हो अधिक आय प्रदान करते हों लोगो की आर्थिक दशा को विपरीत रूप मे बहुत कम प्रभावित करते हो तथा उत्पादन के लिए लोगो को प्रोत्साहित करते हो। ऐसी कर प्रणाली के निम्नाकित गुण होने चाहिए—

1 **कर, करारोपण सिद्धान्तो के अनुरूप हो**—एक आदर्श कर-प्रणाली वही मानी जा सकती है जिसमें करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तो की पूर्ति हो यानी उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ अधिकाधिक पाई जाएँ—

(i) कर-पद्धति मे सत्यता निश्चितता करदाता और सरकार का सुविधा व सरलता तथा मितव्ययिता हो। (ii) कर-पद्धति लोचदार तथा व्यावहारिक हो। (iii) कर-पद्धति का आधार यथासम्भव विस्तृत हो। (iv) कर-प्रणाली उत्पादक हो और उससे वर्तमान समय मे ही नहीं वरन् भविष्य मे भी आगम स्रोत निरन्तर प्रभावित रहे। (v) कर ऐसे हों जिनसे देश मे धन-सचय में बाधा न पडे। (vi) प्रशासनिक दृष्टि से कर पद्धति सरल और समुचित हो और उसमे भ्रष्टाचार की सम्भावना कम से कम हो। (vii) करो के भार का वितरण उचित हो तथा प्रत्येक कर के आर्थिक ढाँचे मे एक निश्चित और उचित स्थान हो।

2 **प्रत्यक्ष और परोक्ष करो मे उचित समन्वय हो**—प्रत्यक्ष और परोक्ष करो का पृथक-पृथक प्रभाव पडता है। प्रत्यक्ष करो का भार धनी वर्ग पर और परोक्ष करो का भार प्राय निर्धन वर्ग पर पडता है अत यदि इनमे से किसी एक—प्रत्यक्ष या परोक्ष कर की प्रधानता है तो देश की कर प्रणाली न्यायसगत नहीं मानी जा सकती। कर प्रणाली मे समता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो मे उचित समन्वय हो और दोनो प्रकार के कर लगाए जाएँ ताकि कर-भार समाज के विभिन्न वर्गों पर यथासम्भव न्यायोचित रूप मे पडे। यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष करो की सख्या व मात्रा परोक्ष की अपेक्षा अधिक रखी जा सकती है क्योकि प्रत्यक्ष करो का भार समाज के धनी वर्ग पर अधिक पडता है जिससे समाज मे धन के वितरण की असमानता मे कमी आती है और समाज के कुल लाभ अथवा विकास मे सहायता मिलती है।

3. **त्याग की समानता**—एक अच्छी कर-प्रणाली उसे माना जा सकता है जिसमे करारोपण द्वारा उपयोगिता जनता से छीन लिए जाने के बाद उसकी आर्थिक स्थिति पर कोई ऐसा प्रभाव न पडे जो परस्पर दुर्भावना को विकसित करने वाला हो। सभी यह मानते है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार के कार्य मे थोडा-बहुत कर देकर अवश्य योगदान दे। अपवादस्वरूप अत्यन्त

निर्धन व्यक्तियो को छोडा जा सकता है। यह उचित समझा जाता है कि धनिक वर्ग चूँकि अधिक त्याग कर सकता है अत निर्धनो की अपेक्षा उस पर भार अधिक पडना चाहिए। समानता की दृष्टि से आनुपातिक कर को अच्छा न मानकर प्रगतिशील कर को उचित ठहराया जाता है। प्रगतिशील कर से एक ओर सरकार को आय अधिक प्राप्त होती है और दूसरी ओर इससे देश मे धन की असमानताओं में कमी आती है जो आधुनिक समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अग है।

4. बहुकर प्रणाली—सरकार के कार्यक्षेत्र मे वृद्धि से सार्वजनिक आय की मॉग बढ रही है। स्वभावत इसका दबाव कर-प्रणाली पर पडता है। इसी कारण आज बहुकर प्रणाली को अपनाया जाता है। दूसरे शब्दो मे, एक अच्छी कर-प्रणाली मे विभिन्न करो का इस तरह गठन किया जाता है कि उनके मध्य उचित समन्वय बना रहता है और समाज के सभी करदाताओं की सुविधाओं का ध्यान रखते हुए अधिकतम आय प्राप्त की जा सके।

5 अधिकतम सामाजिक लाभ—कर-प्रणाली को सार्वजनिक वित्त के अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुरूप होना आवश्यक है। डॉल्टन ने स्पष्ट कहा है कि "करारोपण की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जिससे अधिक लाभ मिले अथवा बुरा आर्थिक प्रभाव कम से कम पडे।" करदाता से जब कर लिया जाता है तो उसे त्याग करना पडता है। उसे अपनी आय के उपभोग करने से वचित कर दिया जाता है अत कर के रूप मे उसे प्राप्त सन्तोष त्याग की मात्रा से अधिक होना चाहिए। यह अनेक तथ्यो पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ यदि उपभोक्ता इस आय से मादक द्रव्य या हानिकारक वस्तुओं का उपभोग करता है तो उसे कर के रूप मे प्राप्त किया जाकर जनहित मे खर्च करना सर्वथा उचित होगा। दूसरी ओर यह ध्यान रखना होगा कि करारोपण से उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पडे। जो कर उत्पादन की मात्रा घटा देते है उन्हे अच्छा नही समझा जाता। आधुनिक युग मे इस पर विशेष बल दिया जाता है कि एक अच्छी कर-प्रणाली मे ऐसे करो की बहुलता होनी ही चाहिए जो उत्पादन और वितरण पर अच्छा प्रभाव डाल सके।

6 करदाताओं के अधिकारो और समस्याओं का मूल्याकन—एक अच्छी कर-पद्धति के लिए आवश्यक है कि उसमे करदाताओं के अधिकारो और समस्याओं का ठीक ठीक मूल्यॉकन किया जाए तथा उनके हितो की रक्षा पर समुचित ध्यान दिया जाए। लोकतान्त्रिक ढॉचे मे सरकार से अपेक्षा की जाती है कि करदाताओं की समस्याओं को विवेकपूर्ण ढग से सुलझाया जाए और उनके हितो तथा अधिकारो को पर्याप्त मान्यता दी जाए। कर सम्बन्धी कानूनो को प्रभावपूर्ण और न्यायपूर्ण ढग से लागू किया जाए तथा ऐसे उपाय किए जाएं जिनसे करदाताओं का नैतिक स्तर ऊँचा उठे। करो की अदायगी और करों के सग्रह के क्षेत्र मे हस्तक्षेप और असुविधा को न्यूनतम करने का प्रयास किया जाए। कर-पद्धति की सरचना ऐसी हो जिससे उत्तेज्ना तथा रोष को प्रोत्साहन न मिले कर सम्बन्धी दायित्वो से लोग बचने का प्रयत्न न करे करदाता कर अपवचन की दिशा को अलाभप्रद समझे। करो को लागू करने वाले अधिकारी अपने व्यवहार मे शिष्ट और सहिष्णु हो।

7. परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप कर व्यवस्था हो—एक अच्छी कर-पद्धति इस रूप मे लोचदार होनी चाहिए कि वह अर्थव्यवस्था की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप सुगमता से ढल सके या परिवर्तित हो सके। इससे आर्थिक उतार चढावों पर नियन्त्रण पाया जा सके पूर्ण रोजगार की दिशा मे आगे बढा जा सके निरन्तर गतिहीनता की स्थिति से निकला जा सके और मुद्रा-स्फीतिक दशाओ पर अकुश लगाया जा सके।

विकासशील अर्थव्यवस्था मे कर पद्धति

(Taxation Policy for Developing Economy)

अथवा

विकास के लिए कर-नीति

(Taxation Policy for Development)

विकासशील अर्थव्यवस्था की कठिनाइयॉं विकसित अर्थव्यवस्था से बहुत भिन्न और विशिष्ट होती है अत उसमे एक भिन्न प्रकार की कर-पद्धति अपनानी पडती है जो बाधाओं तथा विपरीत परिस्थितियो के घेरे को तोडकर आर्थिक विकास को गति दे सके। एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल ने लिखा है— पिछडी अर्थव्यवस्था तथा विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की समस्याएँ तथा कठिनाइयॉं इस प्रकार की होती है कि

उनमें भिन्न प्रकार की कर-पद्धति अपनानी पड़ती है। एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था (Backward Economy) की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उत्पादन के निम्न स्तर एवं निर्धनता के उच्च स्तर के दुश्चक्र (Vicious Circle) को तोड़ा जाए और समर्थ माँग (Effective Demand) के स्तरों को ऊँचा उठाया जाए तथा इसके द्वारा उत्पादन, रोजगार तथा आय के स्तरों में वृद्धि की जाए। यह वह स्थिति होती है जिसमें सरकार को महत्त्वपूर्ण रोल अदा करना होता है। कराधान तथा सरकारी व्यय का सावधानी के साथ उपयोग करके सरकार तीव्र गति से आर्थिक विकास तथा आय का श्रेष्ठतर वितरण कर सकती है और ऐसा करके जनता के आर्थिक कल्याण में वृद्धि कर सकती है।

"एक अच्छी कर-नीति अनिवार्यतः एक व्यापक आर्थिक नीति का ही भाग होती है। एण्डले सुन्दरम् एवं अग्रवाल के शब्दों में एक विकासोन्मुख देश (Developing Country) में कर-नीति (Tax Policy) का दुरुपयोग आर्थिक विकास की गति को तेज करने में किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर-पद्धति के द्वारा लोगों में काम करने बचत करने तथा विनियोग करने की प्रेरणाएँ उत्पन्न की जानी चाहिए जिससे आर्थिक विकास में मदद मिल सके। एक अल्पविकसित देश में मूल समस्या पूँजी की कमी तथा पूँजी-निर्माण की धीमी दर होती है अतः कर-नीति और इसी उद्देश्य के लिए, सरकारी की सामान्य आर्थिक नीति का निर्देशन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह लोगों को जोखिम उठाने तथा अधिक विनियोग (Invest) करने के लिए प्रोत्साहित करे तथा उनमें यह भावना उत्पन्न करे कि उनके प्रयत्नों का पुरस्कार अवश्य मिलेगा और इस प्रकार पूँजी के निर्माण में सहायता करे। कराधान को केवल राजस्व की प्राप्ति का साधन नहीं माना जाना चाहिए अपितु यथासम्भव बचत तथा विनियोग के स्तरों को ऊँचा उठाने तथा उनका पोषण करने का साधन भी माना जाना चाहिए अतः कराधान के द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि उन सब लोगों को जो बचत करते हैं विनियोग करने की प्रभावपूर्ण प्रेरणाएँ (Incentives) मिले और जो पहले से ही विनियोग में रुचि रखते हैं उन्हें उत्पादक उद्यमों (Productive Enterprises) में और अधिक विनियोग करने को प्रोत्साहन मिले।

यह तर्क दिया जाता है कि प्रति व्यक्ति न्यून आय बचत और निवेश के उच्च स्तर में एक बहुत बड़ी बाधा है परन्तु यह कथन एक-पक्षीय और वास्तविकता से परे है। जैसा कि एस. जे. पटेल ने लिखा है—"यद्यपि भारत में प्रति व्यक्ति आय नीची है तथापि यह आवश्यक नहीं है कि विकसित देशों की तुलना में यहाँ बचत की सम्भावी दर काफी नीची हो क्योंकि दोनों तरह के देशों (विकसित और विकासशील) में बचत उत्पन्न करने वाली आय का अनुपात अथवा सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली कुल आय लगभग समान ही पाई जाती है।

एक विकासशील देश में पूँजी की कमी और पूँजी-निर्माण की धीमी दर की गम्भीर समस्या होती है। अतः सरकार की कर-नीति और सामान्य आर्थिक नीति का निर्देशन इस प्रकार होना चाहिए कि लोगों में जोखिम उठाने और अधिक विनियोग करने का उत्साह जागे तथा यह भावना पैदा हो कि उनके आर्थिक प्रयत्नों का समुचित पुरस्कार मिलेगा। एक अच्छी कर-पद्धति का विकासशील अर्थव्यवस्था में यह मुख्य कार्य है कि वह उस आर्थिक आधिक्य (Economic Surplus) को गतिशील करे जो अर्थव्यवस्था में हाल ही में उत्पन्न हुई हो। विकासशील अर्थव्यवस्था की यह विशिष्ट माँग होती है कि आर्थिक विकास के कारण वर्तमान उत्पादन और खर्च के बीच जो अन्तर है उसका सदुपयोग किया जाए। इस आधिक्य को उत्पादक विनियोगों में लगाया जाए। राजा चेलिया ने लिखा है कि आर्थिक विकास के लिए कर-नीति का कार्य इस आधिक्य को गतिशील बनाना है उसको उत्पादक क्षेत्रों की ओर मोड़ना है और उसके आकार में निरन्तर वृद्धि करना है। इस हेतु यह वांछित है कि साधनों को निजी उपभोग से लोक-विनियोग की ओर लाया जाए।

आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। यदि इस बढ़ती हुई आय को केवल उपभोग के कार्यों में लगाया जाए तो आर्थिक आधिक्य की मात्रा में वृद्धि नहीं होगी। अतः देश के आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में करारोपण की ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे उपभोग आय की वृद्धि के अनुपात में न बढ़े। इसके लिए वस्तु कराधान (Commodity Taxation) अथवा परोक्ष करारोपण (Indirect Taxation) की मात्रा को ऊँचा रखना अपेक्षित है। एक विकासशील आर्थिक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि करारोपण व्यक्ति की अंशदान योग्यता के अनुसार किया जाए। व्यक्ति की अंशदान योग्यता का पता आय के उस भाग से लगाया जा सकता है जिसको वह उत्पादक विनियोग में नहीं लगाता है। तात्पर्य यह है कि इस आधिक्य को उत्पादक कार्यों में लगाया जाना मुख्य उद्देश्य है। किस व्यक्ति में कितनी योग्यता है इसका अनुमान अच्छी सरकार ही लगा सकती है।

विकासशील अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ अशदान दे अत. इन अर्थव्यवस्थाओं में अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाने होते हैं। कर-देय योग्यता सिद्धान्त और कर-भार के वितरण मे न्याय सिद्धान्त, इन दोनों आधारों पर विकासशील देशों में कर-पद्धति *का निर्धारण कठिन होता है किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो कर-प्रणाली में* न्यायशीलता उत्पन्न करना सम्भव है। न्याय की माँग है कि देश के विभिन्न वर्गों पर आर्थिक समृद्धि के भार का न्यायपूर्ण वितरण हो। दूसरे शब्दों में, ऊँची आय वाले वर्ग स्वत अपनी आय आधिक्य के एक उचित भाग को विनियोजित करें और कम आय वाले वर्ग अपने उपभोग को नियमित व नियन्त्रित करें। *करारोपण ही इसका एकमात्र उपयुक्त माध्यम बन सकता है अत करारोपण यथासम्भव सामर्थ्य के* आधार पर होना चाहिए।

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में एक अच्छी कर-पद्धति का अन्य मुख्य लक्षण यह होता है कि मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी प्रवृत्तियो (Inflationary Tendencies) का प्रतिकार किया जाए। प्राय सभी प्रकार के विकासात्मक खर्च से मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक ओर विनियोग की मात्रा बढती है, दूसरी ओर उत्पादन मे तत्काल वृद्धि नहीं हो पाती और परिणामस्वरूप उपभोग के लिए वस्तुएँ तत्काल नहीं मिलतीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की माँग और मूल्य दोनों बढने लगते हैं तथा मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति को रोकने के लिए करारोपण एक प्रभावशाली और उपयुक्त साधन माना गया है। अधिक लाभ-कर और वस्तु-कर दोनों दिशा में प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं। भारत में कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया कि "वे कर, जो प्रत्यक्ष रूप से बड़ी-बडी अतिरिक्त आयों पर पडते हैं और वस्तु-कर (Commodity Taxes) जो कि *मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप बढी हुई सामान्य क्रय-शक्ति पर पडते है, मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति में* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं।[1]

कर-प्रणाली का विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे प्रमुख उद्देश्य आय की विषमताओं को कम करना है। करारोपण द्वारा आय के वितरण को समान करके आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है। अत. कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि जिससे एक ओर तो पूँजी-निर्माण की दर तथा उत्पादन में वृद्धि हो और दूसरी ओर आय का समान वितरण प्रोत्साहित हो। करदाता की दृष्टि से कर इस प्रकार का होना चाहिए कि सभी लोग यह अनुभव करने लगें कि करों के लगाने में औचित्य को प्राथमिकता दी गई है *तथा जो धन कर के रूप में उन्हे देना पड़ रहा है उसका उचित उपयोग किया जा रहा है।* कर जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) का मत था कि "आय धन और अवसरों में व्यापक स्तर पर समानता लाना आर्थिक विकास और सामाजिक उन्नति का अभिन्न अग होना चाहिए। यह माँग, कि कराधान के साधनो को सामाजिक न्याय से भी अधिक मात्रा में आय का पुनर्वितरण करने वाले उपाय के रूप मे प्रयोग किया जाना चाहिए असम्भव मान कर नहीं छोड़ी जा सकती।"[2]

अन्त मे कर-पद्धति का निर्माण तथा उसका क्रियान्वयन (Implementation) इस प्रकार होना चाहिए कि जनता का कोई भी वर्ग यह अनुभव न करे कि उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है और यह *कि उसके देय भाग से अधिक कर-भार वहन करने की माँग की जा रही है जबकि कुछ अन्य लोगों पर,* जिनकी आय न्यूनाधिक रूप से उसके जितनी ही है, कम भार डाला गया है। इसके अतिरिक्त, करदाताओं के मस्तिष्क में यह विश्वास होना चाहिए कि करों के रूप मे उन्होंने जो धन दिया है, वह बुद्धिमत्ता के साथ व्यय किया जाएगा। प्रशासनिक अकुशलता, अक्षमता (Incompetence) तथा भ्रष्टाचार (Corruption) के कारण वह बर्बाद नहीं किया जाएगा।[3] एक अच्छी कर-पद्धति की कसौटी यह है कि उसमें इतनी सामर्थ्य हो कि वह सरकार के राजकोषीय आधार पर ऐसा विश्वास उत्पन्न कर सके जो जनता के नैतिक स्तर को बनाए रखे तथा उत्पादकीय प्रयत्नों व आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन दे।

1 2 Taxation Enquiry Commission Report (1953 54) Vol. I, p 145
3 *एण्डले, सुन्दरम् और अग्रवाल* लोक अर्थशास्त्र एव लोक वित्त।

6

करारोपण में न्याय

(Justice in Taxation : Equal, Equi-Proportional and Equi-Marginal Cost Aggregate Sacrifice)

करो का न्याय पर आधारित होने से तात्पर्य यह है कि कर किससे लिया जाए और किससे नहीं लिया जाए तथा कितना और किस आधार पर लिया जाए आदि पर सरकार न्यायिक दृष्टिकोण से निर्णय ले। यदि करारोपण का वितरण न्यायपूर्ण नहीं होगा तो कुल सामूहिक त्याग (Total Collective Sacrifice) की मात्रा आवश्यकता से बहुत अधिक होगी। करारोपण का भार अधिक प्रतीत होगा और नागरिको मे विद्रोह की भावना जाग्रत होने की सम्भावना बनी रहेगी जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के अस्त व्यस्त होने का अन्देशा उत्पन्न हो जाएगा। श्रीमती हिक्स ने कहा है कि रोमन-साम्राज्य के पतन का कारण त्रुटिपूर्ण ढग से सगठित और विस्तृत कर-प्रणाली थी। फ्रास की क्रान्ति का मुख्य कारण भी अन्यायपूर्ण कर-प्रणाली थी जिसमे निर्धन वर्ग की अपेक्षा धनिकों पर कर का भार कम था। अत आवश्यक है कि सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से करारोपण के वितरण मे न्याय का ध्यान रखा जाए।

करारोपण मे न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए समय समय पर अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए है जिनमे से कुछ मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार है—

1 वित्तीय सिद्धान्त

(Financial Theory)

यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। इसके अनुसार करारोपण का एकमात्र ध्येय आय प्राप्त करना है। राज्य को कर इस प्रकार लगाने चाहिए जिससे कि उसे अधिकतम आय उपलब्ध हो सके और जनता विरोध भी कम से कम करे। फ्रासीसी वित्त मन्त्री काल्बर्ट के शब्दो मे बतख को इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम विरोध के साथ चिल्लाए।[1] लोगो मे करो के भार का वितरण किस प्रकार किया जाए ताकि करो के रूप में अधिक से अधिक आय प्राप्त हो सके और कम से कम कठिनाई अथवा विरोध पैदा हो यह विचारणीय है।

स्पष्ट है कि कर के वित्तीय सिद्धान्त को लागू करने से काफी अन्याय होगा क्योकि इस प्रणाली मे करों का भार प्रधानत कमजोर और ऐसे व्यक्तियो पर पड़ेगा जिनकी आवाज नहीं है जबकि प्रभावशाली और पहुँच वाले व्यक्ति तथा सामान्यत धनी लोग करो के अपने देय भाग की अदायगी से बचे रहेगे। प्राय व्यवहार मे यही देखा जाता है कि करो के विरोध मे क्षमताशील धनी व्यक्ति अधिक चीखते-चिल्लाते है। निर्धन व्यक्ति प्राय प्रत्येक स्थिति को सह लेने और चुपचाप बैठ जाने के अभ्यस्त हो जाते हैं। भारत की निर्धन जनता भाग्य के भरोसे सन्तोष करके बैठ जाती है। जाहिर है कि यह वित्तीय सिद्धान्त करारोपण मे न्याय की समस्या का समाधान खोजने मे असमर्थ है क्योकि निर्धन व्यक्ति साधनों के अभाव मे सगठित होकर विरोध नहीं कर पाएँगे और उन्ही को अधिक कर-भार वहन करना होगा जो अन्यायपूर्ण होगा। आज के प्रजातान्त्रिक युग मे हम करारोपण के इस सिद्धान्त को अव्यावहारिक पुराना और अवाछनीय मानते है।

1 Pluck the goose with as little squeaking as possible

2 लाभ का सिद्धान्त
(Benefit Theory)

इस सिद्धान्त को 'जैसे को तैसा' (Quid pro-quo) सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार करदाता से उतना कर वसूल करना चाहिए जितना लाभ राज्य की सरक्षता में उसे प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में जो मनुष्य जितना अधिक लाभ सरकारी क्रियाओं से प्राप्त करेगा उसको उतना ही अधिक कर देना पडेगा। स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तियों के मध्य उनको सरकार के कार्यों से प्राप्त लाभ के अनुसार कर विभाजन किया जाना चाहिए तभी न्याय के सिद्धान्त का पालन हो सकेगा। तब जो जितनी सेवाएँ अथवा लाभ प्राप्त करेगा उतना ही भाग कर के रूप में देगा।

इस सिद्धान्त के मूल विचारक डिमार्को तथा एरिक लिंडाल हैं। उनके अनुसार 'राज्य को सामाजिक सेवाओं की पूर्ति उस सीमा तक करनी चाहिए जहाँ इन सेवाओं के प्रति व्यक्ति की कुल माँग तथा पूर्ति बराबर हो तथा इन सेवाओ की लागत समस्त व्यक्तियों द्वारा दी गई कीमत के बराबर हो।[1] एडम स्मिथ का मत था कि एक बडे राष्ट्र के निवासियों के लिए सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्च लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि एक बड़ी जायजाद के उन सयुक्त किराएदारों के प्रबन्ध सस्था के खर्च जो उस जायदाद में अपने अपने हितों के अनुपात में अशदान देने को बाध्य होते हैं।[2] प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विलियम प्रिटी के शब्दों में "सरकारी व्यय में योगदान सार्वजनिक शान्ति में उसके भाग तथा हितों के अनुसार होना चाहिए।[3]

लिंडाल अपने ऐच्छिक विनिमय सिद्धान्त के आधार पर यह बताता है कि सामाजिक सेवाओं के लिए कितने साधन लगाए जाएँगे एव इन सेवाओं की लागतों को पूर्ण करने के लिए व्यक्तियों पर कर-भार का वितरण किस प्रकार हो। यहाँ सरकार को यह ज्ञात होने की मान्यता स्वीकार की जाती है कि किस सेवा के बदले जनता योगदान करने को तैयार है और सामाजिक पदार्थों पर सरकार को कितना खर्च करना चाहिए।

यह सिद्धान्त वैसे तो बडा सरल और उचित प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार में अपनाने और गम्भीरता से विचार करने पर इसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं जो निम्न है—

प्रथम करदाता को मिलने वाले लाभ और कर के बीच 'जैसे को तैसा' जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

दूसरे राज्य कर के रूप में जो कुछ लेता है उसे वह प्राय सामान्य लाभों के लिए खर्च कर देता है अत इस सर्व या सामान्य हित मे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग कितना लाभ हुआ ?

तीसरे इस सिद्धान्त को सामाजिक सेवाओं में लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि सामाजिक सेवाओं जैसे—नि शुल्क शिक्षा दूध आदि के लिए मूल्य नहीं लेना केवल अनुचित ही नहीं प्रत्युत हास्यास्पद लगता है।

चौथे यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण है क्योंकि इसके अन्तर्गत धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक कर-भार वहन करना पड़ेगा।

पाँचवें यह सिद्धान्त वितरण की समस्या और आर्थिक व्यवस्था में स्थायित्व लाने में असफल है जबकि सार्वजनिक वित्त का मुख्य उद्देश्य स्थायित्व को प्राप्त करना है। उदाहरणार्थ यदि लाभ के अनुसार करारोपण किया जाए तो आय में जो असमानता है उसे दूर नहीं किया जा सकेगा। इसके विपरीत इसको लागू करने के फलस्वरूप आय वितरण की असमानता में तीव्रता से वृद्धि होगी।

छठे यह सिद्धान्त राज्य के कार्य के पैमाने को अनावश्यक रूप से सीमित करता है। जब कभी सरकार कोई नई योजना का निर्माण करेगी तो उसे यह ध्यान रखना होगा कि इससे प्राप्त होने वाले लाभ करों की क्षतिपूर्ति कर सकेंगे या नहीं ? यह कार्य असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन अवश्य है।

1 *R A Musgrave* The Theory of Public Finance p 64
2 *Adam Smith* Wealth of the Nations Vol 2 p 310
3 *William Prite* A Treatise of Tax and Contribution, p 91

इसका सीमित प्रयोग सम्भव है और आज बहुत से कर विशेषकर स्थानीय कर इसी आधार पर लगाये जाते हैं। उदाहरणार्थ पानी बिजली गैस आदि। शिक्षा पर लगने वाली फीस भी उच्च कक्षाओं में बढ़ती जाती है। इसी तरह कक्षा एक ही होने पर भी कला के छात्रों को विज्ञान के छात्रों से कम फीस देनी होती है। प्रो ब्यूहलर ने ठीक ही कहा है "लाभ का सिद्धान्त करारोपण के आधार के रूप में कितना ही असन्तोषजनक क्यों न हो लेकिन करारोपण मे यह महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इसकी एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि सरकारी खर्च द्वारा आर्थिक जीवन मे जो योग दिया जाता है उस पर विशेष बल देता है और दूसरे इसको स्पष्ट करता है कि निजी व्यक्ति उत्पादन और उपभोग दोनों के लिए ही राज्य पर निर्भर रहते है। यह अवश्य है कि यह सिद्धान्त करों के भार का सर्वश्रेष्ठ वितरण करने मे हमारी सहायता नहीं कर सकता अत इसे इसकी मूल भावना के साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3 सेवा लागत का सिद्धान्त
(Cost of Service Theory)

लाभ के सिद्धान्त के विपरीत दिशा में सेवा की लागत का सिद्धान्त बन जाता है। लाभ का सिद्धान्त यह बताता है कि सरकार को उतनी मात्रा मे कर लेना चाहिए जितना करों से लोगों को सामूहिक रूप से लाभ प्राप्त होता है। इसके विपरीत सेवा के लागत का सिद्धान्त यह बतलाता है कि लोगों को लाभ अथवा सेवा प्राप्त करने मे सरकार का जो खर्च होता है या जो लागत इसे सेवा के बदले प्रदान करनी पडती है उसे करो द्वारा प्राप्त किया जाए यानी कर सरकार को उसकी सेवाओं की लागत के रूप में दिए जाने चाहिए। सरकार को कर भार का वितरण इस प्रकार करना चाहिए कि विभिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति समूहो से उनको प्रदान किए गए लाभ की लागत प्राप्त हो जाए। प्रो ब्यूहलर के अनुसार बहुत से लेखकों ने सुझाया है कि कर सरकार द्वारा जनता को प्रदान की गई सेवाओं का मूल्य होना चाहिए और जनता को सरकारी सेवाओ को लेने या न लेने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कर मूल्य के समान है।

सेवा की लागत का सिद्धान्त देखने मे सरल और उचित प्रतीत होता है परन्तु इसका व्यावहारिक महत्त्व नगण्य है और इसे लागू करना कठिन है। इसके कई महत्त्वपूर्ण कारण हैं—

प्रथम यह सिद्धान्त कर की परिभाषा के प्रतिकूल है। कर जनता पर लगाया गया अनिवार्य अंशदान होता है। इसमे जैसे को तैसा का सम्बन्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह सामान्य हित के लिए लगाया जाता है।

दूसरे यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है। सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली अधिकाश सेवाएँ व्यक्तियों के लिए पृथक् पृथक् न होकर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता के लिए होती हैं। इन विभिन्न सेवाओं की लागत को मापने का कोई सही एव उचित मापदण्ड उपलब्ध नहीं है।

तीसरे लाभ के सिद्धान्त की भाति यह सिद्धान्त भी सरकारो के कार्यों के पैमाने को सीमित कर देता है क्योंकि इसके अनुसार सरकार जनता को वही सेवाएँ प्रदान कर सकती है जिनकी लागत का निर्धारण हो सके।

चौथे यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण है। आधुनिक सरकारें अधिकाशत ऐसी सेवाएँ प्रदान करती हैं जिनसे निर्धन व्यक्ति को अधिक लाभ मिलता है लेकिन यदि इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो इन व्यक्तियों को न केवल उस वस्तु अथवा सेवा का मूल्य चुकाना पडेगा जो सरकार द्वारा उन्हें मिलती है बल्कि उसका भार भी वहन करना पड़ेगा है उस व्यवस्था पर खर्च हुआ है। स्पष्टत यह स्थिति अव्यावहारिक और अन्यायपूर्ण होगी।

पाँचवें यह सिद्धान्त राज्य की सदस्यता ऐच्छिक बताती है जबकि वह अनिवार्य होती है।

विभिन्न दोषो के बावजूद यह सिद्धान्त बहुत से क्षेत्रो में सरकार द्वारा प्रयोग में लाया जाता है जैसे—रेल डाक पानी बिजली आदि के मूल्य या दरे निर्धारित करना। इस निर्धारण को वास्तविक रूप में हम 'क्रय मूल्य की संज्ञा दे सकते हैं 'कर' की नहीं क्योंकि कर में जैसे को तैसा' का तत्त्व नहीं होता है।

4 सेवा लाग का सिद्धान्त
(Ability to Pay Theory)

इस सिद्धान्त की चर्चा एडम स्मिथ के करारोपण सम्बन्धी नियमो का वर्णन करते समय कर चुके है। यह सिद्धान्त इस पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कर देना चाहिए। समाज मे सभी व्यक्तियो की आर्थिक स्थिति समान नहीं होती। यदि समाज को मुख्य रूप से निर्धनों और धनिको में विभाजित करे तो पता लगता है कि धनी वर्ग इतना सम्पन्न है कि वह अतिरिक्त आय रखता है जिसे वह कर के रूप मे दे सकता है जबकि निर्धन व्यक्ति को अभी सम्पन्न होने के लिए काफी सुविधाओ की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कर के रूप मे त्याग करने या अधिक त्याग करने की सामर्थ्य भी उनमे नहीं है। अत न्यायशीलता के दृष्टिकोण से यह उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति से करदेय योग्यता के अनुसार कर लिया जाए। एडम स्मिथ ने इसे करारोपण का सिद्धान्त माना है और अपने समता के सिद्धान्त में आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया है कि समानता का आशय यह है कि धनिक वर्ग अधिक कर देने योग्य होता है अत उस पर अधिक कर लगाया जाना चाहिए जबकि निर्धन वर्ग की करदेय योग्यता कम होती है अत उसे कर-मुक्त किया जाना चाहिए अथवा उस पर कम मात्रा मे कर लगाया जाना चाहिए।

वास्तव मे करदेय-योग्यता का सिद्धान्त अन्य सभी सिद्धान्तो की अपेक्षा न्याय के अधिक अनुरूप है। बेस्टन के अनुसार कर-निर्धारण क्षमता का यह एक नैतिक आदर्श सिद्धान्त है और कोहन के शब्दों मे क्षमता नैतिक सुन्दरता के विस्तृत सिद्धान्तो की एक प्रणाली है।

आदर्श होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से यह एक कठिन सिद्धान्त है। प्रथम कठिनाई यही है कि कर-योग्यता किस प्रकार और किस आधार पर निश्चित की जाए तथा दूसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह है कि प्रत्येक मनुष्य की करदेय-क्षमता किस प्रकार आँकी जाए ? इस समस्या के हल के लिए अर्थात् करदेय-योग्यता का उचित आधार मालूम करने के लिए समस्या का प्राय दो दृष्टिकोणो से अध्ययन किया गया है—1 व्यक्तिगत या भावात्मक दृष्टिकोण (Subjectively) तथा 2 वस्तुगत या बाह्य दृष्टिकोण (Objectively)।

1 व्यक्तिगत या भावात्मक दृष्टिकोण (Subjectively)—भावात्मक या व्यक्तिगत दृष्टिकोण से करदाता के मस्तिष्क का अध्ययन किया जाता है अर्थात् करदाता की कर देने की योग्यता का अनुमान उसके कष्ट उठाने की शक्ति असुविधाओं को सहने की शक्ति तथा त्याग करने की शक्ति से लगाया जाता है क्योकि करदाता को कर देने मे कुछ न कुछ भार सहन करना पडता है। दूसरे शब्दो मे कर अदा करने मे कुछ त्याग करना पडता है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोणो को अपनाने में कुछ स्वाभाविक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। करदाता कर अदा करने में जो त्याग (Sacrifice) अनुभव करता है वस्तुत वह एक मानसिक क्रिया है जिसे जानना अत्यन्त ही कठिन है। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में क्या विचार उठ रहे हैं या कितना कष्ट हो रहा है या कितनी प्रसन्नता हो रही है यह गुणात्मक तत्त्व है मात्रात्मक नहीं। किसी व्यक्ति की मन स्थिति के विषय मे अनुमान करना या उसको मापना अथवा किसी अन्य व्यक्ति की मन स्थिति से उसकी तुलना करना यदि सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। व्यावहारिक कार्यों के लिए ये कठिनाइयाँ अजेय नहीं है। इस सिद्धान्त को कार्य रूप देने के लिए यह मान लिया जाता है कि एक ही वर्ग मे रखे जाने वाले व्यक्तियो पर कर का लगभग समान प्रभाव पडता है। प्रो पीगू के कथनानुसार "यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ विशेषताएँ होती हैं कि सामान्य परिस्थितियो मे रहने वाले व्यक्ति पर समान प्रभाव पडता है। दूसरी कठिनाई यह है और जाति भेद तथा शिक्षा व आदतों के कारण भिन्नताएँ होती है तथापि हम यही पाते हैं कि इसमे अच्छे व बुरे की समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। करारोपण से लोगों को त्याग तो अधिक करना पड़ता है परन्तु नैतिकता के दृष्टिकोण से ऐसा करने के प्रभाव अच्छे होते हैं जैसे—शराब पर लगाया गया कर। इसमें शराब पीने वालो को करारोपण के कारण त्याग तो अधिक करना पडता है लेकिन शराब का उपयोग कम होता है। इस रूप मे कराधान सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का माध्यम बन सकता है। प्रो पीगू के विचार में ऐसे करो में त्याग की अपेक्षा इनके अच्छे व बुरे परिणामों पर ही अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। अत स्पष्ट है कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण का महत्त्व

केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं वरन् इसका व्यावहारिक मूल्य भी है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से करारोपण के तीन आधार हैं जो इस प्रकार है—

(क) समान त्याग का सिद्धान्त (Principle of Equal Absolute Sacrifice)

(ख) समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त (Principle of Proportional Sacrifice)

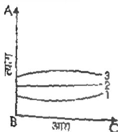
(ग) न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Principle of Minimum Sacrifice)

डॉल्टन ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और वह है—

(घ) तटस्थता का सिद्धान्त (Principle of Neutrality)।

(क) समान त्याग का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण तभी न्यायपूर्ण हो सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए त्याग की मात्रा समान हो। डॉल्टन के मत में करारोपण के प्रत्यक्ष द्रव्य-भार का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि सभी करदाताओं पर प्रत्यक्ष वास्तविक भार समान हो। मिल ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है— राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में करारोपण की समानता का अर्थ है कि सरकार के खर्च के लिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिये जाने वाले धन का इस प्रकार निर्धारण किया जाए कि वह प्रत्येक अन्य व्यक्ति की अपेक्षा न्यून या अधिक न हो।

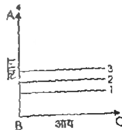
यह ध्यान रखना चाहिए कि त्याग का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक दशा से है जो भिन्न-भिन्न होती है। अत इसका पता लगाना कठिन है। फिर विभिन्न मनुष्यों के त्याग की तुलना नहीं की जा सकती है। यदि कर लगाने के लिए आय को आधार मान लिया जाए तो समान रूप से त्याग प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित तीन परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है—



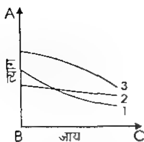
चित्र 'अ'

1 प्रथम परिस्थिति में जब आय तेजी से बढ़ती जाती है और उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ आय की सीमान्त उपयोगिता तीव्र गति से गिरती जाती है तो कर की दर प्रगतिशील होगी। दूसरे शब्दों में आय की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति को अधिक अनुपात में कर देना पड़ेगा। दिया गया चित्र अ यह बताता है कि करों की दरों को तीन प्रकार से प्रगतिशील बनाया जा सकता है। चित्र अ से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे तीव्र गति से आय में वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही सीमान्त उपयोगिता भी कम होती जाती है। अत त्याग की समानता प्राप्त करने के लिए आय के साथ-साथ अधिक ऊँची दर से कर लगाना आवश्यक होता है।

2 दूसरी परिस्थिति में जब आय धीरे-धीरे बढ़ती है और उसकी सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती है तो समान त्याग प्राप्त करने के लिए समानुपातिक करारोपण किया जाएगा अर्थात् ऊँची और नीची आय वाले सभी व्यक्तियों पर समान दर से कर लागू किया जाएगा। सलग्न चित्र ब से स्पष्ट होता है कि तीन दरों में से किसी भी एक को लागू किया जा सकता है। चित्र 'ब' में स्पष्ट है कि आय की धीमी गति से वृद्धि के साथ-साथ आय की सीमान्त उपयोगिता धीमी गति से कम होती जाती है अत त्याग को समान करने के लिए कर की आनुपातिक दर आवश्यक है।



चित्र 'ब'



चित्र 'स'

3 तीसरी परिस्थिति मे यदि आय गिर रही है तो उसके फलस्वरूप आय की सीमान्त इकाइयों से प्रारम्भ मे उपयोगिता बढती जाती है । ऐसी अवस्था मे समान त्याग करने के लिए प्रतिगामी करारोपण आवश्यक है अर्थात् अधिक आय वाले कम अनुपात मे और कम आय वाले अधिक अनुपात मे कर देगे । दिए गए चित्र 'स' मे बताई गई किसी भी दर से करारोपण हो सकता है । चित्र स से स्पष्ट है कि आय में कमी होने पर सीमान्त उपयोगिता बढती जाती है अत त्याग की मात्रा समान करने के लिए प्रतिगामी कर लगाना होगा ।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीनो चित्रो मे वक्र रेखाएँ 1 2, 3 कर की विभिन्न दरों को प्रकट करती है जिनमे से प्रत्येक स्थिति मे कोई-सी भी दर प्रयोग की जा सकती है । समान त्याग के सिद्धान्त के अनुसार करो की दर प्रगतिशील प्रतिगामी अथवा समानुपातिक होगी यह आय की सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होगा । यदि सीमान्त उपयोगिता वक्र नीचे की तरफ गिरता हुआ होता है तो करों की दर प्रगतिशील होगी । यदि वक्र की लोच एक के बराबर होगी तो करो की दर समानुपातिक होगी और यदि वक्र की लोच एक से अधिक होगी तो करो की दर प्रतिगामी होगी ।

वास्तव मे त्याग की समानता का अर्थ स्पष्ट नहीं है । प्रो पीगू का विचार है कि समान परिस्थितियों के व्यक्तियो के त्याग की समानता का अर्थ तो समझ में आता है परन्तु असमान परिस्थितियो के व्यक्तियों का नहीं । यदि इससे तात्पर्य सभी व्यक्तियो द्वारा समान मात्रा मे कर का भुगतान है तो यह अन्यायपूर्ण है क्योकि सभी व्यक्तियों की द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता व करदेय-क्षमता समान नहीं होती है । अत यह सिद्धान्त लागू करना कठिन है ।

(ख) समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत करदाताओ पर कर का भार समान नहीं रहता बल्कि उनकी आर्थिक शक्ति के अनुपात में निश्चित होता है । दूसरे शब्दो मे कर की दर आय के घटने-बढने के साथ कम व अधिक होती रहती है । जिन व्यक्तियो मे अधिक त्याग करने की शक्ति होती है वे अधिक धनराशि कर के रूप मे देते है जिनमे तुलनात्मक रूप से कम शक्ति होती है वे कम धनराशि देते है और जिनमे बिल्कुल नहीं है वे करमुक्त रहते है । इस पद्धति के अनुसार करारोपण न्यायसगत होने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए । समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त के अनुसार करों की दर प्रगतिशील प्रतिगामी अथवा समानुपातिक होगी । यह आय की सीमान्त उपयोगिता एव औसत उपयोगिता के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध से निर्धारित होगा । यदि $MU_y > AU_y$ तो करों की दर प्रगतिशील होगी यदि $MU_y = AU_y$, हो तो करो की दर समानुपातिक होगी और यदि $MU_y < AU_y$ हो तो करों की दर प्रतिगामी होगी ।

इसमें कर आय के एक निश्चित अनुपात में लगाया जाता है । उदाहरणस्वरूप मान लीजिए तीन व्यक्ति 'अ ब' तथा स' की कुल आय क्रमश 100 रु 1,000 रु तथा 10,000 रु है । समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त के अनुरूप 10% कर लेने का निर्णय लिया जाता है । ऐसी स्थिति में 'अ' व्यक्ति को 10 रु 'ब व्यक्ति को 100 रु तथा 'स' व्यक्ति को 1000 रु कर के रूप मे अदा करने होगे । स्पष्टत स व्यक्ति को सर्वाधिक धन देना पडेगा जबकि अ' व्यक्ति को सबसे कम लेकिन तीनो का आनुपातिक त्याग समान होगा । यद्यपि यह सिद्धान्त समान त्याग के सिद्धान्त से अधिक न्यायपूर्ण है लेकिन अभी न्याय की गुजाइश बची रहती है । जैसाकि सर्वविदित है कम आय वाले व्यक्ति के लिए कर के रूप में दी गई मुद्रा की प्रति इकाई की उपयोगिता अधिक आय वाले व्यक्ति द्वारा कर के रूप में दी गई मुद्रा की प्रति इकाई की उपयोगिता की अपेक्षा नि सन्देह अधिक होगी ।

(ग) न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त—त्याग का एक अन्य सिद्धान्त है—न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एजवर्थ तथा कार्वर ने किया है और पीगू तथा डॉल्टन जैसे अर्थशास्त्रियों ने उसका समर्थन किया है । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कर-भार की समस्या का अध्ययन

सामूहिक रूप में किया जाता है न कि व्यक्तिगत रूप में अर्थात् इस पर बल दिया गया है कि हमें व्यक्तियों के त्याग की अपेक्षा समाज के कुल त्याग पर विचार करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार कर का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि सब करदाताओं द्वारा जो कुछ भी त्याग किया जाए उसकी मात्रा कम से कम हो और सामाजिक लाभ अधिकतम हो। यह उसी समय हो सकता है जब सभी करदाताओं का सीमान्त त्याग (Marginal Sacrifice) बराबर हो दूसरे शब्दों में करारोपण इस प्रकार का हो कि प्रत्येक करदाता को मुद्रा की अन्तिम इकाई देने से समान त्याग का अनुभव हो। प्रत्येक व्यक्ति को कर के रूप में एक रुपया अदा करने में उतनी ही त्याग की अनुभूति होनी चाहिए जितनी कि एक रुपया अदा करने वाले दूसरे व्यक्ति को होती है। इसको एक उदाहरण द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है।

मान लीजिए तीन व्यक्ति है—अ ब और स। अब इनमें से किसी एक को एक रुपया देना पड़ता है तो उसका त्याग इस प्रकार है—

रुपये की इकाइयाँ		त्याग	
	अ	ब	स
1 रुपया देने में	8	10	16
2 रुपये देने में	10	12	20
3 रुपये देने में	14	16	24
4 रुपये देने में	16	20	30
5 रुपये देने में	20	30	50

अब मान लीजिए कि राज्य को 8 रुपये कर के रूप में वसूल करने है तो उसे अ से 4 रुपये ब से 3 रुपये और स से 1 रुपया वसूल करना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में सबका सीमान्त त्याग बराबर है अर्थात् 16 इकाइयाँ हैं।

वास्तव में यह अधिकतम सन्तुष्टि (Maximum Satisfaction) अथवा समसीमान्त उपयोगिता (Equi marginal Utility) के सिद्धान्त का विपरीत पहलू है जिसके अनुसार यदि दिये हुए खर्च की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) प्रत्येक दशा में एक समान हो तो उस खर्च से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। यदि प्रत्येक करदाता द्वारा किया जाने वाला सीमान्त त्याग बराबर (या लगभग बराबर) हो तो सम्पूर्ण समुदाय का समस्त त्याग (Aggregate Sacrifice) न्यूनतम हो सकता है। इसी कारण से न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त को सम-सीमान्त त्याग के सिद्धान्त (Equi marginal Sacrifice Theory) अथवा न्यूनतम समस्त त्याग के सिद्धान्त (Least Aggregate Sacrifice Theory) के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

न्यूनतम त्याग का यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) पर आधारित है जिसके अनुसार आय अधिक होने के साथ-साथ व्यक्ति विशेष के लिए इसकी प्रति इकाई उपयोगिता घट जाती है। अतः बहुत अधिक आय वाले व्यक्तियों की अन्तिम इकाइयाँ यदि कर के रूप में ले ली जाएँ तो ऐसे व्यक्तियों को कोई विशेष कष्ट नहीं होगा। इसके विपरीत न्यून आय वालों को चूँकि उनके रुपये की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है कर से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

एक उदाहरण देते हुए कह सकते हैं कि यदि न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त लागू किया जाए तो सर्वप्रथम कर उस व्यक्ति पर लगाया जाना चाहिए जिसकी आय अधिकतम हो क्योंकि उस व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला त्याग न्यूनतम होगा और जब करारोपण के कारण उसकी आय घटती है तब उसके बाद के दूसरे स्थान के बड़े धनी व्यक्ति के स्तर तक आ जाए तो उन दोनों ही व्यक्तियों पर कर लगाना आरम्भ कर देना चाहिए। इसका कारण यह है कि अब दोनों ही व्यक्तियों को कर के रूप में एक रुपया अदा करने में समान भार महसूस होगा। इसके बाद करारोपण द्वारा उन दोनों ही व्यक्तियों को समाज

के तीसरे स्थान के धनी व्यक्ति के स्तर तक ले आना चाहिए । यह क्रम उस समय तक जारी रहना चाहिए जब तक कि सरकार को यथेष्ट मात्रा मे आय प्राप्त न हो जाए । इसका अर्थ यह हुआ कि एक निश्चित स्तर के ऊपर की सभी आयों को करारोपण द्वारा घटा कर उस निश्चित स्तर पर लाना चाहिए । प्रो पीगू ने कहा है, "सम-सीमान्त त्याग की पूर्ण रूप से अपनाई गई प्रणाली में न्यूनतम आय के ऊपर की प्रत्येक आय को काट कर कम कर देने का अर्थ निहित है ।"

करारोपण के जिस न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त का विवेचन किया है, वह यद्यपि अन्य सिद्धान्तो की अपेक्षा अच्छा है और प्रो पीगू ने इसे 'करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त' कहा है तथापि इस सिद्धान्त की अनेक सीमाएँ है । ये इस प्रकार है—

प्रथम इस सिद्धान्त मे करारोपण से उत्पन्न होने वाले भावी परिणामो की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है । यद्यपि इसमे गतिशील कर-प्रणाली के आधार पर करारोपण किया जाता है लेकिन इस करारोपण से बचत निरुत्साहित होती है । उदाहरणार्थ जब धनिक वर्ग पर अधिक करारोपण होता है तो इसका उनकी बचत क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है और पूँजी-निर्माण कम हो जाता है । अन्त मे उत्पादन तथा रोजगार का स्तर गिर जाता है । इसी प्रकार धनी व्यक्तियो पर कर-भार होने से एक ओर उनके त्याग की मात्रा बढेगी और दूसरी ओर बेरोजगारी के कारण निर्धन व्यक्तियो के त्याग की मात्रा में वृद्धि हो जाएगी । फलस्वरूप त्याग की मात्रा भविष्य मे वर्तमान की अपेक्षा अधिक हो जाएगी और भविष्य में समाज का कल्याण अधिकतम होने के स्थान पर न्यूनतम हो जाएगा ।

दूसरे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के त्यागो का ऐसी रीति से त्याग करना अत्यन्त कठिन है कि कुल त्याग न्यूनतम हो ।

तीसरे त्याग एक भावात्मक विचार है अत त्याग को नाप सकना असम्भव-सा है । फिर कर के रूप मे एक रुपये का भुगतान करने से एक व्यक्ति को जो त्याग करना पडता है वह सम्भव है कि केवल उसकी आय पर ही निर्भर न हो, बल्कि कुछ अन्य परिस्थितियो जैसे उसके परिवार के आकार आदि पर निर्भर हो यहाँ तक कि यदि इन परिस्थितियो के लिए कुछ भता भी दिया जाए तो इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कर देने की सामर्थ्य केवल आय की मात्रा पर ही निर्भर नहीं होती वरन् आय के स्रोत और प्रकृति पर भी निर्भर होती है । वास्तव मे सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय और काम करके प्राप्त होने वाली आय के बीच तथा स्थिर रहने वाली आय और घटने-बढने वाली आय के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर है ।

चौथे, यदि इस सिद्धान्त को पूर्णत लागू किया जाए और फलस्वरूप सभी व्यक्तियो को एक निश्चित स्तर तक घटा दिया जाए तो इससे गतिशील कराधान को कोई प्रोत्साहन न मिलकर 'सर्वस्व अपहरण' (Confiscation) को बढावा मिलेगा । लाभ तथा आय के कराधान पर नियुक्त ब्रिटिश शाही आयोग (British Royal Commission on Taxation of Profit and Income) के शब्दों मे, "न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त केवल ऐसी स्थिति के अतिरिक्त और कहीं लागू नहीं हो सकता जो कि इसके सैद्धान्तिक परिणाम से बहुत दूर ही आगे का मार्ग बन्द कर देती है ।"

यह कहा जा सकता है कि न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त कर के अच्छे और बुरे परिणामों की ओर ध्यान नहीं देता । यह सैद्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम है । प्रो पीगू का विचार है कि त्याग की अपेक्षा करो के अच्छे परिणामो की ओर ध्यान देना चाहिए ।

2. वस्तुगत अथवा बाह्य दृष्टिकोण से (Objectively)—चूँकि त्याग या व्यक्तिगत सिद्धान्त को लागू करने मे अनेक गम्भीर कठिनाइयाँ सामने आती है, अत कुछ लेखको ने विशेषकर अमेरिका में, कर अदा करने की सामर्थ्य को जाँचने के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण का आश्रय लिया है । इस दृष्टिकोण में वे मनुष्य की भावनाओं एव त्याग की ओर ध्यान नहीं देते वरन् मनुष्य की बाह्य बातें से करदेय-शक्ति का पता लगाते है । इन अर्थशास्त्रियो ने करदेय-योग्यता के स्थान पर करदेय-सामर्थ्य शब्दों का प्रयोग किया है । इन लेखको के अनुसार, मनुष्य की करदेय-सामर्थ्य को चार आधारों से जाना जा सकता है—(क) मनुष्य का उपभोग स्तर या व्यय, (ख) सम्पत्ति, (ग) आय एवं (घ) पारिवारिक आकार ।

(क) उपभोग स्तर या व्यय—किसी व्यक्ति का उपभोग या उसका व्यय करदेय-योग्यता का अच्छा माप है। जिस व्यक्ति का जितना अधिक व्यय हो, उससे उतना ही कर वसूल किया जाना चाहिए। हॉब्स, मिल आदि का मत था कि करारोपण उपभोग अथवा व्यय की मात्रा के अनुसार लगाया जाना चाहिए। प्रो निकोल्स काल्डर का मत है कि न्यूनतम सीमा के बाद जिस व्यक्ति का व्यय जितना अधिक हो, उस पर उतना ही करारोपण होना चाहिए। यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि धनी व्यक्ति का व्यय निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक होता है, अत अधिक व्यय करने वाले व्यक्ति में करदेय-योग्यता अधिक होती है। वास्तव में करदान-योग्यता को नापने का यह आधार व्यावहारिक रूप से उचित नहीं है। उपभोग को आधार मानकर हम करारोपण को न्यायसगत नहीं बना सकते क्योंकि—

प्रथम, किसी एक मनुष्य का अधिक व्यय इस बात का निश्चय सूचक नही होता कि उसकी करदेय-क्षमता अधिक है। उदाहरणार्थ एक बडे परिवार का व्यय छोटे परिवार की अपेक्षा अधिक होता है, लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि बडे परिवार की करदेय-योग्यता भी अधिक है।

दूसरे, उपभोग के अनुसार कर लगाने से व्यक्तियों को अपना उपभोग कम करना पडेगा। फलस्वरूप शनै -शनै उनकी कार्यक्षमता कम हो जाएगी और अन्तत देश के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा, अत स्पष्ट है कि मनुष्य के उपभोग स्तर या व्यय को करदेय-क्षमता का न्यायसगत आधार नहीं माना जा सकता।

(ख) सम्पत्ति—सम्पत्ति को कुछ लेखकों ने करदेय-योग्यता का अधिक अच्छा आधार बताया है। इसके अनुसार जिस मनुष्य के पास जितनी अधिक सम्पत्ति हो उससे उतना अधिक कर लेना चाहिए। मनुष्य की सम्पत्ति यह प्रकट करती है कि समाज में उसकी स्थिति कैसी है ? जिसके पास जितनी अधिक सम्पत्ति होती है वह उनता ही धनी समझा जाता है। जो अधिक धनी होता है उसकी कर देने की योग्यता अधिक होती है। इस प्रकार सम्पत्ति करदाता की करदेय-योग्यता नापने का एक सबल साधन बन सकता है, परन्तु वास्तव मे किसी मनुष्य की सम्पत्ति को करदेय-क्षमता का उचित आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि—

प्रथम, करदेय-क्षमता को नापने में सम्पत्ति हमेशा आधार नहीं हो सकती। कभी-कभी तो सम्पत्ति के आधार पर करदाता की करदेय-योग्यता का बिल्कुल पता नहीं लग पाता। उदाहरणार्थ समाज मे अनेक ऐसे व्यक्ति होते है जो पहले से ही धनी होते है और जिनकी आय यद्यपि अधिक होती है लेकिन मितव्ययी नहीं होने के कारण उनकी कोई सम्पत्ति नहीं होती। यदि सम्पत्ति को दृष्टि में रखकर करदेय-योग्यता का अनुमान लगाया गया तो ऐसे सम्पत्तिहीन व्यक्तियों की करदेय-योग्यता शून्य होगी जबकि आय के आधार पर इनकी करदेय-क्षमता बहुत बढी हुई होगी। वास्तव मे उक्त स्थिति मे सम्पत्ति को कर देने की योग्यता का आधार मानना मितव्ययिता पर कर लगाना होगा जिसके प्रभाव अनार्थिक हो सकते हैं।

द्वितीय, यह सम्भव है कि समान आकार वाली सम्पत्तियो से समान आय प्राप्त न हो। किसी एक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से कम आय प्राप्त होती है जबकि दूसरे व्यक्ति को उतनी सम्पत्ति से अधिक आय प्राप्त हो सकती है अत ऐसी स्थिति मे दोनों की समान सम्पत्ति होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी करदेय-योग्यता समान है। इस तरह सम्पत्ति का आधार भ्रामक हो सकता है।

तृतीय, सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति की करदेय-क्षमता का अन्य कारण से भी अनुचित अनुमान लगाया जा सकता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पाँच मकान है जिनका मासिक किराया 200 रुपये है और दूसरे व्यक्ति के पास केवल एक मकान है जिसका मासिक किराया भी 200 रु है। इस स्थिति में सम्पत्ति के आधार पर पहले व्यक्ति की करदेय-क्षमता अधिक है और दूसरे की कम जबकि वास्तविकता यह है कि दूसरे व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिए क्योंकि उसको सम्पत्ति से अधिक आय प्राप्त होती है।

चतुर्थ, सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य ऑकना बडा कठिन है।

पचम, सम्पत्ति के आधार पर एक परिणाम यह भी हो सकता है कि एक ओर तो करारोपण अन्यायपूर्ण हो जाए तथा दूसरी ओर व्यक्ति देश मे सम्पत्ति एकत्रित करने के लिए निरुत्साहित हों और अमितव्ययी हो जाएँ।

इस प्रकार सम्पत्ति का आधार भी न्यायसगत नहीं है।

(ग) आय—*कुछ विद्वान् 'आय मुद्रा' को कर देने की योग्यता का उचित आधार मानते है और* आजकल करारोपण का यही आधार है। ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर अधिक कर लगाया जाता है और नीची आय वालों पर या तो कर लगता ही नहीं है या नीची दर पर कर लगाया जाता है। दूसरे शब्दों मे, कह सकते है कि कर देय क्षमता आय के बढने के साथ-साथ बढती है और आय के घटने के साथ-साथ कम हो जाती है परन्तु मौद्रिक आय को करदेय-क्षमता का सन्तोषप्रद प्रमाण नहीं कहा जा *सकता, क्योकि*—

प्रथम दो व्यक्तियो की मौद्रिक आय समान अर्थात् बराबर होते हुए भी उनकी करदेय क्षमता अलग-अलग हो सकती है। एक के दायित्व दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकते है।

द्वितीय कुछ व्यक्ति आय अपने परिश्रम से अर्जित करते है तो कुछ व्यक्तियो को आय अपनी पैतृक सम्पत्ति से प्राप्त होती है अत ऐसी दशा में कर की दर दोनों व्यक्तियो पर समान नहीं हो सकती।

इन्हीं कठिनाइयो को देखते हुए लॉर्ड स्टैम्प ने कहा है कि अन्य आधारो की तुलना मे आय का आधार करदेय क्षमता का एक सर्वोत्तम प्रमाण है।

आधुनिक कर प्रणाली मे उपरोक्त सभी बिन्दुओं को ध्यान में रखा जाता है। अब प्रश्न यह है कि करदेय-क्षमता को नापने के लिए व्यक्तिगत अथवा वस्तुगत दोनो दृष्टिकोणो मे से कौनसा दृष्टिकोण *अधिक उपयुक्त है ? करदेय-क्षमता नापने के वस्तुगत आधार ही अधिक उपयुक्त है क्योकि व्यक्तिगत* आधार करदाता के त्याग पर निर्भर करता है और त्याग की भावना मानसिक स्थिति से सम्बन्धित होती है अत उसे मापा नही जा सकता। यह ध्यान रहे कि करदेय-क्षमता सिद्धान्त के दोनो ही दृष्टिकोणो मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और यह कह देना अपर्याप्त है कि देश मे कर लोगो की कर देने *की योग्यता के अनुसार होना चाहिए। वास्तव मे इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह* करारोपण और करदेय-क्षमता के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कोई उचित माध्यम प्रदान नहीं करता है। न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त इस दिशा मे अपूर्ण है। दोनो ही सिद्धान्तों मे यह कमी है किन्तु यह सकेत अवश्य होता है कि करारोपण पद्धति प्रगतिशील होनी चाहिए।

निष्कर्षत यह स्पष्ट है कि लोगो में करो के भार का वितरण किस प्रकार किया जाए ? इस *समस्या का अन्य सब सिद्धान्तो से अधिक विश्वास तथा निश्चित हल करदेय-योग्यता का सिद्धान्त ही* प्रस्तुत करता है। यहाँ भी कुछ मर्यादाओं का ध्यान रखना होता है। जहाँ तक व्यवहार में करारोपण की नीतियो का सम्बन्ध है वे [illegible] किसी एक कर सिद्धान्त के आधार पर निर्मित नहीं की जाती है। कहीं पर लाभ तथा करदेय क्षमता के सिद्धान्तो को मिला दिया जाता है तो कहीं पर आय प्राप्ति के उद्देश्य को *सर्वाधिक महत्व दिया जाता है और करदेय-क्षमता के सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी जाती है। अत यह* कहना उचित है कि व्यावहारिकता की दृष्टि से सभी सिद्धान्त अपने-अपने स्थान पर उचित भी है और अनुचित भी। किसी कर प्रणाली की न्यायशीलता केवल इसी बात पर आधारित नहीं होती कि कर-भार का वितरण कैसा हो बल्कि इस पर निर्भर करती है कि कराधान का उत्पादन, वितरण और देश मे *रोजगार के स्तर आदि पर कैसा प्रभाव पड रहा है।*

आधुनिक मत : अधिकतम कल्याण का सिद्धान्त
(Modern View : Maximum Welfare Principle)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कर-भार के उचित वितरण के लिए न्याय सिद्धान्त के स्थान पर कल्याण सिद्धान्त को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। पीगू ने कल्याण को ध्यान मे रखकर समान सीमान्त *त्याग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। एजवर्थ ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह विचार* प्रकट किया है कि व्यक्तियो द्वारा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपभोग की गई वस्तुओं पर उनकी आय का वितरण इस प्रकार होना चाहिए जिससे कि वास्तविक अधिकतम कल्याण की प्राप्ति हो साथ ही कल्याण मे क्षति कम से कम हो। यह सभी जानते है कि आय की प्रत्येक वृद्धि से प्राप्त होने वाली *उपयोगिता कम होती है अत लोगों का कल्याण अधिकतम तभी हो सकता है जब सभी व्यक्तियो की*

आय समान हो अर्थात् उसकी सीमान्त उपयोगिताएँ समान हो। इस प्रकार एजवर्थ के अनुसार करारोपण नीति को समान सीमान्त त्याग के आधार पर आधारित करने के उपरान्त समाज को अधिकतम कल्याण प्राप्त हो सकता है।

पीगू ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अधिकतम औसत कल्याण करने के लिए न्यूनतम औसत त्याग के सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिए। उनका कथन है कि "सभी इससे सहमत है कि सरकार की क्रियाओं का नियमन इस तरह होना चाहिए कि उससे नागरिको का कल्याण अधिकतम हो। यही सरकार की सम्पूर्ण कानून प्रणाली की कसौटी है और करारोपण के क्षेत्र मे यही न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त है।" सिजविक और मार्शल समान त्याग के सिद्धान्त को अच्छा मानते थे। समान त्याग सम्बन्धी सिद्धान्त का सबसे बडा दोष यह है कि उसके द्वारा यह ज्ञात नही हो पाता कि सभी व्यक्तियो को वास्तविक सन्तोष समान मात्रा मे मिल रहा है अथवा नहीं। पीगू ने इसी आधार पर सिजविक के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया किन्तु वे इस बात का कोई प्रमाण नही दे सके है और केवल इतना ही कह कर रह गए * कि न्यूनतम औसत त्याग का सिद्धान्त करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त है तथा इसकी उपयुक्तता के विषय मे उसकी मानसिक चेतना ही बता सकती है।

इसके बाद पीगू ने करारोपण के वितरण पहलू का अध्ययन किया है। उन्होंने बताया कि न्यूनतम औसत त्याग प्राप्त करने के लिए करो का वितरण इस भाँति करना चाहिए कि सभी करदाताओं को भुगतान के लिए किए गये कर की सीमान्त उपयोगिता समान हो। इसका आशय यह है कि समाज को सभी सदस्यो द्वारा किया गया सीमान्त त्याग समान है न कि कुल त्याग। इसलिए कर-प्रणाली का निर्धारण ऐसा होना चाहिए कि न्यूनतम आय की सीमा के ऊपर वाली सभी आयो पर कर का निर्धारण ऐसी दर से हो कि कर लागू होने के बाद सभी आय समान हो जाए। दूसरे शब्दो मे सरकार सबसे पहले सबसे ऊँची आय पर कर लगाए। तत्पश्चात् मध्य आय वाले वर्गों पर कर लगाए और निम्नतम आय वाले वर्गों को उस समय तक सहायता दे जब तक कि सभी आयो मे समानता स्थापित नहीं हो जाती अत व्यवहार मे सबसे अधिक कर भार समाज मे ऊँची आय वाले वर्ग को सहन करना होगा अर्थात् अधिकाशत प्रगतिशील एव प्रतिगामी करो का उपयोग होगा। वास्तव मे कर-भार के वितरण के सम्बन्ध मे न्याय के लिए यह आवश्यक है कि करो का भार उन्ही व्यक्तियो को वहन करना पडे जो उसको सहन करने योग्य हो लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था मे इसका प्रभाव ठीक नहीं होगा और इससे व्यवसायी वर्ग में उत्पादन में वृद्धि के प्रति निरुत्साह व्याप्त होगा। अत यह आवश्यक है कि न्यूनतम औसत त्याग प्राप्त करने के लिए करारोपण मे इस ढग से परिवर्तन किया जाए कि उत्पादन करने की इच्छा पर विपरीत प्रभाव न पडे।

7

एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता में करापात

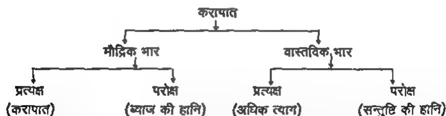
(The Incidence of Taxation under Monopoly and Perfect Competition)

सार्वजनिक वित्त के सम्बन्ध मे करापात (Incidence of Taxation) और कर-विवर्तन (Shifting of Taxes) का बड़ा महत्त्व है। व्यावहारिक दृष्टि से यह ज्ञात करना आवश्यक है कि कर का भार किस व्यक्ति को सहन करना पड़ रहा है ? करों के भार का न्यायपूर्ण वितरण इसी धारणा से सम्बन्धित है। करापात की समस्या मे हम इन प्रश्नो पर विचार करते है कि कर का भुगतान वास्तव मे कौन कर रहा है ? क्या करापात उसी व्यक्ति पर पड़ रहा है जिस पर कर लगाया गया है ? अथवा क्या करापात सभी व्यक्तियों पर समान है या असमान। करापात की समस्या इसलिए उठती है कि कर का भार सदैव उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता जिससे वह वसूल किया जाता है। जिन व्यक्तियों पर कर का भार पड़ता है वे स्वय उसे सहन नहीं करते बल्कि दूसरों पर डाल देते है जिससे यह भार दूसरे लोगो को सहन करना पड़ता है। इसे कर-विवर्तन कहते है। कर-विवर्तन वह क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वय पर लगाए गए करों को दूसरों पर टाल देते हैं। करापात से अभिप्राय प्रत्यक्ष मौद्रिक-भार (Direct Money Burden) से होता है।

करापात का अर्थ

(Meaning of Incidence of Taxation)

करारोपण से करदाता को कष्ट होता है। कर के रूप मे एक भार उस पर आ पडता है। कर लगाने की क्रिया के फलस्वरूप जो भार या परिणाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर पड़ता है, वह निम्नानुसार हो सकता है—



कर के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से आशय उस भार से है जो कर चुकाने मे करदाता के ऊपर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। कर का परोक्ष या अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार करदाता पर सीधा न पड़ कर परोक्ष रूप से पड़ता है जब वस्तुओं पर कर लगाया जाता है तो उपभोक्ताओं को वस्तुओं का मूल्य कर की मात्रा से अधिक चुकाना पड़ता है। वह अतिरिक्त मौद्रिक भार कर का अप्रत्यक्ष या परोक्ष मौद्रिक भार है। होता यह है *कि यदि किसी वस्तु पर विक्रेता कर देता है तो उस कर को उपभोक्ता को विवर्तन (Shift) करने* में कुछ समय लगता है। अत विक्रेता उस वस्तु का मूल्य कर की राशि के अतिरिक्त उस पर हस्तान्तरण की अवधि के ब्याज के रूप में बढा देता है। यह ब्याज की राशि उपभोक्ता पर अतिरिक्त मौद्रिक भार होती है।

कर का वास्तविक भार भी होता है जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से सहन करना पडता है। जब उपभोक्ता को करारोपण से वस्तु का मूल्य बढ जाने से उस वस्तु पर अधिक व्यय करना पडता है जिसके कारण उसका त्याग बढ जाता है तो यह कर प्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। दूसरी ओर जब किसी वस्तु का मूल्य बढ जाने से उपभोक्ता को बाध्य होकर उसका उपभोग कम करना पडता है तो उसकी सन्तुष्टि मे कमी आ जाती है और यह कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार है।

डाल्टन ने कर के जो उक्त चार प्रकार के प्रभाव बताए है उन्हे ठीक-ठीक समझने के लिए एक उदाहरण ले सकते है। तम्बाकू पर लगा हुआ कर पहले ही उत्पादको अथवा व्यापारियो से वसूल किया जा सकता है। यदि लोग तम्बाकू के मूल्य को कर की मात्रा के बराबर बढाते है तो कर का भार प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ता पर पडेगा। उसे तम्बाकू के मूल्य के रूप मे पहले से अधिक धन देना होगा और हम कहेगे कि कर का भार उपभोक्ता पर पड रहा है तथा कराघात (Impact) उत्पादको पर लेकिन यदि उत्पादको अथवा थोक व्यापारियो ने कर के रूप मे कुछ हजार रुपये सरकारी खजाने में जमा करा दिए हैं और वे लोग मूल्य मे वृद्धि करके इस धन को उपभोक्ताओं से कुछ महीनो या वर्षों मे अपना सम्पूर्ण स्टॉक बढाकर वसूल कर पाएँगे तो उन्हे उस धन पर जब तक वह व्यापार मे लगा हुआ है और लौटकर नहीं आ जाता है ब्याज की हानि होगी और इस हानि को कर का अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार कहा जाएगा। उपभोक्ता को कर के कारण उस वस्तु पर अधिक धन व्यय करना पडेगा और इस कारण उसका त्याग बढ जाएगा यह कर प्रत्यक्ष वास्तविक भार कहलाएगा। तम्बाकू पर अधिक व्यय करके अथवा मूल्य बढाने के कारण उसके उपभोग मे कमी करने से उपभोक्ता की सन्तुष्टि मे हानि होगी। उसको अब यह वस्तु कम मात्रा मे उपभोग के लिए प्राप्त होगी या किन्हीं और वस्तुओं मे उसे कमी करनी पडेगी। यह कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार होगा।

राजस्व के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष मौद्रिक भार (Direct Money Burden) को ही करापात कहते हैं शेष अन्य प्रकार के कर प्रभावो को करापात के अन्तर्गत नहीं लिया जाता। इस प्रकार करापात के सम्बन्ध में तीन तथ्य प्रकट होते है—

(क) करापात मौद्रिक भार है करारोपण से पडने वाले अन्य प्रभावो से यहाँ प्रयोजन नहीं है

(ख) करापात प्रत्यक्ष होना चाहिए एव

(ग) करापात उस व्यक्ति पर पडता है जिससे कर वसूल किया गया है अथवा वस्तु के क्रेता या विक्रेता पर पडता है।

इस प्रसग मे श्रीमती हिक्स के विचार उल्लेखनीय है। उन्होंने औपचारिक (Formal) और प्रभावयुक्त (Effective) करापात के बीच भेद बताया है। इनका उपरिक (Formal) करापात डॉल्टन के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से मिलता-जुलता है अर्थात् उनके अनुसार कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार ही कर का उपरिक भार है। श्रीमती हिक्स के अनुसार अर्थशास्त्र मे हम करदाताओं पर पडने वाले करो के भार को दो धारणाओं से सम्बद्ध कर सकते है। प्रथम उस राशि की सांख्यिकीय गणना से जिसके अनुसार किसी विशेष अवधि (साधारणतया एक वर्ष) मे किसी विशेष कर से आय प्राप्त की जाती है अर्थात् वस्तु का बाजार मूल्य जिस पर कर निर्धारित किया गया है और उसकी उत्पादन लागत के बीच का अन्तर नागरिको मे विभाजित किया जाता है अथवा वैकल्पिक व्यक्तियो की आय का वह अनुपात जो उन लोगो को आय प्रदान नहीं करता जो उन्हे वस्तुएँ या सेवाएँ प्रदान करते है अपितु प्रशासनिक संस्थाओं को सामूहिक सन्तुष्टियो के वित्तीय प्रबन्ध को दिया जाता है। इस गणना के परिणाम को कर का औपचारिक भार (Formal Incidence) कहते है।

दूसरी ओर श्रीमती हिक्स ने प्रभावपूर्ण करापात का अर्थ कर के विस्तृत प्रभावो से लगाया है। इस प्रकार के अध्ययन मे करो से होने वाली प्रतिक्रियाओं और प्रभावो का पता नही चलता अत प्रभावपूर्ण भार के अध्ययन की आवश्यकता होती है। उन्होने कर के विस्तृत प्रभावो का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी कर के सम्पूर्ण आर्थिक परिणामो का पता लगाने के लिए हमे दो चित्र बनाने होगे व उनकी तुलना करनी होगी—एक वह आर्थिक स्थिति (उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं आयों का वितरण और साधनो का विभाजन) जो विशिष्ट कर के लागू होने से होती है और दूसरी ओर वह आर्थिक

स्थिति जो कर के अभाव मे पैदा होती है। तात्पर्य यह है कि कर के प्रभाव मौद्रिक ही नही बल्कि विभिन्न प्रकार से पडने वाले और विस्तृत होते है।

करापात को समझने के लिए निम्नलिखित अन्तर समझ लेना आवश्यक है—

(क) करापात और कराघात मे अन्तर (Distinction between Incidence and Impact of a Tax)—जब कोई कर लगाया जाता है तो वह जनता के किसी वर्ग से वसूल किया जाता है। जो व्यक्ति या संस्था सर्वप्रथम सरकार को कर देती है उस पर कराघात होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति वास्तव मे कर का भार सहन करता है उस पर कर के भार का करापात (Incidence) होता है। सरकार के रेकार्ड मे करदाताओं की पंजीकृत सूची मे उस व्यक्ति का नाम होता है जिस पर कर का कराघात होता है। जिस व्यक्ति पर करदेयता होती है उसकी आय मे से ही कर की रकम सरकारी खजाने मे जमा होती है। यदि यह व्यक्ति सरकारी खजाने मे जमा की जाने वाली कर की रकम को किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियो से वसूल कर लेता है तो यह कहा जाएगा कि प्रथम व्यक्ति पर कर का दबाव या कराघात है लेकिन इस कर का भार दूसरे व्यक्ति पर है। अत करापात प्राय उस व्यक्ति पर होता है जिसकी आय कम होती है। यदि व्यक्ति कर को दूसरो पर नही डाल सके तब करापात और कराघात दोनो इसी व्यक्ति पर होगे।

उदाहरणार्थ—मान लीजिए सरकार ने एक दुकान से उसके माल पर 50 रु कर वसूल किया। यहाँ कर का भार या करापात दुकानदार पर होगा। यदि दुकानदार वस्तु का भाव बढाकर खरीददार से 50 रु वसूल कर लेता है तो वह कर-भार खरीददार पर पडेगा। यदि दुकानदार वस्तु का मूल्य न बढा पाए और उसे ही 50 रु सहन करने पडे तो ऐसी स्थिति मे करापात और कराघात (Impact) दोनो ही दुकानदार पर पडेगे।

इस प्रकार कर-भार से आशय उस व्यक्ति या व्यक्तियो की खोज से है जो अन्तिम रूप से कर के रूप मे हानि उठाते हैं। प्रो पीगू ने लिखा है जो धन सरकारी कोष मे पहुँचता है वह किसकी जेब से निकलता है अथवा यदि कर के रूप मे सरकार उसे न लेती तो वह धन किसी की जेब मे सुरक्षित रहता है। अत करापात के अन्तर्गत यह ज्ञात किया जाता है कि कर-विवर्तन के कारण क्या है और यह किस सीमा तक किया जाता है। करापात उस व्यक्ति पर होता है जो इसे और किसी पर टाल नहीं सकता।

(ख) करापात और कर के प्रभाव मे अन्तर (Distinction between Incidence and Effect of Tax)—करापात और कर के प्रभाव दोनो मे अन्तर है। करापात से तो केवल यह स्पष्ट होता है कि करदाता पर मौद्रिक भार कितना पडा है अथवा कर की राशि का भुगतान कौन कर रहा है? इसके विपरीत कर के प्रभाव का अर्थ बहुत विस्तृत रूप से लगाया जाता है। कर के प्रभाव मे इन दोनो बातों पर अध्ययन किया जाएगा कि करारोपण से करदाता के उपभोग बचत तथा कार्य करने की इच्छा व शक्ति वस्तुओं के मूल्य आदि पर किस प्रकार के प्रभाव पड रहे है? क्या किसी कर से वस्तु का उपभोग और बचत हतोत्साहित हुई अथवा प्रोत्साहित हुई? क्या वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि हुई अथवा नहीं हुई तथा इन मूल्य परिवर्तनो से उत्पादक की बिक्री पर तथा उपभोक्ता की उपभोग की मात्रा पर क्या-क्या प्रभाव पडा? इन समस्त समस्याओं का अध्ययन कर के प्रभावो के अन्तर्गत किया जाता है। संक्षेप में हम कह सकते है कि करापात के अन्तर्गत केवल करो के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार का अध्ययन किया जाता है जबकि कर के प्रभाव के अन्तर्गत करों से उत्पन्न होने वाले समस्त प्रकार के आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक परिणामो तथा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है।

(ग) करापात और कर विवर्तन मे भेद (Distinction between Incidence and Shifting of Tax)—कर-भार से आशय केवल यह है कि कर की राशि का भुगतान वास्तव मे कौन करता है अथवा किसी करदाता पर कर का मौद्रिक भार कितना पडता है। इसके विपरीत कर-विवर्तन (कर को टालना या कर को अन्तरित करना) का अर्थ है करदाता द्वारा कर के भार को दूसरे व्यक्तियो पर टालना। इस तरह कर-विवर्तन वह क्रिया है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति करो का भार दूसरे व्यक्ति अथवा विभिन्न व्यक्तियों पर डाल देता है। सरकार को कर की निर्धारित राशि कर-भार पडने वाले एक व्यक्ति से मिल जाती है लेकिन वह व्यक्ति मूल्य बढाकर या किसी अन्य ढग से इसको दूसरो पर डाल देता है।

वास्तव में विवर्तन करदाता की क्षतिपूर्ति है। वह अपनी उस हानि अथवा त्याग को, जो सरकार को कर देने में हुआ है दूसरो से पूरा करता है।

यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य में बिना परिवर्तन किए अर्थात् वस्तु का मूल्य बढ़ने की अपेक्षा वस्तु की मात्रा या गुणो मे कमी करके कर-भार विवर्तित किया जा सकता है लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करना अनैतिक होगा और वस्तु पुराने मूल्य पर ही किन्तु कम मात्रा मे देने का वास्तविक अर्थ उस वस्तु का मूल्य बढ जाना ही होगा। खरीददार को पहले वाली मात्रा और उसी गुण की वस्तु प्राप्त करने के लिए अब पूर्वापेक्षा अधिक मूल्य देना पड़ेगा।

करापात की समस्या के अध्ययन का महत्त्व

(Importance of the Study of the Problem of Incidence of Taxation)

आधुनिक युग मे करारोपण के बढते हुए महत्त्व के सन्दर्भ में यह जानना बहुत आवश्यक है कि किसी कर का भार समाज के विभिन्न वर्गों पर किस प्रकार पड़ रहा है। प्राचीन काल मे करारोपण का एकमात्र उद्देश्य आय प्राप्त करना माना जाता था। अत उस समय करापात के अध्ययन का कोई महत्त्व नहीं था लेकिन आज करारोपण का उद्देश्य केवल आय प्राप्ति ही नहीं है वरन् धन के असमान वितरण को कम करना, उसका उत्पत्ति पर पड़ने वाले प्रभावों को रोकना और सामाजिक-आर्थिक क्रियाओं का नियमन करना भी है। करारोपण की न्यायशीलता इस पर निर्भर है कि उसका भार लोगों पर उनकी करदेय-क्षमता के अनुसार पडे और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक हमे यह पता न लग जाए कि वस्तुत: विभिन्न करो का मौद्रिक भार किन-किन व्यक्तियों पर पड रहा है। इससे यह जानकारी मिलती है कि कर प्रणाली करदेय सिद्धान्त (Principle of Ability to Pay) के अनुरूप है अथवा नहीं।

वास्तव मे कर-विवर्तन के कारण करापात जानने की समस्या जटिल हो जाती है। कर लगाते समय सरकार का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष पर कर-भार डालने का होता है, लेकिन कर-विवर्तन के कारण कर-भार वास्तव मे किसी दूसरे वर्ग पर हो जाता है और सरकार अपने उद्देश्य को पाने में असफल रहती है। करारोपण में कर-विवर्तन की क्रिया इतनी तीव्र होती है कि यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि अमुक कर का भार विभिन्न व्यक्तियों पर कितना पड़ रहा है। प्रत्यक्ष करों में कर-विवर्तन कठिनता से हो पाता है अत उनके पड़ने वाले करापात की जानकारी सुगमता से की जा सकती है। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष करो में कर-विवर्तन शीघ्र व अधिक होता है। करापात की समस्या के अध्ययन में आने वाली कुछ मुख्य कठिनाइयाँ इस प्रकार है—

1. मूल्यों में उच्चावचन—वस्तुओं के मूल्यो में सदा उतार-चढाव होते रहते हैं जिससे वास्तविक कर-भार का सही पता नहीं लग पाता। वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करारोपण के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होती है, जैसे—वस्तु का अत्यधिक निर्यात, मजदूरी मे वृद्धि आदि। ऐसी दशा में यह पता लगाना कठिन होता है कि मूल्य-वृद्धि किस कारण हुई है? यदि यह वृद्धि अशत: करारोपण से और अशत: अन्य कारणो से हुई है तो यह निश्चय करने की समस्या पैदा होती है कि करारोपण के कारण मूल्यों में कितनी वृद्धि हुई?

2. कर-भार एक तुलनात्मक विचार—कर-भार का पता लगाने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अलग-अलग व्यक्तियो पर पडने वाला कर-भार क्या है और उनकी पारस्परिक तुलना करके यह ज्ञात करना होता है कि किस व्यक्ति या वर्ग-विशेष पर कर का भार अधिक व कम पड रहा है। स्पष्ट है कि किसी वर्ग-विशेष पर पडने वाले करापात के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता है कि यह व्यक्ति पर दूसरे की अपेक्षा कर का भार अधिक या कम पड़ रहा है। प्रो. केनन ने लिखा है कि "जो व्यक्ति कर का भुगतान करते है उनको कर के लगाने से, उन व्यक्तियों की तुलना में जो कर का भुगतान नहीं करते, कम हानि उठानी पडती है। एक व्यक्ति जो पुल पर लगे हुए पुल कर (Bridge Toll) से बचने के लिए प्रतिदिन दो मील का चक्कर लगा कर जाता है, उसको इस कर के हटने से अधिक लाभ होगा अपेक्षाकृत उन व्यक्तियो के जो कर का भुगतान करते है।

3. व्यवहार मे करापात और कर-प्रभाव मे अन्तर बताना कठिन—कर-भार और कर के प्रभावों में सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर किया जा सकता है लेकिन व्यवहार में इन दोनों के मध्य अन्तर कर पाना कठिन है। कर-भार का अध्ययन करना भी असुविधापूर्ण है। इसके अतिरिक्त करापात के अध्ययन से यह आवश्यक नहीं है कि करापात का वितरण न्यायपूर्ण हो जाए। सरकार किसी कर से सम्बन्धित कर-भार और कर-विवर्तन का अध्ययन करके ऐसे उपाय अपना सकती है कि उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाए अर्थात् कर-भार ऐसे व्यक्तियों पर ही पडे जिन पर वह इसे डालना चाहती है। किसी देश का *वित्तीय सुदृढ सचालन तथा सर्वमुखी विकास इस तथ्य पर आधारित है कि वहाँ कर-भार का सही* अध्ययन कर समाज पर उसका उचित वितरण किया जाए और करारोपण के प्रभावों का अध्ययन तभी सम्भव है जब हम कर-भार ज्ञात कर लें। सैलिगमैन ने स्पष्ट लिखा है "यह कर-भार निश्चित कर लेने पर सम्भव है कि हम करो के विस्तृत प्रभावों पर विचार कर सकें।

कर-विवर्तन : अर्थ एव विशेषताएँ
(Shifting of Tax : Meaning and Characteristics)

कर-विवर्तन वह क्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति स्वय पर लगाए गए कर-भार को अन्य व्यक्तियों पर डाल देता है। प्रत्येक व्यक्ति कर के भार को टालने की कोशिश करता है। वह इस कार्य में कभी सफल और कभी असफल हो पाता है। सफल न होने की स्थिति में उसे कर-भार स्वय ही वहन करना पडता है। उदाहरणार्थ यदि सरकार श्रमिको की मजदूरी पर कर लगा देती है तो श्रमिक मालिकों से अधिक मजदूरी की माँग करेगे और कर को मालिक के ऊपर डालने की कोशिश करेंगे। यदि मालिक मजदूरी में वृद्धि कर देता है तो वह उसे वस्तुओं के मूल्य पर लगा देगा और कर-भार को उपभोक्ताओं से प्राप्त करने की कोशिश करेगा। इस प्रकार मजदूरी मे वृद्धि का भार उपभोक्ताओं पर आ पड़ेगा। कुछ कर इस प्रकार के होते हैं कि उनका कर-भार केवल एक बिन्दु तक ही विवर्तित हो पाता है। यदि किसी क्षेत्रीय दुकानदार पर कर लगाया जाए तो दुकानदार कर का भार उपभोक्ताओं पर टाल देता है लेकिन उपभोक्ता इसे किसी के ऊपर नहीं टाल सकते। यदि विवर्तन नहीं होता है तो कर-भार और कराघात दोनों एक ही व्यक्ति पर पडते हैं।

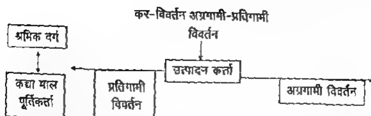
कर-विवर्तन की महत्वपूर्ण विशेषताएँ—कर-विवर्तन की आधारभूत विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(क) एक अथवा अनेक बिन्दुओं पर विवर्तन—जब कभी कर का भार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर, दूसरा तीसरे पर तीसरा चौथे पर और चौथा पाँचवे पर हस्तान्तरित करता रहता है तो कहा जाता है कि कर का विवर्तन कई बिन्दुओं पर हुआ। उदाहरण के लिए मिल-मालिक उत्पादन-कर के भार को वस्तु के मूल्य में वृद्धि करके थोक विक्रेता पर ढकेल देता है थोक विक्रेता इसे फुटकर विक्रेता पर डाल देता है और फुटकर विक्रेता अन्तत इसे उपभोक्ता पर डाल देता है। इस तरह कई बिन्दुओं पर कर-विवर्तन होता है लेकिन जब कभी वस्तु पर कर लगाकर व्यापारियो द्वारा उपभोक्ता पर ढकेल दिया जाता है और पुन आगे नहीं ढकेला जाता तब इसे एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर कर-विवर्तन कहते हैं।

(ख) कर विवर्तन की रीतियाँ—कर-विवर्तन दो प्रकार का हो सकता है—(i) अग्रगामी विवर्तन (Forward Shifting) तथा (ii) प्रतिगामी विवर्तन (Backward Shifting)।

अग्रगामी विवर्तन में कर के भार को आगे की ओर ढकेला जाता है। उदाहरण के लिए व्यापारी वस्तु पर लगे कर को उपभोक्ताओं पर ढकेल दे। यदि वह कर के भार को उपभोक्ताओं पर डालने में असफल हो जाता है तो कर को आगे की ओर ढकेलना कहा जाता है।

प्रतिगामी विवर्तन में कर को पीछे की ओर ढकेला जाता है। कभी-कभी व्यापारी या उत्पादनकर्त्ता यह अनुभव करता है कि यदि वस्तु का मूल्य बढा दिया जाएगा तो बिक्री कम हो जाएगी अथवा ग्राहक असन्तुष्ट हो जाएँगे। ऐसी स्थिति मे वह उन उत्पादक कार्यकर्त्ताओं की मजदूरी कम करके कर-भार को उन पर हस्तान्तरित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का विवर्तन कर को पीछे की ओर ढकेलना अर्थात् प्रतिगामी विवर्तन कहा जाता है। कर-विवर्तन की इन रीतियों पर दिशाओं को हम अग्रांकित चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं—



उल्लेखनीय है कि सौमर्स (Somers) ने कर-विवर्तन को समय के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया है—(i) बाजारकालीन विवर्तन, (ii) अल्पकालीन विवर्तन एवं (iii) दीर्घकालीन विवर्तन। बाजारकालीन विवर्तन, वर्तमान पूर्ति की कीमत में परिवर्तन करके किया जाता है। अल्पकालीन विवर्तन तब होता है जब साधनों द्वारा होने वाली भावी पूर्ति की कीमत में परिवर्तन करके विवर्तन किया जाए। इसके विपरीत यदि स्वयं उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में परिवर्तन करके विवर्तन किया जाता है तो इसे दीर्घकालीन विवर्तन कहा जाता है।

(ग) कर-विवर्तन [redacted] स्वरूप—कर-विवर्तन के दो रूप हो सकते हैं—प्रथम व्यापारी कर की मात्रा के बराबर वस्तु का मूल्य बढ़ा कर कर-भार को उपभोक्ताओं पर ढकेल देता है और द्वितीय, इस प्रयत्न में सफल न होने पर वे कर की मात्रा के मूल्य के बराबर वस्तु के गुण या मात्रा अथवा दोनों में कमी कर देते हैं।

(घ) कर-विवर्तन की मात्रा—व्यापारी कर की समस्त रकम उपभोक्ताओं पर टाल देता है या उत्पादकों पर, परन्तु इसमें सफलता न मिलने पर कर का भार उत्पादकों, उपभोक्ता और व्यापारी तीनों को ही सहन करना पड़ता है।[15]

कर-विवर्तन और कर-वंचन में भेद

(Distinction between Shifting and Evasion of Tax)

लोग भ्रमवश कर-विवर्तन को कर-वंचन समझने लगते हैं, परन्तु इन दोनों में अन्तर है। कर-विवर्तन का अर्थ है कि करदाता कर के भार को दूसरे व्यक्ति पर डाल देता है जबकि कर-वंचन का अर्थ है कि करदाता ऐसी विधि अपनाता है जिससे उसे कर नहीं देना पड़े। इन दोनों के बीच का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) कर-विवर्तन के अन्तर्गत सरकार को राजस्व की हानि नहीं होती जबकि कर-वंचन में सरकार को हानि होती है।

(ii) कर-विवर्तन में कर-भार किसी न किसी को सहना पड़ता है लेकिन कर-वंचन में कर-भार सहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कर-वंचन एक अवांछनीय गतिविधि है और भ्रष्टाचार का एक अंग है। कर-वंचन की दो विधियाँ हो सकती हैं—(क) वैध विधि, जैसे कोई व्यक्ति चोरी से स्विट्जरलैण्ड से घड़ी मँगाकर उसका उपयोग [redacted] न करे तो कानूनी कर से बच सकता है, एवं (ख) अवैध विधि, जैसे यदि कोई व्यक्ति स्विट्जरलैण्ड से घड़ियाँ लेकर बिना आयात कर दिए हुए भारत में चोरी से लाता है या कोई व्यक्ति आय को छिपा कर आय कर से बचना चाहता है तो यह अवैधानिक कर-वंचन है। करदाता हिसाब-किताब झूठा प्रदर्शित करके अथवा कर-निर्धारण अधिकारी को घूस देकर सरकार को पूरा कर नहीं देता और पूर्ण अथवा आंशिक कर-भार से छुटकारा पा जाता है। स्पष्ट है कि कर-वंचना एक बेईमानी है लेकिन कर-विवर्तन नियम के अन्तर्गत ईमानदारी से स्वाभाविक रूप में किया गया कृत्य है। इसमें कर की पूर्ण राशि का सरकार को भुगतान किया जाता है, केवल कर-भार करापात द्वारा अन्य व्यक्ति पर डाल दिया जाता है।

यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाए तो कर-वंचन और कर-विवर्तन दोनों ही बुरे हैं। कर-विवर्तन में भी नैतिकता का पतन होता है और कर-वंचन में भी लेकिन कर-विवर्तन को उस समय अनैतिक नहीं कहा जा सकता जब सरकार इसी उद्देश्य से ही करारोपण लागू करती है कि कर का विवर्तन किया जाए और अप्रत्यक्ष रूप से वांछित व्यक्तियों को ही कर-भार सहन करना पड़े।

कर-भार के कुछ प्राचीन सिद्धान्त
(Some Earlier Theories of Incidence of Taxation)

कर-भार के अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते रहे हैं किन्तु प्राचीन सिद्धान्तों में से निम्नलिखित दो सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं—

1. कर का सकेन्द्रण सिद्धान्त (Concentration Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रेन्च निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों ने किया था जिन्हें निर्बाधावादी (Physiocrats) कहा जाता है। उनका कहना था कि कोई कर किसी भी व्यक्ति पर और चाहे कहीं भी लगाया जाए किन्तु अन्तत वह करदाताओं के एक विशेष वर्ग भूमिपतियों (जमींदारों) पर केन्द्रित होने लगता है अथवा उन्हीं की ओर खिचने लगता है। निर्बाधावादियों (Physiocrats) का विश्वास था कि केवल कृषि ही एक उत्पादक व्यवसाय है और अन्य सभी उद्योग तथा व्यवसाय अनुत्पादक हैं। केवल कृषि से ही शुद्ध उपज पैदा होती है। चूँकि अन्य वर्गों के लोग शुद्ध उत्पादन (Net Product) नहीं कर पाते अत ये कर भी अदा नहीं कर सकते और परिणामस्वरूप वे कर-भार को अन्य व्यक्तियों पर डाल देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। केवल कृषक ही धन के अतिरेक (Surplus Wealth) में से कर अदा कर सकते हैं जिसका कि वे निर्माण करते हैं। निर्बाधावादियों ने बताया कि कृषकों के अलावा अन्य व्यक्तियों पर जो कर लगाए जाएँगे उनका अन्तरण या विवर्तन (Shifting) अन्य व्यक्तियों की ओर ही होगा। केवल कृषकों पर लगाए गए करों का ही और आगे विवर्तन नहीं हो सकता। करों के विवर्तन या पुनर्विवर्तन (Shifting and Re shifting) की निरन्तर प्रक्रिया के द्वारा सभी कर अन्तत कृषकों या भूमिपतियों पर ही केन्द्रित हो जाते है तथा इसके बाद और आगे इन करों का विवर्तन नहीं हो सकता। चूँकि सभी कर अन्त में जाकर भूमि की शुद्ध आय पर केन्द्रित हो जाते है अत केवल भूमि पर ही कर लगाना उचित है। यह मितव्ययिता की दृष्टि से उचित है कि कर को अप्रत्यक्ष रूप से भूमिपतियों या कृषकों पर ही लगाया जाए।

निर्बाधावादियों ने अपने उक्त तर्कों के आधार पर जिस एक स्तरीय कर का समर्थन किया उसे 'Imot Clinique' कहते थे। उनका यह विचार चाहे तत्कालीन परिस्थितियों में कुछ उपयोगी रहा हो लेकिन आज के युग में इसका कोई महत्त्व नहीं है। आज केवल भूमि ही करारोपण का एक मात्र साधन नहीं है और कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय भी उत्पादक होते हैं। यदि भूमि पर ही करारोपण किया जाएगा तो बड़ी-बडी आय वाले अन्य व्यक्ति करारोपण से बच जाएँगे। ऐसा होना समाज में धन के वितरण की असमानताओं में वृद्धि करेगा जो अन्यायपूर्ण होगा। निर्बाधावादियों के इस सिद्धान्त में केवल एक ही गुण है कि कर का भुगतान आधिक्य-आय से चाहता है अन्यथा सब दृष्टियों से यह सिद्धान्त अमान्य है।

2. कर का प्रसरण सिद्धान्त (Diffusion Theory)

कर के सकेन्द्रण सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत एक अन्य प्राचीन सिद्धान्त है कर का प्रसरण या विकेन्द्रण सिद्धान्त। इस सिद्धान्त को केनार्ड फ्रेंच लेखकों ने प्रस्तुत किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार कर-विवर्तन उस समय तक होता रहता है जब तक वह सारे समाज पर न छा जाए। कर चाहे किसी भी व्यक्ति पर लगाया जाए प्रत्येक सौदे के द्वारा यह क्रेता और विक्रेता के बीच उस समय तक बढता ही रहता है जब तक यह समान रूप से सम्पूर्ण समाज में फैल न जाए। चूँकि कर का अन्तत प्रभाव सभी पर पडता है इसलिए इसमें भेदभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। केनार्ड ने कर लगाने की तुलना मनुष्य की किसी एक नाडी या नस में से कुछ रक्त निकालने से की है। इसने कहा है "यदि किसी व्यक्ति की नस में से खून निकल जाए तो केवल उसी नस में खून की कमी नहीं होती बल्कि सारे शरीर में खून की कमी हो जाती है।

स्पष्ट है कि कर के प्रसरण सिद्धान्त में इसका कोई महत्त्व नहीं है कि प्रारम्भ में किस व्यक्ति पर कर लगाया गया है और यह कितना न्याय तथा अन्यायपूर्ण है क्योंकि बारम्बार किए जाने वाले सौदों और समन्वयों के बाद कर की अन्यायशीलता स्वय समाप्त हो जाती है और कर का भार समान रूप से बँट जाता है। दूसरे शब्दो मे सम्पूर्ण समाज मे कर-भार समान रूप से फैल जाता है और इस स्थिति में किसी व्यक्ति

का कर-भार अन्य व्यक्ति के मुकाबले भारी या हल्का नहीं होता। इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जाता है कि 'एक पुराना कर कर नहीं है।[1] क्योकि पुराने कर का भार अन्तत विवर्तित होकर सम्पूर्ण समाज पर फैला होता है और लोग उसके अभ्यस्त होकर उसके मनोवैज्ञानिक एव मौद्रिक भार को भूल जाते है। प्रसरण सिद्धान्त के समर्थकों का यह तर्क है कि कर-भार के सिद्धान्त के अध्ययन से कोई लाभ नहीं क्योकि करो का विवर्तन द्वारा विकेन्द्रित होना एक स्पष्ट सत्य है। प्रसरणवादी अपने सिद्धान्त के समर्थन मे चाहे कुछ भी कहे आधुनिक अर्थशास्त्री निम्न आधारो पर इसे अमान्य ठहराते है—

(i) यद्यपि कुछ हद तक कर प्रसार हो सकता है लेकिन इसको स्वाभाविक और अनिवार्य मान लेना सर्वथा अनुचित है। बहुत से प्रत्यक्ष कर जैसे—आय-कर उत्तराधिकार कर ऐसे होते है जिनमे विवर्तन सामान्यत सम्भव नहीं होता।

(ii) यह सिद्धान्त इस अव्यावहारिक मान्यता पर आधारित है कि बाजार मे पूर्ण तथा मुक्त प्रतियोगिता पाई जाती है।

(iii) यह मानना उचित नहीं है कि भार का वितरण समान रूप से समाज के सभी व्यक्तियो पर होता है। इसके अतिरिक्त कर-विवर्तन के लिए कुछ विशेष परिस्थितियो की आवश्यकता होती है।

इसमे केवल एक गुण है कि इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर भार का सही सही पता लगाना सम्भव नहीं होता।

यदि हम कर के केन्द्रण सिद्धान्त और प्रसारण सिद्धान्त की तुलना करे तो दोनो ही सिद्धान्तों में कुछ समानता दिखाई देती है। दोनो सिद्धान्त यह स्वीकार करते है कि कर का भुगतान लोगो की आय-आधिक्य में से किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि निर्बाधावादी (Physiocrats) केवल भूमि उपज को आधिक्य मानते हैं जबकि प्रसरण सिद्धान्त के प्रवर्तको का कहना है कि केवल भूमि से आधिक्य उपज प्राप्त नहीं होती बल्कि प्रत्येक वस्तु से आधिक्य आय उत्पन्न होती है। जहां निर्बाधावादी केवल भूमि पर अकेले कर के पक्षपाती थे वहाँ फ्रासीसी लेखक अर्थात् प्रसरण सिद्धान्तवादियों ने सभी प्रकार के करों को उपयुक्त बताया है। यदि इन दोनो सिद्धान्तो को व्यक्तिगत रूप में देखे तो न तो निर्बाधावादियो का विचार ही उपयुक्त है और न प्रसरण सिद्धान्त ही मान्य है।

कर-भार का आधुनिक सिद्धान्त : निर्धारक तत्त्व

(Modern Theory of Incidence : Determining Factors)

आधुनिक लेखको ने अर्थ और मूल्य के विश्लेषण को कर भार की समस्या अध्ययन पर लागू किया है। कर-भार या कर का विवर्तन जिन तत्त्वों से शासित होता है वे इस प्रकार है—

(i) **विनिमय कार्य होना अथवा मूल्यो का आदान प्रदान होना**—कर-भार का आधुनिक सिद्धान्त इस पर जोर देता है कि कर का विवर्तन विनिमय द्वारा होता है। पुराने सिद्धान्तों की भाँति आधुनिक सिद्धान्त भी यही मानता है कि कर का भुगतान केवल आधिक्य या अतिरेक में से ही किया जा सकता है और जब किसी व्यक्ति को कोई आधिक्य नहीं मिलता तो वह कर-भार को टालने का प्रयास करता है। आधिक्य या अतिरेक न होने की स्थिति मे कर का विवर्तन उस समय तक होता रहेगा जब तक परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न न हो जाएँ कि उसको आधिक्य प्राप्त होने लगे। यदि किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जा रहा हो कि उसके क्रेता और विक्रेता दोनो को आधिक्य या बचत प्राप्त हो रही हो तो कर-भार दोनो पर पडेगा।

कर-भार का आधुनिक सिद्धान्त यह मानता है कि कर उत्पादन लागत का एक अग है। जिस प्रकार श्रमिकों और पूँजीपतियो को मजदूरी तथा ब्याज दिया जाता है उसी प्रकार सरकार को कर दिया जाता है। अत वस्तु का मूल्य इतना होना चाहिए जिससे कर की राशि का भुगतान किया जा सके। यदि वर्तमान मूल्यों से कर की पूर्ति हो जाती है तो इसका अभिप्राय यही है कि वर्तमान मूल्यो पर आधिक्य प्राप्त हो रहा था। यदि कर का भुगतान वर्तमान मूल्यो से नही हो पाता तो इस स्थिति मे वृद्धि तब तक जारी रहेगी जब तक कि कर का भुगतान पूरा-पूरा न होने लगे। यदि मूल्य मे वृद्धि थोडी-सी होती है तो कर का कुछ अश क्रेताओं को सहन करना होगा और शेष अश विक्रेता सहन करेगे।

1 'An old tax is not tax

यह स्पष्ट है कि किसी कर-भार का विवर्तन तभी सम्भव है जब विनिमय-कार्य होता है अथवा जब वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का आदान-प्रदान होता है। यदि मूल्य का आदान-प्रदान नहीं होता तो कर-विवर्तन नहीं हो सकता। वह व्यक्ति जिस पर कर लगाया गया है सदैव अपने कर-भार को दूसरों पर टालने की चेष्टा करता है। इस क्रिया को प्राय वह वस्तु के मूल्यों मे वृद्धि करके ही सम्पन्न करता है। अत यदि वस्तु के मूल्य का आदान-प्रदान हो जाता है तब तो करदाता कर-भार का विवर्तन करने मे सफल हो जाता है और यदि विनिमय-कार्य सम्पन्न नहीं होता तो कर-विवर्तन नहीं कर पाता और कर-भार उसे स्वय को सहना पडता है।

(ii) **कर की प्रकृति**—करदाता कितना कर दूसरो पर विवर्तित कर सकता है अथवा कर क्रेता और *विक्रेता पर कितने-कितने अश मे पडेगा यह कई बातो पर निर्भर करता है जैसे—कर की प्रकृति* उत्पादन की परिस्थितियाँ वस्तु की माँग आदि। कर की प्रकृति से आशय है कि कर किसी वस्तु पर लगाया जाता है या आय पर या सम्पत्ति पर या उत्पादन अथवा विक्रय पर।

(iii) **उत्पादन की परिस्थितियाँ**—कर-विवर्तन वस्तु के उत्पादन की परिस्थितियों पर निर्भर करता है जैसे वस्तु का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता में हो रहा है या एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में और उत्पत्ति का कौन-सा नियम लागू हो रहा है अर्थात् उत्पादन के बढते हुए या घटते हुए या स्थिर नियमों में से किसके अन्तर्गत हो रहा है।

(iv) **माँग व पूर्ति की लोच**—कर-भार का निर्माण माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है अर्थात् यह देखना होता है कि वस्तु की माँग की लोच कैसी है? इसी तरह वस्तु की पूर्ति की लोच किस प्रकार की है? वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार (Elastic Supply) होती है व्यवसायी वस्तु की पूर्ति को घटाकर और इसके मूल्य को बढाकर कर-भार को क्रेताओं पर ढकेलने में अधिक सफल हो पाता है लेकिन यदि वस्तु की माँग लोचदार (Elastic Demand) होती है तो क्रेता माँग की चेष्टा करते है और माँग जितनी अधिक होती है क्रेता कर-भार को उल्टा ढकेलने में उतना ही अधिक सफल होता है। अत *करारोपित वस्तु के विक्रेता कर-भार को क्रेताओं पर ढकेलने का प्रयत्न करते है और क्रेता इसे* विक्रेताओं पर वापस डालने की चेष्टा करते है। इसके परिणामस्वरूप कर-भार वस्तुओं के क्रेताओं और विक्रेता की सापेक्षिक सौदा करने की शक्ति (Relative Bargaining Powers) के अनुसार दोनों पक्षों पर डाला जाता है। स्पष्ट है कि वस्तु करो मे क्रेता-विक्रेताओं की यह सौदा-शक्ति (Bargaining Power) वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करती है।

(v) **स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता**—कर-भार स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता से शासित होता है। यदि कर लगी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुएँ सुलभ होती है तो कर-भार प्राय विक्रेताओं पर पडता है और यदि स्थानापन्न वस्तुएँ सुलभ नहीं होती है तो कर-भार क्रेताओं पर पड़ा करता है।

(vi) **कर की मात्रा**—यदि कर की मात्रा कम होती है तो उत्पादक अथवा विक्रेता इस भार को स्वय वहन कर लेता है और यदि कर की मात्रा अधिक होती है तो कर-भार क्रेताओं पर पडता है। बडी *मात्रा में लगाया गया कर प्राय क्रेता और विक्रेता दोनों पर ही किसी न किसी अनुपात मे पड़ता है।*

(vii) **श्रम व पूँजी की गतिशीलता**—यदि श्रम और पूँजी गतिशील है तो कर-भार उपभोक्ताओं पर पडा करता है और यदि वे गतिशील नहीं है तो कर-भार स्वय उत्पादको को वहन करना पडता है।

(viii) *अन्य परिस्थितियाँ—कर-भार एव कर-विवर्तन सम्बन्धी समस्या पर कुछ अन्य बातों का* प्रभाव पडता है जैसे जिस क्षेत्र मे कर लागू किया गया है उसका आकार तथा कर-धारा की प्रवृत्ति विभिन्न प्रकार की दरें कर का मौलिक दबाव एव राजकोषीय नीति। यदि कर बहुत ऊँचा होता है तो कर-भार का विवर्तन होना कठिन हो जाता है। एक विशेष क्षेत्र मे लगे हुए उत्पादन-कर का भुगतान करने से लोग बच सकते है यदि वे उसी वस्तु को अन्य स्थान से खरीदने का निश्चय कर ले।

स्थानीय दरों की अपेक्षा सम्पूर्ण देश पर लगे हुए कर-भार का विवर्तन सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसका कारण यह है कि उनमे एकरूपता होती है और वे एक विस्तृत क्षेत्र मे लागू किए जाते हैं। उन करों का भार जिनका आधार बडा विस्तृत होता है उन करो की अपेक्षा जो कुछ व्यक्तियों अथवा वस्तुओं पर लागू किए जाते है अपेक्षाकृत सरलता से टाला जा सकता है।

प्रगतिशील करों का विवर्तन इतना सरल नहीं होता, विशेषकर उस समय जब उनका भार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और संगठनों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़ रहा हो। वस्तुओं पर विशेष दरों से लगने वाले करों का भार हल्की किस्म और कम मूल्य वाली वस्तुओं पर अधिक पड़ता है इसीलिए कर-विवर्तन सरलता से नहीं किया जा सकता। कर की दरें जितनी ऊँची और सरल होती हैं, कर का विवर्तन प्रायः उतना कठिन होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह कर-भार से बचना चाहता है।

कर-विवर्तन किस सीमा तक हो सकता है, यह इस पर निर्भर करता है कि कर को किस समूह पर लागू किया गया है। उदाहरणार्थ, जो कर उत्पादकों पर लगता है उसका विवर्तन अपेक्षाकृत सरलता से हो जाता है। इसके विपरीत उपभोक्ताओं पर लगे हुए कर का विवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि वस्तुओं के क्रय-विक्रय में उपभोक्ताओं के बाद और कोई ऐसा व्यक्ति शेष नहीं बचता जिस पर करो का विवर्तन किया जा सके। कर-भार के विवर्तन की सीमा का निर्धारण राजकोषीय नीति से भी होता है। कभी-कभी सरकार करापात के विवर्तन को वैधानिक और अनिवार्य घोषित कर देती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में करापात

(Incidence of Tax Under Perfect Competition)

करापात व कर-विवर्तन में आधुनिक विचार और निर्धारक तत्वो पर समीक्षा के बाद मुख्य श्रेणियों के करों के लिए विवर्तन की प्रक्रिया (Process of Shifting of Tax) पर विचार करेंगे।

वास्तव में कर एक भार है अत. प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में करारोपण होने पर उसका भार क्रेता और विक्रेता परस्पर एक-दूसरे पर टालने का प्रयास करते है। पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेता और विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक हुआ करती है, अत कोई एक विक्रेता अपने निजी प्रयत्नो से वस्तु के मूल्य में परिवर्तन नहीं कर पाता क्योंकि वह तो कुल पूर्ति का एक थोड़ा-सा भाग ही उत्पन्न कर रहा होता है। इसके फलस्वरूप पूर्ण-प्रतियोगिता की अवस्था में प्रत्येक उत्पादक को प्रचलित बाजार मूल्य पर ही अपनी वस्तु बेचनी पडती है। जब कभी सरकार किसी वस्तु पर कर लगा देती है तो व्यापारी अथवा उत्पादक वस्तु का मूल्य बढाकर उसे उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न करते हैं और उपभोक्ता इसे व्यापारियों एवं उत्पादकों पर ढकेलने का प्रयत्न करते हैं। कर विवर्तन मुख्य रूप से तीन तत्वों पर निर्भर करता है—

(1) वस्तु की माँग व पूर्ति लोच (Elasticity of Demand and Supply)

(2) कर का स्वरूप (Coverage of Taxation)

(3) समय (Time Period)

ये दोनों वर्ग अपने-अपने प्रयत्नो में कहाँ तक सफल होते है यह सफलता निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करती है—

(1) वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच

किसी वस्तु पर लगाए गए कर का भार किस अंश तक क्रेता पर और किस हद तक विक्रेता पर पड़ेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच कैसी है।

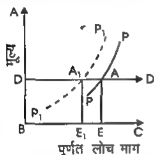
(क) माँग की लोच—जब किसी वस्तु पर कर (बिक्री-कर अथवा उत्पादन-कर) लगता है तो इससे वस्तु की लागत अधिक हो जाती है। उत्पादक अथवा विक्रेता इस कर या लागत को पूरा करने के लिए वस्तु के मूल्य में वृद्धि करने का प्रयत्न करता है। उत्पादक अपने इस प्रयत्न में सदैव सफल होता है कि नहीं, यह अंशतः वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करती है।

अन्य बाते समान रहने पर, वस्तु की माँग जितनी अधिक बेलोचदार होती है, कर-भार का उतना ही अधिक अंश क्रेता पर पड़ता है अर्थात् यदि वस्तु ऐसी है कि उसके मूल्य में वृद्धि हो जाने पर भी उसकी माँग में और कमी नहीं होती, तो विक्रेता उत्पादन मूल्य में वृद्धि करके करापात को पूर्णतया क्रेताओं पर डालने में सफल हो जाते हैं। इसके विपरीत अन्य बाते समान रहने पर वस्तु की माँग जितनी अधिक लोचदार होती है कर का उतना ही अधिक भार विक्रेता को वहन करना पडता है, अर्थात् मूल्य में तनिक वृद्धि हो जाने पर वस्तु की माँग मे भारी कमी हो जाती है और वस्तुओं पर कर लग जाने

पर विक्रेता उनका मूल्य नहीं बढा पाते हैं क्योंकि उन्हें भय रहता है कि मूल्य-वृद्धि से कहीं माँग में भारी कमी न आ जाए और उन्हे अत्यधिक हानि उठानी पडे।

इस तरह स्पष्ट है कि कर लगी वस्तु की माँग जितनी अधिक लोचदार होगी कर का उतना ही अधिक भार विक्रेता पर पड़ेगा और इसके विपरीत करारोपित वस्तु की माँग जितनी कम लोचदार होगी, कर का उतना ही अधिक भार क्रेताओं पर पडेगा। यही कारण है कि अनिवार्यताओ, जैसे—नमक, गेहूँ आदि तथा अत्यधिक मूल्यवान वस्तुओं, जैसे—जेवर, ऊँचे मूल्य के बर्तनों आदि पर करारोपण करके कर-भार पूर्णत उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है क्योंकि कर से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाने पर भी उपभोक्ताओं की इन वस्तुओं की माँग पूर्ववत् बनी रहेगी। इसके विपरीत साइकिल, फाउण्टेन पैन आदि आरामदायक वस्तुओं तथा रेडियो आदि कुछ विशेष विलासिता की वस्तुओं पर लगा हुआ कर प्राय. उपभोक्ताओं पर विवर्तित नहीं हो पाता बल्कि इस भार को व्यापारियों और उत्पादको को स्वय सहना पड़ता है क्योंकि मूल्य-वृद्धि होने से इन वस्तुओं की माँग घट जाती है। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब वस्तु की माँग की लोच के अनुसार कर-भार आशिक रूप से उपभोक्ता और आशिक रूप से विक्रेता दोनों पक्षों को सहना पडता है। इस सम्पूर्ण स्थिति को निम्न रेखाचित्रों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है—

चित्र 1. पूर्णतः लोचदार माँग—*इस स्थिति में वस्तु पर लगे कर का पूर्ण भार विक्रेताओं को* सहन करना पड़ता है, क्योंकि मूल्य वृद्धि से वस्तुओं की माँग के कम होने की सम्भावना होती है।



चित्र 1

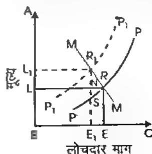
प्रस्तुत चित्र में DD पूर्ण लोचदार माँग की रेखा है। करारोपण से पूर्व मूल्य AE था और करारोपण के बाद भी मूल्य वही रहा है, अर्थात् A_1E_1। हाँ, वस्तु की बिक्री अवश्य BE से कम होकर BE_1 रह गई है। इस स्थिति से स्पष्ट है कि कर-भार पूर्णरूप से विक्रेताओं को सहन करना पडता है। व्यावहारिक जीवन मे यह स्थिति देखने को नहीं मिलती।

चित्र 2 लोचदार माँग—इस स्थिति में विक्रेता माँग की लोच की सीमा तक तो कर-भार स्वय वहन कर लेता है किन्तु इसके बाद वह वस्तु के मूल्य में वृद्धि कर देता है।

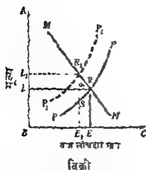
प्रस्तुत चित्र मे करारोपण R_1S के कारण मूल्य RE से बढकर R_1E_1 हो गया है। माँग केवल लोचदार होने से वस्तु की बिक्री भी BE से कम होकर BE_1 हो गई है, लेकिन उतनी कमी नहीं हुई है जितनी चित्र 1 में हुई थी। प्रकट है कि ऐसी स्थिति में विक्रेता कर को पूर्णरूप के मूल्य में सम्मिलित न करते हुए कर-भार का अधिकाश अश स्वय वहन करेगा और बहुत कम भार क्रेताओं पर डालेगा। इस प्रकार चित्र के अनुसार कर का RN भाग क्रेताओं को तथा NS भाग जो R_1N में अधिक है विक्रेताओं को देना होगा।

चित्र 3. कम लोचदार माँग—ऐसी माँग की स्थिति में कर लगाने पर विक्रेता कर-भार को अधिक मात्रा में वस्तु के मूल्य में शामिल कर लेने में समर्थ हो जाता है और कर-भार को अधिक मात्रा में क्रेताओं पर डाल देता है।

इस चित्र में करारोपण (RS) के कारण वस्तु का मूल्य RE से बढ़कर R_1E_1 हो गया है, लेकिन माँग कम लोचदार होने से वस्तु की मात्रा BE से घटकर BE_1 हो गई है, किन्तु यह बिक्री इतनी कम नहीं हुई है जितनी चित्र 1 और 2 में हुई थी। माँग में अधिक कमी न होने से चित्र में कर-भार R_1N क्रेताओं को देना है जबकि कर-भार *S (जो R_1N से कम है) विक्रेताओं को सहन करना है।*



चित्र 2

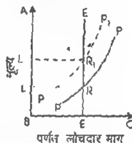


विक्री

चित्र 3

चित्र 4. पूर्णतया लोचदार माँग—इस स्थिति में कर लगाने पर कर-भार विक्रेता पूरी तरह से क्रेताओं पर डाल देता है। प्रस्तुत चित्र में L_1L करारोपण के कारण मूल्य RE से बढ़कर R_1E हो गया है जो ठीक कर की मात्रा है लेकिन वस्तु की माँग BE ही रही है जो पहले के समान है। अत विक्रेता सारा कर-भार क्रेताओं पर डालने में समर्थ है और क्रेता उसको सहन करते हैं। व्यावहारिक जीवन में यह स्थिति नहीं मिलती।

चित्र 5. विभिन्न प्रकार की वस्तु की माँग लोच—विभिन्न प्रकार की वस्तु की माँग की लोच के अन्तर्गत कर-भार का विवर्तन किस प्रकार होगा यह निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

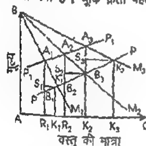


पूर्णत लोचदार माग

चित्र 4

निम्न चित्र में तीन माँग वक्र दिखाए गए हैं। M_3 बहुत लोचदार माँग वक्र है जबकि M_1 कम लोचदार माँग वक्र है। PP पूर्ति वक्र है जो कर लगने से पहले का है और P_1P_1 पूर्ति वक्र कर लगने के बाद का है।

प्रथम स्थिति में, जहाँ माँग कम लोचदार है करारोपण से पहले माँग एवं पूर्ति वक्र K_1 बिन्दु पर मिलता है तथा AK_1 वस्तु की मात्रा के लिए K_1K_1 कीमत लेते हैं। इस स्थिति में यदि A_1B_1 करारोपण किया जाता है तो पूर्ति वक्र उठकर P_1P_1 हो जाएगा और नया मूल्य A_1R_1 हो जाएगा। पुराने मूल्य में होने वाली वृद्धि को चित्र में A_1S_1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। चूँकि क्रेता पहले से ही K_1K_1 (अर्थात् R_1S_1) दे रहा है इसलिए उस पर कर-भार का अंश A_1S_1 पड़ेगा जबकि शेष भाग S_1B_1 विक्रेता को वहन करना पड़ेगा। दूसरी स्थिति में क्रेता पर कर-भार और भी कम है क्योंकि A_2S_2, A_1S_1 से कम है और विक्रेता पर कर-भार अधिक है। अत यदि एक पूर्णतया लोचदार माँग वक्र खींचा जाए तो ऐसी स्थिति में विक्रेता को ही सम्पूर्ण कर-भार वहन करना पड़ेगा। माँग की लोच कर-भार का जो प्रभाव पड़ता है उसके निष्कर्ष को हम निम्न रूप में प्रकट करते हैं—



वस्तु की मात्रा

चित्र 5

(i) वस्तु की माँग पूर्णत लोचदार होने पर कर-भार विक्रेता पर पड़ता है।

(ii) वस्तु की माँग पूर्णत बेलोचदार होने पर कर-भार क्रेता पर पड़ता है।

(iii) वस्तु की माँग जितनी अधिक लोचदार होती है कर-भार का उतना ही अधिक अंश विक्रेता पर पड़ता है।

(iv) वस्तु की माँग जितनी अधिक बेलोचदार होती है कर-भार का उतना ही अंश क्रेता पर पड़ता है।

(ख) पूर्ति की लोच—पूर्ति की लोच की दृष्टि से कर-भार की विवेचना में निम्न परिवर्तन दिखाई देंगे—

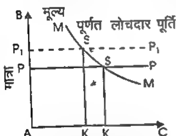
(i) पूर्ति वस्तु की वह मात्रा है जो किसी विशेष मूल्य पर विक्रेताओं द्वारा विक्रय हेतु प्रस्तुत की जाती है। अन्य बातें समान रहने पर यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार (Elastic Supply) होती है (यह गुण प्राय दीर्घकालीन बाजार में शीघ्र नष्ट न होने वाली वस्तु में पाया जाता है क्योंकि मूल्य-परिवर्तन के

अनुसार उत्पादन या व्यापारी घट-बढ कर सकते है) तो ऐसी स्थिति मे विक्रेता कर-भार को उपभोक्ता पर डालने में सफल हो जाते है परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता मे कोई उत्पादक वस्तु के मूल्य में वृद्धि नहीं कर पाता, अत: प्रश्न उठता है कि वह कर-भार को किस प्रकार उपभोक्ताओं पर डाल पाता है ? सरकार जब किसी वस्तु पर करारोपण करती है तो उत्पादन की दृष्टि से उसके उत्पादन व्यय का एक मद (Item) बन जाता है। इस कर से उत्पादन की लागत में वृद्धि हो जाती है। किसी वस्तु के सभी उत्पादक समान कुशलता के नहीं होते अर्थात् कुछ कुशल होते हैं जिनका उत्पादन-व्यय कम होता है कुछ बहुत कुशल होते है या सीमान्त उत्पादक होते है और इनका उत्पादन व्यय बहुत अधिक होता है। ऐसी स्थिति में करारोपण के कारण सीमान्त अर्थात् अकुशल उत्पादकों का लागत व्यय बढ जाता है और वे अपना उत्पादन-कार्य लम्बे समय तक नहीं चला पाते। फलस्वरूप करारोपण के कारण या तो वे अपने उत्पादन की मात्रा कम कर देते है या उत्पादन कार्य एकदम रोक देते है। ऐसा होने से बाजार में वस्तु की पूर्ति कम हो जाती है जिससे वस्तु के मूल्य में स्वत वृद्धि हो जाती है (यह मानते हुए कि वस्तु की माँग पूर्ववत ही है)। इस प्रकार मूल्य बढ जाने पर उत्पादक कर की राशि को पूर्णत या अशत उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं यानी कर का भार पूर्ण रूप में या आशिक रूप में क्रेताओं पर पडता है। यह स्पष्ट है कि पूर्ति मे जितनी कमी होगी कर-भार उतना ही अधिक मात्रा मे उपभोक्ताओं पर डाला जा सकेगा।

(ii) अन्य बातें समान रहने पर यदि वस्तु की पूर्ति बेलोचदार होती है यह गुण अल्पकालीन बाजार मे शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं में होता है क्योकि विक्रेता मूल्य परिवर्तन के अनुसार वस्तु की पूर्ति में घट-बढ नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति मे कर-विवर्तन नहीं हो सकता अर्थात् विक्रेता कर-भार को उपभोक्ताओं पर ढकेलने में सफल नहीं होता और कर-भार उसे स्वय ही सहना पडता है। ऐसे उद्योगों की वस्तुओं की पूर्ति बेलोच होती है जहाँ पूँजी का विनियोजन बहुत बडी मात्रा में होता है अथवा जहाँ अधिकाँश पूँजी अचल रूप मे होती है।

(iii) उपरोक्त परिस्थितियों के बीच क्रेता और विक्रेता पूर्ति के अनुसार कर-भार सहन करते हैं। करारोपण वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही अधिक मात्रा में कर-भार क्रेता पर डाला जा सकेगा और इसके विपरीत वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक बेलोचदार होगी कर-भार उतनी *अधिक मात्रा में विक्रेता को सहन करना होगा।*

रेखाचित्रों द्वारा स्पष्टीकरण—उक्त तीनो स्थितियों को हम रेखाचित्रो द्वारा भी स्पष्ट कर सकते है—

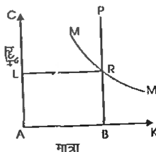


चित्र 6

चित्र 6. पूर्णत लोचदार पूर्ति—इस स्थिति में यदि कर की वस्तु की पूर्ति पूर्णत लोचदार है तो विक्रेता कर का सभी भार क्रेताओं पर डालने में समर्थ हो जाता है।

प्रस्तुत चित्र में PP रेखा पूर्णत लोचदार पूर्ति को प्रदर्शित करती है और P_1P_1 करोपरान्त पूर्ति की रेखा है। करारोपण PP_1 के कारण मूल्य SK से बढकर S_1K_1 हो गया है जो कर की मात्रा के समान है अत सम्पूर्ण कर-भार क्रेताओं पर पड रहा है।

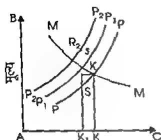
चित्र 7. पूर्णतया बेलोचदार पूर्ति—यह वह स्थिति है जिसमे कर का सम्पूर्ण भार विक्रेताओं पर पड़ता है। इस चित्र में P बेलोच पूर्ति की रेखा है। इसके अनुसार AB वस्तुएँ RB मूल्य पर बिकती है किन्तु कर लगाने से न तो वस्तु का मूल्य ही बढा है और न वस्तु की बिक्री ही कम हुई है अत सम्पूर्ण कर-भार विक्रेता पर पड़ रहा है।



चित्र 7

चित्र 8 पूर्णतया लोचदार और पूर्ण बेलोचदार पूर्ति के बीच की स्थिति—उक्त दोनों

परिस्थितियों के बीच क्रेता और विक्रेता पूर्ति के अनुसार कर-भार वहन करते हैं। सलग्न चित्र में जब पूर्ति कम लोचदार है (PP_1 वक्र) तो कर-भार अधिक मात्रा में (LS) विक्रेता पर पड़ रहा है और कर-भार का कम अश (LR_2) क्रेता को वहन करना पड़ रहा है। इसके विपरीत जब पूर्ति अधिक लोचदार है (P_2P_2) तो इस स्थिति में विक्रेता पर कर-भार अपेक्षाकृत कम (LS) हो जाता है और क्रेता को कर-भार अधिक (LR_2) सहन करना पड़ता है। पूर्ति के पूर्णतया लोचदार होने पर कर का सम्पूर्ण भार क्रेता पर ही पड़ता है जैसा कि पूर्ववर्ती रेखाचित्र 6 में बताया गया है।



चित्र 8

डॉल्टन ने माँग और पूर्ति की लोच का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि विक्रेता वस्तु की पूर्ति में कमी करके, कर के भार को क्रेताओं पर डालने का प्रयत्न करते हैं और क्रेता वस्तु की माँग में कमी करके इसको विक्रेताओं पर उल्टा फेकने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में जो अधिक योग्य होते हैं परिणाम उसी के अनुरूप होता है। एक दूसरे स्थान पर डॉल्टन ने लिखा है कि "पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे किसी भी करारोपित वस्तु का भार क्रेताओं और विक्रेताओं में क्रमश वस्तु की पूर्ति की लोच और उसकी माँग की लोच के अनुपात में विभाजित हो जाता है लेकिन जिस स्थान पर पूर्ति और माँग की लोच बराबर होती है वहाँ कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं दोनों पर समान रूप मे बँट जाता है अर्थात् वस्तु का मूल्य कर की आधी मात्रा के बराबर ही बढ़ता है।" प्रो. टेलर ने लिखा है कि—"किसी कर का विवर्तन होना प्रतिपक्षी की उस शक्ति पर निर्भर करता है जिसके द्वारा उसका विवर्तन रोका जा सकता है। यह रक्षात्मक शक्ति माँग और पूर्ति की लोच द्वारा प्रदर्शित होती है।"

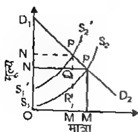
उल्लेखनीय है कि कर के भार का उक्त सिद्धान्त केवल आन्तरिक व्यापार पर ही लागू नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आयात-निर्यात करों के विषय में भी यह सिद्धान्त क्रियाशील होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तु पर आरोपित आयात-निर्यात करों का भार कौन-सा देश वहन करता है, यह इस पर निर्भर है कि दो देशों में किस वस्तु की माँग कम लोचदार है अथवा पूर्ति अधिक लोचदार है।

कर-भार का ज्यामितीय प्रदर्शन

(Geometrical Representation of Incidence of Tax)

डॉल्टन का विचार है कि कर-भार को पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में ज्यामितीय पद्धति द्वारा सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में उसने एक उदाहरण द्वारा इसका अकगणितीय मूल्य निम्नानुसार निर्धारित किया है—

मान लीजिए D_1D_2 किसी वस्तु विशेष (या सेवा) का माँग वक्र है S_1S_2 पूर्ति वक्र है, P M प्रति इकाई मूल्य है और P N समय की प्रत्येक इकाई पर बिकने वाली मात्रा है। जब वस्तु पर कराधान किया जाता है तो कर की राशि विक्रेताओं से वसूल की जाती है। माना कि $S_1'R_2'$ नया पूर्ति वक्र है $P'M'$ नया मूल्य है, $P'N'$ बिकने वाली नई मात्रा है, और $P'Q$ प्रति इकाई कर है। इस प्रकार मूल्य में $P'Q$ वृद्धि हो गई है और बिक्री $P'Q$ कम हो गई है। कर $P'R$ का सम्पात (भार) क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच बँट जाएगा। क्रेता $P'Q$ भार वहन करेगा और विक्रेता QR भार।



चित्र 9

$$\text{माना कि माँग की लोच है} \quad e_d = \frac{\frac{MM}{OM}}{\frac{P'Q}{PM}}$$

$$\text{और पूर्ति की लोच है} \quad e_s = \frac{\frac{MM}{OM}}{\frac{QR}{PM}}$$

$$\frac{P'Q}{QR} = \frac{e}{e_d}$$

दूसरे शब्दों में कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच पूर्ति की लोच के साथ माँग की लोच के अनुपात में बँट जाता है। यदि यही कर विक्रेताओं के स्थान पर क्रेताओं से वसूल किया जाए तो अन्तर सिर्फ यही होगा कि पूर्ति वक्र चढने के स्थान पर माँग वक्र नीचे गिरेगा।

यदि t प्रति इकाई कर है तो स्पष्ट है कि—

$$t = P'R = P'Q + QR$$

$$PQ = \frac{te_s}{e_d + e_s} \text{ और } QR = \frac{te_s}{e_d + e_s}$$

निम्नलिखित सीमान्त स्थितियाँ स्वयं स्पष्ट हैं—(क) पूर्णत लोचदार माँग की स्थिति में $D_1 D_2$ सरल रेखा होगी और P' तथा Q समबिन्दु होंगे जिससे P'Q का लोप हो जाएगा और मूल्य कर से अपरिवर्तित रहेगा हालाँकि बिक्री घट जाएगी। (ख) पूर्णत बेलोच माँग की स्थिति में $D_1 D_2$ उदग्र सरल रेखा होगी P_1 Q तथा R दोनों से समबिन्दु होगा और P'Q = t होगा जिससे मूल्य कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ जाएगा और बिक्री अपरिवर्तित रहेगी। (ग) पूर्ति पूर्णत लोचदार होने पर $S_1 S_2$ और $S_1 S_2$ दोनों समस्तर सरल रेखाएँ होंगी Q और R समबिंदु होंगे और P'Q = t होगा जिससे मूल्य कर की पूरी मात्रा के बराबर बढेगा और बिक्री घट जाएगी। (घ) पूर्ति के पूर्णत बेलोचदार होने पर $S_1 S_2$ उदग्र सरल रेखा होगी और $S_1 S_2$ उसके सम्पात होगी जबकि P P' Q और R सब एक ही बिन्दु पर स्थिति होंगे जिससे P'Q का लोप हो जाएगा मूल्य कर से अपरिवर्तित रहेगा और बिक्री भी अपरिवर्तित रहेगी।

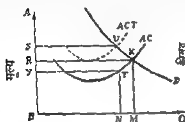
वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच विभिन्न तत्त्वों पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ पूर्णत बेलोचदार माँग की स्थिति व्यवहार में बहुत कम होती है लेकिन विलासिता की वस्तुओं की माँग काफी अधिक लोचदार होती है। अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की लोच बहुत कम होती है। अत यदि अन्य परिस्थितियाँ समान रहें तो आवश्यकता की वस्तुओं (Necessaries) पर करारोपण से उनके मूल्य में कहीं अधिक वृद्धि हो जाएगी अपेक्षाकृत इसके कि उतना ही कर विलासिता (Luxuries) की वस्तुओं पर लगाया जाए। जहाँ तक पूर्ति का सम्बन्ध है इसके बेलोचदार होने के उदाहरण अधिक प्रभावशाली हैं। वस्तु की पूर्ति की लोच उसके स्वभाव ज्ञान एवं समय पर भी निर्भर करती है। उदाहरणार्थ कृषि पदार्थों की पूर्ति की लोच आगामी फसल आने तक बेलोचदारी होती है। उन उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति की लोच कम होती है जिनमें स्थायी या अचल सम्पत्ति बड़ी मात्रा में लगी हुई होती है क्योंकि इतनी विशाल पूँजी को उत्पादक किसी अन्य उद्योग में सुगमता से नहीं लगा सकते और यह सम्भावना बनी रहती है कि कुछ अवधि तक वे हानि उठाकर उत्पादन चालू रखें। अल्पकाल में भी वस्तुओं की पूर्ति कम लोचदार होती है पर दीर्घकाल में इसकी प्रवृत्ति लोचदार हो जाती है क्योंकि उस समय करारोपित वस्तु उद्योग में विनियोग कम होने लगता है तथा पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में वह अन्य लाभकारी उद्योग में लगाया जाता है अत पूर्ति कम करके उत्पादक मूल्य वृद्धि द्वारा कर भार का विवर्तन करने में सफल हो सकता है।

I पूर्ण प्रतियोगिता में करारोपण (Taxation under Perfect Competition)

यह कहा जा चुका है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में करारोपण होने पर उत्पादक कम उत्पादन करने के लिए बाध्य हो जाता है और उसका कुल लाभ अथवा कुल बचत कम हो जाती है।

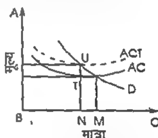
अतः एक प्रश्न उठता है कि क्या यह उचित होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में करारोपण ही न किया जाए ? प्रो. जे. के. मेहता ने इस प्रश्न पर विचार किया है और रेखाचित्रों के द्वारा अपने विचार प्रकट किये है।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विक्रेता केवल अपनी लागत ही प्राप्त कर पा रहा है, उसे कोई आधिक्य नहीं मिल रहा है। रेखाचित्र में AC औसत लागत वक्र है। बिन्दु रेखा वाली वक्र (Dotted Curve) ACT कर लगाने के बाद की स्थिति को इंगित करती है। KM करारोपण से पहले का और UN करारोपण से बाद का मूल्य है। SR दोनों ही स्थितियों में मूल्य-वृद्धि को प्रदर्शित करता है।



रेखाचित्र 1

करारोपण से जो हानि हुई है उसे SRKU से नापा गया है। यह वह मात्रा है जिसका त्याग उपभोक्ता को करना पड़ता है। दूसरी ओर इस कर से सरकार को जो लाभ-प्राप्ति या आय-प्राप्ति होती है। वह SYUT है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को होने वाली हानि रेखाचित्र 1 के अनुसार सरकार को प्राप्त होने वाले लाभ के बराबर है और इस स्थिति मे विक्रेता को कोई कर-भार वहन नहीं करना पड़ता है क्योंकि मूल्य-वृद्धि द्वारा वह अर्थात् कर-भार उत्पादक-उपभोक्ता पर ढकेल दिया है। स्पष्ट है कि यदि रेखाचित्र 1 की स्थिति है तो करारोपण किया जा सकता है लेकिन व्यवहार में ऐसी स्थिति नहीं होती।



रेखाचित्र 2

रेखाचित्र 2 में सरकार को प्राप्त होने वाले लाभ और करारोपण से उपभोक्ताओं को होने वाली हानि में ऋणात्मक सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि रेखाचित्र 2 की स्थिति मे बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत माँग-वक्र पूर्ति-वक्र को निम्नतम बिन्दु पर काटती है और इस परिस्थिति मे सरकार को प्राप्त होने वाले लाभ की अपेक्षा उपभोक्ताओं को अधिक हानि सहनी पड़ती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में करारोपण से समाज की कुल हानि में वृद्धि होती है लेकिन यह कहना वस्तुत: कठिन है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादित और बिक्री की जाने वाली वस्तु पर करारोपण किया ही नहीं जाना चाहिए। वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर-भार की समस्या को केवल माँग और पूर्ति के दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए, बल्कि इसकी अन्य बातों का अध्ययन भी किया जाना आवश्यक है।

2. स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता (Availability of Substitutes)

यदि किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तु सुलभ हो और यदि वस्तु पर कर लगाने से इसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो उपभोक्ता करारोपित वस्तु का उपभोग कम या बन्द कर देंगे और इसके स्थान पर स्थानापन्न वस्तु का उपभोग आरम्भ कर देंगे। इस स्थिति में कर-भार उत्पादक अथवा विक्रेता को ही वहन करना पड़ेगा। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे और मूल्य-वृद्धि कर करारोपित वस्तु का कर-भार क्रेता पर डालना चाहेंगे तो लोग स्थानापन्न वस्तु का उपभोग करेंगे जिससे करारोपित वस्तु की पूर्ति कम होने से विक्रेता को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ेगी। उदाहरण के लिए, सिगरेट पर कर लगाया जाए तो उपभोक्ता बीड़ी का उपभोग करने लगेंगे अथवा यदि चाय पर कर लगाया जाए किन्तु कॉफी जैसी स्थानापन्न वस्तु पर कर लागू न किया जाए तो लोग कॉफी का उपभोग करने लगेंगे और सिगरेट या चाय का उत्पादक या विक्रेता सिगरेट या चाय का मूल्य नहीं बढ़ा सकेगा क्योंकि इन वस्तुओं का मूल्य बढ़ने पर इसके ग्राहक और भी कम हो जाएँगे। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में सिगरेट या चाय के उत्पादक या विक्रेता को ही कर-भार सहना पड़ेगा। उल्लेखनीय है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ठीक हो

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नही होता । उपभोक्ता स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग बहुत अधिक मजबूरी मे करते है क्योकि जिस वस्तु का उपभोग करने की आदत पड जाती है उन्हे सन्तुष्टि उसी वस्तु से मिलती है । अत यह सम्भव है कि उपभोक्ता थोडा कर-भार सहने पर स्थानापन्न वस्तुओं की ओर आकृष्ट न हो । यह भी सम्भव है कि वे कर-भार उस समय तक सहन करते रहे जब तक कि स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग करने की आदत उत्पन्न न कर ले ।

3 कर की मात्रा (Amount of Tax)

कर-भार या कर-विवर्तन कर की मात्रा से भी शासित होता है । जब कर थोडी मात्रा मे लगाया जाता है तो उत्पादक अथवा विक्रेता इसको उपभोक्ता पर डालने का प्रयत्न नही करता क्योकि वह अपने ग्राहक की माँग को मूल्य-वृद्धि से प्रभावित नहीं करना चाहता । इससे कुल लाभ मे कमी होने की सम्भावना रहती है । ऐसी स्थिति मे कर-भार को स्वय वहन कर लेना अच्छा समझता है लेकिन जब अधिक मात्रा मे करारोपण होता है तो उसे विक्रेता स्वय वहन करने मे असमर्थ हो सकता है । अत ऐसा कर अन्य परिस्थितियो की अनुकूलता मे लगाया जाए तो इसका व्यापार एव अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है ।

4. श्रम एवं पूँजी की गतिशीलत (Mobility of Labour and Capital)

इसका आशय यह है कि श्रम एव पूँजी को आवश्यकतानुसार बढाया जा सके एक उद्योग का श्रम दूसरे उद्योग मे सरलता से आ-जा सके तथा एक स्थान की पूँजी दूसरे स्थान या अन्य उद्योगों में लगाई जा सके । यदि श्रम एव पूँजी की गतिशीलता की सुविधाएँ होती है तो उद्योग एव करारोपण पर बुरा प्रभाव नहीं पडता है । जब भी करारोपण होता है उत्पादक मूल्य-वृद्धि करके उसे उपभोक्ताओं पर डालना चाहता है किन्तु इसका परिणाम यह होता है कि मूल्य-वृद्धि से माँग घट जाती है । इस स्थिति मे पूर्ति कम की जा सकती है अर्थात् श्रम एव पूँजी को अन्य उद्योगो मे सुगमतापूर्वक लगाया जा सकता है और इस तरह करारोपण का अर्थ-व्यवस्था पर बहुत प्रभाव नहीं पड पाता । यदि समाज मे श्रम एव पूँजी की पूर्ण गतिशीलता होती है तो उत्पादको को हानि नहीं उठानी पडती क्योकि वे पूर्ति कम करके कर-भार को उपभोक्ताओं पर डालने मे सफल हो जाते है लेकिन यदि स्थिति ऐसी नहीं हो तो कर-भार उत्पादको को ही वहन करना पडता है ।

5. उत्पादन नियमो के प्रभाव (Effects of Laws of Production)

उत्पादन की विभिन्न स्थितियाँ भी कर-भार और कर-परिवर्तन पर समुचित प्रभाव डालती हैं । उत्पादन के तीन नियम है जिनके अन्तर्गत उत्पादन हो सकता है—

(क) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Return)

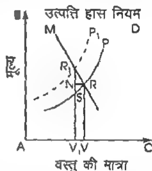
(ख) क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Return)

(ग) क्रमागत उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Return)

किसी दिए हुए समय पर वस्तु की उत्पत्ति इन तीनो मे से किसी एक नियम के अनुसार अवश्य होती है । ये तीन नियम कर-भार और कर-विवर्तन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं यह निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

(क) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम—इस नियम के अन्तर्गत उत्पादन होने से श्रम एव पूँजी की इकाइयों मे वृद्धि करने से घटता हुआ उत्पादन मिलता है यानि अधिक उत्पादन के लिए अतिरिक्त श्रम और पूँजी की इकाई लगानी पडती है । दूसरी ओर उत्पादन कम करने पर श्रम एव पूँजी की इकाइयों कम कर देने से लागत कम हो जाती है । यह हम जानते है किसी वस्तु पर कर लगाने से उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है जिससे उसकी माँग मे कमी आ जाती है । वस्तु की माँग मे कमी से उत्पादक इसका उत्पादन कम कर देते है और वस्तु की प्रति इकाई लागत कम (घटती उपज के नियम के अन्तर्गत उत्पादन होने से) हो जाती है । वस्तु की लागत कम होने से इसका मूल्य कम हो जाता है । अत जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है जिसका उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो करारोपण से उत्पादक वस्तु के मूल्य मे जो बढोत्तरी होती है वह कर की मात्रा की अपेक्षा कम होती है और इसलिए कर-भार का अश क्रेता सहन करता है और दूसरा अश विक्रेता ।

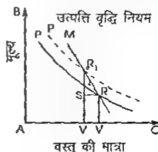
उदाहरणार्थ—मान लीजिए सौ वस्तुओं का उत्पादन 2 रु प्रति इकाई की लागत से हो रहा है और यह बाजार में 2 रु प्रति इकाई मूल्य पर बेची जा रही है। अब यदि वस्तु पर कर 50 पैसे प्रति इकाई की दर से लगा दिया जाता है तो इसका मूल्य बढकर 2·50 रु प्रति इकाई हो जाएगा। इस मूल्य-वृद्धि से वस्तु की माँग और उत्पादन घटकर 80 इकाई हो जाती है और इस तरह लागत 2 रु से घटकर 1·75 रु रह जाती है तो इस अवस्था में कर-राशि को जोड़कर वस्तु का मूल्य 2·25 रु (1 रु 75 पैसे + 50 पैसे) हो जाएगा। स्पष्ट है कि यदि वस्तु का उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो कर के कारण वस्तु के मूल्य मे वृद्धि कर की मात्रा से कम होगी और कर का कुल भार क्रेताओं पर नहीं पड़ेगा। इसे हम रेखाचित्र द्वारा निम्नांकित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं—



इस चित्र में P रेखा करारोपण से पहले की पूर्ति रेखा है और P_1 करारोपण के बाद की पूर्ति रेखा है। इसमें R_1 S प्रति इकाई कर की मात्रा है। करारोपण से पहले का मूल्य RV है तथा करारोपण के बाद का मूल्य $R_1 V_1$ है जिसमें केवल R_1N से ही वृद्धि हुई है जो कर की मात्रा R_1S से कम है। स्पष्ट है कि कर की कुल मात्रा R_1S में से NS विक्रेताओं को तथा केवल R_1N क्रेताओं को वहन करना पड़ेगा।

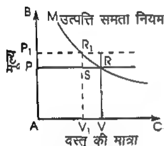
(ख) क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम—जब किसी वस्तु का उत्पादन इस नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पत्ति की मात्रा बढने से प्रति इकाई लागत घट जाती है। यदि कर उस वस्तु पर लगाया जाता है जिसका उत्पादन इस नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो करारोपण से वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ जाता है और उपभोक्ता पर कर-भार कर की मात्रा से अधिक पडता है अथवा कुल कर-भार उपभोक्ता (या क्रेता) को वहन करना पडता है। इसका कारण यही है कि करारोपण से मूल्य में वृद्धि होती है तो माँग कम हो जाती है। माँग कम हो जाने से वस्तु की पूर्ति कम कर दी जाती है जिससे वस्तु की प्रति इकाई लागत पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है। इस अवस्था मे करारोपण से वस्तु का मूल्य कर के अनुपात में बहुत अधिक बढ जाता है जिससे उपभोक्ता पर कर का भार बहुत अधिक पडता है। इसे हम पूर्व उदाहरण से भली प्रकार समझ सकते हैं। मान लीजिए कि 100 वस्तुओं का उत्पादन 2 रु प्रति इकाई की लागत के अनुसार हो रहा है ओर वस्तु बाजार में 2 रु प्रति इकाई मूल्य पर बेची जा रही है। अब यदि वस्तु पर 50 पैसे प्रति इकाई की दर से करारोपण कर दिया जाए तो इसका मूल्य तुरन्त बढकर 2·50 रुपये हो जाएगा। किन्तु मान लीजिए मूल्य वृद्धि से इसकी माँग और उत्पत्ति घटकर 80 इकाई हो जाती है और इस तरह उत्पादन लागत बढकर 2·25 रुपये प्रति इकाई हो जाती है तो ऐसी स्थिति मे कर की मात्रा को जोड़कर वस्तु का मूल्य 2·75 (2·25 + 50 पैसे) हो जाएगा। स्पष्ट है कि क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तु पर करारोपण के कारण मूल्य मे जो अभिवृद्धि हो जाती है वह कर की राशि से अधिक होती है और कर का कुल भार क्रेता पर पडता है। आगे रेखाचित्र द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है—

इस चित्र में P रेखा करारोपण से पहले की पूर्ति रेखा और P_1 बाद की पूर्ति रेखा है। कर लगाने से मूल्य RV से बढकर R_1V_1 हो गया है। इसमें R_1S के बराबर वृद्धि हुई है जबकि कर की मात्रा केवल R_1N ही है। इसमें क्रेताओं को कर-राशि से अधिक कर-भार वहन करना पड़ रहा है।



(ग) क्रमागत उत्पत्ति समता नियम—जब किसी वस्तु का उत्पादन इस नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पादन घट-बढ़ होने पर प्रति इकाई लागत समान रहती है। इस स्थिति में यदि वस्तु पर करारोपण किया जाता है तो मूल्य में जो वृद्धि होती है वह ठीक कर की

राशि के बराबर होती है और कर का सम्पूर्ण भाग उपभोक्ता को वहन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि मूल्य-वृद्धि के फलस्वरूप माँग के कम होने (अथवा पूर्ति कम होने) पर भी उत्पत्ति व्यय में कुछ परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उत्पादन व्यय पूर्ववत् रहता है। उत्पादक माँग में कमी के अनुसार वस्तु की पूर्ति में कमी कर देता है और इस तरह के भार को उपभोक्ताओं को सहने के लिए बाध्य कर देता है। यहाँ पहले वाले उदाहरण को ही लेते है। मान लीजिए कि 100 वस्तुओं का उत्पादन 2 रु. प्रति इकाई की लागत के अनुसार हो रहा है और वस्तु बाजार में 2 रु. प्रति इकाई मूल्य पर बेची जा रही है। अब यदि वस्तु पर 50 पैसे प्रति इकाई कर लगाया जाए तो इसका मूल्य तुरन्त बढकर 2.50 रुपये हो जाएगा। मान लीजिए कि मूल्य मे वृद्धि से वस्तु की माँग एव पूर्ति 80 इकाई हो जाती है किन्तु 2 रु. प्रति इकाई उत्पादन-लागत भी पूर्ववत् रहेगी। इसके फलस्वरूप इस अवस्था में कर की मात्रा को जोड़कर वस्तु का मूल्य 2.50 रुपये (2 रु.+ 50 पैसे) प्रति इकाई होगा। स्पष्ट है कि क्रमागत उत्पत्ति समता नियम के अधीन उत्पन्न होने वाली वस्तुओं पर करारोपण करने से इनके मूल्य में वृद्धि कर की मात्रा के बराबर होती है और कर का भार उपभोक्ताओं या क्रेताओं को ही वहन करना पड़ता है। रेखाचित्र द्वारा इसे हम निम्न रूप से स्पष्ट कर सकते है—



इस चित्र में P करारोपण से पहले की रेखा और P_1 करारोपण के बाद की रेखा है। RV करारोपण से पहले का और $R_1 V_1$ बाद का मूल्य है जिसमे वृद्धि R_1S के बराबर हुई तथा यही (अर्थात् R_1S) कर की मात्रा है। इसलिए कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं को ही वहन करना होगा।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु पर कर लगाने से इसका मूल्य बढता है, मूल्य बढने पर इसकी माँग कम या अधिक घट जाती है, माँग के घटने से उत्पत्ति कम होती है। उत्पत्ति कम होने पर वस्तु की प्रति इकाई लागत उत्पत्ति के नियमों के अनुसार कम या अधिक या समान रहती है और अन्तत. कर का भार उपभोक्ताओं पर इस मूल्य परिवर्तन के अनुसार पडता है। इसलिए करारोपण की दृष्टि से ऐसी वस्तुएँ अच्छी समझी जाती है जिनका उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुसार होता है।

निष्कर्षत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर-भार का विवर्तन विशेष कर क्रेता-विक्रेताओं के सौदे करने की शक्ति पर निर्भर करता है। डॉल्टन के शब्दों मे, "वस्तु की पूर्ति कम करके विक्रेता कर-भार क्रेता पर डालना चाहते है, जबकि माँग मे कमी करके क्रेता कर-भार विक्रेता पर डालने का प्रयास करते हैं। इन दोनों में जो *अधिक योग्य होता है, परिणाम उसी के अनुरूप निकलता है। क्रेता-विक्रेताओं के* मध्य माँग और पूर्ति करने की क्षमता उस वस्तु की माँग-पूर्ति की लोच पर निर्भर करती है।"

एकाधिकार में करापात
(Incidence under Monopoly)

एकाधिकार उत्पादन की वह दशा है जब किसी वस्तु के उत्पादन या पूर्ति पर एक व्यक्ति अथवा एक ही सस्था का एकाधिकार होता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में प्रतियोगिता का अभाव रहता है। चूकि उत्पादन, पूर्ति और मूल्य पर एक ही व्यक्ति का आधिक्य है, अत वह कर के भार को क्रेताओं पर ढकेल देगा। उस वस्तु के मूल्य में कर राशि की वृद्धि करके, कर को विवर्तित कर देगा और स्वय कर-भार से मुक्त हो जाएगा लेकिन व्यावहारिक स्थिति मे ऐसा नहीं होता।

एकाधिकारी, स्वय ही उस वस्तु की पूर्ति करता है, अर्थात् उस वस्तु का केवल एक मात्र विक्रेता होता है। वह उत्पादन की मात्रा और वस्तु का मूल्य इस प्रकार निर्धारित करता है कि उसे अपने *व्यवसाय में अधिकतम लाभ प्राप्त हो। एकाधिकारी अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए सीमान्त आय* को सीमान्त लागत के बराबर करने का प्रयास करता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता के अभाव मे अपनी वस्तु

को सीमान्त उत्पादन व्यय पर बेचने को बाध्य नहीं होता। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से वह स्वय निर्धारित करता है जो सदैव ही सीमान्त उत्पादन लागत से अधिक होता है।

यदि कोई व्यक्ति या सस्था वास्तव मे एकाधिकार की स्थिति मे है और अपनी एकाधिकारी शक्तियों का प्रयोग करता है तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह करारोपण से पहले ही उत्पादन की मात्रा और मूल्य का निर्धारण इस प्रकार कर चुका होगा कि उसे अधिकतम आय की प्राप्ति हो रही होगी। अब करारोपण के बाद वह पूर्ति में कमी करके मूल्य मे वृद्धि करता है तो उसका कुल लाभ गिर जाएगा। कर-भार स्वय सहने पर उसके एकाधिकारी लाभ मे अवश्य कमी आ जाएगी लेकिन उसका कुल लाभ, कर राशि कम देने पर भी अधिकतम ही रहेगा बशर्ते कि वह पुरानी निर्धारित मात्रा में उत्पादन करता रहे और उस मूल्य पर अपनी वस्तु का विक्रय करे।

एकाधिकार पर करारोपण कई प्रकार से किया जा सकता है और उसके अनुरूप ही यह कहा जा सकता है कि वह कर-भार का विवर्तन करने मे सफल हो सकता है या नहीं। जिस वस्तु का उत्पादन या वितरण एकाधिकारिक दशा में हो रहा है उस पर करारोपण किए जाने पर कर-भार उपभोक्ताओं पर नहीं डाला जा सकेगा। केवल कुछ विशेष प्रकार के करों द्वारा यह सम्भव है कि कर-भार विवर्तित किया जा सके। एकाधिकारी पर प्रधानत कर दो प्रकार से लगाए जाते है—

(क) एकमुश्त कर या एकाधिकार लाभ पर कर (A Lumpsum Tax or Tax on Monopoly Profit)

(ख) उत्पत्ति की मात्रा के आधार पर कर (A Tax in Proportion to Output)

(क) एकमुश्त कर या एकाधिकार लाभ पर कर—यदि कर उत्पादन की मात्रा से स्वतन्त्र है तब यही उससे या तो एकमुश्त रकम (Lumpsum) या उसके लाभ के किसी अनुपात के रूप में (In Proportion to his Profit) लिया जाता है और दोनो अवस्थाओं में एकाधिकारी कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर नहीं कर पाता यानी कर-भार को उसे स्वय ही वहन करना पडता है। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी ने करारोपण से पूर्व ही अपनी वस्तु के मूल्य या वस्तु की उत्पत्ति की मात्रा का इस प्रकार निर्धारण किया होगा कि उसे अधिकतम वास्तविक एकाधिकारी लाभ (Maximum Net Monopoly Profit) प्राप्त हो सके। इस स्थिति मे करारोपण के उपरान्त यदि एकाधिकारी वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है अथवा वस्तु के उत्पादन मे कमी करता है तो ऐसा करने से उसका कुल एकाधिकारी लाभ बहुत कम हो जाएगा और वह घाटे मे रहेगा क्योंकि तब उसकी कर की राशि अपने लाभ में से देनी पडेगी। इसके विपरीत यदि वह करारोपण के उपरान्त भी अपनी पूर्व निश्चित योजना में कोई परिवर्तन नहीं करता तो कर चुकाने के उपरान्त लाभ शेष रहेगा वह भी निश्चित रूप से अधिकतम होगा। इस स्थिति में उसका उत्पादन और विक्रय अधिकतम रहेगा। इस सम्बन्ध मे टेलर (Taylor) ने लिखा है कि "ऐसी दशा होने पर करारोपण से स्थायी लागत मे वृद्धि होती है लेकिन सीमान्त लागत मे कोई परिवर्तन नहीं आता। एकाधिकारी कर से सीमान्त लागत और सीमान्त लाभ मे कोई परिवर्तन न होने के कारण विक्रय की जाने वाली वस्तु की मात्रा अथवा विक्रय मूल्य मे कोई परिवर्तन नहीं होता और कर का विवर्तन भी नहीं होता।

जब एकाधिकारी के कुल लाभों या कुल बिक्री के किसी अनुपात के अनुसार कर लिया जाता है तो एकाधिकारी कर को उपभोक्ताओं पर विवर्तित न कर स्वय ही वहन कर लेता है। कारण यह है कि एकाधिकारी पहले ही ऐसा मूल्य निश्चित कर चुका होता है जिस पर उसे अधिकतम लाभ मिल रहा होता है। अब करारोपण के बाद और अधिक मूल्य-वृद्धि की सम्भावना नहीं होती। इस स्थिति मे यदि वह कर राशि अथवा उसके भाग को मूल्य मे जोडना चाहे तो माँग घट जाने से कुल लाभ कम हो जाएगा। अत वास्तविक रूप मे होता यही है कि एकाधिकारी मूल्य मे वृद्धि करके कर-भार का विवर्तन नहीं करता अर्थात् मूल्य बढ़ाकर क्रेता पर कर-भार डालने की अपेक्षा स्वय वहन करता है। यद्यपि इस स्थिति मे उसके कुल लाभ मे कमी आ जाएगी लेकिन कर के भुगतान के बाद जो वास्तविक लाभ शेष रहेगा वह उस रकम से

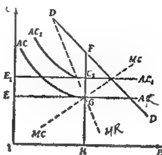
अधिक होगा जो वह कर के कारण उत्पादन या मूल्य मे परिवर्तन करके प्राप्त कर सकेगा । इसी स्थिति को आगे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है—

AC = औसत लागत (Average Cost)

MC = सीमान्त लागत (Marginal Cost)

MR = सीमान्त आय (Marginal Revenue)

DC = माँग वक्र (Demand Curve)

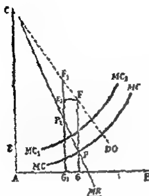


उक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि करारोपण से सीमान्त लागत या सीमान्त आय मे कोई परिवर्तन नहीं होता और इसीलिए वस्तु का मूल्य तथा बिक्री वस्तुओं की मात्रा भी पहले के समान ही है । AC करारोपण से पूर्व की औसत लागत वक्र रेखा है । एक इकाई की औसत उत्पादन लागत कर है तो कुल उत्पादन लागत ARGE हो जाती है । करारोपण के बाद औसत लागत वक्र AC_1 हो जाती है और कुल लागत ARG_1E_1 हो जाती है । चूँकि एकाधिकारी करारोपण से पूर्व ही RF मूल्य लेता आ रहा है अत लागत मूल्य मे कर जुड़ जाने के बाद भी औसत लागत अधिकतम मूल्य RF से कम है । इस प्रकार का सम्पूर्ण भार एकाधिकारी ही वहन कर रहा है । करारोपण के कारण कुल लागत EGG_1E_1 में वृद्धि हो जाती है अत इसके बराबर एकाधिकारी के लाभ में भी कमी आ जाती है ।

उक्त स्थिति में पूर्ण एकाधिकार की कल्पना की गई है जबकि वास्तविक जीवन में पूर्ण एकाधिकार की अवस्था नहीं मिलती । यह बहुत कठिन होता है । एकाधिकारी विभिन्न परिस्थितियो मे राजकीय नियमन उपभोक्ताओं की शक्ति प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना अलोकप्रियता आदि के कारण एकाधिकारी मूल्य से कम मूल्य ही लेता है । ऐसी स्थिति में जब कर लागू होता है तो एकाधिकारी मूल्य में वृद्धि करके वस्तु का विक्रय एकाधिकारी मूल्य पर प्रारम्भ कर देता है लेकिन इसे कर-विवर्तन नहीं कहा जा सकता । यह तो केवल एकाधिकारी मूल्य प्राप्त करने का उसे एक अवसर मात्र मिला है क्योंकि वह अपने ग्राहकों को समझा सकता है कि कर लगने के कारण मूल्य ऊँचे हो गए हैं ।

(ख) उत्पत्ति की मात्रानुसार कर—जब कभी एकाधिकारी पर उसके उत्पादन के अनुपात में कर लगाया जाता है, जैसे—प्रति उत्पत्ति इकाई पर 50 पैसे कर अथवा उसकी उत्पत्ति बढने के साथ कर की राशि भी बढती जाती है अथवा उत्पत्ति के घटने के साथ कर की राशि भी घटती जाती है तो ऐसी स्थिति में एकाधिकारी कर का विवर्तन करने में सफल हो जाता है । दूसरे शब्दों में प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढ़ जाता है । वस्तु की सीमान्त लागत में वृद्धि हो जाने से एकाधिकारी को पुराने मूल्य पर उत्पत्ति की मात्रा बेचने पर लाभ नहीं होता अत वह उत्पत्ति की मात्रा कम करके वस्तु को बढे हुए मूल्य पर बेचने लगता है और अपने लाभ को कम नहीं होने देता है । एकाधिकारी उत्पत्ति की मात्रा को कम करके वस्तु के मूल्य में इस प्रकार वृद्धि करता है कि सीमान्त आय और नई सीमान्त लागत पुन बराबर हो जाए । स्पष्ट है कि चूँकि एकाधिकारी ने मूल्य-वृद्धि की है अत वह मूल्य-वृद्धि द्वारा उपभोक्ताओं पर कर का विवर्तन कर देता है । टेलर ने इस स्थिति को चित्रित करते हुए लिखा है कि दूसरे वर्ग के करों (उत्पत्ति की मात्रा के आधार पर लगाए जाने वाले कर) को साधारणत आगे की ओर विवर्तित किया जा सकता है क्योंकि सीमान्त लागत की एक ही दर से सम्पूर्ण तालिका में वृद्धि हो जाती है जिससे सीमान्त लागत और सीमान्त लाभ में नया सन्तुलन स्थापित होता है और नया मूल्य तथा नई मात्रा का स्तर भी निर्धारित हो जाता है । रेखाचित्र द्वारा इसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

इस चित्र मे करारोपण से पूर्व MC सीमान्त लागत वक्र रेखा है । यह सीमान्त लाभ की वक्र रेखा को P बिन्दु पर काटती है और मूल्य GF है । करारोपण के बाद सीमान्त लागत वक्र रेखा उठकर



MC_1 हो जाती है। यह सीमान्त लाभ वक्र को P_1 बिन्दु पर काटता है। मूल्य बढ़ कर G_1F_1 हो जाता है। उत्पत्ति की मात्रा AG से कम होकर AG_1 रह जाती है। यद्यपि कर AE के बराबर लगाया गया है लेकिन उपभोक्ता पर केवल F_1E_1 कर-भार ही पड़ता है और शेष कर-भार एकाधिकारी को वहन करना पड़ेगा। उपरोक्त सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि एकाधिकारी कर का कितना भार उपभोक्ताओं पर डाल सकेगा, यह दो बातों पर निर्भर है—(i) वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच, एवं (ii) उत्पत्ति के नियम।

कर-भार का विवर्तन इस पर निर्भर करेगा कि एकाधिकारी उत्पादन पर कौन-सा उत्पत्ति नियम लागू है। यदि वस्तु का उत्पादन बढ़ते हुए प्रतिफलों का नियम (Law of Increasing Return) के अनुसार हो रहा है तो करारोपण द्वारा मूल्य वृद्धि होगी जिससे वस्तु की माँग कम हो जाने से उत्पादन गिर जाएगा। उत्पादन गिर जाने से वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ेगी। इस प्रकार वस्तु का मूल्य कर राशि से अधिक बढ़ जाएगा और इस स्थिति में एकाधिकारी अपने कुल लाभ को अधिकतम बनाए रखने के लिए कर-भार स्वयं वहन करेगा। यदि उत्पादन ह्रास प्रतिफल नियम (Law of Diminishing Return) के अनुसार हो रहा है और वस्तु की मात्रा के अनुसार कर लगाया गया है तो एकाधिकार पूर्ण अथवा आंशिक कर-भार का उपभोक्ताओं पर विवर्तन कर सकेगा। यदि उत्पादन समता नियम (Law of Constant Return) के अन्तर्गत हो रहा है तो ऐसी दशा में कर-भार एकाधिकारी एवं उपभोक्ता के मध्य बँट जाएगा अर्थात् थोड़ा-थोड़ा कर-भार दोनों ही वहन करेंगे।

स्पष्ट है कि एकाधिकार की दशाओं में उत्पादन होने पर कर-विवर्तन हो सकेगा अन्यथा नहीं, यह करारोपण की दर, करारोपित वस्तु की माँग, पूर्ति की लोच, उत्पत्ति के नियमों के अन्तर्गत होने वाले उत्पादन की दशाओं आदि पर निर्भर करता है। परन्तु एकाधिकार की स्थिति में प्रो. जे. के. मेहता ने लिखा है, "मूल्य अप्रभावित रहता है और कर-भार पूर्ण रूप से वस्तु के विक्रेता पर पड़ता है जिस आधिक्य पर यह कर लगाया जाता है।"

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में कर-विवर्तन

(Shifting of a Tax under Manopolistic Competition)

एकाधिकारी प्रतियोगिता वह स्थिति है जब कुछ व्यावसायिक संस्थान एक ही वस्तु का निर्माण करते हैं और उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रहती है। इस प्रकार न तो पूर्ण एकाधिकार होता है, न पूर्ण प्रतियोगिता। उदाहरण के लिए, वनस्पति घी, डालडा, रथ, पनघट, अंकुर नटराज आदि कुछ उत्पादकों द्वारा निर्मित हैं। यद्यपि प्रत्येक उत्पादक की अपनी स्वतन्त्र उत्पादक नीति है और वह अपने दृष्टिकोण से वस्तु की किस्म तथा कीमत रखता है, किन्तु वे एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं, क्योंकि इन उत्पादकों को आंशिक एकाधिकार होते हुए भी परस्पर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में कर-भार का विवर्तन एकाधिकारी अथवा पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक अनिश्चित रहता है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर-भार अनेक बातों पर निर्भर करता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

(i) सामान्यतः एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर-भार का विवर्तन वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच की सापेक्षिक शक्ति पर निर्भर करता है। इस पर कुछ अन्य बातें जैसे—कर की प्रकृति, मात्रा, स्वरूप आदि का भी महत्त्व होता है।

(ii) एकाधिकारिक प्रतियोगिताओं की दशाओं में यदि व्यावसायिक संस्थान या फर्मों पर एकमुश्त कर डाल दिया जाए अर्थात् बिना किसी आधार के एक निश्चित राशि निर्धारित कर दी जाए तो इससे

उत्पादकों के सीमान्त उत्पादन व्यय में कोई वृद्धि नहीं होगी और इसलिए न तो वे उत्पादन ही कम करेंगे और न मूल्य ही बढाएँगे, लेकिन यह प्रभाव अवश्य पड़ सकता है कि फर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रभाव रहे। फर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध में कई सम्भावनाएँ उत्पन्न हो सकती है। प्रथम, ऐसा हो सकता है कि कुछ उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकल जाएँ और द्वितीय यह कि वे सभी मिलकर कर-भार को टालने के लिए वस्तु के मूल्य में वृद्धि कर दे और इस प्रकार कर-विवर्तन को सम्भव बना कर-विवर्तन में वे कहाँ तक सफल हो सकेंगे यह इस पर निर्भर होगा कि वस्तु की माँग की लोच कैसी है ? जहाँ तक पहली सम्भावना की बात है (अर्थात् कुछ उत्पादकों द्वारा उत्पादन छोड़े जाने का प्रश्न है) जो उत्पादक बाहर चले जाएँगे, उनके ग्राहक अपनी वस्तुएँ दूसरे उत्पादकों से खरीदेगे। परिणाम यह होगा कि कुछ फर्मों या उत्पादको की वस्तुओं की माँग अन्य फर्मों की अपेक्षा बढ जाएगी और वे अपनी वस्तु के मूल्य में वृद्धि करके कर का कुछ भार क्रेताओं पर डालने में सफल हो जाएँगे।

(iii) यदि एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में कर उत्पादन की मात्रा के आधार पर लगाया जाता है तो वस्तु का उत्पादन व्यय बढ जाएगा जैसा कि एकाधिकारी उत्पादन की अवस्था में होता है। इस स्थिति में प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करके कर-विवर्तन करने मे कहाँ तक सफल हो सकेगा, यह मुख्यत तीन तथ्यों पर निर्भर करता है—

(क) वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोच का अनुपात,

(ख) विभिन्न फर्मों या उत्पादकों के मूल्य सम्बन्ध, तथा

(ग) कुछ उत्पादकों के उत्पादन-क्षेत्र से हट जाने पर शेष उत्पादकों की बढती हुई वस्तुओं की माँग।

जहाँ तक प्रथम बिन्दु का तथा वस्तु की पूर्ति की लोच के अनुपात का सम्बन्ध है, इसका विवेचन हम पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में भली प्रकार कर चुके है।

दूसरे बिन्दु के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में वस्तु के रूप और मूल्य में भिन्नता पाई जाती है। भिन्न-भिन्न उत्पादक एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न व्यापारिक चिह्नों (Trade Marks) के अन्तर्गत बेचते है और यह भी सम्भव है कि वे इसके लिए अलग-अलग मूल्य निर्धारित करें। स्वाभाविक है कि इस अवस्था में (अर्थात् भिन्न-भिन्न व्यापारिक चिह्न की स्थिति में) विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं में भेद उत्पन्न हो जाता है और वे अलग-अलग गुण वाली समझी जाती हैं (चाहे वे वस्तुएँ एक-सी ही क्यों न हों)। अब यदि अलग-अलग उत्पादक अपनी-अपनी वस्तुओं के मूल्य बढ़ा देते हैं जैसा कि लोगो की प्रवृत्ति होती है, वे अधिक मूल्य वाले उत्पादकों से वस्तु खरीदना बन्द करके उन उत्पादकों से वस्तु खरीदने लगते हैं जिनका मूल्य अपेक्षाकृत कम है।

यहाँ दो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है—एक यह कि विभिन्न उत्पादक या फर्में कर की राशि के अनुपात में वस्तु के मूल्य मे वृद्धि करे और दूसरे यह कि जिन उत्पादकों ने पहले वस्तुओं के मूल्य दूसरों की अपेक्षा कम निश्चित किए थे, वे मूल्य बढा दें और जिन उत्पादकों के पहले वस्तुओं के मूल्य अधिक थे वे माँग कम होने के भय से वस्तु के मूल्य में वृद्धि न करे। पहली स्थिति में यदि मूल्य कर की मात्रा के अनुपात में बढाये जाते हैं तो स्थिति पहले के समान बनी रहेगी और उसमें कोई अन्तर नहीं आएगा। इसका कारण यह है कि विभिन्न उत्पादकों के मूल्यों में उतना ही अन्तर रहेगा जितना मूल्य-वृद्धि से पूर्व था। अत- जो ग्राहक जहाँ से वस्तु खरीदते थे, वे वहीं से खरीदते रहेंगे लेकिन यह सम्भव है कि यदि बाजार में बेचने के लिए स्थानापन्न वस्तुएँ उपलब्ध हो तो उत्पादकों की वस्तुओं की माँग कम हो जाएगी और उत्पादक यह जानते हुए कर-भार स्वय ही सहन कर लें कि उनकी वस्तु की माँग मूल्य बढने पर घट जाएगी। दूसरी स्थिति में यह हो सकता है कि जो ग्राहक केवल सस्ती वस्तु खरीदना (स्थानापन्न वस्तुएँ उन्हें मिल रही हों तो वे या तो उस वस्तु को खरीदना) पसन्द करते हों और अन्य स्थानापन्न वस्तु का प्रयोग करने लगेंगे लेकिन जो लोग मूल्यों की अधिक परवाह न करते हुए वस्तु के गुणों पर ध्यान देते हैं, वे अपने-अपने उत्पादकों से वस्तुएँ पूर्ववत् खरीदते रहेंगे। ऐसी स्थिति में उत्पादक अपना कर-भार केवल उन्हीं ग्राहको पर टालने में सफल हो जाएँगे जो मूल्य से प्रभावित नहीं होते लेकिन फिर भी वस्तु की माँग घट जाने से उत्पादकों को कर का कुछ भार स्वय अवश्य ही वहन

करना पड़ेगा। इसके विपरीत जिन उत्पादकों ने अपने मूल्यो में कोई वृद्धि नहीं की है जिनकी वस्तुओं का मूल्य पहले से अधिक रहा है वे इस कर-भार को क्रेताओं पर विवर्तित नहीं कर सकेंगे और कर-भार उन्हें स्वय ही वहन करना पड़ेगा। यह भी सम्भव है कि कुछ उत्पादक उत्पादन-क्षेत्र से ही दूर चले जाएँ अर्थात् अपनी वस्तु का उत्पादन ही बन्द कर दे।

यदि वस्तुओं के विक्रय पर कर लगाए जाएँ तो उसके कर-भार का निर्णय सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता क्योकि इस दशा मे कर-विवर्तन वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर रहता है। सम्भवत उन वस्तुओं पर विक्रेता कर-भार विवर्तित कर सकते हैं जिनकी माँग लोचदार है किन्तु करारोपित वस्तु की माँग लोचदार है तो मूल्य बढाकर कर-भार विवर्तित करना विक्रेता के स्वय के हित मे नहीं होगा और कर-भार वह स्वय वहन करेगा। इस प्रकार एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत बिक्री-कर का विवर्तन उस वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करेगा।

साराश रूप मे हम कह सकते हैं कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी स्थिति की भाँति कर-भार का निर्णय माँग और पूर्ति की लोच की सापेक्षिक शक्ति के अनुपात पर निर्भर रहता है अन्तर केवल इतना है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता की स्थिति मे कर-भार का विवर्तन निश्चित नहीं किया जा सकता है क्योकि उत्पादको की उत्पादन नीति और मूल्य नीति एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। कर का स्वभाव मात्रा और रीति भी कर-भार विवर्तन को प्रभावित करती है।

संयुक्त पूर्ति तथा माँग का कर भार से सम्बन्ध

कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है जिनकी माँग और पूर्ति सयुक्त होती है। एक वस्तु का उत्पादन करने में जब दूसरी वस्तु का उत्पादन आवश्यक रूप से होना होता है जैसे—रूई के साथ बिनौला तो उसे सयुक्त पूर्ति कहा जाता है और यदि इनमे से किसी वस्तु पर करारोपण होता है तो उसका विवर्तन दूसरी वस्तु के मूल्य में कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि रूई पर करारोपण किया जाता है तो किसान रूई का मूल्य बढाकर तो कर का विवर्तन नहीं कर पाता लेकिन वह बिनौले का मूल्य बढाकर कर-भार सरलता से उपभोक्ता पर टाल देता है।

सयुक्त पूर्ति की भाँति जब एक वस्तु की माँग के साथ दूसरी वस्तु की माँग बढती है तो उसे सयुक्त माँग कहा जाता है जैसे—पैन के साथ स्याही की माँग। जब सयुक्त माँग की किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो एक वस्तु पर लगे कर को विक्रेता द्वारा दूसरी वस्तु के मूल्य में विवर्तित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि पैन पर कर लगा दिया जाता है तो विक्रेता उसका विवर्तन स्याही का मूल्य बढाकर कर सकता है।

भूमि पर लगाए गए कर का भार

भूमि पर कर के कई रूप होते हैं। इन करो के भार का अध्ययन करत समय इन सभी का ध्यान रखना पड़ता है। यदि भूमि पर कर आर्थिक लगान के आधार पर लगाया जाता है तो इसका भार भू-स्वामियों पर ही पडता है क्योकि यह कर आर्थिक लगान मे से दिया जाता है और आर्थिक लगान उत्पादन व्यय निकाल कर बचता है। चूँकि लगान भूमिपति से मिलता है इसलिए कर भी वही देता है। किसान को खेती मे सामान्य लाभ (Normal Profit) के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता अत वह भूमि पर कर के भार को सहने के लिए कभी तैयार नहीं होता लेकिन यदि भूमिपति पूरा लगान नहीं ले रहा है तो लगान को कर के अनुपात से बढ़ाकर कर का भार काश्तकार पर डाला जा सकता है।

यदि भूमि पर कर किसी फसल विशेष (जैसे—गेहूँ की फसल) के अनुसार लगाया जाता है तो यह कर-भार इस फसल (अर्थात् गेहूँ) के उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है। इसका कारण यह है कि यदि गेहूँ के उपभोक्ता कर-भार वहन करने के लिए तैयार नहीं होगे तो किसान भूमि पर कोई अन्य फसल बोना आरम्भ कर देंगे। यहाँ यह मान्यता स्वीकार की गई है कि इस दूसरी फसल के उत्पन्न करने पर भूमि पर कोई कर नहीं है। इस प्रकार गेहूँ की पूर्ति कम हो जाएगी जिससे गेहूँ का मूल्य बढ़ जाएगा और इस मूल्य वृद्धि द्वारा किसान भूमि-कर के आभार को उपभोक्ताओं पर डालने में सफल हो जाएगा। यह स्मरणीय है कि इस प्रकार के कर-विवर्तन पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड सकता है।

(क) यदि गेहूँ की माँग बेलोचदार है तो कर का विवर्तन सरलतापूर्वक हो सकेगा और यदि गेहूँ की पूर्ति बेलोचदार है तो कर का विवर्तन सम्भव नहीं होगा।

(ख) यदि किसान कर-विवर्तन में असफल रहने से गेहूँ का उत्पादन बन्द करने का निश्चय करे तो उसके सामने यह प्रश्न उठेगा कि वह इसके स्थान पर अन्य कौन-सी फसल बोए ? उसे यह सोचना पड़ जाएगा कि यह दूसरी फसल उसकी भूमि में पैदा हो सकेगी या नहीं ? फसल कितनी मात्रा में पैदा होगी और उसका बाजार मे क्या मूल्य होगा ? यदि दूसरी फसल कम मात्रा मे अथवा बहुत कम मूल्य की उत्पन्न होती है तो किसान उसे बोना पसन्द नहीं करेगा। वह इस दाम में पहली फसल को ही बोएगा और कर-भार स्वय ही सहना ठीक समझेगा लेकिन चूँकि कृषि से कोई बचत या आधिक्य (Surplus) प्राप्त नहीं होता अत वह कर-भार सहन नहीं करना चाहेगा और सम्भवत कृषि कार्य ही बन्द कर देगा और अन्तत वह भूमि-कर भू-स्वामियों को ही सहन करने के लिए बाध्य कर देगा।

(ग) यदि कर भूमि की उपज की मात्रा के अनुसार लगाया जाता है तो कर-भार का विवर्तन वस्तु की माँग की लोच के अनुसार होगा। करारोपण से वस्तु का मूल्य बढ जएगा अत यदि वस्तु की माँग बेलोचदार है तो कर-भार भूमिपति पर पड़ेगा।

जो कर भूमि-पूँजी पर लगाया जाता है तो उसका विवर्तन सामान्यत हो जाता है। इसका कारण यह है कि यदि भूमिपति भूमि-सुधार के लिए पूँजी लगायेगा तो उसकी उत्पादन शक्ति घट जाएगी और भूमिपति काश्तकार को यह कर देने के लिए बाध्य कर सकेगा।

आयात और निर्यात करो का भार

किसी देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर लगे कर को निर्यात कर और देश में आने वाली वस्तुओं पर लगे कर को आयात कर कहा जाता है। इन करो के भार की समस्या यह है कि इन करों का भार किस-किस देश पर और कितना-कितना पडता है।

(i) आयात कर—साधारणत जब कोई वस्तु आयात की जाती है तो आयातकर्त्ता आयात-कर वस्तु के मूल्य मे जोड देता है और वह कर-भार उपभोक्ताओं को विवर्तित कर देता है लेकिन इस कर-भार के विवर्तन में वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच का बहुत अधिक महत्त्व है। यदि आयातकर्त्ता देश के लिए आयात की गई वस्तु की माँग बेलोचदार है अर्थात् आयातकर्त्ता देश के लिये वह वस्तु उपलब्ध नहीं है या इस वस्तु की माँग अन्य देशो मे भी बहुत अधिक है तो ऐसी अवस्था में उस वस्तु पर लगे आयात-कर के भार को आयातकर्त्ता देश अथवा उस देश के उपभोक्ताओं को वहन करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि आयातकर्त्ता देश के लिए वस्तु की माँग लोचदार है अथवा देशवासियो की माँग बहुत कम है अथवा निर्यातकर्त्ता देश के लिए वस्तु (अर्थात् निर्यात) बेलोचदार है या निर्यातकर्त्ता देश उस वस्तु को अन्य देशों में बेच नहीं पा रहा है तो इन स्थितियो मे आयात-कर का भार उत्पादक एव निर्यातकर्त्ता देश को ही वहन करना पडेगा किन्तु यह स्थिति बहुत कम पाई जाती है अधिकाश मामलों में आयात-कर उपभोक्ताओं को ही सहना पडता है। यदि माँग के बेलोचदार होने के साथ-साथ पूर्ति लोचदार होती है यानी अन्य बाजारो से माँग की पूर्ति की जा सकती है तो ऐसी स्थिति में कर का कुछ भार निर्यातक देश और आयात देश के बीच बँट सकता है।

(ii) निर्यात कर—प्राय निर्यात-कर का भार निर्यातकर्त्ता को वहन करना पडता है। इसके कई कारण हो सकते है जैसे—(क) निर्यातकर्त्ता मूल्य बढाकर कर-भार को आयातकर्त्ता देश पर नहीं ढकेल पाता क्योकि विदेशों में वस्तु का मूल्य प्राय निश्चित रहता है तथा कोई एक निर्यातकर्त्ता इस मूल्य को प्रभावित नहीं कर पाता (ख) आयातकर्त्ता देश में यदि वस्तु का पर्याप्त मात्रा मे उत्पादन होता है तो निर्यातकर्त्ता देश अपनी वस्तु के मूल्य मे वृद्धि करके विदेशो पर कर-भार डालने में सफल नहीं हो सकता तथा (ग) आयातकर्त्ता देश मे यदि वस्तु की स्थानापन्न वस्तुएँ उपलब्ध हो तो यह स्वाभाविक ही है कि वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होते ही उसकी माँग घट जाएगी। इसके विपरीत यदि निर्यातकर्त्ता देश कच्ची सामग्री जैसी चीजों का निर्यात कर रहा है जिनकी विदेशो में माँग बेलोचदार है, या आयातकर्त्ता देश में जिनकी स्थानापन्न वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हैं या जिनकी पूर्ति करने के लिए निर्यातकर्त्ता देश एकाधिकारी स्थिति मे हो तो यह सम्भावना रहती है कि निर्यातकर्त्ता देश

कर का भार बहुत कुछ आयातकर्त्ता पर डालने में सफल हो जाएगा किन्तु व्यवहार में यह स्थिति भी बहुत कम पाई जाती है फलत: अधिकांश उदाहरणों में निर्यात-करों का भार निर्यातकर्त्ताओं को ही सहना पड़ता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि "आयात-कर अथवा निर्यात-कर का भार दो व्यापारिक देशों के मध्य उनकी किसी वस्तु की आवश्यकता की तीव्रता के प्रत्यक्ष अनुपात में उनकी वस्तु की माँग की लोच के उल्टे अनुपात में वितरित होता है।"

आय-कर का करापात
(Incidence of Income Tax)

आय-कर एक प्रत्यक्ष कर है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस प्रत्यक्ष कर का भार विवर्तित नहीं किया जा सकता। कराघात और करापात एक ही व्यक्ति पर पड़ते हैं किन्तु इससे सभी अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि आय-कर का भार विवर्तित किया जा सकता है। इसके अध्ययन से पहले आय-कर के स्वरूप की जानकारी आवश्यक है। इस कर में पेंशन, वेतन, मजदूरी, व्यावसायिक आय आदि सम्मिलित होती है। भारत में आय-कर के कई रूप विद्यमान हैं—आय-कर, अधि-कर, लाभ-कर, अधिलाभ-कर, पूँजीगत लाभ-कर, कृषि आय-कर आदि।

सर्वप्रथम हम डॉल्टन के आय-कर के कर-भार विवर्तन सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करेंगे। डॉल्टन के अनुसार "अब मैं आय पर कर-सताप (कर-भार) पर विचार करूँगा। किसी कर के सताप सिद्धान्त में सामान्यतया यह लक्षण बुनियादी महत्त्व रखता है, क्योंकि साधनों को कर-क्षेत्र से कर-मुक्त क्षेत्र में पलटा ले जाने से ऐसे कर से सताप का विवर्तन नहीं किया जा सकता। चूँकि कर सामान्य है, इसलिए कर-मुक्त क्षेत्र होता ही नहीं।" अधिकांश अर्थशास्त्री इस मत से सहमत हैं कि आय-कर का सताप (भार) आय पाने वाले पर होता है, जिसे 'आय-कर चुकाने वाले' की संज्ञा दी जाती है। बार-बार उद्धरित किए जाने वाले एक वक्तव्य के शब्दों में यह सिद्धान्त करीब-करीब पूरे क्षेत्र के लिए सही उतरता है तथा सभी काल के लिए सही है और अगर इसके कोई अपवाद हैं तो वे स्थानीय तथा स्थायी होने के नाते इसे अमान्य बनाने को यथेष्ट कारण नहीं है। बहुत से व्यावसायियों का यह विश्वास है कि उन पर लगाया गया आय-कर बढ़े हुए मूल्यों द्वारा उनके माल के क्रेताओं पर टाला जा सकता है, कुछ अपवादों को छोड़कर यह ठीक नहीं है। हालाँकि अर्थशास्त्री इस पर सहमत हैं कि सामान्य तौर से आय-कर का विवर्तन नहीं हो सकता फिर अल्पकाल में यह बिल्कुल सम्भव नहीं है, किन्तु अक्सर इस निष्कर्ष पर पहुँचने वाले तर्कों में मतभेद मिलता है अत: निम्नलिखित तर्क निर्णायक प्रतीत होते हैं—

पहला, जो व्यावसायी इसके विपरीत मत का खण्डन करते हैं उनके उत्तर में कहा जा सकता है कि आय-कर कच्चे माल पर कर या तैयार माल पर कर के समान नहीं होता और न स्थानिक दरों की भाँति होता है, जिसे सदा 'ऊपरी खर्च' माना जा सके और जो 'उत्पादन-व्यय' में शामिल हो सके। जहाँ तक व्यावसायिक आयों का सम्बन्ध है, आय-कर केवल लाभों पर लगा कर होता है। यदि अतिरेक नहीं है तो आय-कर भी नहीं लगेगा। आय-कर उत्पादन की लागत नहीं है, बल्कि व्यावसाय में सफलता की लागत है। जहाँ तक दूसरे प्रकार की आयों और विशेषकर परिसम्पत्तियों से प्राप्त होने वाली स्थाई आयों का सम्बन्ध है, व्यावसायी लोग अपने आय-कर को टाल सकते हैं।

दूसरा, कुछ व्यवसायी यह सोच सकते हैं कि आय-कर सहित वे अपने सारे कर वास्तव में अपने माल के विक्रय मूल्य में मिला लेते हैं, लेकिन यह भ्रम है। पूर्ण प्रतियोगिता में विक्रेता के पास बाजार मूल्य में कोई फेरबदल करने की शक्ति नहीं होती, पूर्ण एकाधिकार में उसकी शक्ति असीम होती है, अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा आंशिक एकाधिकार में उसे कुछ शक्ति रहती है। इन तीनों स्थितियों में, यह ध्यान में रखते हुए कि उसे क्या अवसर सुलभ हो सकते हैं, जो मूल्य उसे अधिकतम लाभ दे सकता है, उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता कि यह आय-कर चुकाता है या नहीं या कितना चुकाता है।

तीसरा, यह कारण पिछले दोनों तर्कों का आधार है। इस सिद्धान्त का यह सबल तर्क है कि आय-कर के भार को टाला जाना सम्भव नहीं है। जिन साधनों पर सामान्य आय-कर लगा होता है उसकी पूर्ति की लोच कम से कम अल्पकाल में नगण्य होती है। साधनों का एक उपयोग से दूसरे

उपयोग में दिग्परिवर्तन अगर पहले लाभप्रद नहीं था तो अब आय-कर लाभप्रद नहीं होगा और ऐसे दिग्परिवर्तनों की सम्भावना कुछ विशिष्ट प्रकार के साधनों की पूर्ति को दूसरी स्थितियों में लोचदार बना देती है। पूर्ति की यह बेलोच प्रवृत्ति जिसकी अल्पकाल में उपस्थिति करीब-करीब पक्की होती है कभी-कभी लम्बे समय में भी निश्चित रह सकती है, विशेषकर अगर प्रयास और त्याग के रूप में उनकी आय की माँग की लोच भी जो उन साधनों की पूर्ति करते हैं अत्यधिक बेलोचदार होती है। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि अक्सर स्थिति यही होती है।

इसी मान्यता के आधार पर साधनों की पूर्ति लम्बे समय में अपेक्षाकृत लोचदार होती है। इस मत के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि लम्बे समय में कभी-कभी आय-कर के भार के कुछ भाग का विवर्तन किया जा सकता है। कुछ स्थितियों में यह मान्यता उचित हो सकती। इसकी पुष्टि का अर्थ यह है कि अल्पकाल में आय-कर के भार का आय पाने वालों द्वारा विवर्तन नहीं किया जा सकता इससे तात्पर्य यह इन्कार करना नहीं है कि आय-कर के प्रभावों में काल, बचत और विनियोग के मार्ग में रुकावट डालना शामिल हो सकता है।

डॉल्टन के उक्त विचार से प्रकट है कि अन्य करों की भाँति आय-कर का वस्तु लागत अथवा विक्रय-मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है न इससे साधनों की गतिशीलता पर कोई प्रभाव पड़ता है अत कर का भार विवर्तित नहीं किया जा सकता है। इस विचार को सही मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि आय की माँग अथवा आय प्राप्त करने के साधनों की पूर्ति पूर्ण रूप से बेलोचदार है लेकिन व्यवहार में सदैव ऐसा नहीं होता। आय क्रय-विक्रय की जाती है। वस्तुओं की भाँति आय के क्रय-विक्रय के लिए क्रेता-विक्रेताओं के मध्य विनिमय सम्बन्ध स्थापित होते हैं अत आय-कर का भार भी विवर्तित किया जा सकता है। डॉल्टन ने आय के किराया तत्त्व (Rent Element) पर विचार नहीं किया है। किराया तत्त्व का आशय आय के उस अतिरेक से है जो सम्भावित लागत के ऊपर प्राप्त होती है। यदि ध्यान से देखें तो बहुत-सी आय थोड़ा-बहुत किराया तत्त्व रखती है इसलिए आनुपातिक तथा निश्चित मात्रा के कर विवर्तित नहीं किए जा सकते लेकिन जब कर किराया तत्त्व से ऊपर पहुँच जाता है तो यह प्रयत्नों में कमी होगी। यही स्थिति आय पर लगाए जाने वाले करो की है जो तेजी से किराया तत्त्व की भाँति प्रगतिशील है। उस स्थिति मे यह सम्भव है कि करदाता अपने प्रयासो को कम कर अधिक आनन्द उठाएँ। बहुत-सी वस्तुओं में किराया तत्त्व न्यून होता है और इसलिए उन वस्तुओं की आय पर कर-विवर्तन हो जाता है।

आय-कर का अध्ययन करने के लिए यह उचित होगा कि इसे दो भागो मे विभक्त कर इसका विवेचन किया जाये—

(क) वैयक्तिक शुद्ध आय पर कर—वेतन मजदूरी पेंशन आदि पर जो कर लगाया जाता है वह प्राय विवर्तित नहीं हो सकता है क्योंकि उत्पादक मजदूर को मजदूरी या वेतन उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार देता है। जब व्यक्ति को अपनी मजदूरी अथवा वेतन पर आय-कर देना पडता है तो इससे उसकी सौदा-शक्ति (Bargaining Power) मे कोई वृद्धि नहीं होती। दूसरे शब्दो में वह करारोपण के बाद भी उत्पादक के लिए पहले से अधिक वृद्धि उपयोगी नहीं हो जाती वरन् पहले जैसी ही उपयोगी रहती है। परिणामत कर लग जाने के बाद भी उत्पादक उसे अधिक मजदूरी नहीं देता है और कर-भार मजदूरी को स्वय वहन करना पडता है लेकिन यदि मजदूरी सीमान्त उत्पादन से कम दी जा रही है तो श्रमिक कर-भार स्वामी पर डाल सकते है और मजदूरी बढवाने के प्रयास मे सफल हो सकते हैं।

(ख) व्यावसायिक आय पर कर—इस कर भार के सम्बन्ध में दो विचार मिलते हैं। व्यावसायी वर्ग का मत है कि मूल्यों में वृद्धि कर आय-कर का भार उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है जबकि अर्थशास्त्रियों का कहना है कि व्यावसायिक आय पर लगे कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि कर का भार वस्तुओ के मूल्यों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अब हमे देखना है कि इन दोनों में से कौन-सा मत उपयुक्त है। साधारणत व्यावसायी ऐसी स्थिति मे नही होता कि वह मूल्य बढाकर अपने आय-कर का विवर्तन कर सके। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति के सन्तुलन से निर्धारित होता है तथा उत्पादक को अपनी वस्तु प्रचलित बाजार

मूल्य पर ही बेचनी पड़ती है जिस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता और इसका निर्धारण ऐसे तथ्यों द्वारा होता है जो उसके नियन्त्रण से दूर होते हैं। इस दशा में यदि व्यावसायी आय-कर देने के कारण वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है तो उसके ग्राहक टूट जाने का खतरा बना रहता है। ग्राहक टूट जाने से कर-विवर्तन के बाद उसकी जो कुछ भी शुद्ध आय बचेगी वह कर विवर्तन से पहले की तुलना में निश्चित रूप से कम होगी अत स्पष्ट है कि आय कर के कारण व्यावसायी चूँकि वस्तुओं का मूल्य बढाने में सफल नहीं होता इसलिए कर भार को स्वय सहता है। दूसरे शब्दों में वह आय कर न तो वस्तु की सीमान्त लागत को ही प्रभावित कर पाता है और न ही वस्तु की पूर्ति को ही सीमित करता है इसलिए उसका विवर्तन नहीं हो पाता। पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति एकाधिकार की दशा में व्यवसायी आय कर को टालने में सफल नहीं होता क्योंकि एकाधिकारी उत्पादक अपने उत्पादन की मात्रा और मूल्य का निर्धारण इस प्रकार करते हैं कि उन्हें अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो। यदि एकाधिकारी आय कर का विवर्तन उपभोक्ता पर विवर्तित करने के लिए उत्पादन की मात्रा कम और मूल्य में वृद्धि करता है। इस नवीन स्थिति में उसका वास्तविक एकाधिकारी लाभ (Net Monopoly Profit) पहले की अपेक्षा कम हो जाएगा। स्पष्ट है कि एकाधिकारी उत्पादन आय कर के भार को विवर्तित न करते हुए उसे स्वय ही सहन करना पसन्द करेगा। इंग्लैण्ड की काल्वेयन कमेटी ऑन नेशनल डेब्ट एण्ड टेक्सेशन (Colwyn Committee of National Debt and Taxation) 1927 का आय कर के सम्बन्ध में यही विचार था कि उसका विवर्तन नहीं किया जा सकता है। समिति का निष्कर्ष था कि यह आर्थिक तर्क (कि आय करो का विवर्तन नहीं किया जा सकता) व्यावहारिक रूप में सभी क्षेत्रों के लिए तथा समयो के लिए सत्य है। यदि इसका कोई अपवाद हो भी तो वह केवल स्थानीय अथवा स्थायी होगा और इसे अमान्य नहीं कर सकता।

सम्पत्ति कर का करापात

(The Incidence of Taxes on Property)

सम्पत्ति को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(i) प्रत्यक्ष रूप से उपभोग में ली जाने वाली सम्पत्ति एव

(ii) उत्पादन में प्रयुक्त होने वाली सम्पत्ति।

(i) इन दोनों प्रकार की सम्पत्तियों पर लगा कर भार अलग अलग रूप में सहना पड़ता है। जब कोई कर ऐसी सम्पत्ति पर लगाया जाता है जो उपभोग के काम में लाई जाती है (जैसे—मकान आभूषण आदि) तो इसमें विनिमय की कोई प्रक्रिया सम्पन्न नहीं होती जिससे कीमतों के बढने की कोई सम्भावना नहीं रहती और कर विवर्तन (Forward Shifting) आगे की ओर नहीं किया जा सकता। कर भार सम्पत्ति के स्वामी को ही सहन करना पड़ता है। कुछ दशाओं में इसके पीछे की ओर अर्थात् प्रतिगामी विवर्तन (Backward Shifting) अवश्य हो जाता है। इस प्रकार का विवर्तन उस समय होता है जबकि कर लगी वस्तु को खरीदा जाता है अर्थात् सम्पत्ति को कम मूल्य पर खरीदकर भविष्य में दिए जाने वाले कर की क्षतिपूर्ति कर ली जाती है। सम्पत्ति कर को पीछे की ओर ढकेलने की इस प्रक्रिया को कर का पूँजीकरण (Capitalisation of Tax) कहते हैं। व्यूहलर ने बताया है कि पूँजीकर मे वार्षिक आय के पूँजीगत मूल्य की गणना होती है। इसे हम वार्षिक आय में प्रतिशत दर का भाग देकर मालूम कर लेते हैं। उदाहरण के लिए 5 प्रतिशत की दर 50 रुपये की वार्षिक आय का पूँजीगत मूल्य 100 × 10 =1000 रुपये होगा या 1000 रुपये की पूजी दर 5 प्रतिशत वार्षिक दर से 50 रुपये की वार्षिक आय प्रदान करेगी। पूँजीकरण को स्पष्ट करने के लिए निम्न उदाहरण उपयुक्त होगा—

मान लीजिए किसी मकान से 50 रु प्रतिवर्ष किराया प्राप्त होता है। कर का पूजीकरण सदा प्रचलित ब्याज की दर पर होता है। प्रचलित ब्याज की दर 5 प्रतिशत है तब 5 प्रतिशत ब्याज की दर पर मकान का मूल्य 1000 रु होगा। यदि सरकार मकान की आय पर 20 प्रतिशत कर लगाती है तब इस मकान के खरीदने वाले की वास्तविक आय 40 रु प्रतिवर्ष हो जाएगी। तब 1000 रु की पूँजी को ... ा कि उसका विनियोग ऐसा हो कि प्रचलित 5 प्रतिशत ब्याज

की दर पर 50 रु प्रतिवर्ष आय प्राप्त हो जाए। यह व्यक्ति उक्त मकान को 1000 रु मे नही खरीदेगा क्योकि कर भुगतान के बाद उसकी वास्तविक शुद्ध आय केवल 40 रुपये की होगी और उसे अपने विनियोग पर प्रतिवर्ष 10 रु की हानि होगी। यही व्यक्ति इस मकान को उसी स्थिति मे खरीदने के लिए तैयार हो जाएगा जबकि विक्रेता उसका केवल वास्तविक मूल्य ही ले। उक्त मकान का 5 प्रतिशत ब्याज की दर पर वास्तविक मूल्य 40 रु प्रतिवर्ष आय (कर का भुगतान करने के बाद) के आधार पर 800 रु है। अत क्रेता इस मकान को केवल 800 रु मूल्य पर खरीदने को तैयार होगा।

इसका अर्थ यह होगा कि क्रेता ने मकान की आय पर कर पूँजीकरण कर लिया है। यद्यपि क्रेता को प्रतिवर्ष कर का भुगतान करना पडेगा परन्तु उसने समस्त भावी कर का भार आरम्भ में ही मकान के क्रेता पर डाल दिया है क्योकि वह अपनी विनियोजित पूँजी पर 5 प्रतिशत ब्याज की दर से आय प्राप्त कर रहा है। इस तरह क्रेता के लिए यह मकान अन्य बाते समान रहने पर सदा ही कर-भार रहित रहेगा। उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कर का पूँजीकरण कर देने से करदाता कर-भार का अनुभव नहीं करता।

कर का पूँजीकरण इतना सरल नही होता जितना समझा जाता है। इसके लिए कुछ शर्तों की आवश्यकता होती है जिन्हे पूँजीकरण की शर्तें (Conditions for the Capitalisation of Tax) कह सकते है। शर्तें प्रधानत इस प्रकार है—

1 वह सम्पत्ति टिकाऊ होनी चाहिए और इसकी पूर्ति ऐसी होनी चाहिए जिसको सरलतापूर्वक घटाया-बढाया नही जा सके। इस प्रकार मकान भूमि आदि पर कर का पूँजीकरण सम्भव है लेकिन दूध रोटी आदि पर नही।

2 कर केवल एक वस्तु पर होना चाहिए। यदि कर सभी वस्तुओं पर समान दर से लगाया जाएगा तो कर का पूँजीकरण नही हो सकेगा क्योकि तब विनियोगकर्त्ताओं को सभी वस्तुओं से समान लाभ प्राप्त होगा। इसके विपरीत यदि एक ही वस्तु पर कर लगाया जाएगा तो इस वस्तु से अन्य वस्तुओं की तुलना में कम लाभ प्राप्त होगा और क्रेता इस वस्तु को तभी खरीदेगा जब इस पर कर-भार का पूँजीकरण हो गया हो। इससे स्पष्ट है कि जब किसी एक वस्तु पर करारोपण होता है और वस्तु का स्वामी इसे बेचना चाहता है तो इसका विक्रय तभी सम्भव होगा जब इस पर कर-भार का पूँजीकरण कर दिया जाएगा।

3 कर दीर्घकाल के लिए लगाया जाए तभी कर का पूँजीकरण होगा। यदि कर केवल अस्थायी रूप से अल्पकाल के लिए लगाया गया है तो सम्पत्ति का मालिक उसको बेचना नही चाहेगा और वह कर हटने के समय की प्रतीक्षा करेगा ताकि उचित मूल्य पर वह अपनी सम्पत्ति बेच सके। इसका कारण यह है कि वह सम्पत्ति को कर की उपस्थिति मे बेचेगा तो उसे सम्पत्ति का कम मूल्य प्राप्त होगा। अत वह सम्पत्ति का पूरा मूल्य पाने के लिए उसको तभी बेचेगा जब कर हटा दिया जाए। स्पष्ट है कि कर का पूँजीकरण केवल तभी होगा जब करारोपण दीर्घकाल के लिए किया गया हो।

4 कर का पूँजीकरण उन्हीं वस्तुओं पर हो सकता है जिनका बाजार में क्रय-विक्रय होता है। मजदूरी पर कर का पूँजीकरण नही हो सकता क्योकि वस्तु की तरह मजदूरी को खरीदा-बेचा नहीं जा सकता।

5 जिस वस्तु पर करारोपण किया जा रहा है उसका स्वामित्व शीघ्र बदलते रहना चाहिए। बेचने व खरीदने मे वस्तु का मूल्य कम होता रहे। इसी कारण सैलिगमैन ने भूमि कर मे पूँजीकरण का पक्ष लिया है।

6 कर का पूँजीकरण उसी वस्तु का हो सकता है जिसका पूँजीगत मूल्य हो और वार्षिक आय प्राप्त होती हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि पूँजीगत कर-भार किस पर पडता है सम्पत्ति के क्रेता पर या विक्रेता पर ? इस पर लोगो की अलग अलग राय है। पूँजीगत कर का भार विक्रेताओं पर पडता है क्योंकि उनको मूल्य कम करना पडता है। डॉल्टन का विचार है कि पूँजीगत कर का भार क्रेता पर पडता है क्योंकि कर हटने के बाद उसे लाभ प्राप्त होता है।

(ii) जहाँ तक दूसरे प्रकार की सम्पत्ति अर्थात् उत्पादन के काम मे आने वाली सम्पत्ति का प्रश्न है उसमें कर-भार का निर्धारण लगभग उसी तरीके से किया जाता है जिस प्रकार किसी व्यवसाय पर एकमुश्त रकम के रूप मे लगाने वाले कर-भार का निर्धारण होता है। ऐसा कर व्यवसाय की स्थायी उत्पादन लागत बन जाता है। ऐसे कर से व्यवसाय की सीमान्त लागत (Marginal Cost) मे कोई वृद्धि नहीं होगी अत सम्पत्ति के मूल्य मे तब तक कोई बढोत्तरी नहीं होती जब तक कि उसकी पूर्ति कम न हो जाए अथवा उसकी माँग बढ न जाए। सम्पत्ति-कर में प्राय न तो माँग ही बढती है और न पूर्ति घटती है इसलिए कर का विवर्तन नहीं हो पाता। हाँ दीर्घकाल में यह हो सकता है कि सम्पत्ति के कुछ ऐसे स्वामी जिन पर कर-भार बहुत अधिक पड रहा हो उत्पादन करना ही छोड़ दे। फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति मे कमी आ जाए और कीमते बढ जाएँ और विवर्तन सम्भव हो जाए। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उत्पादन मे काम आने वाली सम्पत्ति पर जो कर लगाया जाता है उसका आगे की ओर विवर्तन (Forward Shifting) अल्पकाल मे तो कठिन होता है किन्तु दीर्घकाल में कुछ सीमा तक उसका विवर्तन अवश्य किया जा सकता है।

व्यावसायिक लाभ पर लगे कर का करापात

(The Incidence of Business Profit Taxes)

व्यावसायिक लाभ पर लगे करों के विवर्तन का प्रश्न बडा विवादास्पद है। पहले यह धारणा थी कि करो का विवर्तन नहीं किया जा सकता लेकिन आज अधिकाशत यह विश्वास किया जाता है कि इन करो के भार का विवर्तन सम्भव है।

व्यावसायिक लाभो पर जो कर लगाए जाते हैं वे तीन प्रकार के होते है—

(क) साझेदारी और कम्प। े की आय पर कर

(ख) सम्मिलित पूँजी वाली कम्‍नियो की आय पर कर तथा

(ग) अत्यधिक लाभो पर कर।

सैद्धान्तिक रूप मे व्यावसायिक करो का विवर्तन नहीं हो सकता उदाहरणार्थ—लाभकर। ये कर शुद्ध लाभों पर लगाए जाते हैं अर्थात् श्रम पूँजी सगठन भूमि आदि पर होने वाले व्ययों को निकालने के बाद जो वास्तविक लाभ बचा रहता है उस पर ये कर लगाए जाते हैं। इन करों का व्यक्तिगत विनियोगो पर बुरा प्रभाव नहीं पडता। इसके अतिरिक्त इन करो को लगाते समय विभिन्न व्यवसायो में भेद नहीं किया जाता। जिन व्यावसायिक इकाइयों मे केवल सामान्य ल्‍भ हो रहा है उन्हें प्राय कर-मुक्त रखा जाता है। इन करो का मूल्य स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पडता इसलिए इनका विवर्तन नहीं हो सकता। व्यवहार में यह पाया गया है कि युद्ध अथवा सकटकालीन अवस्था मे जब वस्तुओं की माँग बहुत बढ जाती है और मूल्य बढने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं तब इन करो का विवर्तन उपभोक्ताओं के ऊपर सरलतापूर्वक कर दिया जाता है।

सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की आय पर भी करारोपण किया जाता है। इन करों को उन सभी कम्पनियो से वसूल किया जाता है जो अपने हिस्सेदारों की ओर से आय प्राप्त करती हैं। हिस्सेदारों द्वारा लगाई गई पूँजी का ब्याज व्यावसायिक उत्पादन व्यय का एक अग होता है अत इन पर आरोपित कर का भार लागत के एक महत्वपूर्ण भाग पर पडता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि कम्पनियों की आय पर लगे हुए कर व्यक्तिगत विनियोग को निरुत्साहित करते है और देश की व्यावसायिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। इन अर्थशास्त्रियो का कहना है कि ऐसे करो का विवर्तन दीर्घकाल में ही सम्भव है। विचारको का एक दूसरा पक्ष इन अर्थशास्त्रियों से सहमत नहीं है। उनका तर्क है कि इस प्रकार के कर व्यावसायिक लागतो का एक भाग बन जाते हैं जिनको मूल्य मे शामिल कर लिया जाता है। कम्पनियाँ मूल्यों को प्रभावित कर सकती है और कर-भार को उपभोक्ताओं पर ढकेलने में सफल हो सकती हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि वास्तविक जगत् में ऐसा नहीं होता क्योंकि एकाधिकारी दशाओं में छोटे-छोटे व्यवसायी मूल्यों से स्वय प्रभावित होते है वे मूल्यों को प्रभावित नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त व्यवसाय पर प्राप्त होने वाली आय पर कर लगाए जाते है। कुछ लोगों का कहना है कि

व्यावसायिक करो का विवर्तन केवल अशत किया जा सकता है । इन करों का भार व्यवसायी और उपभोक्ता दोनो को थोड़ा-थोडा वहन करना पडता है ।

इस विवेचन से प्रकट है कि व्यावसायिक कर-भार के विवर्तन के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियो मे कोई मतैक्य नहीं है । विचारों की इस भिन्नता के कई कारण हो सकते हैं । प्रथम बाजार की परिस्थितियाँ इतनी जटिल हो गई हैं और बाजार को प्रभावित करने वाले तत्त्व इतने अधिक हो गए है कि यह ठीक-ठीक अनुमानित नहीं किया जा सकता कि कर-विवर्तन हो रहा है या नहीं यदि हो रहा है तो किस अश तक ।

दूसरे प्रत्येक उद्योग की माँग सारिणियाँ अलग-अलग होती हैं । लोचदार माँग वाली वस्तु के मूल्य पर नियन्त्रण रखने में व्यवसायी असफल होते हैं । इस स्थिति में उस वस्तु पर लगे कर का विवर्तन करना सम्भव नहीं होता । यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में जब तक वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी के समान नियन्त्रण नहीं होता और उत्पादक उसके मूल्य को प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखता तब तक उस वस्तु के ऊपर लगे कर भार का विवर्तन होना बहुत कठिन है चाहे माँग की स्थिति कुछ भी हो । कम्पनी आय-कर का विवर्तन तब अधिक सुगम होगा जब वस्तु विशेष की माँग और समाज की कुल माँग में बढोत्तरी होने से मूल्यों में ऊपर चढने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए ।

तीसरे कम्पनियों की आय पर लगे कर का विवर्तन वस्तुओं की पूर्ति पर निर्भर करता है । जब पूर्ति नियन्त्रित होती है तो उत्पादक पूर्ति की मात्रा कम करके कर-भार का विवर्तन कर सकते हैं और यह दीर्घकाल मे सम्भव हो पाता है जबकि उत्पादक पूर्ति घटाकर अपने साधनों को अन्य वस्तु के उत्पादन में लगा दे । यदि वे अपने साधनों को अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगाने में असमर्थ रहें और पूर्ति को कम करने की स्थिति में न हों तब उसके लिए कर-भार का विवर्तन करना सम्भव नहीं है ।

एकाधिकार के लिए कर का विवर्तन करना अधिक सुगम होता है । ऐसा तभी होता है जब उसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति नहीं होती । एकाधिकार प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादक कर विवर्तन मे आशिक रूप से सफल हो सकता है जबकि सम्पूर्ण उद्योग की वस्तुओं के मूल्य बढाए जाएँ ।

बिक्री-करो एवं उत्पादन-करों का करापात
(The Incidence of Sales Taxes and Excise Taxes)

बिक्री-कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर लगाया जाता है और उत्पादन-कर वस्तुओं के उत्पादन पर लगाया जाता है । कर-भार के अध्ययन के दृष्टिकोण से इन दोनों को वस्तु-कर (Commodity Tax) का नाम दे दिया है

बिक्री कर लगाने से वस्तुओं का मूल्य अधिक हो जाता है । इससे उपभोग की मात्रा घट जाती है और उपभोक्ताओं की रहन-सहन की लागत (Cost of Living) अधिक हो जाती है । माँग कम हो जाने से वस्तु का उत्पादन निरुत्साहित होता है श्रमिकों व मालिकों में मजदूरी के सम्बन्ध में सघर्ष होने लगते हैं इसी प्रकार के अन्य परिणाम निकलते हैं । यदि करारोपित वस्तु की माँग बेलोचदार होती है तब मूल्य वृद्धि द्वारा कर-भार उपभोक्ता पर विवर्तित किया जा सकता है । यदि वस्तु की माँग लोचदार होती है तो कर-भार अशत उपभोक्ता को और अशत उत्पादक या विक्रेता को वहन करना पडता है । वैसे साधारणत वस्तु पर लगे करों का भार उपभोक्ता सहन करते हैं और इन करों को लगाते समय सरकार का यही उद्देश्य होता है कि इसका भार सभी उपभोक्ता वहन करें । व्यवहारत वस्तु पर लगे कर का विवर्तन होना या न होना वस्तु की माँग या पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है । यदि वस्तु की पूर्ति बेलोचदार और माँग लोचदार होती है तो कर लगाने पर कर-भार का विवर्तन नहीं हो पाता और सम्पूर्ण कर का भार उत्पादकों को वहन करना पड़ता है ।

बिक्री-कर दो तरह के होते हैं—सामान्य बिक्री-कर और विशेष बिक्री-कर । सामान्य बिक्री कर सभी वस्तुओं पर लगाए जाते हैं जबकि विशेष बिक्री-कर केवल विशिष्ट वस्तुओं पर लगाए जाते हैं । सामान्य बिक्री-कर के लगने पर उत्पादक कर-भार को पूर्णत उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर देते हैं और सरकार का यही उद्देश्य होता है । विशेष बिक्री-कर के भार का विवर्तन इतना सरल नहीं होता । यदि उस वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं पर करारोपण नहीं होता है तो इन करों का भार उत्पादकों को वहन

करना पड़ता है। यदि वस्तु की माँग लोचदार होती है तो उसके कर भार को उत्पादक वहन करते है। इसके विपरीत करारोपित वस्तु की स्थानापन्न वस्तु के बाजारों में न होने पर और उसकी माँग बेलोचदार होने पर कर-भार को उपभोक्ताओं पर ढकेला जा सकता है।

भारत में बिक्री-कर की स्थिति कुछ भिन्न है। यहाँ बिक्री-कर राज्य स्तर पर लगाए जाते हैं अतः उपभोक्ता उस वस्तु को जिस पर एक राज्य मे कर लगा हुआ है किन्तु दूसरे मे नहीं, अन्य राज्यों से मँगा लेते हैं और कर-भार उपभोक्ताओं पर डाला जाना सम्भव नहीं हो पाता तथा उत्पादक स्वय अधिकाशतः कर-भार सहन करते हैं।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि कर-भार किस अश तक क्रेता-विक्रेता अथवा उत्पादकों पर पड़ेगा, यह अनेक तत्त्वो पर निर्भर करता है, जैसे—करारोपित वस्तु की माँग-पूर्ति की लोच, उत्पत्ति के नियम, उत्पादन अथवा विपणन दशा, स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता, कर की प्रकृति आदि।

करापात के आधुनिक विचार

(Modern Views on the Incidence of Tax)

कर-भार के सम्बन्ध में आधुनिक विचार परम्परागत विचारो से एकदम भिन्न हैं। तब तक कर-भार का अर्थ प्रत्यक्ष मौद्रिक-भार (Direct Money Burden) से लिया गया है, किन्तु आधुनिक विचारधारा मे प्रत्यक्ष मौद्रिक-भार एव अप्रत्यक्ष मौद्रिक-भार जैसे कर-भार के वर्गीकरण को महत्त्व नहीं दिया जाता। आधुनिक अर्थशास्त्रियों की मान्यता यह है कि कर-भार के अध्ययन के लिए कर के प्रभावों से सम्बन्धित सभी तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे लिए यह ज्ञान करना जरूरी है कि करारोपण से मजदूरी, वेतन, लाभ, ब्याज आदि पर क्या प्रभाव पड सकते हैं ? करारोपण के बाद वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में क्या परिवर्तन हो सकते हैं ? ये परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से होते है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ? ये परिवर्तन व्यक्तियों की आय की दिशा में होते हैं अथवा व्यय की दिशा मे ?

प्राचीन लेखक उक्त तथ्यों की जानकारी के सम्बन्ध में प्राय स्पष्ट नहीं हैं। वे कर-भार विवर्तन को मुख्यतः उसी धारणा पर आधारित करते हैं कि प्रत्येक कर का अन्तिम भार होता है, जबकि व्यवहारतः कर-भार का पता तभी लगाया जा सकता है जब कर लगने से साधनों का हस्तान्तरण व्यक्तिगत उपयोग से सार्वजनिक या राजकीय उपयोग मे होता हो। पुनश्च, पिछले अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि करारोपण से किसी न किसी व्यक्ति को हानि होती ही है जबकि वास्तव में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त हानि का पता लगाने के लिए करों के साथ-साथ राजकीय व्यय का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। एकाकी रूप मे हानि के अध्ययन उपयुक्त व तर्कसगत नहीं हैं। करारोपण से यदि किसी को हानि होती है तो राजकीय व्यय से किसी को लाभ होता है।

परम्परागत मत के इन दोषों के कारण आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कर-भार का विस्तृत विवेचन किया है। आधुनिक विचारों का उदय मुख्यतः स्वीडन के अर्थशास्त्रियों विशेषकर विकसैल (Wicksell) से हुआ है और श्रीमती हिक्स, मसग्रेव आदि लेखकों ने इन नवीन विचारों का विकास किया है। इन लेखकों ने बताया है कि करापात का अभिप्राय आय के वितरण में पैदा होने वाले उन परिवर्तनों से है जो करारोपण एव सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। यह माना गया है कि आय-व्यय के बजट में तीन प्रकार के परिवर्तन या प्रभाव होते हैं—

(क) साधनों के निजी उपयोग से राजकीय उपयोगों के लिए स्थानान्तरण,

(ख) उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तन, तथा

(ग) आय के वितरण सम्बन्धी परिवर्तन।

आधुनिक लेखकों ने अन्तिम प्रकार के परिवर्तनों (व्यक्तियों के बीच आय के वितरण सम्बन्धी परिवर्तन) के अध्ययन को ही करापात से सम्बद्ध किया है और इसमें लोक-आय तथा लोक-व्यय दोनों पक्षों को सम्मिलित किया है।

आधुनिक लेखकों के इन विचारों को विस्तार से समझने पर उपरोक्त स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। इसके लिए सर्वप्रथम हम उन स्थितियों को लेते हैं जिनमें यह माना गया है कि बजट की कर-नीति में परिवर्तन कर दिए गए हैं पर सार्वजनिक व्यय नीति यथापूर्व है। कर-नीति में परिवर्तन के

फलस्वरूप वितरण में जो परिवर्तन होते है उन्हे अर्थशास्त्रियों ने विशेष कर-भार (Specific Tax Incidence) कहा है। ये परिवर्तन इस उदाहरण से समझे जा सकते है कि यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति मे आय-कर की दर कम कर दी जाएगी तो लोगों के पास वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करने के लिए पहले की तुलना मे अधिक आय बची रहेगी। इससे उनके मूल्यों में वृद्धि होगी और क्रय-स्तर को पूर्ववत् बनाए रखने के लिए लोगो को अधिक व्यय करना पडेगा। इससे मुद्रा-स्फीति की स्थिति पदा हो जाएगी। आय-कर की दर मे वृद्धि करने से मुद्रा-सकुचन की स्थिति पैदा हो जाएगी। ये दोनों ही दशाएँ आय के वितरण को प्रभावित करेगी। इस विवरण से स्पष्ट है कि कर-नीति सम्बन्धी परिवर्तनों मे दो प्रकार के भार होते है—

(i) किसी विशेष कर-नीति सम्बन्धी परिवर्तनो के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले भार एव

(ii) मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-सकुचन के कारण उत्पन्न होने वाले भार या प्रभाव।

ये दोनों प्रभाव एक-दूसरे को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि स्थिति बडी जटिल हो जाती है। इसलिए विशेष करों के भार का अध्ययन करना कठिन और पेचीदा हो जाता है।

कभी-कभी सरकार इस उद्देश्य से कि उसकी आय मे कोई परिवर्तन न हो पाए एक कर के स्थान पर दूसरा कर लगा देती है। ऐसा करने से उस कर के कारण आय के वितरण में जो परिवर्तन उत्पन्न हो जाते है उन्हें विभेदात्मक कर-भार (Differential Tax Incidence) कहा जाता है। सरकार द्वारा इस प्रकार के करारोपण करने पर सरकारी व्यय मे कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तुओं और सेवाओं की माँग पहले जैसे ही बनी रहती है पर चूँकि अलग-अलग प्रकार के कर व्यक्तिगत माँग को अलग-अलग ढग से प्रभावित करते है अत मूल्य-स्तर पर अवश्य प्रभाव पडता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को अपने व्यय की स्थिति को यथापूर्व कायम रखने के लिए अपने वास्तविक व्यय में परिवर्तन करने पड़ते हैं। फलस्वरूप करों के परिवर्तन के साथ-साथ सरकार की मौद्रिक आय समान नहीं रह पाती जिससे विभेदात्मक कर-भार (Differential Tax Incidence) का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है। विभेदात्मक कर-भार के समुचित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उक्त दोनों करों के वितरणात्मक परिणामों का अध्ययन किया जाए। इसके लिए दोनो करो के समय बाजार मूल्यों के सन्दर्भ में उनसे प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय का अध्ययन करना होगा। यह अध्ययन विशेष कर-भार के अध्ययन की तुलना में निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमे मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-सकुचन के प्रभावो के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

व्यय-भार (Expenditure Incidence)

अभी तक हमने बजट सम्बन्धी नीतियो के परिवर्तनो से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों की समस्या का विश्लेषण यह मानत हुए किया है कि यदि सार्वजनिक व्यय यथापूर्व बना रहे और कर-नीति सम्बन्धी परिवर्तन कर दिया जाए तो अर्थव्यवस्था मे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कैसे किया जाना चाहिए। अब हम यह मानकर आगे बढते हैं कि सरकार की कर-नीति मे तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ है किन्तु सार्वजनिक व्यय में परिवर्तन किया गया है तो ऐसी स्थिति मे आय के वितरणात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किस प्रकार किया जाना चाहिए। सार्वजनिक व्यय के इन प्रभावों को 'सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार (Public Expenditure Incidence) कहा जा सकता है। ये भार भी दो प्रकार के होते हैं—

(i) विशेष सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार एव

(ii) विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार।

सार्वजनिक व्यय के फलस्वरूप व्यक्ति की आय मे होन वाले परिवर्तनो को विशेष सार्वजनिक व्यय-भार कहा जाता है। जबकि सार्वजनिक व्यय के वितरणात्मक प्रभावो को विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय-भार कहते हैं। इन दोनों का विश्लेषण किया जाना उपयुक्त है।

जब सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जाती है तो व्यक्तियों की आय मे बढोत्तरी होती है जिससे वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ जाते है। सार्वजनिक व्यय में कमी करने से व्यक्तियो की आय कम हो जाती है और वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य भी घट जाते है। इस प्रकार के अध्ययन मे दो तरह के

परिवर्तनों का ज्ञान किया जाना आवश्यक है—प्रथम, उन परिवर्तनो का जो सार्वजनिक व्यय के कारण उत्पन्न होते है और द्वितीय, उन परिवर्तनो का जो मुद्रा-सकुचन के कारण पैदा होते हैं । दोनों का अध्ययन उतना ही कठिन और जटिल है जितना विशेष आय-कर मे वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन । अत. इस कठिनाई अथवा जटिलता से बचने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय के परिवर्तनो का अध्ययन बजट नीति को ध्यान में रखकर किया जाए । यदि सार्वजनिक व्यय मे एक दिशा मे वृद्धि होगी तो दूसरी दिशा में कमी होगी क्योकि बजट नीति का प्रभाव सन्तुलित करने के लिए व्यय का समायोजन भी आवश्यक होता है । ऐसे सार्वजनिक व्यय के विवरणात्मक प्रभावो को विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय-भार कहा जाता है । मसग्रेव का मत है कि सार्वजनिक व्यय भार अध्ययन इतना उपयोगी नही होता जितना विभेदात्मक कर-भार का होता है । इसका कारण यह है कि कर-नीति के परिवर्तन अधिक उत्सुकता पैदा करने वाले होते [redacted] तथा सार्वजनिक सेवाओं से प्राप्त होने वाले लाभो का विवरणात्मक महत्त्व अवश्य होता है लेकिन ये लाभ 'भार' (Incidence) का एक अश नहीं कहे जा सकते ।

सन्तुलित बजट भार (Balanced Budget Incidence)

अब तक हमने अलग-अलग कर-नीति के परिवर्तनो से उत्पन्न होने वाले और व्यय नीति से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनो की चर्चा की है । कर-नीति और व्यय-नीति दोनों के परिवर्तनो से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनो को सन्तुलित बजट भार (Balanced Budget Incidence) कहा जा सकता है । यदि इसके साथ-साथ कर-नीति मे परिवर्तन कर दिए जाते है तो उससे सरकार को आवश्यक कोष प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार का अध्ययन अर्थशास्त्रियो की दृष्टि से सबसे उपयुक्त है ।

इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि आधुनिक लेखक परम्परावादी लेखको की भाँति केवल कर-भार के अध्ययन को काफी नहीं मानते बल्कि कर-भार के उचित अध्ययन के लिए सरकारी बजट के आय तथा व्यय दोनों पक्षों का अध्ययन आवश्यक मानते हैं । वास्तव मे तभी कर-भार का सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । इसमें यह भी स्पष्ट है कि कर-भार को विभिन्न रीतियो से विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न व्यक्तियो पर वितरित किया जा सकता है । यहाँ स्मरणीय है कि कर-भार की समस्या अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है लेकिन व्यवहार में इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता । व्यावहारिक जगत मे किसी भी देश में करारोपण केवल सामाजिक उद्देश्यो के आधार पर ही नहीं होता वरन् राजनीतिक परिस्थितियों का उस पर प्रभाव पड़ता है । अतः इस अध्ययन का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही अधिक है ।

8

करारोपण का प्रभाव एवं कर-प्रणाली की प्रगतिशीलता

(The Effects of Taxation & Progression of Tax-System)

करारोपण का उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना ही नहीं होता है बल्कि इसका उपभोग, उत्पादन, वितरण एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, आदि का अध्ययन करना भी है। अतः करारोपण इस प्रकार होना चाहिए कि उसका प्रभाव यथासम्भव अच्छा हो। कर नीति का उद्देश्य अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाए रखना और तेजी एवं मन्दी को रोकना होना चाहिए।

करारोपण के भावी तथा वर्तमान आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है कि व्यवहार में सरकार किसी एक सिद्धान्त का निश्चित रूप से पालन नहीं करती। वह अधिकांशतः अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कर-नीति निर्धारित करती है। अतः करारोपण के प्रभाव में केवल व्यक्तिगत करों के प्रभाव ही नहीं, अपितु कर सम्बन्धी नीतियों के प्रभाव भी सम्मिलित होते हैं। करों की दरों व भावी करारोपण की आशा से सभी आर्थिक क्रियाओं की दशाओं में परिवर्तन होता रहता है। उत्पादन घटता है और बढ़ता है, धन का वितरण समान और असमान होता है, मूल्य स्तर में उच्चावचन आते हैं। इसी प्रकार रोजगार व उपभोग और बचत व पूँजी में परिवर्तन होता रहता है। कहने का आशय हुआ कि करारोपण के प्रभाव अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के होते हैं। यदि अच्छे प्रभाव अधिक होते हैं और बुरे प्रभाव कम तो कर-प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती है।

करों का वास्तविक प्रभाव तभी ज्ञात किया जा सकता है जब यह पता लगा लिया जाए कि कर से प्राप्त आय व व्यय का क्या प्रभाव पड़ता है? यदि करारोपण के प्रभाव अच्छे हैं, किन्तु उसके व्यय के प्रभाव बुरे पड़ते है तो उस करारोपण को उचित नहीं माना जा सकता। यह सम्भव है कि करारोपण के प्रभाव तो बुरे पड़ें लेकिन उससे प्राप्त आय के प्रभाव अच्छे हों। अतः उचित यही है कि करारोपण को अच्छा तथा बुरा ठहराने के लिए इससे सामूहिक प्रभावों का अध्ययन किया जाए। इस अध्ययन का व्यावहारिकता की अपेक्षा सैद्धान्तिक महत्त्व अधिक है। मनुष्य की मनोवृत्तियाँ बदलती रहती हैं और इन परिवर्तन से किसी भी नीति में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

डॉल्टन ने करारोपण के प्रभावों का तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन किया है—(क) उत्पादन पर प्रभाव, (ख) वितरण पर प्रभाव, तथा (ग) अन्य प्रभाव।

करारोपण के उत्पादन पर प्रभाव

(Effects of Taxation on Production)

करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को भी तीन भागों में विभाजित किया है—

1. व्यक्तियों के कार्य करने और बचत करने की योग्यता पर प्रभाव,
2. व्यक्ति के कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर प्रभाव, एवं
3. आर्थिक साधनों के विभिन्न उपयोगों और स्थानों में वितरण पर प्रभाव।

1. कार्य करने व बचत करने की योग्यता पर प्रभाव

यह कहा जाता है कि करारोपण के भार से व्यक्तियों की कार्यक्षमता और उनकी बचत तथा विनियोग करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव पड़ता है—

(i) कार्य करने की योग्यता—जब किसी व्यक्ति पर प्रत्यक्ष कर लगाया जाता है तब प्रत्यक्ष कर के अन्तर्गत करदाता आय का एक निश्चित भाग कर के रूप में दे देता है जिससे उसकी आय कम हो जाती है। इसी तरह अप्रत्यक्ष करारोपण के कारण वस्तुओं की कीमतें बढ जाती है जिससे करदाता की आय तो समान रहती है किन्तु वह पहले की अपेक्षा कम वस्तु क्रय कर पाता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही करो का प्रभाव यह होता है कि करदाता को अपना उपभोग घटाना पडता है। उपभोग की कमी और जीवन-स्तर के नीचा हो जाने के कारण करदाताओं की क्रय-क्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है। यह प्रभाव धनी व्यक्तियो की तुलना में निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है क्योंकि निर्धनों की आय पहले से ही इतनी कम होती है कि क्रय-शक्ति थोडी-सी भी कमी आने से उनकी कार्यक्षमता बहुत घट जाती है। इससे निर्धनो के बच्चो की भी काम करने की योग्यता कम हो जाने का निश्चित भय रहता है। अत यह एक व्यावहारिक निष्कर्ष है कि सरकार को उन वस्तुओं पर कर नहीं लगाना चाहिए (अथवा कम से कम लगाना चाहिए) जिनका उपभोग मूलत समाज के निर्धन वर्ग द्वारा किया जाता है।

मादक वस्तुओं पर लगाए गए करों का कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव नहीं पडता है। करारोपण से इन हानिकारक वस्तुओं का मूल्य बढ जाता है जिससे उपभोक्ता वर्ग इन वस्तुओं का उपभोग या तो पूर्णत· छोड देता है या उपभोग की मात्रा कम कर देता है। फलस्वरूप स्वास्थ्य विनष्ट होने से बच जाता है और व्यक्ति की कार्यक्षमता बढ जाती है।

(ii) बचत करने की योग्यता—बचत दो बातों पर निर्भर करती है—(क) व्यक्ति विशेष की आय एव (ख) उसका व्यय। चूँकि करारोपण से व्यक्ति की क्रय-शक्ति का ह्रास होता है दूसरी ओर वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है अत. वह आय की अधिक मात्रा का उपभोग करता है अर्थात् उसे अपने उपभोग पर पहले से अधिक व्यय करना पडता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति की बचत करने की योग्यता कम हो जाती है जिससे देश में पूँजी-निर्माण कम होता है और उत्पादन की वृद्धि के लिए पूँजी का अभाव रहता है। यह प्रभाव निर्धन व्यक्ति की तुलना में धनी व्यक्तियों पर अधिक पडता है क्योंकि निर्धन व्यक्तियों में तो करारोपण से पहले बचत करने की शक्ति प्राय नहीं के बराबर थी।

इसी तथ्य को हम एक दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। यद्यपि कर देने से आय की मात्रा कम हो जाती है और आय का वह भाग जिसकी 'बचत' की जा सकती थी, अब सरकार के पास कर के रूप में चला जाता है। कर भी एक प्रकार की बचत ही है। करारोपण से प्राप्त धनराशि को यदि उत्पादक योजनाओं पर लगाया जाए तो इसका वही प्रभाव होगा जो प्रभाव इस धन के करदाता के पास पूँजी अथवा बचत के रूप में रहने पर होता। भारत मे आज ऐसी स्थिति है कि एक तरफ तो कराधिक्य के कारण व्यक्तिगत बचते कम हो रही हैं किन्तु दूसरी तरफ समाज की एकत्रित बचतें (करो के रूप में आय) बढ़ती जा रही हैं और इन एकत्रित बचतो का उपभोग पचवर्षीय योजनाओं की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा रहा है। इन एकत्रित बचतो से समाज उसी प्रकार न्यूनाधिक रूप से प्रभावित हो सकेगा जिस प्रकार से करदाता अपनी व्यक्तिगत बचत से प्रभावित होते हैं।

उल्लेखनीय है कि करारोपण से धनी व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। व्यक्ति जितना अधिक धनी होता है उतना ही अधिक उसकी बचत करने की योग्यता कम होती है। अत आज विभिन्न देशों की कर-प्रणाली में प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का महत्त्व बढता जा रहा है परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अधिक प्रगतिशील कर व्यक्तियों की बचत योग्यता पर बुरा प्रभाव डालते है और यह तथ्य विशेषकर विकासशील देशो के लिए अधिक उपयुक्त है। ऐसे देशो में भारी करारोपण के कारण बचतें उत्पादन से निकलकर उपभोग में जाने लगी हैं। उत्पादन कार्य के लिए उपलब्ध होने वाली पूँजी कम होने लगती है तथा पूँजी क्षेत्र में उत्पादन का स्तर गिरने लगता है। इसी आधार पर इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि विकासशील देशों में कर-प्रणाली प्रतिगामी होनी चाहिए ताकि बचतों को प्रोत्साहन मिलता रहे उत्पादन का स्तर ऊँचा रहे तथा पूँजी निर्माण की गति तीव्र होती रहे। ये अर्थशास्त्री रूस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जहाँ नियोजन काल में उपभोग की वस्तुओं पर बहुत ऊँचा कर लगाने से उपभोग को नियन्त्रित किया गया। एक निर्धन देश को अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण

के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए चाहिए कि वह हर सम्भव बचत उपाय अपनाए चाहे कोई उपाय न्यायसगत न हो। इस तरह प्रतिगामी कर प्रणाली इन देशो के लिए अधिक उपयुक्त होगी।

2 कार्य तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव

इच्छा मनुष्य की एक मानसिक स्थिति है जिसका अध्ययन करना बडा कठिन है। यही कारण है कि करारोपण मे मनुष्य की कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर पडने वाले प्रभावो की माप करना या उनका निश्चयात्मक विवरण देना सम्भव नहीं होता। यहाँ अध्ययन के दो अलग अलग शीर्षक है।

(i) करारोपण से व्यक्ति विशेष के कार्य व बचत करने की इच्छा (Incentive) पर क्या प्रभाव पडता है।

(ii) करारोपण से फर्मों तथा उद्योगपतियो की कार्य करने व बचत करने की प्रेरणा पर क्या प्रभाव पडता है।

इनमे वस्तुत पहला प्रश्न कार्य करने की इच्छा (Incentive to Work) से सम्बन्धित है।

***व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं की प्रकृति** (Nature of Individual Reaction)*—करारोपण व्यक्तियों की काम व बचत करने की इच्छा को किस सीमा तक प्रभावित करता है यह दो बातो पर निर्भर है—(क) करदाता की मानसिक प्रतिक्रिया एव (ख) करो की प्रकृति।

(क) करदाता की मानसिक प्रतिक्रियाएँ—करारोपण से व्यक्ति के मस्तिष्क मे क्या प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती है। यह बहुत कुछ उस व्यक्ति की आय की माग की लोच पर निर्भर करता है। व्यक्ति की आय की माँग की लोच का अभिप्राय है कि व्यक्ति अधिक आय प्राप्त करने के लिए कितना प्रयत्न करने को तैयार है। आय की माग लोच तीन प्रकार की होती है—

(i) आय की बेलोचदार माँग—आय की माग तब बेलोचदार होती है जब मनुष्य की निश्चित आय माँग हमेशा रहती है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति अच्छा जीवन स्तर बनाए रखने के लिए एक हजार रुपये मासिक की आवश्यकता महसूस करता है और वह इस जीवन स्तर को सदैव बनाए रखना चाहता है। अब यदि उसकी आय पर 100 रुपये प्रतिमास कर लगाया जाता है तो उसे अपने जीवन स्तर को पूर्ववत् बनाए रखने के लिए इतना अधिक परिश्रम और करना पडेगा कि उसे 1100 रु प्राप्त हो सके। अत स्पष्ट है कि आय की माँग बेलोचदार होने पर उत्पादन मे वृद्धि कर देते है और मनुष्य की कार्य करने व बचत करने की इच्छा मे वृद्धि हो जाती है।

***(ii) आय की माँग लोचदार होना**—व्यक्ति की आय की माँग लोचदार उस समय कहलाती है* जब वह एक निश्चित आय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील या इच्छुक नहीं होता। ऐसी स्थिति में करारोपण से उसके काम तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पडता है। डॉल्टन ने इस सम्बन्ध मे लिखा है— यदि आय की माँग बेलोचदार हो तो कर की दर बढा दो और यदि आय की माँग लोचदार हो तो कर की दर घटा दो। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनका परिवार बहुत छोटा होता है अथवा जो *शानदार जीवनयापन के लिए प्रेरित नहीं होते। इस प्रकार के व्यक्तियो की आय की माँग लोचदार होती* है। ऐसे व्यक्ति यह जानते हुए भी कि करारोपण से उनकी वास्तविक आय घट गई है न तो अधिक परिश्रम करते है और न कुछ बचत करने की चिन्ता करते है।

(iii) आय की माँग की लोच इकाई के बराबर होना—समाज मे कुछ लोग ऐसे होते है जिनकी आय की माँग की लोच इकाई के बराबर होती है अर्थात् उनकी काम करने व बचत करने की इच्छा लगभग समान रहती है चाहे कर लगे या न लगे। ऐसे व्यक्ति बराबर काम व बचत करते रहते है क्योकि इनके लिए काम करना और बचत करना एक आदत बन गई है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियो मे प्रतियोगिता की भावना होती है और प्रत्येक व्यक्ति केवल धनी ही नही वरन् दूसरो की अपेक्षा अधिक धनी बनना चाहता है। इसीलिए पीगू ने लिखा है कि धनी व्यक्तियो को अपनी निरपेक्ष आय की तुलना में सापेक्ष आय की वृद्धि मे सन्तुष्टि का अधिकाश भाग प्राप्त होता है। यदि सभी धनी लोगो की आय को एक साथ घटा दिया जाए तो सन्तुष्टि का यह भाग नष्ट नही होता। यदि एसी स्थिति मे सभी व्यक्तियो की आय मे समान रूप से परिवर्तन कर दिया जाए तो उनकी तुलनात्मक स्थिति पहले के समान रहेगी

और लोगों की कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर विपरीत प्रभाव नही पड़ेगा। समाज मे अधिकाश व्यक्तियों की आय की माँग बेलोचदार होती है। इस माँग को बेलोचदार बनाने वाले घटक मुख्यत निम्नलिखित है—

(अ) लगभग सभी व्यक्ति एक निश्चित जीवन स्तर व्यतीत करने के आदी हो जाते है और इसके लिए प्रयत्नशील रहते है कि उनका जीवन स्तर पहले के समान बना रहे।

(ब) बहुत से व्यक्ति भविष्य मे एक निश्चित आय की अपेक्षा करते है। ऐसा वे या तो स्वय अपने लिए करते हैं अथवा अपने उत्तराधिकारियो के लिए। इस भावना से प्रेरित होकर निश्चित बचत करने को प्रयत्नशील रहते हैं और यदि करारोपण से उनकी बचत घट जाती है तो वे अधिक परिश्रम करके उस बचत को पहले के समान बनाए रखने की चेष्टा करते हैं।

(स) अनेक व्यक्ति समाज मे बड़ा बनने व शानदार जीवन बिताने के लालच से धन एकत्र करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रो कारवर ने लिखा है कि जब किसी व्यक्ति के पास एकत्रित धन उस सीमा से अधिक हो जाता है जो उसके बच्चो की सरक्षकता के लिए आवश्यक है तो फिर अधिक एकत्रीकरण का उद्देश्य ही बदल जाता है। ऐसी स्थिति मे वह कार्य करने एव अधिक धन प्राप्त करने के ध्येय से व्यापारिक उपक्रमो मे काम करने लगता है और एकत्रित पूँजी तब इस खेल का एक यन्त्र बन जाती है। जब तक खिलाड़ी का इस यन्त्र पर अधिकार रहता है और वह खिलाड़ियों मे से एक खिलाड़ी होता है तब तक एकत्रीकरण के लिए वह केवल इसी से निरुत्साहित नहीं होता है कि उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारियो की अपेक्षा राज्य को एकत्रित धन प्राप्त होगा। लीवर हल्म ने कहा है आय-कर की दर की प्रत्येक वृद्धि से उन प्रयत्नो में वृद्धि हुई है जो उन आयों को बढाने मे सफल हुए है जिनमे से बढे हुए करो का भुगतान किया जाता है।

यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अधिकाश व्यक्तियो की आय की माँग बेलोचदार अथवा इकाई के बराबर होती है इसीलिए अधिकाश व्यक्तियो की काम करने या बचत की इच्छा पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें शर्त यह है कि करारोपण की दर बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए अथवा करारोपण बहुत प्रगतिशील नही होना चाहिए।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि करारोपण किस सीमा तक करदाता के कार्य करने व बचत करने की इच्छा को प्रभावित कर सकता है। यह इस पर निर्भर करता है कि करारोपण किन परिस्थितियों मे किया गया है। यदि करारोपण समृद्धि काल मे किया जाएगा तो कर की ऊँची दर लोगों को काम करने से हतोत्साहित नहीं करेगी क्योंकि ऐसे समय आशावादिता वृद्धि पर रहती है। इसके विपरीत अवसाद काल में एक छोटा कर भी कार्य और बचत करने की इच्छा को काफी हद तक हतोत्साहित कर देता है क्योकि हानि का भय सदैव बना रहता है। अन्त मे यदि कोई कर थोड़े समय के लिए लगाया जाए तो व्यक्तियो के काम करने व बचाने की इच्छा पर सामान्यत विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वे जानते हैं कि कुछ समय बाद यह कर हट जाएगा। इसके अतिरिक्त सकटकालीन परिस्थितियों मे जैसे—युद्धकाल मे लोग अधिक कर देने पर भी उसी प्रकार उत्पादन करते रहते है।

(ख) **करो की प्रकृति**—करारोपण के प्रभावों को व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के बाद विशेष करो की प्रकृति के अनुसार अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना होगा कि सभी करो की प्रकृति एक समान नहीं होती अत सभी के प्रभाव भी एक जैसे नहीं होते। हम नीचे कुछ विशिष्ट करो को लेंगे—

(i) कुछ कर ऐसे होते है जो बचत करने व काम करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नहीं डालते जैसे—लाटरी या होर्स रेस ये आकस्मिक आयों पर कर युद्धकालीन अतिरिक्त आय पर कर उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कर आदि। चूँकि करदाता को इन आयों की पहले से कोई आशा नहीं होती और न ही इन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हे कोई परिश्रम करना पड़ता है अत जब इन आयो पर कर लगता है तो करदाता को इनका भुगतान करना बुरा नहीं लगता। फलस्वरूप ऐसे करो का व्यक्तियों के काम करने और बचत करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एकाधिकारी लाभ पर

कर कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं डालता क्योंकि एकाधिकारी अपनी अधिकतम आय के लिए अपनी वस्तु का मूल्य पहले ही निश्चित कर चुका होता है। क्रय-कर और बिक्री-कर से व्यक्तियो के कार्य करने या बचाने की इच्छा कम नहीं होती यद्यपि उपभोग अवश्य कम हो जाता है।

(ii) कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका करदाता की काम करने और बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए यदि आय-कर बहुत प्रगतिशील होता है तो इससे करदाता काम तथा बचत करने के लिए हतोत्साहित होता है क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक ऐसे प्रयत्न के बदले में उसे बहुत कम मात्रा मे आय प्राप्त होगी और उसके श्रम का अधिकाश भाग कर के रूप में चला जाएगा। आय-कर से लोगों की कार्य और बचत करने की इच्छा कितनी प्रभावित होती है यह आय की माँग की लोच कर की दर और राज्य प्रदत्त कर सम्बन्धी सुविधाओं पर निर्भर करती है।

(iii) सम्पत्ति-कर कुछ दशाओं मे उत्पादन को प्रोत्साहित करता है और कुछ दशाओं में हतोत्साहित। यह बचतो को भी निरुत्साहित करता है। आय-कर की अपेक्षा सम्पत्ति-कर के प्रभाव कम प्रतिकूल होते है। इसी प्रकार मृत्यु-कर व पूँजी-कर का लोगो की कार्य और बचत करने की इच्छा पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पडता। मृत्यु-कर किसी भी अवस्था मे बचत को हतोत्साहित नहीं करते। पूँजी-कर जो किसी विशेष कार्य के लिए लगाया गया है काम करने व बचाने की इच्छा पर इसलिए बुरा प्रभाव नहीं डालता क्योंकि करदाता यह जानता है कि उसे इसका भुगतान बराबर नहीं करना होगा। वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए जाने वाले कर से उपभोग कम हो सकते हैं तथा उत्पादन अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो सकता है। वस्तुओं के मूल्य बढ जाने से उपभोक्ताओं की माँग कम हो जाती है जिससे उत्पादकों को अपना उत्पादन कम करना पडता है। यही प्रभाव बिक्री-करो का होता है। सीमा-कर अन्य देश के उद्योगों को सरक्षण और प्रोत्साहन देते हैं किन्तु यदि सरक्षण अकुशल उद्योगों को प्राप्त हो जाता है तो इनसे हानि भी हो सकती है। सीमा-कर तभी हितकर सिद्ध हो सकते हैं जब देश के कुशल उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया जाए।

करारोपण का सामान्य प्रभाव पुराने उद्योगो की अपेक्षा नए स्थापित उद्योगो पर अधिक पडता है क्योंकि पुराने उद्योग तो कर-भार को सुगमता से सह लेते है किन्तु नए उद्योग के लिए यह कष्टकारी सिद्ध होता है। उनकी अपनी ही व्यवस्था कठिनाई से हो पाती है। उल्लेखनीय है कि कुछ लोगो ने करारोपण को पूर्णत भिन्न दृष्टिकोण से देखा है। इनके अनुसार करों से प्राप्त आय सम्पूर्ण समाज के लिए की जाने वाली सामूहिक बचत का एक रूप है। यदि सरकार करारोपण द्वारा प्राप्त निधियों का उपयोग पूँजीगत माल के उत्पादन मे करती है अथवा उनको भावी उपयोग के लिए स्थायी प्रयोजनों पर व्यय करती है तो वह वही कार्य सम्पन्न करती है जो एक गैर-सरकारी व्यक्ति करता है। करारोपण से व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की शक्ति तथा इच्छा दोनों ही पर विपरीत प्रभाव पडता है। इसकी क्षतिपूर्ति सरकार द्वारा उत्पादित पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन से हो जाती है क्योंकि समाज की सामूहिक उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है। इससे राष्ट्रीय आय बढती है और अन्त मे व्यक्तियों के बचाने व काम करने की शक्ति एव योग्यता मे वृद्धि हो जाती है।

स्मरण रखना चाहिए कि करारोपण उन अनेक तत्त्वों में से एक है जो बचत विनियोग और उद्यम का निर्धारण करते हैं। हार्वर्ड व्यावसायिक सस्थान द्वारा करारोपण के कुछ अध्ययन किए गए जिनके निष्कर्षों का सक्षेपीकरण करते हुए जे कीथ बटर्स ने लिखा है कि "यदि एक सामान्य वक्तव्य दिया जाए तो उनका महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे मूलभूत प्रेरणाएँ जो गैर-सरकारी अर्थव्यवस्था को गतिशील करती हैं और अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण ढाँचा इन दोनों पर ही करों का केवल अपेक्षाकृत सीमित एव विशिष्ट प्रभाव होता है।

जब हम करारोपण के अप्रेरणात्मक प्रभावो पर यदि कोई हो विचार करते हैं तो उस समय उन अवसरो, प्रेरणाओं और बाह्य मितव्ययिताओं को महत्त्व प्रदान करते हैं। इनके कारण परिवहन, शक्ति तथा अन्य सुविधाओं के रूप में राजकीय विनियोग की मात्रा में वृद्धि होती है।

आर्थिक साधनो के लिए विभिन्न उपयोगो और स्थानो पर प्रभाव

कर उत्पादन पर न्यूनाधिक अप्रेरणात्मक प्रभाव डालते हैं अत यह सम्भव है कि कर भार से बचने के लिए आर्थिक साधन वर्तमान उपयोगो से हटकर अन्य उपयोगो अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को अन्तरित या स्थानान्तरित हो जाएँ और साधनो के उद्योगो तथा व्यवसायो के बीच नवीन वितरण से देश में उत्पादन प्रभावित हो। साधनों के पुनर्वितरण से उत्पादन को लाभ अथवा हानि दोनों हो सकती हैं। कुछ कर ऐसे होते है जिनसे साधनो का स्थानान्तरण नहीं होता जैसे—एकाधिकार कर आकस्मिक लाभ पर कर भूमि की स्थिति पर कर आदि।

(i) साधनो का विभिन्न उपयोगो मे स्थानान्तरण

इस प्रकार के स्थानान्तरण से उत्पादन को लाभ अथवा हानि हो सकती है।

(क) लाभप्रद स्थानान्तरण—कुछ करों स आर्थिक साधनों का पुनर्वितरण इस प्रकार होता है कि देश के उत्पादन में वृद्धि हो जाती है जैसे—शराब भॉग गाँजा आदि मादक पदार्थों पर लगे कर। कर लगने से इन वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि होती है जिससे इनका उपभोग हतोत्साहित होता है और इन उद्योगो मे लगी श्रम व पूँजी का किसी अन्य उपयोग या उद्योग की ओर स्थानान्तरण हो जाता है। मादक पदार्थों का उत्पादन कम और अन्य सामान्य हित की वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो जाता है। उत्पादन पर एक अन्य प्रकार से प्रभाव पडता है। उपभोक्ता जो धन पहले मादक पदार्थों को खरीदने में व्यय करते थे उसे वे बचाते है अथवा कुछ अन्य वस्तुओं के खरीदने मे लगा सकते है। बचतो की वृद्धि से विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश मे नवीन उद्योगो की स्थापना होती है। कुछ विशिष्ट वस्तुओं की मॉग बढ जाने से इन वस्तुओं का उत्पादन पहले की अपेक्षा अधिक होने लगता है। इसके अतिरिक्त अच्छी और हितकारी वस्तुओं का उपभोग बढने से उपभोक्ताओं की कार्य क्षमता बढती है जिसका अन्तत देश के उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडता है। स्पष्ट है कि मादक पदार्थों के करारोपण से आर्थिक साधनो का पुनर्वितरण समाज के हित मे होता है। इसी प्रकार विलासिताओं पर लगाया गया कर भी साधनो का स्थानान्तरण समाज के हित मे करता है। सरक्षण कर का भी यही प्रभाव होता है क्योकि इस कर से साधन उन उद्योगो की ओर स्थानान्तरित होने लगते हैं जिनका विकास विदेशी प्रतियोगिता के कारण नहीं हो सका।

(ख) हानिप्रद स्थानान्तरण—कभी कभी करो से आर्थिक साधनो का पुनर्वितरण इस प्रकार होता है कि देश के उत्पादन मे कमी हो जाती है अथवा देश के उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडता है। इन परिस्थितियो मे ये स्थानान्तरण समाज के लिए हानिकारक होते है। उदाहरण के लिए यदि मकानों पर करारोपण किया जाता है तो इससे समाज मे मकानों की पूर्ति में कमी हो सकती है। मकान मालिक नए मकान बनाने की ओर हस्तोत्साहित हो सकते है। नागरिकों को रहने के लिए पर्याप्त निवास स्थान नहीं मिल सकने से उनका पारिवारिक जीवन कष्टमय रहता है जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है और इसका समाज में उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इसी प्रकार सरक्षण कर से प्राय किसी उद्योग और साधनो का हानिकारक स्थानान्तरण हो सकता है। उदाहरणार्थ यदि देश के लिए अकुशल अथवा अनुपयुक्त उद्योग को सरक्षण दे दिया जाए तो साधनो का लाभदायक पुनर्वितरण नहीं होता। यदि ऐसे उद्योगों को जिनके लिए देश मे पर्याप्त प्राकृतिक स्रोत तथा आर्थिक परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हैं सरक्षकता कर द्वारा सरक्षण दे दिया जाए तो देश के आर्थिक साधन उत्पादक एव लाभप्रद उद्योगों से हटकर इन उद्योगों को स्थानान्तरित हो सकते है। इस प्रकार के सरक्षण प्राप्त उद्योग से सरक्षण हटाते ही ये ठप्प हो जाते है। सरक्षण करों के कारण कभी कभी आर्थिक साधन अधिक उपयोगी उद्योगों से हटकर अकुशल एव अनुपयोगी उद्योग को स्थानान्तरित हो सकते है जिससे उत्पादन मे वृद्धि अल्पकालीन होती है अथवा साधनो का अमितव्ययी स्थानान्तरण होता है।

(ग) वर्तमान से भावी और भावी से वर्तमान उपयोगो की ओर स्थानान्तरण—कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण वर्तमान उपयोगो से भावी उपयोगों के लिए कर देते है। उपभोग पर लगाए गए कर उपभोग को हतोत्साहित और बचत को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार के करों द्वारा आर्थिक साधन वर्तमान उपयोगो से हटाकर भावी उपयोगों की ओर हस्तान्तरित कर दिए जाते हैं जिससे समाज की भावी उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होती है। बिक्री कर या क्रय कर अथवा व्यय कर ऐसे हैं

जिनसे खर्चों मे कमी की प्रेरणा मिलती है और बचत को प्रोत्साहन मिलता है। इन करो द्वारा साधनों का उत्पादकीय स्थानान्तरण हो सकता है। बचत क पक्ष मे दिए जाने वाली कर-मुक्तियो का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है।

इसके विपरीत जो कर बचत के प्रति लोगो को हतोत्साहित करते है वे साधनो को भावी उपयोगों से हटाकर, वर्तमान उपयोगो की ओर परिवर्तित कर देते है और उत्पादन को हानि पहुँचाते है। जब सरकार करारोपण द्वारा ऐसी निधियाँ प्राप्त करती है जो अन्य प्रकार से बचाई और निवेशित की जा सकती थीं और उनके दैनिक प्रशासकीय खर्चों मे या किन्हीं अनुत्पादकीय खर्चों मे व्यय कर देती है तो भी साधनो का भावी उपयोगों से वर्तमान उपयोगो की ओर स्थानान्तरण हो जाता है। साधनों का स्थानान्तरण देश के हित मे या अहित मे होना सरकारी व्यय पर निर्भर करता है।

(घ) वे कर जिनमे साधनो का स्थानान्तरण नहीं होता—कुछ कर ऐसे होते है जिनसे साधनों का एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय की ओर स्थानान्तरण नहीं होता। उदाहरणार्थ एकाधिकार पर आरोपित कर। एकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत और उत्पादन की मात्रा का निर्धारण इस प्रकार करता है कि जिससे उसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति हो सके। यदि किसी कारणवश वह अपना उत्पादन घटाता है तो इससे उसका लाभ कम हो जाता है। अत स्पष्ट है कि करारोपण के बावजूद एकाधिकारी अपने उत्पादन मे कोई कमी नहीं करना चाहेगा और परिणामस्वरूप जो साधक उसके व्यवसाय मे लगे होंगे, उनका अन्तरण अन्य किसी उपयोग की ओर नहीं होगा। इसी प्रकार आकस्मिक लाभ पर कर, भूमि की स्थिति पर कर आदि ऐसे उदाहरण है जिनमे साधनो का स्थानान्तरण नहीं होता।

(ii) साधनो का विभिन्न स्थानो मे स्थानान्तरण

करों से साधनो का पुनर्वितरण ऐसा होता है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होने लगते है जैसे—बिक्री-कर अत्यधिक प्रगतिशील आय कर आदि। जिस राज्य मे अन्य राज्यो की तुलना मे बिक्री-कर कम होता है उस राज्य में अन्य राज्यो से श्रम और पूँजी के साधन आकर विनियोजित होने लगते है और दोनो राज्यो की उत्पादन की मात्रा प्रभावित हो जाती है। यदि किसी एक स्थान पर कर बहुत अधिक मात्रा मे लगाए गए है तो सम्भव है कि लोग अपनी पूँजी को वहाँ से हटा कर अन्य किसी स्थान पर लगा दे जहाँ कर-भार अपेक्षाकृत कम हो ऐसे स्थानान्तरण की सम्भावना को कम करने का प्रभावशाली उपाय यह है कि देश भर मे एक समान दरों से कर लगाए जाएँ। सघीय शासन वाले देश मे यह कठिनाई पैदा हो सकती है कि विभिन्न राज्य भिन्न-भिन्न दरो से करारोपण करे किन्तु ऐसी परिस्थितियो मे विभिन्न राज्य पारस्परिक समझौतो द्वारा करो की एकसमान दरें निश्चित कर सकते है। यदि एक देश मे आय लाभ-कर प्रगतिशील हो अथवा करो की दरे ऊँची हों तो वहाँ के नागरिक अपनी पूँजी हटाकर किसी ऐसे देश मे विनियोजित करने लगते हैं जहाँ कर-भार कम हो। इस स्थानान्तरण को रोकने के लिए यह उपाय किया जा सकता है कि लोगो की सम्पूर्ण आय पर कर लगाए जाएँ चाहे वह आय देश के अन्दर कमाई गई हो अथवा विदेश से प्राप्त हुई हो। ऐसा होने से करो से बचने के लिए पूँजी देश से बाहर नहीं जाएगी जब तक कि उस पूँजी का स्वामी ही विदेश न चला जाए और ऐसा नही होता है।

साधनो के पुनर्वितरण की माँग मे कठिनाइयाँ

1 उत्पत्ति के साधन पूर्णत गतिशील नहीं होते तब वे स्वतन्त्र रूप मे एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में नहीं जा सकते है।

2 श्रम और पूँजी दोनो की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती है। श्रमिक जलवायु, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे जाने में कठिनाई महसूस करते हैं। पूँजी का बडा भाग जब भवनो यन्त्रो आदि मे नियोजित कर दिया जाता है तो उसे सरलतापूर्वक किसी दूसरे उपयोग में नहीं लाया जा सकता।

प्रत्यक्ष करारोपण का आय व सम्पत्ति वितरण पर प्रभाव
(Effects of Direct Taxation on the Distribution of Income and Wealth)

अधिकाश देशो मे धन के वितरण में असमानता पाई जाती है। यह असमानता विविध सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक बुराइयो से प्रभावित होती है। धन के वितरण की इस असमानता को दूर करने

से अधिकतम आर्थिक सन्तोष समाज को प्राप्त हो सकेगा और मानवीय शक्ति एवं उत्साह को उत्पादक कार्यों में अधिक सजगता व स्फूर्ति के साथ लगाया जा सकेगा फलस्वरूप देश के आर्थिक और सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होगी। सरकारी खर्च द्वारा जहाँ गरीबो का जीवन स्तर ऊँचा उठाकर वितरण की विषमताओं मे कमी की जा सकती है वहाँ करारोपण के द्वारा धनी व्यक्तियो का जीवन स्तर नीचा करके इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। प्राचीन लेखक धन के वितरण के लिए करारोपण का उपयोग करने के प्रयत्नो को विरोध की दृष्टि से देखते थे। उनका मत था कि करारोपण का एकमात्र ध्येय राज्य के लिये आय प्राप्त करना है। कर-आय इस तरह प्राप्त करनी चाहिए जिससे करदाताओं को कम से कम असुविधा हो।

यह तथ्य अधिकाधिक स्वीकारा जा रहा है कि करारोपण धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। करारोपण के इस प्रमुख उद्देश्य की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित करने का श्रेय जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर को है जिसने करारोपण के माध्यम से धन की असमानताओं को दूर करने का प्रबल समर्थन किया है। उनका मत था कि राजस्व का उद्देश्य केवल राज्य के लिए साधन एकत्रित करना ही नहीं है बल्कि राजकोषीय नीति देश की सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक परिस्थितियो पर आधारित होनी चाहिए जिससे देश मे धन का वितरण यथासम्भव समान रहे। प्रो. पीगू के मतानुसार यदि राष्ट्रीय लाभाश की मात्रा मे कमी नहीं आए तो धन के वितरण मे प्रत्येक ऐसा सुधार जिससे लाभाश मे से निर्धनो के पास जाने वाली मात्रा मे वृद्धि हो जाती हो सामूहिक जनकल्याण की अभिवृद्धि करेगा।

धन की विषमता से किसी देश की सामाजिक राजनीतिक एव आर्थिक बुराइयो से सम्बन्ध होता है। धन के वितरण की विषमता के कारण मानव जीवन मे राज्य का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है और समाजवादी राष्ट्रो मे मानव जीवन का प्रत्येक पहलू राज्य और उसकी नीतियों से नियन्त्रित होने लगा है। धन के वितरण मे वाछित समानता लाने की मुख्य नीतियाँ दो है—(i) सार्वजनिक व्यय तथा (ii) करारोपण।

सार्वजनिक खर्च मे राज्य अपना खर्च इस प्रकार सम्पन्न कर सकता है कि समाज मे धन की असमानता कम से कम हो अर्थात् राज्य एक समुचित खर्च की नीति द्वारा निर्धनो के धन का स्तर ऊँचा उठाकर, वितरण की विषमता को कम कर दे। करारोपण का उद्देश्य धनी व्यक्तियो के धन का स्तर नीचा कर धन के वितरण मे समानता लाना है। करारोपण केवल धनी व्यक्तियो के धन का स्तर नीचा करने के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि सार्वजनिक व्यय के कार्यक्रमो के लिए राशि प्राप्त करने के लिए भी जरूरी है। धन के वितरण में समानता लाने के लिए करारोपण के स्थानापन्न के रूप मे केवल यही हो सकता है कि निजी सम्पत्ति का पूर्ण रूप से (अथवा बडे पैमाने पर) उन्मूलन कर दिया जाए किन्तु यह श्रेष्ठतर विकल्प नहीं होगा। यह तो करारोपण के विरोधियो को स्वभावत और अधिक बुरा एव तीक्ष्ण प्रतीत होगा। अत निश्चयात्मक रूप मे यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयकरण की अनुपस्थिति मे करारोपण ही धन का समान वितरण करने वाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हो सकता है।

करारोपण के रूप (Forms of Taxation)

ऊँचा करारोपण सरकार के हाथ मे धन की विशेषताओं को घटाने का एक शक्तिशाली शस्त्र है अत सरकार अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करो की दरो मे हेर फेर करती रहती है। करो की दरो के आधार पर कर के चार प्रकार है - (i) आनुपातिक (Proportional) (ii) प्रतिगामी (Regressive), (iii) अधोगामी (Degressive) (iv) प्रगतिशील (Progressive)। प्रथम तीन करो का भार धनिको की तुलना मे निर्धनो पर अधिक पडता है अत इनसे आय के वितरण की असमानता कम होने की आशा नहीं की जा सकती। केवल प्रगतिशील कर ही धन के वितरण मे समानता ला सकते है क्योंकि इनका भार निर्धनों की तुलना में धनी व्यक्तियो पर अधिक पडता है। प्रगतिशील करो द्वारा ही सामूहिक ब्याज की मात्रा न्यूनतम हो सकती है और धन का श्रेष्ठ वितरण सम्भव है। चूँकि व्यक्ति ज्यो-ज्यो धनी होता जाता है त्यों-त्यो उसके द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और उसकी करदेय क्षमता बढती जाती है, अत धन की विषमता को दूर करने का यह एक महत्त्वपूर्ण तरीका है कि अति प्रगतिशील करो के द्वारा धनी व्यक्तियो के धन को कम करके सामान्य स्तर के बराबर लाया जाए। यह स्मरणीय है कि

अत्यधिक प्रगतिशील करों द्वारा उत्पादन हतोत्साहित हो सकता है इसलिए प्रगतिशील कर-प्रणाली पर निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि एक ओर तो इससे उत्पादन निरुत्साहित नहीं हो और दूसरी ओर धन के वितरण मे समानता आती जाए।

विभिन्न प्रकार के कर और वितरण

(Different Kinds of Taxation and Distribution)

कर आय के वितरण पर भिन्न भिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1 आय कर वितरण—वितरण के दृष्टिकोण से आय पर लगने वाले करो (Taxes on Income) का भारी महत्त्व है क्योंकि ऐसे करो को आसानी से प्रगतिशील या आरोही (Progressive) बनाया जा सकता है। व्यक्तियो की आय को विभिन्न श्रेणियो में बाँट कर अलग अलग दर से करारोपण किया जा सकता है अर्थात् कर की दर आय मे वृद्धि के साथ साथ बढती जाती है। कहीं कहीं आय कर दो प्रकार से प्रगतिशील बनाया जाता है एक तो ऊँची आयों पर अतिरिक्त कर लगाकर जैसे—अतिरिक्त लाभ कर या अति कर और दूसरे न्यूनतम कर मुक्त सीमा को ऊँचा करके अथवा निम्न आय वाले को अधिक सुविधाएँ देकर जैसे—उन व्यक्तियो को जिनके कुटुम्ब मे सदस्यो की सख्या अधिक है कुटुम्ब भत्ता देना। वितरण मे समानता लाने के उद्देश्य से आय कर में अन्य अनेक प्रकार की छूट दी जा सकती हैं जैसे—एक विशिष्ट स्तर से नीचे की आमदनियो को करो से पूर्णत मुक्त कर देना सम्पत्ति की आय की तुलना मे अधिक आय पर कम दर से कर लगाना चिकित्सा के व्यय को कर योग्य आय (Taxable Income) मे से घटाना विवाहित को अविवाहित की तुलना मे कुछ छूट देना बच्चों की सख्या के आधार पर कर में छूट देना आदि। चूँकि आय कर को प्रगतिशील बनाना बडा सरल है अत अधिकाश देशो में इस कर के द्वारा धन की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

2 मृत्यु कर व वितरण कर—किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर दो प्रकार से कर लगाए जा सकते है—पहला उत्तराधिकारी को हस्तान्तरित होने से पूर्व की कुल सम्पत्ति पर कर (Estate Tax) दूसरा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उत्तराधिकार के फलस्वरूप प्राप्त हुए भाग पर कर (Inheritance Tax)। मृत्यु कर आय के वितरण की असमानता को तीन प्रकार से कम करते हैं—

(ख) अधिक धनराशि मे कमी होने से अधिक आय स्वत कम हो जाती है।

(ख) धनिकों पर कर भार बढ जाने से निर्धनो पर कर भार घट जाता है।

(ग) सरकार की आय इस प्रकार के करारोपण से बहुत बढ जाती है जिससे निर्धनो को सरकार द्वारा अधिक वस्तुएँ तथा सेवाए सुलभ हो सकती हैं।

इस सम्बन्ध मे दो बातो पर ध्यान देना आवश्यक है—प्रथम उत्तराधिकारी करो (Inheritance Taxes) को प्रगतिशील होना चाहिए द्वितीय उत्तराधिकारियो का मृतक से सम्बन्ध जितना दूर का हो कर की दर उतनी ही अधिक होनी चाहिए।

3 व्यय कर और वितरण—प्रो कैल्डोर ने 'व्यय कर' नामक एक नए कर का सुझाव दिया है। उनके अनुसार व्यय कर करारोपण को करदाता की कर भुगतान करने की सामर्थ्य के अनुरूप बनाने का एक प्रभावशाली साधन है। जिस व्यक्ति का जितना अधिक व्यय होता है वह उतनी ही अधिक करदेय क्षमता रखता है अत समाज मे धन के वितरण मे समानता लाने की दृष्टि से ऐसे व्यक्ति पर उतना ही अधिक कर लगाया जा सकता है। व्यय कर द्वारा व्यक्ति के प्रदर्शन उपभोग (Conspicious Consumption) को रोका जा सकता है जो धन के वितरण की असमानताओं के कारण उत्पन्न होता है।

4 सम्पत्ति कर एव वितरण—प्राय धनी वर्ग आय कर एव व्यय कर से बचने के लिए सम्पत्ति खरीदने लगते है। इस क्रिया से भी वे धनी बनते है अत ऐसी स्थिति में उन पर सम्पत्ति कर लगाकर उनकी सम्पत्ति की वृद्धि पर रोक लगाई जा सकती है ताकि वे और अधिक धनी नहीं बन पाएँ।

5 अप्रत्यक्ष कर और वितरण—बिक्री कर आयात कर उत्पादन कर आदि अप्रत्यक्ष कर या वस्तु कर होते हैं। इन करों के प्रतिगामी प्रभाव (Regressive Effects) हो सकते हैं और प्रगतिशील (Progressive) भी। अनिवार्यताओं पर करारोपण करने से इनका भार धनी वर्ग की तुलना में निर्धनों पर अधिक पडता है। दुकानदार कर की मात्रा को वस्तु मूल्य मे जोडकर खरीददार से वसूल कर लेते हैं

चूँकि निर्धन वर्ग के लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता धनी व्यक्ति की तुलना मे अधिक होती है अत उसको अधिक त्याग करना पडता है। इस प्रकार कर-भार का शिकार निर्धन वर्ग अधिक होता है। स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष-करों से देश में धन के वितरण की असमानता कम होने के स्थान पर और अधिक हो जाती है। यदि सरकार अनिवार्य वस्तुओं को कर से मुक्त कर दे और विलासिता की वस्तुओं अथवा चुनी हुई वस्तुओं पर जिनका उपभोग धनी वर्ग करता है प्रगतिशील करारोपण करे तो इन करो से धन के वितरण की असमानता घटाई जा सकती है। विलासिताओं पर करों का भार निर्धनों की तुलना में धनी वर्ग पर अधिक पडता है जिससे ये कर धन के वितरण मे समानता लाने मे सहायक होते हैं। सामान्य बिक्री-कर (General Sales Tax) चूँकि सभी पदार्थों पर लगाया जाता है जिसमे कि अनिवार्य आवश्यकताओं और सामान्य उपभोग के पदार्थ भी सम्मिलित है अत इनका प्रतिगामी प्रभाव पडता है। यदि अनिवार्य आवश्यकताओं और सामान्य उपभोग की वस्तुओं को करारोपण से मुक्त कर दिया जाए तो इन करों की प्रतिगामिता कम की जा सकती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि करारोपण रूपी शक्तिशाली अस्त्र आय के वितरण की असमानता को दूर करने का प्रमुख साधन है और करारोपण इस प्रकार होना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो निर्धनों पर कोई भी कर नहीं लगाया जाना चाहिए या कम से कम कर लगाना चाहिए। धनी व्यक्तियो से कर वसूल करके उसे ऐसी सेवाओं पर व्यय किया जाना चाहिए जिससे निर्धन व्यक्तियो को लाभ पहुँचे उनकी उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो उनकी क्रय-शक्ति और देश मे रोजगार बढे आदि वितरण की असमानता के लिए करारोपण करते समय उत्पादन पर पडने वाले इसके प्रभावों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि यदि उत्पादन कम होता जाएगा तो वितरण किस वस्तु का होगा और समान वितरण से क्या लाभ होगा?

वितरण बनाम उत्पादन (Distribution v/s Production)

उपर्युक्त किए गए विवचन से यही प्रकट होता है कि वितरण के दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रगतिशील कर-व्यवस्था (Sharply Progressive Tax System) लागू की जानी चाहिए किन्तु उत्पत्ति पर पडने वाले प्रभाव को ध्यान मे रखना चाहिए। अत्यधिक प्रगतिशील एव भारी करो का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इससे उत्पादन कम होने लगता है और यदि उत्पादन को हानि पहुँचती है तो वितरण की समानता का अर्थ धन का समान वितरण नहीं वरन् केवल गरीबी का समान वितरण होगा अत यह नितान्त आवश्यक है कि वितरण सम्बन्धी बातो पर विचार करते समय उत्पादन सम्बन्धी पहलुओं की उपेक्षा नहीं की जाए। यह स्मरण रखना चाहिए कि अत्यधिक प्रगतिशील करारोपण प्रत्येक परिस्थिति में नहीं बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही उत्पादन के लिए हानिकारक होता है। दूसरे शब्दो मे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती है जिनमें प्रगतिशील करारोपण से उत्पादन को हानि नहीं पहुँचती बल्कि प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरण के लिए यदि एक उपयुक्त व्यय-कर (Suitable Expenditure Tax) लगाया जाए तो बचत को प्रोत्साहन मिल सकेगा। आशय यह है कि उत्पादन और वितरण दोनो के उद्देश्यों के बीच सामन्जस्य स्थापित किया जाना चाहिए और करारोपण की योजना का निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि जहाँ एक ओर यह उत्पादन के मार्ग मे कोई अनुचित अवरोध न करे वहाँ दूसरी ओर धन के वितरण की विषमताओं को कम करने मे सहायक बने।

विकासशील राष्ट्रो मे करो के वितरणात्मक प्रभाव

विकासशील देशों की समस्याएँ विकसित देशो की समस्याओं से भिन्न होती है। विकसित देशो मे उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय का स्तर काफी ऊँचा होता है अत राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण की समस्या पर अधिक बल दिया जाता है किन्तु विकासशील देशो मे मूलत दो समस्याएँ होती है—एक उत्पादन मे वृद्धि करके राष्ट्रीय आय के वितरण को समान बनाने की समस्या। इसमे दो विचार है—एक मत यह है कि उत्पादन तथा रोजगार के आकार मे वृद्धि करना विकासशील अर्थव्यवस्थाओं का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और आय के समान वितरण की ओर बाद मे ध्यान देना चाहिए। दूसरा मत यह है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे धन के न्यायपूर्ण वितरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। ये दोनो विचार परस्पर विरोधी और अधूरे हैं चूँकि जिस देश का उत्पादन और रोजगार बढाने के लिए कर ढाँचे मे ऐसे परिवर्तन आवश्यक होते है जिससे लोगो की काम करने बचत करने और जोखिम सहन करने की

शक्तियों पर अधिक बुरा प्रभाव न पड़े, वहाँ यह आवश्यक है कि धन के पुनर्वितरण पर अति प्रगतिशील करारोपण किया जाय और वास्तविकता यह है कि विकासशील देशों मे इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ करना सम्भव है।

हम यह जानते है कि व्यक्तियो के काम करने और बचत करने की इच्छा पर सभी करों का समान प्रभाव नहीं पडता। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष करो से मनुष्यों के काम करने और बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है जबकि अप्रत्यक्ष करो के सामान्यत ये प्रभाव नहीं होते। प्रत्यक्ष करों के प्रभाव तभी बुरे हो सकते है जब व्यक्तियों की आय सम्बन्धी माँग लोचपूर्ण होती है। जब व्यक्तियों की आय के प्रति माँग बेलोचदार हो जाती है तो वे काम करने के लिए हतोत्साहित नहीं होते। चूँकि समाज में अधिकाश व्यक्तियों की आय की माँग बेलोचदार होती है, अत करारोपण से उनके कार्य करने व बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। सम्पत्ति तथा मृत्यु-करो का प्रभाव यही होता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में पुराने उपक्रमों के विस्तार, नए उपक्रमो की स्थापना, सम्पत्ति के सग्रह तथा वृहत् सगठनों की भावनाएँ इतनी अधिक होती है कि किसी भी प्रकार के आय एव सम्पत्ति करों का भार व विनियोग तथा पूँजी-निर्माण पर बुरा प्रभाव नहीं पडता।

इसके अतिरिक्त विकासशील देशों में आर्थिक विकास के लिए नियोजन व्यवस्था अपनाई जाती है जिसमें विनियोग की दर इतनी तीव्र गति से बढती है कि एक ओर आय बढती जाती है दूसरी ओर उपभोग की वस्तुओं व सेवाओं की माँग मे वृद्धि होती है। चूँकि वस्तुओं का उत्पादन बढती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ रहता है (यद्यपि उत्पादन भी बढता है) अत माँग बढने से वस्तुओं के मूल्य भी बढ जाते हैं जिससे व्यापारियो व उत्पादकों के लिए लाभ की मात्रा में वृद्धि होती है और वे कर देने से भयभीत नहीं होते और उनके विनियोग करने की प्रेरणाओं पर बुरा प्रभाव नहीं पडता।

आज की कर-व्यवस्था की कुशलता व कर-वचना की सम्भावनाओं की उपस्थिति में करारोपण का विनियोजन पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय नहीं रहता या बहुत कम भय रहता है। यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि अधिकाधिक करों के बावजूद नए-नए कारखाने और नए-नए उद्योग स्थापित होते जा रहे है। पिछले 20 वर्षों के आर्थिक इतिहास से प्रकट है कि करों के भार में निरन्तर वृद्धि होने पर आर्थिक विकास और औद्योगिक प्रगति की गति धीमी होने के स्थान पर तीव्र हो रही है।

जब आर्थिक नियोजन के कारण लोगों की आय मे वृद्धि होती है तो वे अपनी आय को उपभोग पर व्यय करते है बचत तथा विनियोग मे नहीं लगाते। इस प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना अत्यन्त आवश्यक है। देश और समाज के आर्थिक विकास के लिए यह जरूरी है कि आय को उपभोग में ही व्यय नहीं किया जाए बल्कि बचत और विनियोग के लिए रखा जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को ऐसे कदम उठाने चाहिए जिससे निजी बचतो को प्रोत्साहन मिले देश की उत्पादन-शक्ति प्रोत्साहित हो। धनी व्यक्तियो का अपव्ययी उपभोग कम हो और साधारण व्यक्तियो का उपभोग भी नियन्त्रण में हो। राज्य के निजी कोष को उत्पादक-विनियोगो मे लगाने के लिए राजकीय कोष का विस्तार करना होगा। ये सब कार्य करारोपण के द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं।

विकासशील देशो में धन कुछ लोगो के हाथों मे ही केन्द्रित हो जाता है। कुछ व्यक्तियों के हाथों में धन के एकत्रीकरण की रोकथाम के लिए विकासशील देशों की सरकारो को प्रत्यक्ष करो का उपयोग करना चाहिए। इसके लिए सरकार को प्रगतिशील करारोपण करना चाहिए। निम्न आय वाले वर्गों के मन में कहीं यह शका उत्पन्न न हो जाए कि धनी व्यक्तियों को कर सहन ही नहीं करने पड रहे हैं, परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि कर-भार के वितरण को सन्तुलित बनाने की दृष्टि से कर-व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए जिससे ऊँची आय वाले वर्गों पर कर का भार उतना ही पडे जितना कि प्रत्यक्ष करों की सख्या में वृद्धि होने से निर्धन वर्गों पर पड रहा है। यदि ऐसा न हुआ तो देश में आय की विषमताओं में और अधिक वृद्धि हो जाएगी।

कुछ लोगो की धारणा है कि आय और धन की असमानताओं से बचत एकत्रीकरण मे सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में इन लोगों का कहना है कि करारोपण के कारण लोगो की बचत हतोत्साहित होती है। यह कहा जाता है कि पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण से निर्धन व्यक्तियों की वास्तविक आय बढ जाती है जिससे उपभोग बढता है और बचत तथा विनियोग कम हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में नहीं रखा गया है कि आय मे वृद्धि के साथ-साथ धनी वर्ग के उपभोग और अपव्यय में वृद्धि हो

जाती है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी उचित नहीं है कि धनी वर्ग की बचत ही विकासशील देशों को निर्धनता के जाल से बाहर निकालने के लिए पर्याप्त होगी। दूसरे विचार के प्रस्तुतकर्ता यह भूल गए है कि विकास सम्बन्धी व्यय मे निर्धन वर्गों का भी यथेष्ट योगदान होता है क्योकि उन्हे अप्रत्यक्ष करो का अधिकाश भार वहन करना पडता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि उपभोग का स्तर नीचा होने पर निर्धन वर्ग की कार्यक्षमता मे वृद्धि करना आवश्यक है। निम्न आय वाले वर्गों की आय में वृद्धि करके सम्पूर्ण राष्ट्र की उत्पादन शक्ति को बढाने में सहायता करते हैं।

निष्कर्ष रूप मे यह कहना उचित है कि विकासशील देशो में उत्पादन मे वृद्धि और आय तथा धन के पुनर्वितरण दोनो ही उद्देश्यो की पूर्ति एक साथ सम्भव है।

करारोपण के अन्य प्रभाव

(Other Effects of Taxation)

उत्पादन और वितरण पर करारोपण के प्रभावों के अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी पडते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि करारोपण के प्रभाव एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् किये जा सकते हैं। वास्तव मे करारोपण के सभी प्रभाव परस्पर सम्बन्धित और न्यूनाधिक रूप में अन्योन्याश्रित होते हैं।

करारोपण एवं उपभोग (Taxation and Consumption)

करों का उपभोग पर बड़ा प्रभाव पडता है। करारोपण करदाता की क्रय-शक्ति को कम कर देता है क्योकि वह कर का भुगतान आय में से करता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अपना उपभोग कम करना पडता है। उपभोग कम होने से करदाता के रहन-सहन का स्तर नीचा हो जाता है। यही कारण है कि कम आय वाले वर्गों पर लगाए जाने वाले प्रत्यक्ष कर वाछनीय नहीं माने जाते। सामान्य उपभोग के पदार्थों पर जो कर लगाए जाते हैं उनसे यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे करारोपण से पदार्थों पर जो कर लगाए जाते हैं उन्हें उन पदार्थों के लिए अधिक मूल्य चुकाना पडता है। स्पष्ट है कि यह स्थिति इन लोगों के लिए भार-पूर्ण सिद्ध होती है। अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की माँग सामान्यत बेलोचदार या मूल्य-निरपेक्ष होती है अर्थात् अधिक महँगी हो जाने पर भी उन वस्तुओं को तो खरीदना ही पडता है। प्रतिष्ठा रक्षक अथवा रूढ आवश्यकताओं की वस्तु पर लगाए गए करों का अधिकाश भाग निर्धन वर्ग को ही वहन करना पड़ता है क्योंकि उनकी माँग बेलोचदार होती है। ऐसे करों से निर्धन वर्ग की कार्यक्षमता कम हो जाती है। ठीक यही प्रभाव उस समय होता है जब करारोपण उन वस्तुओं पर किया जाता है जो कार्यक्षमता को बढाने वाली हैं। उदाहरणार्थ दूध आदि इन वस्तुओं की अधिक कीमते चुकाने की अपेक्षा लोग उनके उपभोग में कमी करने या उनका उपभोग बिल्कुल त्याग देने को तैयार रहते है। ऐसी वस्तुओं पर करारोपण से उनके उपभोग में कमी करने की प्रेरणा मिलती है।

विलास की वस्तुओं पर लगाए गए कर अच्छे समझे जाते है क्योकि ऐसी वस्तुओं के कम उपयोग से समाज लाभान्वित होता है और इन करों का भार धनी वर्ग को सहन करना पडता है। मादक एव हानिकारक वस्तुओ पर किए गए करारोपण से समाज को लाभ पहुँचता है क्योकि कर लगाने से इनका मूल्य बढ जाता है जिससे इनका उपभोग कम हो जाता है और कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। ऐसे पदार्थों के उपभोग मे कटौती या कमी किस प्रकार की जाए यह कुछ परिस्थितियों पर निर्भर होता है। ये परिस्थितियाँ हैं—भारी करारोपण द्वारा अथवा उनके निर्माण विक्रय और उपभोग को प्रतिबन्धित करके। उदाहरण के लिए हमारे देश मे कुछ राज्यों द्वारा पूर्ण या आशिक मद्य-निषेध नीति अपनाई गई है और कुछ राज्यों मे इन पदार्थों के उत्पादन पर करारोपण की नीति अपनाई गई है। इन दोनों ही नीतियों के सापेक्षिक गुणों के सम्बन्ध में लोगों में तीव्र मतभेद है।

एक सामान्य कर और मूल्य-वृद्धि तथा उत्पादन के मध्य सम्बन्ध में प्रो रोल्फ ने लिखा है— एक पूर्णतया सामान्य कर की दशा में ऐसा कोई कर-रहित क्षेत्र नहीं होगा जिसमे साधन अपनी आय में होने वाली कटौती से बचने का प्रयास करे। जब कोई कर लगाया जाता है तो फर्में प्रत्यक्ष रूप से कीमतो में वृद्धि करने की स्थिति में नहीं होती हैं। अत उन्हें उत्पादन में कमी करने की प्रेरणा मिलती है। अन्तिम परिणाम यह होता है कि समस्त साधनो की आय में आनुपातिक कमी आ जाती है। रोल्फ ने यह निष्कर्ष निकाला है 'एक पूर्णतया किस्म की उत्पादन करों की एक-सी व्यवस्था में उपभोक्ता के लिए

कीमतें नहीं बढती है। दूसरे उत्पादन की बनावट मे परिवर्तन नहीं होता है। यह व्यवस्था साधनों के स्वामियो की मौद्रिक आय मे आनुपातिक कमी उत्पन्न करती है।"[1]

करारोपण द्वारा वस्तुओं के उपमोग को प्रतिबन्धित करने का उद्देश्य आय प्राप्त करने के उद्देश्य से टकराता है, क्योंकि यदि कर वस्तुओं के उपमोग पर प्रतिबन्ध लगाने में सफल हो जाता है तो इससे सरकारी आय निश्चित रूप से घट जाती है जबकि इसके विपरीत यदि सरकारी आय पहले के समान अधिक बनी रहती है तो इसका आशय यही है कि उपमोग में कोई कमी नहीं हुई है और कर अपने उद्देश्य में असफल रहा है।

करारोपण एवं सन्तुष्टियाँ—उपमोक्ता की सन्तुष्टियो (Consumers Satisfactions) पर करारोपण के जो प्रमाव पडते है उनका कल्याण की दृष्टि से कुछ महत्त्व है। करारोपण से वस्तुओं का जो उपमोग कम होता है उससे व्यक्तियो की सन्तुष्टि सदैव ही कम नहीं होती। उदाहरण के लिए, यदि करारोपण ऐसी वस्तु पर किया जाता है जिसकी माँग लोचदार या मूल्य-सापेक्ष है तो उपमोक्ता उस वस्तु के उपमोग में कमी कर देते है जिससे उसकी कीमते नहीं बढ पातीं। इसका अर्थ यही है कि या तो वस्तु ही इस प्रकार की है जो उपमोक्ता को अधिक सन्तुष्टि प्रदान नहीं करती या उस वस्तु के स्थान पर अन्य किसी सस्ती वस्तु का उपयोग किया जा सकता है अथवा उसका उपमोग आवश्यक ही नहीं है और भविष्य के लिए उसे स्थगित किया जाना सम्भव है। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं पर लगाए जाने वाले कर उपमोक्ता के लिए एक प्रकार से ऐच्छिक होते हैं यानी उपमोक्ता उस वस्तु को खरीदना बन्द करके कर के भुगतान से स्वय को बचा सकते है। ऐसे करो से राज्य को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं हो सकती है। केवल बेलोचदार वस्तुओं पर करारोपण करके ही राज्य को आवश्यक आय प्राप्त हो सकती है। इससे लोगों की सन्तुष्टि कम हो जाती है। आय-कर से लोगो की सन्तुष्टि इतनी कम नहीं होती जितनी वस्तुओं पर कर लगाने से क्योकि आय-कर से केवल आय ही कम होती है वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि नहीं होती। लोगो की सन्तुष्टि मूल्यो की वृद्धि से अधिक होती है।

करारोपण एवं आर्थिक स्थिरता (Taxation and Economic Stability)

जिस प्रकार सार्वजनिक व्यय द्वारा आर्थिक जीवन को स्थायी बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समाज के आर्थिक जीवन का नियमन करने के लिए सरकार करारोपण का सहारा ले सकती है। *प्रो. लर्नर ने यहाँ तक कह दिया है कि "करारोपण का एकमात्र उद्देश्य देशों मे आर्थिक क्रियाओं यानी* उत्पादन, वितरण एव उपमोग सम्बन्धी क्रियाओं के आकार को नियमित करना ही होना चाहिए।" इनका विश्वास है कि आय अन्य स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है, जैसे—मुद्रा पूर्ति मे वृद्धि करके। कर द्वारा व्यक्तियों की क्रय-शक्ति और व्यय-शक्ति को कम करना चाहिए।

सरकार का करारोपण का कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, पर आर्थिक क्रियाओं पर करारोपण का प्रभाव अवश्य पडता है। करारोपण व्यक्तियो के उपमोग एव विनियोग करने की शक्ति को प्रभावित करके देश के व्यापार उद्योग तथा रोजगार की स्थिति को प्रभावित करता है। राज्य करारोपण से आर्थिक क्रियाओं का नियमन करते हुए देश के रोजगार के स्तर को स्थायी बना सकता है तो पूर्ण रोजगार की स्थिति स्पष्ट कर सकता है। यह स्पष्ट है कि देश मे सभी आर्थिक क्रियाएँ उपमोग के स्तर से निर्धारित की जाती है। वस्तु-विशेष का उपभोग बढने से उसकी माँग वृद्धि होती है और मूल्य तथा उत्पादन बढता है। इसी प्रकार उस उद्योग-विशेष में अधिक व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त होने लगता है। इसके विपरीत उपमोग के कम होने से स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। विनियोगों द्वारा पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन बढता है जिसके फलस्वरूप अन्य वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि होती है और स्वभावत. देश मे रोजगारो मे वृद्धि होती है। अत यह कहना चाहिए कि जिन करों से उपमोग निरुत्साहित होता है तथा धन विनियोगो मे लगने के स्थान पर सचित कार्य (Hoards) की ओर पलायन करता है, वे कर बेरोजगारी बढाने वाले और बुरे होते हैं।

कर एवं मुद्रा-स्फीति—मुद्रा-स्फीति (Inflation) तथा मन्दी (Depression) या मुद्रा-सकुचन (Deflation) के दिनो मे आर्थिक स्थिरता कायम करने के लिए करारोपण भिन्न-भिन्न प्रकार से योग देता

1 *Earl G Roleph* A Proposed Revision of Excise Tax Theory Journal of Political Economy Vol LX, No 2, April 1952, p 102 117

है। मुद्रा-स्फीति मे मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है जिससे समाज के बहुसख्यक लोगो को हानि होती है। ऐसी स्थिति मे करो का उद्देश्य व्यक्ति की व्यय-शक्ति को घटाकर मूल्यों के बढने की प्रवृत्ति को रोकना होता है। व्यक्तियो की अतिरिक्त क्रय-शक्ति व्यक्तियो के पास से करारोपण द्वारा सरकार के पास पहुँच जाती है। दूसरे शब्दों मे सरकार भारी करारोपण करके व्यक्तियो की अतिरिक्त आय को स्वय खींच लेती है। ऐसा होने से व्यक्तियो के पास उपलब्ध मुद्रा की मात्रा घट जाती है और अब वे उतना व्यय करने योग्य नहीं रहते जितना ये पहले कर सकते थे। इस सम्बन्ध में आय-कर तथा व्यय-कर अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। आय-कर व्यक्ति की क्रय-शक्ति को कम करते है और व्यय-कर व्यय करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं जिससे वस्तु की माँग अधिक नहीं बढ पाती। चूँकि मुद्रा-स्फीति का एक कारण उत्पादन का आय की अपेक्षा कम होना होता है अत उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ करो मे छूट देना लाभकारी सिद्ध होता है। यह उचित होगा कि नए उत्पादको पर कोई करारोपण नहीं किया जाए ताकि उन्हे उत्पादन बढाने के लिए प्रोत्साहन मिले। वस्तुओं की मात्रा आयातों द्वारा भी बढाई जा सकती है। स्पष्ट है कि करारोपण द्वारा मुद्रा-स्फीति काल में आय और व्यय पर अत्यधिक भारी करारोपण करने से तथा उत्पादन एव आयात करों को कम करके मूल्य स्तर में स्थिरता लाई जा सकती है।

कुछ विचारकों का मत है कि एक सीमा के उपरान्त करारोपण मूल्य स्तर मे स्थिरता लाने की अपेक्षा उसमें वृद्धि कर देता है क्योकि एक ओर चलन मे मुद्रा की मात्रा बढती है दूसरी ओर वस्तुओं तथा सेवाओं का अभाव बढता है। इन विचारको ने अपने पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए है जो इस प्रकार है—

(i) ऊँचे करारोपण से जहाँ लोगो की क्रय-शक्ति घट जाती है वहाँ श्रमिक अधिक पारिश्रमिक की माँग करने लगते हैं। यदि सरकार श्रमिको की माँग को स्वीकार कर लेती है तो इससे मुद्रा प्रसार और अधिक हो जाता है।

(ii) ऊँचे करारोपण के कारण सार्वजनिक व्यय बढ जाता है जिससे चलन मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। गुणक प्रभावो से इसके परिणाम और तीव्र होते है।

(iii) करारोपण द्वारा राज्य विनियोगो को प्रोत्साहन दे सकता है जिसका कभी-कभी यह परिणाम होता है कि उत्पादन मे वृद्धि हुए बिना ही मौद्रिक आय मे वृद्धि हो जाती है।

(iv) ऊँचे करारोपण से लोगो का उपभोग व्यय बढ जाता है और बचत कम हो जाती है जिससे मुद्रास्फीति का भार अधिक हो जाता है।

(v) करारोपण की ऊँची दरो के कारण श्रमिक वर्ग-सघर्ष को जन्म देता है जिससे वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाता है।

अत आवश्यक है कि राज्य करारोपण के साथ-साथ मुद्रा प्रसार को रोकने के अन्य उपायो का प्रभावशाली ढंग से आश्रय ले और व्यय नीति मे उचित परिवर्तन करता रहे।

कर एव मन्दी या मुद्रा सकुचन—मन्दी काल या मुद्रा सकुचन की स्थिति मे करो को एक अन्य प्रकार का भाग अदा करना पडता है। मन्दी काल मे नए कर लगाना सामान्यत वाछनीय नहीं समझा जाता क्योकि इसमे एक ओर क्रय-शक्ति कम हो जाती है और दूसरी ओर विनियोग मे भी कमी हो जाती है। लोगो की क्रय-शक्ति में कमी होने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि वे कम व्यय कर सकेगे इससे वस्तुओ तथा सेवाओं की माँग सामान्य रूप से कम हो जाएगी और रोजगार एव व्यावसायिक क्रियाओं मे शिथिलता आ जाएगी। विनियोग मे कमी होने से रोजगार एव व्यावसायिक क्रियाओं मे शिथिलता आ सकती है। अत मन्दी काल की दशा में यह आवश्यक है कि करो की मात्रा पहले से कम कर दी जाए सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि कर दी जाए और ऐसे उद्योगो को चालू किया जाए जिनमे अधिक व्यक्तियो को नौकरी मिल सके।

मन्दीकाल के लिए घाटे के बजटो का ही सुझाव दिया जाता है क्योकि ऐसे बजटों से लोगो के हाथो में रहने वाली क्रय शक्ति के परिणाम मे वृद्धि हो जाती है। मन्दी काल मे उन करो मे कमी करना विशेष रूप से आवश्यक होता है जिनका भार कम आय वाले तथा निर्धन वर्ग पर अधिक पडता है। जिन करो का भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पडता है उनमे अधिक कमी करने की आवश्यकता नहीं होती

क्योकि उपभोग की मात्रा मे केवल निर्धनों का कर-भार कम करने से ही वृद्धि होगी । इस प्रकार करो द्वारा जो धन का पुनर्वितरण होता है वह मन्दी को रोकने में सहायता करता है क्योकि पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण के कारण क्रय-शक्ति समाज के धनी वर्ग की ओर से निर्धन वर्ग की ओर स्थानान्तरित हो जाती है । यह भी सुझाव दिया जाता है कि मन्दी काल मे उपभोग को बढाने के लिए बचतों तथा धन-सचय पर कर लगाना चाहिए ताकि लोगो को अधिक व्यय करने के लिए प्रोत्साहन मिल सके और वस्तुओं की अधिक माँग उत्पन्न हो सके तथा व्यावसायिक क्रियाओं एव रोजगार मे वृद्धि हो सके । उन करो को घटा देना चाहिए जिनसे विनियोग हतोत्साहित होते है क्योकि ऐसे करो मे उत्पादन क्रियाओं का स्तर नीचा ही बना रहता है और वे मन्दी काल को बढावा देते है । नए विनियोगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए कुछ रियायते देनी चाहिए । स्पष्ट है कि मन्दी काल मे करारोपण द्वारा आर्थिक क्रियाओं को स्थायी रूप प्रदान कर सकते है और रोजगार की स्थिति को सुधार सकते है ।

यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति मे नए कर लगाकर तथा पुराने करो की दरे बढाकर लोगो की जेबो से अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करके और मुद्रा-सकुचन या मन्दी काल मे करो को हटाकर या करों की दरे कम करके तथा नए करों का विचार स्थगित करके मूल्यो को स्थिरता प्रदान की जा सकती है और रोजगार की स्थिति को स्थायी बनाया जा सकता है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं का उपयोग आधुनिक सरकारे स्वय करती है और करारोपण प्रत्येक सरकार की आर्थिक नीति का मुख्य अग बन गया है । आधुनिक लेखक इसी को कार्य सम्पादन सम्बन्धी वित्त व्यवस्था (Functional Finance) के नाम से सम्बोधित करते हैं । प्रभावशाली कदम उठाने के लिए इस पर बल दिया जाता है कि करारोपण सरकारी व्यय और सरकारी ऋण की एक समन्वयपूर्ण नीति अपनाई जाए । यह आवश्यक है कि इन राजकीय उपायो एव आर्थिक नियन्त्रण तथा उपयुक्त मौद्रिक नीति आदि अन्य उपायो के बीच समन्वय स्थापित किया जाए ।

करारोपण मूल्यों तथा रोजगारो को स्थायी रखने मे सहायक होता है । पिछले वर्षों मे लॉर्ड कीन्स तथा लॉर्ड विलियम बैवरिज की रचनाओं द्वारा पूर्ण रोजगार का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया और कर-प्रणाली का प्रयोग इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया जाने लगा है । लॉर्ड कीन्स ने इस सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए है वे उल्लेखनीय है जिनका विवरण प्रो न्यूमैन के द्वारा नीचे प्रस्तुत है—

1 जहाँ तक सम्भव हो ब्याज की दर को न्यूनतम रखा जाए ताकि लाभ अर्जित करने के लिए पूँजी का विनियोग सरलतापूर्वक किया जा सके ।

2 निजी विनियोग को सार्वजनिक विनियोग द्वारा सहायता दी जाए ।

3 प्रगतिशील कर-प्रणाली का प्रयोग करके जिसका बोझ बचत पर पडेगा घटाते हुए उपभोग करने की शक्ति को दूर किया जाए ।

प्रो न्यूमैन ने लिखा है कि हमारा पिछला अनुभव इसकी पुष्टि करता है कि नए विनियोग पर गुणक प्रभाव बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि कीन्स ने बताया था और इससे सार्वजनिक निर्माण के नियोजन के काम को बहुत अधिक महत्त्व मिला है । यदि अमेरिकी व्यापारियो का एक बडा वर्ग घाटे के व्यय (Deficit Expenditure) तथा उपभोग से होने वाली कुल वृद्धि मे अविश्वास व्यक्त न करता तो सार्वजनिक निर्माण की नीति को जो सफलता प्राप्त हुई उससे कही अधिक सफलता प्राप्त हुई होती ।

आर्थिक स्थिरता के विचार के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता (Exchange Stability) और मूल्य स्थिरता (Price Stability) दोनो शामिल है तथा पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्थिरता अनिवार्य है । कीन्स के शब्दो मे मौद्रिक नीति (Monetary Policy) का उद्देश्य व्यापार-चक्रो द्वारा उत्पन्न होने वाली तेजी और मन्दी को कम करना एव रोजगार के बिन्दु पर बचत तथा विनियोग के मध्य साम्य स्थापित करना होना चाहिए । उनका कहना था कि आर्थिक स्थिरता के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का नियमन करना होगा । प्रो डडले डीलार्ड के अनुसार सक्षेप मे कीन्स का विश्वास था कि निजी पूँजीवाद को बनाए रखने के लिए उसके सबसे बुरे दोषो को दूर करना होगा । वह इसमे विश्वास करता था कि निजी औद्योगिक पूँजीवाद की मूल बातो मे बिना कोई परिवर्तन किए इन दोषों को समाप्त या दूर किया जा सकता है । निष्कर्षत आज के युग मे आर्थिक स्थिरता के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय नीति का प्रयोग एव महत्त्व अत्यधिक बढ गया है ।

करारोपण तथा पूँजी निर्माण (Taxation and Capital Formation)

विकासशील देशों मे मुख्य समस्या पूँजी-निर्माण की गति को तेज करके उत्पादन बढाने की होती है । करारोपण को इन अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी-निर्माण के एक महत्त्वपूर्ण साधन अथवा यन्त्र के रूप मे स्वीकार किया गया है क्योंकि इसके द्वारा बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है और अप्रयुक्त साधनो का उपयोग सम्भव है । ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे जब तक पूँजी-निर्माण की दर में 12 से 15 प्रतिशत तक की वृद्धि नहीं होगी तब तक वे विकसित अर्थव्यवस्थाओं के समान नहीं हो सकेंगी ।

आगे बढने से पहले हमे पूँजी-निर्माण का अर्थ समझ लेना चाहिए । इससे हमारा अभिप्राय मुख्यत तीन बातो से है—

(क) उन साधनों को जो या तो बेकार पडे है या जिसका उपयोग उपभोग सम्बन्धी क्रियाओं पर किया जा रहा है जैसे—पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाना ।

(ख) एक सुदृढ बैंकिग और वित्तीय व्यवस्था की स्थापना करना ताकि देश मे बचत गतिशील की जा सके और विनियोग को बढ़ावा मिल सके ।

(ग) देश के मौद्रिक एव अन्य साधनो को पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए लगाना ।

करारोपण विकसित एव विकासशील दोनो ही अर्थव्यवस्थाओं मे पूजी-निर्माण में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है । जिन देशो में आर्थिक विकास ऊँची अवस्था मे है वहाँ लोगो की आय पर्याप्त होती है और करदेय क्षमता अधिक होती है । इसलिए राज्य करारोपण द्वारा पर्याप्त आय प्राप्त कर सकता है और आय को पूँजी निर्माण योजनाओं में लगा सकता है । यही कारण है कि हमे विकसित देशो मे सरकार द्वारा सडकों रेलो तार व टेलीफोन जल विद्युत-शक्ति आदि की अनेक व्यवस्थाएँ देखने को मिलती हैं । इन सबकी व्यवस्था सरकार द्वारा करारोपण द्वारा प्राप्त आय से की गई है अथवा ऐसे ऋणों द्वारा की गई है जो बाद मे करारोपण द्वारा प्राप्त आय से चुकाए जाएँगे ।

कुछ लेखकों ने इसके विरुद्ध आपत्ति प्रकट की है कि करारोपण विकसित देशो में पूँजी-निर्माण के प्रभावशाली सहायक के रूप में सिद्ध होता है । इसके लेखकों का मत है कि प्रत्यक्ष करों से लोगो के कार्य एव बचत करने की प्रेरणाएँ कम हो जाती है और पूँजी-निर्माण की गति धीमी पड जाती है । अप्रत्यक्ष करो का प्रभाव यह होता है कि इनसे वस्तुओं की माँग कम हो जाती है जिससे उद्योगों का विस्तार रुक जाता है । यद्यपि कुछ विचारकों ने इस मत का खण्डन किया है और कार्य करने की शक्तियाँ हतोत्साहित नही होतीं तथापि हमे यह स्वीकार करना होगा कि करारोपण की ऊँची दरों से अर्थव्यवस्था को अवश्य ही हानि पहुँचती है और व्यक्तियो की बचत एव विनियोग करने की प्रेरणाओं को आघात लगता है । करारोपण के ये दोष ऐसे नहीं है जिन्हे दूर न किया जा सके । इन दोनों को दूर करने के लिए सार्वजनिक व्यय का उपयोग एक क्षतिपूरक नीति के रूप मे किया जा सकता है और अपा शेजगाए अवल एक विनियोग के स्तरो को स्थिर रखा जा सकता है । यह कहना उपयुक्त है कि करारोपण का उद्देश्य विकसित अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी-निर्माण की गति को स्थायी बनाए रखने का होता है तथा इस ओर राज्य का व्यवहार तटस्थता का रहता है ।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे निर्धनता अमितव्ययी उपभोग तथा विनियोजन के उचित अवसरों के अभाव में पूँजी-निर्माण की गति धीमी होती है । विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना मे विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में इस गति मे कम से कम 12 से 15 प्रतिशत तक वृद्धि की आवश्यकता होती है । इस दिशा मे निजी प्रयत्न अधिक प्रभावी नहीं होते । इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य रह जाता है कि वह उस समय तक पूँजी निर्माण के प्रयत्न जारी रखे जब तक उनके अभाव मे पूँजी निर्माण के स्तर को स्थायी रखना सम्भव न हो । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि बचतो और विनियोगो को प्रोत्साहित किया जाए ताकि करारोपण इस दिशा मे सहायक सिद्ध हो ।

जब सरकार करारोपण द्वारा पूँजी निर्माण करती है तो उसका भार निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है । एक तो उनका जीवन स्तर पहले ही गिरा हुआ होता है और दूसरे करारोपण से जीवन स्तर

और नीचे गिरने लगता है। इसलिए सरकार उपभोग पर नियन्त्रण करके साधनो को पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाती है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह अप्रत्यक्ष करारोपण करती है। सरकार का यह प्रयास होता है कि लोगो को तत्कालीन जीवन-स्तर से नीचे उपभोग को न गिरने दिया जाए और आय मे जितनी वृद्धि होती जाए उसे बढते हुए अनुपात मे पूँजी-निर्माण में प्रयुक्त किया जाए। सरकार के लिए यह वाछित है कि वह प्रत्यक्ष करो द्वारा धनी लोगो के अपव्ययी उपभोग को कम करे या उस पर अकुश लगाए। इसलिए वह व्यय-कर मृत्यु-कर आदि लगाती है। इसमे दो लाभ होते है—एक तो साधन अधिक आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में लगाए जा सकते है और दूसरे करारोपण से प्राप्त आय को राज्य पूँजी-निर्माण मे लगा सकता है। सामाजिक और आर्थिक पूँजी जैसे—सड़क रेल तार एव डाक नदियो पर पुल आदि के निर्माण पर कर राशि को खर्च किया जा सकता है तथा सरकार स्वय प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक उत्पादन मे भाग ले सकती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि विकासशील देशो के करारोपण को पूँजी-निर्माण की दिशा में एक प्रभावपूर्ण अस्त्र के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है। इसकी कुछ सीमाएँ है। विकासशील देशो मे प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है अत लोगो की करदेय-क्षमता कम होती है जिससे राज्य को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो से कम आय प्राप्त हो पाती है। यदि अप्रत्यक्ष करो की दरो मे वृद्धि की जाए तो इससे जीवन-स्तर के नीचे हो जाने का भय रहता है और यदि प्रत्यक्ष करो की दरे ऊँची की जाएँ तो धनी लोगो की कार्य और बचत करने तथा विनियोग करने की प्रेरणाएँ हतोत्साहित होती हैं जिससे पूँजी-निर्माण की गति तीव्र होने के स्थान पर मन्द पड जाती है। जैसा कि वॉन फिलिप्स ने कहा है 'यदि उचित स्थान पर अतिरिक्त प्रत्यक्ष करारोपण किया जाए तो उससे विकास के प्रथम चरणो मे निजी पूँजी-निर्माण की हानि नही होगी और जो कुछ हानि होगी उसकी पूर्ति अतिरिक्त कर आय द्वारा सार्वजनिक तथा निजी विनियोगों मे वृद्धि से हो जाएगी।

विकासशील देशो मे करारोपण नीति की सफलता के मार्ग मे एक बाधा इसलिए उत्पन्न होती है कि अर्थव्यवस्था का अधिकाश क्षेत्र अमौद्रिक होता है जिससे वास्तविक आय के अनुमान लगाने तथा बचतो को गतिशील बनाने मे कठिनाइयाँ आती है। ऐसे क्षेत्रो (ग्रामीण क्षेत्र) मे बैंकिग और वित्तीय सस्थाओं का अभाव रहता है। अत यह कह सकते है कि करारोपण द्वारा विकासशील देशो में अपव्ययी उपभोग को बन्द करके और सभी वर्गों को बचतो तथा विनियोग के लिए प्रोत्साहन प्रदान कर पूँजी-निर्माण किया जा सकता है।

करो की प्रगतिशीलता की मात्रा का मापन तथा सम्पूर्ण कर-प्रणाली की प्रगतिशीलता

(The Measurement of Degree of the Progression in Taxes and over all Progressiveness of the Whole Tax System)

करों की प्रगतिशीलता की मात्रा के मापन और सम्पूर्ण कर-प्रणाली की प्रगतिशीलता के अध्ययन बिना करारोपण का अध्ययन अधूरा रहेगा। करारोपण के लाभ के सिद्धान्त को प्रो मिल ने इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि लाभ सिद्धान्त के अन्तर्गत गरीब व्यक्तियो को अधिकतम कर देने पडते है क्योंकि सामाजिक वस्तुओं का अधिक उपभोग गरीबो द्वारा किया जाता है। अत करारोपण करदेय-क्षमता के अनुसार किया जाना चाहिए। करदेय क्षमता सिद्धान्त के अनुसार सभी व्यक्तियों द्वारा कर के भुगतान के रूप मे किया गया त्याग बराबर होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार करों का ढाँचा प्रगतिशील होना चाहिए। प्रगतिशील करारोपण का औचित्य निम्नलिखित तर्क के आधार पर किया जाता है—एक धनवान व्यक्ति आय की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करके नीची सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करता है। यदि वह आय की एक इकाई का सरकार को कर देने के रूप मे त्याग कर देता है तो उसे कम सन्तोष या कम उपयोगिता का त्याग करना पडता है अत धनवान की करदेय क्षमता अधिक होती है। धनवान की करदेय-क्षमता कुल रूप मे ही नही वरन् प्रति इकाई आय के रूप मे भी गरीब व्यक्ति से अधिक होती है। एक निर्धारित आय मे से कर देने मे धनवान को कम त्याग करना पडता है जबकि

उसी राशि पर गरीब द्वारा उतना कर लगा दिया जाए तो उसे अधिक त्याग करना पडता है। अत प्रगतिशील करारोपण समान सीमान्त त्याग के सिद्धान्त पर ही हो सकता है।

त्याग की समानता को तीन प्रकार से व्यक्त कर सकते है—समान कुल त्याग समान आनुपातिक त्याग एव समान सीमान्त त्याग। अब हम यहाँ पर पहले दो समानताएँ लेकर चलेगे जो निम्नानुसार हैं—

(अ) सब व्यक्ति अपने-अपने आय स्तरों पर आय से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करते हैं।

(ब) जैसे-जैसे आय बढती है उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।

करों की प्रगतिशीलता का निर्धारण हम निम्न सारिणी के अनुसार कर सकते हैं—

त्याग का सिद्धान्त	करदेय क्षमता		कर की प्रगतिशीलता
	धनवान व्यक्ति	निर्धन व्यक्ति	
1 समान कुल त्याग	न्यूनतम	अधिकतम	न्यूनतम प्रगतिशील
2 समान आनुपातिक त्याग	अधिक	कम	प्रगतिशील
3 समान सीमान्त त्याग	अधिकतम	न्यूनतम	अधिकतम प्रगतिशील

वह कर जिसका भार धनवान पर अधिक पडता है तथा निर्धन व्यक्ति पर कम से कम पडता है प्रगतिशील कर कहलाता है। कर की प्रगतिशीलता की माप कर के द्वारा डाले जाने वाले कर भार से की जाती है अत वही कर प्रगतिशील होगा जो समान सीमान्त त्याग सिद्धान्त के अनुसार लगाया जाएगा। जो कर समान आनुपातिक त्याग के सिद्धान्त पर लगाए जाएँगे वे कम प्रगतिशील अर्थात् आनुपातिक कर कहलाते है। जो कर समान कुल त्याग के सिद्धान्त के आधार पर लगाए जाते है वे बहुत कम प्रगतिशील अर्थात् प्रतिगामी कहलाते हैं। अत एक प्रगतिशील आय-कर प्रणाली वह होगी जिसमें करदेय-क्षमता आय की बढने की दर से अधिक दर पर बढती है। कर की प्रगतिशीलता की माप निम्नलिखित आधार पर कर सकते है—

1 कर-भार समाज के निर्धन वर्ग पर अधिक पडता है या धनवान वर्ग पर। जिस कर का भार धनवान वर्ग पर अधिक पडता है और निर्धन वर्ग पर कम से कम पडता है तो वह कर प्रगतिशील कहलाता है।

2 करदेय-क्षमता के आधार पर कर की प्रगतिशीलता को मापा जा सकता है। जिस कर में धनवान की करदेय क्षमता अधिकतम मापी गई है और निर्धन की करदेय-क्षमता कम से कम मापी गई हो तो वह कर प्रगतिशील कहलाता है।

3 जिस कर से धनवान और निर्धन दोनो व्यक्तियो का समान सीमान्त त्याग होता है वह कर प्रगतिशील कर कहलाता है।

निष्कर्ष रूप में करारोपण के अनेक प्रभाव पडते है। एक अच्छी-सरकार का निर्धारण वहाँ की करारोपण व्यवस्था से किया जा सकता है।

9

भारतीय कर-प्रणाली के लक्षण

(Salient Features of the Indian Tax System)

भारत एक विकासशील देश है । विकासशील देशो मे कर प्रणाली के लक्षणो एव ढाँचे पर विचार करते समय विनियोग को प्रोत्साहन करना एव आर्थिक असमानता दूर करना प्रमुख उद्देश्य होता है । विकसित देशो के द्वारा विकसित कर प्रणाली और उसका ढॉचा विकासशील देशों के लिए उपयुक्त नहीं होता है । कर प्रणाली पर किसी भी देश की लोक वित्त व्यवस्था निर्भर करती है । आदर्श कर प्रणाली वह है जो निर्धारित उद्देश्यो को उचित रूप से प्राप्त करने मे सहायता प्रदान करे ।

भारत मे कराधान का ढॉचा और भारतीय कर-प्रणाली के प्रमुख लक्षण

भारतीय कर जॉच आयोग के अनुसार कर ढॉचे के प्रमुख उद्देश्य—वितरण मे सुधार सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहन निजी क्षेत्र मे उत्पादन मे वृद्धि एव स्थायित्व को प्रोत्साहन—होना चाहिए ।

भारत सरकार के एक प्रकाशन मे भारतीय कर व्यवस्था के ढाँचे और मुख्य लक्षणो को निम्न रूप मे व्यक्त किया गया है— देश मे आन्तरिक साधनो को जुटाने का साधन है कर लगाना । समानता के सिद्धान्तो के आधार पर आर्थिक विकास के मूल उद्देश्यो को प्राप्त करने का सबसे प्रबल और उपयुक्त साधन प्रत्यक्ष कर है । आजादी से पूर्व आयकर ही सरकारी राजस्व का एकमात्र स्रोत था । आजादी के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था का लक्ष्य एक समाजवादी समाज की स्थापना (Socialistic Pattern of Society) करना है । *इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कर ढॉचे को एक मुख्य आधार माना गया । कर ढॉचे* का निर्माण विभिन्न उद्देश्यो—आर्थिक असमानता दूर करना उत्पादन प्रणाली मे अनुकूल परिवर्तन करना राजकीय राजस्व को बढाना देशी उद्योगों को सरक्षण प्रदान करना एव क्षेत्रीय असमानता को दूर करना रहा है । पारस्परिक रूप से विपरीतगामी उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु निर्मित कर प्रणाली अकुशल बन गई ।

भारतीय कर व्यवस्था मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो प्रकार के कर लगाये जाते है । कर प्रणाली पूर्णत सघीय व्यवस्था के सिद्धान्तो पर आधारित है । प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील एव परोक्ष कर प्रतिगामी होते है । परोक्ष कर सरकारी राजस्व मे 75 80% तक का योगदान देते है अत भारतीय कर प्रणाली मुख्य रूप से परोक्ष करो पर निर्भर करती है ।

हाल के वर्षों मे करो के क्षेत्र मे सुधार किये गये है जो समस्त कर प्रणाली को तर्कसगत एव विकासोन्मुख बनाने की दिशा मे एक प्रयत्न है । कर प्रणाली मे किये गये सुधारो के अतर्गत प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो में सरलता लाई गई है करो की दरो मे कमी की गई है एव करो को प्रगतिशील बनाया जा रहा है । कर प्रणाली मे सुधारो से न केवल राजस्व मे वृद्धि हुई है बल्कि कर अपवचन पर भी अकुश लगाने के प्रयास किये गये है ।

भारतीय कर प्रणाली के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार है—

1 बहु कर प्रणाली—*भारतीय कर ढाचा एक बहु कर प्रणाली का रूप है जिसमें प्रत्यक्ष एव परोक्ष* करो को समायोजित किया गया है । प्रत्यक्ष कर प्रमुखत आर्थिक असमानता दूर करने हेतु एव परोक्ष कर उत्पादन प्रणाली मे समुचित परिवर्तन करने हेतु प्रयोग किए जाते है । दोनो प्रकार के कर सरकारी आय के स्रोत भी है जो विकासोन्मुख योजनाओ की उत्तरोत्तर बढती जरूरतो को एक हद तक पूरा करते है ।

2. परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करो मे अधिक निर्भरता—भारतीय कर-प्रणाली मे अप्रत्यक्ष कर 70 75% तक कर आय मे योगदान देते है। 1991 92 मे अप्रत्यक्ष करो ने सकल कर राजस्व मे 75 5% योगदान दिया था एव 1996 97 मे यह 70 3% रह गया। अप्रत्यक्ष करो मे अधिक निर्भरता का कारण निर्धनता है जो कि करारोपण क्षमता को कम करती है। अप्रत्यक्ष करों द्वारा सरकार उपभोग के स्वरूप में अनुकूल परिवर्तन लाने एव व्यक्तिगत बचतों को प्रोत्साहित करती है। परोक्ष करो मे अत्यधिक निर्भरता के कारण सम्पूर्ण कर प्रणाली प्रतिगामी बन जाती है एव यह मूल्य वृद्धि का एक प्रमुख कारण है।

3. अप्रत्यक्ष करो मे उत्पादन शुल्क का अनुपात अधिक—विभिन्न अप्रत्यक्ष या परोक्ष करो मे उत्पादन शुल्क का भार आय के अकेले साधन के रूप मे सबसे अधिक है। उत्पादन शुल्क तीन प्रकार के हैं। कुछ कर आवश्यक वस्तुओं पर लगे है जिन्हे निम्न आय वर्ग प्रयोग मे लाता है। इन वस्तुओ की कीमतों में वृद्धि से निर्धन वर्ग पर चोट लगती है। कुछ कर मध्यवर्ती वस्तुओ पर लगे है जिनकी कीमत को थोड़ा बढने दिया जा सकता है। अन्य कर विलासिता की वस्तुओ पर लगे है जिनकी कीमत मे वृद्धि प्राय उपभोग पर कोई प्रभाव नहीं डालती। 1996-97 मे उत्पादन शुल्क सकल कर राजस्व का 35 5% था जबकि यह 1955 56 में 35% था।

4. समाजवादी सिद्धान्त पर आधारित कराधान—सरकार प्रारम्भ से कर-पद्धति को इस रूप मे ढालती रही है कि वह समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक बने। भारत की कराधान नीति इस प्रकार की है कि धन का केन्द्रीयकरण कम हो और लोगो के बीच आय का जो भारी अन्तर है वह घटे। ऊँचे कराधान से ऊँची आय वालो के काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पडने सम्बन्धी तर्क को वास्तव मे बढा-चढा कर पेश किया जाता है। भारत सरकार इसके प्रति सजग है कि करदेय क्षमता के अनुसार कराधान का सिद्धान्त बनाया जाए।

5. विकास कार्यक्रम के अनुकूल कर-प्रणाली—भारतीय कर-प्रणाली इस रप मे ढाली गई है कि यह देश के विकास कार्यक्रम के लिए प्रोत्साहक सिद्ध हो। यदि विकास योजनाओ के लिए अपेक्षित मात्रा मे वित्त प्रबन्ध करना है तो स्वाभाविक है कि हमें राष्ट्रीय आय पर आधारित अनुपात को बढाना होगा। कर-प्रणाली का एक प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि उपयोग को नियन्त्रित करके बचत और विनियोग को प्रोत्साहित किया जाए। भारतीय कर-व्यवस्था निरन्तर अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर है।

6. करारोपण का निरन्तर क्षेत्र-विस्तार—भारतीय कर-प्रणाली की एक विशेषता करारोपण के निरन्तर क्षेत्र-विस्तार की प्रवृति है। प्रतिवर्ष उपभोक्ता वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क बढाया जाता है और यह प्रयत्न रहता है कि समाज के हर वर्ग पर कर-भार पडे। यथासम्भव अतिरिक्त कराधान अधिकतर प्रत्यक्ष करो के रूप मे होता है जिसका भार विशेष रूप से सम्पन्न वर्गों पर पडे। सरकार का प्रयत्न अतिरिक्त कराधान ऐसे पत्यम करों के रूप मे करने का रहता है जिनका प्रभाव विलास-वस्तुओ जैसी सामग्री पर पडता है।

7. करो के द्वारा प्रोत्साहन—निजी बचत और पूँजी-निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए कर-नियमो को उदार बनाया गया है उसमें कर-प्रेरक सुविधाएँ उपलब्ध है। उदाहरणार्थ जीवन बीमा प्रीमियम (किस्त) और सामान्य भविष्य निधि और मान्यता प्राप्त भविष्य-निधि तथा निवर्तन निधि मे जमा किए गए धन पर कर मे छूट का लाभ पहले मिलता है। जनता भविष्य-निधि डाकघर बचत बैंक की सचयी सावधि जमा योजना मे जमा की गई बचतें और यूनिट से जुडी बीमा योजना में दिया गया धन इस छूट का लाभ पाता है। जो व्यक्ति या अविभाजित हिन्दू परिवार सरकारी प्रतिभूति बैंक जमा किसी भारतीय कम्पनी या सहकारी समिति के लिए नए शेयर यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की यूनिटें आवास बोर्डों मे लगाई गई विशिष्ट पूँजी से आय प्राप्त करते है वे ऐसी आय पर छूट पा सकते हैं। सरकार की विशिष्ट छोटी बचतो से होने वाली आय तथा लगाई गई पूँजी की सीमा तक आय-कर व सम्पत्ति-कर से छूट मिलती है।

चुने हुए क्षेत्रो में बढती हुई औद्योगिक प्रगति नियोजित विकास की नीति का महत्त्वपूर्ण भाग है। इस प्रयोजन के लिए कर के क्षेत्र मे और पर्याप्त प्रोत्साहन भत्तों और पूँजी खर्च की वापसी के रूप में

दिया जाता है। इसका उद्देश्य उद्योगो के वर्तमान स्वरूप को बढाना फैलाना और आधुनिक बनाने के लिए विदेशी पूँजी तकनीकी ज्ञान और कुशलता के आने मे सहूलियत पैदा करना है। साथ ही मुख्य क्षेत्रो मे नए उद्योगो को प्रोत्साहित करने और वैज्ञानिक अनुसन्धान और विकास के द्वारा नई औद्योगिक प्रक्रिया तकनीकी तथा इन्जीनियरी कुशलता प्रदान करना भी है।

8 करो की बढती आय और लोच का प्रश्न—कर-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने पर करारोपण से होने वाली आय स्वत बढ जाए। 1980 81 में कुल कर राजस्व (राज्यो का हिस्सा घटाकर) 9358 करोड रुपये था जो कि 1996 97 मे बढकर 97310 करोड रुपये हो गया। (स्रोत आर्थिक समीक्षा 1996 97)। पुराने करो मे तथा समाज की मौद्रिक आय मे वृद्धि हुई है। बहुत से बजट अनुमान अपरिवर्तित दरो पर भी कर-आय मे वृद्धि दिखाते है। कुल आय मे से कर-आय लगभग 81 प्रतिशत है तथा कुल राष्ट्रीय आय का कर-आय 18 प्रतिशत है। कर-प्रणाली मे लोच दिखाई देती है क्योकि प्रतिवर्ष कर दरो मे परिवर्तन से कर-आय से पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। हमारी कर-प्रणाली मे उत्पादनकर्ता का गुण है किन्तु यह बहुत अधिक नहीं है।

9 गैर कृषि आय पर अत्यधिक कर भार—बर्मा के बाद भारत ही ऐसा देश है जहाँ गैर-कृषि क्षेत्र मे सबसे अधिक कर-भार है। राष्ट्रीय आय का लगभग 43 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र से आता है किन्तु इस कर का भार बहुत कम है। करो का भार गैर-कृषि आय पर बहुत अधिक है। पचवर्षीय योजनाओ मे कृषि शोध कृषि प्रसार सिंचाई साख एव उर्वरको पर सार्वजनिक क्षेत्र मे हुए भारी निवेश के कारण कृषि उत्पादन तथा आय मे पर्याप्त वृद्धि हुई है किन्तु कृषि करारोपण का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है। वस्तु-कर का भार किसानो पर शहरी क्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियो की अपेक्षा पर्याप्त हल्का है। कृषि गणना (Agricultural Census) के अनुसार 15 प्रतिशत किसानो के पास खेती किए जाने वाले कुल कृषि क्षेत्र का 60 प्रतिशत भाग था अत इसी वर्ग को कृषि आय मे वृद्धि का बडा लाभ हुआ है। यह ग्रामीण समाज का उच्च वर्ग है किन्तु इनकी कृषि आय पर कोई कर नही है।

10 आय कर की दरो मे कमी और सरलीकरण—कुछ वर्षो पहले तक 40 हजार से अधिक आय पर 82 5 प्रतिशत से 97 75 प्रतिशत तक कर लगता था। यह दर विश्व मे सबसे ऊँची थी और आर्थिक क्षेत्रो का स्पष्ट मत था कि इतनी ऊँची दर पर जनता की नैतिकता समाप्त हो जाती है तथा कर-चोरी को प्रोत्साहन मिलता है। वॉचू समिति का यही मत था कि कर-अपवचन और काले धन के पीछे एक बडा कारण व्यक्तिगत आय पर करो की अत्यधिक ऊँची दर है। नेशनल कौसिल ऑफ एप्लाइड एकोनोमिक रिसर्च के भूतपूर्व महानिदेशक एस भूतलिगम् के अनुसार प्रत्यक्ष कर प्रस्ताव आय मे समानता लाने की दिशा मे प्रशसनीय होते हुए भी बचत को कम करते है तथा विकास के लक्ष्य मे बाधा उपस्थित करते है। एक अध्ययन के अनुसार आय-कर का 80 प्रतिशत भाग उन करदाताओ से आता है जिनकी आय 5 लाख रुपये से अधिक है। उनसे 1974 75 के बजट से आय-कर की दरो को कम करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई और 1984 85 के बजट मे सब दरे 5 प्रतिशत कम कर दी गईं। अधिकतम दर 55 प्रतिशत रखी गई किन्तु देय-कर पर 12 5 प्रतिशत अधिभार अलग से लगाने की व्यवस्था रही। 1985 86 के बजट मे निजी आय-कर के ढाँचे पर नि सन्देह काफी सरलीकरण कर दिया गया। न सिर्फ आय-कर पर अधिभार समाप्त कर दिया गया वरन् आय-कर मे छूट की सीमा भी 15 हजार रुपये से बढाकर 18 हजार रुपये कर दी गई। इसके फलस्वरूप लगभग 40 लाख आय करदाताओ मे से 10 लाख एक ही झटके मे आय-कर की गिरफ्त से मुक्त हो गये। वर्ष 1995 96 के बजट मे आयकर मे यह छूट 35 हजार से बढाकर 40 हजार रुपये कर दी है। जाहिर है कि कर नीति मे परिवर्तन का उद्देश्य यही है कि कम आय वालो को जहाँ कर के बोझ से मुक्त कर दिया जाए वही ज्यादा आमदनी वालो से सख्ती से करो की वसूली की जाए। निजी आय कर मे रियायते यहीं पर समाप्त नही हो जाती हैं। उच्चतम आय-वर्ग से अभी तक आय-कर की दर 67 5 प्रतिशत थी जिसे अब कम करके 50 प्रतिशत कर दिया गया है। कर ढाँचे के सरलीकरण की प्रक्रिया मे आय-खण्डो (स्लैब) की सख्या 9 से घटाकर 4 कर दी गई है। मृत्यु कर समाप्त कर सरकार ने समझदारी और कल्पनाशीलता का परिचय दिया है। यह सभी जानते है कि इसकी वसूली के लिए जितनी रकम खर्च करनी पडती थी उसके मुकाबले वसूली की मात्रा बहुत थोडी थी। साथ ही मध्यम

वर्ग के ईमानदार लोगो के परिवारो को इस कर से अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। कुछ ऐसे मामले सामने आए है कि मृत्यु-कर की अदायगी के लिए सम्पत्ति बेचनी पडी है। सरकार कर के ढॉचे को युक्तियुक्त और सरल बनाने के लिए प्रयत्नशील है। निकट भविष्य में इस दिशा मे अनेक उपाय किये जाने के संकेत है।

11. करारोपण के सिद्धान्तो का पालन—भारत में कर-प्रणाली के सिद्धान्तों का समुचित पालन किया जा रहा है। कर-रचना में प्रगतिशील करो का मुख्य स्थान है और आय-कर इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। धनिक वर्ग को निर्धन वर्ग की तुलना मे उत्तरोत्तर अधिक कर देना पड रहा है। कर-प्रणाली में निश्चितता विद्यमान है। कर की मात्रा समय व स्थान आदि नियत है और कर दाताओ की सुविधा का यथासम्भव ध्यान रखा जाता है। आय-कर वेतन मे से लिये जाते हैं और भूमि-कर फसल तैयार होने के समय वसूल किये जाते है। करो की वसूली मे मितव्ययिता का गुण भी मौजूद है और उत्पादकता तो इसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त एक योजना-काल मे करो से जो धन प्राप्त किया जाता है वह आगामी योजनाओ मे पुनर्विनियोग के काम आता है।

भारतीय कर-नीति के उद्देश्यो की प्राप्ति में व्यापारिक कठिनाइयॉ

1952 मे नियुक्त कर जॉच आयोग के अनुसार भारतीय कर-नीति का उद्देश्य आर्थिक योजनाओ हेतु धन प्राप्ति बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित करके पूँजी-निर्माण को बढाना और धन तथा सम्पत्ति की विषमता को कम करना है। योजना आयोग ने कर जॉच आयोग की इन बातो का समर्थन करते हुए यह मत व्यक्त किया कि विकास कार्यक्रमों की सफलता हेतु धन एकत्र करने के लिए धनी वर्ग पर करारोपण द्वारा ऐसी नीति निर्मित करनी है जिससे देशवासियो के कार्यकलापो तथा बचत क्षमता को प्रोत्साहित किया जा सके।

तृतीय योजना मे योजना आयोग ने भारतीय कर-नीति के ये उद्देश्य बताए—सार्वजनिक आय मे वृद्धि करना बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित कर उत्पादन को बढाना मुद्रा-प्रसार को नियन्त्रित करने हेतु उपभोग को नियन्त्रित करना ताकि आर्थिक नियोजन के लक्ष्यो की प्राप्ति की जा सके और केन्द्र तथा राज्य सरकारों की आय में वृद्धि करना।

उपरोक्त उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु सरकार निरन्तर प्रयत्नशील रही है किन्तु निम्नलिखित व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण सरकार उन्हे प्राप्त करने मे पूर्णत सफल नहीं हो पाई है—

1 भारत की प्रति व्यक्ति आय अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अत इस आय का अधिकाश भाग उपभोग मे काम आ जाता है जिससे लोग बचत नही कर पाते और करारोपण द्वारा अनिवार्य बचत हेतु बाध्य करने पर लोगो द्वारा उसका विरोध किया जाता है।
2 प्रजातान्त्रिक देश होने के कारण भारत मे किसी भी योजना को जनता पर उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं थोपा जा सकता और यह भी असत्य नहीं है कि भारतीय जनता मे अभी तक राष्ट्र कल्याण हेतु त्याग की भावना पूर्णतया विकसित नहीं हुई है।
3 अधिकाश भारतवासी अशिक्षित है। वे बचत विनियोग तथा पूँजी निर्माण आदि की महत्ता को नहीं समझ पाते।
4 भारत की लगभग 72 प्रतिशत जनता गॉवो मे रहती है जहॉ वित्तीय संस्थाओं के अभाव मे बचत को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता।
5 भारत मे थोडे लोगो पर कर लगता है। गैर-कृषि कार्यों से होने वाली आय पर ही प्रत्यक्ष कर लगाया जाता है कृषि से होने वाली आय प्रत्यक्ष करों से पूर्णतया मुक्त रहती है।
6 भारतीय करदाता कर-अपवचन तथा कर की चोरी करने मे बहुत ही चतुर हैं इनके नियन्त्रण हेतु किए गए प्रयास पूर्णत सफल नहीं हुए है।

भारतीय कर-व्यवस्था के दोष

1 करो की गुणवत्ता मे कमी—कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसे सरकार को निरन्तर पर्याप्त मात्रा मे धन प्राप्त होता रहे तथा सामाजिक और आर्थिक विषमता को दूर करने मे वह सहायक हो किन्तु भारतीय कर-व्यवस्था ऐसी है कि करारोपण के उत्पादन वितरण तथा उपभोग पर पडने वाले प्रतिकूल प्रभावों की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता। इससे विदित होता है कि भारतीय कर-व्यवस्था का

विकास आकस्मिक आर्थिक कठिनाइयो के निराकरण हेतु किया गया था जिससे न तो विविध करो मे समन्वय है और न ही वे एक-दूसरे के पूरक है।

2. कर-आय मे परिवर्तन कठिन—भारतीय कर-व्यवस्था में इस गुण का अभाव है कि राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक क्रिया-कलाप मे परिवर्तन होने पर कर-आय मे परिवर्तन किया जा सके। साथ ही कर से होने वाली आय देश की वर्तमान आवश्यकताओ को देखते हुए बहुत कम है।

3 राष्ट्रीय आय कर न्यून अश—वर्तमान समय में भारत में करारोपण से प्राप्त धन कुल राष्ट्रीय आय का केवल 18 8 प्रतिशत है जो कि अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है।

4 कराधान का वैज्ञानिक ढाँचा—भारतीय कराधान का ढाँचा प्रयत्न करके किसी समुन्नत वैज्ञानिक आधार पर स्थित नही हो पाया है। कर-प्रणाली के समय-समय पर परिवर्तन अधिकाँशत इसलिए होते रहे है कि समय-समय पर उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयो को दूर किया जा सके। बजट मे सन्तुलन प्रमुख विचारणीय विषय रहा है। इन बातो पर कम ध्यान दिया गया है कि उत्पादन पर करो का क्या प्रभाव पडेगा इनका करापात कौन सहन करेगा आदि। विभिन्न करो मे समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न निराशाजनक रहे है। वे एक-दूसरे के पूरक नहीं है और इस दिशा मे अभी तक जो प्रगति हुई है वह उत्साहजनक नहीं कही जा सकती।

5 गैर कृषि-क्षेत्र पर भार—जैसा कि हम बता चुके हैं एन एम पालकीवाला के अनुसार बर्मा के बाद भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ गैर-कृषि क्षेत्र मे सबसे अधिक कर-भार है। ग्रामीण समाज के उच्च वर्ग को कृषि-आय मे वृद्धि से भारी लाभ हो रहा है लेकिन इस कृषि-आय पर कोई कर नहीं है।

6 कर आधार सकुचित है—हमारा कर आधार हमेशा सकुचित रहा है। राष्ट्रीय आय तथा करो से प्राप्त आय के बीच अनुपात बहुत कम है। 1991 92 में सकल कर राजस्व सकल घरेलू उत्पाद का 10 9% था जो कि 1996 97 मे घट कर 10 6% रह गया।

7 वाछित लोच का अभाव—भारतीय कर-प्रणाली मे आज समुचित लोच का अभाव है। देश की कर-व्यवस्था देश की आर्थिक क्रियाओ से इस प्रकार जुडी होनी चाहिए कि राष्ट्रीय आय और आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि के साथ करों से प्राप्त होने वाली आय भी स्वत बढे परन्तु इस दृष्टि से भारत की स्थिति सन्तोषप्रद नही है। यद्यपि कर-आय पिछले 40 वर्षों मे लगभग कई गुना अधिक हो गई कुल आय का शुद्ध कर-आय भाग लगभग 72 प्रतिशत है और कुल राष्ट्रीय आय का कर-आय लगभग 18 प्रतिशत किन्तु यह लोच वाछित स्तर से कम है क्योकि कर-दरो में वृद्धि के बावजूद कर-आय सरकार को पर्याप्त साधन नही जुटा सकी है और सरकार को बार-बार बाजार-ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्ध का सहारा लेना पडता है। भारतीय कर-व्यवस्था मे वाछित लोच की कमी के कारण ही सामाजिक सेवाओ और विकास कार्यों पर बढते हुए व्यय के अनुरूप सरकार अपनी आय मे पर्याप्त वृद्धि करने मे असमर्थ रही है। जब देश स्वयस्फूर्त विकास के लक्ष्य की ओर उन्मुख है और जहाँ प्रगतिशील कर-प्रणाली अपनाई गई है वहाँ कर-प्रणाली की लोचशीलता इकाई से अधिक होनी चाहिए जबकि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के अनुपात मे केन्द्र और राज्य सरकारो के कर-राजस्व मे वृद्धि नहीं हो पाती।

8 प्रतिगामी और असन्तुलित कर-प्रणाली—देश की कर प्रणाली प्रतिगामी है। समाजवादी कर-नीति पर काफी कुछ कहा जाता है लेकिन व्यवहार मे कर-व्यवस्था मे समानता और औचित्य के नियम का पालन नहीं होता। कर-भार गरीब जनता पर बढता जाता है। धनिको पर कर-भार आज भी काफी कम है। कुछ प्रत्यक्ष करो को छोडकर अधिकाश कर प्रतिगामी है। प्रत्यक्ष करो के मुकाबले अप्रत्यक्ष करो या वस्तु-करो मे वृद्धि की मात्रा अधिक रही है फलस्वरूप देश मे निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर पडने वाले कर भार मे वृद्धि हो रही है। प्रो के टी शाह का यह कथन आज भी ठीक है कि 'धनी वर्ग अपेक्षाकृत थोडे भार के साथ बच जाते है यद्यपि कर-भार को सहन करने की उनकी क्षमता अपेक्षाकृत काफी अधिक होती है जबकि निर्धन वर्ग जो इस भार से बच नहीं सकते उनकी स्थिति एक मेमने जैसी है।

9. मितव्ययिता का अभाव—भारतीय कर-प्रणाली में मितव्ययिता की बडी कमी है। करो को एकत्रित करने पर बहुत अधिक व्यय होता है और प्रशासनिक भ्रष्टाचार का बोलबाला है। 1974 75 से अब तक के सरकारी प्रयासों से स्थिति मे सुधार आ रहा है और 1995 में वित्त मन्त्री ने स्पष्ट किया है कि करों की वसूली मे मितव्ययिता पर पूरा ध्यान दिया जायेगा।

10. अनिश्चितता—भारतीय कर-व्यवस्था अनिश्चितता का शिकार है। भारतीय बजट को मानसून का जुआ कहा जाता है। प्राय प्रतिवर्ष कहीं न कहीं सूखा पड जाता है या बाढो से फसल नष्ट हो जाती है या शत्रु राष्ट्रो की कार्यवाही से सैनिक राजनीतिक अथवा आर्थिक सकट पैदा हो जाते है और देश की कर-प्रणाली में इन विपदाओं से निबटारे के लिए नए सिरे से प्रयास करने पडते है। इसके फलस्वरूप कर-व्यवस्था मे अस्त-व्यस्तता आ जाती है।

11. कर वचन के पर्याप्त अवसर—भारतीय कर-व्यवस्था इसलिए दोषपूर्ण है कि यहाँ कर-अपवचन (Tax Evasion) बहुत अधिक होते है। करो की वसूली दोषपूर्ण ढग से होने के कारण करदाताओं द्वारा कर को बचाने की प्रवृत्ति बढ रही है और उन्हें ईमानदारी से कर चुकाने का प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। प्रो काल्डर ने भारतीय कर-व्यवस्था का अच्छी तरह अध्ययन करने के उपरान्त 1956 मे ही यह मत व्यक्त किया था कि देश मे लगभग 200 300 करोड रुपये के कर की प्रतिवर्ष चोरी होती है। वॉचू आयोग ने 1971 मे अपनी रिपोर्ट मे कहा था कि देश मे प्रतिवर्ष 4 से 10 हजार करोड रुपये की काली मुद्रा का सृजन होता है। प्रख्यात विधिवेत्ता पालकीवाला ने कुछ वर्ष पूर्व बताया था कि देश में प्रतिवर्ष लगभग 13 हजार करोड रुपये की काली मुद्रा का निर्माण होता है और अब ऐसा अनुमान किया जा रहा है कि यह मात्रा बढकर 15 हजार रुपये करोड प्रतिवर्ष हो गई है। इन ऑकडो से यह स्पष्ट होता है कि आज कर-अपवचन पहले की तुलना मे काफी अधिक बढ गया है। कुछ वर्षों पूर्व प्रत्यक्ष करो के सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ रेवेन्यू द्वारा किए एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ था कि 50 प्रतिशत डॉक्टर वकील इजीनियर तथा ठेकेदार कर नहीं देते है। आय-कर और विभिन्न कर विभागों मे तालमेल न होने के कारण भी करो की चोरी को प्रोत्साहन मिला है। सरकार ने अक्टूबर 1975 में स्वेच्छया प्रकटन योजना (Voluntary Disclosure Scheme) की घोषणा की। इसके अन्तर्गत 31 दिसम्बर 1975 तक स्वेच्छा से काला धन प्रकट करने वालो के विरुद्ध कोई कार्यवाही न करने का वचन दिया गया। इस योजना से लाभ उठाते हुए 2 5 लाख से अधिक व्यक्तियो ने 1 587 करोड रुपये की छिपी आय तथा धन की घोषणा की थी। करो की चोरी के कारण वास्तविक करदाताओ पर कर-भार बढ जाता है। 1989 मे किये एक सर्वेक्षण के अनुसार काली मुद्रा (Black Money) अनुमानित रूप से 80 000 करोड रुपये के बराबर है। 1997 98 के बजट मे स्वेच्छया आय प्रकटन योजना (Voluntary Disclosure of Income Scheme) की घोषणा हुई जो कर अपवचन द्वारा जमा काले धन को कानूनी स्वरूप प्रदान करेगी। काली मुद्रा का स्वरूप इतना विशाल है कि वह सकल घरेलू उत्पाद (GNP) के लगभग बराबर है। प्रारंभिक अनुमान के आधार पर काले धन का आकार 1996 मे लगभग 150,000 करोड रुपये के बराबर था।

12 करों की बकाया राशि—करो की बकाया राशि जो वसूल नहीं की जा सकी एक गम्भीर समस्या बन गई है। 31 मार्च 1970 को 786 85 करोड रुपये करो के रूप मे सचित हुए जबकि 840 70 करोड रुपये बकाया थे। 1984 मे यह राशि बढकर 2 000 करोड रुपये तक पहुँच गई। डॉ बी नटराजन के अनुसार देश मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो मे वृद्धि की अब गुजाइश नहीं है। आवश्यकता इस बात की थी कि कर-सचय की मशीनरी को कसा जाए तथा 2 000 करोड रुपये की बकाया राशि को वसूल किया जाए। इसी प्रकार विश्व बैंक की सम्मति में भारत मे कर की दर बढाने की गुजाइश नही है। उसने मौजूदा पूँजी का अधिक उपयोग करने और पिछले एव भावी निवेशों पर बेहतर मुनाफा कमाने की जरूरत पर बल दिया है। बैंक की रिपोर्ट भारतीय अर्थव्यवस्था की हालत और सम्भावनाएँ—मध्यकालिक सिहावलोकन ने यह बात कही है।

13 कर-आय का अनुत्पादक कार्यों मे प्रयोग—भारत मे कर-व्यवस्था के दोष सार्वजनिक व्यय द्वारा भी दूर नही हो पाते। आय का बहुत बडा भाग केवल नागरिक प्रशासन और सुरक्षा पर व्यय हो जाता है। इस तरह राष्ट्र-निर्माण कार्यों के लिए बहुत कम भाग बच पाता है फलस्वरूप जनता पर कर-भार बहुत अधिक बढ जाता है। सार्वजनिक कर-व्यवस्था के दोषों से उत्पन्न होने वाली क्षति की पूर्ति नहीं हो पाती।

14 जटिल प्रणाली—कर कानून जटिल है तथा उसमे बार-बार परिवर्तन होता रहता है। इस कारण कर-प्रणाली मे सरलता का गुण नहीं है। वर्तमान कानूनो को करदाता या उनका वकील तो क्या स्वय कर अधिकारी अच्छी तरह नहीं समझ पाते। कर कानूनों मे धाराएँ उपधाराएँ छूटें रियायतें

अनुसूचियाँ दी गई है जो कानून को जटिल बनाती हैं। करदेयता के विभिन्न अर्थ लगा लिए जाते है। अत कर बचाव बढ जाता है। काल्डोर ने कहा था कि हमारे कर कानून मूल धाराणाओं की दोषपूर्ण परिभाषाओ से पीडित है तथा कर-वचन के लिए छिद्र छोड देते है। कर-व्यवस्थाओ से पूँजी-निर्माण तथा आर्थिक विकास की दर बढाने के उद्देश्य से प्रत्यक्ष करो में विभिन्न छूटे तथा रियायते दी जाती हैं। इससे कर कानून जटिल हो जाते है।

15. कर की ऊँची दरे—भारत मे करो की दर-सीमाएँ भी बहुत अधिक रही है। एक सीमा के बाद तो यह दर 100 प्रतिशत से अधिक हो जाती थी। इतनी ऊँची होने से विनियोग की प्रेरणाओ का बुरा प्रभाव पडता है। करों की ऊँची दरो का विनियोगकर्ताओं तथा व्यापारिक वर्ग पर मनौवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं पडा है वे यह सोचने लगे है कि उन पर कर का भार अधिक है। 1985 86 के बजट मे सरकार ने कर की ऊँची दरो को घटाने का सुविचारित प्रयास किया। 1989-90 के बजट मे मध्यम आय वर्ग के करदाता को रियायत दी गयी। वर्ष 1989 90 तक करो मे उत्तरोत्तर वृद्धि की जाती रही थी किन्तु वर्ष 1995 96 के बजट मे करो मे जनता को विशेष छूट दी गई क्योकि उन्होने कर-वसूली पर विशेष ध्यान देने का सकल्प लिया।

16. विलासिता की वस्तुओ की पुरानी परिभाषा*—भारत सरकार करो मे निरन्तर वृद्धि करती जा* रही है और यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि विलासिता की वस्तुओ पर तथा आर्थिक असमानता को दूर करने हेतु करो मे वृद्धि की जा रही है। ऐसा करते समय सरकार यह भूल जाती है कि भारतीय जनता का जीवन स्तर 1950 51 की अपेक्षा आज अधिक ऊँचा उठ चुका है। ऐसी दशा मे जो वस्तुएँ 1950 में सामान्य आवश्यकता तथा विलासिता की वस्तुएँ थी वे आज अनिवार्य आवश्यकता और सामान्य आवश्यकता की वस्तुएँ हो गई है। इन वस्तुओ मे प्रमुख है—टेलीविजन सिनेमा आदि मनोरजन सामग्री फैशन सामग्री विटामिन अच्छी किस्म के सूती तथा ऊनी कपडे आदि। ऐसी दशा मे करो मे वृद्धि करने से उच्च वर्ग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता किन्तु मध्यम वर्ग का व्यक्ति गरीब होता जाता है यानी असमानता बढती है।

17 करदेय क्षमता की अनदेखी—श्री के टी शाह का कहना है कि धनी लोगो पर अपेक्षाकृत बहुत कम कर-भार है जबकि उनकी करदेय क्षमता बहुत अधिक है। दूसरी ओर निर्धन लोगो पर *अत्यधिक कर-भार है यद्यपि उनकी करदेय क्षमता भेड के बच्चे से भी कम है।*

18 कर आय का सदोष विभाजन—केन्द्र तथा राज्यो के मध्य कर-आय का विभाजन दोषपूर्ण है। केन्द्र सरकार की आय मे जितनी तेजी से वृद्धि हो रही है राज्य सरकारो की आय मे उतनी वृद्धि नहीं हो रही। फलस्वरूप राज्यो को अनिवार्य सामाजिक सेवाएँ जुटाने मे कठिनाई होती है। राज्यो को शिकायत रही है कि निगम-कर और सीमा-शुल्क की आय तथा अधिभारो मे जो वृद्धि की जाती है उसमे राज्यों का कोई भाग नही है। लोचदार कर-साधन केन्द्र के पास है। राज्य सरकारो की कर-आय का मुख्य स्रोत बिक्री-कर है। इसे समाप्त करने की माँग उठती रहती है किन्तु इसे समाप्त करना बहुत कठिन है। सघीय उत्पादन शुल्को का मात्र 40 प्रतिशत हिस्सा राज्यो मे बँट पाता है।

19 करो का बोझ सामान्य व्यक्ति पर अधिक—प्रत्यक्ष करो मे पर्याप्त प्रगतिशीलता है किन्तु परोक्ष करों पर अत्यधिक निर्भरता गरीब व्यक्ति पर अधिक बोझ डाल रही है। परिणामत कर-प्रणाली देश में आय की असमानताओं को कम करने मे असफल रही है तथा सामाजिक एव आर्थिक न्याय लाने का उपकरण नहीं बन सकी है। करो द्वारा सामाजिक दृष्टि से अपव्ययपूर्ण एव प्रदर्शनपूर्ण उपभोग को नहीं रोका जा सका है। ऊँची आय वाले व्यक्ति करो की चोरी कर रहे है जिससे निम्न आय स्तर की जनता पर कर-भार बढ रहा है।

एक अल्प-विकसित देश मे कर-प्रणाली के उद्देश्य विकसित देश से भिन्न होते हैं। विकसित देश *मे आर्थिक विकास की गति मे तेजी लाने की समस्या नही होती। ऐसा देश बचत करने तथा निवेश* करने की पर्याप्त क्षमता रखता है। आय तथा सम्पत्ति के वितरण में असमानताएँ होते हुए वितरणात्मक न्याय की समस्या वहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं होती। वहाँ मुख्य समस्या आय तथा रोजगार मे स्थिरता लाने की होती है तथा कर-प्रणाली को इसी कार्य के लिए प्रयोग किया जाता है परन्तु अल्प-विकसित देशों में मुख्य समस्या आय तथा रोजगार मे स्थिरता लाने की नही होती वरन् आर्थिक विकास में तेजी लाने

निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने तथा आय की विषमताओं को दूर करने की होती है । अनावश्यक आयातों में कमी करने आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करने तथा निर्यातो मे वृद्धि करने की होती है तथा कर-प्रणाली का प्रयोग इन उद्देश्यो के लिए किया जाता है । भारतीय कर-प्रणाली इसी दिशा मे सुधार चाहती है ।

भारत मे कर प्रणाली मे सुधार के सुझाव

(Suggestions for Reform in Indian Tax System)

भारतीय कर-व्यवस्था मे सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. कराधान करदेय क्षमता के अनुकूल हो—एक ओर कर सरकार की आमदनी का प्रमुख जरिया है दूसरी ओर जनता को ईमानदारी से उसकी अदायगी करनी होती है । इसलिए टैक्स सीमा का ध्यान रखना चाहिए कि देश के निवासियो को उतना ही कर देना पड़े जिसे वे आसानी से दे सके ।

2. आर्थिक अतिरेक का संचय करना—कर-नीति ऐसी होनी चाहिए कि आर्थिक अतिरेक (Economic Surplus) का सचय किया जा सके । आर्थिक अतिरेक का अभिप्राय चालू उत्पादन तथा आवश्यक उपभोग का अन्तर है । करो द्वारा इस अतिरेक का सग्रह किया जाना चाहिए । भारतवासी आर्थिक अतिरेक का उपयोग प्राय अनुत्पादक कार्यों मे कर देते हैं अत कर-नीति ऐसी होनी चाहिए कि इस अतिरेक का सचय करके उत्पादक कार्यों तथा आर्थिक विकास पर व्यय किया जा सके । भारत को पूँजी-निर्माण की दर मे वृद्धि करना अत्यावश्यक है ।

3 कर-प्रणाली लोचदार हो—कर-प्रणाली में आय-लोच होनी चाहिए । आय-लोच से तात्पर्य करों में प्रतिशत परिवर्तन तथा आय में परिवर्तन के बीच अनुपात से होता है । दूसरे शब्दों मे देश मे नियोजन के फलस्वरूप आय मे वृद्धि होने पर करो से प्राप्त होने वाली आय मे उसी अनुपात मे वृद्धि की जाए । कर-प्रणाली मे एक अन्त-निर्मित लोच (Built in flexibility) होनी चाहिए । उन वस्तुओं पर कर लगाने चाहिए जिसकी माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand) अधिक हो । जैसे-जैसे देश का आर्थिक विकास होता है वैसे-वैसे देश को अधिक आर्थिक साधनो की आवश्यकता होनी है अत देश की कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आवश्यकतानुसार कर-आय में वृद्धि की जा सके ।

4. अनावश्यक उपभोग पर नियन्त्रण और बचत को प्रोत्साहन—ऐसी कर-नीति आवश्यक है जिससे आवश्यक एव प्रदर्शनपूर्ण (Conspicuous) उपभोग पर अकुश लगाया जा सके और बचत तथा निवेश की दर बढाई जा सके । कर नीति ऐसी होना चाहिए जिससे बचत करने वाले हतोत्साहित न हो । डॉ पी एस लोकनाथन के शब्दों में भारत सरकार की औद्योगिक नीति और वित्तीय नीति में बहुत विरोधाभास है । औद्योगिक नीति मिश्रित क्षेत्र में निजी क्षेत्र का महत्त्व स्वीकार करती है जबकि वित्तीय नीति पूँजी बाजार मे कुशल सचालन को क्षति पहुँचाती है । *भारतीय कर-प्रणाली के कारण लोगो को विनियोग करने हेतु प्रोत्साहन नहीं मिलता और करारोपण के विस्तृत जाल के कारण लोग विनियोग करने से बचना चाहते हैं ।* आवश्यकता यह है कि व्यक्तिगत बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित करने हेतु विनियोजित बचतो को कर मुक्त किया जाए अथवा विनियोजित बचतों पर कर से छूट दी जाए । कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume) घटे और सीमान्त बचत प्रवृत्ति में अभिवृद्धि हो ।

5. समतापूर्ण करारोपण—भारत ने समाजवादी ढग की अर्थव्यवस्था को अपनाने का निर्णय किया है अत उचित ही है कि करारोपण मे प्रगतिशीलता हो । आय तथा सम्पत्ति के वितरण मे असमानताएँ कम हो तथा वितरण के ढाँचे को सुधारा जा सके । कर-प्रणाली समत्व (Equity) के सिद्धान्त पर आधारित हो । कर-भार का न्यायपूर्ण बँटवारा हो । यदि निर्धनो की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर रोक लगाई जाती है तो धनिकों के प्रदर्शनपूर्ण अपव्यय पर भी ऊँची दर से कर लगाने चाहिए । इसके अतिरिक्त डॉ चैल्लिया के अनुसार करारोपण मे क्षैतिजिक समानता (Horizontal Equality) के गुण का समावेश होना चाहिए जिसका अर्थ है कि समान आर्थिक परिस्थितियो मे रहने वाले व्यक्तियों पर समान रूप से कर लगना चाहिए । हमारे देश मे कृषि-आय तथा गैर-कृषि आय में अन्तर नहीं होना

चाहिए। ऐसा विश्व के किसी देश मे नहीं है। कर समिति ने कृषि जोत-कर (Agricultural Holding Tax) लगाने का सुझाव दिया था जिससे 200 करोड रुपये की आय हो सकती है।

6 प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो के बीच सन्तुलन—कर-प्रणाली मे समत्व अपेक्षित है किन्तु भारत जैसे विकासशील देशो मे प्रत्यक्ष करारोपो से काम नहीं चल सकता। प्रत्यक्ष कर तथा परोक्ष करों के बीच एक सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष करो से छूट जाएँ उन पर परोक्ष कर लगने चाहिए। परोक्ष करारोपण उन व्यक्तियो पर हो जिन पर प्रत्यक्ष कर लगे। प्रत्यक्ष करो की प्रगतिशीलता की दर तथा अश परोक्ष करो के साथ ऐसा होना चाहिए कि समाज के विभिन्न वर्गों पर कर का बोझ न्यायसगत हो।

7 कर वचन पर अंकुश—कर अपवचन तथा कर-चोरी पर नियन्त्रण हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक कर की दर मे कमी की जाए। प्रो कैल्डोर के मतानुसार आय-कर की अधिकतम दर 45 प्रतिशत होनी चाहिए। वास्तव मे किसी भी व्यक्ति से इतना ही कर वसूल करना चाहिए—(क) जितनी उसकी कर देय क्षमता हो (ख) वह कर' लोगो को अधिक आय अर्जित करने मे हतोत्साहित न करता हो (ग) कर-अपवचन तथा कर-चोरी को प्रोत्साहित न करता हो। एन एन पालकीवाला के मतानुसार भारत मे प्रत्येक कर की दर विश्व मे सबसे अधिक है। भारत मे धनी बनना अब भी सम्भव है किन्तु केवल योग्यता उद्यम तथा परिश्रम द्वारा ही नही। उनके अनुसार— 'नए धनिको के पॉच वर्ग है—करवचक काले बाजार के व्यापारी सरकारी सस्थाओ के बडे अधिकारी समृद्ध किसान तथा सफल राजनीतिज्ञ। कर-सरचना इस प्रकार की हो कि कर-वचन की मात्रा कम की जा सके। कर-चोरी तथा कर-वचन पर अकुश लगाने के लिए कर-प्रशासन कठोर बनाना चाहिए। नए करारोपण के पूर्व कर-भार की मात्रा तथा उत्पादन और उपभोग पर पडने वाले प्रभावो का ध्यान रखना चाहिए। न्यायमूर्ति पी एन भगवती के अनुसार देश मे टैक्स के कानून और नियमो को सरल बनाना चाहिए ताकि उन्हे जनता आसानी से समझ सके और उनका ईमानदारी से पालन हो। राजा चैलेया के अनुसार कर अपवचन न केवल अधिक कर दरो के कारण होता है बल्कि जनता मे सामाजिक दायित्वो के आभास की कमी (Lack of Civil Conscious) और सरकार द्वारा प्रताडित होने के भय की कमी (Lack of fear from being prosecuted by the State) इसके प्रमुख कारण हैं। इन परिस्थितियो में जनता मे कर न देने की आदत पड जाती है।

8 परोक्ष करो मे स्थान—भारत मे कर-आय का लगभग 80 प्रतिशत भाग परोक्ष करो से आता है इसीलिए यहाँ की कर-प्रणाली को प्रतिगामी कहा जा सकता है किन्तु यह सत्य है कि भारत जैसे विकासशील देश मे प्रत्यक्ष करो से आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त धन नहीं जुटाया जा सकता अत परोक्ष करारोपण का अधिकाधिक सहारा लेना पडता है। कुछ लोगो का यह मत है कि जन-सामान्य के आवश्यक उपभोग की वस्तुओं पर करारोपण करना न्यायिक नहीं किन्तु यह विचार अनुचित है। देश की आर्थिक सवृद्धि की दृष्टि से सभी वस्तुओ पर करारोपण किया जाना उचित है। अप्रत्यक्ष करारोपण करते समय ध्यान रखना आवश्यक है कि विलासिता की वस्तुओ पर आवश्यक वस्तुओ की अपेक्षा अधिक कर लगाना चाहिए क्योकि लोगो के जीवन स्तर मे वृद्धि से विलासिता की वस्तुओ तथा आवश्यक वस्तुओ की सूची में परिवर्तन होता जा रहा है। हमारे बजटो का मूल दोष यह रहा है कि करारोपण करते समय भारतीय जनता के बढे जीवन-स्तर की स्थिति को भूलकर उन वस्तुओ पर अत्यधिक कर आरोपित किए गए है जो 1950 51 में तो विलासिता की वस्तुएँ थीं किन्तु आज वे मध्यम वर्ग की आवश्यक उपभोग की वस्तुएँ हो गई है। भारतीय कर-प्रणाली मे परोक्ष करों के स्थान और महत्व को इगित करते हुए डॉ कौशिक ने लिखा है—

आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से परोक्ष करो का भी महत्त्व है। इन करों से व्यक्ति की आय मे वृद्धि के साथ उसके उपभोग में वृद्धि को रोका जा सकता है। विकास की क्रिया बचतो की दरों में वृद्धि चाहती है जो निवेश का रूप ले सके। अतिरिक्त बचतें उस अतिरिक्त आय से आएँगी जो पचवर्षीय योजनाओं से उत्पन्न होगी। यह अतिरिक्त आय सामान्य जन की भी होगी परन्तु सामान्य जन बचत का आदी नहीं है तथा उसका रहन-सहन बहुत नीचा है अत वह आय खर्च कर दी जाएगी। ऋण लेकर वित्त-व्यवस्था में उपभोग पर व्यय नहीं रोका जा सकेगा अत कराधान से यह आय ली जा सकती है।

परोक्ष करों मे आर्थिक विकास मे योगदान अनेक प्रकार से होगा—(i) विलासिता की वस्तुओ के उपभोग को घटाकर आर्थिक विकास मे पूँजी लगाने को प्रोत्साहन देना (ii) सरकारी पूँजी के लिए साधन जुटाना तथा (iii) बचत के अनुपात को बढाना। परोक्ष कराधान जाँच समिति (झा समिति) ने मत व्यक्त किया है कि परोक्ष करों मे सुधार का लक्ष्य विभिन्न करों का दोहरापन दूर करना तथा आन्तरिक ढाँचे को युक्तिसगत बनाना होना चाहिए जिससे एक समन्वित परोक्ष कर-प्रणाली विकसित हो सके। समिति ने विशिष्ट उत्पादन शुल्कों की अपेक्षा मूल्यानुसार शुल्को के अधिक प्रयोग करने की सिफारिश की। उसने मत व्यक्त किया कि उत्पादन शुल्कों को जहाँ तक सम्भव हो अन्तिम उत्पादों पर लगाया जाए मध्यवर्ती एव पूँजीगत वस्तुओं पर नहीं। आदानों (Inputs) पर करो को धीरे-धीरे समाप्त किया जाए। इसके लिए मूल्य जोडकर प्रणाली VAT को लागू करने का भारत सरकार ने निर्णय लिया।

9. कर-कानूनो मे स्थिरता और सुधार—कर-कानूनों में स्थिरता होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब आय-कर की दरे कुछ अवधि तक निश्चित रहे और करदाताओ को वे दरे पहले से मालूम हों। कर-दरों को बार-बार बदलना उचित नहीं है। कर-प्रणाली में तदर्थवाद (Adhocism) समाप्त होना चाहिए। कर-विवादों के शीघ्र निपटारे हेतु विवादो के निपटाने की उचित अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाए। कर-विवादो मे अपीलीय शृखला को कम करने हेतु केन्द्रीय कर-न्यायालय स्थापित किए जाएँ।

10 बिक्री-कर के स्थान पर उत्पादन शुल्क अथवा परिवर्द्धित मूल्य-कर—देश के व्यापारी बिक्री-कर को समाप्त कराना चाहते हैं। उनकी यह माँग बल पकड रही है क्योकि इसके कारण उन्हे बहुत-से रिकार्ड रखने पडते हैं तथा प्रपत्र भरने पडते है। इसके अतिरिक्त बिक्री-कर की विभिन्न राज्यों में विभिन्न दरे है जिससे करदाताओ की कठिनाई बढ जाती है। यह उचित होगा कि बिक्री-कर के स्थान पर केन्द्रीय सरकार द्वारा उत्पादन शुल्क लगाया जाए किन्तु बिक्री-कर राज्यो का विषय है। ऐसा राज्य सरकारो की सलाह से ही किया जा सकता है। जब तक ऐसा न हो सके तब तक यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि बिक्री-कर कानून तथा प्रक्रिया में एकरूपता लाई जाए। ऐसा या तो केन्द्रीय कानून द्वारा किया जाए अथवा कानून आयोग द्वारा एक आदर्श कानून (Model Law) का ड्राफ्ट बनाकर किया जाए जिसे सभी राज्य मान लें। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारो को धीरे-धीरे एक स्तरीय-कर (Single Point Tax) की ओर बढना चाहिए। यह लक्ष्य 5 वर्षों मे प्राप्त कर लेना चाहिए। आदर्श कर-प्रणाली की खोज ने परोक्ष करो के स्थान पर परिवर्द्धित मूल्य-कर (Value added Tax) लगाने के विचार को जन्म दिया है। झा समिति ने इस विकल्प पर अध्ययन किया था। उसके अनुसार यदि परोक्ष कर-प्रणाली को युक्तिसगत बना दिया जाए तो अगले कदम के लिए रास्ता खुल जाएगा अर्थात् परिवर्द्धित मूल्य पर कर लगाना सम्भव होगा। परिवर्द्धित मूल्य-कर बेची जाने वाली वस्तु पर नही होता वरन् विक्रेता द्वारा बढाए गए मूल्य पर होता है। झा समिति की सिफारिश के आधार पर पिछले वर्षों मे परिवर्द्धित मूल्य कर लगाया गया।

11. कर-प्रणाली का रोजगारपरक होना आवश्यक—भारत मे प्रत्येक करारोपण से पूँजी गहन तकनीको को प्रोत्साहन मिलता है। करों मे रियायते जैसे निवेश भत्ते (Investment Allowances) के अन्तर्गत मिलने वाले वित्तीय लाभ नई मशीनों में निवेश की जाने वाली पूँजी से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होते है। नए निवेश के लिए कुछ वर्षों तक करों में छुट्टी (Tax Holiday) का यही प्रभाव होता है। पूँजी निवेश की राशि जितनी अधिक होगी करो में रियायतें उतनी ही अधिक होंगी। कर-प्रणाली इस प्रकार की हो कि पूँजी निवेश से जितने अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा उतनी ही अधिक रियायते मिलेगी।

भारतीय कर-व्यवस्था सरकारी प्रयासो की शिथिलता और देश की विषम राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के कारण न्यूनाधिक गम्भीर दोषो की शिकार रही है। देश की परिस्थितियो को देखते हुए सरकार के लिए यह सम्भव नहीं है कि कर-प्रणाली मे तुरन्त ही आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया जाए। सरकार का प्रयत्न यह रहा है कि कर-ढाँचे मे इस प्रकार परिवर्तन किया जाए कि वह समाजवादी नीति के अनुरूप बने उसमे उत्पादन और बचत की प्रेरणाओ पर विपरीत प्रभाव न पडे और मुद्रा-स्फीतिक प्रवृत्तियो को नियन्त्रित किया जा सके। पिछले कुछ वर्षों मे सरकार ने कर-नीति और राजकोषीय नीति

मे उत्साहवर्धक हेर-फेर किये है और इस दिशा मे प्रभावी कदम उठाए गए हैं कि कर-सम्बन्धी व्यवस्था अधिकाधिक युक्तियुक्त बने । राजीव सरकार ने कर-प्रणाली मे सुधार की दिशा में उत्साहवर्धक कदम उठाए थे । 1989-90 के बजट प्रस्तावो मे 18 हजार रुपये तक की आय को आय-कर से मुक्त रखा गया । यह सीमा वर्ष 1995-96 मे 35 हजार थी । इसे बढाकर 40 हजार कर दिया गया । आय-कर की अधिकतम सीमा अब 50 प्रतिशत होगी । आय-कर पर अधिभार समाप्त कर दिया गया है । मध्यम आय वर्ग के करदाता जिनकी आय 18000 से 25000 रुपये के बीच थी इसके लिए आयकर की दर 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत कर दी गयी है । मृत्यु के बाद लगने वाला सम्पदा शुल्क समाप्त कर दिया गया और धन-कर की सीमा डेढ लाख रुपये कर दी गई है । अनिवार्य बचत योजना समाप्त कर दी गई है परन्तु इसका भुगतान एक वर्ष तक स्थगित रहेगा । निगम-कर सम्बन्धी प्रस्तावो के अन्तर्गत कम्पनियो पर लागू होने वाली आय-कर की बुनियादी दरों मे 5 प्रतिशत की कमी की गई है । "अगर करो की दरे सगत हो तो भारत के अधिकाश आय करदाता कानून का पालन करना और कर देते रहना चाहेगे ।'

भारतीय कर-प्रणाली में सुधार के सरकारी प्रयत्न
(Government Efforts to Reform in Tax System)

स्वतन्त्र भारत मे आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से ही सरकार ने कराधान सम्बन्धी जाँच कराई है और कर-प्रणाली को सुधारने के लिए समय-समय पर महत्त्वपूर्ण प्रयास किये है । इनका एक सक्षिप्त लेखा-जोखा निम्न प्रकार है—

कर-जाँच आयोग, 1953 (Taxation Enquiry Commission, 1953)

डॉ जान मथाई की अध्यक्षता मे अप्रेल, 1953 में एक कर-जॉच आयोग की नियुक्ति की कई जिसने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर, 1954 में प्रस्तुत कर दी । आयोग की मुख्य सिफारिशे इस प्रकार थीं—

1. सामान्य कर-पद्धति सम्बन्धी सुझाव—

(i) करदाताओं की करदेय क्षमता अभी अधिक है अत प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो की दरे बढाई जाएँ और दोनों प्रकार के नए कर लगाए जाएँ ।

(ii) आर्थिक असमानता कम करने के लिए प्रत्यक्ष करो को अधिक प्रगतिशील तथा विस्तृत बनाया जाए ।

(iii) वर्तमान परिस्थितियो मे आवश्यक वस्तुओ पर लगे कर कायम रखे जाएँ । इनसे उपभोग कम किया जाकर बचत को प्रोत्साहन मिलता है ।

(iv) करो से प्राप्त आय का व्यय उचित ढग से किया जाए ताकि लोगो की करदेय क्षमता अधिक से अधिक बढ सके ।

(v) करो से प्राप्ति होने वाली आय में वृद्धि के लिए सरकार अप्रत्यक्ष करो की अपेक्षा प्रत्यक्ष करो मे अधिक वृद्धि करे ।

(vi) सार्वजनिक व्यय मे मितव्ययता लाई जाए ।

(vii) विकास योजनाओ के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने तथा हीनार्थ प्रबन्ध को कम करने के लिए सरकार करारोपण और सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि करे ।

(viii) देश मे आर्थिक समानता लाने के लिए राष्ट्रीय आय मे सार्वजनिक आय और सार्वजनिक व्यय के अनुपात को बढाया जाए ।

(ix) सघ एव राज्यो के तथा विभिन्न राज्यो के प्रशासन व करारोपण नीतियो मे समन्वय स्थापित करने हेतु एक अखिल भारतीय करारोपण परिषद् की स्थापना की जाए ।

(x) व्यावसायिक साधनो से सरकार अधिकाधिक आय प्राप्त करे ।

2. केन्द्रीय कर-व्यवस्था सम्बन्धी सुझाव—इस सम्बन्ध मे आयोग ने आय-कर निगम-कर, सम्पत्ति-कर तथा वस्तु करो के सम्बन्ध मे जो सिफारिशे कीं उनमे से मुख्य निम्न थीं—

(i) आय-कर वसूल करने के लिए आय ज्ञात करने मे आय-कर से सम्बन्धित व्यय घटाने की व्यवस्था हो ।

(ii) राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए उनकी प्राप्त आय पर लगने वाले आय-कर मे 25 प्रतिशत की विकास छूट दी जानी चाहिए। यह नई अचल सम्पत्ति का 25 प्रतिशत हो, जो वर्तमान में दी जाने वाली प्रारम्भिक घिसाई की छूट के स्थान पर दिया जाए।

(iii) 20 हजार रुपए से कम वार्षिक आय वाली सहकारी समितियों से प्रतिभूतियों पर ब्याज तथा सम्पत्ति से आय-कर वसूल नहीं किए जाने चाहिए।

(iv) डेढ लाख रुपये से अधिक वार्षिक आय पर 85 प्रतिशत आय-कर के रूप में लेना चाहिए।

(v) कर्मचारियों की सकल आय मे उसके मालिक द्वारा प्रोविडेन्ट फण्ड में दिया गया अशदान आय-कर की वसूली के लिए सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

(vi) अर्जित आय की छूट केवल 25 हजार रुपये तक की वार्षिक आय कमाने वाले करदाताओं को दी जानी चाहिए।

(vii) प्रत्येक आय-कर आयुक्त के साथ एक गैर-सरकारी समिति होनी चाहिए जिसमे जनता के बडे प्रतिनिधि सदस्य हों। इस समिति को कर-आयुक्त के साथ समय-समय पर कर-वसूली के साधनों, उनकी उपयोगिता तथा सफलता, आय वृद्धि के नए साधनों आदि पर विचार-विमर्श करना चाहिए। इससे जनता का दृष्टिकोण आय-कर विभाग को ज्ञात होता रहेगा।

(viii) कर-चोरी के मामलों की सुनवाई तथा उन पर निर्णय के लिए आय-कर जाँच आयोग की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(ix) कम्पनियो की वार्षिक आय पर जो निगम-कर लगाते हैं उसकी दर प्रथम 25 हजार रुपये पर एक आना (6 पैसे) प्रति रुपया तथा शेष पर दो आने (13 पैसे) प्रति रुपया रखा जाना चाहिए।

(x) सम्पत्ति-कर से छूट की सीमा कम करनी चाहिए।

(xi) उपहार-कर नहीं लगाए जाने चाहिए। ऊनी कपडों, कागज बिस्कुट, सिलाई मशीन, वनस्पति तेल, बिजली के पखे व लैम्प, शीशा और शीशे के सामान, शुष्क और स्टोरेज बैट्रियाँ रोगन एव मिट्टी के बर्तनो पर नए उत्पादन-कर लगाए जाने चाहिए।

(xii) मिट्टी के तेल, चीनी, दियासलाई, चाय व सभी प्रकार के कपडो पर करों की दरों मे वृद्धि कर देनी चाहिए।

3. प्रान्तीय राजस्व सम्बन्धी सुझाव—आयोग ने प्रान्तीय राजस्व के सम्बन्ध मे मुख्यत बिक्री-कर, मनोरजन-कर, मालगुजारी, सिचाई शुल्क, आदि की चर्चा की। आयोग ने निम्न सुझाव दिए—

(i) बिक्री-कर राज्य सरकारो के अधीन हो किन्तु प्रान्तीय बिक्री-कर पर करारोपण का अधिकार केन्द्रीय सरकार का रहे।

(ii) बिक्री-कर की दर 1 प्रतिशत हो। कोयला, लोहा, इस्पात, कपास, खाद, तिलहन, पटसन आदि विशेष महत्त्व की वस्तुओ पर लगाए गए बिक्री-कर की दर एक पैसा प्रति रुपया रहे। इन वस्तुओं पर बिक्री-कर एक ही स्थान पर लगे—खरीदने पर या बेचने के समय।

(iii) बिक्री-कर अधिकाधिक व्यापक होना चाहिए ताकि कोई भी व्यक्ति इस कर के प्रभावों से बच न सके। आयोग ने सुझाव दिया कि बहु-बिन्दु बिक्री-कर (Multi-point Sales Tax) लगाया जाए, जिसकी दर 1-2 रुपया प्रतिशत से अधिक न हो। यह कर उन व्यापारियो से लिया जाना चाहिए, जिनकी वार्षिक बिक्री 5 हजार रुपये से अधिक हो।

(iv) देश के सभी प्रान्तो मे बिक्री-कर में एकरूपता हो और यह एकरूपता लाने का कार्य अखिल भारतीय कर कौंसिल (All India Taxation Council) पर डाला जाए।

(v) मनोरजन-कर के सम्बन्ध में वर्तमान खण्ड-दर पद्धति (Slab System) के स्थान पर प्रतिशत-दर (Percentage Rates) अपनानी चाहिए।

(vi) सब राज्यो को उच्च कृषि-आय पर कृषि आय-कर लगाना चाहिए। किसानो पर मालगुजारी का भार कम करना चाहिए। राज्य सरकारो को मालगुजारी से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय का कम से कम 14 प्रतिशत भाग अपनी सीमा में स्थित स्थानीय सरकारों को उस अनुपात में बाँट देना चाहिए जिस अनुपात में उनकी सीमाओ मे से मालगुजारी की रकम प्राप्त की गई है।

(vii) सिंचाई शुल्क का प्रबन्ध-सचालन इस तरह होना चाहिए कि नहरों के पानी का मितव्ययतापूर्वक प्रयोग हो तथा सिचाई योजनाओ का व्यापक पैमाने पर विकास हो सके।

(viii) राज्य सरकारो को, नये कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने हेतु, अपने क्षेत्रो में कृषि-भूमि पर विकास-कर लगाने चाहिए।

(ix) राज्यों में सीमा-शुल्क वसूल करने की व्यवस्था शनै.-शनै. समाप्त की जाये। इससे होने वाली हानि की पूर्ति अन्य साधनो द्वारा हो।

(x) केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय तीनो ही सरकारें मोटर वाहनो तथा मोटर तेल पर कर लगाकर आय प्राप्त करती है अत. उचित यह है कि सभी सरकारें इस राशि को यातायात और सडकों के विकास पर व्यय कर दे।

4. स्थानीय राजस्व सम्बन्धी सुझाव—इस सम्बन्ध में आयोग ने सुझाव दिया कि—

(i) इन करों को लगाने का अधिकार केवल जन-सत्ताओ को हो—भूमि और भवनो पर कर, स्थानीय जन-सत्ता सीमा के अन्तर्गत उपभोग, बिक्री या उपभोग वस्तुओं पर कर यान्त्रिक वाहनों को छोडकर रिक्शा, ताँगा, बैलगाड़ी आदि अन्य वाहनो पर कर, पशुओ तथा नावो पर कर, समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनो पर लगाये गये कर मनोरंजन कर, व्यवसाय या रोजगार पर कर, सडक और जल-मार्गों से आने वाले माल व यात्रियों पर कर आदि।

(ii) चुगी-कर को धीरे-धीरे समाप्त करके उसके स्थान पर अन्य कर लगाना चाहिए।

(iii) राज्य सरकारो को स्थानीय सस्थाओ को उदारतापूर्वक अनुदान देना चाहिए। अनुदान की मात्रा निर्धारित करते समय तीन बिन्दुओ का ध्यान रखना चाहिए—जनसख्या, क्षेत्रफल व आय के साधन। अनुदान देने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि स्थानीय सस्था इस अनुदान के अतिरिक्त अन्य आवश्यक राशि अपने पास से व्यय कर सकती थी या नहीं। यदि उसके पास अन्य आवश्यक धन व्यय करने को नहीं है तो अनुदान नहीं दिया जाना चाहिए। अनुदान अल्पकाल तक दिया जाना चाहिए ताकि स्थानीय सस्थाएँ स्वय आत्म-निर्भर बनने की चेष्टा करें। आवश्यकता के समय राज्य सरकारों को अन्नवृत्ति-अनुदान देना चाहिए।

कर-जाँच आयोग की रिपोर्ट से हमारे सामने देश की कर-व्यवस्था की तस्वीर स्पष्ट हो गई और उसकी कमियों तथा उनके निराकरण के सुझावों का विस्तृत विवरण मिला। सरकार ने आयोग की अनेक सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और कई करो मे वृद्धि की। अनेक क्षेत्रों मे यह आलोचना की गई कि आयोग भारतीयो की करदेय क्षमता का ठीक अनुमान नहीं लगा पाया और भारत में कर-आय तथा राष्ट्रीय आय के अनुपात की तुलना विदेशो से करना समुचित नहीं था। आयोग के इस निष्कर्ष पर आपत्ति की गई कि सार्वजनिक व्यय से लोगो की करदेय क्षमता मे वृद्धि हो गई है क्योंकि प्रारम्भिक वर्षों मे सार्वजनिक व्यय का सामान्य व्यक्तियो को अधिक लाभ नहीं मिल पाया था और स्वय सरकार को यह ठीक से मालूम नहीं था कि राष्ट्रीय आय मे हुई वृद्धि का वितरण किस प्रकार किया गया है। आयोग के इस सुझाव को भ्रामक बतलाया गया कि उपभोग पर नियन्त्रण होना चाहिए ताकि अधिक विनियोजन सम्भव हो सके। यह कहा गया कि कीन्स आदि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उपभोग और विनियोग एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं—दोनो एक साथ गिरते है और एक साथ बढते है। सस्ती मुद्रा नीति से अधिक मुद्रा के चलन गुणात्मक सिद्धान्त (Multiplier Principle) के कारण लोगो की आय में वृद्धि हो जाती है जिससे उपभोग को कम किये बिना व्यक्ति बचत कर सकते है। आयोग के अनेक सुझावों से लोगों के कार्य करने की इच्छा और शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशका व्यक्त की गई।

आलोचनाओं के बाद भी आयोग की रिपोर्ट बहुत महत्त्वपूर्ण थी और सिफारिसें करते समय आयोग ने यह ध्यान मे रखा कि भारत एक विकासशील देश है।

प्रो. काल्डोर के कर-प्रस्ताव (Prof Kaldor's Tax Proposals)

जनवरी, 1956 में आमन्त्रित कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री प्रो. निकोलस काल्डोर की रिपोर्ट 'Indian Tax Reform—Report of a Survey' जून, 1956 में प्रकाशित हुई। प्रो. काल्डोर ने भारतीय कर-प्रणाली की जाँच के उपरान्त अपनी रिपोर्ट में करारोपण के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने प्रस्ताव नहीं दिये बल्कि प्रत्यक्ष करारोपण पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की तथा अनेक आवश्यक परिवर्तनों की

सिफारिशें कीं । प्रो काल्डोर ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा कि भारत मे प्रत्यक्ष करारोपण की वर्तमान प्रणाली अकुशल और अन्यायपूर्ण है क्योकि करारोपण आय का आधार करदेय क्षमता के एक माप के रूप मे दोषपूर्ण और पक्षपाती है तथा करदाताओ के कुछ विशेष वर्गों द्वारा इसमे अपने हित के लिए फेर-बदल हो सकता है । चूँकि करदाताओं द्वारा दी गई सूचना बहुत सीमित होती है इसीलिए यह अकुशल है और सम्पत्ति सम्बन्धी सौदो तथा आय के सम्बन्ध मे एक विस्तृत सूचना प्रणाली के अभाव के कारण छुपा कर या लाभों और सम्पत्ति आय को कम बता कर एक बडी मात्रा में कर का वचन होना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है । प्रो काल्डोर ने अनुमान लगाया कि भारत मे प्रतिवर्ष 200 300 करोड रुपये के कर छिपा लिये जाते है । अपने इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर उन्होने मुख्यत निम्नलिखित सुझाव दिए—

1 प्रत्यक्ष कर-प्रणाली को अधिक वैज्ञानिक और अति-उत्पादक बनाने के लिये नये कर लगाये जाएँ—पूँजी लाभ पर कर (Capital Gains Tax) सम्पत्ति-कर (Wealth Tax) व्यय-कर (Expenditure Tax) तथा उपहार कर (Gift Tax) । वे दरे भी प्रकाशित की गई जिनके आधार पर ये कर लगाने थे । भारत सरकार ने प्रो काल्डोर के सुझावो का आदर करते हुए दरो मे न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ पूंजी-लाभ-कर नवम्बर 1956 से सम्पत्ति-कर और व्यय-कर 1957 से तथा उपहार-कर 1958 से लागू कर दिया ।

2 उपरोक्त करो का निर्धारण एक विस्तृत हिसाब-किताब के लेखे के आधार पर एक साथ किया जाना चाहिए जिससे कर की चोरी की सम्भावना कम से कम हो सके ।

3 आय-कर की अधिकतम दर 45 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए जबकि वर्तमान मे यह दर 92 प्रतिशत है । जब कर की दर 90 प्रतिशत होती है तो करदाता को अपने कमाये हुए प्रत्येक 100 रुपये में केवल 10 रुपये ही प्राप्त होते है अत वह अर्जित आय फिजूलखर्ची मे उडा देता है । वह जानता है कि उसका वास्तविक खर्चा तो 10 रुपये ही हो रहा है जबकि वह 90 रुपये कर-आय के रूप मे सरकार को दे देता है ।

4 कम्पनियो की करारोपण की प्रस्तुत जटिल प्रणाली के स्थान पर कम्पनियो की सम्पूर्ण आय पर 7 आने (42 पैसे) प्रति रुपये का अकेला कर लगा देना चाहिए और व्यापार पर लगे हुए अन्य सभी प्रत्यक्ष कर हटा देने चाहिए ।

5 कर-चोरी को रोकने के लिए 50 हजार रुपये से अधिक की व्यापारिक आयो की तथा एक लाख रुपयों से अधिक की व्यक्तिगत आयो की अनिवार्य जाँच-पडताल होनी चाहिए ताकि करो की चोरी को रोका जा सके तथा द्वितीय पचवर्षीय योजना के लिए अधिक आय प्राप्त हो सके । यदि करो की चोरी को रोका जा सका तो भारत को 60 से 100 करोड रुपये की अतिरिक्त आय होगी । प्रो कार्ल्डोर के अनुसार यदि इन सुझावो को मान लिया गया तो उससे देश को निम्नलिखित लाभ होना बताया गया—

1 आय-कर पूँजीगत लाभ-कर व्यय-कर उपहार-कर आदि का निर्धारण साथ-साथ एक ही विस्तृत विवरण-पत्र के आधार पर किया जा सकेगा अत करदेय क्षमता को कम करने के लिए जो आय छिपायी गयी थी वह अपने आप सामने आ जायेगी ।

2 यदि आय-कर की दर घटाकर 45 प्रतिशत कर दी जाये तो इससे कर की चोरी रुकेगी ।

3 आय की दरे घटाने से काम करने बचत करने और निवेश करने के प्रति उत्साह जागेगा । वैयक्तिक व्यय-कर से बचत करने की प्रेरणा जाग्रत होगी ।

4 प्रस्तावित विस्तृत आधार वाली कर-पद्धति वर्तमान कर-पद्धति के मुकाबले अधिक प्रगतिशील और न्यायपूर्ण सिद्ध होगी ।

5 प्रस्तावित कर-सुधारो से सरकारी आय की अतिरिक्त राशि मे ठीक वृद्धि हो सकेगी ।

काल्डोर द्वारा प्रस्तावित सभी कर भारत सरकार द्वारा 1957 58 तथा 1958 59 के बजटों में सम्मिलित कर लिये गये । व्यय-कर को आगे चलकर समाप्त कर दिया गया लेकिन करों की दरे प्रस्तावित रूपरेखा के अनुकूल नहीं रखी गईं । अत सरकार के राजस्व को विशेष लाभ नही हुआ और करदाताओ के लिए परेशानी बढ गईं । प्रो काल्डोर के सुझावो की आर्थिक क्षेत्र में काफी आलोचना हुई । यह कहा गया कि भारत जैसे देश मे जिसे आर्थिक निर्माण के लिए पूँजी की अधिक आवश्यकता

है, प्रस्तावित सम्पत्ति-कर और उस पर 80 प्रतिशत की अधिकतम दर का उपहार-कर बडा अहितकर होगा। इससे सम्पत्ति रखने वाले लोगों की बचत और विनियोग करने की इच्छा हतोत्साहित होगी। व्यय-कर जो अभी तक विश्व के किसी भी देश मे नहीं लगाया गया है भारत में सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा। यह भी कहा गया कि भारत में सम्पत्ति-कर का सफल होना सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ अधिकाश सम्पत्ति का मूल्याकन दुष्कर है। यह आशका प्रकट की गई कि प्रो काल्डोर के सुझावो को कार्यान्वित करने से लोग बैको में जमा न कर सोना या अन्य सम्पत्ति के रूप में सम्पत्ति रखना चाहेगे जिससे कर की सही जॉच-पडताल नहीं हो सकेगी और कर-चोरी सम्भव होगी। काल्डोर योजना का भार भी मुख्यत एक ही वर्ग पर पडेगा अत इस योजना से सरकार को अधिक आय प्राप्त नहीं हो सकेगी। यह तर्क भी दिया गया कि प्रस्तावित सुझावो को व्यावहारिक रूप देने के लिए जिस कुशल प्रशासन तन्त्र की आवश्यकता होगी वह भारत मे उपलब्ध नहीं है।

प्रत्यक्ष कर प्रबन्ध जॉच समिति (Direct Tax Administration Enquiry Committee)

भारत सरकार ने कर-अपवचन की समस्या पर विचार करते हुए प्रत्यक्ष कर प्रबन्ध कुशल बनाने के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए जून 1958 मे श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में प्रत्यक्ष कर प्रबन्ध जॉच समिति नियुक्त की। समिति की रिपोर्ट नवम्बर 1959 मे प्रस्तुत की गई जिसे सरकारी स्वीकृति और प्रतिक्रियाओ सहित सितम्बर 1960 में लोकसभा में पेश किया गया। समिति ने कुल मिलाकर 367 सिफारिशे कीं जिन्हे काट-छाँट कर सरकार ने 289 कर दिया। सरकार द्वारा अनेक सुझावो पर निर्णय लिया गया जिसके फलस्वरूप कर-प्रशासन मे काफी सुधार हुआ। इस समिति द्वारा जो सुझाव दिये गये वे निम्नलिखित है—

(1) देश मे एक केन्द्रीय परामर्श समिति की स्थापना की जानी चाहिए।

(2) सम्पत्ति कर का निपटारा कम से कम 4 वर्ष की अवधि के भीतर हो जाना चाहिए।

(3) धार्मिक सस्थाओ की आय में छूट दी जानी चाहिए तथा करो की चोरी रोकने के लिये जनता में जन-जागृति फैलायी जानी चाहिए।

(4) जिन व्यक्तियो पर 5,000 रुपये से अधिक की आय-कर की राशि बकाया है उनके नाम समाचार-पत्रो मे प्रकाशित कर दिये जाने चाहिये।

(5) यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का हस्तान्तरण करता है तो आय-कर आयुक्त को पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह उस पर कर लगा सके।

(6) यदि कोई फर्म एक बार पजीकृत हो चुकी है तो उसका नवीनीकरण प्रत्येक वर्ष कराना चाहिए।

(7) करो के भुगतान के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा सार्वजनिक विज्ञापन प्रसारित किया जाना चाहिए। करो की चोरी पकडने के लिये विभिन्न विभागो मे आपसी समन्वय होना चाहिए।

भूतलिगम समिति (Bhootlingam Committee)

प्रत्यक्ष कराधान से सम्बन्धित ढॉचे के युक्तिकरण और सरलीकरण पर मार्च 1968 मे भूतलिगम समिति (जिसके श्री भूतलिगम एक मात्र सदस्य थे) ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति द्वारा दिये गये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—

1 आदर्श रूप मे कर-पद्धति का निर्माण इस तरह किया जाना चाहिए कि राष्ट्रीय आय मे होने वाली वृद्धि स्वयमेव राज्य के राजस्व मे प्रतिबिम्बित हो जाये। कर-पद्धति के विभिन्न अग एक-दूसरे को सम्बल दें।

2 उत्पादन शुल्क कराधान का सर्वश्रेष्ठ रूप है जिसका विस्तार किया जाना चाहिए। समिति ने उन वस्तुओ को छोडकर जिन पर उत्पादन कर लगा हुआ था अनेक वस्तुएँ गिनाईं जिन पर 10 प्रतिशत की दर से एक सामान्य मूल्यवान उत्पादन-कर उपयोगी होता है।

3 सीमा करों की दरो के ढॉचे मे सरलीकरण किया जाये।

4 आय-कर मे छूट की सीमा व्यक्तियो के मामले में 4 000 रुपये से बढाकर 7 500 रुपये तथा अविभाजित हिन्दू परिवारो के मामले मे 7000 रुपये से बढाकर 10 000 या 11 000 रुपये कर देनी चाहिए।

5. वार्षिकी जमा योजना समाप्त कर दी जाये। 1968-69 के बजट में इसे समाप्त कर दिया गया।

6 आस्ति कर (Estate Duty) के स्थान पर एक उत्तराधिकार-कर (Inheritance Tax) लगाया जाये जिसका आधार यह हो कि व्यक्ति प्राप्त क्या करता है। यह आधार उपयुक्त नहीं है कि व्यक्ति छोड़ता क्या है।

7. उपहार-कर के भुगतान का दायित्व दान-दाता की जगह औपचारिक रूप से दान ग्रहणकर्त्ता पर डाला जाए।

8. कम्पनियो के लाभों पर लगाये जाने वाले कर की प्रामाणिक दर मे कमी की जाए, अति कर (Super Tax) और लाभांश की समाप्ति की जाये, सभी प्रकार की परिसम्पत्तियों (Assets) पर मूल्य ह्रास छूट की कर दरें अपनाई जाएँ, आदि। समिति द्वारा कुछ और सुझाव दिये गये, जैसे—लाभो को देखे बिना ही एक प्रतिशत की दर से पूँजी-कर की उगाही, विकास छूट की समाप्ति, एक जुलाई से एक समान कर-वर्ष (Tax-Year) को अपनाना, करदेयता को यथासम्भव कर वर्ष की आय से ही सम्बन्धित करना, अन्य किसी वार्षिक अवधि से नहीं आदि। वित्त मन्त्रालय ने लाभांश कर की समाप्ति की सिफारिश स्वीकार कर ली और अतिकर की दर को 35 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत करके आंशिक रूप से सिफारिशे लागू कीं।

समिति द्वारा विचारणीय प्रश्न

समिति के समक्ष निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय थे—

(i) काले धन को बाहर निकालना, (ii) कर-वंचना को रोकना (iii) करो की बकाया राशि को कम करने सम्बन्धी सुझाव देना (iv) कर निर्धारण तथा प्रशासन मे सुधार सम्बन्धी सुझाव देना (v) कर-कानूनो में निहित कर-छूट में सुधार करने, उन्हे कम करने तथा उन्हे समाप्त करने सम्बन्धी सुझाव देना।

वांचू समिति के सुझाव (Recommendations of Wanchoo Committee)

उपर्युक्त विचारणीय प्रश्नो को ध्यान मे रखते हुए समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

काला धन (Black Money)

समिति ने काले धन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "काले धन से आशय केवल उस धन से नहीं है कि जो कानूनी धाराओ का और सामाजिक ईमानदारी का उल्लंघन करके कमाया गया हो, बल्कि इसके अन्तर्गत वह धन भी सम्मिलित किया जाता है जो छिपाकर रखा गया हो और जिसका कोई लेखा-जोखा न हो।" समिति ने काले धन को देश की अर्थव्यवस्था में 'कैंसर' की संज्ञा देते हुए कहा है कि यदि इस समस्या पर अविलम्ब रोक न लगाई गयी तो यह हमारी अर्थव्यवस्था को पूर्णतया विषाक्त बना देगी। समिति द्वारा लगाये गये अनुमान के अनुसार देश मे कुल कर के लगभग 1/3 भाग की कर-चोरी की जाती है।

काले धन की उत्पत्ति तथा कर-वंचन के कारण

वांचू समिति ने काले धन की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी बतलाया—

(1) भ्रष्ट व्यापारिक तरीके, जैसे—रिश्वत, पगडी और गुप्त कमीशन आदि।

(2) प्रत्यक्ष करों की वर्तमान ऊँची दरें।

(3) कर-वंचन के लिये कुछ सीमा तक कर-अधिनियमों का प्रभावशाली ढंग से लागू न होना।

(4) देश मे वस्तुओं की कमी के कारण कन्ट्रोल एवं नियन्त्रण की व्यवस्था का लागू करना।

(5) देश मे राजनीतिक चुनावों को काले धन से सिंचित किया जाना।

(6) देश में नैतिक मूल्यों में निरन्तर गिरावट होना।

(7) बिक्री-कर तथा अन्य सरकारी शुल्क जैसे स्टाम्प फीस आदि की ऊँची दरों का होना।

काले धन को बाहर निकालने के लिए सुझाव

वांचू समिति ने काले धन को बाहर निकालने के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये—

(1) समिति का सुझाव था कि वर्तमान कर की ऊँची दरो को घटाया जाये ताकि देश की जनता कर बचाने की चेष्टा न करे।

(2) देश मे कम्पनियो द्वारा बडी मात्रा मे राजनीतिक पार्टियों को दिये जाने वाले चन्दो पर कानूनी रोक लगायी जाये।

(3) समिति ने सुझाव दिया कि देश मे प्रत्यक्ष नियन्त्रणों को न्यूनतम किया जाना चाहिए जिसके फलस्वरूप काले बाजार का धन्धा कम हो सके।

(4) कृषि आय से काले धन को बढावा मिलता है। अत समिति ने समस्या के समाधान के रूप मे कृषि आय पर कर लगाने का सुझाव दिया।

(5) समिति का सुझाव था कि प्रत्येक व्यवसायी को अनिवार्य रूप से खाते रखने चाहिए। इस सम्बन्ध में समिति का प्रस्ताव था कि प्रत्येक करदाता को एक 'स्थायी खाता नम्बर (Permanent Account Number) दिया जाना चाहिए।

(6) समिति ने काले धन को बाहर निकालने के लिए आय कर अधिकारियों को करदाताओ के मकान की तलाशी लेने उनके व्यवसाय के खातों की जॉच करने और बैक-लॉकरो की जॉच करने का अधिकार देने का भी सुझाव दिया।

(7) समिति ने करदाताओ को अपने ग्राहको की आव भगत पर जो धन व्यय करना पडता है मनोरजन व्यय सम्बन्धी कुछ अतिरिक्त छूट देने का भी सुझाव रखा था।

(8) समिति ने बिक्री कर के रूप मे व्याप्त भ्रष्टाचार कर-वचन तथा काले धन को समाप्त करने के लिये बिक्री कर को अविलम्ब समाप्त करने का सुझाव रखा। समिति का प्रस्ताव था कि बिक्री कर के स्थान पर उत्पादन-कर लगाया जाना चाहिए।

(9) समिति का सुझाव था भ्रष्ट करदाताओ के विरुद्ध कठोर कानूनी कार्यवाही की जानी चाहिए लेकिन छोटे करदाताओ में कर-विभाग द्वारा विश्वास उत्पन्न करना चाहिए।

(10) समिति का यह भी सुझाव था कि काले धन को कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे प्रवाहित किया जाना चाहिए।

अप्रत्यक्ष कर जॉच समिति, 1976

भारत सरकार ने प्रत्यक्ष करो—विशेषकर उत्पादन-करो के सम्पूर्ण ढॉचे मे सुधार के सुझाव प्रस्तुत करने के लिए 22 जुलाई 1976 को जम्मू एव कश्मीर के राज्यपाल एल के झा की अध्यक्षता मे एक अप्रत्यक्ष कर जॉच समिति नियुक्त की थी। सरकार यह महसूस करती थी कि अप्रत्यक्ष करो के क्षेत्र मे सग्रहण के स्वरूप का कुछ इतना अधिक विकास हुआ है कि फलस्वरूप जटिलताऐं बहुत अधिक बढ गई हैं। समिति ने अपना अन्तरिम प्रतिवेदन अप्रेल 1977 मे अन्तिम प्रतिवेदन का प्रथम भाग अक्तूबर 1977 मे और *दूसरा अन्तिम प्रतिवेदन 16 जनवरी 1978 को प्रस्तुत कर दिया। समिति का अन्तिम* प्रतिवेदन अप्रेल 1978 में ससद् के समक्ष रखा गया। श्री झा ने बताया कि समिति की सिफारिशें विभिन्न प्रकार के अप्रत्यक्ष करो मे असन्तुलनो और विसगतियो को दूर करने हेतु सरकार की सहायतार्थ हैं। इनका उद्देश्य कर की दरो मे कमी या वृद्धि का सुझाव देना नही है क्योकि यह तो सरकार के लिए राजनीतिक तथा आर्थिक निर्णयों से सम्बद्ध प्रश्न है।

झा समिति के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव ये थे—

1 उत्पादन लगात कम करने के लिए पूँजीगत तथा इण्टरमीडियरी वस्तुओं (यथा—लोहा एव इस्पात टायर एव ट्यूब) पर कर कम किए जाऐं। राजस्व भार या तो उत्पादन के अन्तिम चरण या उपभोग के अन्तिम बिन्दु पर होना चाहिए। वस्तुओं पर उनकी आर्थिक एव सामाजिक प्राथमिकता के आधार पर कर लगाना चाहिए।

2 अप्रत्यक्ष कर ढॉचे की विसगतियो को दूर किया जाए। जनोपयोगी वस्तुओ पर लगे करो के सम्बन्ध मे निम्न आय वर्ग को छूट दी जाए। कुछ सीमा तक छूट देकर छोटे उत्पादको को प्रोत्साहित किया जाए।

3 *झा समिति ने बताया कि राज्यो की कर-आय का लगभग 57 प्रतिशत भाग बिक्री-कर से प्राप्त* होता है और इसका योगदान बढता जा रहा है। समिति ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय अधिनियम या एक आदर्श नियमावली का निर्माण हो ताकि सभी राज्यो मे एक सा बिक्री-कर अधिनियम और प्रक्रिया हो। अगले पॉच वर्षो मे अन्तिम स्टेज पर एक बिन्दु कर लगाने का लक्ष्य निर्धारित किया जाए।

4 समिति ने यह मत प्रकट किया कि चुंगी शुल्क घृणित एवं व्यर्थ है।

5 उत्पादन करों के सम्बन्ध में निम्न क्रम से युक्तिकरण का सुझाव दिया गया—सर्वप्रथम आधारभूत कच्चे माल का शुल्क दरों का युक्तिकरण किया जाए, तत्पश्चात् अन्तिम उत्पादनों के सम्बन्ध में युक्तिकरण किया जाए। इसके बाद रूल 56 A के प्रयोग (Inputs के करापात को हल्का करना) का विस्तार उन सभी वस्तुओं के निर्माताओं पर किया जाए जिनके सम्बन्ध में अंकित दर (Nominal Rate) तथा संचयी दर (Cumulative Rate) का अन्तर महत्त्वपूर्ण हो।

6 विभिन्न कच्चे मालों पर विभिन्न दरों से कर नहीं लगाया जाए।

7 आयातित वस्तुओं पर सीमा शुल्क में कमी की जाए—विशेषकर वहाँ, जहाँ इस प्रकार की कमी आधारभूत आवश्यकताओं की कीमतों को कम करने में तथा अधिक आयात को प्रोत्साहित करने में सहायक हो।

सरकार ने कुछ दिशाओं में इस समिति के सुझावों के अनुरूप कार्यवाही की। उदाहरणार्थ—सरकार ने मूल तथा सहायक उत्पादन शुल्कों को मिला दिया और केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों की कुछ विशिष्ट दरों को कई मामलों में मूल्यानुसार कर दिया। इस समिति का मत था कि उपरोक्त विभिन्न उपाय कर पद्धति में पर्याप्त लोच और स्थायित्व प्रदान करेंगे।

प्रत्यक्ष कर जाँच समिति, 1977

वर्ष 1977-78 का अन्तिम बजट (जून, 1977 में) पेश करते हुए वित्त मन्त्री एच. एम. पटेल ने कहा कि प्रत्यक्ष कर कानूनों में जटिलता बहुत अधिक बढ़ गई है अतः इन कानूनों के विवेकीकरण और सरलीकरण की नितान्त आवश्यकता है। यह निश्चित किया गया कि विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाए जो वर्ष के अन्त तक अपना प्रतिवेदन सरकार को दे दे। 26 जून, 1977 को एन. ए. पालकीवाला की अध्यक्षता में एक पाँच सदस्यीय समिति की नियुक्ति की घोषणा की गई। चूँकि पालकीवाला अमेरिका में भारतीय राजदूत बना दिए गए थे अतः श्री सी. सी. चौकसी समिति के अध्यक्ष बना दिए गए। अन्य प्रस्तावों के साथ-साथ समिति को चार अधिनियमों—आय-कर, अति-कर, सम्पत्ति-कर तथा उपहार-कर से सम्बन्धित अधिनियमों को—समाहित कर एक अधिनियम की वांछनीयता पर सुझाव देने थे। समिति ने अपना अन्तरिम प्रतिवेदन दिसम्बर, 1977 में प्रस्तुत कर दिया जिसे लोकसभा में मई, 1978 में प्रस्तुत किया गया। समिति ने कर नियमों के सरलीकरण और युक्तिकरण, कर-निर्धारण प्रक्रिया को सरल और सुचारु बनाने के लिए, मुकदमेबाजी के क्षेत्र को कम करने के सम्बन्ध में लगभग 177 सुझाव दिये। समिति की कुछ प्रमुख सिफारिशें ये हैं—

1 मुकदमेबाजी को कम करने के लिए और विभिन्न उच्च न्यायालयों में बकाया पड़े प्रकरणों को निपटाने के लिए 'सैन्ट्रल टैक्स कोर्ट' की स्थापना की जाए। उल्लेखनीय है कि विवादास्पद मामलों पर सर्वोच्च न्यायालय के स्तर पर कोई भी अन्तिम निर्णय होने में लगभग 15 वर्ष लग जाते हैं और अनेक मामलों में एक ही प्रश्न पर विभिन्न उच्च न्यायालयों पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। प्रत्यक्ष कर जाँच समिति द्वारा सैन्ट्रल कोर्ट टैक्स की स्थापना के सुझाव में उपरोक्त समस्या का निदान है।

2 आय कर अधिनियम तथा अन्य प्रत्यक्ष कर अधिनियमों में यह प्रावधान किया जाए कि किसी भी करदाता की विशेष प्रार्थना पर निर्धारित फीस चुका देने पर वह विशेष मामलों में प्रत्यक्ष करों के केन्द्रीय बोर्ड से अग्रिम रूलिंग प्राप्त कर सके। यह प्रावधान भी होना चाहिए कि बोर्ड उच्चतम न्यायालय में आ सके तथा मुकदमेबाजी शुरू होने से पूर्व प्राथमिक स्तर पर ही उच्च न्यायालय की राय प्राप्त कर सके।

3 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों अथवा शासकीय कम्पनियों एवं आय कर विभाग के बीच विवादों का निपटारा प्रत्यक्ष करों के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा, सम्बन्धित उपक्रम अथवा कम्पनी से सम्बन्धित केन्द्रीय या स्थानीय सरकार के प्रशासकीय मन्त्रालय अथवा विधि मन्त्रालय के बीच विचार विमर्श के बाद किया जाना चाहिए।

4 आय-करदाताओं द्वारा रिटर्न पेश करने के तीन माह के भीतर आय कर विभाग को यह देख लेना चाहिए कि रिटर्न पूर्ण है और भुगतान सही है।

कर सुधारों पर चेलैया समिति की सिफारिशें
(Recommendations of Chelliah Committee on Tax Reforms)

भारत सरकार के वित्त मत्रालय ने देश के कर ढाँचे की जॉच के लिए 29 अगस्त, 1991 को विशेषज्ञो की एक उच्च-स्तरीय समिति का गठन किया। समिति के अध्यक्ष प्रो. राजा जे. चैलैया नियुक्त किये गये। इस समिति में एस. वी. अय्यर, वी. यू. एराडी, अमरेश बागची एव वी. राजारमन सदस्य मनोनीत किये गये।

समिति को निम्नलिखित बिन्दुओ पर सिफारिशे प्रस्तुत करने के लिये कहा गया—

(i) कराधान (Taxation) के नए क्षेत्रों का पता लगाना,

(ii) प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो के राजस्व के लचीलेपन मे सुधार लाने के तरीके बताना तथा राष्ट्रीय आय में प्रत्यक्ष कर राजस्व के अनुपात मे वृद्धि करना।

(iii) प्रत्यक्ष करो के अनुपालन मे सुधार और दृढ़ता से लागू करने के तरीके,

(iv) प्रत्यक्ष कर-प्रणाली को युक्तिसगत बनाना जिससे विसगतियो को दूर किया जा सके,

(v) सीमा-शुल्क टारिफ को सरल व युक्तिसगत बनाना जिससे दरो की विविधता तथा प्रकीर्णता को घटाया जा सके,

(vi) राजकोषीय समायोजनो को सुविधाजनक बनाने हेतु ससाधनों को जुटाने की आवश्यकता को तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को बढावा देने के उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए टारिफ की दरो के स्तर को घटाना,

(vii) MODVAT स्कीम के कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना,

(viii) आवश्यक दर समायोजनो के साथ कर-प्रणाली को अच्छी एव व्यापक आधार वाली बनाना, विशेष रूप से वस्तु कर प्रणाली तथा व्यक्तिगत करो को ध्यान मे रखते हुए,

(ix) अच्छे कर-अनुपालन एव प्रशासन के निमित्त उत्पादन शुल्क सरचना को सरल तथा युक्तिसगत बनाना,

(x) उपरोक्त विषयो से सम्बन्धित कोई अन्य मामला अथवा उससे सम्बन्धित कोई आकस्मिक मामला।

समिति ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट दिसम्बर, 1991 मे प्रस्तुत की। अगस्त, 1992 मे समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट *(Final Report)* का प्रथम भाग सरकार को प्रस्तुत किया जबकि रिपोर्ट का दूसरा भाग जनवरी, 1993 में प्रस्तुत किया गया। इन रिपोर्टों की अधिकाश सिफारिशो को भारत सरकार ने मान लिया।

अन्तिम रिपोर्ट भाग I की मुख्य सिफारिशे निम्नलिखित है—

(1) *1993-94 तक घरेलू कम्पनियो के सन्दर्भ में निगम कर की दर को तत्कालीन 51.75* प्रतिशत से घटाकर 45 प्रतिशत तक करना अर्थात् कर पर लगाए जाने वाले अधिभार (Surcharge) को समाप्त करना चाहिए।

(2) 1994-95 मे पुन उक्त दर को 45 प्रतिशत से घटाकर 40 प्रतिशत कर देना चाहिए।

(3) गैर-कृषि आयकर दाता को यदि कृषि से 25,000 रुपये से अधिक की आय प्राप्त हो तो उसे गैर-कृषि आय के साथ जोड देना चाहिए तथा सम्पूर्ण आय पर कर लगाना चाहिए।

(4) सयन्त्र (Plant) तथा मशीनरी पर घिसावट (Depreciation) की सामान्य दर 25 प्रतिशत होनी चाहिए।

(5) ब्याज कर को समाप्त कर देना चाहिए।

(6) उपहार कर को चालू रखते हुए छूट सीमा को 20,000 रुपये से बढाकर 30,000 रुपये कर देना चाहिये।

(7) निर्माण-क्षेत्र के अन्तर्गत बिक्रीकर को एक प्रकार के राज्य वैट (State VAT) के रूप मे परिवर्तित करना चाहिए।

(8) करदाताओं की पहचान हेतु 'स्थायी खाता संख्या' (PAN) के स्थान पर 'करदाता पहचान संख्या' (TIN) प्रारम्भ करना चाहिए।

(9) उत्पादन कर पद्धति का निर्माण स्तर (Manufacturing Level) पर उपयुक्त वैट (VAT) के अन्तर्गत विस्तार करना चाहिए।

(10) स्थिर कर प्रशासन तथा करदाताओं के लिए उचित लक्ष्यों को निर्धारित करना चाहिए।

(11) अनुलाभों (Perguisites) तथा सीमावर्ती लाभों (Fringe Benefit) पर कर लगाना चाहिए।

अन्तिम रिपोर्ट भाग II की मुख्य सिफारिशें

अन्तिम रिपोर्ट के भाग II में सीमा शुल्कों एवं उत्पाद करों के सम्बन्ध में निम्न सिफारिशें की गयीं—

(1) आयात शुल्क की वर्तमान अधिकतम 110 प्रतिशत की दर को घटाकर 50 प्रतिशत तक के स्तर पर ले आना चाहिए।

(2) सभी वस्तुओं के लिए आयात शुल्क की एक ही दर (Single Rate) नहीं अपनानी चाहिए।

(3) आयात शुल्क की शून्य दर को समाप्त कर देना चाहिए।

(4) आयात शुल्क की कम से कम दर 5 प्रतिशत रखना तथा उसे छः स्तरों पर (5% 10% 15% 20% तथा 30%) बढ़ाते हुए अधिकतम 30 प्रतिशत मूल्यानुसार निर्धारित करना चाहिए। गैर आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के लिए 50 प्रतिशत शुल्क का प्रस्ताव करना चाहिए।

(5) कर की दरों को कम से कम रखा जाना चाहिए तथा शून्य दर को उचित समय पर समाप्त कर देना चाहिए।

(6) जिन वस्तुओं पर आयात शुल्क नहीं लगता उन पर 'संरक्षण' के नाम पर 50 प्रतिशत की दर से शुल्क लगाना चाहिए।

(7) कर की दरों का समायोजन 1997 98 तक चरणबद्ध तरीके से लागू करना चाहिए।

(8) अनाज एवं चावल के आयात को शुल्क मुक्त रखना किन्तु तिलहनों एवं दालों आदि कृषि वस्तुओं पर मूल्यानुसार 10 प्रतिशत आयात शुल्क लगाना चाहिए।

(9) आवश्यक क्षेत्र के नए उद्योग अथवा किसी नये उत्पाद को किसी निश्चित अवधि के लिए अतिरिक्त संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

(11) बादाम एवं काजू जैसी गैर अनिवार्य कृषिगत वस्तुओं के आयात पर 50 प्रतिशत की दर से शुल्क लगाना चाहिए।

(12) उर्वरक एवं अखबारी कागज जैसी आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में काम आने वाले सामान पर 5% प्रतिशत आयात शुल्क लगाना चाहिए।

(13) चिकित्सा के काम आने वाले उपकरणों के आयात पर 20 प्रतिशत शुल्क लगाना चाहिए।

(14) कपड़े (Textiles) तथा पेट्रोलियम वस्तुओं पर VAT का विस्तार होना चाहिए।

(15) सिगरेट पर झंडी (Banderol) के माध्यम से उत्पाद शुल्क वसूल करने की सम्भावना की जाँच होनी चाहिए।

चेलैया समिति की रिपोर्ट की समीक्षा

(Evaluation of Chelliah Committee Report)

चेलैया समिति की रिपोर्ट कर सुधारों पर एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट है जो इस सम्बन्ध में स्पष्ट एवं ठोस मार्गदर्शन करती है। इस रिपोर्ट की अधिकांश सिफारिशों को भारत सरकार ने लागू कर दिया है। यह तथ्य रिपोर्ट के महत्त्व को स्पष्ट करती है। इस रिपोर्ट में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि भारत में एक अच्छी कर प्रणाली की स्थापना हेतु घरेलू परोक्ष करों में सुधार की विशेष आवश्यकता है। हालांकि परोक्ष करों के क्षेत्र में चेलैया समिति की आलोचना VAT को लेकर हुई है। समिति ने उपभोग प्रकार के VAT के स्थान पर आय प्रकार के VAT को लगाने की सिफारिश की है क्योंकि पूँजी वस्तुओं पर लगे कर से छूट का प्रावधान किस्तों में चार वर्षों की अवधि के अन्तर्गत किया गया है किन्तु कर की अवधि को एक महीने से बढ़ाकर चार वर्षों की करने पर कर प्रशासन की जटिलताएँ अधिक बढ़ जायेंगी। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों का अनुभव है कि अवधि में विस्तार के फलस्वरूप दीर्घकालीन प्रशासनिक लागत में तो वृद्धि हो जायेगी लेकिन राजस्व में उतनी वृद्धि नहीं होगी।

उत्पादन कर के विषय मे भी समिति की सिफारिश की आलोचना की जा सकती है। इसका सम्बन्ध सफेद सीमेन्ट, पान मसाला, अनेक शृगार सामग्री, चीनी मिट्टी के सामान, उपभोक्ता इलेक्ट्रोनिक वस्तुएँ, मोटरयान आदि वस्तुओ पर उत्पाद शुल्क का नियामक उपयोग (Sumptuary Use) से है। विशेषज्ञों का कथन है कि ठोस कर नीति (Sound Tax Policy) के दृष्टिकोण से यह उचित नहीं है। वास्तव मे उत्पाद कर का नियामक उपयोग तो कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओ जैसे मोटरयान तक ही प्रयोग किया जाना चाहिए था। चेलैया समिति की यह सिफारिश कि वर्तमान सम्पत्ति कर के स्थान पर नगरीय भूमि, आवास तथा कुछ अन्य प्रकार की सम्पत्तियो पर राष्ट्रीय कर लगाना चाहिये, आज के परिवेश मे उचित नहीं जान पडता है। अगर समिति भूमि, मकान तथा मोटरगाडियो पर राष्ट्रीय कर के स्थान पर स्थानीय कर लगाने का सुझाव प्रस्तुत करती है तो यह अधिक उपयुक्त एव न्याय-सगत होता।

प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर के महत्त्व पर चेलैया समिति ने अधिक बल दिया है। विशेषज्ञो की राय मे यह कुछ चकित करने वाली धारणा है। कर साहित्य मे निर्धन देशो मे करों के महत्त्व में वृद्धि के प्रमाण मिलते है। इसके साथ-साथ यह भी दृष्टिगोचर होता है कि विकासशील देशों मे सार्वजनिक व्यय के कार्यक्रम के माध्यम से आय और सम्पत्ति में धनी वर्गों के हिस्से को कम करने के प्रयास को सफलता नहीं मिली है। इसके साथ-साथ प्रगतिशील करों के प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव भी पड़ते है। इन्हीं समस्त कारणो से वर्तमान समय में समस्त ससार मे आय एव सम्पत्ति के पुनर्वितरण के लिये प्रगतिशील प्रत्यक्ष करों का उपयोग सीमित रूप मे किया जा रहा है जबकि चेलैया समिति इसके उपयोग पर अधिक बल देने की सिफारिश कर रही है जो चकित करने वाली धारणा है।

अत्यधिक कठिन कार्य

कर-व्यवस्था मे सुधार करने हेतु सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है किन्तु इतनी बड़ी अर्थव्यवस्था हेतु एक ऐसी कर-नीति निर्धारित करना जो कि पूर्णतया दोषमुक्त हो बहुत कठिन है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि देश के नीति-निर्धारक मन्त्रीगण अपने विषय से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते है। सम्बन्धित क्षेत्र के विशेषज्ञ उन्हे जो सलाह देते है, वे किसी न किसी रूप मे स्वार्थ से युक्त होती है, उन विशेषज्ञो को किसी विषय के सभी पहलुओ का व्यावहारिक ज्ञान होना सम्भव नहीं। ऐसी दशा में एकाएक एक सुव्यवस्थित कर नीति निर्धारित होना बडा कठिन है।

किसी भी देश मे कर-आय सरकार की आय का प्रमुख स्रोत होता है। विकासशील देशो में करारोपण, क्रय-शक्ति को व्यक्तियो तथा निगमो से सरकार को हस्तान्तरित करती है। करारोपण का प्रयोग व्यक्तिगत अनुत्पादक व्ययो पर अकुश लगाने हेतु एक अस्त्र के रूप मे किया जाता है। दूसरी ओर अत्यधिक करारोपण अस्थिर कर-नीति तथा असन्तुलित कर-व्यवस्था मे व्यक्तिगत बचत हतोत्साहित होती है लोगो को कर-चोरी तथा कर-अपवचन की आदत पडती है अधिक आय अर्जित करने की इनकी इच्छा समाप्त हो जाती है और अधिक विषमता आदि उदित होनी लगती है। देश के सर्वमुखी तथा सन्तुलित विकास हेतु यह आवश्यक है कि देश मे ऐसी कर-व्यवस्था हो जिससे देश का विकास अवरुद्ध न हो सरकार और जनता के मध्य मधुर सम्बन्ध बने रहे। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष कर व्यवस्था का एक विरोधाभासी पहलू यह भी है कि यदि देश मे कर की दरे ऊँची रखी जाती है तो उससे कर-चोरी अपवचन आदि समस्याएँ उत्पन्न होती है। दूसरी ओर यदि कर की दरो की सीमाये कम रखी जाएँ तो सरकार को पर्याप्त आर्थिक साधन प्राप्त करने मे तथा आन्तरिक मुद्रा व्यवस्था को नियन्त्रित करने मे कठिनाई होगी और आर्थिक विषमता की समस्याओ के निराकरणार्थ किए गए प्रयास निष्क्रिय हो जाएँगे। चूँकि भारत कृषि-प्रधान देश है, यहाँ की 80 प्रतिशत से अधिक जनता कृषि पर आश्रित है। कृषि क्षेत्र प्रत्यक्ष करो से लगभग पूर्णत मुक्त है जिससे गैर-कृषि क्षेत्रो पर अत्यधिक कर-भार पडता है जो अन्यायपूर्ण है। दूसरी ओर भारतीय कृषि पिछडी अवस्था मे है अत इसके विकास को प्रोत्साहित करने हेतु कृषि आय को करमुक्त रखना आवश्यक माना जाता है।

भारत जैसे विशाल राष्ट्र के लिए एक सुनिश्चित तथा सुदृढ कर-नीति बनाना कठिन कार्य है। इसीलिए अभी तक भारत सरकार की कर-नीति मे स्थिरता नही आ पाई है। आवश्यकता है एक सुदृढ कर-व्यवस्था की जिससे सभी आर्थिक सामाजिक तथा मानवीय पहलुओ को ध्यान मे रखते हुए सभी के साथ न्याय हो सके।

राष्ट्रीय विकास और कर-प्रणाली

राष्ट्रीय विकास को सही दिशा देने रक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने तथा एक आदर्श लोकतन्त्रीय समाजवाद का निर्माण करने मे राष्ट्रीय कर-प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है। करो का ढाँचा इतना सरल होना चाहिए कि करो के लिए सर्वेक्षण कर निर्धारक तथा कर वसूली की सम्पूर्ण प्रक्रिया मे सरकारी मशीन तथा जनता के समय साधन तथा शक्ति का दुरुपयोग तथा अपव्यय न हो। हमें एक ऐसी स्वत कर निर्धारण प्रक्रिया का विकास करना है जिससे कागजी कार्रवाई की जटिलता दूर होने के साथ साथ कर राजस्व मे कमी न हो सन्देह मय भ्रष्टाचार कर-अपवचन कर चोरी तथा काले धन के अकुरण तथा पनपने के लिए वातावरण निर्मित न हो। प्रजातान्त्रिक समाज में प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के भाग्य का निर्माता होता है। अत करों का वितरण समाज के सभी वर्गों पर इस प्रकार होना चाहिए कि प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के विशाल हित मे इस बोझ को स्वेच्छा से वहन कर सके राष्ट्रीय उत्पादन मे सक्रिय भागीदार बन सके।

राष्ट्रीय कर नीति का लक्ष्य एक ओर आर्थिक विकास बचत पूजी निर्माण तथा पूँजी विनियोग को प्रोत्साहन देना है तो दूसरी ओर आर्थिक असमानता सामाजिक तथा राष्ट्रीय अपव्यय आवश्यक उपभोग तथा दिखावटी ऐश्वर्य पर नियन्त्रण करना है। करो का उपयोग देश के योजनाबद्ध विकास मे इस प्रकार होना चाहिए कि एक कल्याणकारी राज्य के निर्माण का हमारा स्वप्न साकार हो सके। निर्बल वर्गों को आर्थिक स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन का उच्च जीवन देने के लिए सम्पन्न वर्गों की उत्पादन क्षमता मे कटौती करने की प्राय आवश्यकता नहीं होती। आर्थिक नियोजन द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि करके करो द्वारा समृद्ध परिवारो के उपभोग में कुछ कटौती करके भारी कराधान द्वारा दिखावटी ऐश्वर्य और अनावश्यक उपभोग पर कठोर नियन्त्रण करके यह समस्या स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं के अनुसार हल की जा सकती है।

इस शताब्दी के अन्त तक हमे अपनी जनसख्या स्थिर रखने कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन मे तीव्र वृद्धि करने और राष्ट्रीय रक्षा-व्यवस्था को सुदृढ बनाने की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके लिए सरकारी कर्मचारियो जन प्रतिनिधियो तथा जनता के घनिष्ठ सहयोग की आवश्यकता है। सार्वजनिक निजी तथा सहकारी क्षेत्रो मे अधिक समन्वय की आवश्यकता है। पचायतो नगरपालिकाओं तथा विकास खण्डों को अधिक प्रोत्साहन देने तथा साधन जुटाने की आवश्यकता है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय अपव्यय दिखावटी ऐश्वर्य और अनावश्यक उपभोग महगाई तथा मुद्रा स्फीति पर कठोर नियन्त्रण की आवश्यकता है। हमें विश्वास है कि एक तर्कसगत राष्ट्रीय कर नीति चकबन्दी की नवीन क्रान्तिकारी योजना तथा देश के योजनाबद्ध विकास द्वारा सभी के लिए स्वच्छ सस्ते मकान शुद्ध पेय जल पौष्टिक भोजन शुद्ध स्वदेशी औषधियाँ सडके जल निकासी की नालियाँ जलाशय पार्क विद्युत हाईस्कूल तथा सर्वांगीण शिक्षा तथा उत्पादक रोजगार की व्यवस्था राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावशाली ढग से की जा सकती है। कागजी कार्रवाई से राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। उत्पादक शिक्षा और उत्पादक रोजगार द्वारा ही नई स्वच्छ सुन्दर समृद्ध तथा सशक्त भारत का निर्माण होगा और एक तर्कसगत राष्ट्रीय कर प्रणाली ही हमें आर्थिक विकास के इस पथ पर अग्रसर रखेगी।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकासोन्मुख बनाने के लिए सरकार तथा जनता मे घनिष्ठ सहयोग की आवश्यकता है। आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने कर तथा लाइसेन्स प्रणाली की जटिलता को दूर करने और राष्ट्रीय बचत तथा साधनो के उचित नियोजन के लिए एक उच्च स्तरीय राष्ट्रीय वित्त आयोग के गठन की आवश्यकता है। इसमे केन्द्र तथा राज्यो के प्रतिनिधि अर्थशास्त्री कर विशेषज्ञ बैंक प्रतिनिधि कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों के प्रतिनिधि वित्तवेत्ता और अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष सम्मिलित किये जा सकते है। यह आयोग सम्पूर्ण कर-प्रणाली के सरलीकरण के लिए तथा उसे युक्तिसगत बनाने के लिए व्यावहारिक तथा मूल्यवान सुझाव दे सकता है। केन्द्र तथा राज्यो के मध्य करो की वसूली और वितरण के लिए कोई सरल योजना प्रस्तुत कर सकता है नए सहकारी उत्पादन और सार्वजनिक क्षेत्र को प्रोत्साहन देने के लिए कोई दीर्घकालीन राष्ट्रीय कार्यक्रम निर्धारित कर सकता है और समस्त थोक व्यापार जल यातायात तथा आयात निर्यात पर सरकारी नियन्त्रण करने तथा गैर उत्पादक सरकारी तथा सहकारी खर्चों को सीमित करने के लिए कुछ दूरगामी सुझाव प्रस्तुत कर सकता है।

करों के निर्धारण और वसूली के लिए जनपद स्तर पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों में प्रभावशाली ढग से समन्वय होना चाहिए। अधिक सुविधाजनक होगा कि प्रत्येक जनपद मे केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सहयोग से एक सयुक्त कर-निर्धारण बोर्ड का गठन किया जाए। इसमे जनपद के सर्वोच्च कर-अधिकारी सम्मिलित किये जा सकते हैं। यह बोर्ड एक निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार स्थान-स्थान पर जाकर आय-कर सम्पत्ति कर बिक्री-कर उत्पादन-कर लाइसेन्स फीस इत्यादि के विषय में आवश्यक निर्णय ले सकता है। यदि समस्त विभागीय निरीक्षकों को इस बोर्ड के माध्यम से काम करने की पद्धति का विकास किया जाए तो भ्रष्टाचार तथा कर-चोरी को समाप्त करने मे सफलता मिलेगी। इस बोर्ड के साथ एक सचल अदालत भी सलग्न कर दी जाए तो भूमि सम्पत्ति तथा कर सम्बन्धी छोटे-छोटे वाद तथा मुकदमे मौके पर ही प्रभावी ढग से समाप्त किये जा सकेगे। इससे दुकानदारों व्यापारियो उद्यमियो तथा किसानों का समय शक्ति तथा धन लम्बी तथा अनावश्यक मुकदमेबाजी से बच सकेगा। पुलिस और सरकारी मशीन का दुरुपयोग भी बन्द हो जायेगा। राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होगी।

प्रत्येक कर-योग्य आय पर आय-कर प्रत्येक फैक्ट्री उत्पादन पर उत्पादन शुल्क प्रत्येक अचल सम्पत्ति पर वार्षिक सम्पत्ति-कर प्रत्येक कृषि एकड तथा बाग पर भू-राजस्व प्रत्येक छोटे उद्यमी पर वार्षिक लाइसेन्स फीस प्रत्येक दुकानदार पर वार्षिक सामान्य कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिये कि यह कर प्रारम्भिक स्रोत पर ही एकत्र किया जा सके। प्रत्येक व्यक्ति की अचल सम्पत्ति जैसे—भूमि बाग मकान भवन प्लाट इत्यादि मूल्य सहित एक पास बुक मे अकित होने चाहिए तथा सम्पत्ति के कुल मूल्य के आधार पर वार्षिक सम्पत्ति-कर लिया जाना चाहिए। जिस सम्पत्ति से आय-कर या अन्य कोई शुल्क प्राप्त होता है उसे सम्पत्ति कर से मुक्त रखना न्यायसगत है। कृषि भूमि या बाग पर केवल भू-राजस्व या लगान लगाया जाना चाहिए। बिजली सीमेंट कोयला इस्पात तेल तथा खादो के मूल्यों के साथ-साथ कृषि जनित उत्पादो के मूल्य भी एक ही राष्ट्रीय नीति के तहत निर्धारित होने चाहिए। किसानों को उनके उत्पादन का उचित तथा तर्कसगत मूल्य मिलना चाहिए। साथ-साथ प्रत्येक कृषि एकड भूमि तथा बाग पर लगान भी बढते हुए मूल्यों के आधार पर नये सिरे से निर्धारित होने चाहिए।

दुकानदारो को उनके द्वारा दिए गए पिछले 5 वर्षों के करो के रिकार्ड के आधार पर कुछ श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ऐसी श्रेणी के अनुसार ही प्रत्येक दुकानदार पर केवल एक वार्षिक सामान्य कर या वार्षिक लाइसेस फीस निर्धारित की जा सकती है। इससे उनका कागजी काम सरल होगा। उनकी शक्ति तथा साधनो का सदुपयोग हो सकेगा। राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि होगी तथा सरकारी आय में भी कमी न होगी। बिक्री-कर केवल थोक व्यापारियो पर उनकी मुद्रित पत्रावलियों के आधार पर लगाया जा सकता है। सभी वस्तुओं पर समान दर से लगभग 2 प्रतिशत बिक्री-कर पर्याप्त होगा। उत्पादन शुल्क मे वृद्धि करके बिक्री-कर का भार कम से कम 75 प्रतिशत दुकानदारों पर बिना किसी कठिनाई के एक साथ समाप्त किया जा सकता है। ऐश्वर्य की वस्तुओं पर भारी उत्पादन शुल्क लगाया जा सकता है जिससे मुद्रा-स्फीति तथा महँगाई पर नियन्त्रण पाने मे कुछ सहायता मिल सके। जनसाधारण की बुनियादी आवश्यकताओं का उत्पादन बढाया जा सके।

धीरे-धीरे सरकार द्वारा थोक व्यापार आयात-निर्यात तथा जल-यातायात पर पूर्ण नियत्रण किया जा सके तो राष्ट्रीय आय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाएगी। करो की चोरी तथा तस्करी रोकने में सफलता मिलेगी। उत्पादको तथा उपभोक्ताओं को आर्थिक न्याय मिल सकेगा। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सफल बनाने के लिए सबसे पहले अन्न चावल चीनी मिटटी का तेल तथा गृह निर्माण मे प्रयुक्त होने वाले पदार्थ जैसे—सीमेन्ट तथा एसबेस्टोस की चादरें इत्यादि का वितरण नियन्त्रित किया जाना चाहिए। शेष वस्तुएँ खुले बाजार मे दुकानदारो द्वारा किफायत से वितरित की जा सकती हैं। फैक्ट्री मे बनी वस्तुओं पर मूल्य अकित किए जा सके तो भावो पर नियन्त्रण करने मे सहायता मिलेगी।

विकास खण्ड हमारी सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति के मार्गदर्शन प्रकाश-स्तम्भ बन सकते हैं। यदि किसानो की कृषि सम्बन्धी प्रमुख क्रय-विक्रय आवश्यकताएँ प्रखण्ड स्तर पर पूरी की जा सके तो इससे सरकार, किसान तथा उपभोक्ता सभी को राहत मिलेगी। इसके लिए प्रत्येक विकास खण्ड के साथ एक विशाल स्टोर के निर्माण की आवश्यकता होगी। विकास खण्ड स्तर पर गेहूँ, धान मोटा अन्न

कपास तम्बाकू मूँगफली इत्यादि की थोक खरीद सरकारी एजेंसियो के द्वारा की जा सकती है। किसानों को बीज खाद डीजल सीमेन्ट हल्की कृषि मशीने उपकरण एसबेस्टोस सीमेन्ट या टीन की चादरें खम्बे इत्यादि देने की व्यवस्था विकास खण्ड स्तर पर की जा सकती है। इससे उपभोक्ता वस्तुओं के भावो पर नियत्रण करने मे सहायता मिलेगी।

जन-सहयोग के द्वारा सोने-चाँदी का व्यापार भी सरकारी नियन्त्रण मे लाया जा सकता है। इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र मे एक-दो ऐसे विशाल कारखाने लगाये जा सकते है जिनमे मिश्र धातु की विभिन्न आकार की सुनहरे रंग की चूडियाँ निर्मित की जा सकती है। इनमे 10 प्रतिशत से अधिक सोना नहीं होना चाहिए। प्रत्येक पर सरकारी मोहर अंकित की जा सकती है। इनका क्रय-विक्रय सरकारी एजेंसियो के द्वारा प्रत्येक तहसील मे किया जा सकता है। धीरे-धीरे जन साधारण मे इनका प्रचार बढ़ता जाएगा और शेष सब आभूषणो का प्रचलन बन्द हो जाएगा। सोने-चाँदी के क्रय-विक्रय पर सरकार का नियन्त्रण बढ़ता जाएगा। भारत की महिलाएँ अरबो रुपए का सोना-चाँदी व्यर्थ मे दबाए पडी है। इससे न तो देश को कोई लाभ होता है न उन परिवारो को ही सुख मिलता है। इसके विपरीत उन परिवारो की सुरक्षा को खतरा बना रहता है। यदि यह धन खेती पशुपालन डेरी फार्मिंग तथा लघु उद्योगों के विकास मे लगाया जाए तो भारत की भूमि फिर सोना उगलने लगेगी। गरीबी और बेरोजगारी की समस्याएँ हल करने मे सहायता मिलेगी विदेशी ऋणो से भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

दो प्रतिशत विकास कर

भारत की प्रत्येक कुटिया तक नि शुल्क सर्वांगीण हाईस्कूल शिक्षा शुद्ध पेय जल सडके विद्युत जल निकासी की नालियाँ जलाशय पार्क इत्यादि की सुविधा का प्रसार करने के लिए प्रत्येक मतदाता पर उसकी शुद्ध आय का लगभग दो प्रतिशत विकास-कर के रूप मे राज्य सरकार द्वारा लगाया जा सकता है। इसके लिए प्रत्येक मतदाता का एक क्रमांक तथा परिचय पत्र होना चाहिए। इस पत्र पर प्रत्येक मतदाता का नाम पता फोटो जन्म तिथि बच्चो की संख्या विभिन्न स्रोतो से होने वाली आय इत्यादि अंकित किए जा सकते है। कुल वार्षिक शुद्ध आय का 2 प्रतिशत विकास कर के रूप मे प्रत्येक मतदाता पर एक अतिरिक्त कर लगाया जा सकता है। इससे जन साधारण का जीवन ऊँचा उठाया जा सकेगा। राष्ट्र के योजनाबद्ध विकास के सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। दो सन्ताने जीवित रहते हुए तीसरी सन्तान उत्पन्न होने पर माता-पिता पर उनकी आय पर जन्म-कर लगाने के लिए एक राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता है। इस शताब्दी के अन्त तक ऐसे कानून के लिए राष्ट्र को तैयार करने के लिए अभी से शिक्षित किया जाना चाहिए। इससे प्राकृतिक परिवार नियोजन के लिए वातावरण निर्मित करने मे सहायता मिलेगी। युवक-युवतियो को 22 30 वर्ष तक शिक्षा प्राकृतिक भोजन नियमित जीवन शारीरिक श्रम तथा भारतीय योग का सहारा लेकर अपना सर्वांगीण विकास करना चाहिए। बैको मे संचित धन राष्ट्र का रुधिर है। इससे राष्ट्र का आर्थिक विकास होगा। सबको काम मिलेगा। महिलाओं को शिक्षित व कुशल बनना चाहिये। उन्हे निर्भीक होकर राष्ट्रीय जीवन मे आगे बढना चाहिए।

शराब से राष्ट्रीय स्वास्थ्य को होने वाली हानि पर नियत्रण करने की आवश्यकता है। शराब की बिक्री केवल सीलबन्द रूप मे लाइसेंस युक्त दुकानो पर ही होनी चाहिए। अधिक अच्छा हो कि शराब के ठेके बन्द करके यह पेय लाइसेंस प्राप्त कैमिस्टो की दुकान पर ही बेचे जाएँ। सभी प्रकार की शराबो मे फलो के रस इत्यादि मिश्रित करके उन्हे हल्का कर देना चाहिए। किसी भी सीलबन्द शराब मे 10 प्रतिशत से अधिक एलकोहल नहीं होना चाहिए। इन सीलबन्द एलकोहल युक्त पेय पदार्थों तथा औषधियो की बिक्री से सरकार को उतनी ही आय हो सकती है जितनी कि शराब के ठेको से। इस योजना द्वारा राष्ट्र के स्वास्थ्य की रक्षा भी की जा सकती है।

काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था (Parallel Economy of Black Money)

आज देश मे काले धन की एक समानान्तर अर्थव्यवस्था है जो कि पिछले दशको मे उत्तरोत्तर मजबूत होती गई है। काला धन करो की चोरी से उत्पन्न होता है एव इसका उपयोग गैर-कानूनी रूपो मे होता है जो पुन काले धन की उत्पत्ति करता है। इस परिप्रेक्ष्य मे यह स्पष्ट करना चाहिए कि कर

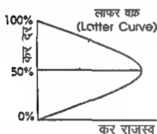
चोरी (Tax Evasion) एव कर परिहार (Tax Avoidance) मे क्या अन्तर है। कर चोरी एक गैरकानूनी कार्य है, जो कि कानूनी रूप से देय कर को छिपाना है। कर परिहार एक वैधानिक गतिविधि है, जिसमें कर राशि को टालना अथवा किसी अन्य माध्यम से भुगतान कराना है।

वर्तमान मे भारत मे कुल काले धन की मात्रा कितनी है यह अदाजा लगाना न केवल कठिन है अपितु असभव ही है। समय-समय पर इसके अनुमान लगाए गये है, जैसे कि वान्चू समिति (1971) के अनुसार 1968-69 में काले धन की मात्रा लगभग 1140 करोड रुपये के बराबर थी। 1989 मे भारत सरकार की एक रिपोर्ट मे अनुमान लगाया गया कि काले धन की मात्रा 80,000 करोड़ रुपये के बराबर थी। काले धन की अनुमानित मात्रा 1996 मे लगभग 150,000 करोड रुपये के बराबर बताई गई। काले धन की मात्रा सकल घरेलू उत्पाद के लगभग बराबर होने के कारण एव इसका सरकार द्वारा प्रचलित अर्थव्यवस्था के समान्तर कार्य करने के कारण इसे समानान्तर अर्थव्यवस्था का नाम दिया जाता है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था के कारण मुख्य धारा की अर्थव्यवस्था मे सरकारी योजनाएँ राजकोषीय नीतियाँ एव मौद्रिक नीतियाँ अपने उद्देश्यो की प्राप्ति में असमर्थ सिद्ध होती है। अधिकाशत समानान्तर अर्थव्यवस्था मे काला धन, सरकार द्वारा निर्धारित नीतियो के विपरीत दिशा मे प्रवाहित होता है, जिससे योजनाएँ अकुशल हो जाती है। समानान्तर अर्थव्यवस्था के विशाल स्वरूप के कारण मुख्यधारा की अर्थव्यवस्था साधनो की कमी से प्रभावित होती है, जिसके कारण गरीबी निर्वहन परियोजनाएँ एव रोजगार प्रदायी योजनाएँ भी साधनो की कमी से प्रभावित होती है। अत काला धन आर्थिक विषमताएँ बढाता है। काले धन के कारण आवश्यक वस्तुएँ एव भूमि के मूल्य बढ जाते है। काला धन सरकारी तत्र मे भ्रष्टाचार को बढावा देता है और जिससे आम जनता को अनेक परेशानियो का सामना करना पडता है।

काले धन की बढती मात्रा के लिए उत्तरदायी तत्त्व निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रत्यक्ष करो की ऊँची दरे—प्रत्यक्ष करों में ऊँची दरो के कारण कर चुकाने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। भारत मे व्यक्तिगत आय कर की सीमान्त दर 1980 मे 97 5% थी जो कि आय एव प्रतिस्थापन्न प्रभाव इस प्रकार निर्धारित करती है कि कर दरो में वृद्धि से कर राजस्व मे कमी आ जाती है। यह प्रभाव लाफर क्राईटेरिया (Laffer Criteria) के नाम से जाना जाता है। हालाकि कर राजस्व 1980 एव 1990 के दशक में सीमान्त आय कर दरे कम रखी गई है किन्तु इसके उपयुक्त परिणाम नहीं मिल रहे है। इसका कारण जनता में कर न देने की आदत एव सामाजिक दायित्व के आभास का अभाव है। सरकार द्वारा प्रताडित न होने के भय की कमी भी इसके लिये उत्तरदायी है।



(2) गलत लाइसेस व्यवस्था—भारत की लाइसेस व्यवस्था ने एक अभाव वाली अर्थव्यवस्था को जन्म दिया जिसके कारण उत्तरोत्तर मूल्य वृद्धि होती रही। मूल्य वृद्धि ने जमाखोरी, मुनाफाखोरी एव सरकारी भ्रष्टाचार को बढावा दिया एव काले धन की मात्रा अत्यधिक बढ गई। सकुचित लाइसेस व्यवस्था के कारण गैर कानूनी उत्पादनो मे बढोत्तरी भी हुई जिसने समानान्तर अर्थव्यवस्था को मजबूत किया।

(3) अर्थव्यवस्था मे अभाव का होना—भारतीय अर्थव्यवस्था मे सरकारी नियन्त्रण ने एक अकुशल अर्थव्यवस्था को जन्म दिया जिसमे न केवल वस्तुओ का अभाव हुआ, उनकी कीमते बढीं बल्कि उनकी गुणवत्ता में भी गिरावट आई। अभाव की अर्थव्यवस्था में आवश्यक वस्तुओ की कीमते अत्यधिक बढी जिससे न केवल गरीबो की वास्तविक आय मे कमी हुई बल्कि व्यापारिक एव औद्योगिक वर्गों मे जमाखोरी, मुनाफाखोरी एव अन्य अवैधानिक कार्यों की वृद्धि हुई, जिससे असीमित मात्रा मे काला धन उपजा।

(4) भ्रष्ट राजनैतिक एवं सरकारी पर्यावरण—राजनैतिक एव सरकारी भ्रष्टाचार भी काले धन की वृद्धि के लिए कम उत्तरदायी नहीं है। राजनैतिक पार्टियाँ चुनावो के लिए व्यापारियो एव उद्योगपतियो से चंदा वसूलती हैं एव जब वे सत्ता मे आती है तो चंदा देने वालों को गैरकानूनी फायदे कराती है, जिससे काले धन की उपज होती है। इसी प्रकार भ्रष्टाचार के कारण सभी गैर कानूनी कार्य नेताओ एव सरकारी अफसरों की नजरो के नीचे होते रहते हैं, जिस पर कोई जवाबी कार्यवाही नहीं की जाती है। भ्रष्टाचार के कारण, जनता में कर न देने कि प्रवृत्ति भी बढ जाती है क्योकि आम जनता मे यह भावना दृढ हो जाती है कि उनके द्वारा चुकाये गये करों से भ्रष्ट गतिविधियाँ की जाती है।

(5) कृषि कर का अभाव—भारत मे कृषि क्षेत्र को आयकर प्रावधानो मे छूट मिली हुई है, परिणामस्वरूप काले धन की उत्पत्ति में सहायता मिली है। इस छूट का लाभ उठाकर व्यक्ति अपनी गैर कृषि आय को कृषि आय घोषित कर अवैधानिक रूप से कर दायित्व को बचा लेते है जिससे काले धन की उत्पत्ति होती है।

वांचू समिति ने काले धन को "अर्थव्यवस्था का कैंसर" की सज्ञा दी और कहा कि अगर अविलम्ब निरोधक उपाय नहीं किये गये तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था विषाक्त हो जाएगी। वांचू समिति के द्वारा दिये गये सुझाव हम पहले ही पढ चुके है। इनके अलावा भारत सरकार ने विमुद्रीकरण का सहारा भी लिया। 1977-78 में सरकार ने 1000 एव 10,000 रुपये के करेंसी नोटों का विमुद्रीकरण किया, मगर इसके ज्यादा उत्साहवर्धक परिणाम नहीं निकले। विमुद्रीकरण एक आपातकालीन उपाय के रूप मे काम में लिया जा सकता है। ज्यादातर कालाधन बडे करेंसी नोटो (जैसे 500 रुपये) मे रखा जाता है अगर इसका विमुद्रीकरण कर दिया जाये तो काले धन की एक बडी मात्रा अपने आप समाप्त हो जायेगी।

भारत सरकार ने काला धन जमा करने वालो को रियायती दरो से पुराने कर चुकाने और सजा मे छूट दिये जाने की समय-समय पर घोषणाएँ की है। VDS (Voluntary Disclosure Scheme) इसी प्रकार की एक योजना है मगर इसके अन्तर्गत ज्यादा लाभ नही हुआ। 1998 मे भारत सरकार ने VDIS (Voluntary Disclosure of Income Scheme) की घोषणा की है। ये योजनाएँ रियायतो के साथ-साथ कठोर दडात्मक प्रावधान भी लिए हुए है अत यह 'Carrot and Stick Policy' पर आधारित है। आर्थिक उदारीकरण एव सरकारी नियन्त्रणो में कमी से यह समस्या स्वाभाविक रूप से कम हो जानी चाहिए। करो की दरो मे कमी लाइसेंस व्यवस्था मे सुधार विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था एव मुद्रास्फीति मे नियन्त्रण काले धन के आधिक्य को कम करेगी। इन सबसे महत्त्वपूर्ण सरकारी एव राजनैतिक दृढ इच्छा शक्ति व ईमानदारी है। काले धन की कमी हेतु राजनैतिक स्वच्छता एव सरकारी तत्र की ईमानदारी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होगे। चुनाव सुधार लालफीताशाही मे कमी राजनैतिक एव सामाजिक चेतना निर्णायक बिन्दु है।

शिक्षा और आर्थिक विकास के द्वारा हमारा राष्ट्रीय चरित्र तथा जीवन स्तर इतना ऊँचा उठाया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय करो को देने मे गौरव और खुशी का अनुभव कर सके प्रत्येक परिवार को स्वच्छ मकान, शिक्षा पेय-जल तथा सन्तुलित आहार की सुविधा मिल सके प्रत्येक परिवार को दो सुन्दर, स्वस्थ, चरित्रवान देशभक्त बच्चो तक सीमित रखा जा सके। हाईस्कूल तक एक क्रान्तिकारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के द्वारा ही यह स्वप्न पूरा होगा। प्राथमिक शिक्षा को सर्वोच्च महत्त्व देने की आवश्यकता है। प्राथमिक शिक्षा का स्तर सारे देश मे कक्षा 6 तक उठाया जा सकता है। 6 से 12 वर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओ के सर्वांगीण विकास एव शिक्षा के लिए एक राष्ट्रीय कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। यदि सभी विभागों के अवकाश प्राप्त पेन्शन पाने वाले कर्मचारी प्राथमिक शिक्षा और प्रौढ शिक्षा के क्षेत्रो मे अपना सक्रिय योग दे तो राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण मे देर नहीं लगेगी तथा देश की सभी समस्याये हल की जा सकेगी।

10

भारत में संघ सरकार के प्रमुख कर

(Major Taxes of the Union Government)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था के अपने आय के विभिन्न स्रोत होते है जिन्हे आय-सरचना (Revenue Structure) *की सज्ञा दी जाती है । इस आय-सरचना के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि समाज सरकार* को अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किन आय-स्रोतो को स्वीकृति प्रदान करता है । "एक प्रजातान्त्रिक समाज मे आय-स्रोतो की सरचना अनुमानत विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आय के विभिन्न तरीको की प्रभावशीलता मे समाज के दृष्टिकोण के सामन्जस्य को प्रतिबिम्बित करती है।"

अर्थव्यवस्था की आय-सरचना को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—

(अ) कर-आय (Tax Revenue)

(ब) गैर-कर आय (Non-tax Revenue)

करों से प्राप्त होने वाली आय मे वह आय सम्मिलित की जायेगी जो राज्य को विभिन्न करों के माध्यम से प्राप्त होती है। गैर-कर आय में वह सभी आय सम्मिलित है जो राज्य करो के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त करता है । सभी राज्यों का एक महत्त्वपूर्ण आय-स्रोत कर है । आर्थिक विकास व सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ गैर-कर स्रोतो का महत्त्व निरन्तर बढता जा रहा है ।

भारत सरकार का बजट दो भागों में विभक्त रहता है—राजस्व खाता और पूँजीगत खाता । इन दोनों खातों की प्राप्तियों को तथा व्ययों को अलग-अलग दिखाया जाता है । राजस्व खाते की प्राप्तियाँ दो भागों में बँटी रहती हैं—कर-राजस्व और गैर-कर राजस्व । सरकार के राजस्व खाते की प्राप्तियो मे *निरन्तर वृद्धि होती रही है और पिछले 37 वर्षों मे इसमे कई गुना वृद्धि हो गई है, जैसा कि निम्नांकित* तालिका से प्रकट होता है ।

राजस्व प्राप्तियाँ (करोड़ रुपयो में)

वर्ष	राजस्व प्राप्तियाँ
1960-61	877
1970-71	3342
1980-81	12419
1990-91	54954
1995-96	110191
1996-97	130345
राज्यों का हिस्सा घटाकर	

केन्द्रीय सरकार की कर और गैर-कर राजस्व प्राप्तियों का स्पष्ट अनुमान अग्रिम पृष्ठांकित तालिका से हो सकेगा—

राजस्व प्राप्तियों का ब्यौरा (करोड रुपयो मे)

	मद	बजट अनुमान 1988-89	सशोधित अनुमान 1988-89	बजट अनुमान[1] 1989-90
(क)	सकल कर राजस्व	42,600	43,376	50,875
	घटाइए—करों और शुल्कों में राज्यों का हिस्सा (सघ उत्पाद शुल्क, आय-कर सम्पदा शुल्क)	10,710	10,724	12,448
	निबल कर राजस्व	31,890	32,652	38,387
(ख)	कर भिन्न राजस्व	10,908	10,483	14,243
	जोड—राजस्व प्राप्तियाँ	42,798	43,135	52,630

संघ सरकार की आय के कर-साधन

(Tax Sources of Income of the Union Government)

सविधान द्वारा कर (Tax) लगाने के अधिकार सघ और राज्यो को सौपे गए हैं। संघीय सरकार को जो कर सौंपे गए है वे निम्न प्रकार से हैं—

(क) ये कर सघ सरकार द्वारा लगाए और वसूल किए जाएँगे जैसे—सीमा कर निगम-कर, विनिमय पत्रों बैंको, प्रतिज्ञा पत्रों, साख पत्रो बीमा पालिसियों आदि पर कर।

(ख) ये कर सघ द्वारा आरोपित और सगृहीत किए जाएँगे लेकिन इनकी सम्पूर्ण प्राप्तियाँ राज्यो को सौप दी जाएँगी जैसे—रेल मार्ग समुद्र मार्ग या वायु मार्ग द्वारा आने-जाने वाले माल एव यात्रियो पर सीमान्त कर आदि।

(ग) ये कर सघ द्वारा आरोपित और सगृहीत किए जाएँगे लेकिन इनकी प्राप्तियाँ सघ और राज्यो के बीच विभाजित हो जाएँगी, जैसे—मानव उपभोग मे काम आने वाली मदिरा, अफीम भाँग व अन्य मादक पदार्थ।

(घ) ये कर सघ द्वारा लगाए जाएँगे किन्तु इनका सग्रह राज्य द्वारा किया जाएगा और इन पर अधिकार राज्य का ही होगा जैसे—कुछ स्टाम्प शुल्क, औषधि सम्बन्धी सामग्रियो पर उत्पादन कर एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य से सम्बन्धित वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर।

राज्यो को सौपे जाने वाले करों अथवा सघ व राज्यो के बीच विभाजित होने वाले करों पर सघ सरकार अधिभार (Surcharge) लगा सकती है। इन अधिभारों की प्राप्तियाँ पूर्णत सघ सरकार की होती हैं।

सघ सरकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो कर लगाती है। प्रत्यक्ष करारोपण मे आय पर कर, पूँजी पर लगाये जाने वाले कर सम्मिलित हैं। अप्रत्यक्ष करारोपण मे सीमा शुल्क, सघीय उत्पादन शुल्क, आयात-निर्यात शुल्क आदि लिए जाते है।

कर केन्द्रीय और राज्य सरकारों की आय के प्रमुख स्रोत है। 1950-51 में केन्द्रीय सरकार की कर-आय का योग 356 करोड रुपये था जो बढकर 1988-89 (स.) मे 32,652 करोड रुपये (निबल कर-राजस्व) हो गया और 1989-90 (ब) में 38,387 करोड रुपये अनुमानित किया गया है। इस प्रकार 1950-51 की तुलना में केन्द्र के कर-राजस्व मे 107 गुना वृद्धि हुई थी। 1988-89 (स) में केन्द्र सरकार को करों से 32,652 करोड रुपये का निबल राजस्व प्राप्त हुआ जिसमे सघ उत्पाद शुल्कों से 10619 करोड़ रुपये (राज्यो का हिस्सा घटाने के बाद) निगम कर से 4270 करोड रुपये, आय-कर से 8611 करोड़ रुपये (राज्यो का हिस्सा घटाने के बाद) प्राप्त हुआ। अग्रांकित तालिका से केन्द्रीय सरकार के कर-राजस्व का ब्यौरा स्पष्ट हो सकेगा—

1 बजट प्रस्तावों का प्रम ग

कर राजस्व प्राप्तियो का ब्यौरा (करोड रुपये मे)

मद	बजट अनुमान 1994 95	बजट अनुमान 1994-95	सशोधित अनुमान[1] 1995-96
कर राजस्व			
सीमा शुल्क	25200	26450	29500
सघ उत्पाद शुल्क	36700	36900	42780
निगम कर	12480	13250	15550
आय-कर	10925	11000	13500
सम्पदा शुल्क	1	1	1
धन पर कर	125	80	90
व्यय पर अधिनियम 1987	210	170	175
दान-कर	5	14	10
अन्य कर प्राप्तियाँ	260	400	405
सकल कर-राजस्व	87136 40	89830 72	103761 91
घटाइए—करों और शुल्कों में राज्यों का हिस्सा			
सघ-उत्पाद शुल्क	16189 47	16282 91	19654 58
आय कर	8204 55	8559 88	9733 81
सम्पदा शुल्क	-	-	-
स्थानीय निकायों का हिस्सा	0 14	0 14	0 14
जोड			-
केन्द्र का निबल कर-राजस्व	62742 24	64987 79	74373 38

आय पर कर
(Taxes on Income)

आय पर कर शीर्षक के अन्तर्गत सघ सरकार दो महत्त्वपूर्ण कर सगृहीत करती है—एक तो व्यक्तिगत आय-कर (Personal Income Tax) दूसरा निगम-कर (Corporation Tax) ।

(क) आय-कर
(Income Tax)

कृषि-आय को छोडकर भारत निवासी अन्य स्रोतो से जो आय प्राप्त करता है उस पर जो कर लगाया जाता है वह आय-कर (Income Tax) कहलाता है । अन्य राष्ट्रो की भाँति भारत मे आय कर प्रगामी *(Progressive)* है । *आय-कर की सीमान्त दर 1974 75 मे 97 75 थी जो विश्व मे सर्वाधिक* थी । इसमे प्रत्यक्ष-कर जाँच समिति (The Direct Taxes Enquiry Committee) की सिफारिश के आधार पर कमी की गई । 1992 93 के बजट मे इसे 40% किया गया । चेलैया समिति ने भी इसे सहमति दी । भारतीय आय-कर की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये है—

1 यह कर शुद्ध आय (Net Income) पर लगाया जाता है अर्थात् आय मे से उसके उत्पादन का व्यय घटा दिया जाता है ।

2 कर वास्तविक आय पर लगाया जाता है मौद्रिक आय पर नही ।

3 आय-करदाताओं को तीन वर्गों मे बॉटा गया है—निवासी असाधारण निवासी और विदेशी ।

4 आय को विभिन्न खण्डो (Slabs) मे विभाजित करके प्रत्येक खण्ड के लिए अलग-अलग कर दरें रखी जाती है ।

1 बजट प्रस्तावो का प्रभाव

5 एक विशेष सीमा तक आय पर कर नहीं लगाया जाता। छूट की सीमा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है।

6 कर आय के उत्पन्न होते ही वसूल किया जाता है।

7 आय-कर पर जीवन बीमा प्रीमियम तथा प्रोविडेन्ट फण्ड अशदान पर नियमानुसार छूट मिलती है।

8 यह प्रत्यक्ष कर है और व्यक्तियो की आय पर लगाया जाता है। व्यक्तियो के अतिरिक्त यह हिन्दू अविभाजित परिवारो तथा अपजीकृत फर्मों पर भी लगाया जाता है।

9 आय-कर प्रगतिशील दर से लगता है अर्थात् कर की दर करदेय आय मे वृद्धि के साथ बढ जाती है।

भारतीय आय कर के गुण

भारतीय आय कर के मुख्य गुण इस प्रकार है—

1 यह कर निश्चित सीमा के ऊपर प्रगतिशील दर से लगाया जाता है अत इस कर से आय सम्बन्धी असमानताओं को दूर और कम करने मे सहायता मिलती है।

2 यह कर उत्पादक और लोचदार है अत इसकी दरो मे थोडी सी वृद्धि कर देने से सरकारी आय काफी बढ जाती है।

3 आय-कर के भार का विवर्तन (Shifting) नहीं किया जा सकता अत सरकार जहाँ चाहे अपनी इच्छानुसार इस कर का भार डाल सकती है।

4 इस प्रगतिशील कर को क्रमवर्द्धन (Graduation) विमुक्ति (Exemption) छूट (Rebates) तथा अधिभार (Surcharge) द्वारा करदेय क्षमता के अधिक अनुरूप बनाया जा सकता है।

5 आय-कर आय के उत्पन्न होते ही वसूल कर लिया जाता है अत करदाता को कर भुगतान में परेशानी नही होती।

6 प्रत्यक्ष कर होने के कारण यह नागरिकता की भावना को बढाता है और नागरिकों को जागरूक बनाता है। यह उनमे राजनीति के प्रति रुचि उत्पन्न करता है।

7 यह कर आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने मे सहायक होता है।

भारतीय आय कर के दोष

1 यह कर बचत एव विनियोग की प्रेरणा को हतोत्साहित करता है जिसका देश के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पडता है। विनियोग की इच्छा कम हो जाती है विशेषकर तब जब कि कर की दरें बहुत ऊँची हो।

2 आय कर से व्यक्ति की करदेय योग्यता को मापा नहीं जा सकता।

3 प्राय आय छिपा ली जाती है और कर अपवचन को प्रोत्साहन मिलता है। एक अध्ययन के अनुसार भारतीय करदाता आय कर से प्राप्त होने वाली वास्तविक उपलब्धि का लगभग 40 प्रतिशत बचा (Evasion) लेते है। कर अपवचन का एक मुख्य कारण यह है कि कर की दरे ऊँची है।

आय कर का इतिहास

आय कर को प्रत्येक देश की कर सरचना मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। भारत मे इस कर का निर्धारण सर्वप्रथम सर जेम्स विल्सन ने 1860 मे किया था ताकि 1857 के गदर से उत्पन्न वित्तीय कठिनाइयो का सामना किया जा सके। 1865 मे यह कर हटा दिया गया किन्तु 1869 मे इसे फिर अस्थाई रूप से लागू किया गया।

द्वितीय महायुद्ध काल मे आय-कर के ढॉचे मे अनेक परिवर्तन किए गए । आय-कर की दरें बदली गईं, सुपर टैक्स पर अधिमार (Surcharge) लगाया गया, कर-छूट की सीमा कम कर दी गई, अधिक लाभ-कर लगाया गया निगम-कर की दर मे वृद्धि की गई और अग्रिम कर भुगतान प्रणाली (Advance Payment of Tax) चालू की गई ।

स्वतन्त्र भारत मे आय-कर के ढॉचे मे समय-समय पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए । विधि आयोग 1958 तथा प्रत्यक्ष कर प्रशासन जॉच समिति 1959 की रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने 1922 के आय-कर अधिनियम के स्थान पर 1961 का आय-कर अधिनियम पास किया । आय-कर ढॉचे मे विगत वर्षो की अवधि मे हुए परिवर्तनो के लिए उत्तरदायी मुख्य तत्त्व 'राजस्व की बढती हुई आवश्यकता' रहा है । अन्य उल्लेखनीय कारण रहे है—बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियॉं, न्यायिक निर्णय, विभिन्न जॉच समितियो के प्रस्ताव आदि ।

व्यक्तिगत आमदनियो पर कर (Taxation on Personal Incomes)—व्यक्तियो, हिन्दू अविभाजित परिवारो अपजीकृत फर्मों और व्यक्तियो के अन्य सगठनो की निबल आय (Net Income) पर आय-कर लगाया जाता है । कृषि-आय को कर-योग्य आय (Taxable Income) में सम्मिलित नहीं किया जाता । धार्मिक और पुण्यार्थ ट्रस्टो की आमदनियों को आय-कर मुक्त रखा गया है । कर का निर्धारण करदाता की निबल आय पर किया जाता है । कुल आय मे से कुछ कटौतियॉं (Deductions) निकाल देने के बाद निबल आय निकाली जाती है । ये कटौतियॉं उन लागतो और खर्चों से सबद्ध होती है जो आय के अर्जन मे किए जाते है ।

भारत मे आय-कर का वर्तमान ढॉचा

भारत में आयकर के वर्तमान ढॉचे मे—व्यक्ति अविभाजित हिन्दू परिवार एव कपनियों को लिया गया है एव इन पर लगने वाली दरे भी अलग है । विगत वर्षों में आयकर की दरो मे भारी परिवर्तन किए गए है । 1974-75 में आयकर की अधिकतम सीमान्त दर 97 75% थी एव आयकर छूट की सीमा 6000 रुपये थी । 1995-96 के बजट मे आयकर से मुक्ति की सीमा बढाकर 40,000 रुपये कर दी गई एव अधिकतम सीमान्त दर 40% कर दी गई । आयकर पर सरचार्ज खत्म कर दिया गया ।

1996-97 के बजट मे यह कहा गया कि आर्थिक सुधारों तथा उदारीकरण के मार्ग पर दृढता से बने रहना एव सामाजिक न्याय सरकार का ध्येय है । कर की दर में कमी की प्रवृत्ति जारी रही एव पहले स्लेब मे कर की दर घटाकर 15% कर दी गई । मानक कटौती को बढ़ाकर 18,000 रुपये कर दिया गया । निर्दिष्ट एव अनिर्दिष्ट हिन्दू अविभाजित परिवारो के मध्य भेद समाप्त कर दिया गया है । आयकर अधिनियम की धारा 80 द, 80 दद और 80 ददक मे निर्यात से उत्पन्न विदेशी मुद्रा पर आयकर से कटौती दी गई ।

1996-97 के बजट मे अनेक कल्याणकारी उपाय शामिल किए गए । सक्षेप मे ये उपाय निम्न प्रकार हैं—

(1) सीनियर नागरिकों के लिए 40% की विशेष छूट, जो कि 100,000 रुपये की आय तक अनुमत थी, अब बढाकर 120,000 रुपये कर दी गई ।

(2) धर्मस्व अशदान मे से निम्नलिखित दान हेतु शत प्रतिशत कटौती की अनुमति दी गई—

(i) निर्धनो के लिए चिकित्सा सहायता हेतु राज्य सरकारों द्वारा स्थापित कोष ।

(ii) स्वास्थ्य एव परिवार कल्याण मत्रालय द्वारा स्थापित राज्य और राष्ट्रीय रक्त आधान परिषद ।

(iii) सेनाओं के लिये कल्याण कोष ।

इनके अलावा आयकर प्रावधानो मे बचत को प्रोत्साहन देने हेतु अनेक उपाय किए गए हैं । विभिन्न जीवन-बीमा योजनाओं में जमा राशि को कर-मुक्त रखा गया है एव कर-मुक्ति की अधिकतम सीमा 10,000 रुपये कर दी गई है ।

बचतो को प्रोत्साहन देने और अर्थव्यवस्था के प्राथमिकता वाले क्षेत्रो मे निवेश हेतु बचत पहुँचाने के लिये दीर्घावधिक पूँजी लाभों को कर मुक्त कर दिया गया है।

कपनी कर की दरों मे पिछले कुछ वर्षों मे कमी की गई है तथा उन्हें सरलीकृत किया गया है तथा इसके परिणाम भी उत्साहवर्धक रहे है। 1996 में कपनी कर पर अधिभार की दर घटा कर 7 5% कर दी गई। इसके साथ ही कपनियो को न्यूनतम वैकल्पिक कर (MAT) के अतर्गत लेकर शून्य कर कपनियो की प्रक्रिया से निपटने का प्रयास किया गया। उर्जा एव आधारमूल क्षेत्रो की कपनियों को एव रुग्ण कपनियों को MAT के क्षेत्राधिकार के बाहर रखा गया है। MAT के अतर्गत वास्तविक रूप से केवल 12% कर लगेगा।

देश के आर्थिक विकास मे तेजी लाने हेतु पर्याप्त आधारभूत सुविधाये बढाने की आवश्यकता है। आयकर अधिनियम की धारा 40 झ क के अतर्गत उपलब्ध निवेश मे बढावे का प्रयत्न किया गया है। 1996 के बजट में अनुसधान एव विकास गतिविधियो को बढावा देने हेतु उपबध बनाए गए है।

व्यक्तिगत आयकर से राजस्व (करोड रुपये मे)

वर्ष	राजस्व
1950-51	132 73
1970 71	484 60
1990-91	5426
1994 95	8000
1995 96	9500

निगम कर से राजस्व (करोड रुपये मे)

वर्ष	राजस्व
1950-51	151 00
1970-71	342 00
1990 91	6069
1994 95	7000
1995 96	7400

वर्ष 1989 90 से लगातार आय कर मे नीति परिवर्तन हेतु माँग की जाती रही है। वर्ष 1995 96 के बजट प्रस्तुत करते "मय" निजी आयकर मे परिवर्तन के रूप मे छूट सीमा 35000 रु से बढाकर 40 000 रु कर दी गई। आयकर धारा 80-L के तहत आय छूट की सीमा 10 000 से बढाकर 13000 रुपये कर दी गई। वेतनभोगी पुरुषो के लिए आय सीमा 55 000 रु तथा कामकाजी महिलाओं के लिए 58 000 रु सीमा निर्धारित कर दी।

विकलाग आय छूट सीमा 20 000 रु से बढाकर 40 000 रु कर दी गई।

प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष करो की सरचना मे कर नीति परिवर्तन के अन्तर्गत सरकार ने 1991 मे राजा जे चेलैया की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया। इस समिति ने निम्न बिन्दुओं पर अपनी रिपोर्ट दी—

(i) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के करो की लोच मे वृद्धि लाना और कुल राजस्व व कुल घरेलू उत्पाद मे प्रत्यक्ष करो के हिस्से मे समुचित परिवर्तन करना।

(ii) कर की दरो मे परिवर्तन करके कर प्रणाली को न्यायोचित बनाना।

(iii) प्रत्यक्ष कर प्रणाली को युक्ति सगत बनाना।

(iv) प्रत्यक्ष करो की अदायगी मे सुधार लाना और लोगों की कर देने की प्रवृत्ति को सुनिश्चित करना।

(v) आयात-निर्यात प्रशुल्को को सरल व युक्ति-सगत बनाना।

(vi) राजकोषीय समायोजन के लिए साधन जुटाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करना।

(vii) उत्पादन शुल्क को सरल तथा उनकी युक्ति-सगत सरचना करना ताकि बेहतर कर प्रशासन व कर अनुपालन की स्थिति तैयार कर स्थापित किया जा सके।

(viii) सशोधित वर्धित मूल्य कर योजना (Modified Added Value Tax Scheme) को और बढाना।

(ix) उपरोक्त विषयो से सम्बन्धित अन्य विषयों पर विचार करना।

समिति ने अपनी रिपोर्ट मे निम्नलिखित सिफारिशे की है—

1. आयकर (Income Tax)—समिति ने सिफारिश की कि व्यक्तिगत आयकर से छूट की सीमा 28,000 रुपये तक बढाई जानी चाहिए। 28,000 से 50,000 रुपये तक की आय कर की दर 20 प्रतिशत, 50,000 से 2,00,000 रुपये तक की आय पर 27 5 प्रतिशत और 2 लाख से ऊपर की आय पर 40 प्रतिशत होनी चाहिए।

2. निगम कर (Corporation Tax)—इस सम्बन्ध मे समिति ने सिफारिश की है कि घरेलू कम्पनियो की निगम कर की दर 51 75 प्रतिशत से घटाकर 1993-94 से 45 प्रतिशत कर दी जाए और 1994-95 से सरचार्ज समाप्त करके 40 प्रतिशत कर दी जाए। विदेशी कम्पनियो की दर घरेलू कम्पनियों की अपेक्षा कम होगी परन्तु अन्तर 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। इसमें दोहरे कराधान से बचने का सुझाव दिया गया है। समिति ने सयत्र और मशीनरी के लिए ह्रास की वर्तमान सामान्य दर 25 प्रतिशत को बनाये रखने का सुझाव दिया है।

3. उत्पादन एव सीमा शुल्क (Excise and Custom Duties)—समिति ने उत्पादन शुल्क के आधार को और अधिक व्यापक बनाने और उसके लिए निर्धारित मदो की सख्या मे वृद्धि करने की आवश्यकता पर समिति ने सिफारिश की है कि केन्द्रीय सरकार के स्तर पर परोक्ष कर उत्पादन व उपभोग के बीच तटस्थ (Neutral) नीति होनी चाहिए और समय के साथ उनमे वस्तुओं व सेवाओं को शामिल किया जाना चाहिए अर्थात् हमे मूल्य सवर्धन कर (Value Added Tax) की दिशा मे बढना चाहिए।

भारत सरकार को आय-कर से प्राप्तियाँ

भारत सरकार को आय-कर से प्राप्तियाँ उसमे राज्यो का अश तथा निबल प्राप्तियाँ निम्न तालिका मे दिखाई गई है—

आय-कर से प्राप्तियाँ (करोड़ रुपयो मे)

वर्ष	कुल प्राप्तियाँ	राज्यो का अश	केन्द्र को शुद्ध प्राप्तियाँ
1950-51	132 73	–	–
1970-71	473 00	–	–
1974-75	874 00	512 39	362 10
1980 81	1,506 40	1,002 00	504 40
1981-82	1,475 00	1,016 90	458 60
1982-83	1,563 00	1,131 77	431 23
1983-84	1,670 00	1,171 64	498 36
1988-89	3,660 00	2,749 00	611 00
1989-90	4,245 00	3,128 00	1117 00
1994-95	10,925 00	–	–
1994-95	12,030 00	–	–
1995-96	15,587 00	–	–
1996-97	18,211 00	–	–

(ख) निगम-कर
(Corporation-Tax)

व्यापारिक कम्पनियो और निगमो की आय पर जो कर लगाया जाता है उसे निगम-कर कहते है। यह कर कुल आय पर एक निश्चित दर से लगता है और आय-निर्धारण करते समय कुल आय मे से व्यापारिक खर्चों तथा परिसम्पत्तियो पर मूल्य-ह्रास घटा दिया जाता है। 1959 तक कम्पनियो के लाभ पर लगे कर के लगभग आधे भाग को आय-कर मान लिया जाता था और इसे केन्द्र तथा राज्यो के बीच विभाजित कर दिया जाता था किन्तु बाद में कम्पनियो के लाभ पर लगे सभी कर 'निगम-कर' के नाम से जाने जाने लगे और इसके किसी भाग को राज्यो मे बॉटना बन्द कर दिया गया। निगम-कर विशुद्ध रूप से केन्द्र सरकार की आय का साधन है।

निगम-कर उस कर से भिन्न है जो कम्पनी के हिस्सेदार अपनी आमदनियो पर देते हैं। निगम-कर व्यक्तिगत आय-कर के समान है और इसके सिद्धान्त आय-कर जैसे है। कभी-कभी यह आलोचना की जाती है कि कम्पनी हिस्सेदारो की होती है अत निगम-कर और आय-कर लगाने से हिस्सेदारो को दो बार कर का भुगतान करना होता है जो अनुचित है। एक व्यापारिक कम्पनी अपने हिस्सेदारों की ओर से काम अवश्य करती है लेकिन उसका अपना पृथक् अस्तित्व होता है। अत जहाँ निगम-कर कम्पनियो की आय पर लगाया जाता है वहाँ आय-कर के भुगतान का दायित्व हिस्सेदार की आय पर होता है। न्यायालयो ने यही माना है कि निगम-कर के हिस्सेदारों पर पुन करारोपण नहीं होता।

निगम-करारोपण अथवा कम्पनियो के कराधान मे हाल के वर्षों मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए है। 1959 60 तक कम्पनियो पर आरोपित किए जाने वाले अति-कर (Super Tax) को निगम-कर (Corporation Tax) कहा जाता था। 1960 61 मे कम्पनियो पर लगाए जाने वाले आय-कर को निगम-कर मे सम्मिलित कर दिया गया। 1965 मे कम्पनियो पर लगने वाले आय-कर और अति-कर का एकीकरण कर दिया गया। 1968 के वित्त अधिनियम द्वारा एकीकृत आय-कर की दरो का पुनर्निर्धारण एव सरलीकरण कर दिया गया।

1983 84 के बजट के अनुसार व्यापक रूप से सचालित घरेलू कम्पनी (Widely Held Domestic Company) को अपनी आय का 55 प्रतिशत जबकि निकट रूप से सचालित कम्पनी (Closely Held Domestic Company) को अपनी आय का 60 प्रतिशत कर देना निश्चित किया गया। आय पर 5 प्रतिशत अधिभार भी लगाया गया। निगम कराधान के क्षेत्र मे 1984 85 के बजट मे कर-दरो में कोई परिवर्तन नहीं किया गया तथापि कम्पनियों को यह सुविधा दी गई कि वे अपने कराधान पर अधिभार की समस्त राशि को औद्योगिक विकास बैक मे जमा करा सकेगी और यह राशि निगम क्षेत्र को आधुनिकीकरण के लिए उपलब्ध हो सकेगी। औद्योगिक विकास बैक द्वारा दिए जाने वाले चार करोड़ रुपये तक के ऋणो पर ब्याज की दर में भी कमी की गई।

वित्तीय वर्ष 198‿86 के बजट भाषण में वित्त मन्त्री ने कहा था कि निगम-कराधान के क्षेत्र में उनके प्रस्तावो का उद्देश्य कुछ छूटो को समाप्त करके और दरो को युक्तिसगत बनाकर इनकी स्थिति मे परिवर्तन लाना होगा। 1985 86 के बजट मे निगम कर सम्बन्धी प्रस्तावो के अन्तर्गत कम्पनियो पर लागू होने वाली आय कर की बुनियादी दरो मे 5 प्रतिशत अशो की कमी की गई। व्यापारिक और निवेश सम्बन्धी कम्पनियो को छोडकर बाकी सभी अल्प-जन धारित कम्पनियों के लिए कर की एक समान दर निर्धारित की गई। इससे अल्प जन धारित कम्पनियो की कुछ श्रेणियो के मामले मे आय-कर की बुनियादी दर 65 प्रतिशत से कम होकर 55 प्रतिशत हो जाएगी। इससे मुख्य रूप से ऐसी कम्पनियो को लाभ होगा जो रोजगार प्रधान कार्य चलाती हैं।

वर्ष 1989 90 के बजट मे कहा गया कि ऐसी कम्पनियॉ जो जनअभिरुचि से जुडी हुई हैं उनकी आय का 50% भाग निगम कर के रूप मे लिया जाएगा। विनियोजन करने वाली कम्पनियो अथवा ट्रेडिंग कम्पनियो को अपनी आय का 60% भाग निगम कर के रूप मे देना पडेगा। अन्य सभी प्रकार की कम्पनियो को 55 प्रतिशत की दर से निगम कर देना होगा।

निगम कर से आय

निगम-कर से गत वर्षों मे आय इस प्रकार रही है—

(करोड रु मे)

वर्ष	आय
1950-51	155
1961 62	161
1970-71	371
1980 81	1 311
1982 83	2,339
1983 84	2 565
1988 89	4 270
1989 90	4 755
1994 95	12480
1994 95	13821
1995 96	15500
1996-97	16487

(ग) पूँजी लाभ-कर
(Capital Gains Tax)

मूल्यो मे वृद्धि के कारण सम्पत्ति के क्रय विक्रय से जो लाभ प्राप्त होता है उस पर लगाए जाने वाले कर को पूँजी लाभ-कर कहते है। भारत मे सर्वप्रथम यह कर 1947 मे लगाया गया। यह एक क्रमवर्धी कर (Graduated Tax) था जिसमे छूट की सीमा निश्चित थी लेकिन जनता द्वारा इस कर की बडी आलोचना की गई और कहा गया कि यह ऐसे समय लागू किया गया है जबकि पूँजीगत मूल्यो मे निरन्तर गिरावट चल रही थी। फलस्वरूप 1950 में यह कर समाप्त कर दिया गया तथापि वह अधिनियम जिसके अन्तर्गत इस कर को लगाने का अधिकार प्राप्त था निरस्त (Repeal) नहीं किया गया।

कुछ प्रकार के पूँजीगत लाभों को कर क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया गया जैसे—उपहार मे सम्पत्ति से हस्तान्तरण के कारण प्राप्त होने वाला लाभ या हिन्दू अविभक्त परिवार की सम्पत्ति के बँटवारे से प्राप्त होने वाले लाभ या रिहायशी मकान को बेचने से प्राप्त होने वाले लाभ आदि। पूँजी लाभ-कर को आय कर के ही एक भाग के रूप मे स्थान दिया गया।

1977 78 के बजट में पूँजी लाभ कर में निम्न परिवर्तन कर दिये गए—

(1) अब तक ऐसा प्रावधान था कि यदि किसी करदाता के पास परिसम्पत्ति 60 माह से अधिक रही है तभी उसके स्थानान्तरण पर होने वाले लाभ पर रियायती दर से कर लगता था। अब यह अवधि घटाकर 36 माह कर दी गई।

(2) अब तक सभी करदाताओं को यह स्वतन्त्रता थी कि किसी पूँजी परिसम्पत्ति के सम्बन्ध मे जिसे उसने 1 जनवरी 1954 से पहले प्राप्त किया था वह अधिग्रहण की वास्तविक लागत के स्थान पर उचित बाजार कीमत को मान सकता था। अब यह तिथि 1 जनवरी 1964 कर दी गई है।

(3) आवासीय भवन (Residential House) की बिक्री पर होने वाले लाभ पर कर देना होता है। अभी तक कानून यह था कि यदि निर्धारित समय मे अन्य भवन खरीद लिया जाता है या बनवा लिया जाता है तो पूँजी कर से पूर्ण रूप से या आशिक रूप से छूट मिल जाती है। यह पूँजीगत लाभ की उस राशि पर निर्भर करती है जो नए आवासीय भवन के लिए प्रयोग किया गया है। ऐसी रियायत आभूषण तथा शेयर्स इत्यादि की बिक्री से होने वाले लाभ पर लागू नही होती थी। अब यदि किसी परिसम्पत्ति की

बिक्री से प्राप्त मूल्य को 6 महीनों में शेयर्स बैंक निक्षेपों अथवा यूनिट ट्रस्ट इत्यादि में फिर से निवेश कर दिया जाता है तो यह पूँजी भी पूँजी लाभ-कर से मुक्त हो जायेगी।

1978 79 के बजट में इस व्यवस्था मे पुन निम्न परिवर्तन किया गया—

(अ) 28 फरवरी 1978 के बाद बैंकों के पास जमा कराई गई रकम को इस छूट के प्रयोजन के लिए निवेश का पात्रता प्राप्त तरीका नहीं माना जायेगा।

(ब) 28 फरवरी 1978 के बाद भारतीय कम्पनियों के शेयरों से लगायी गयी पूँजी विनियोजन छूट के प्रयोजनों के लिए पात्रता प्राप्त तरीका नहीं माना जायेगा जब तक कि वह पूँजी निवेश नई औद्योगिक कम्पनियों के सामान्य शेयरो में न लगाया गया हो।

1982-83 के बजट में वित्त मन्त्री ने इस छूट को सम्पत्ति पर अधिकार की समयावधि से सम्बन्धित कर अधिक अवधि के लिए अधिक छूट दी जो निम्न तालिका मे दिखाई गई है—

पूँजीगत सम्पतियों पर अधिकार की अवधि	छूट की प्रतिशत दर जहाँ पूँजीगत लाभ	
	भूमि तथा भवन से/	अन्य सम्पतियों से सम्बन्धित
3 वर्ष से अधिक परन्तु 5 वर्ष से कम	25	40
5 वर्ष से अधिक परन्तु 10 वर्ष से कम	28	45
10 वर्ष से अधिक परन्तु 15 वर्ष से कम	33	50
15 वर्ष से अधिक परन्तु 20 वर्ष से कम	37	55
20 वर्ष से अधिक	40	60

प्रथम 5 000 की राशि पूर्ववत् पूर्ण छूट प्राप्त रही।

वर्ष 1988 90 के बजट में आयकर अधिनियम के सेक्शन 54 ई को सशोधित कर पूँजीगत लाभ कर में रियायत दी गई। यदि पूँजीगत लाभ राष्ट्रीय आवास बैंक मे विनियोजित होगा तो पूँजीगत लाभकर में रियायत मिलेगी।

पूँजीगत लाभ-कर भारतीय कर पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अग है। यह कर भारतीय कर व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करता है। इस कर के लगने से व्यक्तिगत करारोपण का ढाँचा अब पूरा हो गया है। निरन्तर बढते हुए मूल्यों की स्थिति में यह कर बहुत ही उचित है। इसके द्वारा विकास सम्बन्धी व्ययों के कारण उत्पन्न होने वाली मुख्य वृद्धि को रोकने मे सहायता मिलती है और आय की असमानताएँ कम होती हैं। इस कर से प्राप्त होने वाली वर्तमान आय अधिक नहीं है। वर्ष 1994 95 में 11 000 करोड रुपये की आय का अनुमान था। वर्ष 1995 96 में 13,500 करोड रुपये की आय का अनुमान था। भविष्य में अधिक आय प्राप्त होने की काफी सम्भावनाएँ हैं।

आय पर लगाए जाने वाले करो का मूल्याँकन
(Evaluation of Taxes on Income)

भारत में आय कर बहुत अधिक आरोही कर (Highly Progressive Tax) है जिसकी दरो में क्रमवर्द्धन अथवा आरोहण (Progression) की तुलना विश्व के अधिक उन्नत देशों के स्तर से की जा सकती है। आय-कर में बचतों को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था बहुत कम रखी गई है और व्यक्तिगत आय-कर में जो छूटें दी जाती हैं वे इतनी अपर्याप्त हैं कि उनकी बचतों में कोई ठोस प्रोत्साहन नहीं मिलता। सरकार ने इस स्थिति को समझा है और प्रत्यक्ष कर जाँच समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए 1974 से व्यक्तिगत आय पर आय कर की दरों को घटाने की दिशा में कदम उठाए हैं। प्रशासन अधिकाधिक यह अनुभव करने लगा है कि आय कर की दरें तर्कसगत हों तो भारत के अधिकाश आय करदाता कानून का पालन करते और कर देते रहना चाहेंगे। राजीव गाँधी सरकार ने 1985 86 में आय-कर की दरों को काफी घटाया और उनका सरलीकरण किया था। दीर्घकालीन राजकोषीय नीति की घोषणा से कर-नीति में स्थिरता एव निश्चितता आई।

विभिन्न कारणो से भारत मे आय-कर की बडी पैमाने पर चोरी होती है। कराधान जॉच आयोग का मत था कि भारत मे लोग जानबूझ कर भारी मात्रा मे आय-कर का वचन करते है जिसका बाद मे आय-कर विभाग द्वारा पता लगा लिया जाता है। कर-चोरी और कर-वचन के बारे मे समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाए गए है और इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश में कर-वचन या कर-चोरी निश्चय ही बडी मात्रा मे हो रही है जिससे राजकोष को प्रतिवर्ष करोडों रुपयो का नुकसान उठाना पड रहा है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने कर-प्रशासन को दोषरहित बनाने और करों के सग्रह के सम्बन्ध मे अनेक सिफारिशे की है। आपातकाल के दौरान सरकार ने कर बचाने और करो की चोरी की रोकथाम के लिए अनेक कदम उठाए। तलाशी और जब्ती, अचल सम्पत्ति के अधिग्रहण, जुर्माने, सर्वेक्षण खाते रखने की अनिवार्यता, जन-सम्पर्क, स्वेच्छा से काले धन की घोषणा आदि कुछ ऐसे उपाय है जिन पर प्रभावी रूप मे अमल किया गया। जनता पार्टी की सरकार ने आय-कर वचन को रोकने की दिशा मे पिछले कदमो को ठोस किया और अनेक नए प्रशासनिक कदम उठाए। तत्कालीन सरकार ने इस दिशा मे ठोस कार्य नही किये किन्तु CBI ने अनेक घोटालो की जॉच कर आयकर वचन पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है।

पूँजी पर लगाए जाने वाले कर
(Taxes on Capital)

आधुनिक युग मे पूँजीगत वस्तुओं पर कर लगाने की प्रथा ससार के सभी देशो में प्रचलित है। आर्थिक सम्बन्धो मे पूँजी धन का वह भाग है जो पुन धन पैदा करता है, किन्तु करारोपण की दृष्टि से पूँजी शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार की वस्तुओं के बिना विक्रय कोषो (Stocks) को भी सम्मिलित किया जाता है। कर क्षेत्र की दृष्टि से सम्पत्ति के अन्तर्गत चल व अचल सम्पत्ति सम्मिलित होती है।

यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि पूँजी पर कर लगाया जाए या नही। अनेक प्राचीन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पूँजी पर कर लगाने से एक तो उपस्थित पूँजी की मात्रा कम हो जाती है और दूसरे भावी पूँजी का विकास निरुत्साहित होता है लेकिन पीगू जैसे अर्थशास्त्रियो की मान्यता है कि पूँजी पर कर लगाया जाना हानिकारक नही है क्योकि इसका भुगतान अन्य करो की भॉति समाज की चल सम्पत्ति मे से किया जाता है। यह प्राचीन विचार आज उचित नहीं माना जाता कि पूँजी अथवा सम्पत्ति पर कर उत्पादन को निरुत्साहित करेगा। आज इसी विचार को मान्यता प्राप्त है उत्पादन विनियोग द्वारा प्रोत्साहित होता है और सम्पत्ति-कर केवल बचतो को प्रोत्साहित करता है, अत उत्पादन पर इसका कोई विशेष कुप्रभाव नहीं पडता। इसके अतिरिक्त व्यक्तियो की करदेय योग्यता को ऑकने के लिए सम्पत्ति अन्य वस्तुओं की अपेक्षा (केवल आय को छोडकर) एक अधिक अच्छा आधार है। सम्पत्ति के आधार पर करदाताओं की तुलनात्मक आर्थिक शक्ति का अधिक अच्छी तरह अनुमान लगाया जा सकता है। सम्पत्ति-कर इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि इससे समाज मे धन का अधिक समान वितरण होने मे सहायता मिलती है। आज अधिकाश देशो मे जो सम्पत्ति कर लगाए गए है उनमें मृत्यु-कर पूँजीगत वस्तुओं पर कर धन पर कर उपहार कर आदि प्रमुख है।

भारत में पूँजी अथवा सम्पत्ति पर लगाए जाने वाले करो मे सघ सूची के अन्तर्गत आस्ति कर या सम्पदा शुल्क (Estate Duty) धन-कर (Wealth Tax) और उपहार-कर या दान-कर (Gift Tax) सम्मिलित किए जा रहे है और राज्य सूची के अन्तर्गत भू-राजस्व तथा शहरी स्थाई सम्पत्ति पर लगने वाले कर शामिल किए जाते रहे है।

भारत में आस्ति-कर या सम्पदा शुल्क
(The Estate Duty in India)

भारतीय सविधान के अन्तर्गत सघ सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह कृषि-भूमि को छोडकर अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियो पर आस्ति-कर (सम्पदा शुल्क या जायदाद कर) लगा सके व उसका सग्रह कर सके। यह कर ऐसा है कि जिसकी शुद्ध प्राप्तियाँ राज्यों मे विभाजित करनी होती हैं। इस कर की प्राप्तियो को विभिन्न राज्यो के बीच वितरण करने के सिद्धान्तो का निर्माण वित्त आयोग की सिफारिशो पर ससद् द्वारा किया जाता है। कृषि-भूमि पर सम्पदा शुल्क लगाने का विषय राज्य सूची का है तथापि राज्य विधान-मण्डल द्वारा यह कार्य सघ सरकार को सौप दिया गया है।

भारत मे 1953 तक मृत्यु-कर (Death Duty) लागू नहीं था पर 1953 से मृत्यु कर लगा दिया गया और उसे ही आस्ति-कर का नाम दिया गया। भारतीय आस्ति-कर अधिनियम 1953 (The Estate Duty Act, 1953) में समयानुकूल सशोधन किए जाते रहे हैं। भारतीय आस्ति-कर तथा सम्पदा शुल्क 1985 86 के बजट मे 16 मार्च 1985 से समाप्त कर दिया गया।

भारतीय आस्ति कर या सम्पदा शुल्क का मूल्यॉकन—सम्पदा शुल्क यद्यपि 16 मार्च 1985 से समाप्त कर दिया गया तथापि इसका मूल्यॉकन अपेक्षित है। भारत मे सम्पदा-कर विधान ब्रिटिश अधिनियम की सहायता से बनाया गया है जिसमें निरन्तर परिवर्तन और परिमार्जन होते रहे है। इन व्यवस्थाओं ने जो सुधार के नाम पर की गईं विधान में अनेक जटिलताये पैदा कीं। अधिनियम के अधिक सतर्कता बरतने के प्रयास मे अनावश्यक पेचीदगियॉ खडी हुई। भारतीय आस्ति कर या सम्पदा शुल्क की जिन आधारो पर तीव्र आलोचना की जाती रही है उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार है—

1 यह कर ब्रिटिश कर के आधार पर बनाए जाने के कारण मौलिकता के अभाव से ग्रस्त है। साथ ही यह सहज ग्राह्य और सरल भी नहीं है।

2 भारत मे मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ कम है। अधिकाशत एकल उत्पादन प्रणाली ही प्रचलित है। फलस्वरूप इस कर से कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर विपरीत प्रभाव पडता है।

3 यहाँ उत्तराधिकार की कई विधियाँ पाई जाती हैं जिनके फलस्वरूप कर का विभिन्न जातियों पर पृथक्-पृथक् प्रभाव पडता है। इस दृष्टि से यह न्यायपूर्ण नहीं है। विभिन्न जातियो पर कर भार समान रूप से न पडना किसी भी कर प्रणाली के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

4 भारत जैसे देश मे जहाँ सामाजिक सुधार का अभाव है छूट की सीमा कम है।

5 यह ठीक है कि जीवन बीमा से प्राप्त धन पर कर नही लगाया जाता है लेकिन आस्ति-कर की दर निर्धारण में इसे अवश्य जोडा जाता है। अत कर की कुल मात्रा अवश्य ही प्रभावित होती है।

6 यह कर मितव्ययी परिश्रमी और बुद्धिमान व्यक्तियों पर एक दण्ड है।

7 अन्य उन्नत देशो की अपेक्षा हमारे देश मे सम्पदा-कर से पूँजी सचय हतोत्साहित होने की अधिक सम्भावना है। सम्पदा कर पूँजी सचय को दो प्रकार से हतोत्साहित करते हैं। एक पर्याप्त मात्रा में बचत सरकार को हस्तान्तरित करके और दूसरे बचतो को हतोत्साहित करके।

8 सम्पदा कर अधिनियम न केवल जटिल ही है बल्कि इसमे सम्पत्ति के मूल्यॉकन का ढग भी दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अधिनियम मे मृत्यु कर उगाहने हेतु अधिकारियो को आवश्यकता से अधिक अधिकार दिए गए है।

सम्पदा शुल्क की उपरोक्त आलोचनाओं में वस्तुत विशेष वजन नही है। इस कर की तथाकथित कमियाँ नाममात्र की हैं अन्यथा यह एक महत्वपूर्ण कर है। इसमे सबसे बडी कमी यही रही है कि जहाँ सम्पदा शुल्क से भारत सरकार को आय बहुत कम प्राप्त होती थी वहाँ उसके प्रशासन की लागत अपेक्षाकृत अधिक थी। ये ऐसे दोष नहीं हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सके। इसके बाद से आज तक अनेक सुधार किये गये है। वर्ष 1994 95 में सम्पदा शुल्क से 100 करोड रुपये की आय का अनुमान था। वर्ष 1995 96 में भी यही 100 करोड रुपये का अनुमान लगाया गया।

उपहार-कर या दान कर

(Gift Tax)

उपहार कर वह कर है जो किसी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल मे दिए गए एक निश्चित मूल्य से अधिक उपहारों पर अदा किया जाता है। इस कर के दो मुख्य उद्देश्य हैं—

(i) आय प्राप्त करना व धन के वितरण की असमानताओं को दूर करना एव (ii) मृत्यु करों के अपवचन को रोकना। भारतीय करारोपण जाँच आयोग ने उपहार-कर पर विचार प्रकट किया कि—

"सैद्धान्तिक दृष्टि से उपहार-कर का प्रस्ताव बडा आकर्षक लगता है किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इसको लागू करने से पहले सम्पदा-कर के सचालन का काफी अनुभव प्राप्त कर लिया जाए। इस प्रकृति के कर के सफलतापूर्वक सचालन के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि आय-कर अदा करने वाले व्यक्तियों द्वारा अपनी परिसम्पत्तियों और देयताओं का एक विवरण-पत्र प्रस्तुत करने की

व्यवस्था लागू की जाए। इस प्रकार के कार्य का भार जैसे-जैसे अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता जाए वैसे-वैसे ही उपहार-कर को लागू करने की सम्भावना पर विचार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि भारत मे वर्तमान समय मे मृत्यु-कर की दरें नीची है। सम्पदा-कर के साथ-साथ इसे लागू करने मे उपहार कर का भारी महत्त्व है बशर्ते कि सम्पदा-कर की दरे काफी प्रगतिशील हो किन्तु भारत में ऐसा नहीं है अत वर्तमान स्थिति मे हम भारत मे उपहार-कर को लागू करने के पक्ष में है।

प्रो काल्डोर ने यह अत्यन्त आमूल परिवर्तनशील प्रस्ताव रखा कि 10 हजार रुपयो से अधिक मूल्य के उपहार प्राप्त करने वाले व्यक्तियो पर प्रगतिशील या आरोही दरों से उपहार-कर लगाया जाना चाहिए और ये प्रगतिशील दरे उपहार प्राप्तकर्त्ता के कुल वास्तविक धन के मूल्य के अनुसार लगाई जानी चाहिए। उनका यह भी सुझाव था कि वर्तमान सम्पदा-कर का स्थान अनन्त एक समान्य उपहार-कर द्वारा ले लिया जाना चाहिए किन्तु ऐसा तभी सम्भव होगा जबकि व्यक्ति के धन-कर की कार्य-प्रणाली के फलस्वरूप वास्तविक मूल्य (Net Value) की समुचित जानकारी उपलब्ध हो जाएगी। प्रो काल्डोर ने आस्ति-कर (Estate Duty) को पुरानी विचारधारा पर आधारित बताया। इसमे कोई औचित्य नहीं दिखाई देता कि व्यक्ति अपने जीवन-काल मे दिए गए उपहारो के साथ और रिक्त पत्र (Legacy) वसीयतनामे (Begeusts) एव उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त धन के साथ पृथक्-पृथक् व्यवहार किया जाए। बडे तर्क के साथ प्रो काल्डोर ने अपना यही निष्कर्ष दिया कि सम्पदा-कर के स्थान पर एक प्रगतिशील उपहार कर लगाया जाना चाहिए और यही कर अन्य उपहारो पर भी लागू किया जाना चाहिए।

उपहार कर अधिनियम, 1958—भारत सरकार ने यद्यपि सम्पदा-कर नही हटाया लेकिन प्रो काल्डोर के सुझावो को ध्यान मे रखते हुए एक अप्रेल 1958 से उपहार-कर लागू कर दिया। यह कर उपहार कर अधिनियम 1958 के अन्तर्गत लागू किया गया। इस कर की दरे मृत्यु-कर की दरों के समान ही रखी गईं। उपहार का आशय अधिनियम मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया— बिना मूल्य के सम्पत्ति के सभी ऐच्छिक हस्तान्तरण उपहार के अन्तर्गत आएँगे। प्रो मेहता ने उपहार-कर को स्पष्ट करते हुए कहा कि यह एक अप्रत्यक्ष कर है और इसे निजी व्यक्तियो हिन्दू अविभाजित परिवारो निजी फर्मों कम्पनियो एव व्यक्तियो के एसोसियेशनो द्वारा दिए गए उपहारो पर लगाया जाता है।

उपहार कर की दरे—भारत मे 1963 64 तक उपहार-कर की दरे लगभग मृत्यु कर की दरो जैसी रखी गईं। 1964 65 के बजट मे सम्पदा की दरो मे परिवर्तन के साथ साथ उपहार-कर की दरो मे भी परिवर्तन किया गया।

1966 67 के बजट मे उपहार कर की दरे पुन निर्धारित की गईं। कर की छूट सीमा 5 000 रु से बढाकर 10 000 रु कर दी गई। 1970 71 के बजट मे उपहार कर की प्रारम्भिक छूट को 10,000 रु से घटाकर 5 000 रु कर दिया गया। उपहार अधिकार-पत्र पर लगने वाले स्टाम्प शुल्क को उपहार-कर मे छूट दी जाती थी यदि उपहार-कर की राशि 1 000 रु से अधिक होती थी। 1982 83 के बजट मे प्रावधान किया गया है कि यह छूट उपहार-कर 1 000 रु से अधिक न होने पर भी दी जाएगी। यह भी प्रावधान किया गया कि नए पूँजी निवेश बाण्ड आदि उपहारस्वरूप दिये जाते हैं तो 1 00 000 रु तक बॉण्ड उपहार-कर से मुक्त रहेगे। यदि गैर-निवासी भारतीय और विदेशियो द्वारा भारत मे अपने सम्बन्धियो को विदेशी मुद्रा मे विशिष्ट बचत प्रमाण पत्र उपहार के रूप मे दिए जाते है तो वे उपहार-कर से मुक्त रहेगे।

भारत मे उपहार-कर से मुक्त कुछ उपहार निम्नलिखित है—

1 भूदान-सम्पत्ति आन्दोलन को दिए गए उपहार।
2 बचो की शिक्षा के लिए दिए गए उपहार।
3 कर्मचारी को बोनस ग्रेच्युटी तथा पेन्शन।
4 केन्द्र राज्य एव स्थानीय सस्थाओं को दिए गए उपहार।
5 मन्दिरो अथवा धार्मिक सस्थाओं को दिए गए उपहार।

6 अपने पति या पत्नी को दिए गए 50 000 रु तक के उपहार।

7 अपने पर निर्भर किसी सम्बन्धी के विवाह पर अधिकतम 10 000 रु तक के उपहार।

8 खेलकूद को प्रोत्साहित करने के लिए दिए गए दान या उपहार।

उल्लेखनीय है कि चौकसी समिति (1978) ने 20 लाख से 25 लाख रु तक के उपहारों पर उपहार कर की दर 60 प्रतिशत 25 लाख से 30 लाख रु तक के उपहारों पर 70 प्रतिशत और 75% की वर्तमान अधिकतम दर 30 लाख रु से अधिक के उपहारों पर रखने की सिफारिश की थी।

उपहार अथवा दान कर से आय

केन्द्रीय सरकार को उपहार कर से प्राप्त होने वाली आय कुछ चुने हुए वर्षों में निम्न तालिका से स्पष्ट है—

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रुपयों में)
1960-61	0 89
1965-66	2 27
1970-71	2 40
1975 76	5 10
1980-81	6 50
1981 82	7 80
1982 83	8 00
1983 84	8 50
1984 85	9 00
1988 89	9 00
1989 90	9 00
1994 95	5 00
1994 95	13 98
1995 96	11 28
1996-97	9 80

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1960 61 की तुलना मे उपहार कर आय वर्ष 1995 96 मे कोई अधिक वृद्धि की नहीं की गई है।

उपहार कर का मूल्यांकन

उपहार कर हमारी कर सरचना में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह अन्य करों के अतिरिक्त मृत्यु के कर वचन को रोकता है किन्तु यह कर प्रो काल्डोर के सुझावों से भिन्न है। प्रो काल्डोर ने उपहार प्राप्त करने वालों पर कर लगाने का सुझाव दिया था जबकि हमारे यहाँ कर उपहार देने वालों पर लगाया जाता है। उपहार प्राप्त करने वाले को उपहार के मूल्यों को सम्मिलित करके कुल सम्पत्ति पर कर लगाना चाहिए किन्तु भारत सरकार ने इसे उपहारो के मूल्यो पर ही लगाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपहार कर को मृत्यु कर के स्थान पर लगाने का सुझाव दिया था जबकि सरकार ने उपहार कर को मृत्यु कर के साथ लगा रखा है। आज देश मे दोनों प्रकार के करों का अस्तित्व है।

भारत में उपहार कर को सरकार ने पर्याप्त अध्ययन के बाद और काफी उपयुक्त ढग से लगाया है तथापि इसकी निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

1 उपहार कर को सम्पदा कर के साथ ही लगा देने के कारण कर भार बहुत बढ गया है।

2 कर का दायित्व उपहार देने वाले पर ठीक नहीं है। वास्तव मे उपहार कर देय क्षमता उस धन पर निर्भर है जिसे उपहार प्राप्तकर्ता पहले से रखता है तथा अब उसमे उपहार शामिल हो गया है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन नहीं है वह 20 हजार रु का उपहार प्राप्त करता है तो इस पर उस व्यक्ति की अपेक्षा कम करारोपण होना चाहिए जिसके पास पहले से ही वह धन है।

3 इसमे प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ अधिक है। प्रचलित बाजार दरो के अनुसार सम्पत्ति का मूल्य निर्धारण करने की व्यवस्था झगडे का कारण सिद्ध हो सकती है। इसका पता लगाना बडा कठिन है कि व्यक्ति ने कब कितना और किस रूप मे उपहार दिया है।

4 भारत मे जहाँ सामाजिक बीमा का अभाव है इस कर का लगाया जाना औचित्यपूर्ण नहीं है।

5 भारत मे दान देने को प्रोत्साहित किया जाता है अत उपहार-कर से एक मनोवैज्ञानिक विरोध पैदा होता है।

6 यह कर भारत मे सफल भी नही हो रहा है क्योकि इससे अभी तक पर्याप्त आय नहीं हो पा रही है। 1989 90 के बजट मे इस कर से मात्र 89 करोड रु की आय अनुमानित की गई थी जो वर्ष 1994 95 मे 14 करोड की रखी गई तथा वर्ष 1995 96 मे 10 करोड रुपये की मानी गई।

उपहार-कर के सम्बन्ध मे की गई अधिकाश आलोचनाएँ ठीक नही है। अब तक का अनुभव यही बताता है कि सम्पदा-कर के साथ इसका अस्तित्व होने पर भी कर-भार कोई विशेष नही पड पाया। इस आलोचना मे बल है कि इस कर से अभी तक सरकार को पर्याप्त आय नहीं हो रही है किन्तु यदि प्रशासनिक कठिनाइयो को हल कर लिया जाए तो यह सम्भव है कि उपहार-कर भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे निकट भविष्य मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। इस कर से मृत्यु-कर और आय-कर की चोरी कम हो जाएगी धन के वितरण की असमानताओं को कम करने मे सहायता मिलेगी और नियोजन सम्बन्धी कार्यों के लिए आवश्यक वित्त प्राप्ति मे यह कुछ न कुछ सहायक होगा। उपहार कर की सफलता के मार्ग म जो भी कठिनाइयाँ बताई गई है वे कठिनाइयाँ तो सम्पत्ति करो की विशेषताएँ है जिनको पूर्णतया दूर नही किया जा सकता।

धन-कर
(Wealth Tax)

धन-कर उस कर को कहते है जो किसी व्यक्ति की सम्पत्ति धन अथवा पूँजी के कुल मूल्य पर वार्षिक रूप से लगाया जाता है। यह कर प्रतिवर्ष लगाया जाता है जबकि सम्पदा-कर व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त और केवल एक ही बार लगाया जाता है। व्यक्ति की परिभाषा मे व्यापारिक कम्पनियो और निगमो को शामिल किया जाता है अर्थात् यह कर कम्पनियो व निगमो की सम्पत्ति के मूल्य और धन पर लागू होता है। चूकि यह कर आवर्ती होता है और प्रति वर्ष लगाया जाता है अत इसकी दरे कम रखी जाती है। धन-कर को लागू करने मे दो कठिनाइयाँ मुख्यत उपस्थित होती है—एक कठिनाई सभी प्रकार की सम्पत्तियो का पता लगाने की और दूसरी कठिनाई है उसका मूल्य आँकने की। करदाता की सम्पत्ति के अनेक रूप हो सकते है और यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सरकार को अपनी सभी प्रकार की सम्पत्ति के बारे मे सही सही सूचना दे दे। यह सम्भव है कि करदाता कर से बचने के लिए आभूषण आदि के रूप मे रखी गई सम्पत्ति की कोई सूचना ही न दे।

1977 78 के बजट मे धन या सम्पत्ति-कर निर्धारण तालिका को दो भागो में बाँट दिया गया—

(क) व्यक्तियो और ऐसे हिन्दू अविभाजित परिवार जिनके एक या अधिक ऐसे सदस्य है जिनका स्वतन्त्र धन एक लाख रुपये से अधिक नही है एव

(ख) ऐसे हिन्दू अविभाजित परिवार जिनके एक या अधिक ऐसे सदस्य है जिनका स्वतन्त्र धन एक लाख रुपये से अधिक है।

बजट मे इस का प्रावधान किया गया कि धन कर की देय राशि उस राशि के 5 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी जो शुद्ध सम्पत्ति के रूप मे 1 लाख रु से अधिक है।

वित्तीय वर्ष 1978 79 के बजट मे धन कर की दरो मे कोई परिवर्तन नही किया गया।

1979 80 के बजट मे 10 लाख रुपये से 15 लाख रु तक शुद्ध सम्पत्ति के खण्ड पर कर की दर 2 5 प्रतिशत से 3 प्रतिशत तथा 15 लाख रुपये से ऊपर के खण्ड पर 3 5 प्रतिशत से 5 प्रतिशत कर दी गई। 10 लाख रु तक के खण्डो पर कर-दरो पर कोई परिवर्तन नही किया गया। इसी प्रकार

दूसरे भाग मे 5 लाख रुपये से 10 लाख रुपये तक की सम्पत्ति पर 2.5 प्रतिशत के स्थान पर 3 प्रतिशत और 10 लाख रु. से अधिक की सम्पत्ति पर 3.5 प्रतिशत के स्थान पर 5 प्रतिशत तक कर की दरो में वृद्धि की गई।

1980-81 मे कर की छूट सीमा 1 लाख रु. से बढाकर 1.5 लाख रु. कर दी गई। ऐसे मामलो में जहाँ कर-योग सम्पत्ति इस सीमा से अधिक हो, कर-भार अपरिवर्तित रखा गया। वित्त मन्त्री द्वारा कृषि-सम्पत्ति को धन-कर से मुक्त करने की घोषणा की गई।

1982-83 से बजट मे निर्दिष्ट वित्तीय परिसम्पत्तियो मे निवेश की उच्चतम सीमा को, जो कर-मुक्त है, 1.5 लाख रुपये से बढाकर 1.65 लाख रुपये कर दिया गया। चाय, कॉफी, रबड तथा इलायची के बगीचो को धन-कर से मुक्त कर दिया गया। करदाता के स्वामित्व के वाहन पर 30,000 रुपये के स्थान पर 75,000 की छूट दी गई। करदाता को अपना व्यवसाय चलाने के लिए आवश्यक उपकरणों पर 20,000 रुपये के स्थान पर 30,000 रुपये की छूट मिली। गैर-निवासी भारतीय नागरिको तथा भारतीय मूल के विदेशियो को, यदि वे विशिष्ट बचत प्रमाण-पत्रो (विदेशी मुद्रा) मे धन लगाते है तो उन्हे भी धन-कर से मुक्त रखा गया है। नए पूँजी-निवेश बॉण्ड मे लगाई गई राशि (बिना किसी अधिकतम सीमा के) भी धन-कर से मुक्त रखी गई।

1984-85 के बजट मे धन-कर योग्य सम्पत्ति की सीमा मे कोई वृद्धि नहीं की गई, लेकिन मकानों की बढती हुई कीमतो को ध्यान मे रखते हुए 1 लाख रुपये तक के रिहायशी मकान की छूट बढाकर 2 लाख रुपये कर दी गई। विशिष्ट वित्तीय परिसम्पत्तियो के सम्बन्ध मे छूट की सीमा को भी 1.65 लाख रुपये से बढाकर 2.65 लाख रुपये कर दिया गया। यूनिट ट्रस्ट के यूनिट्स पर 35,000 रु. की अतिरिक्त छूट देने का प्रावधान किया गया। कुल मिलाकर यह छूट अब 3 लाख रु. कर दी गई जबकि पहले यह 2 लाख रु. थी। विशिष्ट सम्पत्तियों की सूची में औद्योगिक विकास बैंक मे जमा राशि तथा राष्ट्रीय जमा योजना के अन्तर्गत जमा राशि को भी सम्मिलित कर लिया गया।

1985-86 के बजट मे कीमतों में हुई वृद्धि को देखते हुए धन-कर की छूट सीमा बढाकर 2.50 लाख रुपये कर दी गई और 2.50 लाख रुपये तक के निबल धन के सम्बन्ध मे 'शून्य' दर खण्ड की व्यवस्था की गई थी। नई दर अनुसूची के अन्तर्गत 2,50,001 रु. से 10 लाख रुपये तक के खण्ड पर धन-कर की दर आधा प्रतिशत और 10 लाख 1 रु. से 20 लाख रु. तक के खण्ड पर एक प्रतिशत रखी गई। इससे अधिक के खण्ड पर धन कर की दर 2 प्रतिशत जबकि पहले अधिकतम दर 5 प्रतिशत थी। एक मकान, विनिर्दिष्ट वित्तीय परिसम्पत्तियो की, भारतीय यूनिट ट्रस्ट के यूनिटो और राष्ट्रीय जमा योजना के अन्तर्गत जमा राशियों के सम्बन्ध मे इस समय जो अलग-अलग छूट सीमाएँ थीं उनके स्थान पर धन-कर आँकते समय 5 लाख रुपये की समेकित छूट सीमा रखी गई।

एक मकान के 2 लाख रुपये तक के मूल्य को धन-कर से छूट प्राप्त है। करदाता को 2,65,000 रु. तक के कुल मूल्य की विनिर्दिष्ट वित्तीय परिसम्पत्तियो के सम्बन्ध मे भी धन-कर से छूट पाने का हक है। भारतीय यूनिट ट्रस्ट के यूनिटो और राष्ट्रीय जमा योजना के अन्तर्गत जमा राशियो के सम्बन्ध में 35,000 रुपये की अतिरिक्त छूट दी जाती है। वित्त मन्त्री ने अलग-अलग छूट सीमाओं के स्थान पर, जिनका योग 5 लाख रुपये है, इन सभी परिसम्पत्तियो के सम्बन्ध मे 5 लाख रुपये की समेकित छूट सीमा रखने का प्रस्ताव किया।

वर्ष 1989-90 के बजट मे यह प्रावधान किया गया तथा राष्ट्रीय बचत योजना तथा जीवन बीमा निगम के एक्युटी प्लान मे लगा धन धन-कर से मुक्त रखा गया। पजीकृत समितियो पर जो 1860 के समिति पजीकरण अधिनियम के तहत पजीकृत थी, 3% की दर से धन कर देना निर्धारित था। वर्ष 1995-96 के बजट में 90 करोड रुपये का प्रावधान धन कर से रखा गया।

भारत सरकार को धन-कर से प्राप्त आय कुछ चुने हुए वर्षों मे निम्नानुसार रही है—

(करोड रुपयों में)

वित्तीय वर्ष	आय
1960 61	8 15
1970-71	15 30
1980-81	67 40
1981 82	78 10
1982 83	85 00
1983 84	93 00
1984 85	100 00
1988 89	120 00
1989 90 (अनुमानित)	120 00
1994 95	98 03
1995 96	71 84
1996 97	75 85

व्यय कर
(Expenditure Tax)

व्यय कर जैसा कि नाम से ही प्रकट है व्यक्ति के उस व्यय पर लगाया जाता है जो वह अपने उपभोग के सम्बन्ध मे करता है परन्तु वे व्यय जो उत्पादक होते है अथवा किसी अन्य रूप से उत्पादन मे वृद्धि करते हैं इस कर के क्षेत्र मे नहीं आते। सामान्यत व्यक्ति द्वारा किया गया विनियोग खर्च इसकी सीमा से बाहर रहता है अत यह उस द्रव्य पर कर है जो व्यक्ति उपभोग पर व्यय करता है। प्रो काल्डोर ने इसके समर्थन मे लिखा है— व्यय कर धनी वर्ग में अपव्यय को रोकने के लिए एक शक्तिशाली अस्त्र है। विलासिता के उपभोग पर यह प्रगतिशील कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक आदर्श यन्त्र है। भारन मे व्यय पर प्रो काल्डोर के सुझाव पर ही 'व्यय कर अधिनियम' 1957 के अन्तर्गत एक अप्रैल 1958 से लागू किया गया। इस कर से सरकार को आय के रूप मे बहुत कम धनराशि प्राप्त हुई और साथ ही व्यय को नियन्त्रित करने मे असफल रहा और प्रशासकीय निबन्त्रण के एक साधन के रूप में निष्प्रभावी सिद्ध हुआ अत 1 अप्रेल 1963 से इसे समाप्त कर दिया गया। 1964 65 से इसे फिर लागू किया गया और 1 अप्रेल 1966 से पुन इसे समाप्त किया गया।

व्यय कर से हुई प्राप्तियाँ 1958 59 में 64 लाख रुपये 1960 61 में 91 लाख रुपये 1964 65 मे 44 लाख रुपये और 1966-67 मे केवल 8 लाख रुपये थी। 1966-67 के बजट मे व्यय कर समाप्त कर दिया गया।

व्यय कर की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं—

1 यह कर केवल व्यक्ति और हिन्दू परिवारो पर ही लगाया जाता था।

2 आय कर देने वाली कम्पनिया इस कर से मुक्त थी।

3 यदि किसी व्यक्ति का वार्षिक व्यय 30 000 रु तथा सयुक्त हिन्दू परिवार का व्यय (कर चुकाने के बाद) 36 000 रु से अधिक है तो वह कर देय था।

4 संयुक्त हिन्दू परिवार का कर्त्ता अपने लिए 30 000 रु की छूट और अपने परिवार के लिए प्रति व्यक्ति के लिए 3 000 रु की अतिरिक्त छूट ले सकता था परन्तु सम्पूर्ण परिवार के लिए 60 000 रु से अधिक की छूट नही मिल सकती थी।

5 यह प्रगतिशील कर था जो विभिन्न व्यय परतो के अनुसार वसूल किया जाता था।

6 व्यय कर लगाने से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण कटौतियाँ की जाती थी और तब व्यय की मात्रा पर कर लगाया जाता था—(क) सरकारी अथवा स्थानीय सस्थाओं को दिया जाने वाला कर एव शुल्क (ख) फौजदारी और दीवानी मुकदमो के लिए समस्त कानूनी व्यय (ग) माता पिता के पालन पोषण हेतु

अधिकतम 4,000 रु., (घ) विदेशी शिक्षा के लिए 80,000 रु. वार्षिक तक का व्यय, एव (ड) स्वय के, निर्भरों या परिवारों के अन्य सदस्यो के चिकित्सा सम्बन्धी व्यय जिनकी अधिकतम सीमा व्यक्ति के लिए 5,000 रु. और सयुक्त हिन्दू परिवार के लिए 10,000 रु. तक थी।

7. निम्न प्रकार के व्ययों को व्यय-कर से मुक्त रखा गया—(क) व्यापारिक कार्यों को पूरा करने के लिए गैर-व्यक्तिगत व्यय, (ख) सरकारी कार्यों को पूरा करने के लिए किया गया व्यय, (ग) अचल सम्पत्ति से सम्बन्धित व्यय, (घ) विभिन्न प्रकार के किए गए विनियोग, (घ) ऋण एव ब्याज का भुगतान, (च) भारतीय कुटीर उद्योगों की वस्तुओं पर किया गया व्यय, (छ) उपहार एव दान सम्बन्धी व्यय, (ज) चुनाव सम्बन्धी व्यय तथा (झ) परिवार के सदस्यो के जीवन, शिक्षा, स्वास्थ्य, विवाह आदि के बीमा प्रीमियम व्यय।

वर्ष 1987 में व्यय कर अधिनियम बनाया गया। 1988-89 में व्यय कर से 36 करोड रु. की आय हुई। वर्ष 1989-90 के बजट में व्यय कर से 66 करोड रुपये की आय होने का अनुमान है। 1989-90 के बजट मे विलासी उपभोग को हतोत्साहित करने के लिए होटल में किए गए व्यय पर 20 प्रतिशत व्यय कर लगाना निर्धारित किया गया। वर्ष 1994-95 में व्यय कर 210 करोड़ रुपये निर्धारित था। सशोधित अनुमान अनुसार 170 करोड रुपये निश्चित किया गया। वर्ष 1995-96 में 175 करोड रुपये व्यय कर निर्धारित था परन्तु प्राप्तियाँ 216 17 करोड हुई और 1996-97 में 293.18 करोड रु की प्राप्ति हुई।

संघ सरकार के प्रत्यक्ष करों का मूल्यॉकन

(Evaluation of Direct Taxes of Union Govt.)

विश्व के अन्य देशों के समान भारत मे सरकार के राजस्व मे अभिवृद्धि की प्रवृत्ति रही है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योकि सरकार के कार्यों का विस्तार होने के साथ-साथ धन की आवश्यकताएँ बढी हैं और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने के साथ-साथ सरकार को उपलब्ध राजस्व स्रोतो मे वृद्धि हुई है। प्रत्यक्ष करो के मुकाबले परोक्ष करों या वस्तु-करों मे वृद्धि की मात्रा अधिक रही है। फलस्वरूप निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्ग पर पडने वाले कर-भार मे बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि समाज मे व्याप्त आय की असमानताओं की समस्या को सुलझाने के लिए सरकार प्रयत्नशील रही है और इसीलिए प्रत्यक्ष कराधान के माध्यम के उत्तरोत्तर अधिक उपयोग करने की दिशा में कदम उठाए जाते रहे हैं। हाल के वर्षों मे प्रत्यक्ष करो का कुल करो मे योगदान बढाने और अप्रत्यक्ष करो का योगदान घटाने के व्यापक प्रयास किए गए है। इस सम्बन्ध मे वर्ष 1995 96 का बजट प्रस्तुत करने से पूर्व भारत मे 10वें वित्त आयोग की सिफारिशो को वित्त मत्री डॉ मनमोहन सिंह ने स्वीकार कर लिया तथा 1995-96 के बजट से क्रियान्वित किया गया। इस आयोग में सिफारिश की गई कि केन्द्र से राज्यों को निधियों का प्रवाह 1994-95 की 28,832 करोड रुपये से बढाकर (22 प्रतिशत) वर्ष 1995-96 मे 35,055 करोड रुपये कर दी जावे।

संघ सरकार के अप्रत्यक्ष कर या वस्तु करारोपण

(Indirect Taxes or Commodity Taxation)

वस्तु करारोपण के अन्तर्गत उन करो का अध्ययन किया जाता है जो वस्तुओं के उत्पादन, क्रय-विक्रय, आयात-निर्यात आदि पर लगाए जाते है। ये कर अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कर कहलाते हैं। आधुनिक कर-सरचना मे इनका मुख्य स्थान है और लगभग प्रत्येक देश के वित्तीय साधनो मे इनका विशेष महत्त्व है। चूँकि सरकार को इनसे अत्यधिक आय प्राप्त होती है, अत इन करो को सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी माना जाता है। करारोपण के सिद्धान्तो और न्याय की दृष्टि से इन करो का इतना महत्त्व नही है जितना आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से है। आर्थिक दृष्टि से ये सरकार की आय प्राप्ति के मुख्य साधन है जबकि सामाजिक दृष्टि से इनके माध्यम से हानिकारक वस्तुओं का उपभोग नियन्त्रित किया जा सकता है इन करो से देश मे वस्तुओं का उत्पादन प्रोत्साहित नहीं होता क्योकि मूल्यों मे वृद्धि होने से वस्तुओं का उपभोग कम होता जाता है। इन करो की प्रकृति प्रतिगामी होती है, विशेषकर उस स्थिति मे जबकि यह ऐसी वस्तुओं पर लगाया जाए जिनका उपभोग अधिक किया जाता है।

अप्रत्यक्ष कर जिनमे मुख्यत वस्तुओं और सौदो पर लगाए जाने वाले कर सम्मिलित किये जाते है सघ सरकार और राज्य सरकार दोनो द्वारा ही कर लगाये जाते हैं। सघ सरकार सीमा शुल्क अर्थात् वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर कर लगाती है। इनसे सरकारी आय तो प्राप्त होती ही है साथ ही विदेशी व्यापार की नीति के अस्त्र के रूप मे आयात निर्यात पर सरकारी नियन्त्रण मे भी वृद्धि होती है। जो वस्तुएँ देश मे ही उत्पन्न की जाती है उन पर उत्पादन शुल्क (Excise Duty) लगाई जाती है। मदिरा और मादक पदार्थों को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार सविधान ने केन्द्रीय सरकार को दिया है। बिक्री कर राज्य सरकारों की आय का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। राज्य सामान्य बिक्री कर (General Sales Tax) लगाते है जबकि अन्तर्राज्यीय बिक्रियो पर लगाये जाने वाले कर सघ सरकार की परिधि मे है। वस्तुओं पर उत्पादन कर और बिक्री कर दोनों ही लगाये जा सकते है लेकिन जिन वस्तुओं पर सघीय उत्पादन शुल्क लगाया जाता है उन्हे या तो राज्य बिक्री कर से मुक्त कर दिया जाता है या उन पर रियायती दरों से करारोपण होता है। अन्य परोक्ष करो मे स्टाम्प शुल्क रजिस्ट्रेशन शुल्क गाडियों पर कर मनोरजन कर बिजली कर और कुछ अन्य विविध कर (Miscellaneous Taxes) सम्मिलित है। गैर न्यायिक दस्तावेजो पर स्टाम्प शुल्क सघ और राज्य सरकार दोनो द्वारा ही लगाए जाते है। अन्य जिन करो का यहाँ उल्लेख किया गया है वे राज्य सरकारो द्वारा लगाए जाते है।

सघीय या केन्द्रीय उत्पादन शुल्क
(Union Excise Duties)

प्रो जे के मेहता के शब्दो मे एक देश मे जिस वस्तु का उत्पादन होता है उसका उत्पादन होने के बाद और उस वस्तु के उपभोक्ता तक पहुचने से पूर्व उत्पादन की मात्रा पर जो कर लगाया जाता है उसे उत्पादन कर कहा जाता है। वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए गए इन अप्रत्यक्ष करो का भार उपभोक्ताओं पर पडता है। ये कर बडे सुविधाजनक होते हैं क्योंकि उपभोक्ता वर्ग से ये कर वस्तु को खरीदते समय ही वस्तु का मूल्य बढाकर वसूल कर लिए जाते है और करदाताओं को सामान्यत यह मालूम नहीं पडता है कि वह कर चुका रहा है। इन करो को विलासिताओं पर लगाया जाए तो वे आय की असमानताओं को दूर करने मे सहायक सिद्ध होते है। ये कर पर्याप्त रूप मे उत्पादक होते हैं क्योंकि इनसे सरकार को काफी आय प्राप्त होती है। दूसरी ओर इन करो के अवगुण भी है। अप्रत्यक्ष कर होने से इनका भार अधिकाशत निर्धनो पर पडता है। ये कर वस्तुओ के मूल्य बढाकर उनकी माग कम कर देते है जिससे उत्पादन हतोत्साहित होता है। फलस्वरूप देश के आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशका रहती है। इन करो मे न्याय और लोचपूर्णता के सिद्धान्त का पालन साथ साथ नहीं किया जा सकता।

सविधान के अनुसार सघ सरकार शराब अफीम भाग और अन्य नशीली वस्तुओं को छोडकर भारत में उत्पन्न किए गए अन्य सभी पदार्थों पर उत्पादन शुल्क या उत्पादन कर लगाती है। चिकित्सा और श्रृगार प्रसाधनों की ऐसी वस्तुओं पर जिनमे शराब तथा कुछ नशीले पदार्थों का अश विद्यमान रहता है करारोपण केन्द्रीय सरकार ही करती है लेकिन इन करो का सग्रह राज्यो द्वारा किया जाता है और राज्यों द्वारा ही उनकी प्राप्तिया रख ली जाती है। अन्य केन्द्रीय उत्पादन शुल्को की प्राप्तिया केन्द्र और राज्यों के बीच विभाज्य होती है।

भारत में केन्द्रीय उत्पादन शुल्क 1930 तक अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहे इनका विकास मुख्यत 1930 के बाद ही हुआ और 1934 मे चीनी दियासलाई इस्पात पिण्डो पर अनेक उत्पादन कर लगाए गए। द्वितीय महायुद्ध काल मे उत्पादन करो के क्षेत्र मे और वृद्धि हुइ तथा टायर वनस्पति पदार्थ तम्बाकू चाय कॉफी तथा सुपारी पर उत्पादन शुल्क लगाए गए। 1949 मे मिल के बने वस्त्रो पर पुन उत्पादन शुल्क लगा दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो केन्द्रीय उत्पादन शुल्क सरकारी राजस्व का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया। भारत मे निर्मित अनेक तरह की वस्तुओं पर यह शुल्क लगता है अत छोटे निर्माताओं को छोडकर शेष सभी को इस शुल्क के नियमो का पालन करना पडता है। केन्द्रीय उत्पादन शुल्क विभाग राजस्व इकटठा करने मे सीमा शुल्क विभाग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वास्तव मे यह विभाग केन्द्रीय सरकार को सबसे अधिक कर इकटठा करके देता

है । इसके अलावा केन्द्रीय उत्पादन शुल्क प्रशासनिक, आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता देता है । यह उद्देश्य है—कुटीर और छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देना, शान-शौकत के रहन-सहन और उपभोग को निरुत्साहित करना और गैर-जरूरी वस्तुओं की खपत की रोकथाम करना ।

केन्द्रीय या संघीय उत्पादन शुल्क से आय

केन्द्रीय अथवा संघीय उत्पादन शुल्क (या संघ उत्पादन शुल्क) की कुल प्राप्तियों में 1960-61 से लेकर 1989-90 के बजट तक 52 गुना से अधिक वृद्धि हुई है जबकि राज्यों का हिस्सा घटाकर केवल केन्द्रीय सरकार के हिस्से को लें तो इसी अवधि में लगभग 40 गुना वृद्धि हुई है । 1960-61 में कुल केन्द्रीय उत्पादन शुल्क 416 करोड़ रुपए प्राप्त हुआ था जिसमें राज्यों का हिस्सा 75 करोड़ रुपये घटाने के बाद केन्द्रीय सरकार का हिस्सा 341 करोड़ रुपये रहा था । 1989-90 (ब) में कुल संघ उत्पादन शुल्क 22,702 करोड़ रुपये अनुमानित किया गया है जिसमें राज्यों का हिस्सा 9310 करोड़ रुपए घटाने के बाद केन्द्रीय सरकार का हिस्सा 13,392 करोड़ रुपये आँका गया । वर्ष 1995-96 में यह बढ़ाकर 42,780 करोड़ रुपये किया गया । इसके अतिरिक्त कुछ चुने हुए वर्षों में संघ उत्पाद शुल्क से केन्द्रीय सरकार को प्राप्तियों का ब्यौरा निम्न सारिणी से स्पष्ट किया गया है—

केन्द्रीय उत्पादन शुल्क से प्राप्त आय *(करोड़ रुपये में)*

वर्ष	केन्द्रीय उत्पादन शुल्क	राज्यों का अंश	केन्द्रीय सरकार का अंश
1960-61	416	75	341
1970-71	1759	390	1369
1980-81	6500	2777	3723
1981-82	7429	3240	4181
1982-83	8302	3492	4810
1983-84	10125	4057	6068
1984-85	11167	4525	6642
1988-89	18548	7919	10629
1989-90	22702	9310	13392
1994-95	36700	–	–
1994-95 (संशोधित)	36900	–	–
1995-96	42780	–	–

संघ उत्पाद शुल्कों से कुल कर-राजस्व का लगभग आधा भाग प्राप्त होता है । यह केन्द्रीय सरकार का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कर-राजस्व स्रोत है ।

केन्द्रीय उत्पादन-कर या संघ उत्पादन शुल्क की प्राप्तियाँ संघ एवं राज्य सरकारों के बीच विभाज्य होती है । आज भारत सरकार 100 से भी अधिक वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क लगाती है । प्रथम वित्त आयोग की सिफारिश पर तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति तेलों पर लगाए जाने वाले उत्पादन-कर संघ तथा राज्य सरकारों के बीच बाँटे जाते है । दूसरे वित्त आयोग ने चीनी, चाय, कहवा, कागज, वनस्पति तेलों पर लगने वाले उत्पादन-करों को भी उन करों की सूची में जोड़ दिया जिनकी प्राप्तियाँ संघ तथा राज्य सरकारों के मध्य बाँटी जाती है । तीसरे वित्त आयोग ने यह विभाज्य उत्पादन करों की सूची 8 से बढ़ाकर 35 कर दी । चौथे वित्त आयोग के सुझाव पर सभी वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क का 20 प्रतिशत राज्य सरकारों में वितरित कर दिया गया । चौथे तथा पाँचवे आयोग ने सभी वस्तुओं पर प्राप्त उत्पादन कर में राज्यों को हिस्सेदार मान लिया, चाहे उन करों से सरकार को कितनी ही आय प्राप्त होती हो । प्रथम वित्त आयोग ने संघीय उत्पादन शुल्क में से राज्यों का भाग 40 प्रतिशत, द्वितीय आयोग ने इसे घटाकर 25 प्रतिशत तथा तीसरे आयोग ने इसे घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया । छठे वित्त आयोग की सिफारिश के पश्चात् राज्यों को दिए जाने वाले उत्पादन शुल्क का 75 प्रतिशत भाग जनसंख्या के आधार पर, 25 प्रतिशत भाग सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर दिया जाता था । सातवें वित्त आयोग ने बिजली पर उत्पादन-शुल्क से प्राप्त सम्पूर्ण शुद्ध आय 1979-80 से

उन राज्यों को देने की सिफारिश की जहाँ से वह सम्बन्धित है। अन्य सभी वस्तुओं पर लगे उत्पादन शुल्क से प्राप्त राशि मे से राज्यो को दिया जाने वाला भाग 40 प्रतिशत कर दिया।

बजट मे संघीय उत्पाद शुल्क

वर्ष 1994-95 मे सघ उत्पाद शुल्क 36,700 करोड़ रुपये का अनुमान लगाया गया था। इसे सशोधित कर वर्ष 1994-95 में 36,900 करोड रुपये किया गया तथा वर्ष 1995-96 मे 42,780 करोड़ रुपये लगाया जाना निर्धारित किया गया। उत्पादन शुल्क मे माडवेट (MODVAT) योजना में, जो कि 1986 में लागू की थी, अनेक परिवर्तन किए गए है। 1996 97 मे MODVAT को कपडा क्षेत्रो मे बढाया गया है ताकि कपडा उद्योग के आधुनिकीकरण एव पुनरुत्थान मे सहायता मिले। दैनिक उपभोग की अनेक मदो पर शुल्क दरे कम की गई है एव बहुत अधिक खपत वाली वस्तुओं को उत्पादित शुल्क से छूट प्रदान की गई है।

नवे वित्त आयोग की सिफारिशे

नवे वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि कुल सघीय उत्पादक शुल्क में से राज्यो को 40 प्रतिशत हिस्सा वितरित किया जायेगा। कुल राशि के 40 प्रतिशत के वितरण के सम्बन्ध मे नवे वित्त आयोग ने निम्न सिफारिशें की है—

1 25 प्रतिशत भाग का वितरण राज्य की 1971 के जनसख्या को आधार मानकर किया जायेगा।

2 12 5 प्रतिशत भाग का वितरण आय समायोजित कुल जनसख्या (IATP) के आधार पर किया जायेगा।

3 12 5 प्रतिशत हिस्से का वितरण इस आधार पर होगा कि राज्य मे गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करने वालो का अनुपात कितना है।

4. शेष *50 प्रतिशत हिस्सा अधिकतम प्रति व्यक्ति आय वाले राज्य (पजाब) की प्रति व्यक्ति* आय से राज्य की प्रति व्यक्ति आय की दूरी कितनी है तथा इस दूरी का 1971 की जनसख्या से गुणा क्या है।

इसके अतिरिक्त सघीय उत्पाद शुल्कों का 5 प्रतिशत हिस्सा उन राज्यो मे वितरित किया जायेगा जिनके बजट मे घाटा है। अत नवे वित्त आयोग ने कुल सघीय उत्पाद शुल्को का 45 प्रतिशत हिस्सा राज्यो मे बाँटा है।

सीमा शुल्क
(Custom Duties)

ऐतिहासिक दृष्टि से सीमा-शुल्क ससार मे सबसे पुराना कर है। आरम्भ मे यह कर व्यापारियों के व्यावसायिक लाभो पर लगाया जाता था आज इसे उत्पादन कर की भाँति वस्तुओं पर लगाया जाता है। सीमा-शुल्क मे दो प्रकार के कर शामिल होते है—आयात-कर (Import Duties) एव निर्यात-कर (Export Duties)। इन दोनो करो का प्रत्येक देश की कर-सरचना मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विकासशील देशो में कच्ची सामग्री खनिज पदार्थों और देश के प्राकृतिक साधनो को सुरक्षित रखने के लिए इन वस्तुओं के निर्यात पर कर लगाए जाते है। ये कर उन वस्तुओं पर भी लगाए जाते है जिनकी माँग बेलोचदार होती है। कभी-कभी ये कर केवल आय प्राप्ति के उद्देश्य से ही लगाए जाते है। निर्यात-करो को बडी सावधानी और सोच-विचार के बाद लगाना होता है क्योकि इनके लगाने से देशी उत्पादक विदेशो से प्रतियोगिता कर सकने की स्थिति मे नहीं रहते। आयात-कर मुख्यत दो उद्देश्यों से लगाए जाते है—(1) विदेशी वस्तुओं के उपभोग को रोकने के लिए एव (2) यान्त्रिक उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिए। आयात करो का एक अन्य उद्देश्य आय प्राप्त करना भी है। केन्द्रीय सरकार को इन करो से भारी आय प्राप्त हो सकती है।

सीमा शुल्क दो आधारों पर लगाए जाते है—(ख) वस्तु के मूल्य पर लगाये गये कर को मूल्यानुसार कर (Advalorem Duty) कहते है एव (ख) वस्तु के परिमाण के अनुसार लगाये कर को

'विशिष्ट कर' (Specific Duty) कहते है। जब सीमा शुल्क मूल्य के आधार पर लगाए जाते है तो इन्हें प्रगतिशील रखा जाता है और जब इन्हें दूसरे आधार पर लगाया जाता है तो वस्तुओं की मात्रा, सख्या, आकार एव भार आदि को देखकर कर की दर तय की जाती है। दूसरे आधार पर लगाया गया कर प्रतिगामी होता है, क्योकि जो कर वस्तुओं की मात्रा और भार के अनुसार लगाये जाते है वे उपभोक्ताओं से वसूल कर लिए जाते है। प्रथम प्रकार के करो को निश्चित करना सरल नहीं होता क्योंकि अधिकाश वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके मूल्य को राष्ट्र सुगमतापूर्वक नहीं आँक सकता। इसलिए इनकी व्यवस्था बहुत कठिन होती है। इसके विपरीत विशिष्ट शुल्क (Specific Duty) बडी सुगमता से निश्चित्त किए जा सकते है। इनकी व्यवस्था भी इतनी जटिल नहीं होती और इनकी दरें भी निश्चित होती हैं।

सीमा शुल्क का भार, वस्तुओं पर लगे हुए अन्य करों की भाँति आयातकर्ता व निर्यातकर्त्ता देशो की वस्तुओं की माँग और पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर करता है। यदि किसी देश की माँग दूसरे देशो की वस्तुओं के लिए विदेशों की माँग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो कर-भार दूसरे देशो पर पड़ेगा किन्तु यदि माँग बेलोचदार है तो उसी देश पर पडेगा।

भारतीय वित्त व्यवस्था मे सीमा शुल्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुस्लिम शासन काल मे इसकी दर बहुत नीची थी। ब्रिटिश नीति अन्य देशो के आयात को हतोत्साहित करने की और ब्रिटिश आयात को प्रोत्साहित करने की रही है। अग्रेजों ने विभिन्न वस्तुओं पर आयात और निर्यात-करो की विभिन्न दरे रखकर वस्तुओं में भेदपूर्ण नीति अपनाने की प्रथा जारी कर दी। 1857 मे अपनी वित्तीय कठिनाइयो को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सीमा शुल्क की दरे बढा दीं। प्रथम महायुद्ध के शुरू होते ही इन करो मे और भी वृद्धि कर दी गई। प्रथम महायुद्ध के बाद 1922 मे सर्वप्रथम इन करो को लगाने का उद्देश्य सरक्षण देना रखा गया और सभी आयात करो मे सामान्यत 4 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई। 1922 में भारत में ओटावा व्यापार समझौते को स्वीकार करते हुए साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) की नीति को अपना लिया जिसके अनुसार सीमा शुल्क की दरो मे कुछ विशेष परिवर्तन किए गए जो इग्लैण्ड के पक्ष मे थे। बाद में विभिन्न देशो से होने वाले व्यापार समझौते भी भारत के पक्ष मे केवल दिखावटी ही थे। द्वितीय महायुद्ध काल मे सामान्य रूप से सभी वस्तुओं पर सीमा शुल्क मे पुन: वृद्धि कर दी गई।

स्वतन्त्र भारत के नवीन सविधान के अन्तर्गत देश के हित मे सीमा शुल्को मे आवश्यक परिवर्तन किया गया। कुछ वस्तुओं पर नये निर्यात-कर लगाए गए और अनेक वस्तुओं पर नए आयात करोंका आरोपण हुआ। कुछ पर सीमा शुल्क बढाए गए तो कुछ पर कम कर दिए गए। सविधान के अन्तर्गत निर्यात-करो सहित सीमा कर पूर्ण रूप से सघ सरकार को सौप दिए गए और राज्यो के बीच उनके वितरण की कोई व्यवस्था नहीं की गई।

राजकोषीय आयोग (1949)—भारतीय उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिए सरकार ने 1949 मे राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की जिसने उद्योगो को तीन वर्गों में विभाजित किया—

(i) **सुरक्षा एवं सैनिक महत्त्व के उद्योग**—इनको सरक्षण प्रदान करना परमावश्यक बताया गया।

(ii) **आधारभूत उद्योग**—इनके विषय मे यह निश्चय करने का निर्णय तटकर अधिकारी को दिया गया कि कौन-कौन से उद्योग इस वर्ग मे सम्मिलित किए जाएँ और कितने समय के लिए व कितनी मात्रा में इनको सरक्षण दिया जाए।

(iii) **अन्य उद्योग**—इनके बारे मे यह कहा गया कि इन्हें यह सोच-समझ कर सरक्षण प्रदान किया जाए कि (क) इससे उद्योग को क्या लाभ होगे और उद्योग विशेष में अपने पैरो पर खडा होने की समस्या भविष्य मे उत्पन्न होगी या नही (ख) क्या उद्योग विशेष को सरक्षण प्रदान करना राष्ट्रीय हित मे होगा और उस पर किए जाने वाले व्यय का भार समाज पर अधिक तो नहीं पडेगा।

आयोग ने शिशु उद्योगो के लिए सरक्षण की सिफारिश की लेकिन यह भी कहा कि कच्ची सामग्री तथा स्थानीय बाजार की उपलब्धता सरक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक शर्तें नहीं मानी जानी चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि सरक्षण सम्बन्धी प्रश्नो की जॉच-पड़ताल करने के लिए तथा अन्य सम्बन्धित विषय के लिए एक स्थायी तटकर आयोग नियुक्त किया जाए। भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया।

कर-जॉच आयोग के सुझाव—भारत मे व्यापार तथा तटकर प्रशुल्को सम्बन्धी सामान्य समझौते (General Agreement on Tarrifs and Trade—GATT) को स्वीकार किया था जिसके अनुसार भारत को मशीनो तथा विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं पर लगे आयात करो में विभिन्न देशो को छूट प्रदान की गई थी। निर्यातो पर भी छूटे दी गई थीं। केवल 1952 53 मे ही इस नीति के कारण भारत सरकार को लगभग 85 लाख रुपए की हानि हुई थी। अत करारोपण जॉच आयोग ने यह सिफारिश की कि भविष्य मे भारत को अपनी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर समझौते पर पुन विचार करना चाहिए। सीमा शुल्क के सम्बन्ध मे कर-जॉच आयोग ने और भी अनेक सिफारिशें कीं जो सक्षेप में निम्न थीं—(i) आयातकरो की दरो को बढाकर अधिक आय प्राप्त करना सम्भव नहीं है (ii) आयात नियन्त्रण नीति मे निरन्तर परिवर्तन किये जाने चाहिये ताकि आय प्राप्त हो सके (iii) विदेशो से व्यापारिक समझौते करते समय सरकार व्यापारिक दृष्टिकोण के साथ-साथ के आय प्रश्न को भी दृष्टि मे रखे (iv) निर्यात करो से प्राप्त होने वाली आय को कुछ ही उद्योगो के विकास पर व्यय न करके समस्त उद्योगो के विकास पर व्यय किया जाना चाहिए (v) निर्यात करो का उपयोग निर्यात में नियन्त्रण रखने के लिये किया जाना चाहिये और विदेशी मूल्य वृद्धि से अर्थव्यवस्था की रक्षा की जानी चाहिये एव (vi) निर्यात करो मे विविधता लाई जानी चाहिए ताकि अधिक आय प्राप्त हो सके।

केन्द्रीय सरकार के मूल्यवार आयात कर (Advalorem Excise Duties) सामान्यतया 3 से 4 प्रतिशत के बीच रहे है पर कुछ विलासिता के पदार्थों और देश मे ही बडे पैमाने पर उत्पादित पदार्थों पर कर की दरे अपेक्षाकृत ऊँची रही है। कुछ खाद्य पदार्थों उद्योगो के कच्चे माल कृषि यन्त्रो विशिष्ट प्रकार की मशीनो आदि पर या तो बहुत नीची दरो से कर लगाए जाते रहे है या उन्हे कर-मुक्त ही रखा गया है। केन्द्र सरकार को अधिकार है कि वह किसी भी वस्तु को पूर्णत या अशत आयात शुल्क दर से मुक्त कर दे। भारत सरकार के निर्यात करो के उद्देश्य पिछले कुछ वर्षों में राजस्व प्राप्ति के अलावा मुख्यत ये रहे है—स्फीति को नियन्त्रित करना आन्तरिक बाजार मे मूल्य स्थिरता भारतीय विनिर्माण (Indian Manufacture) मे प्रयुक्त किए जाने वाले कच्चे माल के निर्यात को रोकना आदि।

गत कुछ वर्षों से भारत के भुगतान सन्तुलन को सुधारने के लिए निर्यात को प्रोत्साहन देने के काफी प्रयत्न किए जा रहे है और इस दृष्टि से बहुत से निर्यात कर या तो घटा दिए गए है अथवा समाप्त कर दिए गए है। इस बात का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे भारतीय माल की प्रतियोगी स्थिति बिगड न जाए। यह भी मूल्यॉकन किया जाता है कि निर्यात व्यापार पर निर्यात के क्या प्रभाव पड रहे है।

झा समिति (1978) ने यह विचार प्रकट किया था कि आयात शुल्को का वर्तमान स्तर बहुत ऊँचा है फलस्वरूप ऊँची लागत वाले अनार्थिक उद्योग उत्पन्न हो गए है। मध्यवर्ती वस्तुओं तथा मशीनों पर आयात-शुल्क को नीचे स्तर पर लाने की आवश्यकता है। इससे पर्याप्त आय की हानि की सम्भावना है अत यह टुकडो मे किया जाए। इस हानि की आशिक पूर्ति आयातो के परिमाण मे वृद्धि से और अपेक्षाकृत अधिक घरेलू उत्पादन से प्राप्त आय से हो सकेगी। झा समिति ने यह सिफारिश की कि अब जबकि देश मे विदेशी विनिमय की कोई समस्या नही है यह एक अच्छा अवसर है कि हम आयात शुल्को का पुनरीक्षण करे।

सीमा शुल्क से प्राप्तियाँ

सीमा शुल्क सघ सरकार की आय का एक बहुत ही प्रमुख स्रोत है। 1950 51 (लेखे) मे इन करो से भारत सरकार को 157 करोड रुपए की आय हुई थी जबकि 1985 86 (ब) मे इनसे

8,168 करोड रुपये की आय अनुमानित की गई। इस प्रकार 1950-51 की तुलना में सीमा शुल्को से प्राप्तियाँ लगभग 22 गुना बढी है। निम्न सारिणी से कुछ चुने हुए वर्षों की प्राप्तियो का ब्यौरा स्पष्ट होगा—

सीमा शुल्कों से प्राप्त आय

वित्तीय वर्ष	कुल आय (करोड रु मे)
1950-51	157
1960-61	163
1970 71	524
1980-81	3,409
1981-82	4,300
1982 83	4,990
1983 84	5,879
1984 85	7,100
1988 89	15,812
1985 90	17,880
1994 95	25200
1994 95 (सशोधित)	26450
1995 96	29500

भारत का निर्यात करो की तुलना में आयात-करों से अधिक आय होती है। 1984 85 के बजट मे आयात शुल्को से 7505 60 करोड रुपए तथा निर्यात शुल्को से 71 16 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था। सशोधित बजट के अनुसार दोनो ही राशियाँ सामान्य रूप से अधिक रहीं। पिछले कुछ वर्षों मे निर्यात वृद्धि के उद्देश्य से निर्यात शुल्को को घटाया या हटाया गया है। आयात शुल्क विभिन्न आयातित वस्तुओं पर लगाए जाते हैं। शराब स्प्रिट कृत्रिम रेशम की वस्तुएँ रेशमी मौजे मोटरगाड़ियाँ घड़ियाँ रासायनिक पदार्थ मिट्टी का तेल मशीनो मे लगाने तथा जलाने का तेल स्टेनलैस स्टील की प्लेटे मशीनरी सूखे फल कास्टिक सोडा इस्पात के तार छपाई लेखन-सामग्री तथा लोहे-इस्पात इत्यादि की वस्तुएँ आयात करो के अन्तर्गत आती है। भारत मे विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता है अत निर्यात को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन दिये जाते है।

वर्ष 1993 94 मे केन्द्र सरकार का निबल राजस्व 53 449 करोड रुपये था। 1994 95 में यह बढकर 62,742 करोड रुपये हुआ। वर्ष 1994 95 मे सशोधित अनुमान में यह राशि बढाकर 64,988 करोड रुपये कर दी गई। वर्ष 1995 96 का बजट अनुमान लगाया गया उसमे कर राजस्व (निबल) मे 74,374 करोड रुपये के प्रस्ताव रखे गये थे।

11

भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों की आय की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और भारत के विशेष सन्दर्भ में एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था की कर-संरचना में मुख्य परिवर्तन

(Main Trends in the Revenues of the Central and State Governments in India & Major Changes in the Tax-Structure of a Developing Economy with Special Reference to India)

भारतीय सविधान की धारा—धन एकत्र करने तथा व्यय करने का अधिकार केन्द्र और राज्यो के बीच बॉटा गया है । इसलिए देश मे एक से अधिक बजट तथा एक से अधिक राजकोष (सरकारी खजाने) है । केन्द्र तथा राज्यो के राजस्व के स्रोत भिन्न-भिन्न है ।

केन्द्रीय सरकार की आय की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(Main Trends in the Revenues of Central Govt.)

केन्द्रीय सरकार की आय के स्रोतों को दो भागो मे बॉटा गया है—

(अ) आय के कर-साधन तथा

(ब) आय के गैर-कर साधन ।

आय के कर-साधनों का आशय केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाए गए करों से आय तथा गैर-कर साधनो का अर्थ राजकीय उद्योगो से प्राप्त आय से है ।

(क) केन्द्रीय सरकार की आय के कर-साधन

(Tax-Sources of the Revenues of Central Govt.)

केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य कर-स्रोत है—आय-कर, निगम-कर, धन-कर, केन्द्रीय-उत्पाद शुल्क, सीमा शुल्क इत्यादि ।

केन्द्रीय सरकार कर-आगम की मुख्य प्रवृत्तियो को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

1 सरकार के कर-आगम मे निरन्तर वृद्धि हुई है । सघ सरकार की शुद्ध अथवा निबल कर-आय 1950-51 मे 357 करोड रुपये से बढकर 1993-94 (स) मे 54,473 करोड रुपये हो गई और 1994-95 के बजट मे यह 62,742 करोड रुपये अनुमानित की गई है । इस प्रकार निबल कर-राजस्व मे 1950-51 की तुलना मे लगभग 153 गुना वृद्धि हुई है । विकास-व्यय एव मुद्रास्फीति के बढते हुए भार के कारण कर-भार मे अत्यधिक वृद्धि की प्रवृत्ति स्वाभाविक है ।

2 कर-राजस्व मे प्रत्यक्ष करो का प्रतिशत घटता गया है जबकि अप्रत्यक्ष या परोक्ष कराधान में निरन्तर वृद्धि हुई है । अप्रत्यक्ष कराधान अब केवल राजस्व एकत्र करने का साधन नहीं है बल्कि इसका प्रयोग सरकार के बहुमुखी आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यो को प्राप्त करने के साधन के रूप में किया जाता है । अप्रत्यक्ष कराधान के द्वारा समाज के सम्पन्न वर्ग के उपभोग को नियन्त्रित करने, निर्यात

योग्य वस्तुओं मे वृद्धि करने और कुछ क्षेत्रों मे होने वाले अत्यधिक मुनाफे को कम करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रत्यक्ष करो से केन्द्र को लगभग 28% भाग ही प्राप्त होता है। यह स्थिति अमेरिका कनाडा जापान आदि देशों मे पाई जाने वाली स्थिति के प्रतिकूल है जहाँ प्रत्यक्ष कर 55 से 65 प्रतिशत है। कुछ अन्य देशों मे स्थिति 50 50 है। परोक्ष करो पर बढती हुई निर्भरता का कारण देश की निर्धनता है जिसमे आय और सम्पत्ति के निम्न स्तर है।

3 विभिन्न अप्रत्यक्ष करों मे उत्पादन शुल्क का भाग आय के अकेले साधन के रूप मे सबसे अधिक है। यह पिछले कुछ अर्से मे 60 से 65% रहा है जबकि 1955 56 में यह भाग लगभग 35 प्रतिशत ही था।

4 प्रत्यक्ष करो के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्राथमिकता है—विकास उत्पादकता और बचत के वातावरण का निर्माण करना। प्रत्यक्ष कराधान की जो प्रणाली इन उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायक सिद्ध हो सकती है उससे कर-अनुपालन भी बेहतर होगा और वह अधिक न्यायोचित भी होगी।

5 भारत मे निगम-कर की सांविधिक दर ऊँची है लेकिन विभिन्न छूटो के कारण इसकी प्रभावी दर काफी कम है। कुल मिलाकर छूटो का सयुक्त प्रभाव यह होता है कि कर आधार सकुचित हो जाता है।

6 केन्द्रीय करो मे से राज्यो को दिया जाने वाला प्रतिशत कम होता जा रहा है। यही कारण है कि दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि सीमा शुल्को तथा निगम करों से होने वाली आय को विभाजनीय ससाधनों मे शामिल कर लिया जाये जो केन्द्र एव राज्यो के बीच बॉटे जाते है। इससे राज्यो की ओर ससाधनो का अधिक प्रवाह हो सकेगा। दसवे वित्त आयोग के अध्यक्ष श्री के सी पत ने अपनी 364 पृष्ठो की रिपोर्ट 26 नवम्बर 1994 को राष्ट्रपति को प्रस्तुत कर दी। आयोग की सिफारिशें 1 अप्रेल 1995 से अगले 5 वर्षों के लिये होगी।

7 विकास और योजनाओ के लिए वित्तीय आवश्यकताओ में वृद्धि के साथ ही साथ प्रतिरक्षा की वित्तीय आवश्यकताएँ भी पिछले दशक मे बढी है। इन साधनो का सचयन मुख्यत अतिरिक्त करारोपण से ही किया जाना है। पिछले वर्षो मे कर-व्यवस्था मे काफी विस्तार किया गया है ताकि देश के आर्थिक विकास और रक्षा के लिए करो का अधिकाधिक दोहन किया जा सके। सन् 1989 90 के बजट अनुमान के अनुसार सकल कर राजस्व की राशि केवल 50 875 करोड रुपये थी जो बढकर 1994 95 के बजट अनुमान के अनुसार 87,136 करोड रुपये हो गई है।

8 केन्द्रीय वित्त मन्त्री द्वारा 1995 96 के बजट में कराधान की प्रणाली का सरलीकरण करने की चेष्टा की गई। वैयक्तिक आय कर की दर अनुसूची को पुनर्गठित किया गया और सभी श्रेणियों के निगम भिन्न (Non Corporate) करदाताओ के मामले मे आय-कर पर अधिकार को समाप्त किया गया। प्रस्तावित सशोधनों से वैयक्तिक आयों पर आय-कर की अधिकतम सीमा दर 40 प्रतिशत कर दी गई है।

9 सरकार पिछले कुछ वर्षो मे इसके प्रति विशेष जागरूक रही है कि अधिकाश जनता गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बिता रही है और आय की विषमताओ को घटाकर कम से कम कर देना होगा। इसीलिए कर-नीति को ऐसा मोड दिया जा रहा है जिससे आर्थिक विषमताएँ कम हो। विलास सामग्री पर अधिक करारोपण की प्रवृत्ति बढी है। कर-नीति का एक उद्देश्य यह रहा है कि साधनो को व्यर्थ तथा अनुत्पादक कार्यों की ओर से हटाकर उत्पादक प्रयोजनो के लिए रखा जाए। कर-नीति के द्वारा ऐसी वस्तुओ के उपभोग को भी निरुत्साहित किया जाए तो निश्चय ही लोगो के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। कर-नीति का यह उद्देश्य भी रहा है कि कृषि उत्पादन को बढावा देकर और उत्पादन की श्रम-प्रधान तकनीको को प्रोत्साहन देकर तथा बडे उद्योगों के सम्बन्ध में लघु और कुटीर उद्योगो की प्रतियोगी क्षमता बढाकर बेरोजगारी और कम-रोजगारी को खत्म किया जाए।

10 आय-कर केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क निगम-कर और सीमा शुल्क केन्द्रीय कर-राजस्व के प्रमुख स्रोत रहे है। केन्द्रीय उत्पादन शुल्क ही केन्द्रीय सरकार के कर-राजस्व का आधे से अधिक भाग प्रदान करता है। दूसरी ओर जायदाद-कर सम्पत्ति-कर उपहार-कर धन-कर आदि से अधिक आय की प्राप्ति नहीं हुई है। इनमे सम्पत्ति-कर ही एक ऐसी मद है जिससे भविष्य मे अधिक आय की अपेक्षा की जा सकती है।

11 करारोपण का विस्तार करने के साथ-साथ सरकार यथासम्भव इस बात के प्रति सजग रही है कि निजी क्षेत्र की बचत प्रेरणा को अनुचित आघात न पहुँचे। सरकार का यह प्रयत्न भी रहा है कि कर-आगम से आय और धन के न्यायपूर्ण वितरण को प्रस्थापित किया जाए।

12 ऐसे कर लगाने की प्रणाली पर बल दिया जाने लगा है जिसमे मूल्य को भी शामिल किया जा सके। सघ-सूची मे उल्लिखित कुछ शुल्कों यथा—रसीदो और हुण्डियो पर लगाने वाले स्टाम्प-शुल्क की दरो से तथा एलकोहल मादक द्रव्यो से युक्त औषधियो तथा प्रसाधन वस्तुओ के उत्पादन शुल्को की दरो मे वृद्धि का लगभग सारा उद्देश्य राज्यो के लाभ के लिए जुटाना रहा है।

13 सरकार करारोपण की ऐसी नीति पर चलने को प्रतिबद्ध है जिससे राष्ट्र मे एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो सके जिसमे न किसी के पास कम हो न किसी के पास ज्यादा।

14 कर-प्रणाली को आसान किया गया है और करदाता पर कानून के मुताबिक स्वेच्छा और सुविधा से अपना कर जमा कर दें ऐसे उपाय किए गए है।

भारत सरकार के बजट प्रस्तावो का विवरण देखने से पता लगता है कि सरकार की कर-व्यवस्था की स्थिति और प्रवृत्तियो मे परिवर्तन पाया जाता है। सरकार कर-प्रणाली मे सुधार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है लेकिन अभी अपेक्षित सफलता नही मिल पाई है। जो विभिन्न आयोग बैठाए गए, उन सब का नतीजा यह हुआ कि कर-कानून का एक दगल-सा खडा हो गया है और स्थिति ऐसी बन गई है कि वर्तमान कर-कानूनो को करदाता या उनका वकील तो क्या स्वय कर अधिकारी भी अच्छी तरह समझ नहीं पाते। सरकार हर साल नए कर लगाती है अथवा कर की दरो को बढाती है। इसलिए करो का रूप कई मामलो मे दण्डात्मक हो गया है। इसके बोझ को कुछ हल्का करने के लिए कुछ राहतें भी दी जाती रही है। इस भारी और पेचिदा व्यवस्था से कर देने से बचने को प्रोत्साहन ही मिलता है। पिछले 50 साल के अनुभव न यह सिद्ध कर दिया है कि फटे पर पैबन्द लगाने से काम नहीं चलने का। कर-वचना की प्रवृत्ति रोकने और करो का जाल अधिक फैलाने का उपाय सुझाने के लिए सरकार ने अनेक समितियाँ बनाई थीं। इन समितियो की कई सिफारिशो को क्रियान्वित करने के लिए कई व्यवस्थाएँ की गई। कानून जो पहले ही जटिल थे और जटिल हो गए। यह तर्क दिया जा सकता है कि सारे कर-ढाँचे के अन्तर्गत समय-समय पर की जाने वाली व्यवस्था मे सुपरिभाषित सामाजिक उद्देश्य और राजकोषीय नीति निहित होती है। इस तर्क पर मतभेद की विशेष गुजाइश नही है लेकिन यह देखना आवश्यक है कि इन व्यवस्थाओ का परिणम क्या होता है? महत्त्व माध्यम का नहीं बल्कि उद्देश्य का होना चाहिए। इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं है कि हर समर्थ नागरिक को अपनी आय का कुछ हिस्सा राष्ट्र को देना चाहिए। निश्चय इस बात का होना चाहिए कि वह अश क्या हो उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाए। सही व्यवस्था तो वह होगी जिसमे लोग अपना अशदान करने को स्वय तत्पर हो लेकिन यह सच है कि ऐसी आदर्श स्थिति का उद्भव असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। फिर भी प्रयत्न तो होना ही चाहिए। इस दिशा मे पहला उपाय यह किया जाना चाहिए कि कर कानूनो की धाराओ उप-धाराओ स्पष्टीकरणो व्यवस्थाओ अतिरिक्त अनुसूचियो और सबसे बढकर परस्पर विरोधी सन्दर्भों के जगल को साफ किया जाए। कानून और उसकी धाराओ को साफ और बोधगम्य बनाया जाए *ताकि करदाता को अपनी आय का विवरण देने मे कोई सकोच न हो। कानून की सत्ता और पद्धति साफ* होने पर भ्रष्टाचार उन्मूलन के प्रयत्नो को भी बल मिलेगा।

(ख) केन्द्रीय सरकार की आय के गैर कर साधन

(Non Tax Revenues of the Central Govt)

सरकार की आय का दूसरा अग गैर-कर आगम है। आज राज्य मानवीय आर्थिक क्रियाओं को अधिकाधिक नियमित व नियन्त्रित करता जा रहा है। समाजवादी देशो मे गैर-कर साधनो से राज्य को बहुत आय प्राप्त होती है। नियोजित अर्थव्यवस्था मे गैर-कर साधनो से काफी आय मिली है। भारत आर्थिक नियोजन के मार्ग पर अग्रसर है और योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए जिस विपुल धनराशि की सरकार को आवश्यकता पडती है उसे कर-आय पूर्ण करने मे असमर्थ है। ऐसी स्थिति मे सरकार को गैर कर साधनो का सहारा लेना पडता है और ज्यो-ज्यो राष्ट्र का विकास होता जा रहा है त्यो त्यो इन साधनो से प्राप्त आय मे वृद्धि हो रही है क्योकि नए-नए उपक्रम स्थापित किए जाते है और वे लाभ अर्जित करना आरम्भ कर देते है।

संघ सरकार और राज्य सरकार दोनो ही गैर-कर स्रोतों (Non Tax Sources) से आय प्राप्त करती हैं। स्वतन्त्रता के बाद गैर-कर आगमो का महत्व केन्द्रीय सरकार के राजस्व मे अत्यधिक बढ गया है। इन आगमों मे प्रशासनिक प्राप्तियाँ तथा सरकारी उद्यमो के निबल अशदान (Net Contributions) सम्मिलित है। वर्तमान मे भारत सरकार का गैर-कर राजस्व (अ) ब्याज प्राप्तियाँ (ब) लाभ और लाभाश, (स) राजस्व सेवाएँ, (द) सामान्य सेवाएँ, (य) सामाजिक एव सामुदायिक सेवाएँ (र) आर्थिक सेवाएँ एव (ल) अनुदान तथा अशदान के अन्तर्गत वर्गीकृत है। निम्नाकित तालिका संघ सरकार के गैर-कर राजस्व का एक अधिकारिक चित्र प्रस्तुत करती है—

संघ सरकार का गैर-कर राजस्व (करोड रुपयो मे)

वित्तीय वर्ष	गैर-कर भाग
1950 51	49
1970-71	891
1975-76	2066
1980-81	3441
1981-82	4001
1982-83	4846
1983-84	5264
1984 85	7007
1985 86	7851
1988-89	9772
1989-90	13508
1994-95 (अनुमानित)	23342

तालिका से स्पष्ट है कि 1950-51 की तुलना मे 1994-95 तक भारत सरकार की गैर-कर आय में लगभग 475 गुना वृद्धि हुई है। भारत सरकार के फरवरी 1994 के बजट के सार (1994 95) में कर-भिन्न राजस्व का 1993-94 तथा 1994-95 का ब्यौरा इस प्रकार दिया गया है—

संघ सरकार के गैर-कर आगम के प्रमुख स्रोतो का विवरण इस प्रकार है—

1. ऋण सेवायें—केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों तथा अन्य वित्तीय एव गैर वित्तीय संस्थाओ को बडी मात्रा मे ऋण दे रखे है। जिनसे प्रतिवर्ष केन्द्र को ब्याज के रूप मे कुछ आय प्राप्त होती है। निम्न तालिका मे केन्द्रीय सरकार की ब्याज-प्राप्तियाँ दिखाई गई है—

केन्द्रीय सरकार की ब्याज की प्राप्तियाँ (करोड रुपयो मे)

वित्तीय वर्ष	कुल ब्याज प्राप्तियाँ
1966 67	361 00
1970-71	589 00
1975-76	933 70
1980 81	1794 60
1981-82	2215 30
1982-83	2664 60
1983-84	2723 82
1984-85	3986 38
1985 86	4657 42
1988 89	7147 00
1989 90	8041 00
1991-92	11009 00

तालिका से स्पष्ट है कि 1966-67 की तुलना मे 1991-92 मे कुल ब्याज प्राप्तियों में लगभग 30 गुना वृद्धि हुई है। ब्याज-प्राप्तियो के स्रोतो मे प्रथम स्थान राज्य एव केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों का और द्वितीय स्थान रेलवे का है।

2. लाभ एवं लाभांश—केन्द्रीय सरकार को कुल लाभ एव लाभाश से जो प्राप्तियाँ होती है उनको चार भागो मे बॉटा जाता है—(1) रेलवे से प्राप्त लाभाश, (2) डाक एव तार विभाग से प्राप्त लाभाश, (3) रिजर्व बैक से प्राप्त लाभाश, एव (4) अन्य। रेलवे से प्राप्त लाभाश प्राप्तियाँ अब प्राय. समाप्त हो गई है और यही स्थिति डाक एव तार विभाग की है। लाभ एव लाभाश प्राप्तियो का मुख्य स्रोत रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया ही है। लाभ एव लाभाश प्राप्तियो को निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

केन्द्रीय सरकार को प्राप्त लाभ एवं लाभांश (करोड रुपये मे)

वित्तीय वर्ष	कुल लाभ एव लाभॉश
1969 70	122 70
1970-71	121 00
1974-75	208 20
1980-81	291 80
1981 82	321 20
1982-83	396 90
1983-84	413 51
1984-85	382 08
1985-86	448 53
1988-89	620 00
1991-92	967 00

तालिका से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार को लाभाश एव लाभ प्राप्तियॉ 1970 71 की तुलना में 1991-92 में लगभग आठ गुना बढ गई है। सामान्य प्रवृत्ति लगभग प्रतिवर्ष इन प्राप्तियो मे अभिवृद्धि की रही है।

3. राजस्व सेवाये—केन्द्रीय सरकार को नोट निर्गमन और सिक्के ढालने का एकाधिकार है जिससे उसे प्रतिवर्ष कुछ आय प्राप्त होती है। इस मद से 1970 71 मे जहॉ 26 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई वहॉ 1991-92 मे 1118 करोड रुपये की आय हुई। इस प्रकार इस मद से प्राप्त आय मे 1970-71 की तुलना मे लगभग 43 गुना वृद्धि हुई। राजस्व व्ययो से प्राप्त आय को दो भागो मे बॉटा जाता है—एक चलन एव टकसाल तथा दूसरा अन्य राजस्व सेवाये। दूसरे भाग मे आय 1977-78 से ही प्राप्त होने लगी है।

4. सामान्य सेवाये—इन सेवाओ मे प्रशासकीय सेवाये जैसे—सघ लोक सेवा आयोग पुलिस, सार्वजनिक निर्माण एव पेन्शन, स्टेशनरी तथा छपाई और अन्य सामान्य सेवाएँ सम्मिलित की जाती है। सामान्य सेवाओ से प्राप्तियो सम्बन्धी ऑकडे 1972-73 से ही उपलब्ध है। 1972 73 मे इन सेवाओ से प्राप्तियॉ 60 करोड रुपये थीं जो बढकर 1991 92 मे 1403 करोड रुपये हो गईं। इस प्रकार इस अवधि मे इन प्राप्तियो मे तेईस गुना से भी अधिक वृद्धि हुई।

5. सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाएँ—सरकार प्रतिवर्ष स्वास्थ्य एव चिकित्सा, सामाजिक सुरक्षा तथा कल्याण सूचना एव प्रकाशन श्रम एव रोजगार शिक्षा आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामाजिक तथा सामुदायिक सेवाये प्रदान करती है जिनसे उसे कुछ आय प्राप्त होती है। सामाजिक एव सामुदायिक सेवाओ से प्राप्तियो सम्बन्धी ऑकडे 1973 74 से ही अलग से उपलब्ध हैं। 1973-74 में इस मद से 43 6 करोड रुपये की आय हुई थी जो बढकर 1991 92 मे 337 करोड रुपये हो गई। इस प्रकार इस अवधि मे इन प्राप्तियो मे लगभग 8 गुना वृद्धि हुई।

6 आर्थिक सेवाएँ—इन सेवाओ मे कृषि एव सम्बन्धित सेवाएँ जल एव शक्ति विकास उद्योग एव खनन यातायात एव सवादवाहन तथा कुछ अन्य सामान्य सेवाएँ सम्मिलित की जाती है जिनसे सघ सरकार को कुछ प्राप्तियाँ होती है। पिछले कुछ वर्षों मे इस मद से आय मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इस मद से प्राप्तियाँ 1972 73 के वर्ष से ही अलग से उपलब्ध है। 1972 73 मे आर्थिक सेवाओ से प्राप्तियाँ 51 करोड रुपये थी जो बढकर 1981 82 मे 375 4 करोड रु 1982 83 मे 507 4 करोड रु और 1991 92 मे 2528 करोड रु हो गई। इस प्रकार 1972 73 की तुलना मे 1991 92 तक इन प्राप्तियो में लगभग 50 गुना वृद्धि हुई।

7. अनुदान एव अशदान—सघ सरकार को विदेशो तथा अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो से अनुदान एव अशदान प्राप्त होते रहे है। इस मद से प्राप्त आय मे प्राय कमी-बेशी होती है तथापि सामान्य प्रवृत्ति वृद्धि की रही है। इस मद मे प्राप्त होने वाली राशियाँ भी अलग से 1972 73 से ही उपलब्ध है। 1972 73 मे अनुदान एव अशदान से प्राप्तियाँ 66 करोड रु थीं जो बढकर 1975 76 मे 521 करोड रुपये पुन घटकर 1976 77 मे 195 करोड रु और फिर पुन बढकर 1981 82 मे 319 5 करोड रु हो गई। 1982 83 मे यह राशि 324 1 और 1991 92 मे 714 करोड रु होने का अनुमान है।

केन्द्रीय सरकार की आय मे गैर-कर स्रोतो का महत्त्व निरन्तर बढ रहा है। भारत सरकार की कुल आय का लगभग 27 प्रतिशत भाग इन स्रोतो से प्राप्त होता है। पचवर्षीय योजनाओ के सम्बन्ध में गैर-कर साधनो का महत्त्व और भी बढ गया है क्योंकि योजनाओ को पूरा करने के लिए बडी मात्रा मे वित्त की आवश्यकता होती है और गैर-कर स्रोतो की आय का उपयोग इस उद्देश्य के लिए किया जा सकता है। गैर-कर स्रोत इस दृष्टि से भी अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जनता प्राय नए करो का विरोध करती है। इसके अतिरिक्त अधिक करारोपण के प्रभाव बहुमुखी होते है जिनमे से कुछ जनता के लिये विशेष कष्टकारी होते है। गैर-कर साधन बडे लचीले होते है जिनमे अपेक्षाकृत अधिक आसानी से वृद्धि की जा सकती है। कराधान जाँच आयोग ने केन्द्र एव राज्य सरकारो की आय मे गैर-कर आय स्रोत के महत्त्व के विषय मे लिखा था कि— केन्द्र और राज्य दोनो ही स्तरो पर गैर कर आय के स्रोत देश के सार्वजनिक वित्त मे एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का निर्माण करते है। प्रशासनिक तथा अन्य विविध आयो को छोड़कर गैर-कर आय के स्रोत के अन्तर्गत राजकीय उपक्रम की बचते शामिल होती है जो कि राजकीय आय का एक बढता हुआ स्रोत है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यापारिक उपक्रमो को कुशलतापूर्वक चलाया जाकर लाभ प्राप्त किया जाए और इनसे योजनाओ की समुचित ढग से वित्त-व्यवस्था की जाए।

सार्वजनिक उपक्रमो से लाभ (Profits from Public Enterprises)—वे उपक्रम जो स्वय केन्द्र अथवा राज्य सरकार के स्वामित्व के अन्तर्गत सचालित किये जाते है सार्वजनिक उपक्रम कहलाते है। ये लाभ गैर कर राजस्व के महत्त्वपूर्ण स्रोत बन सकते है यदि इन्हे कुशलतापूर्वक सचालित किया जाये। इनसे प्राप्त लाभो का उपयोग आर्थिक विकास की योजनाओ के लिये किया जा सकता है। इनके कुशल सचालन के लिये सुयोग्य तथा अनुभवी प्रबन्धको की आवश्यकता होती है। अविकसित देशो मे सार्वजनिक उपक्रम प्राय जनोपयोगी सेवाओ के क्षेत्र मे होते है जिनमे लाभ की सभावनाये कम होती है। प्रबन्ध कुशलता का भी अभाव होता है अत अविकसित देशो मे ये उपक्रम वित्त के महत्त्वपूर्ण स्रोत नही होते। एक ऐसी विचारधारा भी प्राय प्रचलित होती है कि सार्वजनिक उपक्रमों का उद्देश्य लाभ कमाना न होकर कुशल एव सस्ती सेवाये प्रदान करना होता है परन्तु भारतीय कराधान जाँच आयोग के अनुसार यह आवश्यक नही कि लाभ प्राप्ति का उद्देश्य कुशल सेवा के उद्देश्य से मेल न खाता हो।

आज विश्व में लगभग सभी देशों मे सार्वजनिक उपक्रम स्थित है। भारत मे स्वतन्त्रता से पहले सार्वजनिक उपक्रमो की सख्या 5 थी जो 1991 मे 236 हो गयी। सार्वजनिक उपक्रम सर्वेक्षण 1990 91 के अनुसार कार्य कर रहे 236 सार्वजनिक उपक्रमो मे से 124 लाभ कमा रहे है 109 हानि अर्जित कर रहे है तथा 3 उपक्रमो ने न कोई लाभ कमाया न हानि। सार्वजनिक उपक्रमो का शुद्ध लाभ 1989 90 मे 3788 67 करोड रु था जो 1990 91 मे घटकर 2367 74 करोड रु रह गया।

केन्द्र सरकार की कुल राजस्व प्राप्तियाँ (करोड रुपयों में)

वर्ष	प्राप्ति
1950-51	405 86
1960-61	877 46
1970-71	3340 43
1980-81	12894 00
1990-91	52,254 00
1994 95	1,45,699 00
1995 96	1,68,468 00
1996-97	1,95,398 00
1997 98	2,32 176 00

केन्द्रीय सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ

(Capital Receipts of the Central Govt.)

वर्तमान मे रिजर्व बैक द्वारा केन्द्रीय सरकार की पूँजीगत प्राप्तियों को निम्नलिखित 14 भागों में वर्गीकृत किया गया—

1 आन्तरिक बाजार ऋण
2 स्पेशल बियरर बॉण्ड
3 बाह्य ऋण
4 मुद्रा-कोष ट्रस्ट फण्ड से ऋण
5 लघु बचते
6 सार्वजनिक भविष्य निधि
7 राज्य भविष्य निधि
8 ऋण व अग्रिम की वसूली
9 रेलवे रिजर्व फण्ड
10 गैर-रेलवे सरकारी भविष्य निधि से विशेष जमा
11 रिजर्व बैंक से अनिवार्य जमा के विरुद्ध विशेष ऋण
12 एल आई सी एव जी आई सी आदि से प्राप्त जमा
13 अन्य प्राप्तियाँ
14 कुल पूँजीगत प्राप्तियाँ।

अब उपरोक्त सभी मदों से पिछले कुछ वर्षों मे प्राप्तियों का विवेचन निम्न प्रकार है—

(1) आन्तरिक बाजार ऋण—आन्तरिक बाजार मे जनता से लिए गए ऋणो की कुल राशि ऋणों के भुगतान और ऋणों से प्राप्त शुद्ध राशि को इस मद के अन्तर्गत दिखाया जाता है। 1969 70 मे आन्तरिक बाजार ऋणों की शुद्ध राशि केवल 143 1 करोड रुपये थी जो बढकर 1988 89 में 7250 करोड रुपये और 1991 92 में 8918 करोड रुपये हो गई। इस प्रकार इस अवधि मे आन्तरिक बाजार ऋणों में लगभग 62 गुना से भी अधिक वृद्धि हुई है।

(2) बाह्य ऋण—केन्द्रीय सरकार द्वारा लिए जाने वाले बाह्य ऋण इस मद के अन्तर्गत आते हैं। 1969 70 मे बाह्य ऋण (शुद्ध) से प्राप्त राशि 4541 करोड रुपये थी। 1983 84 मे यह राशि 1629 करोड रुपये थी। 1988 89 मे यह राशि 3216 करोड रुपये थी और 1991 92 में 6915 करोड रुपये हो गई। इस प्रकार इस स्रोत से प्राप्तियों में 1969 70 की तुलना में 1991 92 मे लगभग 15 गुना वृद्धि हुई है।

(3) मुद्राकोष ट्रस्ट फण्ड से ऋण—1980 81 मे मुद्रा कोष ट्रस्ट फण्ड से 540 करोड रु ऋण लेना अनुमानित था जबकि वास्तव मे 537 7 करोड रुपये लिया गया। 1981 मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से एक्सटेन्डेड फण्ड फेसिलिटी के अन्तर्गत भारत सरकार ने 5 बिलियन एस डी आर (Special Drawing Rights) या 580 करोड डालर अथवा 5,220 करोड रुपये का ऋण लिया। उक्त ऋण की अदायगी की जा चुकी है। वर्ष 1989 90 के बजट के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 650 करोड रुपये की प्राप्ति हुई।

(4) लघु बचत—लघु बचतो से प्राप्त होने वाली राशि 1969 70 मे केवल 128 8 करोड रुपये थी जो 1988 89 में 4600 करोड रु और 1991 92 मे 7210 करोड रु हो गई। इस प्रकार इस मद के अन्तर्गत प्राप्त राशियों मे 1969 70 की तुलना मे 1991 92 में 56 गुना वृद्धि हुई।

(5) भविष्य निधि—भविष्य निधि सम्बन्धी दो कालम पूँजीगत प्राप्तियो मे होते है—सार्वजनिक भविष्य निधि राशि तथा राज्य भविष्य निधि राशि। दोनो ही राशियों मे शुद्ध प्राप्तियाँ दिखाई जाती है। 1969 70 में सार्वजनिक भविष्य निधि (शुद्ध) से केवल 1 2 करोड रु की प्राप्ति हुई जबकि 1991 92 के अनुसार यह राशि 760 करोड रु हो गई। इस प्रकार इस अवधि मे इस मद मे लगभग 633 गुना वृद्धि हुई। 1969 70 में राज्य भविष्य निधि (शुद्ध) की प्राप्ति 79 करोड रु थी जो बढकर 1991 92 के अनुसार 1300 करोड रु हो गई। इस प्रकार इस अवधि में इस मद मे 16 गुना से भी अधिक वृद्धि हुई। 1991 92 में 2060 करोड रु कुल भविष्य निधि मे पूँजीगत प्राप्ति हुई।

(6) ऋण तथा अग्रिम की वसूली—केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकारो केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों विदेशी सरकारो नगरपालिकाओं बन्दरगाहो ट्रस्टो वित्तीय सस्थाओं निजी क्षेत्रो की कम्पनियो और सस्थाओ सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक तथा वाणिज्यिक सस्थानो सहकारी समितियो शासकीय कर्मचारियो आदि को जो ऋण दिए जाते है उनकी वसूली इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखाई जाती है। इन प्राप्तियो मे वृद्धि का कारण अधिक मात्रा में ऋणो का दिया जाना है। 1969 70 में इस मद की राशि 904 7 करोड रु थी जो बढकर 1991 92 के अनुसार 5966 करोड रु हो गई। सामान्य प्रवृति वृद्धि की रही है तथापि किन्हीं वर्षों मे राशियो मे उतार चढाव भी रहे हैं।

(7) रेलवे रिजर्व फण्ड—रेलवे कई प्रकार की रिजर्व फण्ड रखती है जैसे—रेवेन्यू रिजर्व फण्ड डवलपमेंट फण्ड मूल्य ह्रास रिजर्व फण्ड पेशन फण्ड एक्सीडेंट कम्पनसेशन फण्ड रेलवे स्टाफ बेनीफिट फण्ड आदि। इन कोषों की सम्मिलित राशि 1969 70 में 35 करोड रु थी। 1973 74 मे यह राशि केवल 13 7 करोड रु रह गई जबकि अगले ही वर्ष 1974 75 मे बढकर 46 1 करोड रुपये हो गई। 1975 76 मे यह राशि मात्र 5 2 करोड रु थी जबकि 1976-77 मे 91 7 करोड रु रही। अगले वर्षों मे भी इसी प्रकार उतार चढाव होता रहा। 1991 92 के अनुसार इस स्रोत से प्राप्त राशि 290 करोड रु थी।

उपरोक्त स्रोतों (लघु बचत भविष्य निधि ऋण एव अग्रिम की वसूली तथा रेलवे रिजर्व फण्ड) आदि की प्राप्तियाँ कुछ चुने हुए वर्षों मे निम्न तालिका से स्पष्ट है—

केन्द्रीय सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ (करोड रुपयो में)

वर्ष	पूँजीगत प्राप्तियाँ
1980 81	7261
1990 91	38997
1992 93	36178
1993 94	55440
1994 95	68695
1995 96	55338
1996-97	64615
1997 98	79 035

(8) गैर सरकारी भविष्य निधि से विशेष जमा—गैर सरकारी भविष्य निधि से विशेष जमा राशि के आँकडे 1975 76 से ही अलग से प्राप्त है। 1975 76 मे 104 करोड रु की प्राप्ति हुई थी जबकि 1983 84 के अनुसार प्राप्तियो की राशि 850 करोड रु थी। इस प्रकार इस अवधि मे इन प्राप्तियो में लगभग 8 गुना वृद्धि हुई। वर्ष 1988 89 मे विशेष जमा से प्राप्ति की राशि 5173 करोड रु रही। वर्ष 1989 90 में ये प्राप्तियाँ 5850 करोड रु अनुमानित की गई।

(9) अनिवार्य जमा के विरुद्ध रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया के विशेष ऋण—केन्द्रीय सरकार ने 1976 77 मे रिजर्व बैक से अनिवार्य जमा के विरुद्ध विशेष ऋण लिए है। इनकी राशि 1976 77 मे

480 करोड रुपये थी जबकि 1983 84 के अनुसार मात्र 90 करोड रुपये थी। 1991 92 में यह राशि 55 करोड रु रही।

(10) जीवन बीमा निगम तथा सामान्य बीमा निगम आदि से प्राप्त जमा—भारत सरकार 1980 81 से जीवन बीमा निगम तथा सामान्य बीमा निगम से जमा प्राप्त करती है। 1980 81 में ये जमा राशियाँ 110 करोड़ रु थीं जो बढकर 1981 82 मे 247 करोड़ रु हो गई 1983 84 के अनुसार 140 करोड रु थीं।

(11) अन्य प्राप्तियाँ—इस शीर्ष मे कई प्रकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ दिखाई जाती है। इनमें पी एल 480 जमा अग्रिम उचत एव विविध प्राप्तियॉं रिजर्व फण्ड अन्तर्राज्यीय तेल साख समाशोधन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैक एशियन विकास बैक अन्तर्राष्ट्रीय विकास सस्था को जारी स्पेशल सिक्योरिटीज इनामी बॉण्ड तथा एन्युइटी सर्टिफिकेटस आदि सम्मिलित है। इनसे प्राप्त कुल राशियाँ घटती बढती रही है। 1969 70 मे यह प्राप्तियाँ 189 4 करोड रु थीं जो 1974 75 में 76 7 करोड रु रह गई और घटते बढते 1978 79 मे 460 8 करोड रु रही। 1983 84 के अनुसार प्राप्त राशि 302 5 करोड रु थी। 1988 89 के बजट मे अन्य प्राप्तियॉं 3489 करोड रु थी। 1994 95 मे यह राशि 811 करोड रु दिखाई गई है।

(12) कुल पूँजीगत प्राप्तियाँ—इसमे भारत सरकार को प्राप्त होने वाली कुल पूँजीगत प्राप्तियो का योग दिखाया गया है। 1969 70 मे कुल पूँजीगत प्राप्तियाँ 2508 करोड रु की थीं जो बढ़कर 1984 85 मे 17 777 82 करोड रु हो गई और 1994 95 मे 59 615 करोड रुपये अनुमानित की गई है।

राज्य सरकारो की आय की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(Major Trends in the Revenues of State Govts)

राज्य सरकारो के आय स्रोतो की सक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार है—

(अ) राज्य सरकारो द्वारा लगाये जाने वाले कर तथा शुल्क

(ब) नागरिक प्रशासन एव विविध कार्य

(स) केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करों मे राज्यो का अश यथा—उत्पादन कर आयकर एव आस्तिकर मे राज्यो का हिस्सा

(द) केन्द्र से प्राप्त होने वाला अनुदान एव

(य) सार्वजनिक व्यवसायो से आय।

राज्यो के कर राजस्व का 70 प्रतिशत से कुछ अधिक भाग लगान बिक्री कर राज्यीय उत्पादन शुल्क रजिस्ट्री तथा स्टाम्प शुल्क और आयकर तथा केन्द्रीय उत्पादन शुल्को के अश से प्राप्त होता है जो राज्यो से कुल राजस्व का आधे से अधिक भाग है। सम्पत्ति कर चुंगी तथा सीमा कर स्थानीय वित्त के मुख्य स्रोत है।

सघीय सरकार के समान राज्य सरकारों के आय स्रोतो को मुख्य दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) कर राजस्व एव (2) गैर कर राजस्व।

राज्य सरकारो के गैर कर राजस्व की मुख्य मदें है—(1) प्रशासकीय प्राप्तियाँ (2) सरकारी उद्यमों का वास्तविक अभिदान (3) वन (4) सिचाई (5) बिजली योजनाएँ (6) सडक और जल परिवहन (7) उद्योग और दूसरे राजस्व एव (8) सहायक अनुदान और दूसरे अभिदान।

राज्य सरकारो की आय की कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार रही है—

1 सघ सरकार के समान ही राज्य सरकारो के कर-राजस्व मे ठोस वृद्धि हुई है। राज्यों का कर राजस्व 1951 52 मे 281 करोड रुपये था जो बढकर 1973 74 में 3467 8 करोड रु 1981 82 मे 12 494 0 करोड रु 1983 84 मे 16 186 करोड़ रु और 1992 93 में 50823 करोड रु हो गया। इस प्रकार 1951 52 की तुलना मे 1992 93 तक राज्य सरकारो के कर राजस्व मे लगभग 180 गुना वृद्धि हुई। 1973 74 की तुलना मे यह वृद्धि लगभग साढे चौदह गुना हुई। राज्यों की कर आय मे उन करो की आय भी शामिल है जो केन्द्र द्वारा वसूल किए जाते है और पूर्णत या अशत राज्यो मे वितरित कर दिए जाते है।

2 राज्यो के लिए वस्तु कर-राजस्व का सर्वोत्तम स्रोत सिद्ध हुआ है। वस्तु-करों मे सघीय उत्पाद शुल्कों में राज्यों द्वारा लगाये जाने वाले उत्पादन शुल्क तथा सामान्य बिक्री-कर आदि सम्मिलित होते हैं। बिक्री-कर राज्यों के कर-राजस्व में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। राज्यो को 1991-92 मे अपने कर-राजस्व का 58 प्रतिशत भाग इसी से प्राप्त हुआ। 1951 52 में बिक्री-कर से राज्य सरकारों को 58 93 करोड रुपये की आय हुई थी जो बढकर 1981 82 में 4892 90 करोड रुपये 1983-84 में 6437 40 करोड रुपये और 1991 92 मे 20,090 करोड रु हो गया। उत्पादन करों से 1981 82 मे राज्यो को कर-आय का 8 प्रतिशत से भी कुछ अधिक भाग प्राप्त हुआ। 1951-52 में उत्पादन-करों से राज्यों को केवल 49 1 करोड रु प्राप्त हुए थे। यह आय 1981-82 में बढकर 1115 30 करोड रु 1983 84 में 1499 50 करोड रुपये हो गई और 1991 92 मे 5338 करोड रु हो गई।

3 विगत वर्षों में कृषि आय-कर का महत्त्व कम होता जा रहा है और इस कर से राज्यों को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं होती। 1983 84 मे इससे मात्र 39 3 करोड रु की आय प्राप्त हुई जो 1991 92 में बढकर 204 2 करोड रु हो गई। व्यवसाय-कर से प्राप्त होने वाली आय कृषि आय-कर से कुछ अधिक है। 1983 84 मे व्यवसाय-कर से राज्यों को 90 करोड रु की आय हुई थी।

4 राज्यो को जिन मुख्य करों से ज्यादा आय प्राप्त होती है उनमे स्टाम्प शुल्क तथा रजिस्ट्रेशन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1964 65 मे इस स्रोत से केवल 65 2 करोड रु की आय हुई थी जबकि 1983 84 मे इस स्रोत से 6238 करोड रु तथा 1991 92 मे 2373 करोड रु की आय हुई।

5 गैर-कर या कर-भिन्न राजस्व भी राज्यो की आय का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। 1951 52 में राज्यों का कर-भिन्न राजस्व लगभग 115 करोड़ रु था जो बढ़कर 1973 74 मे 2084 2 करोड़ रु और 1983 84 में 7482 5 करोड रु और 1991 92 में 26984 2 करोड रु हो गया। इस प्रकार 1950 51 की तुलना में 1991 92 तक इस स्रोत से प्राप्त आय मे लगभग 234 गुना वृद्धि हुई। 1973 74 की तुलना में यह वृद्धि 13 गुना से कुछ कम हुई। राज्यो की सम्पूर्ण आय का लगभग 34 6 प्रतिशत भाग 1992 93 में राज्य सरकारों को गैर-कर स्रोतो से प्राप्त हुआ।

6 केन्द्रीय करों मे राज्यों का हिस्सा निरन्तर बढता जा रहा है। केन्द्र से राज्यों को साधनो का हस्तान्तरण भारत मे सघीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ है। करो और शुल्को के रूप मे 1966 67 में राज्यो को 373 करोड रु का 1975 76 में 1599 करोड रुपये का 1980-81 में 3,791 करोड रुपए का 1994 95 मे 24 394 करोड रुपयो का हस्तातरण हुआ।

7 प्रतिवर्ष केन्द्रीय सरकार से राज्यों को वित्त आयोग की सिफारिशो के आधार पर काफी बड़ी मात्रा में सहायक अनुदान प्राप्त होता है जिसकी सहायता से प्रादेशिक सरकारें योजना कार्यक्रमो को पूरा करती हैं। केन्द्र से राज्यो को पहली योजना में 288 करोड रुपये का दूसरी योजना में 789 करोड रुपये का तीसरी योजना में 1304 करोड रुपये का चौथी योजना में 3831 करोड रुपये का पाँचवी योजना में 8197 करोड रुपये का अनुदान मिला। छठी योजना के दौरान 1980-81 मे 2652 करोड रुपये 1981 82 मे 2727 करोड रुपये 1982 83 मे 3488 करोड रुपये और 1983 84 में 3942 करोड रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ। नवें वित्त आयोग ने 1990 95 मे 15017 18 करोड रु के सहायक अनुदान की सिफारिश की है।

8 राज्यों के वित्तीय साधनो मे अल्प बचत सग्रह का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सम्पूर्ण विश्लेषण से यही प्रकट होता है कि राज्यो की आय मे निरन्तर वृद्धि हो रही है पर साथ ही व्यय में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। विगत कुछ वर्षो मे राज्यो ने अनेक नये कर लगाए है जिनसे उनकी आय बढी है। राज्य सरकारो के कुल आय में कर-आय का प्रतिशत लगभग 66 और गैर-आय का प्रतिशत लगभग 34 है। विगत वर्षों मे बिक्री कर राज्यो की आय का प्रमुख स्रोत बन गया है। राज्य वित्त के अवरोहीपन में वृद्धि हुई है। विशेषकर बिक्री-कर लगाने से एव स्टाम्प रजिस्ट्रेशन मनोरजन तथा राज्य उत्पादन-करों में वृद्धि होने से अवरोहीपन का अश पूर्वापेक्षा बढ गया है। मद्य-निषेध की नीति के परिणामस्वरूप राज्यों की वित्तीय स्थिति मे कठिनाई उत्पन्न हुई है। इसके

कारण उनकी आय मे कमी हुई। मद्य-निषेध की नीति को क्रियान्वित करने मे व्यय बढा है। अब सभी राज्यो मे मद्य-निषेध लगभग समाप्त कर दिया है ताकि आय में वृद्धि हो सके।

राज्यों को केन्द्र से मिलने वाली वित्तीय सहायता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अब केन्द्र द्वारा राज्यों को आय-कर, जायदाद-कर तथा सघीय उत्पाद-कर में से अधिक राशि दी जाने लगी है।

आज राज्य एक बड़ी सीमा तक अपने राजस्व के लिए अनेक केन्द्रीय करों की प्राप्तियो पर निर्भर हैं। इस स्थिति से ऊपर उठने के लिए उन्हे राजस्व के अपने ही साधनों में वृद्धि करने के उपाय खोजने होंगे। चूँकि सविधान में राज्यो को सौंप गए कर अधिकाशत. बेलोचदार प्रकृति के है, अत, इस दिशा में आर्थिक दूरदर्शिता और साहस ही कुछ चमत्कार दिखा सकते है। इस दिशा में कुछ आशा बँधने लगी है।

राज्य सरकारों की पूँजीगत प्राप्तियाँ

(Capital Receipts of State Governments)

केन्द्रीय सरकार की भाँति ही राज्यो को पूँजीगत प्राप्तियाँ होती है जिनको निम्न प्रमुख शीर्षों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) आन्तरिक ऋण—इसमे बाजार स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया व अन्य बैंको, जीवन बीमा निगम तथा अन्यो से लिए गए ऋण सम्मिलित है।

(2) केन्द्र से प्राप्त ऋण।

(3) ऋण व अग्रिम की वसूली।

(4) लघु बचते, भविष्य निधि आदि।

(5) अन्तर्राज्यीय समायोजन।

(6) काटिन्जेसी फण्ड।

(7) रिजर्व फण्ड।

(8) जमा तथा अग्रिम।

(9) उचत तथा विविध।

(10) काटिन्जेसी फण्ड से समायोजन।

(11) अन्य।

भारत में कर सुधार

(Tax Reforms in India)

कर सुधारो से तात्पर्य उन प्रमुख कर परिवर्तनों से है जिनके द्वारा किसी देश की कर प्रणाली में सुधार लाये जा सकते है। युद्धोत्तर काल मे इस प्रकार के सुधारो की आवश्यकता मे वृद्धि हुई है जिसके अनेक कारण रहे है, जैसे—सरकार के उत्तरदायित्व मे वृद्धि, अर्थव्यवस्था मे असतुलनों को दूर करना, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा प्राप्त करना, आर्थिक क्रियाओं का विश्वीकरण (Globalisation of Economic Activities), जनसख्या में परिवर्तन इत्यादि।

भारत मे सन् 1950 के पश्चात् योजनाबद्ध आर्थिक विकास की क्रियाओं के फलस्वरूप केन्द्र एव राज्यों के व्ययो मे वृद्धि की प्रवृत्ति रही है अत साधनों को बडे पैमाने पर गतिशील करने की आवश्यकता है जिसमें करारोपण की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। यही कारण है कि योजना काल में भारत सरकार ने कर सुधारों के सदर्भ मे कई जॉच समितियों एव आयोगो की स्थापना की है ताकि उनके सुझावों के आधार पर देश मे कर सुधार किये जा सकें।

(i) कर जाँच आयोग (1953-54)—अप्रेल सन् 1953 में डॉ. जॉन मथोई की अध्यक्षता मे भारत सरकार ने कर जॉच आयोग (Taxation Enquiry Commission) की नियुक्ति की। आयोग के प्रमुख उद्देश्य थे—(i) देश मे विभिन्न वर्गों पर कर भार (Incidence) का परीक्षण करना (ii) आर्थिक विकास करने तथा आर्थिक विषमताओं को दूर करने के परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान कर प्रणाली की जाँच करना (iii) वर्तमान कर-स्तर का आय, पूँजी निर्माण, लाभकारी उद्यमो के विकास आदि पर प्रभाव ज्ञात करना (iv) करारोपण का आर्थिक स्थायित्व मे किस प्रकार अधिक उपयोग किया जाये इसकी जाँच करना (v) वर्तमान कर प्रणाली में उपयुक्त परिवर्तनों के लिए सुझाव देना।

इस आयोग की स्थापना से पूर्व भी एक कर-जाँच समिति (Taxation Enquiry Committee) ने अपना प्रतिवेदन सन् 1925 में दिया था किंतु उस समय की परिस्थितियाँ अत्यधिक भिन्न थी।

आयोग द्वारा मालूम किये गये तथ्य भारतीय कर सुधारों के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आयोग के अनुसार केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये करों का भार शहरी क्षेत्रों में अधिक है विशेषकर विक्रय कर केन्द्रीय उत्पादन शुल्क तथा आयात कर आदि के कारण। लगभग पूरे देश में भू-राजस्व (Land Revenue) का भार विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है अतः इसमे वृद्धि की जानी चाहिये। आयोग के अनुसार स्थानीय सरकारों की आय में बहुत मंद गति से वृद्धि हुई है। राज्य सरकारों की कर आय में लोचशीलता के महत्त्वपूर्ण कारण उनकी केन्द्रीय करों मे हिस्सेदारी तथा केंद्र सरकार से प्राप्त अनुदान रहे हैं। केन्द्र की आय तथा राज्यों की आय में पुराना विरोध लगभग समाप्त हो गया है।

आयोग का सुझाव था कि साधनों को निजी उपयोग से सार्वजनिक विनियोग (Public Investment) की ओर गतिशील किया जाना चाहिए। इसके लिए विलासिताओं पर अधिक दर से तथा आम आवश्यकता की वस्तुओं पर तुलनात्मक रूप से कम दर से करारोपण किया जाना चाहिये। व्यक्तिगत आय पर कर अधिक दर से करारोपण का सुझाव दिया गया किंतु साथ ही यह भी कहा गया कि बचतों के निवेश पर छूट दी जानी चाहिये। विकास व्यय के एक अंश की पूर्ति करारोपण द्वारा की जानी चाहिये। मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) का सुझाव दिया गया।

यह कहा गया कि कृषि आयकर (Agriculture Income Tax) की दरों तथा इसके भौगोलिक क्षेत्र में वृद्धि की जानी चाहिए। इसी प्रकार आयोग ने अनेक नये करों को लगाने का सुझाव दिया जिन्हें उपयुक्त समय पर ही लगाना चाहिये। विभिन्न करों में समन्वय की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। शनैः-शनैः कृषि आय एवं गैर कृषि आय में करारोपण के दृष्टिकोण से अन्तर को समाप्त किया जाना चाहिये।

अवितरित लाभों (Undistributed Profits) पर करों में छूट की वर्तमान परंपरा को जारी रखने का सुझाव दिया गया ताकि उत्पादक उद्यमों के विकास को प्रोत्साहन मिलता रहे। नई स्थिर संपत्ति की लागत पर 25% की विकास छूट (Development Rebate) का सुझाव भी इस उद्देश्य के लिए दिया गया।

(ii) भारतीय कर प्रणाली पर काल्डर का प्रतिवेदन (Kalder's Report on the Indian Tax System)—इस प्रतिवेदन का शीर्षक भारतीय कर सुधार 1956 (Indian Tax Reform 1956) था जिसे काल्डर ने प्रत्यक्ष करों तक ही सीमित रखा था। काल्डर के अनुसार भारतीय कर ढाँचा (Tax Structure) विषम (Inequitable) तथा अकुशल (Inefficient) था। क्योंकि आय कर के अंतर्गत आय की परिभाषा कर भुगतान क्षमता का सही मापदंड नहीं है। बड़े पैमाने पर कर वंचन (Tax Evasion and Avoidance) इसकी अकुशलता का प्रमाण है। इन कमियों को दूर करने के लिए कुछ नये प्रत्यक्ष करों के एक एकीकृत स्वरूप का सुझाव दिया गया।

कृषि एवं अकृषि संपत्ति को सम्मिलित करते हुये एक वार्षिक संपत्ति कर (Annual Tax on Wealth) का सुझाव दिया गया जो कि समता (Equity) आर्थिक प्रभाव तथा प्रशासनिक कुशलता की दृष्टि से वाछनीय होगा।

उत्तराधिकार कर (Estate Duty) के स्थान पर एकल उपहार कर (Gift Tax) का सुझाव दिया गया जो कि अधिक समतापूर्ण होगा। काल्डर व्यय कर (Expenditure Tax) का प्रबल समर्थक था। इस कर के वंचन की संभावना कम होगी। निगम कर (Corporation Tax) की जटिलता को दूर करने का सुझाव भी दिया गया।

(iii) प्रत्यक्ष कर जाँच समिति 1970—वांचू समिति (Direct Taxes Enquiry Committee 1970 Wanchoo Committee)—इस समिति की नियुक्ति श्री के. एन. वांचू की अध्यक्षता में मार्च 1970 में की गई। कर वंचन के माध्यम से उत्पन्न काले धन की समस्या के समाधान तथा करारोपण में कुशलता लाने से सम्बन्धित सुझाव देने का कार्य इस समिति को सौंपा गया।

भारत में इन दिनो पिछले 2 दशको मे काले धन की समस्या बहुत बढ गई थी। समिति का सुझाव था कि आयकर विभाग को छापे (Search and Seizure) सबंधी अधिकारों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। सरकार द्वारा आयकर की सीमान्त दर को कम किया जाना चाहिए। छोटे करदाताओं में आयकर विभाग के असमानता पूर्ण दृष्टिकोण का भय व्याप्त रहता है जिसे दूर किया जाना चाहिये। कुछ सीमाओं के अन्दर व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के लिए मनोरजन व्यय तथा अतिथि-गृहों पर व्यय आदि को आय मे से घटाने का प्रावधान किया जाना चाहिए यदि उद्देश्य व्यावसायिक विकास हो। कर वचन के कारण दण्ड की राशि को भी उचित सीमाओं मे रखना चाहिए। समिति ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिये। जहाँ तक सभव हो विक्रय कर को अतिरिक्त उत्पादन शुल्क (Additional Excise Duty) से प्रतिस्थापित किया जाना चाहिये क्योंकि आयकर वचन विक्रय कर वचन से जुडा हुआ होता है। व्यावसायिक आय से सबधित लेखों का रखना अनिवार्य किया जाना चाहिये। इस प्रकार समिति ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे।[1]

(iv) कृषि सपत्ति एव आय पर कर समिति का प्रतिवेदन—राज समिति (Report of the Committee on Taxation of Agricultural Wealth and Income—Raj Committee)—इस समिति का गठन फरवरी 1972 मे डॉ के एन राज की अध्यक्षता मे हुआ था। अक्टूबर सन् 1971 मे कृषि क्षेत्र मे साधनो को गतिशील करने के सम्बध मे मुख्यमत्रियो का एक सम्मेलन बुलाया गया था। इसी सम्मेलन ने राज समिति की स्थापना का सुझाव दिया था। कृषि सपत्ति एव आय पर कर सबधी सुझाव देने का कार्य इस समिति को सोपा गया। समिति ने अपना प्रतिवेदन अक्टूबर 1972 मे प्रस्तुत किया। प्रमुख सुझाव निम्नलिखित थे—

(i) कृषको पर एक प्रगतिशील कृषि जोतकर (AHT or Agricultural Holding Tax) लगाया जाना चाहिए यदि उनके पास कोई अतिरिक्त कर योग्य आय न हो।

(ii) यदि कृषक की कोई अकृषि कर योग्य आय भी है तो उसमे कर की गणना हेतु कृषि आय को भी जोडा जाना चाहिये।

(iii) पशुपालन मुर्गीपालन मछली पालन दुग्ध व्यवसाय आदि से प्राप्त आय कर योग्य मानी जाये।

(iv) कृषि सपत्ति एव सपत्ति कर (Wealth Tax) का एकीकरण करके एक नये कर का निर्धारण किया जाना चाहिये।

(v) कृषि भूमि के हस्तान्तरण पर पूँजी लाभकर (Capital Gains Tax) लगाया जाना चाहिये।

राज समिति के अनुसार कृषि जोत का स्वरूप निम्न प्रकार का है—

(1) देश को जलवायु एव मिट्टी के प्रकार के अतर के आधार पर विभिन्न कृषि प्रदेशो मे बॉट दिया जाना चाहिए।

(2) विभिन्न कृषि प्रदेशो मे उत्पादन का अनुमान दस-वर्षीय औसत उत्पादन के आधार पर किया जाना चाहिए।

(3) कृषि उत्पादन का मूल्य तीन वर्षीय औसत कीमत के आधार पर प्राप्त किया जाना चाहिए।

(4) कृषि उत्पादन के कुल मूल्य का 40 45% उत्पादन लागत माना जाना चाहिए।

(5) विकास कार्यों हेतु कर छूट दी जानी चाहिए।

(v) अप्रत्यक्ष कर जॉच समिति का प्रतिवेदन, 1978 (Report of the Indirect Taxation Enquiry Committee 1978)—इस समिति की स्थापना जुलाई 1976 मे श्री एल के झा की अध्यक्षता मे की गई। समिति ने अपना प्रतिवेदन जनवरी 1978 मे प्रस्तुत किया।

समिति ने स्पष्ट किया कि भारतीय कर प्रणाली मे अप्रत्य करो की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। विकासशील देशो मे इस प्रकार की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है क्योंकि इनमे प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण प्रत्यक्ष करो से पर्याप्त आय प्राप्त नही की जा सकती है। इन देशो मे केवल अप्रत्यक्ष करो के माध्यम से ही अधिकाश लोगो से कर आय प्राप्त की जा सकती है। भारत मे योजनाबद्ध विकास के

1 *S K Singh* Public Finance in the Theory and Practice p 724

अन्तर्गत अधिक विनियोग के लिए करारोपण से आय मे वृद्धि करना अत्यधिक आवश्यक है ताकि अनावश्यक उपभोग पर रोक लगाई जा सके।

समिति का विचार था कि अप्रत्यक्ष कर प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए तथा उसमे स्वयमेव लोचशीलता (Built in Elasticity) का गुण होना चाहिए। इसमे वसूली व्यय न्यूनतम होना चाहिये तथा इसे देश की प्राथमिकताओं के अनुरूप होना चाहिए। भारत में इस क्षेत्र मे स्वयमेव लोचशीलता का अभाव पाया जाता है और यही कारण है कि प्रतिवर्ष अनेक वस्तुओं पर कर दरे बढाई जाती हैं। आय बढाने की आवश्यकता के कारण अनेक अनिवार्य उपभोग की वस्तुओं पर भी कर लगाये जाते हैं। भारत में अप्रत्यक्ष करों का वसूली व्यय अधिक होने के कारण सरकारी कोषागार को राशि कम प्राप्त होती है और वस्तुओं के मूल्यो मे वृद्धि तुलनात्मक रूप से अधिक होती है। इससे भारतीय वस्तुये अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा में कमजोर हो जाती है तथा निर्यात आय पर विपरीत प्रभाव पडता है। समिति के अध्ययन के अनुसार देश मे अप्रत्यक्ष करो का भार प्रगतिशील अवश्य है किंतु निर्धन वर्गों पर भी इसका भार अवश्य है।

समिति के अनुसार देश मे उत्पादन कर प्रणाली मे राष्ट्रीय आय के सदर्भ मे लोचशीलता कम है जबकि विक्रय कर मे यह अधिक है। ऐसा इस कारण है कि उत्पादन कर कुछ विशिष्ट वस्तुओं से ही अधिक सबधित है। समिति ने इस सदर्भ मे वस्तुओं की सख्या बढाने के प्रयासों की सराहना की है। उपभोक्ता वस्तुओं पर कर की दरों की सख्या मे कमी की जानी चाहिये ताकि प्रशासन मे यह सुविधा रहे तथा कर वचन कम हो। खाद्यान्न जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं पर उत्पादन कर नहीं होना चाहिए।[1]

(vi) **कर सुधार समिति का प्रतिवेदन—चलैया समिति प्रतिवेदन)** (Report of Tax Reforms Committee—Chelliah Committee Report)—भारत सरकार ने अगस्त 1991 मे इस समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष देश के माने हुये सार्वजनिक वित्त विशेषज्ञ डॉ आर जे चेलैया थे। दो वर्ष की समयावधि मे इस समिति ने निम्नलिखित तीन प्रतिवेदनो को प्रस्तुत किया

(i) कर सुधार समिति का अतरिम प्रतिवेदन (दिसबर 1991) (Interim Report of the Tax Reform Committee (December 1991)

(ii) अतिम प्रतिवेदन भाग I अगस्त 1992 (Final Report Part I Aug 1992)

(iii) अतिम प्रतिवेदन भाग II जनवरी 1993 (Final Report Part II Jan 1993)

समिति के अनुसार भारतीय कर ढॉचा विशेषरूप से अप्रत्यक्ष करो के सदर्भ मे अत्यधिक जटिल है। इसका प्रशासन भी असतोषजनक है जिसके परिणामस्वरूप विलब एव मतभेद की सभावनाये भी अधिक रहती हैं। परिणामस्वरूप साधनो के कुशल उपयोग तथा आर्थिक गतिविधियों के सुगम सचालन में अनेक बाधाये सामने आती है।

समिति के अनुसार आयकर के दृष्टिकोण से आय की परिभाषा को एक विस्तृत स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए ताकि कर का भुगतान क्षमता के अनुसार किया जाये। अन्य शब्दो मे वेतन के अतिरिक्त अन्य सुविधाओं ?? आदि को जहाँ तक सभव हो आय मे सम्मिलित किया जाना चाहिये। आय कर की दरो का विवेकीकरण किया जाना चाहिए जिसके अन्तर्गत प्रारभ मे तीन स्तर तथा अन्ततोगत्वा केवल दो ही स्तर रखे जाने चाहिये। जिन वर्गों की आय की जानकारी प्राप्त करना अत्यधिक कठिन हो उन पर अनुमानित आय के आधार पर कर लगाया जाना चाहिये।

समिति ने वर्तमान सपत्ति कर (Wealth Tax) को समाप्त करने का सुझाव दिया तथा इसके स्थान पर कुछ नये वार्षिक करो का सुझाव दिया जैसे—शहरी भूमि आवास गृहो तथा अन्य सपत्तियो पर कर इत्यादि। समिति ने वर्तमान निगम कर 51 75% को घटाकर 1993 94 मे 45% कर देने का सुझाव (अतिभार को समाप्त करते हुये) दिया तथा 1994 95 मे इसे 40% कर दने का सुझाव दिया। इसी प्रकार विदेशी निगमो पर भी कर भार को कम करने का सुझाव दिया। गैर कृषको की कृषि आय यदि 25 000 रु से अधिक हो तो उसे गैर कृषि आय के साथ जोडकर उस पर करारोपण किया जाना चाहिये। वर्तमान प्लाट एव मशीनरी पर 25%की ह्रास दर को बनाये रखने का सुझाव दिया गया। यह कहा गया कि ब्याज कर (Interest Tax) को समाप्त किया जाना चाहिए और उपहार कर की छूट सीमा

1 S K Singh Public Finance in Theory & Practice p 744

को 20,000 से बढा कर 30,000 रु. कर दिया जाना चाहिये। निर्मित माल पर आयात कर कच्चे माल पर आयात कर से अधिक होना चाहिये तथा मशीनों के कलपुर्जों पर यह आयात कर इन दोनों के मध्य स्तर का होना चाहिये। कृषि पदार्थों का आयात भी कुछ आयात कर के अन्तर्गत ही होना चाहिये।[1]

कर-सुधार से संबंधित निष्कर्ष—भारत में आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से करारोपण से आय को बढाना आवश्यक है अत इसकी जटिलताओं को दूर किया जाना चाहिये। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार करना चाहिए ताकि कृषि आय का सही हिसाब रखा जा सके और उस पर सही करारोपण किया जा सके। *शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक शिक्षा पर बल देना चाहिए ताकि लोग कर वचन से दूर रहें।*

भारत के विशेष सन्दर्भ में एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था की कर-संरचना में मुख्य परिवर्तन

इस विवेचन से यह भली प्रकार स्पष्ट हो चुका है कि भारत की कर-सरचना में क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं और किन मुख्य परिवर्तनों की सम्भावनाएँ प्रबल हैं। भारत एक विकासशील देश है और प्रत्येक विकासशील देश में मुख्यत वैसे ही परिवर्तन अपेक्षित हैं जो भारत में हुए हैं। वैसे प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था की अपनी मॉग होती है और तदनुसार ही न्यूनाधिक हेर-फेर किए जाते हैं। किसी भी विकासशील देश में सरकार की करारोपण की नीति ऐसी होनी चाहिए *जिससे देश में असमानता कम होती जाए, जन-कल्याणकारी कार्यों पर अधिकाधिक व्यय को प्रोत्साहन मिले और सार्वजनिक आय का* आकार क्रमश इस प्रकार बढे कि जनता को विशेष असन्तोष न हो। यद्यपि परिस्थितियोवश परोक्ष कराधान को अधिक महत्त्व देना पडता है लेकिन प्रयत्न यही होना चाहिए कि निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर पडने वाला कर भार अधिक कष्टकर न हो। भारत जैसे देश की विकासशील अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों मे कृषि को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। फलस्वरूप कृषि से यह आशा की जा सकती है कि *वह आर्थिक विकास की लागत का एक ठोस भाग वहन करे। विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए कृषि कराधान के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रत्यक्ष कर-कानूनों का ढाँचा ऐसा बनाया* जाना चाहिए और इनके प्रभाव को इस तरह नियमित किया जाना चाहिए कि काम, बचत और पूँजी लगाने मे प्रोत्साहन कम न हो व्यक्तिगत कठिनाइयो और असमानताओं को दूर करने मे सहायता मिले तथा उद्योग-व्यापार में पूँजी सही दिशा मे रहे। भारत मे यह उपलब्ध करो के ढॉचे में पडताल और सन्तुलन की व्यवस्था रखने, छूट और कटौती, आकलन और घटौती की सुविधा देने तथा कर लगाने के *अलग-अलग स्तर बनाने से हुई है।*

समृद्ध देशों के विपरीत हमारे देश में कुल जनसख्या के केवल एक छोटे से भाग की ही आय कर-योग्य है। लगभग 95 करोड की जनसख्या वाले इस देश मे 37 प्रतिशत से भी अधिक जनता गरीबी की रेखा से नीचे रहती है। इतनी विशाल जनसख्या वाले देश मे कर देने योग्य आय वालों की सख्या या करदाताओं की सख्या बहुत कम है।

हमें अपनी सम्पूर्ण कर-नीति की पुनर्रचना करनी होगी। प्रशासनिक व्यय को घटाकर बकाया कर वसूली करनी होगी और ऐसे उपाय करने होंगे जिससे कर-अपवचन रुके। करदेय क्षमता वाली जनसख्या अपनी क्षमता के अनुरूप कर चुकाए ऐसे उपाय करने होंगे।

सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नवीनतम विधायी उपाय सीमाओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किए जा रहे है। वैध आर्थिक गतिविधियो को प्रोत्साहित करने मे इनसे प्रेरणा और छूट मिलती है।

12

राज्यों के आय स्रोत

(Sources of Revenue of the States)

राज्य सरकारो की आय को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) राजस्व आय, (2) पूँजीगत आय।

राजस्व खाते मे आय के साधन

राजस्व आय अथवा राजस्व खाते मे आय के स्रोतो को मुख्यत दो भागो में बाँटा जा सकता है—

(अ) कर-आय (ब) गैर-कर आय।

(अ) कर-आय—कर-आय निम्न प्रकार की होती है—

(i) **आय पर कर**—इसमे केन्द्रीय सरकार से प्राप्त आय-कर मे भाग कृषि आय-कर (Agricultural Income Tax) तथा व्यवसाय-कर (Profession Tax) आदि आते है।

(ii) **सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदो पर कर**—इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाए गए आस्ति-कर (Estate Duty) मे हिस्सा, मालगुजारी स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन एव शहरी अचल सम्पत्ति पर कर (Urban Immovable Property Tax) आदि आते है।

(iii) **वस्तुओं और सेवाओं पर कर**—ये कर अप्रत्यक्ष कराधान के अन्तर्गत आते है। इसमे केन्द्रीय उत्पादन करों से राज्यो को मिलने वाला भाग राज्य उत्पादन-कर (State Excise), सामान्य बिक्री-कर, मनोरंजन कर, मोटरगाडी पर कर बिजली शुल्क तम्बाकू शुल्क तथा अन्य छोटे कर आते है।

(ब) गैर कर आय—गैर-कर आय के साधन निम्नलिखित हैं—

(i) **प्रशासकीय प्राप्तियाँ**—इसमे सार्वजनिक निर्माण कार्यों शिक्षा स्वास्थ्य एव चिकित्सा से प्राप्त आय सम्मिलित है।

(ii) **सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त आय**—इसमे वन, सिंचाई, विद्युत पूर्ति, सड़क एव जल परिवहन से आय तथा सरकारी उद्योग-धन्धों से मिलने वाला लाभ शामिल है।

(iii) **सहायक अनुदान**—राज्य सरकारो के लिए आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत केन्द्र से प्राप्त अनुदान की राशि भी है।

भारत मे सभी राज्यो की आय के मुख्य स्रोत और व्यय की मुख्य मदे लगभग एक-सी हैं तथापि भिन्न-भिन्न राज्यो मे आय के मुख्य स्रोतो का सापेक्षिक महत्त्व अवश्य भिन्न-भिन्न है।

भारत सरकार के आय और व्यय मे जिस प्रकार वृद्धि हुई है उसी प्रकार राज्य सरकारो का आय-व्यय भी तेजी से बढ़ा है। जहाँ तक आय का प्रश्न है 1951-52 मे राज्यो का कर-राजस्व 281 करोड रु था जो बढकर 1992-93 मे 50823 करोड रु हो गया। गैर-कर राजस्व 1951-52 में 115 करोड रुपये था जो बढकर 1992-93 मे 26984 2 करोड रुपये हो गया। इस प्रकार कर-राजस्व तथा गैर-कर राजस्व दोनो को मिलाकर 1951-52 मे राज्यो की आय 396 करोड रुपये थी जो बढकर 1992-93 मे 77807 2 करोड रु हो गई, अर्थात् 1951 52 की तुलना मे 1992-93 तक राज्य सरकारो की कुल आय मे लगभग 196 गुना वृद्धि हुई। 1981-82 में राज्य सरकारो का कुल राजस्व 18,454 6 करोड रु था। इस प्रकार 1981-82 की तुलना मे 1992 93 मे चार गुना से कुछ अधिक वृद्धि हुई।

राज्य सरकार के राजस्व मे निरन्तर वृद्धि हुई है, तथापि प्रतिशत के रूप में गैर-कर राजस्व घटा है। 1973-74 मे राज्य सरकारों का कर-राजस्व कुल आय का 62 5% था जो बढकर 1980 81 मे

63.9%, 1981-82 मे 67 7% और 1992-93 में 65 2% हो गया । गैर-कर राजस्व कुल आय का 1973-74 में 37.5% से बढकर 1980-81 में 36 1% हो गया । 1981-82 में यह प्रतिशत 32.3 और 1992-93 मे 34 6 रहा ।

राज्य सरकारो की आय के मुख्य स्रोत निम्न प्रकार है —

(1) कृषि आय-कर (Agricultural Income Tax)

भारत मे लगाए जाने वाले प्रगतिशील करो में कृषि आय-कर एक अच्छा साधन रहा है । सामान्य आय-कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाता है जो कृषि आय पर लागू नहीं होता । भारत में जब आय-कर पहली बार लगाया गया तो वह कृषि आय और गैर-कृषि आय दोनों पर लागू किया गया था। 1866 में इन दोनो मे भेद किया गया और कृषि आय-कर को समाप्त कर दिया गया । यह स्थिति 1937 तक चलती रही जब तक कि 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारो को कृषि आय पर कर लगाने की आज्ञा नहीं मिली । ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि प्रान्तीय काग्रेस सरकारे कृषि आय-कर लगाने का साहस दिखाकर प्रभावशाली वर्ग की अप्रसन्नता का कारण बने लेकिन प्रान्तीय सरकारो ने निर्भीक होकर कृषि आय-कर लगाया । इस दिशा में सबसे पहले बिहार सरकार ने 1938 मे बिहार कृषि आय-कर अधिनियम बनाकर कदम उठाया । इसके बाद असम (1939), बगाल (1944), उडीसा (1947), उत्तर प्रदेश (1948-49), हैदराबाद, त्रावनकोर-कोचीन, मद्रास, राजस्थान, कुर्ग, भोपाल एव विन्ध्य प्रदेश आदि छोटे-बडे 12 राज्यो मे कृषि आयकर लागू हो गया ।

स्वतन्त्र भारत मे कृषि आय-कर राजस्व के उन स्रोतो की परिधि मे आता है जो राज्यो को प्राप्त है । वर्तमान स्थिति यह कि देश के 25 राज्यो मे से केवल 10 में कृषि आय-कर सम्बन्धी अधिनियम बनाए गये और 9 राज्यो को ही आय प्राप्त हुई । असम, केरल, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु और पश्चिमी बगाल राज्यो मे कृषि आय-कर लगाया जाता है किन्तु वहाँ भी मुख्य रूप से यह चाय, कॉफी, रबड और काजू के बागानो पर ही लगाया जाता है । इन साधनो से उन्हें उल्लेखनीय आय होती है । दूसरी ओर बिहार महाराष्ट्र उडीसा और त्रिपुरा को केवल कुछ लाख रूपये ही प्राप्त होते है । कृषि में समृद्ध तीन राज्यो—पजाब, हरियाणा व गुजरात में कृषि आय-कर बिल्कुल नही है । कर की दरें तथा छूट की सीमाएँ विभिन्न राज्य में भिन्न-भिन्न है । कर निर्धारण से पूर्व आय मे से अदा किया गया भू-राजस्व और सिचाई तथा खेती आदि के खर्चे घटा दिए जाते है । भारत में किसानो के अशिक्षित होने के कारण वे उचित रीति से हिसाब-किताब नहीं रख पाते अत कुछ राज्यों मे यह विधि अपनाई गई है कि किसान अपनी भूमि के लिए जो भू-राजस्व देता है उसी के आधार पर उसकी आय का अनुमान लगा लिया जाता है ।

कृषि आय-कर केवल वास्तविक प्राप्त आय पर लगाया जाता है, क्योंकि यह कर भूमि की स्थिति के अनुसार लगाया जाता है इसमे करदाता को अन्य किसी स्रोत से आय प्राप्त नहीं होती अत कर की चोरी का प्रश्न भी नहीं उठता । कृषि आय-कर की दरो मे आय-कर के समान परत पद्धति या खण्ड प्रणाली अपनाई गई है । कर की छूट-सीमा के अतिरिक्त और अनेक प्रकार के कृषि कार्यों पर कर नहीं लगाया जाता है, जैसे—रहने के मकान से प्राप्त आय ट्रस्टी के अन्तर्गत दान तथा धार्मिक कार्यों के लिए प्राप्त आय, कृषि कम्पनी से प्राप्त आय जिस पर कर दिया जा चुका है आदि ।

कृषि आय-कर से आय

कृषि आय-कर का महत्त्व कम होता गया है और इससे राज्यों को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं होती, किन्तु इस कर का सार्वजनिक करो मे प्रमुख स्थान है । हाल के वर्षों में इससे आय में कुछ वृद्धि हुई है । 1951-52 मे इस मद से 4 करोड रुपये की आय मिली जो कि 1970-71 में बढकर 11 करोड रुपये हो गई तथा 1995-96 मे 210 करोड रुपये हो गई ।

कृषि आय-कर के पक्ष-विपक्ष मे तर्क

कृषि आय-कर के पक्ष मे सामान्यत कहा जाता है कि—

(1) यह कर राज्यो को उनके बढते हुए कार्यों के लिए, आवश्यक आय प्रदान करता है, । भारत में जमींदारी उन्मूलन होने के कारण उससे प्राप्त होने वाली आय घट गई है और अभी तक इस कर की प्रगति उत्साहजनक नहीं रही है ।

(ii) जब गैर-कृषि आय पर कर लगा है तो कृषि आय पर कर न लगाया जाए। यह तर्कसंगत नहीं है।

(iii) गरीबो पर मालगुजारी का भार अमीरों की अपेक्षा अधिक पडता है अत कृषको के मध्य कर भार की असमानता को कृषि आय-कर लगाकर दूर किया जा सकता है।

(iv) बहुत से व्यक्तियो को कृषि और गैर-कृषि दोनो ही प्रकार की आय प्राप्त होती है अत यदि केवल गैर-कृषि आय पर ही कर लगाया गया तो वे अपनी आय के एक बहुत बडे भाग पर कर देने से बच जायेंगे। भारत मे यह एक आम प्रवृत्ति है।

कृषि आय-कर के विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किए जाते है वे मुख्यत इस प्रकार है—

(i) कृषि आय पर कर लगाने से किसानों पर गहरा करारोपण हो जाता है क्योकि एक बार तो उन्हें मालगुजारी चुकानी पडती है और दूसरी बार आय-कर अदा करना पडता है किन्तु यह तर्क उचित नहीं है क्योकि मालगुजारी का भुगतान कृषि उत्पादन के अनुसार होता है जबकि यह आयकर कृषि से प्राप्त आय के अनुसार लगाया जाता है।

(ii) कृषि आय-कर से कृषको पर कर का भार बहुत अधिक हो जाता है। कृषको की आय इतनी अधिक नहीं होती कि वे कर दे सके। कराधान की दृष्टि से देखा जाए तो यह तर्क भी उचित नहीं है क्योकि यह कर तो केवल उन्हीं कृषकों की आय पर लगाया जाता है जिनकी आय न्यूनतम सीमा से अधिक हो। फिर इस कर का उद्देश्य कर-भार को बढाना न होकर आय की असमानताओं को दूर करना होता है।

(iii) कृषि आय-कर का प्रबन्ध व प्रशासन बडा कठिन है। भारत मे कृषक वर्ग अनपढ और अशिक्षित है। वह आय-व्यय का समुचित हिसाब-किताब नहीं रख सकता है अत इससे कृषि आय-कर के निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थिति होती है। यह तर्क महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योकि सामान्य आयकर देने वाले व्यक्ति भी अधिकाशत हमारे देश मे अशिक्षित ही है। वे अनुभव के आधार पर धीरे-धीरे हिसाब-किताब रखना सीख जाते है।

करारोपण जाँच आयोग के सुझाव

भारत में कृषि आयकर के सम्बन्ध मे करारोपण जाँच आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

1 कर व्यवस्था में कृषि आयकर का होना आवश्यक है क्योकि इससे न्यायशीलता की प्राप्ति सम्भव है।

2 कृषि आयकर का दीर्घकालीन उद्देश्य आयकर मे विलीनीकरण होना चाहिए और इसका विभाजन सघ एव राज्यो के अनुपात मे होना चाहिए।

3 सभी राज्यो को कृषि आयकर तीन हजार रुपये से अधिक आय पर लागू करना चाहिए ताकि राज्यो की आय बढ जाए और भूमि कर प्रणाली भी अधिक न्यायसगत हो। कर प्रत्येक प्रकार की कृषि पर लगना चाहिए।

4 कृषि आयकर की दरो एव छूट की सीमाओ मे विभिन्न राज्यो के मध्य जो अन्तर है उसे यथासम्भव दूर कर देना चाहिए।

5 कृषको की कृषि आय पर अधिभार लगाने की नीति अपनानी चाहिए।

कर जॉच आयोग के सुझावो को यदि पूरी तरह कार्यान्वित किया जाए तो इस कर का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। कृषि तथा गैर-कृषि आय को मिलाकर एक कर देने के बाद आय-कर लगाने से राज्यों की वर्तमान आय मे वृद्धि हो सकती है। कृषि आय-कर का क्षेत्र घटने का एक मुख्य कारण सभी राज्यों मे अधिकतम भूमि की सीमा बॉधना भी रहा है। जब तक न्यूनतम कर रहित सीमा घटा नहीं दी जाती अधिक आय होना सम्भव नहीं है।

चौकसी समिति के सुझाव (1978)

चौकसी समिति ने कृषि आय पर कर लगाने के पक्ष मे मत व्यक्त किया। उसके अनुसार केन्द्र द्वारा कृषि आय पर कर लगाना निम्नलिखित तीन ढगो से ही सम्भव हो सकता है।[1]

1 डॉ रामशरण कौशिक वही पृ 461

(i) संविधान मे संशोधन करके कृषि पर आय-कर लगाने का अधिकार केन्द्र को सौप दिया जाय

(ii) राज्य उसी प्रकार की कार्य-विधि अपनाऐं जिसके द्वारा उन्होने कृषि सम्पत्ति पर आस्ति कर लगाने का अधिकार केन्द्र को दे दिया है तथा

(iii) आय कर कानून के अन्तर्गत कृषि आय की परिभाषा केवल खाद्यान्न फसलो के सम्बन्ध में कृषि कार्यों तक की सीमित कर दी जाए तथा व्यावसायिक प्रकृति की कृषि आय जैसे बगीचो तथा अन्य व्यावसायिक फसलो से होने वाली आय गैर-कृषि आय समझी जाए।

कृषि-आय पर कर लगाना एक छल सिद्ध होगा

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य डॉ वी के आर वी राव कृषि आय-कर लगाने के पक्ष मे नही थे। अपने मत के समर्थन मे उन्होने जो तर्क प्रस्तुत किए है वे उन्हीं के शब्दों मे इस प्रकार है—

कृषि-आय राज्यो के अधिकार क्षेत्र मे आने वाला विषय है लेकिन राज्यो के बजट देखे तो उनमे बागानो से होने वाली आय पर लगाए जाने वाले कर को छोडकर आय पर अन्य प्रकार के कर का कोई जिक्र नही होता। अब सवाल उठता है कि राज्यो द्वारा योजना के लिए वित्तीय साधन जुटाने मे जो कुछ कमी पडती है उसकी पूर्ति के लिए कृषि आय पर कर क्यो लगा दिये जाएँ ? सुन्दर पति की कामना करने वाली किसी कामिनी के चिर प्रतीक्षित राजकुमार जैसी यह सम्भावना सचमुच बडी आकर्षक है और लगता है कि इससे मनोवाछित फल की प्राप्ति हो सकेगी।

'यह सब कुछ इतना सरल नही है जितना लगता है। बेचारी कामिनी पिछले तीस वर्षों से प्रतीक्षा कर रही है और उसकी प्रार्थना अभी भी अनुत्तरित ही है। ब्राह्मण पुरोहित और उसके विद्वान साथियो ने कुछ शास्त्र-सम्मत निर्देशो की दुहाई देकर वर को कन्या का पाणिग्रहण करने के लिए राजी करना चाहा लेकिन सब व्यर्थ रहा। प्रोफेसर रामकृष्ण की समिति ने जो रिपोर्ट पेश की थी वह राज्यों के सचिवालय मे धूल चाटती रही। उधर विद्वत समाज रिपोर्ट की व्यवस्थाओं पर चर्चा करता रहा। किसी ने सुझाव दिया कि इसे ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया जाय और कुछ ने कुछ परिवर्तनों के साथ इसे स्वीकार करने की सिफारिश की। इन विद्वानो की राय का भी वर महोदय पर कोई प्रभाव नही पडा। अब बेचारी कन्या का यह हाल है कि दिनो-दिन उसकी अव्यवस्था बढती जा रही है और उसका रूप भी क्षीण होता जा रहा है। समय निश्चय ही कृषि आय पर कर लगाने के पक्ष मे नही है।

समस्या का निकट निरीक्षण—यह निस्सदेह सच है कि आज समग्र राष्ट्रीय आय मे 35 से 40 प्रतिशत भाग कृषि-आय का है। यदि आय के इतने बडे भाग का सरकारी राजस्व मे कोई योगदान न हो तो निश्चय ही यह एक हानिप्रद निर्णय है लेकिन कृषि आय पहले से ही केन्द्र और राज्यो के कोष मे एक काफी बडी रकम का भुगतान उत्पादन शुल्क और बिक्री कर के रूप मे कर रही है। इसके अलावा परिवहन सचार साधनो और मनोरजन के ऊपर लगाए गए करो के रूप मे भी सरकारी कोष मे उसका योगदान होता है। यह धारणा कृषि आय उपार्जित करने वाले सम्पन्न किसानो पर ही लागू नही होती बल्कि अपेक्षाकृत गरीब किसानो पर भी लागू होती है। वास्तव मे देखे तो भारत मे ऐसा कोई आय अर्जक नही है—चाहे उसकी आय का साधन कृषि हो अथवा अन्य कोई—जो अपनी आय का कुछ न कुछ अश केन्द्र राज्य या स्थानीय निकायो को कर के रूप मे न देता हो। फर्क इतना ही है कि यह कर प्रत्यक्ष नही है।

जब हम कृषि-आय पर कर लगाने का विचार करते है तो हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष कर से होता है। यह कर प्रत्येक कृषि-आय अर्जक की आय निर्धारित करने के बाद उसी तरह लगाया जाएगा जिस तरह कृषि इतर आय के अर्जक पर लगाया जाता है। कृषि इतर आय के मामले मे देखे तो अदा किए जाने वाले कर का अधिकाश भाग कृषि-इतर आय के अर्जको पर उनकी वैयक्तिक आय के अनुसार लगाए जाने वाले कर से नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष करो से प्राप्त होता है। वैयक्तिक आय-कर जिन लोगो पर लगता है उनकी कुल सख्या कम है अर्थात् शहरी कार्यरत लोगो के प्रतिशत कम और इनसे आय-कर के रूप मे प्राप्त होने वाली राशि कृषि इतर का प्रतिशत उससे भी कम ही होता है। इसलिए कृषि-आय पर कर लगाकर राज्य सरकारो के कोष का पेट भरने के लिए एक बडी राशि प्राप्त करने की बात जब हम करते है तब हमे अपना दृष्टि सन्तुलन खो नही देना चाहिए।

हमारे जैसे देश में, जहाँ कृषि लगभग सर्वथा असगठित और वैयक्तिक गतिविधि है (कुछ बागानो को छोडकर) और मुख्यत. एक व्यक्तिगत व्यापार है जहाँ परिवार का श्रम और वैयक्तिक पूँजी, जिसमे भूमि भी शामिल है, आय अर्जित करने में इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, वहाँ मूल्य ह्रास और पूँजीगत प्रतिस्थापन की समस्याएँ ज्यादा दुस्साध्य है और जहाँ वार्षिक आय में इतना ज्यादा उतार-चढाव होता है, वहाँ मासिक आय के रूप में निश्चित आय का कोई सवाल ही नहीं उठता और जहाँ उत्पादन, उसकी ढुलाई और विपणन, ये तीनों ही एक-दूसरे में समायोजित हैं, वहाँ ऐसी स्थितियों में कृषि आय पर उसी सरकार की कर व्यवस्था लागू करना सम्भव नहीं जैसा कि कृषि-कर आय के मामले में है। यही कारण है कि कृषि आय पर कर लगाने के प्रस्ताव अप्रत्यक्ष कर के रूप मे होते हैं जो कृषि जोतो के आकार और उनकी अनुमानित उर्वरता अथवा औसत उत्पादन अथवा व्यापारिक और लाभकर फसलों के ऊपर, जिनकी अपनी सपात समस्याएँ हैं, लगाएँ जाएँगे और करदाता पर लगाए जाने वाले प्रत्यक्ष कर के विपरीत अप्रत्यक्ष कर के रूप में होंगे।

इसके राजनीतिक फलितार्थ—राजनीतिक दृष्टि से कृषि पर प्रत्यक्ष कर लगाने का काम और भी कठिन होगा। भारतीय किसान अब सगठित होते जा रहे है। भारतीय किसान ने अपने पृथक व्यक्तित्व की पहचान करली है और अर्थव्यवस्था मे उनका जो महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा उनका सख्या बल उन्हें जो राजनीतिक शक्ति प्रदान करता है, उसका स्वाद उन्हें अब अच्छा लगने लगा है। किसान वर्ग अब औद्योगिक सघर्षों की तकनीक भी सीख गया है और शहरी श्रमिक वर्ग के पास लडाई को जो औजार हैं, उनमे नए औजारो का बढावा कर रहा है। चाहे सत्तारुढ दल हो या विपक्षी दल हो, कोई पार्टी कृषि-उत्पादको को नाराज नहीं करना चाहती। किसानों की लाबी एक शक्तिशाली राजनीतिक लाबी बनती जा रही है। भविष्य मे यह और अधिक शक्तिशाली हो जाएगी, ऐसी सम्भावना है।

पानी, ऊर्जा और सरकार या सरकारी एजेंसियों द्वारा उपलब्ध किया जाने वाला ऋण, ये सभी निवेश ऐसे हैं जिनके सन्दर्भ मे मण्डी की अर्थव्यवस्था और लागत मूल्य-मुनाफा अब अपनी प्रासगिकता खोते जा रहे है और कृषि क्षेत्र मे सरकारी पूँजी निवेश का औचित्य सामाजिक मूल्य लाभ के सिद्धान्त और भुगतान शेष के विचार से स्वय सिद्ध ठहरता है। हमारी आर्थिक नीति मे राजनीति और लोकप्रियता के तत्त्व इस तरह घुले-मिले हैं कि कृषक वर्ग पर प्रत्यक्ष कर लगाने का तर्काधार समझा सकना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

कृषि आय पर कर का विकल्प—यदि हम सचमुच कृषि से और अधिक साधन जुटाने के मामले में गम्भीर है तो सिचाई-दर की वैज्ञानिक व्यवस्था करनी होगी, सुधार कार्यों के लिए किसानों से शुल्क की उगाही करनी होगी और जो अग्रिम ऋण कृषकों को दिए गए हैं, उसकी वसूली करनी होगी। सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में प्रचारित किया जाने वाला तर्क काटना पडेगा। सिंचाई, बिजली, अधिक ऋण के मद में सरकारी निवेश के रूप में प्राप्त होने वाले फायदों के साथ सीधा-सादा सम्बन्ध किसानों को समझाया जा सकता है।

सभी किसानो को पानी या बिजली या ऋण नहीं मिलता, लेकिन कुछ को मिलता है और इनमे से अनेक ऐसे है जिन्हें ये चीजें पहले नहीं मिलती थीं और न ही उन्होने इन्हे पाने के लिए अपनी ओर से कोई विशेष कोशिश ही की थी। सिंचाई या बिजली उत्पादन के सरकार द्वारा किए गए निवेश पर जो नुकसान होता है, उसकी कीमत सामान्य करदाता को चुकानी पडती है और जो कृषि-ऋण दिए जाते हैं उनका बडे पैमाने पर भुगतान न किए जाने की स्थिति में जिसे इसकी कीमत चुकानी पड जाएगी, वह बेचारा सामान्य बचतकर्त्ता या निवेशकर्त्ता होगा। इन सब मामलो के बारे मे देश की जनता को सही सूचना और शिक्षा दे सकना असम्भव कार्य नहीं होना चाहिए, ये ऐसे मामले हैं जिनका जनता के कल्याण और उसके भावी आर्थिक विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है।

पूर्ण क्षमता का उपयोग—उत्पादन के क्षेत्र मे स्थापित क्षमता का पूरा उपयोग कराने की आवश्यकता के प्रश्न पर सभी एक मत हैं लेकिन जब ऐसा करने में हमारे सामने कठिनाई आती है तो हम क्षमता वृद्धि का तरीका अपनाने लगते हैं। विकास कार्य के लिए वित्तीय साधन जुटाने के मामले में भी हम वैसी ही भूल न दोहराएँ।

यहाँ यह कहना जरूरी नहीं है कि कृषि क्षेत्र से वित्तीय साधन जुटाने के लिए कृषि आय पर राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर पर कोई अप्रत्यक्ष कर लगाने के पक्ष में मै नहीं हूँ। हाँ भविष्य मे यदि

सम्बन्धित परिस्थितियाँ बदल जाएँ तो यह राय भी बदल सकती है लेकिन भारत की वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ मे कृषि पर कर लगाना एक छलावा ही सिद्ध होगा विशेषकर से इसलिए कि इसमे प्राप्त होने वाली धनराशि बहुत ही नगण्य होगी और ऐसे बेहतर वैकल्पिक साधन मौजूद है जिनसे कहीं अधिक धन जुटाया जा सकता है।

कृषि-आय पर कर लगाना सामान्य न्याय की माँग है

श्री राव के विचारो के विपरीत प्रख्यात अर्थशास्त्री और योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य सी एच हनुमन्त राव ने कृषि आय पर कर लगाने का पक्ष लिया है। उनके विचार इस प्रकार है—

कृषि जोत के स्वामित्व की उच्चतम सीमा नियत होने के बावजूद काफी बडी सख्या में ऐसे किसान होंगे जहाँ सिचाई सुविधा मौजूद है और जहाँ हरित क्रान्ति का प्रभाव पडा है जिनकी आय 18,000 रुपये प्रतिवर्ष से अधिक है। जहाँ एक ओर कृषि-इतर क्षेत्र मे इनके समकक्ष आय-वर्ग के लोगों को आय-कर देना होता है वहाँ ग्रामीण आय-वर्ग के लोग वर्तमान में भू-राजस्व के रूप मे प्रत्यक्ष कर देते है जो कि उनके कृषि फार्म व्यवसाय से होने वाली आय का केवल लगभग 1 प्रतिशत होता है। सामाजिक न्याय की माँग है कि इन कृषि आय-वर्गों पर उतना ही और उसी प्रकार कर लगाया जाए जैसा कि शहरी आय-वर्ग के लोगो पर लगाया जाता है।

यह तर्क दिया जाता है कि कृषि आय-कर से इस उद्देश्य की सिद्धि कारगर ढग से ही नहीं होगी क्योकि कृषि आय और व्यय के पर्याप्त आँकडे प्राप्त करना कठिन है और यह सम्भावना है कि प्रभावशाली किसान अपना उत्पादन कम बता कर और लागत खर्चे बढाकर दिखाएँगे और कर-वचना करेगे। इसमे कम प्रभावशाली और सचमुच गरीब किसानो को छोटे कर्मचारियो और अधिकारियो के हाथो तग और परेशान किए जाने की सम्भावना है। यह एक विडम्बना ही है कि प्रशासनिक और अन्य कठिनाइयो के चलते कर लगाने का एक पुरोगामी कदम प्रतिगामी बन उठता है। इसलिए प्रशासनिक तथा आर्थिक दोनो ही दृष्टि से पिछडेपन को देखते हुए कोई कर योजना तभी राजस्व प्रदायिनी और सामान्य न्यायदायी हो सकती है जब वह लागू करने की दृष्टि से सरल भी हो।

राज्य समिति के निष्कर्ष—उक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए कृषि सम्पदा और आय पर कर लगाने के सवाल पर विचार करने के लिए के एन राज की अध्यक्षता मे नियुक्त समिति ने कृषि आय-कर को भू-राजस्व के विकल्प के रूप मे स्वीकार कर दिया। इस समिति ने उस आधारभूत कारण को रेखांकित किया जिसके चलते मौजूदा भू-राजस्व को कृषि आय पर सामान्य न्याय पर आधारित एक पुरोगामी कराधान व्यवस्था के रूप मे नही अपनाया जा सकता। देश के विभिन्न क्षेत्रो मे और कृषि तथा जलवायु की दृष्टि से समानता वाले उसी भू खण्ड के विभिन्न भागो तक मे कृषि से होने वाली आय की तुलना मे भू-राजस्व के अनुपात मे काफी भिन्नता पाई जाती है। इसलिए कृषि की दृष्टि से समान गुण धर्म में भू-राजस्व के अनुपात मे काफी भिन्नता पाई जाती है। इसलिए कृषि की दृष्टि से समान गुण धर्म वाले देश के अलग-अलग खण्डो मे से प्रत्येक खण्ड मे कृषि फार्म व्यवसाय से होने वाली आय के मुकाबले भू-राजस्व के अनुपात की जानकारी प्राप्त किए बिना भू-राजस्व पर न्यायसगत अधिभार नहीं लगाया जा सकता और उपयुक्त जानकारी प्राप्त करने का काम बडा ही व्यय और समय साध्य होगा।

कृषि-कर सर्वथा उचित है—भारत मे समग्र योजनावधि के दौरान विकास के लिए साधन जुटाने के एक उपाय के रूप मे कृषि आय पर कर लगाने पर लगातार जोर दिया गया है। तथापि शहरी क्षेत्रो मे कराधीन आय के समकक्ष आय पर कर लगाने की माँग के पीछे राजस्व अर्जित करने का विचार उतना नहीं है जितना कि यह विचार कि ऐसा करना सामान्य न्याय और अन्य आर्थिक प्रभावो की दृष्टियों से उचित होगा। यदि भू-राजस्व के स्थान पर कृषि आय-कर लागू करने की बात हो तो सम्भव है कि अनेक राज्य सरकारो को उसमे साधन जुटाने की दृष्टि से कोई आकर्षण न नजर आए लेकिन कृषि आय-कर से बहुत अधिक धन न भी प्राप्त किया जा सके फिर भी सामान्य न्याय के आधार पर कृषि आय-कर लागू करने का मामला काफी मजबूत है खासतौर से उन क्षेत्रो मे जिन पर हरित क्रान्ति का विशेष प्रभाव पडा है। इन क्षेत्रो मे कृषि के अतिरिक्त उत्पादन मे वृद्धि होने के बावजूद उसे उत्पादक परिसम्पत्तियो मे निवेशित नही किया गया है। इस अतिरिक्त उत्पाद का एक खासा बडा हिस्सा व्यर्थ के खर्चों मे नष्ट कर दिया जाता है। इसलिए इस अतिरिक्त उत्पादन के कुछ हिस्से को सरकार द्वारा कर

लगा कर समेट लेना जरूरी है । इन क्षेत्रो मे व्यवहार्य योजनाएँ लागू करके कृषि आधारित उद्योगो मे स्वैच्छिकता के आधार पर बचत की रकमो को निवेशित कराने की भी आवश्यकता होगी ।

बिके हुए कृषि-उत्पाद के मूल्य पर उप-कर—कृषि पर कर लगाने या कृषि जोत पर कर लगाने के अलावा कृषि उत्पादन के विक्रय से प्राप्त मूल्य पर उप-कर भी लगाया जा सकता है । कृषि के आधुनिकीकरण और हरित क्रान्ति की प्रगति के फलस्वरूप कृषि-उत्पादन उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा मे मण्डियो में बिकने के लिए भेजा जा रहा है और बिक्री के लिए भेजे जाने वाले उत्पाद का अनुपात कृषि जोत के आधार पर वृद्धि के साथ-साथ और तेजी से ऊपर बढता जाता है । विपणन के लिए भेजे गए कृषि उत्पाद अधिशेष के मूल्य पर किसी उप-कर भार का पुरोगामी होगा । छोटे और सीमान्त किसानो पर उप-कर का भार नगण्य होगा क्योकि ये अपने उत्पाद का बहुत छोटा भाग ही बेचेंगे । बिक्री योग्य उत्पादन की छोटी मात्राओं को इस प्रकार के उप-कर से छूट देना भी वाछनीय होगा ताकि छोटे और सीमान्त किसानों को इस प्रकार के कर से बिल्कुल छूट मिल जाए ।

कुछ राज्यो में कृषि-उत्पादको की बिक्री पर उप-कर लगाने का विचार किया जा रहा है । यदि उप-कर लागू कर दिया जाएगा तो कृषि क्षेत्र से वित्तीय साधन जुटाने की दिशा मे यह एक स्वागत योग्य पहला कदम होगा । यह सामान्य न्याय का सूचक होगा क्योकि उप-कर का भार उपभोक्ताओं के गले मढे जाने की सम्भावना नही है । यदि मूल्य निर्धारित करते समय इस उप-कर का भी ध्यान रखा जाता है तो वैसी स्थिति मे यह केन्द्र सरकार द्वारा राज्यो के बीच साधनो का पुनर्वितरण जैसा होगा और इससे सरकार के कुल साधनो मे कोई अन्तर नही पडेगा । इसका अर्थ यह होगा कि किसानो से जो रकम उप-कर के रूप मे वसूल की गई है वह उन्हे अधिक मूल्य के रूप मे वापस लौटा दी जाएगी ।

(2) व्यवसाय कर (Profession Tax)

कुछ राज्यो में स्थानीय निकायो द्वारा व्यवसाय एव वृत्ति-कर लगाया जाता है । यह एक प्रकार से आय पर लगाए जाने वाला कर ही है । एक निश्चित आय से अधिक आय होने पर प्रगतिशील दर से करारोपण किया जाता है । राज्यो को इस कर से प्राप्त होने वाली आय कृषि आय कर से अधिक है ।

(3) स्टाम्प शुल्क या रजिस्ट्रेशन (Stamp and Registration Fee)

राज्य सरकारो को स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन से काफी आय प्राप्त होती है । राज्यो मे जितने न्यायालय तथा तहसील कार्यालय है उनमे सम्पत्ति की रजिस्ट्री अथवा मुकदमे आदि के सम्बन्ध मे जो स्टाम्प फीस लगती है उससे गत वर्षो मे आय की मुद्रा निरन्तर बढती गई है ।

(4) मालगुजारी या भू-राजस्व (Land Revenue)

यह राज्य सरकारो का महत्वपूर्ण कर-आय स्रोत है । भारत जब स्वतन्त्र हुआ उस समय दो प्रकार के स्वत्वाधिकार प्रचलित थे—(1) स्थाई बन्दोबस्त तथा (2) अस्थाई बन्दोबस्त । 1947 के बाद भारत सरकार ने सभी राज्यो में मध्यस्थो का उन्मूलन करके भू-धारण सुधार अधिनियम लागू कर दिया । किसी भी राज्य की भू-राजस्व व्यवस्था वहाँ की भू-धारण पद्धति (Land Tenure System) पर निर्भर होती है और यह पद्धति भूतकाल मे विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थी अनेक भूमि-सुधारो के लागू किए जाने से ये भिन्नताएँ अब मिटती जा रही हैं । वर्तमान मे विभिन्न राज्यो के भू-राजस्व मे अन्तर कम पाया जाता है । राज्यो मे भू-राजस्व लगाने की अथवा मालगुजारी निर्धारण की रीतियाँ निम्नांकित रही है—

(1) शुद्ध परिसम्पत्ति अथवा आर्थिक लगान (Net Assets or Economic Rent)—शुद्ध परिसम्पत्ति का अर्थ है—सम्पत्ति की अनुमानित वार्षिक आय जो कृषि-लागत घटाने के बाद बचती है । सरल शब्दो में, कुल उपज मे से उपज का खर्चा घटाने के बाद जो शेष बचता है वह शुद्ध परिसम्पत्ति है । कुल उत्पादन को पिछले बीस या अधिक वर्षों की औसत उत्पादन के आधार पर मुद्रा में आँक लिया जाता है और उसमे खर्च घटा दिए जाते है । मालगुजारी निर्धारित करने की यह रीति वर्तमान में पजाब उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा आदि राज्यों में अपनाई जाती है ।

(2) शुद्ध उत्पादन अथवा वार्षिक मूल्य (Net Product of Annual Value)—दूसरी रीति वार्षिक मूल्य के आधार पर मालगुजारी निर्धारण की है । इस विधि के अन्तर्गत शुद्ध उत्पादन के वार्षिक मूल्य के आधार पर मालगुजारी निश्चित की जाती है । इस हेतु विभिन्न भूमियों की फसल का परीक्षण किया जाता है और उनके सम्बन्ध मे पूछताछ की जाती है फिर गत कुछ वर्षो के मूल्य के आधार पर कुल मूल्य

ज्ञात किया जाता है। इस कुल मूल्य में से उत्पादन व्यय और बुरी फसल की छूट घटाकर जो शेष रह जाता है, वह वार्षिक मूल्य होता है। तमिलनाडु ही केवल ऐसा राज्य है जहाँ शुद्ध उत्पादन को मालगुजारी का आधार माना गया है।

(3) **व्यावहारिक आधार** (Empirical Basis)—बम्बई, हैदराबाद, मैसूर व त्रिपुरा में व्यावहारिक आधार पर माल गुजारी निश्चित की जाती है। इस विधि के अन्तर्गत बन्दोबस्त अधिकारी क्षेत्र विशेष की आर्थिक पृष्ठभूमि, कृषकों की आर्थिक स्थिति व कृषि योग्य क्षेत्र, बाजार की समीपता, यातायात की सुविधाओं और भूमि के मूल्य आदि को ध्यान में रखता है और व्यक्तिगत खेतों पर मालगुजारी तय करता है।

(4) **पूँजी मूल्य**—भारत में किसी भी राज्य में पूँजी मूल्य को मालगुजारी निर्धारित करने का आधार नहीं बनाया गया है। स्मरणीय है कि अकाल, बाढ़ अथवा अन्य दैवी आपत्तियों के समय मालगुजारी के भुगतान में छूट दी जाने की व्यवस्था है।

मालगुजारी से आय

राज्यों की मालगुजारी व भू-राजस्व आय लगभग स्थिर रही जबकि कुल कर-राजस्व में तेजी से वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से देखा जाए तो मालगुजारी आय में ज्यादा वृद्धि नहीं हुई।

मालगुजारी से आय *(करोड़ रुपयों में)*

वर्ष	राशि
1951-52	48 0
1961-62	92 2
1970-71	127 00
1980 81	235 00
1988-89	335 00
1991-92	766 10

मालगुजारी का मूल्यांकन व सुधार के उपाय

विभिन्न विद्वानो ने मालगुजारी के पक्ष और विपक्ष मे अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। इसके पक्षधरों का कहना है कि—

1 मालगुजारी की दर पूर्व निश्चित रहती है जिससे एक ओर तो सरकार को इससे प्राप्त होने वाली आय का ज्ञान रहता है और दूसरी ओर कृषको को यह पता रहता है कि उन्हें मालगुजारी के रूप में कब और कितना धन सरकार को देना है।

2 मालगुजारी में उत्पादकता का गुण पाया जाता है। इससे राज्यों को पर्याप्त आय प्राप्त होती है और आज यह उनकी आय का मुख्य स्रोत है। ऐसा अनुमान है कि इस स्रोत से राज्यों को अपनी आय का लगभग 15 प्रतिशत प्राप्त होता है।

3 मालगुजारी का एक गुण इसका सुविधाजनक होना है। यह सरकार द्वारा किसानो से फसलों की कटाई के बाद ही वसूल की जाती है और अकाल बाढ़ आदि के समय इसमें छूट दी जाती है।

मालगुजारी के विपक्ष मे प्राय कहा जाता है कि—

1 मालगुजारी मे समता के सिद्धान्त का पालन नहीं होता क्योंकि सभी किसानों के लिए मालगुजारी की दर एक जैसी होती है। इस तरह निर्धन किसानो पर धनी किसानो की अपेक्षा कर-भार अधिक पड़ता है। यदि माल गुजारी को करारोपण की योजना के रूप में देखा जाए तो यह केवल प्रगतिशील ही नहीं बल्कि उसके विपरीत प्रतिगामी भी है।

2 यह कष्टकारी है क्योंकि इसमें एक विशेष वर्ग में प्रचलित परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया जाता और करों से छूट केवल विशेष अवस्थाओं में और काफी देर से मिलती है।

3 मालगुजारी बेलोचदार है क्योंकि राज्य की दृष्टि से इसकी प्राप्तियों मे वृद्धि नहीं की जा सकती। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में तो वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्थाई बन्दोबस्त वाले भागों

में काफी लम्बे समय बाद वृद्धि करना सम्भव होता है । इस प्रकार मूल्य वृद्धि और देश की आर्थिक उन्नति का राज्य को लाभ नहीं मिल पाता ।

4 मालगुजारी प्रथा देश के प्रत्येक भाग के लिए एक-सी नहीं है । इसमें सरलता के सिद्धान्त का अभाव है क्योंकि इसका प्रशासन बहुत पुराने ढग से किया जाता है । मालगुजारी वसूल करने का अधिकार प्रत्येक राज्य में एक जैसा नहीं है कहीं मूल्य के आधार पर कर लगाया जाता है और कहीं उत्पादन के आधार पर ।

5 इसमें मितव्ययिता के सिद्धान्त का अनुकरण नहीं किया जाता क्योंकि इसके वसूल करने में भारी व्यय करना पडता है और बहुत अधिक कर्मचारी रखने पडते हैं । इसके बन्दोबस्त में अधिक धन व्यय होता है ।

मालगुजारी को अधिक प्रभावी और सुधारात्मक रूप देने की दृष्टि से भारतीय कर जाँच आयोग ने 1953 54 में अपनी रिपोर्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे जो इस प्रकार हैं—

1 सभी राज्यों में मालगुजारी की दरों का प्रमापीकरण (Standardization) कर देना चाहिए ताकि असमानताएँ कम हो जाएँ ।

2 मूल्य स्तर में परिवर्तन के अनुसार मालगुजारी की दरो का प्रति 10 वर्ष बाद पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए क्योंकि इतने वर्ष बाद पुनर्निरीक्षण करने वाली व्यवस्था बडी दोष मुक्त नहीं है ।

3 मालगुजारी की दरों में परिवर्तन करने की विधि ऐसी होनी चाहिए जिससे विशाल प्रशासकीय यन्त्र के हस्तक्षेप के बिना मूल्य स्तर के आधार पर दर स्वत परिवर्तित हो जाए ।

4 मालगुजारी की दर में मूल्यो के परिवर्तन के अनुपात में नहीं वरन् अनुपात में कम परिवर्तन होने चाहिए ।

5 विशेष परिस्थितियों में माल गुजारी की दरों को किसी भी समय बदल देना चाहिए ।

6 एकत्रित मालगुजारी का 15 प्रतिशत स्थानीय सरकार को दिया जाना चाहिए । यदि मालगुजारी की नई दरों से किसी क्षेत्र में आय बढती है तो उसका भाग स्थानीय सरकारों को मिलना चाहिए ।

7 स्थानीय सरकारों जैसे—जिला बोर्ड पचायत आदि को अधिक वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए मालगुजारी पर अधिभार (Surcharge) लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए ।

8 माल गुजारी के भार की असमानताओं को दूर करने के लिए आयोग ने कृषि आय कर लगाने का सुझाव दिया ।

मालगुजारी कर है या लगान ?

"यदि किसान स्वामी है तो मालगुजारी को कर माना जाना चाहिए अन्यथा लगान । इस सम्बन्ध में लोगों के अपने अपने विचार है । इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि मालगुजारी लगान है क्योंकि सरकार इसकी दर मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं कर सकती । किसानों को भवन आदि बनाने के लिए नि शुल्क भूमि दी जाती है और उन्हें पशु चराने का अधिकार दिया जाता है । इस मत के उत्तर में कहा जाता है कि सरकार पर ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं है कि वह मालगुजारी को बढा न सके । सरकार तो अपनी प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण व अन्य असुविधाओं की वजह से इनकी दरों में प्रतिवर्ष परिवर्तन नहीं करती । मालगुजारी को लगान मानने वालो का एक अन्य तर्क यह है कि प्रारम्भ में चाहे जो स्थिति रही हो किन्तु अब मालगुजारी लगान ही है क्योंकि भूमि के बार बार क्रय विक्रय से मालगुजारी के रूप में की गई सरकारी माँग का पूँजीकरण (Capitalisation) हो गया है लेकिन यह तर्क ठीक नहीं है । कर का पूरी तरह से पूँजीकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि सरकारी माँग का पहले से पता नहीं किया जा सकता ।

भारतीय कर जाँच आयोग ने मालगुजारी को कर माना है और इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(i) सरकार ने स्थायी आन्दोलन वाले क्षेत्र मे जमींदार को भूमि का स्वामी स्वीकार किया है तथा रैयतवाडी क्षेत्रों मे भी भूमि के बेचने और खरीदने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है ।

(ii) सरकार ने स्वय को भूमि का स्वामी घोषित नही किया है।

(iii) लगान की दर आर्थिक लगान से ऊँची है और कर की भाँति इसका भुगतान अनिवार्य है।

(iv) मालगुजारी राष्ट्रीय आय का एक अग है।

भारत मे भू राजस्व या मालगुजारी एक बहुत ही असमतापूर्ण कर है जिसका भार बडे जमींदारो की अपेक्षा गरीब-किसानो पर ही अधिक पडा है। निबल परिसम्पत्तियों अथवा वार्षिक मूल्यो के आधार पर कर का निर्धारण करने मे यह ध्यान रखा जाता है कि किसान की करदेय क्षमता कितनी है। कर की दर आरोही न होकर समानुपाती है तथा छूट व्यवस्था भी नही है। भू-राजस्व को न्यायपूर्ण बनाने के लिए इसमे पर्याप्त सुधार आवश्यक है। कर-जॉच आयोग की यह सिफारिश महत्त्वपूर्ण है कि ऊँची कृषि आमदनियो पर आय-कर लगाया जाना चाहिए और सम्पूर्ण कर-व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य यह होना चाहिए कि कृषि आय को गैर-कृषि आय मे विलय कर दिया जाएगा और तदुपरान्त सम्पूर्ण आय पर एक ही दर से कर लगे। भू राजस्व की दरो को कृषि-मूल्यो के उतार-चढावो के साथ सम्बन्धित करने पर आय का यह स्रोत काफी लोचदार बन सकता है। अब तक भू-राजस्व से होने वाली प्राप्तियाँ तुलनात्मक रूप मे लोचहीन ही रही है।

(5) नकद फसलो पर अधिभार

इस अधिभार से प्राप्त होने वाली राशि समस्त राज्यो के लिए प्रतिवर्ष केवल एक करोड रुपये से कुछ अधिक है। अत इसका विस्तृत विवरण देना निरर्थक रहेगा।

(6) शहरी अचल सम्पत्ति पर कर (Urban Immovable Property Tax)

सम्पत्ति सम्बन्धी आय मे राज्यो को कुछ आय नगरीय अचल सम्पत्ति-कर से प्राप्त होती है। नगरो मे कही-कही मकानो पर नगरपालिका के अतिरिक्त राज्य सरकारे करारोपण करती है जिससे उन्हे कुछ वार्षिक आय प्राप्त हो जाती है।

(7) बिक्री-कर (Sales Tax)

यह कर वस्तु करारोपण का एक मुख्य अग है। भारतीय सविधान मे प्रावधान है कि समाचारपत्र को छोडकर सभी वस्तुओं पर विक्रय कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारो को है। हेग और शीक के मतानुसार बिक्री कर वह कर है जो कर के विधान मे लिखित अपवादो को छोड दृश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की सभी व्यावसायिक क्रियाओं पर लगाया जाता है। बिक्री कर के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकार निम्न है—

(i) **बिक्री कर व फिरती कर**—बिक्री-कर केवल वस्तुओं के विक्रय पर लगाया जाता है जबकि फिरती-कर सेवाओं के विक्रय पर भी लगाया जाता है। साधारणत इसे बिक्री-कर मे सम्मिलित नही किया जाता।

(ii) **सामान्य व विशिष्ट कर**—सामान्य कर सभी वस्तुओं पर लगाया जाता है जबकि विशिष्ट कर केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर ही लगाया जाता है।

(iii) **एक बिन्दु व बहु बिन्दु कर**—जब वस्तु की केवल एक ही बिक्री पर कर लगाया जाता है तो उसे एक-बिन्दु कर कहते है और जब प्रत्येक बिक्री पर कर लगाया जाता है तो उसे बहु बिन्दु कर कहते है।

(iv) **थोक व फुटकर बिक्री कर**—जब केवल थोक व्यापारियो पर कर लगाया जाता है तो उसे थोक बिक्री-कर कहते है। इसके विपरीत जब फुटकर व्यापारियो द्वारा बेची गई वस्तुओं पर कर लगाया जाता है तो उसे फुटकर बिक्री कर कहते है।

(v) **बिक्री कर या राशि कर**—जब यह कर केवल वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है तो बिक्री-कर कहलाता है लेकिन जब वस्तुओं और सेवाओं दोनो की बिक्री पर कर लगाया जाता है तो इसे राशि-कर (Turnover Tax) कहते है। भारत मे बिक्री-कर ही लगाया जाता है न कि राशि-कर।

बिक्री कर के जो विभिन्न रूप सक्षेप मे ऊपर बताए गए है उनके अपने-अपने गुण और अवगुण हैं। विशिष्ट वस्तु बिक्री-कर मे सामान्य बिक्री कर की अपेक्षा प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ कम होती है। इसमें केवल थोडे व्यापारियो से सम्पर्क स्थापित करना होता है और उनके हिसाब-किताब की जॉच

करनी होती है अत प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ अधिक जटिल नही होती लेकिन सामान्य बिक्री-कर मे न्यूनतम कर रहित सीमा से ऊपर जितने व्यापारी होते है सभी से सम्पर्क रखना होता है और उनका लेखा-जोखा देखना होता है। चूँकि ऐसे व्यापारियों की सख्या बहुत अधिक होती है अत प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ अधिक होती है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट वस्तु-कर सामान्यत केवल उन्हीं वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है जिनका उपभोग धनी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अत इस कर को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। इसके विपरीत सामान्य बिक्री-कर सभी वस्तुओं पर लगाया जाता है अत वह प्रतिगामी होता है लेकिन सामान्य बिक्री-कर विशिष्ट वस्तु बिक्री-कर की अपेक्षा सरकार को अधिक आय प्रदान करता है।

एक-बिन्दु और बहु-बिन्दु बिक्री-कर की भी अपनी-अपनी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ है। एक-बिन्दु बिक्री-कर में कर-राशि का पता सुगमतापूर्वक लगाया जा सकता है क्योकि करारोपण केवल एक ही बार होता है। इसके विपरीत बहु-बिन्दु बिक्री-कर मे कर की राशि का पता लगाना लगभग असम्भव हो जाता है क्योकि यह कर प्रत्येक बिक्री पर लगाया जाता है। अत प्रथम और अन्तिम विक्रेता के बीच वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाले जो अनेक व्यक्ति होते हैं उनकी आय साधारणत ज्ञात नहीं की जा सकती। दोनो मे एक अन्तर यह है कि एक-बिन्दु बिक्री-कर में बहु-बिन्दु बिक्री-कर की अपेक्षा दर ऊँची होती है। यह महत्त्वपूर्ण है कि एक-बिन्दु बिक्री-कर में विस्तृत लेखा-जोखा रखना पडता है जिससे जटिलताएँ बढती है। यदि फुटकर बिक्री पर कर लगाया गया हो तो यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि एक वस्तु के कितने फुटकर विक्रेता है उन्होने कितनी मात्रा उस वस्तु की बेची है और वस्तुओं का विक्रय उपभोक्ताओं को किया है या अन्य व्यापारियो को। यह सम्भावना रहती है कि व्यापारी कर अपवंचन के लिए झूठे लेखा-जोखा रखते है और झूठी सूचनाएँ देते है। बहु-बिन्दु बिक्री-कर सरल होता है क्योकि यह वस्तु की सभी बिक्रियो पर लगाया जाता है अत वस्तुओं की बिक्री के सम्बन्ध मे विस्तृत लेखा-जोखा रखने की आवश्यकता नहीं होती। कर जाँच आयोग ने दो करों के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे लिखा है। आयोग के अनुसार बहु-बिन्दु बिक्री-कर के उद्देश्य निम्न होते है—

(क) कर को उपभोग की अधिकाँश वस्तुओं पर लागू करना। उन वस्तुओं को शामिल करते हुए जो अपेक्षाकृत आवश्यक है (ख) व्यापारियो की एक बडी सख्या पर लागू करना एव (ग) करारोपण इतनी नीची दर से करना कि परिणाम भयावह न हो।

आयोग के अनुसार एक बिन्दु बिक्री कर के उद्देश्य निम्न है—

(क) 'कर को बहुत-सी किस्मो पर किन्तु अधिकाश वस्तुओं पर लागू न करना (ख) थोडे व्यापारियों पर लागू करना एव (ग) कर की अपेक्षाकृत ऊँची दर निश्चित करना तथा पर्याप्त मात्रा मे विस्तृत छूट देना।

बिक्री कर के पक्ष विपक्ष

बिक्री कर के पक्ष-विपक्ष मे बहुत-कुछ कहा गया है। इसके पक्ष मे प्रमुख तर्क ये दिए जाते है—

1 यह उत्पादक कर है क्योकि इसे कम दर पर अधिक व्यापारियो पर लगाया जा सकता है और अच्छी आय प्राप्त की जा सकती है। इसी कारण अधिकाश देशो मे इसे लागू किया गया है।

2 यह कर पर्याप्त मात्रा मे लोचदार होता है। कर की दरो मे थोडी सी वृद्धि करके या बिक्री मे शामिल की जाने वाली वस्तुओ की सख्या अथवा कर छूट की सीमाओं को घटा कर प्राप्त होने वाली राशि मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। चूँकि यह कर बहुसख्यक वस्तुओं और व्यापारियो पर लगाया जा सकता है अत सरकार अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमे सरलतापूर्वक आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है।

3 बिक्री-कर के भार का वितरण सुगमता से बहुत बडे क्षेत्र पर किया जा सकता है अर्थात् इसे विभिन्न रूपों मे लगाया जा सकता है ताकि कर भार गरीब से गरीब और अमीर से अमीर सभी समुदायों पर डाला जा सकता है।

4 इससे व्यय पर अकुश लगता है। बिक्री-कर के लगाने से वस्तुओं के दाम बढ जाते है अत उपभोक्ता अपने व्यय को कुछ-न-कुछ कम करने की ओर प्रवृत्त होते है।

बिक्री-कर के विपक्ष में दिए जाने वाले तर्कों मे निम्न तर्क प्रमुख है—

1 यह कर प्रगतिशील नही होता। यह एक अप्रत्यक्ष कर है जो वस्तु पर लगाया जाता है और सभी उपभोक्ताओं पर बिना उनकी आय की ओर ध्यान दिए हुए अथवा उनकी करदेय क्षमता को ध्यान मे रखते हुए एक ही दर से आरोपित किया जाता है। फलस्वरूप इसका भार सम्पन्न व्यक्तियो की तुलना मे निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है।

2 इस कर को लगाते समय किसी भी परिवार की करदेय शक्ति को ध्यान मे नहीं रखा जाता जो अनुचित है। समान आय वाले परिवारो के सम्बन्ध मे जितना बडा परिवार होगा उसकी करदेय शक्ति उतनी ही कम होगी। समान आय वाले बडे परिवारो पर करारोपण की दर नीची रखी जाए क्योकि ऐसे परिवार की खरीददारी अधिक होगी और कर की धन राशि अधिक होगी।

3 बिक्री-कर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत प्रभाव पडता है। यदि विभिन्न राज्यो में बिक्री-कर की दरे अलग-अलग निर्धारित की जाएँ तो अन्तर्राज्यीय व्यापार का विकास प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है। इस समस्या के निवारण के लिए भारतीय सविधान म यह व्यवस्था की गई है कि कोई राज्य अपनी सीमा से बाहर माल के क्रय-विक्रय पर कर नही लगा सकता।

4 इस कर से अधिकाशत औद्योगिक गुटबन्दी को प्रोत्साहन मिलता है। व्यापारीगण परस्पर मिलकर ऐसी सस्थाएँ स्थापित कर लेते है जिनमे कच्चे माल के उत्पादन से लेकर निर्मित माल के उत्पादन तक सभी क्रियाएँ एक ही सगठन के भिन्न भिन्न विभागो द्वारा सम्पन्न की जाती है। एक विभाग दूसरे विभाग को वस्तुएँ बिना बिक्री कर का भुगतान किए देता है और कर भुगतान से बच जाता है। ऐसी कर-चोरी को नियन्त्रित किया जा रहा है। अत यह तर्क भी स्वीकार्य नहीं है।

5 विभिन्न वस्तुओं के लिए कर की विभिन्न दरो छूटो और स्तरो के कारण बिक्री-कर का प्रशासन बडा जटिल होता है। करदाताओं को काफी असुविधा होती है क्योकि उन्हे विस्तृत लेखा-जोखा रखने पडते है। इसके अतिरिक्त राज्याधिकारियो के मनमाने व्यवहार के कारण कर अपवचन को प्रोत्साहन मिलता है।

6 बिक्री-कर से मुद्रा-स्फीति के प्रभाव जन्म लेते है। वस्तुओं के मूल्य बढ जाने से सामान्य मूल्य स्तर मे वृद्धि हो जाती है और इस तरह मुद्रा-स्फीति बढती है।

7 बिक्री-कर लगाने से व्यापार करने के ढग को बदल दिया जाता है। कर-भुगतान से बचने के लिए थोक व्यापारियो के स्थान पर दलालो को नियुक्त कर दिया जाता है और वस्तुओं को इस तरह बेचा जाता हे मानो उत्पादक स्वय बेच रहा हो। यह दोष प्रधानत बहु बिन्दु प्रणाली मे होता है जिससे बिक्री-कर वस्तु की प्रत्येक बिक्री पर लगता है। व्यापार करने के ढग मे इस तरह परिवर्तन कर देने से वस्तु की बिक्री पर केवल एक ही बिन्दु पर कर लग पाता है।

8 बिक्री कर मे दोहरे कर (Double Taxation) की समस्या रहती है। एक वस्तु पर कई बार कर लग जाता है। सर्वप्रथम कच्चे माल की बिक्री पर कर लगता है फिर जब दुकानदार कच्चे माल को खरीदता है तब कर लगता है और अन्त मे उपभोक्ता खरीदता है तो कर लग जाता है। इस प्रकार एक निर्मित वस्तु पर कई बार करारोपण हो जाता है।

9 इसमे कर चैतन्यता का अभाव होता है। यह कर मूल्य मे छिपा रहता है अर्थात् उपभोक्ता को यह ज्ञात नही होता कि वह कर के रूप मे राज्य को अशदान दे रहा हे। फलस्वरूप नागरिको में कर-चैतन्यता कम हो जाती है।

बिक्री-कर के पक्ष-विपक्ष मे जो कुछ कहा गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह अच्छा कर नही है। प्रतिगामी होने के साथ साथ इसकी व्यवस्था कठिन और जटिल होती है। देश की औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति मे यह बाधक बनता है लेकिन इन सब दोषो के होते हुए इस कर का परित्याग नहीं कर सकते। आधुनिक सरकारो की वित्तीय आवश्यकताएँ इतनी तेजी से बढती जा रही है कि अधिकाश सरकारो का काम इस कर को लागू किए बिना नहीं चल सकता क्योकि यह कर बडा ही उत्पादक है। जौन डयू ने लिखा है— बिक्री कर को दूसरा सबसे उत्तम कर समझना चाहिए—एक ऐसा कर जिसका प्रयोग उस समय किया जाए जब परिस्थितियाँ यह सिद्ध कर दे कि आय-कर और अन्य उपयुक्त करो पर भरोसा करना ठीक नही है।

भारत में बिक्री-कर और राज्यों की बिक्री-कर से आय

भारत मे यद्यपि, बिक्री-कर का प्रयोग मौर्यकाल में ही हो चुका था किन्तु आधुनिक समय मे इसका इतिहास प्रान्तीय स्वशासन से प्रारम्भ होता है। 1935 के भारत सरकार के अधिनियम के अन्तर्गत वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तो को सौप दिया गया था। सबसे पहले 1938 मे यह कर मध्यप्रदेश ने पैट्रोल पर लगाया था और तत्पश्चात् अन्य प्रान्तों ने अनुसरण किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के नवीन सविधान मे समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने और उनका सग्रह करने का अधिकार राज्यो को दे दिया है। 1956 मे सविधान मे एक सशोधन करके भारत सरकार ने अन्तर्राज्यीय क्रय-विक्रय की वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार राज्यो से लेकर केन्द्रीय सरकार को दे दिया। यह कर एक राज्य से दूसरे राज्य मे माल की बिक्री पर लगाया जाता है। कोयला, कपास, सूत, चमड़ा व खाले, लोहा, इस्पात, जूट तिलहन, सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र रेयन, ऊनी वस्त्र, चीनी तम्बाकू पर केन्द्रीय कर 2 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता। अन्य वस्तुओं पर यह 10 प्रतिशत है।

भारत में बिक्री-कर राज्यो की आय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत है। प्रत्येक राज्य मे बिक्री-कर की दरें क्रमश बढ़ती गई है। राज्यो के कुल राजस्व मे बिक्री-कर की प्राप्ति का स्थान सर्वोच्च है। योजना काल में विभिन्न राज्यो ने अपनी आय बढाने के लिए बिक्री-कर का उपयोग किया है। राज्यो को बिक्री-कर से सुलभ होने वाले राजस्व की दृष्टि से ही इसका महत्व नही है बल्कि आवश्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन लाने की सुविधा इसे महत्त्वपूर्ण बना देती है। प्रारम्भ से लेकर अब तक जितने परिवर्तन बिक्री-कर के अन्तर्गत आवश्यकतानुसार राजस्व बढाने की दृष्टि से किए गए है उतने सम्भवत आय-कर तथा उत्पादन शुल्क को छोडकर अन्य किसी केन्द्रीय तथा राज्य कर मे नही हुए है। इन्हीं कारणो से बिक्री-कर का स्थान राज्यो की राजस्व व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है।[1]

राज्य सरकारो को सबसे अधिक आय इसी मद से प्राप्त होती है और इस कर की वसूली पर विशेष व्यय नहीं करना होता क्योकि इसकी वसूली माल की बिक्री के समय कर ली जाती है तथा कर-भार ग्राहक पर डाल दिया जाता है।

कराधान जाँच आयोग की सिफारिशे

भारत के सभी भागो मे बिक्री-कर की समाप्ति की माँग की जा रही है और यह जब-तब आन्दोलनात्मक रूप भी लेती रही है। समस्या यह है कि बिक्री-कर का विकल्प क्या हो ? बिक्री-कर राज्यों की आय का प्रमुखतम स्रोत ही नही बन गया है वरन् यह एक ऐसा स्रोत है कि जिसने आय-प्राप्तियों के रूप मे बडी रोचकता दिखाई है। इसके अतिरिक्त, बिक्री-कर राज्य की वित्तीय समृद्धि का एक अभिन्न अग बन गया है।

कर जाँच आयोग ने बिक्री-कर की समस्या को दूर करने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किए है जिन्हें नागर एव शर्मा ने साराश रूप मे निम्नानुसार प्रस्तुत किया है—

(1) आयोग ने सुझाव दिया कि बिक्री-कर राज्यो की वित्तीय व्यवस्था मे प्रमुख स्थान रखता है तथा अलग-अलग राज्यो मे व्यापारिक दशाओं से भिन्नता के कारण यह राज्यो की आय का स्रोत होना चाहिए—समस्त व्यापार को दो वर्गों में बाँटना चाहिए—(अ) अन्तर्राज्यीय और वाणिज्य तथा (ब) राजकीय व्यापार और वाणिज्य। अन्तर्राज्यीय और वाणिज्य पर यह कर सघ सरकार द्वारा लगाया जाना चाहिए तथा राजकीय व्यापार और वाणिज्य पर इसे राज्यो द्वारा लगाना चाहिए।

(2) अन्तर्राज्यीय व्यापार कर दर बहुत कम होनी चाहिए। आयोग ने सुझाव दिया कि कुछ विशेष वस्तुओं को छोडकर अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं पर एक प्रतिशत की दर से बिक्री-कर लगाया जाना चाहिए। एक प्रतिशत की कम दर केवल तभी लगानी चाहिए जबकि राज्यो में अपजीकृत व्यापारियों या उपभोक्ताओं को सामान बेचा जाता है तो राज्यो की प्रचलित दरें ही लागू होनी चाहिए इस तरह बिक्री-कर से बचने मे रोक लग जाएगी।

(3) अन्तर्राज्यीय व्यापार-कर की दरों का निर्धारण ससद् के द्वारा होना चाहिए परन्तु इनका प्रशासन राज्यो द्वारा होना चाहिए तथा उपलब्धियों भी राज्यों को ही मिलनी चाहिए।

1 रामरतन कौशिक वही पृष्ठ 472

(4) अन्तर्राज्यीय व्यापार पर बिक्री कर अन्तर्राज्यीय बिक्री के अन्तिम निर्यात पर लगाना चाहिए।

(5) कोयला लोहा और इस्पात कपास तिलहन और जूट को विशेष महत्त्व की वस्तुएँ घोषित की जाकर इन पर १.५ या डेढ प्रतिशत की दर से एक स्तर बिक्री-कर लगाना चाहिए।

(6) आयोग ने सुझाव दिया कि विभिन्न राज्यो के बिक्री-कर विभागाध्यक्षो की प्रतिवर्ष एक बैठक होनी चाहिए जिसमे वे अपने सामूहिक हितो पर वाद-विवाद करे। ऐसी मीटिंग अन्तर्राज्यीय करारोपण परिषद् के नेतृत्व मे होनी चाहिए। अन्तर्राज्यीय करारोपण परिषद् को विभिन्न राज्यो की कर-व्यवस्था को सरल बनाने तथा उसमे एकरूपता लाने का प्रयास करना चाहिए।

(7) आयोग ने सुझाव दिया कि 1952 के आवश्यक वस्तु अधिनियम के अन्तर्गत विस्तृत सख्या में वस्तुएँ कर मुक्त सूची मे सम्मिलित कर ली गई है। अतएव इस सूची मे उत्तम वस्तुओं को छोडकर शेष सभी को निकाल देना चाहिए।

(8) कर-वचन (Tax evasion) को रोकने के लिए आयोग ने व्यवस्था और निरीक्षण को अधिक सुदृढ करने का सुझाव दिया।

(9) आयोग ने सुझाव दिया कि प्रत्येक राज्य मे एक बिक्री-कर ट्रिबुनल (Sales Tax Tribunal) की स्थापना की जानी चाहिए जो बिक्री-कर विभाग तथा व्यापारियो की अपीलो के बारे मे अन्तिम फैसला करे।

(10) बिक्री कर की छूट केवल कुछ सुपरिभाषित वर्ग की वस्तुओं पर होनी चाहिए।

(11) उद्योग एव व्यापार के लिए आय-कर विभाग द्वारा व्यापार एव उद्योग के सघो में सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। प्रत्येक राज्य मे बिक्री-कर सलाहकार समिति की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे व्यापार उद्योग एव व्यवसायो के हितो का प्रतिनिधित्व हो तथा जो बिक्री-कर समस्याओं का अध्ययन करे।

(12) बिक्री-कर प्रशासन की अलोकप्रियता को दूर करने के लिए उच्च अधिकारियो को विस्तृत अधिकार दिए जाने चाहिए। निरीक्षण कर्मचारी और अधिकारी पृथक्-पृथक् होने चाहिए। प्रत्येक बिक्री-कर विभाग मे इन्टेलिजेन्स सेक्शन होना चाहिए कर्मचारियों का व्यवहार व्यापारियो के साथ मधुर होना चाहिए तथा उन्हे व्यापारियो की समस्याओं पर उचित सलाह देनी चाहिए।

(13) अन्त मे आयोग ने यह सुझाव दिया कि बिक्री-कर को केवल वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहिए व सेवाओं पर कर नही लगाना चाहिए क्योकि इससे प्रशासन मे कठिनाइयाँ आएँगी तथा कर बचाने की सम्भावना बढेगी।

बिक्री कर के उन्मूलन का प्रश्न

पिछले कुछ वर्षों से बिक्री-कर समाप्त करने की माँग ने जोर पकडा है। जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे बिक्री-कर समाप्त करने का वायदा किया था लेकिन अपने शासनकाल मे वह ऐसा नहीं कर सकी। राज्य सरकारे इसके लिए तैयार नही हुईं। केन्द्रीय सरकार का प्रस्ताव था कि बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त केन्द्रीय उत्पादन शुल्क लगाया जाए तथा उससे होने वाली प्राप्तियो मे से राज्य सरकारो को न्यायोचित भाग दिया जाए। जनवरी 1980 मे केन्द्र मे कांग्रेस (इ) की सरकार स्थापित हो जाने के बाद भी बिक्री-कर चर्चा का विषय बना रहा। सितम्बर 1980 मे केन्द्र द्वारा मुख्य मन्त्रियो की बैठक आयोजित की गई जिसमे बिक्री-कर तथा ऑक्ट्रॉय समाप्त करने की चर्चा की गई। ऑक्ट्रॉय व विक्रय-कर समाप्त करने का विरोध सभी राज्यो के मुख्य मन्त्रियो ने किया। गुजरात के मुख्य मन्त्री ने एक प्रस्ताव रखा जिसे केरल तमिलनाडु त्रिपुरा व पश्चिमी बगाल के मुख्यमन्त्रियो को छोडकर सभी मुख्यमन्त्रियो ने स्वीकार किया जो इस प्रकार था—

(1) जीवन-रक्षक दवाओं और वनस्पति पर विक्रय कर का प्रतिस्थापन अतिरिक्त उत्पादन शुल्क से किया जाए और इस हेतु उचित रीतियाँ तैयार की जाएँ जिससे कि राज्यो के वर्तमान तथा भविष्य के न्यायोचित राजस्व हित सुरक्षित किये जा सके। (2) महाराष्ट्र गुजरात कर्नाटक उत्तर-प्रदेश जम्मू व कश्मीर नागालैण्ड उडीसा और पजाब के मुख्यमन्त्रियो की एक समिति बनाई जावे जो—(अ) बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क जिन वस्तुओं पर लगाया जा सकता है उनकी सूची तैयार करे तथा (ब) घोषित वस्तुओं की सूची मे विस्तार हेतु प्रस्ताव तैयार करे (3) विधि आयोग से राज्यो के विचारार्थ एक आदर्श बिक्री-कर अधिनियम प्रारूप प्राथमिकता के आधार पर तैयार करने के

लिए निवेदन किया जाए और (4) केन्द्रीय सरकार की सविधान सशोधन (49वे सशोधन) की रूपरेखा के आधार पर एक सविधान सशोधन अधिनियम जारी करने पर विचार करना चाहिए।[1]

राज्यों ने सर्वानुमति से यह निर्णय लिया कि केन्द्रीय बिक्री कर की दर जैसा कि इस समिति ने सुझाया है 4% से कम कर 1% न की जावे।[2]

अप्रेल 1983 मे त्रिपाठी समिति ने (जो बिक्री कर समाप्ति की जाँच के लिए गठित की गई थी) पाँच वस्तुओं यथा सीमेन्ट दवाइयाँ कागज व कागज गत्ता वनस्पति और पैट्रोलियम उत्पाद पर बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाने की व्यवस्था पहले से है। स्मरण रहे कि इस समिति ने 1978 मे कुछ वस्तुओं पर बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाने की सिफारिश की थी जिससे महत्वपूर्ण वस्तुओं की कीमतों में अन्तर आ जाने से व्यापार का आर्थिक अन्तरण (Diversion) रोका जा सके। त्रिपाठी समिति ने अपना ध्यान एक ऐसा फार्मूला निकालने पर लगाया जो राज्य सरकारो के वित्तीय हितो को सुरक्षित रख सके।

(8) राज्य उत्पादन कर (*State Excise Duties*)

वस्तुओं के उत्पादन पर उनके उपभोक्ताओं के पास जाने से पूर्व जो कर लगाया जाता है उसे उत्पादन कर कहते हैं। भारत मे उत्पादन कर लगाने का अधिकार केन्द्र एव राज्य सरकारों दोनो को है। भारत सरकार जिन वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाती है उससे प्राप्त रकम का एक भाग राज्यों को दिए जाने की परम्परा है। इसके अतिरिक्त सविधान के अन्तर्गत राज्य सरकारो को मानवीय उपभोग के लिए निम्न वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार प्राप्त है—1 शराब (देशी) 2 अफीम 3 भाँग 4 गाँजा 5 चावल या जौ की शराब 6 चरस 7 निद्राकारक वस्तुएँ 8 औषधियाँ आदि। इनके उत्पादन पर जो कर लगाया जाता है उसे राज्य उत्पादन कर (State Excise Duty) कहते हैं। यह परोक्ष कर है जिसका प्रभाव नशीले पदार्थों के उपभोक्ताओं पर ही पडता है। उत्पादन कर से एक ओर तो राज्यों की आय मे वृद्धि होती है और दूसरी ओर इसका नशीले पदार्थों के उपभोग को कम करना है। भार मे लोकमत मादक पदार्थों के सेवन के विरुद्ध है। 1947 के बाद से राज्य सरकारों ने इन वस्तुओं के उत्पादन पर भारी कर लगा दिए है।

मादक वस्तुओं पर कर लगाने का इतिहास नया नहीं है। ब्रिटिश शासन से पूर्व बगाल मे यह कर जमींदारो द्वारा वसूल किया जाता है किन्तु 1790 मे इस प्रथा को समाप्त कर दिया गया। तत्पश्चात् शराब बनाने और बेचने के लिए लाइसेस प्रणाली लागू की गई। 1820 के अधिनियम के अनुसार अधिकृत व्यक्ति ही ताडी का उत्पादन और विक्रय कर सकते थे। लगभग 40 वर्षों तक यह व्यवस्था चलती रही तत्पश्चात इसके स्थान पर उत्पादन कर लगाया गया। 1884 मे नियुक्त एक आयोग ने सुझाव दिया कि शराब के उत्पादन और विक्रय को अलग कर दिया जाना चाहिए। आयोग के सुझावो को स्वीकार कर लिया गया। अब उत्पादको के प्रति लीटर पर उत्पादन कर और बेचने वालों से लाइसेंस शुल्क प्राप्त होने लगा।

स्वाधीनता के पश्चात् मद्य निषेध नीति अपनाने से आय के साधन के रूप मे उत्पादन दायित्व कम हुआ। 1973 मे केन्द्र ने राज्य सरकारो को मद्य निषेध का 12 सूत्री कार्यक्रम लागू करने का अनुरोध किया जिसके अन्तर्गत नशीले पदार्थ पेयो का विज्ञापन बन्द करना सार्वजनिक स्थानों मे मदिरा पान बन्द करने आदि का प्रावधान है। इस नियम मे विदेशी कूटनीतिज्ञो और पर्यटको के लिए ढील दी गई है। जनता पार्टी के शासन मे प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने चार वर्षों मे 1982 तक पूर्ण मद्य निषेध लागू करने का विचार व्यक्त किया था और इस उदेश्य को पूरा करने के लिए जनता शासनकाल मे राज्यो मे विभिन्न उपाय भी किए गए थे। केन्द्र सरकार ने राज्यो को मद्यनिषेध से होने वाली हानि के आधे भाग की क्षतिपूर्ति का वचन दिया। इस आश्वासन के आधार पर राज्य मद्य निषेध की दिशा मे आगे बढे किन्तु वर्तमान स्थिति यह है कि देश के लगभग सभी राज्यो ने पूर्ण मद्य निषेध की नीति त्याग दी है। आज लगभग सभी राज्यों मे मद्य निषेध नीति या तो समाप्त कर दी गई है या मृत प्राय हो गई है और शराब की दुकानो के ठेके अधिकाधिक राशि के लिए दिए जा रहे है। कांग्रेस (इ) सरकार ने विचार व्यक्त किया है कि जनता सरकार की भाति वह मद्य निषेध के सम्बन्ध मे कडा रुख अपनाएगी।

1 2. ~आर एल शर्मा वही पृष्ठ 526

राज्य सरकारों को स्वय निर्णय लेना है कि उनकी वित्तीय स्थिति उन्हे मद्य-निषेध लागू करने की अनुमति देती है अथवा नहीं।

उल्लेखनीय है कि सातवें वित्त आयोग ने सुझाव दिया था कि मद्य-निषेध के फलस्वरूप राज्यों को होने वाली हानि की शत-प्रतिशत क्षति पूर्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जानी चाहिए परन्तु केन्द्र सरकार ने आयोग की सिफारिश को स्वीकार नहीं किया।

राज्य उत्पादन-कर से आय

राज्य सरकारों को उत्पादन-कर से प्राप्त आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि लगभग 8 गुना हुई। राज्य सरकारों को मोटर वाहनों के विक्रय, पैट्रोल आदि के विक्रय, विद्युत की विक्रय आदि पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को यात्रियों और वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। राज्य सरकारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में सचालित चलचित्रों, थियेटरों, नाटकों व अन्य प्रदर्शनों पर प्राय मनोरजन-कर लगाए जाते है जो टिकट के साथ वसूल कर लिए जाते हैं। इस मद से प्राप्त होने वाली आय मनोरजन साधनों के विस्तार के साथ-साथ बढ रही है। वृद्धि का एक कारण प्राय सभी राज्यो मे कर की दरों में वृद्धि होना भी है। मनोरजन-कर की दरें न केवल ऊँची हैं बल्कि प्रत्येक राज्य मे भिन्न है।

सभी राज्यों मे विद्युत बोर्डों द्वारा जनता को बिजली दी जाती है, जिसका निश्चित दर पर प्रति इकाई शुल्क लिया जाता है। इस शुल्क की रकम राज्य सरकार को प्राप्त होती है किन्तु राज्य सरकार प्रति इकाई बिजली पर एक अधिभार लगा देती है जिसकी वसूली विद्युत बोर्ड के बिल में हो जाती है पर यह रकम राज्य सरकार को मिलती है। गत वर्षों मे राज्य सरकार को विद्युत शुल्क से काफी आय प्राप्त हुई है।

केन्द्रीय आय-कर, आस्ति-कर तथा उत्पादन शुल्कों से भारत सरकार को जो राशि प्राप्त होती है उसमें से वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को हिस्सा दिया जाता है।

राज्यों के गैर-कर आय स्रोत
(Non-Tax Revenue of State Govts.)

राज्यों के अ-कर राजस्व या गैर-कर राजस्व को दो भागों मे बॉटा जाता है। पहले भाग मे केन्द्र से मिलने वाला अनुदान शामिल किया जाता है और दूसरे भाग मे ब्याज प्राप्तियॉ लाभाश सामान्य सेवाओं से प्राप्तियॉं, सामाजिक एव सामुदायिक सेवाओं से प्राप्तियॉं तथा आर्थिक सेवाओं से प्राप्तियॉं शामिल की जाती है।

प्रशासनिक प्राप्तियों से राज्य सरकारें काफी आय प्राप्त कर लेती है। राज्यो को एक ओर प्रशासनिक कार्यों पर बडी धनराशि व्यय करनी पडती है किन्तु दूसरी ओर प्रशासनिक विभागो से फीस, शुल्क आदि के रूप में आय भी प्राप्त होती है। शिक्षा चिकित्सा, जन स्वास्थ्य विभाग आदि सरकार को अच्छी आय प्रदान करते है। सार्वजनिक व्यवसायो से शुद्ध आय मे वन सिचाई जल व स्थल परिवहन, उद्योग आदि से प्राप्त आय की गणना होती है। इन मदो की आय के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय यह है कि इन विभागो की आय मे से विभागीय व्यय निकाल दिए जाते है और शुद्ध आय बच जाती है वह सरकार को हस्तान्तरित हो जाती है। ब्याज प्राप्तियॉं तथा अन्य उपायों से राज्य सरकारो को काफी आय प्राप्त होती है। राज्य सरकारें अपने क्षेत्र में स्थित व्यावसायिक सस्थाओं को ऋण देती रहती है और उन्हें उस पर ब्याज प्राप्त होता है। सहायक अनुदान (Grants-in-aid) राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से मिलते हैं। इस प्रकार के सहायक अनुदानों मे क्रमश निरन्तर वृद्धि हो रही है। रेलयात्री भाड़ो पर कर के बदले राज्यों को अनुदान मिलता है। यह गैर-विकास अनुदान सहायता के रूप में मिलता है। निष्कर्ष रूप में राज्य सरकारो की कर-आय और गैर कर-आय दोनो में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

13

गैर-कर राजस्व : सार्वजनिक उपक्रमों से लाभ

(Non-Tax Revenues : Profit from Public Enterprises)

सार्वजनिक उपक्रम (Public Enterprises) से आशय उन औद्योगिक संस्थाओ से है जिन पर राज्य का स्वामित्व होता है और जिनकी व्यवस्था तथा प्रबन्ध-सचालन राजकीय प्रशासन द्वारा किया जाता है। कुछ उद्योगो को निजी क्षेत्र से निकालकर जब राज्य अपने निर्देशन एव स्वामित्व मे ले लेता है तब वे उद्योग सार्वजनिक उपक्रम कहलाते है। समाजवादी और साम्यवादी देशो मे प्राय समस्त उद्योगो पर राजकीय स्वामित्व होता है जबकि पूँजीवादी देशो में आधारभूत उद्योग राज्य के अधिकार में होते हैं।

यह प्रश्न विचारणीय है कि राज्य द्वारा व्यापारिक और औद्योगिक उपक्रमो का सचालन क्यो किया जाता है ? इसमें निजी उद्योगो की तुलना में कुछ विशिष्ट लाभ निहित होते है जो राज्य को इस ओर प्रेरित करते हैं कि वह इन उद्योगो के क्षेत्र मे उतरे।

सार्वजनिक उपक्रमो के पक्ष मे तर्क
(Arguments for Public Enterprises)

1 आधारभूत सेवाएँ प्रदान करना—राजकीय स्वामित्व और नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य जन-साधारण की सेवा करना है। इसलिए प्राय सभी आधारभूत सेवाओ पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण देखा जाता है। आधारभूत सेवाओ के कुछ उदाहरण है--जल पूर्ति विद्युत-शक्ति की व्यवस्था यातायात की व्यवस्था सवाद वहन के साधनों की व्यवस्था आदि। ये सेवाएँ जन-साधारण के आर्थिक कल्याण और स्वास्थ्य की दृष्टि से नितान्त आवश्यक होती हैं अत सरकार राष्ट्रीयकरण द्वारा इन सेवाओ को एक उचित स्तर पर बनाए रखने का प्रयास करती है। व्यक्ति अथवा गैर-सरकारी सगठन प्राय ऐसी सेवाओ के सचालन की व्यवस्था नहीं कर सकते है और न ऐसा करना चाहते है। इसके अतिरिक्त यदि इन्हे व्यक्तिगत हाथो मे सौप दिया जाए तो इनकी कुशलता सदिग्ध हो जाती है।

2 एकाधिकार पर नियन्त्रण करना—कुछ आवश्यक सेवाओ को सरकार द्वारा इसलिए हाथ में लिया जाता है जिससे एकाधिकारी अर्द्ध-एकाधिकारी अथवा अकुशल व्यवस्था वाले गैर-सरकारी सगठनो से उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की जा सके अर्थात् अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा तथा उपभोक्ताओ के शोषण की समस्याओ को प्रोत्साहन न मिले जैसे नगर-परिवहन व नगर जल-पूर्ति की सेवाएँ। सभी देशो मे एकाधिकार के विरोध मे सन्नियम बनाए गए है लेकिन एकाधिकार को रोकने का श्रेष्ठतम उपाय राष्ट्रीयकरण ही है। इस सम्बन्ध मे पीगू का मत है कि राज्य को केवल उन्हीं उद्योगो पर अपना स्वामित्व रखना चाहिए जिनका स्वभाव एकाधिकारी (Monopolistic) है। एकाधिकारी स्वभाव वाले उद्योगों को छोडकर अन्य उद्योग निजी क्षेत्र मे ही रखे जाने चाहिए।

(i) निजी क्षेत्र मे रखने से एक प्रकार की वस्तु के उत्पादन के लिए विभिन्न व्यक्ति विभिन्न उद्योगो की स्थापना करेगे। इस प्रकार उनमे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होगी और प्रत्येक उद्योगपति का प्रयास यही होगा कि वस्तु अधिकाधिक मात्रा मे बिके और अधिकतम लाभ हो।

(ii) उपरोक्त स्थिति प्राप्त करने के लिए उद्योगपति एक तो वस्तु के गुण में सुधार करेंगे और दूसरे वस्तु का मूल्य न्यूनतम रखने की चेष्टा करेंगे।

पीगू के अनुसार इस प्रकार उपभोक्ता वर्ग को लाभ होगा देश में उत्पादन की वृद्धि होगी और राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। इसके विपरीत एकाधिकारी स्वभाव वाले उद्योग व्यक्तिगत क्षेत्र में रखे जाकर राज्य के अधीन ही रहने चाहिए क्योंकि एकाधिकारी स्थिति में उपभोक्ताओं श्रमिकों समाज तथा राज्य सभी को हानियाँ उठानी पड़ेगी।

3 प्राकृतिक साधनो की सुरक्षा—किसी भी देश मे प्राकृतिक साधन सीमित मात्रा में उपलब्ध होते हैं अत आवश्यक है कि उनका उपयोग यथासम्भव मितव्ययतापूर्ण ढग से हो। ऐसा निजी क्षेत्र में सम्भव नहीं है क्योंकि निजी क्षेत्र अपने लाभो को अधिकतम करने के लालच में इन साधनों का इस तरह प्रयोग कर सकता है जिससे उनका उपयोग अमितव्ययी हो जाए और दूसरे समाज का हित अधिकतम न हो जैसे—जगल काटना खानों में खुदाई करना आदि। यह स्वाभाविक है कि निजी क्षेत्र प्राय सामाजिक हित की वृद्धि करने के उद्देश्य से प्राकृतिक साधनों का प्रयोग नहीं करेगा अत अपेक्षित है कि उद्योगो का सचालन राज्य स्वय करे।

4 प्रतिरक्षा उद्योग—देश की सुरक्षा के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इससे सम्बन्धित मामलों को निजी क्षेत्र के हाथों में छोड़ना उचित नहीं माना जा सकता। देश की प्रतिरक्षा के लिए जो उद्योग आवश्यक हों वे राज्य के स्वामित्व मे रहने चाहिये। सभी वस्तुओं का उत्पादन प्राय बहुत महँगा होता है और अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है फलस्वरूप निजी उपक्रम इन उद्योगो को चलाने की सोच नहीं भी सकते। गोपनीयता सुरक्षित रखने की दृष्टि से प्रतिरक्षा उद्योगों को निजी क्षेत्र के हाथों में छोडना सम्भव नहीं है। इन्हीं कारणो से ऐसे उद्योगों को प्रत्येक देश में राज्य स्वय सचालित करता है।

5 धन का पुनर्वितरण करना—निजी उपक्रम धन के वितरण की विषमता बढाते हैं। धन के समान वितरण की महत्त्वपूर्ण समस्या का हल यह है कि उद्योगो के राजकीय स्वामित्व और नियन्त्रण को प्रोत्साहन मिले क्योकि सरकार का प्रमुख उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता बल्कि सेवा करना होता है। सरकार व्यक्तिगत अथवा किसी वर्ग विशेष के हित का ध्यान नहीं रखती। वह अपने कार्य सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से करती है। समाज मे धन का समान वितरण करना उसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

6 वृहत् स्तरीय उद्योगो से लाभो की प्राप्ति—सार्वजनिक उद्योगो का आकार बड़ा होने के कारण उनसे प्राय वृहत् स्तरीय उत्पादन के सभी लाभ प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध और एकता के समस्त लाभ मिल जाते है जो कि निजी क्षेत्र मे सम्भव नहीं है।

7 राज्य की आय मे वृद्धि—सार्वजनिक उद्योगो का लाभ लोगों की निजी जेब में न जाकर राज्य के खजाने मे जमा होता है जिससे राज्य की आय मे वृद्धि होती है। इस आय से जन सेवा के कार्य अधिक मात्रा मे किए जा सकते हैं अथवा जनता पर कर का भार कम किया जा सकता है।

8 देश का सन्तुलित आर्थिक व औद्योगिक विकास—राष्ट्रीयकरण करने से देश मे उद्योगों का शीघ्र विकास होता है साथ ही उद्योगो के स्थानीयकरण आकार पूँजी सरचना (Capital Structure) आदि मे पाए जाने वाले व्यक्तिगत उद्योगो के दोष समाप्त हो जाते है। राज्य प्राय उचित आकार और पर्याप्त पूँजी वाले उद्योगो की ही योग्य स्थानों पर स्थापना करता है। इसके अतिरिक्त राजकीय उद्योगों का विकास पूर्ण योजनानुसार होता है जिससे देश के सभी भागो मे उद्योगो का समान रूप से विकास सम्भव हो पाता है।

9 उपभोक्ताओ के हितो का विचार—सरकारी नियन्त्रण वाले उद्योगों मे उपभोक्ताओं के हित सुरक्षित रहते हैं। सरकारी उद्योगो से जनता को अच्छी किस्म की वस्तुएँ कम मूल्य पर सुविधा से प्राप्त हो सकती हैं उपभोक्ताओं के हितों की दृष्टि से सरकार द्वारा प्राय मादक पदार्थों के उत्पादन और विक्रय पर राजकीय नियन्त्रण लगाया जाता है।

10. कुशल व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ—राजकीय उपक्रमों मे देश के कुशल अनुभवी और परिश्रमी व्यक्तियों की सेवाओं का समुचित लाभ उठाने के पर्याप्त अवसर रहते है। सरकारी उद्योग मे नौकरी के स्थायित्व और नियमितता के रहने से सरकारी उद्योगो को कुशल व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ अधिक मिल जाता है।

11 माँग एवं पूर्ति मे सन्तुलन—सार्वजनिक क्षेत्र में उपक्रमों को सचालित करने की नीति से देश के व्यापारिक क्षेत्र मे तेजी और मन्दी पर बहुत कुछ नियन्त्रण रखा जा सकता है क्योकि इन उपक्रमों मे अत्यधिक उत्पादन अथवा कम उत्पादन का भय नही रहता। राजकीय उपक्रम माँग और पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित करने मे सहायक सिद्ध होते है। राज्य-उपक्रम मे वस्तु के मूल्य में स्थायित्व बना रहता है।

12. श्रमिकों का शोषण से मुक्ति—निजी उद्योगों मे श्रमिकों के हित ज्यादा सुरक्षित नहीं रह सकते जितने राजकीय उपक्रमों मे रहते है। उद्योगों के सार्वजनिक क्षेत्र मे आ जाने से श्रमिकों के शोषण की आशंका नहीं रहती। राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह एक आदर्श नियोक्ता की तरह कार्य करे और श्रमिको को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करते हुए उनके हितों का आदर्श सरक्षक बने। राज्य उपक्रम में श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं मे निश्चित रूप मे निजी उपक्रमो की अपेक्षा सुधार होता है और उन्हे सामाजिक सुरक्षा की पर्याप्त सेवाएँ प्रदान की जाती है।

13 उद्योगो की कार्यक्षमता मे वृद्धि—उद्योगो मे राज्य के प्रवेश से उद्योग की कार्यक्षमता बढ़ने की पूर्ण सम्भावना रहती है। राज्य निजी उपक्रमो की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक सक्षम होता है कि महँगी और जटिल मशीनों का प्रयोग करके और देश के उद्योगो का पूर्ण आधुनिकीकरण करके देश को औद्योगिक प्रगति की ओर अग्रेषित करे। राज्य औद्योगिक अनुसंधान मे वाछित धन व्यय कर सकता है और अधिकाधिक सख्या मे योग्य व्यक्तियो को ऊँचा वेतन देकर उनकी कुशलता का समुचित उपयोग कर सकता है।

14 अकुशल व्यक्तिगत उपक्रमो को हटाना—किन्हीं परिस्थितियो में जब निजी उद्योगो में अकुशल इकाइयाँ बढने लगती है तो सरकार ऐसे निजी उपक्रमों को अपने स्वामित्व और नियन्त्रण मे लेकर उनका उचित विकास कर सकती है। इससे राष्ट्रीय उत्पादन बढाने मे काफी सहायता मिलती है।

15. अधिक जोखिम वाले उद्योगो का सचालन—कुछ उद्योगो मे लाभ बहुत कम और जोखिम अधिक रहती है। ऐसे व्यवसायो को निजी उपक्रम चलाने के लिए तैयार नही होते अथवा इनमे बहुत कम रुचि रखते है। ये उद्योग देश के लिए अनिवार्य होते है तो उन्हें राज्य को ही सचालित करना पडता है और ऐसा करते समय राज्य यह नही देखता कि अमुक उद्योग से उसे लाभ प्राप्त हो रहा है या नही।

16 आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना—देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास का भार मुख्यतया सरकार पर रहता है। सरकार ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी होती है कि देश मे आर्थिक और औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा हो। इस दिशा मे नेतृत्व करना राज्य का कार्य है। इसलिए अनेक उद्योगों मे राज्य को स्वय प्रवेश करना जरूरी हो जाता है। सरकार की व्यावसायिक आय का समाज पर आर्थिक प्रभाव पडता है। जनता जितना अधिक उपभोग इन वस्तुओ और सेवाओ का करती है उतना ही अधिक मूल्य देने को तैयार रहती है। दूसरे करो की भाँति इस आय स्रोत मे वृद्धि करने से लोगो की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव नहीं पडता। इसके विपरीत समाज का उत्पादन बढता है लोगो की बचत करने और विनियोग की इच्छा पर अच्छा प्रभाव पडता है।

सरकारी उद्योगो का मुख्य उद्देश्य लाभोपार्जन नही होता बल्कि किसी उद्देश्य की पूर्ति या किसी नीति का क्रियान्वयन होता है। सरकारी उद्योगों के पीछे प्रेरणा चाहे कुछ भी हो ये आय के साधन माने जाते हैं। आय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप इन राजकीय वाणिज्यिक उद्योगो से होने वाली बचतें ही है और ये बचते अनेक देशो के बजटो मे निरन्तर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती जा रही हैं। आज सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति बढते हुए आकर्षण से आय के इन साधनो का महत्त्व बहुत बढ गया है।

10. कुशल व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ—राजकीय उपक्रमों मे देश के कुशल अनुभवी और परिश्रमी व्यक्तियो की सेवाओं का समुचित लाभ उठाने के पर्याप्त अवसर रहते है। सरकारी उद्योग में नौकरी के स्थायित्व और नियमितता के रहने से सरकारी उद्योगों को कुशल व्यक्तियो की सेवाओं का लाभ अधिक मिल जाता है।

11. माँग एवं पूर्ति मे सन्तुलन—सार्वजनिक क्षेत्र मे उपक्रमो को सचालित करने की नीति से देश के व्यापारिक क्षेत्र मे तेजी और मन्दी पर बहुत कुछ नियन्त्रण रखा जा सकता है क्योंकि इन उपक्रमो मे अत्यधिक उत्पादन अथवा कम उत्पादन का भय नहीं रहता। राजकीय उपक्रम माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करने मे सहायक सिद्ध होते है। राज्य-उपक्रम में वस्तु के मूल्य मे स्थायित्व बना रहता है।

12. श्रमिको को शोषण से मुक्ति—निजी उद्योगो मे श्रमिको के हित ज्यादा सुरक्षित नहीं रह सकते जितने राजकीय उपक्रमों में रहते हैं। उद्योगो के सार्वजनिक क्षेत्र में आ जाने से श्रमिको के शोषण की आशका नहीं रहती। राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह एक आदर्श नियोक्ता की तरह कार्य करे और श्रमिको को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करते हुए उनके हितो का आदर्श सरक्षक बने। राज्य उपक्रम मे श्रमिको के कार्य करने की दशाओ मे निश्चित रूप मे निजी उपक्रमो की अपेक्षा सुधार होता है और उन्हे सामाजिक सुरक्षा की पर्याप्त सेवाएँ प्रदान की जाती है।

13 उद्योगो की कार्यक्षमता मे वृद्धि—उद्योगो मे राज्य के प्रवेश से उद्योग की कार्यक्षमता बढने की पूर्ण सम्भावना रहती है। राज्य निजी उपक्रमो की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक सक्षम होता है कि महँगी और जटिल मशीनो का प्रयोग करके और देश के उद्योगो का पूर्ण आधुनिकीकरण करके देश को औद्योगिक प्रगति की ओर अग्रेषित करे। राज्य औद्योगिक अनुसधान में वाछित धन व्यय कर सकता है और अधिकाधिक सख्या मे योग्य व्यक्तियो को ऊँचा वेतन देकर उनकी कुशलता का समुचित उपयोग कर सकता है।

14 अकुशल व्यक्तिगत उपक्रमो को हटाना—किन्हीं परिस्थितियों मे जब निजी उद्योगो में अकुशल इकाइयाँ बढने लगती है तो सरकार ऐसे निजी उपक्रमो को अपने स्वामित्व और नियन्त्रण में लेकर उनका उचित विकास कर सकती है। इससे राष्ट्रीय उत्पादन बढाने मे काफी सहायता मिलती है।

15. अधिक जोखिम वाले उद्योगो का सचालन—कुछ उद्योगो मे लाभ बहुत कम और जोखिम अधिक रहती है। ऐसे व्यवसायो को निजी उपक्रम चलाने के लिए तैयार नही होते अथवा इनमें बहुत कम रुचि रखते है। ये उद्योग देश के लिए अनिवार्य होते है तो उन्हे राज्य को ही सचालित करना पड़ता है और ऐसा करते समय राज्य यह नहीं देखता कि अमुक उद्योग से उसे लाभ प्राप्त हो रहा है या नहीं।

16. आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना—देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास का भार मुख्यतया सरकार पर रहता है। सरकार ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी होती है कि देश में आर्थिक और औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा हो। इस दिशा मे नेतृत्व करना राज्य का कार्य है। इसलिए अनेक उद्योगो मे राज्य को स्वय प्रवेश करना जरूरी हो जाता है। सरकार की व्यावसायिक आय का समाज पर आर्थिक प्रभाव पडता है। जनता जितना अधिक उपभोग इन वस्तुओ और सेवाओ का करती है उतना ही अधिक मूल्य देने को तैयार रहती है। दूसरे करों की भाँति इस आय स्रोत मे वृद्धि करने से लोगो की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव नहीं पडता। इसके विपरीत समाज का उत्पादन बढता है लोगो की बचत करने और विनियोग की इच्छा पर अच्छा प्रभाव पडता है।

सरकारी उद्योगो का मुख्य उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं होता बल्कि किसी उद्देश्य की पूर्ति या किसी नीति का क्रियान्वयन होता है। सरकारी उद्योगो के पीछे प्रेरणा चाहे कुछ भी हो ये आय के साधन माने जाते है। आय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप इन राजकीय वाणिज्यिक उद्योगो से होने वाली बचते ही है और ये बचते अनेक देशों के बजटो मे निरन्तर अधिकाधिक महत्वपूर्न स्थान प्राप्त करती जा रही हैं। आज सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति बढते हुए आकर्षण से आय के इन साधनो का महत्त्व बहुत बढ गया है।

यह उल्लेखनीय है कि राज्य को जो व्यावसायिक आय प्राप्त होती है उसके बदले में यह लोगों को प्रत्यक्षत सेवाएँ और वस्तुएँ प्रदान करता है। प्रत्यक्ष-प्रतिफल या आदान-प्रदान का वह तत्व ही ऐसी आय को करो से पृथक् करता है।

सार्वजनिक उपक्रमो के विपक्ष मे तर्क
(Arguments Against Public Enterprises)

1. राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता की समाप्ति—यदि देश मे सभी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में ले लिया जाए तो इसका अर्थ आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में सरकार का एक मात्र आधिपत्य स्थापित हो जाना है। यह स्थिति नि सन्देह अनुचित होगी। उद्योगपति उपभोक्ताओं की माँग का अध्ययन करके उसी के अनुसार उत्पादन करते हैं और वस्तु की प्रचलित किस्म के अनुसार मात्रा तैयार करने को तत्पर रहते है लेकिन उद्योगों मे राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप उपभोक्ताओ का यह अधिकार और प्रभाव जाता रहेगा। राज्य जैसा भी उत्पादन करेगा उपभोक्ताओं को उसी से सन्तुष्ट रहना पडेगा। राष्ट्रीयकरण हो जाने पर जनसख्या का एक बडा भाग राजकीय कर्मचारियो के रूप मे होगा और इस भाग को राजनीतिक स्वतन्त्रता से हाथ धोना पडेगा।

2. प्रतिस्पर्द्धा और उत्प्रेरणाओ की कमी—सार्वजनिक उपक्रमों मे प्रतिस्पर्द्धा की भावना नहीं रहती। उनमे स्वतन्त्र आर्थिक प्रवाह नहीं पाया जाता। प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हो जाने से उद्योगो की उन्नति रुक जाती है और उनमें जडता उत्पन्न होती है। उत्प्रेरणाओ (Incentives) की कमी के कारण श्रमिकों की उत्पादकता का स्तर गिर जाता है। चूँकि सरकारी कर्मचारियो की नौकरी सुरक्षित होती है और पदोन्नति योग्यता के आधार पर न होकर वरिष्ठता के आधार पर होती है अत उनमे कार्य करने की लगन समाप्त प्राय हो जाती है। वर्तमान मे सार्वजनिक क्षेत्र की इस कमी को नियन्त्रित करने के प्रयास किए गए और योग्यता व उत्पादकता का महत्त्व बढा दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध सम्बन्धी अयोग्यताओं को छिपाने के लिए मूल्य-वृद्धि कर दी जाती है। वस्तुत सार्वजनिक उपक्रम विशुद्ध व्यावसायिक सिद्धान्तो के आधार पर नहीं चलाए जाते है जबकि निजी उपक्रम सदैव अधिक कुशल होने का प्रयत्न करते है। निजी उद्योगपति अपने उद्योग से अधिक लाभ प्राप्त करने की पूर्ण कोशिश करते है। सार्वजनिक क्षेत्र में इसकी रुचि प्रबन्धकर्त्ताओं मे नहीं हो सकती।

3. उचित निर्णय मे देरी—तत्काल उचित निर्णय करने की क्षमता सार्वजनिक क्षेत्र मे निजी क्षेत्र की तुलना मे कम होती है। निजी उद्योगपति समय का मूल्य समझते है और विलम्ब होने के कारण होने वाली हानि को यथासम्भव न्यूनतम करने को तत्पर रहते हैं। सार्वजनिक उपक्रमो मे निर्णय के एकाधिकार का विकेन्द्रीकरण करके इस दोष को मिटाने का प्रयास किया जा रहा है तथापि इस दोष का पूर्णत समाप्त होना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

4. अकुशल व अनुपयुक्त अधिकारी एव कर्मचारी वर्ग—सार्वजनिक उपक्रमो की व्यवस्था करने का और शासन प्रबन्ध का भार जिन व्यक्तियो के हाथो मे होता है वे अधिक कुशल और योग्य नहीं होते। सार्वजनिक उपक्रमो मे उनकी नियुक्तियाँ प्राय व्यावसायिक प्रशासनिक योग्यताओ के कारण नहीं की जातीं बल्कि अन्य अनेक कारणो से की जाती है। इसके फलस्वरूप सार्वजनिक उपक्रमो मे आर्थिक निर्णयों के मूल मे आर्थिक कारण उतनी दृढ भूमिका नहीं निभाते जितनी कि अन्य कारण निभाते हैं।

5 राजनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ—सार्वजनिक क्षेत्र मे राजनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ अधिकाधिक विद्यमान होती है लेकिन इतना अवश्य है कि स्वशासित निगमों के निर्माण से ऐसे हस्तक्षेपो मे कमी अवश्य की जा सकती है। निजी क्षेत्रो मे राजनीतिक हस्तक्षेप सामान्यतया नहीं पाया जाता पर कम्पनियों के प्रबन्ध मे प्रबन्धकर्त्ता प्राय हस्तक्षेप करने का प्रयास करते है।

6 नौकरशाही प्रवृत्ति—सार्वजनिक उपक्रम नौकरशाही की प्रवृत्ति के शिकार रहते है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो के सचालनकर्त्ता व्यवहार मे इतने विनम्र और सहानुभूत नहीं होते जितने निजी उद्योगों के

संचालनकर्त्ता । उपभोक्ताओ को सन्तुष्ट करने और उन्हे आवश्यक सेवा प्रदान करने के स्थान पर सार्वजनिक उपक्रम नियमों का अक्षरश पालन तथा औपचारिकता का व्यवहार करने लगते है । सार्वजनिक उपक्रमो की सीमा से अधिक विकास और विस्तार राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) को जन्म देता है जो व्यक्तिगत पूँजीवाद की भाँति अवाछनीय है ।

7. विनियोग मे रुकावट—सार्वजनिक उपक्रमो के विस्तार से विनियोग में रुकावटे पैदा होने का भय उत्पन्न हो जाता है । राष्ट्रीयकरण के भय से देश के उद्योगपति अपनी पूँजी विदेशो मे लगा सकते है अथवा देश में विदेशी पूँजी के आगमन पर रोक लग सकती है । इस प्रकार औद्योगीकरण का कार्य शिथिल हो जाने का भय रहता है ।

8. श्रमिक असन्तोष को प्रोत्साहन—उद्योगो को सार्वजनिक क्षेत्र मे ले लेने से सरकार और श्रमिको के सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पडने की आशका रहती है । सार्वजनिक उपक्रम मे श्रम-सघर्ष होने से सरकार और श्रमिक के बीच सीधा सघर्ष हो जाता है । व्यक्तिगत उद्योगो के सघर्ष को तो राज्य सुलझा सकता है किन्तु जब सघर्ष राज्य से हो जाए तो उसे कौन सुलझाए ? तब सम्भावना यह रहती है कि किसी एक सार्वजनिक उपक्रम मे पैदा हुए श्रम-सघर्ष सारे देश में फैल जाएँ और वे सम्पूर्ण वातावरण पर बुरा प्रभाव डालें । जब श्रमिको को खुश करने के लिए राज्य अधिक सुविधाएँ प्रदान करता है तो निजी क्षेत्र के उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिक भी इसी प्रकार की सुविधाएँ माँगने लगते है ।

9. सार्वजनिक एकाधिकार—इससे सभी आर्थिक क्रियाओ पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है और निजी स्वामित्व के लिए अत्यन्त सीमित क्षेत्र रह जाता है । कई बार निजी स्वामित्व को पूर्णत समाप्त कर दिया जाता है । राष्ट्रीयकरण की नीति से रोजगार उत्पादन मूल्य वितरण सार्वजनिक एकाधिकार अधिक खतरनाक साबित हो सकता है ।

10. राज्य पर कार्य का अधिक भार—सार्वजनिक उपक्रमो के कारण राज्य पर पहले की अपेक्षा अधिक कार्य भार पडता है । राज्य के कार्य पहले से बहुत अधिक बढे हुए होते है और जब औद्योगिक कार्य उसके सुपुर्द हो जाते है तब यह सम्भव है कि आवश्यक सावधानी के साथ इनको न चला पाए । इस तथ्य से इन्कार करना कठिन है कि सरकार का कार्यक्षेत्र जितना अधिक राजनीतिक है उतना आर्थिक नहीं । आर्थिक क्षेत्र मे राज्य उतना अधिक सफल बहुधा नहीं हो पाता जितना निजी क्षेत्र हो सकता है ।

11. मूल्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ—सार्वजनिक उपक्रम में एक बडी कठिनाई मूल्य नीति निर्धारण की है । सार्वजनिक उपक्रमो मे उत्पादित माल की कीमत थोडी ऊँची करने से ही माँग पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड सकता है । अत यह प्रश्न सदैव विचारणीय रहता है कि क्या राजकीय उपक्रमो को लाभ के आधार पर काम चाहिए । यदि ऐसा किया जाए तो लाभ की दर क्या होनी चाहिए इस समस्या का हल बडा कठिन है ।

तुलनात्मक विश्लेषण करने पर लाभ अधिक सबल और प्रभावशाली है और दोष भी ऐसे है जिन्हे काफी हद तक मिटाया जा सकता है । सबसे आधारभूत दोष प्राय यही बताया जा सकता है कि सार्वजनिक उपक्रमो मे कार्यकुशलता मे कमी होती है और व्यक्तिगत उपक्रमो की तुलना मे मौद्रिक व्यय ऊँचा रहता है । यह जानना आवश्यक है कि उत्पादन सम्बन्धी लागत को दो भागों मे बाँटा जा सकता है—एक मौद्रिक लागत (Monetary Cost) और दूसरा सामाजिक लागत (Social Cost) । व्यक्तिगत उपक्रमों मे मौद्रिक लागत अवश्य नीची रहती है लेकिन सामाजिक लागत जो कि सरकार को शिक्षा स्वास्थ्य तथा सामाजिक सेवाओ आदि के सम्बन्ध मे करनी होती है काफी ऊँची होती है । सोवियत रूस के समाजीकृत उद्योग मे उत्पादन व्यय व्यक्तिगत स्वामित्व की तुलना मे नीचा है । इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्वामित्व और उत्पादन कुशलता मे पूर्णत प्रत्यक्ष सम्बन्ध का पक्ष-पोषण नहीं किया जा सकता । आविष्कार शोध और श्रम-विभाजन को प्रोत्साहित करके सार्वजनिक उपक्रम वस्तुत उत्पादन व्यय को कम करने की उपर्युक्त दिशा में सफल होते है । इसके अतिरिक्त अनुभव यह नहीं बताता कि सार्वजनिक उपक्रमो मे कार्य करने के उत्साह मे कमी रहती है । आज के वैज्ञानिक युग मे कार्य करने के उत्साह को बढाने के विविध उपाय सुगमतापूर्वक किए जा सकते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि सार्वजनिक उपक्रम अपनी चरम सीमा पर पहुँचने लगेंगे तो अवश्य दु खदायी होंगे अत उचित यही है कि सार्वजनिक और निजी दोनों उपक्रमों को विकास का उचित अवसर मिलता रहे।

सरकार की औद्योगिक नीति के प्रकाश मे सार्वजनिक उपक्रम

(Public Enterprises in Light of Govt.'s Industrial Policy)

विकासशील देशों की अर्थ व्यवस्था का द्रुतगति से विकास करने में सार्वजनिक उपक्रम महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। प्रो ए एच हेन्सन ने लिखा है आर्थिक दृष्टि से उन्नति करने के इच्छुक देशों के समक्ष सार्वजनिक उपक्रमों का वृहत् स्तर पर उपयोग करने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं है। अन्ततोगत्वा विकल्प चाहे कुछ भी हो सार्वजनिक उपक्रमों को बिजली परिवहन सिंचाई आदि सुविधाओं की व्यवस्था करनी ही होती है।

भारत में वैसे तो स्वतन्त्रता से पूर्व सरकार ने महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मे औद्योगिक साहसी के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया था तथापि स्वतन्त्रता के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र का वास्तविक रूप से विकास शुरू हुआ। स्वतन्त्रता से पूर्व केवल सुरक्षात्मक उद्योगों जनोपयोगी प्रकृति के उद्योगों तथा प्रशासनिक सुधार की दृष्टि से कतिपय उद्योगों में सार्वजनिक स्वामित्व एव नियन्त्रण था। जबकि स्वतन्त्रता के बाद समय-समय पर घोषित और सशोधित नीतियों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र का सुनियोजित विस्तार किया गया और देश का आर्थिक ढाँचा स्पष्ट रूप में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र में विभाजित किया गया।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 (Industrial Policy Resolution 1948)

स्वतन्त्र भारत की औद्योगिक नीति सर्वप्रथम 1948 मे घोषित की गई। इसमे मिली जुली अर्थव्यवस्था का उद्देश्य रखा गया। यह स्पष्ट किया गया कि कुछ उद्योगों का विकास सरकार करेगी और अन्य उद्योगों का विकास निजी उद्योगपति करेगे। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को दो भागो मे बाँट दिया गया—निजी क्षेत्र (Private Sector) तथा सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)।

इस नीति के अन्तर्गत सभी उद्योगो को चार वर्गों मे विभाजित किया गया[1]—

(i) प्रथम वर्ग में अस्त्र-शस्त्र और युद्ध सामग्री का निर्माण परमाणु शक्ति का उत्पादन और नियन्त्रण रेल यातायात के स्वामित्व और प्रबन्ध को पूर्णत केन्द्रीय सरकार के एकाधिकार क्षेत्र में रखा गया। इसके अतिरिक्त सरकार को यह अधिकार दिया गया कि सकटकालीन दशा मे राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक किसी भी उद्योग को वह अपने अधीन ले सकती है।

(vii) द्वितीय वर्ग में लोहा व इस्पात कोयला वायुयान निर्माण पोत निर्माण टेलीफोन तार व बेतार यन्त्र निर्माण तथा खनिज तेल उद्योगों को सम्मिलित किया गया। इन उद्योगों के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि विद्यमान इकाइयों को निजी क्षेत्र में रखा जाए लेकिन नवीन इकाइयाँ सरकार द्वारा स्थापित की जाएँगी। सरकार ने यह भी घोषित किया कि विद्यमान इकाइयों का राष्ट्रीयकरण दस वर्ष तक नहीं किया जाएगा। दस वर्ष बाद इस पर पुन विचार करने की व्यवस्था की गई कि उक्त उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाए अथवा नहीं।

(iii) तृतीय वर्ग में 18 महत्त्वपूर्ण उद्योगों को सम्मिलित किया गया जैसे—सूती वस्त्र जूट चीनी सीमेन्ट आदि। इन उद्योगों के लिए यह घोषणा की गई कि सरकार इनका नियमन व नियोजन करना आवश्यक समझती है। इस वर्ग में राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योग थे अत राष्ट्रहित में सरकार द्वारा उनका नियमन आवश्यक समझा गया।

(iv) चतुर्थ वर्ग में शेष उद्योगों को रखा गया। इन उद्योगों के सम्बन्ध में यह घोषणा की गई कि इनका विकास निजी व सहकारी क्षेत्रों में किया जाएगा किन्तु आवश्यकता पडने पर सरकार द्वारा भी ये उद्योग स्थापित किए जा सकते हैं।

इस औद्योगिक नीति में राष्ट्रहित में कुटीर एव लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार द्वारा आवश्यक प्रयास करने पर बल दिया गया है। विदेशी पूँजी की महत्ता को स्वीकार किया गया और श्रमिकों तथा प्रबन्धकों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित किए जाने का विचार प्रकट किया गया।

1 *चन्द्रप्रकाश* औद्योगिक सगठन एवं सेवीवर्गीय प्रबन्ध पृष्ठ 411 12.

औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 (Industrial Policy Resolution 1956)

1948 की औद्योगिक नीति की घोषणा के बाद अनेक ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके फलस्वरूप इस नीति में परिवर्तन की माग की जाने लगी। औद्योगीकरण की गति को तीव्र करने तथा आर्थिक विकास की दर में वृद्धि करने के लिए मशीन निर्माण उद्योगो और भारी उद्योगो की उन्नति करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करने के लिए व्यापक सहकारी क्षेत्र के निर्माण और विकास के लिए आय एव धन के वितरण की असमानता को दूर करने के लिए आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण तथा निजी एकाधिकार पर रोक लगाने के लिए और रोजगार के अवसरों मे वृद्धि करने के लिए भारत सरकार ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 स्वीकृत किया।

1956 की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताए इस प्रकार है—

(1) उद्योगो का वर्गीकरण—इस नीति मे उद्योगो को तीन वर्गों मे बाटा गया है—

(क) वे उद्योग जिनकी स्थापना का पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार पर होगा। इस वर्ग मे 17 उद्योगों का उल्लेख किया गया है जिन्हे प्रस्ताव की अनुसूची 'क मे वर्णित किया गया है। इन उद्योगो के नाम निम्नलिखित हैं—अस्त्र शस्त्र व सैन्य सामग्री अणु शक्ति लोहा एव इस्पात भारी ढुलाई भारी मशीने भारी बिजली के सामान कोयला तेल लौह धातु तथा ताम्बा सीसा व जस्ता व अन्य महत्त्वपूर्ण खनिज विमान निर्माण वायु परिवहन रेल परिवहन टेलीफोन तार बेतार व समाचार भेजने के उपकरण विद्युत उत्पत्ति एव वितरण आदि। इन उद्योगों मे केवल सरकारी इकाइया लगी हुई थीं अत इसे सार्वजनिक क्षेत्र कह सकते है।

(ख) वे उद्योग जिनकी नवीन इकाइयो की स्थापना साधारणत सरकार करेगी लेकिन निजी क्षेत्र से यह आशा की जाएगी कि वह भी इस प्रकार के उद्योगो के विकास मे समुचित सहयोग दे। द्वितीय वर्ग में 12 उद्योगो को सम्मिलित किया गया है और इनका नाम प्रस्ताव की अनुसूची ख मे वर्णित किया गया है। इन उद्योगो के नाम निम्नलिखित हैं—खनिज एल्यूमिनियम व अन्य अलौह धातुएँ मशीनी औजार लौह मिश्रित धातुएँ और ओजारी इस्पात रसायन उद्योग एण्टीबायोटिक्स और अन्य आवश्यक औषधियाँ उर्वरक सश्लिष्ट रबड कोयले का कार्बनीकरण रासायनिक लुगदी सडक परिवहन और समुद्री परिवहन। इन उद्योगो मे सरकारी व निजी दोनो ही इकाइया होगी अत इसे मिश्रित क्षेत्र कह सकते हैं।

(ग) शेष सभी उद्योग जिनकी स्थापना व विकास सामान्यतया निजी के अधीन ही रहेगा। इनमे वे सभी उद्योग आएंगे जिनका वर्णन अनुसूची 'क और ख मे नहीं किया गया हो। इस नीति मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन शेष उद्योगो मे से किसी उद्योग मे सरकार द्वारा इकाइयो की स्थापना की जा सकती है तथापि इन उद्योगो की स्थापना निजी उद्योगपति ही करेगे। निजी क्षेत्र के इन उद्योगो के विकास के लिए सरकार ने सभी आवश्यक सुविधाए प्रदान करने का आश्वासन दिया है।

(2) निजी व सार्वजनिक क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग—इस नीति मे यह स्पष्ट किया गया है कि निजी व सार्वजनिक क्षेत्र एक दूसरे के पूरक है और दोनो एक दूसरे के सहयोग से देश के आर्थिक विकास मे सक्रिय सहयोग देगे। इन उद्योगो को तीन वर्गों मे बाँटा गया है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्र के हित मे वर्ग अ के उद्योगों की स्थापना निजी उद्योगपति कर सकते है और उसी प्रकार तीसरे वर्ग मे सरकार अपनी इकाइयों की स्थापना कर सकती है। इस प्रकार दोनों मिल जुलकर पारस्परिक सहयोग से राष्ट्र के आर्थिक विकास मे सहायता करेगे।

(3) निजी क्षेत्र को सहायता एव नियमन—सरकार निजी उद्योगों को आवश्यक सहायता प्रदान करेगी जिससे कि वे आश्वस्त होकर कुशलता के साथ अपना विकास कर सके और देश के आर्थिक विकास मे सहायता प्रदान कर सके। इसके लिए विद्युत परिवहन सवाद वाहन वित्त आदि की समुचित व्यवस्था की जाएगी किन्तु सहायता देने के साथ साथ यह आवश्यक है कि निजी उद्यम सरकारी नीति व योजना के अनुसार कार्य करे। इसके लिए उनका नियमन किया जाएगा। यदि किसी उद्योग मे सरकारी व निजी दोनो इकाइयाँ होगी तो दोनो मे भेद भाव नहीं किया जाएगा।

(4) इस नीति मे लघु एव ग्रामीण उद्योगो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इनके विकास को प्रोत्साहित करने का निश्चय प्रकट किया गया।

(5) इस नीति मे क्षेत्रीय असमानता को दूर करने पर बल दिया गया और कहा गया कि यथासम्भव देश के विभिन्न क्षेत्रो का सन्तुलित एव समन्वित विकास किया जाए।

(6) इस नीति प्रस्ताव मे तकनीकी एव प्रबन्ध कर्मचारियो के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था पर बल दिया गया।

(7) यह आवश्यकता स्वीकार की गई कि श्रमिको को उचित सुविधाएँ और उत्प्रेरणाएँ मिलनी चाहिए।

(8) यह तथ्य स्वीकारा गया कि लोक उद्योगो की वृद्धि के साथ-साथ उनके कुशल प्रबन्ध की समस्या उत्पन्न होगी। इस पर बल दिया गया कि इन उद्योगो को व्यावसायिक इकाइयों की तरह चलाया जाए और इनमे यथासम्भव प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण किया जाए।

इस नीति का अधिकाश लोगो ने स्वागत किया और कुछ ने इसे 'आर्थिक सविधान' तक की सज्ञा दे दी। इसकी मुख्य आलोचना यह हुई कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है और निजी क्षेत्र के उद्योगो की महत्ता को कम किया गया है। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे नीति स्पष्ट नही की गई है और उद्योगो का वर्गीकरण करते समय इतनी अधिक लोच रखी गई है कि यह निश्चय नहीं किया गया कि किन उद्योगो मे निजी व सरकारी इकाइयों का विकास होगा।

औद्योगिक नीति 1956 मे संशोधन (1973)
[Modification in Industrial Policy, 1956 (1973)]

1956 की औद्योगिक नीति में परिवर्तन के लिए अनेक बार मॉग की गई क्योकि परिस्थितियों मे महत्त्वपूर्ण बदलाव आ गया। 2 फरवरी 1973 को भारत सरकार ने इस नीति में कुछ सशोधन की घोषणा की जिससे कि मिश्रित क्षेत्र (Joint Sector) का सुचारु ढग से सचालन किया जा सके तथा कुछ ही लोगो के हाथो मे धन और सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने की दृष्टि से बडे औद्योगिक समूहों को पुन परिभाषित किया जा सके। सरकार ने यह स्पष्ट किया कि 1956 की औद्योगिक नीति मूल रूप से चालू रहेगी।

सशोधित नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(1) सार्वजनिक क्षेत्र को और अधिक महत्ता—इस नीति मे सशोधन करके सार्वजनिक क्षेत्र की महत्ता को पहले से अधिक बढा दिया गया। इसमे यह स्पष्ट किया गया कि पाँचवीं पचवर्षीय योजना के प्रारूप के सन्दर्भ मे तीव्र आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय, आत्म-निर्भरता एव आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति की दृष्टि से उद्योगों के भावी विकास के वितृत्व क्षेत्र मे सरकार प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व ग्रहण करेगी।

(2) संयुक्त क्षेत्र का विकास—औद्योगिक नीति, 1956 के अन्तर्गत ही अनेक इकाइयाँ सयुक्त क्षेत्र मे पहले से ही स्थापित होती रही है। इस नीति मे सशोधन करके इस क्षेत्र की महत्ता को स्वीकार किया गया। नए व मध्यस्तरीय साहसियो के मार्गदर्शन की दृष्टि से सयुक्त क्षेत्र को एक प्रवर्तक उपकरण के रूप मे माना गया किन्तु यह स्पष्ट किया गया कि सयुक्त क्षेत्र की इकाइयो के प्रबन्ध व सचालन तथा नीति निर्धारण में सरकार की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहेगी। सरकार द्वारा इन इकाइयों के अशों के क्रय करने की मात्रा अलग-अलग परिस्थितियो में भिन्न-भिन्न रहेगी। यह स्पष्ट किया गया कि सयुक्त क्षेत्र मे, बडे औद्योगिक समूहों, प्रमुख अधिकरणों (Dominant Undertakings) तथा विदेशी कम्पनियो को ऐसे उद्योगो को चलाने की अनुमति नहीं दी जाएगी जिनके लिए उन पर पहले से ही प्रतिबन्ध लगा हुआ हो।

(3) महत्त्वपूर्ण उद्योग—इसके अन्तर्गत 19 उद्योगो की एक सूची[1] तैयार की गई जिसमें अन्य प्रार्थियो के साथ बडे औद्योगिक गृह एव विदेशी साझीदार भाग ले सकते है। ये उद्योग देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य उद्योगो में इन बडे औद्योगिक समूहो तथा विदेशी साझीदारों को तब तक अनुमति नही दी जाएगी जब तक यह आश्वासन न मिल जाए कि उससे देश के निर्यात में पर्याप्त वृद्धि होगी।

(4) बड़े औद्योगिक समूहो की परिभाषा मे परिवर्तन—बडे औद्योगिक समूहों की परिभाषा मे परिवर्तन किया गया। पहले दत्ता समिति के अनुसार अन्तर्सम्बन्धित इकाइयों मे 35 करोड रुपये से अधिक सम्पत्ति होने पर किसी समूह को बडी औद्योगिक इकाई माना जाता था परन्तु इसको बदल कर अब MRTP अधिनियम के अनुरूप 20 करोड रुपये तक निर्धारित कर दिया गया। अब MRTP के तहत यह राशि 100 करोड रुपये कर दी गई है।

(5) लाइसेंसिंग की छूट—नए उद्योगो की स्थापना या विद्यमान उद्योगो के विस्तार के लिए स्थाई सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए 1 करोड़ रुपये तक की आवश्यकता हो तो लाइसेस लेने की आवश्यकता नहीं होगी। छूट की यह सीमा पहले भी थी परन्तु बडी औद्योगिक इकाइयो के लिए यह छूट की सीमा 5 करोड रुपये रखी गई।

(6) सहकारी क्षेत्र को प्रोत्साहन देने की नीति रखी गई।

(7) लघु-स्तरीय उद्योग-धन्धो के लिए क्षेत्र सुरक्षित रखने की वर्तमान नीति को चालू रखा गया।

सशोधित नीति की अनेक आधारो पर आलोचना की जिनमे मुख्य यह थी कि इसमे सार्वजनिक क्षेत्र को पहले से अधिक विस्तृत कर दिया है यद्यपि लोक उद्योगो की कार्यकुशलता और प्रगति सतोषजनक नहीं है।

औद्योगिक नीति, 1977 (Industrial Policy 1977)

23 दिसम्बर 1977 को जनता सरकार के उद्योग मन्त्री जॉर्ज फर्नांडिस ने ससद् मे नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। नई औद्योगिक नीति मे कहा गया कि[2]

(1) लघु एव कुटीर उद्योगों को अधिकतम प्रोत्साहन दिया जाएगा। इनका विस्तार छोटे शहरो तथा गाँवों में अधिकतम किया जाएगा।

(2) लघु उद्योगो के उत्पादन के लिए आरक्षित वस्तुओं की सख्या 180 से बढाकर 504 कर दी गई। इस पर ध्यान दिया जाएगा कि इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ की किस्म उचित हो और जिन्हें बाजार में आसानी से बेचा जा सके। इन आरक्षित उद्योगो की वार्षिक जांच-पडताल की जाएगी।

(3) अति लघु उद्योग क्षेत्र के रूप मे लघु उद्योग का एक नया वर्गीकरण किया गया है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत वे उद्योग आएँगे जिनमे मशीन तथा उपकरणो मे एक लाख रुपये पूँजी विनियोजित हो और जो उन शहरों मे स्थित हों जिनकी आबादी 1971 की जनगणना के अनुसार 50 000 से कम हो। इस क्षेत्र के उद्योगो को सभी आवश्यक प्रोत्साहन दिये जाएँगे और इनके लिए विशेष योजनाएँ तैयार की जाएँगी।

(4) कुटीर उद्योगो की रक्षा के लिए सरकार विशेष अधिनियम पारित करने का विचार करेगी।

(5) लघु एवं कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए केवल एक ही एजेन्सी होगी। इसके लिए प्रत्येक जिले में जनपद उद्योग केन्द्र स्थापित किया जाएगा। जहाँ पर इन्हे सभी सेवाएँ एक ही स्थान पर उपलब्ध होंगी।

---

1 19 उद्योगों की सूची इस प्रकार है—

(1) Metallurgical industries—Ferro alloys steel castings and forgings Special steels and non ferrous metals and their alloys (2) Boilers and steam generating plants (3) Prime movers (others than electric generators) (4) Electrical equipments (5) Transportation (6) Industrial machinery (7) Machine tools, (8) Agricultural machinery (9) Earth moving machinery (10) Industrial instrument (11) Scientific instruments (12) Nitrogenous and phosphatic fertilisers (13) Chemicals (14) Drugs and pharmaceuticals (15) Paper and pulp (16) Automobile tyres and tubes (17) Plate glass (18) Ceramics and (19) Cement Products—Portland cement asbestos cement.

2. *डॉ जगदीश प्रकाश* वही पृ 420-21

(6) इन उद्योगों को उचित वित्तीय सहायता दी जाएगी। इसके लिए औद्योगिक विकास इस क्षेत्र की ऋण आवश्यकताओं को देखने के लिए विशेष शाखाएँ खोलेगा और सार्वजनिक क्षेत्र के सभी बैंकों से उद्योगों को दिए जाने वाले ऋण की निर्धारित मात्रा इन्हें देनी होगी।

(7) भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों को भी स्पष्ट भूमिका निभानी है। इनके लिए विशेष रूप से निम्न क्षेत्र हैं—(अ) आधारभूत उद्योग (ब) पूँजीगत वस्तुओं वाले उद्योग (स) उच्च टेक्नोलॉजी उद्योग तथा (द) अन्य उद्योग जो लघु उद्योगों के लिए आरक्षित नहीं हैं।

(8) बड़े उद्योग इकाइयों को अब नई परियोजनाओं के लिए स्वय अपने साधनों से धन जुटाना होगा (रासायनिक खाद कागज सीमेन्ट जहाजरानी और पैट्रो-रसायन जैसे उद्योगों में, जहाँ अधिक पूँजी लगती है पूँजी और ऋण का अनुपात निर्धारित किया जाएगा) लेकिन अन्य उद्योगों में यह कम होगा जिससे उन्हे अपनी अधिक पूँजी लगानी पड़े।

(9) 1971 की जनसख्या के आधार पर दस लाख से अधिक जनसख्या वाले महानगरों और पाँच लाख से अधिक जनसख्या वाले नगरो तथा शहरी क्षेत्रो में नए औद्योगिक लाइसेंस नहीं दिए जाएँगे। राज्य सरकारों के अतिरिक्त वित्तीय सस्थाएँ उन क्षेत्रो मे उद्योगो को सहायता नहीं देगी।

(10) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र में बड़े उपक्रमो व घरानो के विकास के विरुद्ध सन्तुलन शक्ति के रूप मे उपलब्ध रहेगा। कई क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्रो का विस्तार जारी रहेगा। सार्वजनिक क्षेत्र में न केवल आधारभूत प्रकृति की महत्त्वपूर्ण वस्तुओ का उत्पादन होगा बल्कि यह उपभोक्ताओ को आवश्यक पूर्तियों को बनाए रखने में स्थायित्व लाने वाली शक्ति के रूप में प्रभावशाली रूप मे काम मे लाया जाएगा। कई सहायक उद्योगों के विकास एव प्रोत्साहन का दायित्व इस पर रहेगा। विकेन्द्रीकृत उत्पादन के विकास को प्रोत्साहन देगा। ऐसा करने के लिए छोटे व कुटीर उद्योगों को तकनीक व प्रबन्ध के क्षेत्र में विशेषज्ञता उपलब्ध कराएगा। सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को दक्षता और लाभ के आधार पर चलाएगी ताकि इन उद्योगों में विनियोग से समाज को प्रतिफल प्राप्त हो।

(11) देश की टेक्नोलॉजी को पूरा प्रोत्साहित किया जाएगा। जहाँ उसमें कमी हो, विदेशी टेक्नोलॉजी का आयात किया जा सकेगा लेकिन सरकार इस टेक्नोलॉजी के एकमुश्त खरीदने के पक्ष में है।

(12) विदेशी कम्पनियों को जो नियमानुसार अपनी पूँजी कम कर लेंगी, भारतीय कम्पनियों के समकक्ष गिना जाएगा लेकिन शत-प्रतिशत निर्यात के आधार पर पूर्णत विदेशी स्वामित्व वाली कम्पनी को भी अनुमति दी जा सकती है। विदेशो मे सयुक्त उद्योगो की स्थापना के लिए सरकार निर्धारित मात्रा तक भारतीय उद्यमियो को भी धन लगाने की अनुमति देगी। जहाँ विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दी जाती है वहाँ लाभ रायल्टी लाभाश और पूँजी भेजने की नियमानुसार स्वतन्त्रता होगी। ये नियम सभी के लिए समान होगे।

नवीन औद्योगिक नीति, 1980 (New Industrial Policy, 1980)

23 जुलाई 1980 को उद्योगमन्त्री श्री चरनजीत चानना ने ससद मे सरकार की नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस सन्दर्भ मे उन्होने यह स्पष्ट किया कि 1956 की औद्योगिक नीति ही इस नीति का प्रमुख आधार है क्योकि उसमे रचनात्मक लोच (Constructive Flexibility) है। इस नीति की कुछ प्रमुख विशेषताओ का सक्षेप इस प्रकार है—

1 **सार्वजनिक क्षेत्र**—लोक उद्यमो को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है किन्तु उनकी असफलता के कारण लोगो का विश्वास कम हो गया है अत लोगो को इन पर विश्वास बढाना है। इनके सचालन में सुधार के लिए प्रभावकारी प्रबन्ध की व्यवस्था करनी है। प्रत्येक इकाई का विस्तृत अध्ययन करके उसमे सुधार लाने का प्रयास किया जायेगा। गत्यात्मक तथा कुशल प्रबन्ध की व्यवस्था करके हानि पर चल रहे लोक उद्यमों की स्थिति मे सुधार लाना है। उत्पादन क्षमता के अधिकाधिक प्रयोग पर बल दिया जाएगा।

2. **निजी क्षेत्र**—सरकारी नीतियों तथा योजना के अनुरूप निजी क्षेत्र मे उन्नति के लिए प्रयास किया जाएगा किन्तु इसके साथ ही धन व सत्ता का कुछ ही हाथो मे केन्द्रीयकरण नहीं होने दिया

जाएगा। बड़े समूहो की परिभाषा मे कोई परिवर्तन नहीं किया गया और इसके लिए विनियोग की मात्रा मे भी कोई वृद्धि नहीं की गई किन्तु स्वस्थ विस्तार आधुनिकीकरण तथा निर्यात के लिए इन्हें कुछ छूट अवश्य दी गई है। बीमार इकाइयों का स्वस्थ इकाइयों मे समायोजन के लिए आय-कर अधिनियम की धारा 72-अ के अन्तर्गत आय-कर सम्बन्धी छूट की घोषणा की गई। जिन इकाइयो मे अतिरिक्त उत्पादन क्षमता हो गई है उसे नियमित रूप से सही माना जायेगा। इसके अतिरिक्त बडे पैमाने पर चल रही निजी इकाइयो को यह छूट दी गई है कि अभी तक 15 उद्योगो को जो स्वत विस्तार की सुविधा प्राप्त थी वह अब उन सब उद्योगो को प्राप्त हो सकेगी जो कि उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम की प्रथम सूची मे अनुसूचित हैं।

3. लघु उद्योग-धन्धे—इस सम्बन्ध मे इस नीति में यह घोषणा की गई कि लघु अति लघु तथा बडे उद्योगो का विभागीकरण जैसा जनता सरकार ने किया था उचित नही है। इसके स्थान पर देश के सन्तुलित तथा औद्योगिक विकास के लिए उन्हे एक साथ जोड़ना होगा। उद्योग विकास केन्द्र के स्थान पर प्रत्येक पिछडे जिले मे न्यूक्लियस प्लाण्ट्स स्थापित किए जायेगे जो कि अधिकाधिक सहायक लघु तथा कुटीर उद्योग धन्धो का विकास करेगे। इन उद्योगो को पुनर्परिभाषित भी किया है। अति लघु उद्योग उसे माना जायेगा जिसमे 2 लाख रु (पहले एक लाख रु) विनियोजित हो लघु उद्योग उसे माना जायेगा जिसमे 20 लाख रु (पहले 10 लाख रु) तथा सहायक उद्योग उसे माना जायेगा जिसमे 25 लाख रुपये (पहले 15 लाख रुपये) विनियोजित हो। इन उद्यमो के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओ का बफर स्टॉक बनाने की योजना है।

4 औद्योगिक क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित किया जाएगा कि क्षेत्रीय असन्तुलन तथा असमानता दूर हो सके।

5 शोध एव विकास मे अधिकाधिक विनियोग किया जाए।

6 सरकार का विचार है कि उचित औद्योगिक सह-सम्बन्ध बना रहना चाहिए और श्रमिको तथा प्रबन्धको मे आपस मे सहयोग होना चाहिए। सरकार का विचार है कि त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन (Tripartite Labour Conference) फिर से आरम्भ की जाए ताकि औद्योगिक सह-सम्बन्धो मे आवश्यक सुधार हो सके।

इस औद्योगिक नीति का स्वागत हुआ है और इसकी आलोचना भी हुई है। आलोचको का कहना है कि इस नीति मे देश के औद्योगिक विकास के सन्दर्भ मे कोई नवीन विचार या नीति-निर्देशन नही दिया गया। देश के औद्योगिक विकास के लिए क्या प्राथमिकताये होगी और किस ढाँचे के अन्तर्गत उन प्राथमिकताओ को कार्यान्वित किया जायेगा इसका कोई उल्लेख नहीं है। सार्वजनिक नीति से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मसलो का इस नीति म कोई उल्लेख नहीं किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र मे लोगो का विश्वास कम हुआ है और बीमार लोक उद्योगों को सक्षम तथा कुशल कैसे बनाया जायगा इस विषय मे कोई निश्चित नीति स्पष्ट नहीं की गई है। लघु उद्योग-धन्धो के सरक्षण के लिए उचित कानूनी कार्यवाही करने के सम्बन्ध मे यह नीति मौन है।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो का विकास एवं कार्य-निष्पादन

पिछले दशको मे सार्वजनिक क्षेत्र ने जो उल्लेखनीय प्रगति की है उससे सिद्ध होता है कि इन उद्यमो ने नेहरू के सपनो को साकार किया है। अपनी सुधरी कार्यकुशलता और अच्छे कारोबार से इन इकाइयों ने अपने आलोचको को गलत साबित कर दिया है। भारत मे समूचा वित्तीय कार्य-निष्पादन सरकारी उद्यमो की अब तक की सर्वाधिक उपलब्धि है। लोक उद्यम सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि इस वर्ष सरकारी उद्यमो द्वारा सरकारी खजाने में किए गए अशदान उनकी निर्यात आय उद्यमो द्वारा उत्पन्न रोजगार क्षमता और उनके द्वारा अपने कर्मचारियों को प्रदान की जाने वाली सामाजिक और नागरिक सुविधाओ आदि के मामले मे पर्याप्त वृद्धि और प्रगति हुई है।

पूँजी निवेश मे वृद्धि और सरकारी उद्यमो का भाग

1951 के पश्चात् भारत मे सार्वजनिक क्षेत्रों मे भारी प्रगति हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत मे केवल विभागीय उपक्रम जैसे—रेल डाक व तार इत्यादि मुख्य सार्वजनिक उपक्रम थे अब

स्थिति बदल गई है । न केवल सेवा उपक्रम ही बढ़े हैं वरन् विनिर्माण उपक्रमों ने अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है । सफल सार्वजनिक निवेश का एक बड़ा भाग सेवा व विनिर्माण उपक्रमों में हुआ है ।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रों विशेषत ईंधन के उत्पादन बुनियादी धातु उद्योगों अलौह धातु उद्योगों उर्वरक और विद्युत उपकारणों के क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र ने अब महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है ।

बिक्री मे वृद्धि

विगत अवधि में सरकारी उद्यमो की बिक्री की मात्रा में काफी वृद्धि हुई है । बिक्री की वार्षिक वृद्धि दरों में भी निरन्तर वृद्धि होती रही है । सरकारी उद्यमों में वास्तविक रूप में सकल बिक्री में पिछले वर्षों में कई गुना वृद्धि हुई ।

विनिर्माणकारी और सेवा प्रदायी क्षेत्रों के उद्यम समूहों की कुल बिक्री में व्यापार और विपणन तथा औद्योगिक विकास और तकनीकी परामर्श समूहों को छोड़कर कुल बिक्री में वृद्धि हुई है ।

लगी पूँजी की तुलना मे निवल कुल बिक्री का अनुपात

लगी पूँजी की तुलना में निबल कुल बिक्री के अनुपात से किसी उद्यम में धनराशि के कारगर उपयोग का पता चलता है ।

माल का उत्पादन करने वाले उद्यमों के मामले मे यह अनुपात घटा है लेकिन कुल लगी पूँजी में वृद्धि हुई । यदि हम विद्युत क्षेत्र को शामिल न करें तो लगी पूँजी की तुलना में निबल कुल बिक्री का कुल अनुपात बढ़ा है । इस्पात रसायन उर्वरक और भेषज और भारी इन्जीनियरींग के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में वृद्धि हुई लेकिन कपडा उपभोक्ता माल कृषि पर आधारित उद्योगों और मध्यम तथा हल्के इन्जीनियरींग क्षेत्रों के मामले में इस अनुपात में गिरावट आई है जिससे यह सकेत मिलता है कि इन क्षेत्रों में बेहतर कार्य-निष्पादन की आवश्यकता है । इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि कपडा और मध्यम तथा हल्के इन्जीनियरी क्षेत्रों में काफी हद तक सरकार द्वारा अपने अधिकार में लिए गए बहुत से रुग्ण एकक शामिल है । इसके अलावा कपडा उद्योग में मौजूदा मन्दी और बम्बई में स्थित कपडा मिलों में हडताल और इसके साथ-साथ बिजली की भी भारी कटौतियाँ कपडे के क्षेत्र में इस अपेक्षाकृत कम कारोबार के लिए काफी हद तक जिम्मेददार हैं । पैट्रोलियम कोयला और परिवहन उपस्करों के क्षेत्रों के मामलों में भी कमी नजर आई है ।

इस्पात कोयला लिग्नाइट ताम्बा सीसा एल्युमिनियन पैट्रोलियम तेल शोधनशालाओं में परिष्कृत कच्चा तैल सीमेन्ट भारी इन्जीनियरी वस्तुओं केबल टेलीफोन मशीनी औजार मिट्टी हटाने की मशीनो रेल के सवारी डिब्बों अखबारी कागज आदि जैसी बुनियादी कच्ची सामग्रियों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है । हालाँकि कुल मिलाकर स्थिति में सुधार हुआ लेकिन बहुत से उद्यमो में क्षमता उपयोग के स्तर को ऊँचा उठाने की अभी अत्यधिक गुँजाइश है । मुख्य बाधाएँ ये हैं—बिजली की अपर्याप्त उपलब्धता प्रक्रिया और उपस्कार सम्बन्धी समस्याएँ और कुल मामलों में माँग की कमी । यह बहुत सन्तोष की बात है कि विभिन्न अडचनो के बावजूद बहुत से उद्यमों-एककों में उत्पादन और उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई ।

निर्यात से आय

सरकारी क्षेत्र में उद्यमों के कार्य निष्पादन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उनका भाग लेने और देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने मे उनका योगदान कितना है । निर्यात के क्षेत्र में सहकारी उद्यमो ने उल्लेखनीय प्रगति की है ।

निवेश पर प्रतिलाभ और लाभकारिता

(क) सकल उपान्त लाभ, सकल लाभ और कर पूर्व लाभ का विश्लेषण—सकल उपान्त लाभ में उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई । गत वर्षों की अवधि में औसत कर-पूर्व लाभ से कई गुना अधिक है । यह सरकारी उद्यमो द्वारा अब तक का अर्जित सबसे अधिक कर-पूर्व लाभ था । इसके अलावा इसे सरकारी उद्यमों के बहु-आयामी उद्देश्यो और इस तथ्य की पृष्ठभूमि मे देखा जाना चाहिए

कि ये उद्यम उद्योगो के विभिन्न क्षेत्रो में काम कर रहे हैं और इन्हें विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। जैसे स्थापना स्थल की कठिनाइयाँ, काम मे आने वाली कच्ची सामग्री, बिजली, ईंधन, बुनियादी ढाँचे सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव, गैर-सरकारी क्षेत्र से विरासत में मिली औद्योगिक रुग्णता और सरकारी नीति के कारण मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी पाबन्दियाँ आदि।

(ख) कर पश्चात् लाभांश—सरकारी उद्यमों ने निगम कर के लिए धन राशि की उत्तम व्यवस्था करने के बाद इसमें अच्छा निबल लाभ कमाया।

(ग) आन्तरिक संसाधन जुटाना—गत वर्षों में सरकारी उद्यमों ने केन्द्र सरकार और राज्य सरकारो के ऋण चुकाने के बाद अतिरिक्त ससाधन जुटाए।

राजकोष में अंशदान

उपर्युक्त आन्तरिक ससाधनो का भाग लाभांश के रूप में राजकोष में डाल दिया जाता है। इसके अलावा, उद्यमों के काम आने वाली सामग्री और उत्पादन पर वसूल किया जाने वाला उत्पाद शुल्क और सीमा शुल्क भी राजकोष में जमा होता है। इस प्रकार सरकारी उद्यमों से राजकोष को होने वाली कुल सीधी प्राप्तियों की तुलना में कई गुना वृद्धि हुई। यह मुख्यत सरकारी उद्यमो के अधिक उत्पादन और अधिक लाभकारिता के परिणामस्वरूप हुई।

सरकारी उद्यमो में रोजगार और परिलब्धियाँ

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि सरकारी उद्यम समाज के पिछड़े हुए तथा दलित वर्ग के अधिक उत्थान के अपने सामाजिक दायित्वो को पूरा करने के लिए विशेष प्रयास कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में सरकारी उद्यमों में रोजगार दिलाने हेतु विशेष भर्ती अभियान चलाये जा रहे है।

संतुलित क्षेत्रीय विकास

विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने और सन्तुलित आर्थिक विकास प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकार आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में पूँजी निवेश करने की नीति का प्रबुद्ध रूप से पालन कर रही है। ऐसे क्षेत्रो में सरकारी उद्यमों की स्थापना चयनात्मक आधार पर की जाती है। इसका कारण यह है कि किसी राज्य मे ऐसे एककों की स्थापना होने से कारगर विकास एव रोजगार के अवसर बढ़ाने और ससाधन आदि जुटाने मे भी मदद मिलती है।

सहायक उद्योग क्षेत्र का विकास

सरकार की औद्योगिक नीति का एक महत्त्वपूर्ण अग लघु उद्योगो और उनके सहायक उद्योगों का विकास करना है। इस नीति का औचित्य यह है कि सहायक और लघु उद्योगो के विकास से सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायता मिलती है, जैसे—रोजगार के अवसर पैदा करना आय की असमानताओं में कमी करना, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को बढावा देना और उद्योगों का व्यापक क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण करना, फैलाव करना आदि।

समस्या-क्षेत्र और निदान

(Problem Areas and Solution)

सार्वजनिक क्षेत्र उत्तरोत्तर सुधार की ओर उन्मुख है तथापि इसके विभिन्न समस्या-क्षेत्रो अथवा इसकी समस्याओं के समुचित निदान के बिना अपेक्षित स्तर की आशा करना उचित नहीं होगा। सार्वजनिक कारखाने राजनीति का शिकार बन गए है। बहुत-से कारखाने प्रबन्धकों की अकर्मण्यता के नमूने हैं। कहीं तो प्रबन्धक श्रमिको के साथ अवांछित कठोरता का व्यवहार करते है तो कहीं बहुत अधिक शिथिलता बरतते है। कुछ कारखानों में प्लाण्ट की घटिया बनावट तथा पुराने उपकरण औद्योगिक दुर्गति के कारण है। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यवसाय लालफीताशाही के शिकार हैं अत छोटे-छोटे मामलों पर निर्णय मे भी अनावश्यक विलम्ब हो जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र के बिगड़ने का एक प्रमुख कारण सरकारी प्रतिष्ठानों को 'आदर्श नियोक्ता' बनाने की अभिलाषा रही है और दुर्भाग्यवश प्रारम्भ से ही इसका गलत अर्थ लगाया गया है। श्रमिकों ने अधिकांशत यही समझा है कि आदर्श नियोक्ता होने के कारण सरकारी क्षेत्र मे उनकी हर माँग पर उदारता से विचार किया जाएगा। अपनी माँग को मनवाने के लिए श्रमिक सघ राजनीतिक प्रभावों का प्रयोग करते है।

नुकसान की स्थिति में सरकारी कारखाने चलते रहते है और श्रमिको को सहयोगी रुख अपनाने की चिन्ता नहीं रहती तथा प्रबन्धक यह परवाह नहीं करते कि श्रमिको का विश्वास अर्जित किया जाए। अनुशासनहीनता और हड़तालो की नित नई घटनाएँ सार्वजनिक व्यवसायो के लिए बहुत सिर-दर्द बन गई है। न तो सार्वजनिक स्वामित्व ही देश-सेवा की भावना का विश्वसनीय प्रमाण दे सका है और न श्रमिक ही देश-सेवा के भाव से अनुप्राणित होकर कार्य करने की तत्परता दिखला सके है। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र का जितना विस्तार किया है सम्भवत उसे सम्भालने योग्य कुशल व्यवस्था की उसके पास कमी है। सार्वजनिक उपक्रमो के सगठन मे समान नीति का व्यवहार नहीं किया जाता। सार्वजनिक उपक्रमो मे राजनीतिक और ससदीय हस्तक्षेप एक गम्भीर समस्या है।

सार्वजनिक उद्योगो मे व्यावसायिक दृष्टिकोण का अभाव होता है। प्रबन्धकर्त्ता सरकारी अफसर होते है जिन्हें व्यावसायिक अनुभव नहीं होता। सार्वजनिक उद्यमों में स्वावलम्बन की भावना क्या हो वह सरकार पर आश्रित होता है अत अपने साधनो से नवीन शाखाएँ और नवीन इकाइयाँ लगाने की प्रवृत्ति इनमे नही पाई जाती। इनमें अग्रिम आयोजन अपर्याप्त होता है। अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक इकाइयाँ लगभग एकाधिकारी होती है। कुछ क्षेत्रो मे सरकारी नियन्त्रण की नीतियों के फलस्वरूप एकाधिकार न होते हुए प्रतिस्पर्द्धा का भय नहीं रहता। ये दोनो ही स्थितियाँ अनुचित है क्योंकि इसके कारण कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं के निदान की दिशा मे गम्भीर प्रयास करने होगे। कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव ये है—

1 सार्वजनिक उपक्रमो के सगठन मे यथासम्भव एकरूपता लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सार्वजनिक उद्योगो के लिए सगठन का सर्वश्रेष्ठ रूप एक इकाई एक कम्पनी (Single Unit Companies) होना चाहिए।

2 अधिकारियो की नियुक्ति मे चयन ऐसे व्यक्तियो का होना चाहिए जो विशिष्ट उद्योग की समस्याओं सचालन विधियों और तकनीकी मामलो मे कुशल हो।

3 सरकार मौजूदा सरकारी उद्योगो को लाभदायक बनाने के बाद नए उद्योगो को हाथ मे ले। ऐसे किसी क्षेत्र की ओर कदम न बढाया जाए जिससे उच्च तथा निम्न मध्यम वर्ग के बीच विषमताएँ बढने का खतरा हो।

4 कर्मचारियो के वेतन और सेवा-शर्तों को उत्पादकता से अलग मानने की यदि कोई धारणा है तो उसे त्याग देना होगा।

5 सार्वजनिक औद्योगिक क्षेत्र मे उपयुक्त श्रम-नीति अपनाई जाए। सरकारी प्रतिष्ठान आवश्यक रूप से आदर्श नियोक्ता बनाने का भ्रम पैदा न करे। श्रमिको के मन मे यह भावना बैठा दी जाए कि सरकार से वे पर्याप्त ऊँची अपेक्षाएँ तब तक न करे जब तक सार्वजनिक उद्योग उचित आय अर्जित करके देश की आर्थिक प्रगति को सुनिश्चित न कर दें।

6 राष्ट्रीय हितो की रक्षा के लिए अधिक दृढ श्रम-नीति अपनाई जानी चाहिए जिससे सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध मे कठोरता अनिवार्य है।

7 राजकोषीय नीति का सचालन इस रूप मे होना चाहिए कि मूल्य-वृद्धि की जो लहर कुछ वर्षों से देश मे चली है उसे शान्त किया जा सके।

8 श्रमिको का सहयोग अर्जित करने के लिए मनोवैज्ञानिक युद्ध छेडा जाना चाहिए ताकि सम्बन्धित पक्षो मे सद्भाव का वातावरण बने श्रमिक उचित पारिश्रमिक तथा कार्य एव जीवन की अच्छी परिस्थितियो के प्रति आश्वस्त हो।

9 सार्वजनिक उद्योग का प्रबन्ध एक सचालक-मण्डल करे जिसमे उद्योग विशेष के अनुभवी व्यक्ति सदस्य हो।

10 व्यापक नीतियो के सम्बन्ध मे राजकीय उपक्रम सरकारी नियन्त्रण और सचालन में कार्य करे लेकिन अन्य तत्वो के सम्बन्ध मे उन पर अनावश्यक नियन्त्रण न हो।

11 सार्वजनिक उद्योगो पर ससद् का नियन्त्रण अधिकारीगण ले क्योकि उसमे जनता का धन लगा होता है। यह अपेक्षित है कि ससद् दैनिक कार्यों और साधारण मामलों मे हस्तक्षेप न करे। ससद् के नियन्त्रणो मे सुधार करने की आवश्यकता है।

12. राजकीय अथवा सार्वजनिक उपक्रमों की प्रगति के सम्बन्ध मे जनता मे अधिक से अधिक प्रचार किया जाए।

13 सार्वजनिक उपक्रमो का अकेक्षण भारत महालेखा अकेक्षक द्वारा हो।

पिछले कुछ वर्षों मे भारत सरकार की नीति सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की रही है तथापि राजनीतिक और आर्थिक दोनो ही क्षेत्रों मे सार्वजनिक उपक्रमो की विफलता और इसके दोषपूर्ण कार्यों की बडी आलोचना हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र के मूल्यॉकन के सम्बन्ध मे भारत के प्रधानमन्त्रियो तक में विचार वैभिन्य्ता पायी गयी। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गॉधी का विचार था कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम औद्योगिक विकास की आधारशिला बन सकते है वे अर्थव्यवस्था का इस प्रकार से विकास कर सकते है कि समग्र समाज के मूल क्षेत्रों पर नियन्त्रण हो जाए। वे विकास के लिए अतिरेक उत्पन्न कर सकते है। इसके विपरीत जनता सरकार के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई की मान्यता थी कि भारत की जनता को इन परियोजनाओं को प्रत्येक वर्ष होने वाली हानियो को पूरा करने के लिए मजबूर करना अनुचित प्रतीत होता है। भारत के लोगो को इन उद्यमो मे बनाई जाने वाली वस्तुओं पर ऐसी ही आयातित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मूल्य देने के लिए विवश करना अन्याय है। आज इस बात की जरूरत है कि विभिन्न सरकारी उद्यमो का गम्भीर और आलोचनात्मक ढग से अध्ययन किया जाए और यह देखा जाए कि क्या इसके प्रबन्ध द्वारा जनता की प्रत्याशाओं की वृद्धि हुई है।

हमारे देश मे लम्बे अर्से से यह विवाद चल रहा है कि क्या लाभ को सार्वजनिक उपक्रमो के निष्पादन की कसौटी के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। रुद्रदत्त एव सुन्दरम् का यह विचार बहुत कुछ सही है कि सरकारी उद्यमो के सन्दर्भ में लाभदायकता शब्द का प्रयोग शुद्ध व्यापारिक दृष्टि से नहीं होना चाहिए। उन्हें अधिक प्रत्याय-दर घोषित करने के लिए मूल्य ह्रास (Depreciation) या अन्य अदायगियो मे हेर-फेर करने की इजाजत नही होती। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र की तुलना म ये अपने श्रमिको को मजदूरी एव वेतन और अन्य सुविधाओं के रूप मे कहीं अधिक प्रतिफल देते है। इनके निष्पादन का ठीक प्रकार से अनुमान लगाने के लिए इनकी ऊँची सामाजिक प्रत्याय-दर (Social Rate of Return) का समायोजन करना चाहिए अत सरकारी उद्यमो के सन्दर्भ मे कुल जनित अतिरेक (Total Generated Surplus) की धारणा जिसमे घोषित लाभ, प्रतिधारित लाभ (Retained Surplus) और मूल्य ह्रास शामिल है अधिक उपयोगी है। इसका यह अर्थ यह नहीं कि लाभदायकता (Profitability) को सूचक नही मानना चाहिए बल्कि समस्या को एक उचित परिप्रेक्ष्य मे देखा जाए।

यह उत्साहवर्धक है कि देश मे अब सार्वजनिक उपक्रम हानि की लटकती तलवार से लगभग मुक्त हो चुके है। जैसा कि प्रो जे के मेहता ने लिखा है— उनको अपनी लाभप्रदता को बढाने तथा पूँजी के अनुकूलतम उपयोग के लिए काफी प्रयत्न करने है। मुख्य रूप से इसको कुशल व दक्ष प्रबन्ध से प्रति श्रम इकाई तथा प्रति पूँजी इकाई उत्पादन बढाने का प्रयास करना होगा। सार्वजनिक उपक्रम देश मे उत्पादन और आर्थिक क्रियाओं मे विशेष स्थान प्राप्त कर चुके हैं। यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि सार्वजनिक उपक्रमो ने भावी औद्योगिक तथा सर्वांगीण आर्थिक विकास को महत्त्वपूर्ण दिशा देने मे सफलता प्राप्त की है।

लोक उपक्रमो की औद्योगिक उत्पादकता कैसे बढे ?

देश मे औद्योगीकरण की सफलता के लिए उत्पादकता वृद्धि एक आवश्यक शर्त होती है। उत्पादकता वृद्धि और समृद्धि मे चोली दामन का साथ होता है। औद्योगिक उत्पादकता मे वृद्धि के बिना कभी आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त नही की जा सकती। आज का युग प्रतिस्पर्द्धा और मुकाबले का युग है। योजनागत उपलब्धियो मे लोगो का निराशाजनक भाव है क्योकि लोक-उपक्रमो मे करोडो रुपये के विनियोग के बावजूद बहुत से उपक्रम अपने निर्धारित लक्ष्यो को प्राप्त नही कर पाए है।

उत्पादकता का अभिप्राय उत्पादन करने की क्षमता से है और उत्पादन बढ़ाने से हमारा अभिप्राय मनुष्य शक्ति जमीन श्रम व पूँजी के पूरे पूरे तथा समुचित उपयोग से होता है। इसके लिए जरूरी है कि जहाँ कहीं भी बर्बादी हो उसे रोका जाए साथ ही उत्पादन-वृद्धि के लिए आधुनिक तकनीको व नए एव आधुनिक आयामो का प्रयोग किया जाए। तकनीकी प्रयोगो के विकास के साथ-साथ उनके प्रयोग से उत्पादकता मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

यहाँ जिन तकनीको की चर्चा की जा रही है ये मुख्यत श्रमिको एव उनके प्रतिनिधियो से सम्बन्धित है। यदि इन तकनीको को निष्ठापूर्वक अपनाया जाए तो निश्चय ही उत्पादकता बढ़ेगी व मधुर औद्योगिक सम्बन्धो की स्थापना होगी। कुछ तकनीके जो उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्ध रखती है वे निम्न है—

(i) बर्बादी व अपव्यय को रोका जाए
(ii) रख-रखाव नियन्त्रण
(iii) कार्य-अध्ययन
(iv) कार्य मूल्यॉकन
(v) सामग्री प्रबन्ध
(vi) श्रेष्ठता मापन
(vii) कार्यशोध एव प्रबन्धकीय विकास व प्रशिक्षण।

(i) बर्बादी व अपव्यय की रोकथाम

सभी तकनीके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपव्यय को रोकती है परन्तु अपव्यय व बर्बादी को रोकने के लिए किसी शोध या विशेषज्ञो की आवश्यकता नहीं होती बल्कि इसके लिए श्रमिक वर्ग मे जागरूकता का पैदा किया जाना बहुत आवश्यक है। यदि श्रमिक पूर्णतया जागरूक है तथा पूर्ण कुशल है तब बर्बादी व अपव्यय होगा ही नहीं। उत्पादन के साधनो मे सामग्री बर्बादी का क्षेत्र है जिसमे पर्याप्त सुधार लाया जा सकता है। सामग्री प्रबन्ध गुण व किस्म नियन्त्रण ऐसे प्रभावी तरीके है जो बर्बादी व अपव्यय को रोकने मे मदद करते है। सामग्री की बर्बादी को रोकने के लिए निम्न प्रयास किए जा सकते हैं—

(अ) समय पर कच्चा माल व मशीनो की व्यवस्था।
(ब) एक विभाग से दूसरे विभाग को तत्परतापूर्वक माल भेजने की प्रक्रिया।
(स) अच्छे और कच्चे माल मशीनो व पुर्जों का चुनाव।
(द) मशीनो का नियोजन व रख-रखाव।
(य) विद्युत शक्ति ईंधन गैस आदि का कुशलतम उपयोग।

(ii) रख रखाव व सामग्री प्रबन्ध

उत्पादकता वृद्धि के सन्दर्भ मे मशीनो के उचित रख-रखाव व सामग्री प्रबन्ध के लिए निम्न प्रयास किए जा सकते है—

(i) उच्च परिणाम या आउटपुट।
(ii) उच्च कार्य क्षमता।
(iii) सामग्री का अधिकतम उपयोग।
(iv) दुर्घटनाओं मे कमी और अच्छी व्यवस्था।
(v) अनुपस्थिति मे कमी।
(vi) कारखाने का अच्छा ले-आउट
(vii) सामग्री को उठाने व भरने की अच्छी व्यवस्था।
(viii) गुण नियन्त्रण हेतु निरीक्षण व्यवस्था।

उपरोक्त सभी तकनीको का प्रयोग करने से सामग्री का समुचित उपयोग हो सकेगा व उत्पादकता वृद्धि को पर्याप्त बल मिलेगा।

(iii) कार्य अध्ययन

उत्पादकता वृद्धि मे कार्य अध्ययन को एक महत्त्वपूर्ण एव प्रभावी तकनीक माना जा सकता है। मानवीय एव सामग्री साधनों का अध्ययन ही कार्य-अध्ययन कहलाता है। काम करने का सूक्ष्म अध्ययन एव परीक्षण कई ऐसे नए आधार एव तरीके सुझाता है। जिससे कार्यविधि मे न केवल सरलता होती है अपितु लागत में भी कमी लाई जा सकती है। कार्य अध्ययन एव कार्य मापन से निम्न सहयोग मिलता है—

(i) कार्यभार की उपयुक्त एव प्रभावी योजना।

(ii) सही कार्य का निर्धारण।

(iii) कार्मिक विकास का आधार।

(iv) प्रभावी नियन्त्रण का आधार।

(v) ठोस आर्थिक प्रोत्साहन हेतु आँकड़े।

(iv) कार्य-मूल्यॉकन

कार्य-मूल्यॉकन स्तर अनुसार कार्य की स्थिति के निर्धारण का मूल्यॉकन है। किसी कार्य को पूरा करने हेतु जो चातुर्य अनुभव एव उत्तरदायित्व होना चाहिए उस पर कार्य की सम्बद्धता को दूर करने की एक महत्त्वपूर्ण विधि है। इसमे किसी व्यक्ति का ही नहीं अपितु कार्य का सही प्रकार से मूल्यॉकन किया जाता है कि निश्चित कार्य सही विधि सही उद्देश्यो तथा परिस्थिति अनुसार पूरा किया गया है या नहीं। कार्य-मूल्यॉकन से श्रम तथा प्रबन्ध की खाई को न्यायोचित तरीके से कम किया जा सकता है। इस विधि के द्वारा वेतन व्यवस्था में एकरूपता नियमितता एव न्यायोचितता लाने में सहायता मिलती है क्योकि श्रमिकों एव कार्य के वर्गों के मध्य वेतन का उचित निर्धारण में होने वाली सामूहिक सौदेबाजी से कार्य-मूल्यॉकन पर विपरीत प्रभाव पडता है क्योकि इससे श्रमिको एव प्रबन्ध के बीच औद्योगिक सम्बन्धो मे दरार उत्पन्न हो जाती है अत यह आधार न्यायोचित नहीं हो सकता।

(v) प्रोत्साहन

एक कुशल प्रबन्ध में श्रमिकों को प्रेरित करने के लिए विभिन्न तरीके प्रोत्साहन के रूप में अपनाए जा सकते है। प्रोत्साहन द्वारा श्रमिकों में यह भावना पैदा की जा सकती है कि उनके द्वारा किए गए अच्छे कार्य का उन्हे अच्छा पुरस्कार अवश्य प्राप्त होगा। प्रोत्साहन के वित्तीय एव अवित्तीय तरीके हो सकते हैं जो निम्न प्रकार होते हैं—

(अ) वित्तीय तरीके

(i) उच्च वेतन

(ii) बोनस

(iii) लाभ मे हिस्सा

(iv) सीमान्त लाभ मे हिस्सा।

(ब) अवित्तीय तरीके

(i) कर्मचारियो को कार्य सुरक्षा प्रदान करना

(ii) अधिकार प्रत्यायोजन करना

(iii) अच्छे कार्य के लिए प्रशसा व पुरस्कार देना।

कुछ लोग एक तीसरा प्रकार बताते है जो अर्द्ध वित्तीय प्रोत्साहन के नाम से जाना जाता है। इसमें वे तरीके अपनाए जाते है जो प्रत्यक्ष रूप से आउट पुट और वेतन से जुडे नहीं होते हैं जैसे— पदोन्नति अच्छे कार्य के लिए अतिरिक्त प्रोत्साहन प्रशिक्षण व कल्याण की सुविधाओं आदि को अर्द्ध

वित्तीय प्रोत्साहनों में शामिल किया जाता है। प्रोत्साहन का उद्देश्य श्रमिकों को अच्छे एव अधिक आउटपुट के लिए प्रेरित करना होता है।

(vı) कार्यशोध एव प्रबन्धकीय विकास व प्रशिक्षण

आधुनिक प्रगतिशील एव प्रतिस्पर्द्धात्मक युग मे औद्योगिक उत्पादकता बढाने के लिए नई विकसित होने वाली तकनीकों तथा प्रबन्धकीय कुशलता का प्रयोग किया जाना बहुत आवश्यक है। इन तकनीकों के प्रयोग से कच्चे माल का कुशलतम उपयोग अपव्यय को रोकने एव शक्ति के साधनो का कुशलतम उपयोग सम्भव हो सकता है।

औद्योगिक उत्पादकता वृद्धि के तरीको को दो वर्गों में बॉट सकते है—

(अ) औद्योगिक पहलू से सम्बन्धित

(ı) उत्पादन की समुचित पूर्व-योजना बनाना।
(ıı) गुण नियन्त्रण हेतु निरीक्षण व्यवस्था।
(ııı) सामग्री को उठाने-भरने की समुचित व्यवस्था
(ıv) अनुसन्धान शोध तकनीको प्रशिक्षण निरीक्षण द्वारा कच्चे माल व मशीनो का अधिकतम उपयोग।

(ब) मानवीय पहलू से सम्बन्धित

(ı) श्रमिको की प्रबन्ध मे भागीदारी।
(ıı) श्रम सघो की रचनात्मक भूमिका।
(ııı) कार्य दशाओं में सुधार।
(ıv) अच्छा व सुगम सवाहक।
(v) सुझाव प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था।

सार रूप में हम कह सकते है कि उत्पादकता वृद्धि के अनेक तरीके हो सकते है परन्तु इनकी सफलता तभी सिद्ध हो सकती है जब श्रमिक एव प्रबन्ध वर्ग में पूर्ण विश्वास लगन एव अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध हो। उत्पादकता वृद्धि आपसी समझ एव सहयोग पर निर्भर करती है। उत्पादकता वृद्धि मे प्रबन्ध एव श्रमिक के साथ-साथ सरकार का पर्याप्त सहयोग होना बहुत ही आवश्यक है अत सरकार की यह जिम्मेदारी है कि वह उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित उचित नीतियों का निर्धारण करे उनके लिए उचित वातावरण बनाए और तत्पश्चात् उनको क्रियान्वित करे। अत उत्पादकता वृद्धि मे किसी एक तत्त्व का या एक आयाम का सहयोग नहीं होता वरन् इसमें श्रमिक प्रबन्ध सरकार आदि का प्रत्यक्ष सहयोग होता है अत जब तक इन सभी मे समुचित एकता स्थापित नहीं की जा सकती औद्योगिक उत्पादकता मे वृद्धि की कल्पना करना भी गलत होगा।[1]

---

1 लोक उद्योग अगस्त 1982 (श्री महावीर प्रसाद यादव)

14

करदेय क्षमता

(Taxable Capacity)

करारोपण एक ओर सार्वजनिक आय का प्रमुख साधन है दूसरी ओर यह करदाताओं पर वृद्धिमान (Increasing) भार डालता है। जल्दी-जल्दी परिवर्तित सरकार मे आए दिन हम नए कर या प्राचीन करो के बढते हुए भार की चर्चा सुनते रहते हैं और उसके प्रति होने वाली आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं को पढते रहते है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कर इसी मात्रा मे प्राप्त किया जा सकता है ? जब करदाता को कर देने से अपने उपभोग मे कमी करनी पडती है अथवा बचत-विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है ऐसी अवस्था में कर कहाँ तक दिया जा सकता है। इसकी कोई सीमा ज्ञात की जा सकती है जिस सीमा तक इन करों को दिया जा सकता है अथवा दिया जाना चाहिए। सरल शब्दो मे कोई व्यक्ति कितना कर चुका सकता है अथवा एक समाज मे सामूहिक रूप से कितना कर चुकाने की शक्ति है इसे करदेय क्षमता कहते हैं। करदेय क्षमता के अन्तर्गत यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि किसी एक समाज के विशिष्ट समूह मे बिना कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डाले हुए कर चुकाने की क्षमता कितनी है।

करदेय क्षमता की सकल्पना (Concept of Taxable Capacity) सार्वजनिक वित्त मे एक अस्पष्ट एव भ्रमपूर्ण सकल्पना है। इसके बारे में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए है। यह सकल्पना वस्तुपरक सकल्पना नहीं है क्योंकि इसे कोई स्थूल या मूर्तरूप नहीं दिया जा सकता। क्षमता शब्द अपने आप में पूर्णत केवल आर्थिक तत्त्वो से प्रभावित होने वाला नहीं है। क्षमता को प्रभावित करने वाले राजनीतिक सामाजिक व अन्य कई तत्त्व होते हैं। यदि करदान क्षमता एक आर्थिक सकल्पना मात्र हो तथा यह ज्ञात करना हो कि राज्य एक व्यक्ति पर या एक समुदाय पर कितना कर लगा सकता है तब यह कहा जा सकता है कि जितनी व्यक्ति या समुदाय की आय है उतना कर लगाया जा सकता है क्योंकि कर राज्य को व्यक्ति या समुदाय द्वारा दिया जाने वाला अनिवार्य भुगतान है।[1]

करदान क्षमता की सकल्पना पर बहुत समय से विचार होता रहा है। प्राचीन समय मे सन्तुलित बजट-व्यवस्था को उत्तम समझा जाता था। अत यह विचार प्रचलित था कि करारोपण का स्तर राजकीय व्यय के समान होना चाहिए किन्तु आधुनिक समय मे कार्यात्मक वित्त के विचार के सन्दर्भ मे यह मान्यता अमान्य जान पडती है। इसलिए करारोपण का वह स्तर उपयुक्त माना गया है जिससे कीमत स्तर स्थिरता पूर्ण रोजगार आर्थिक विकास वितरणात्मक न्याय आदि के उद्देश्यो को प्राप्त किया जा सके।[2]

करदेय क्षमता का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुराने करो की मात्रा बढाने अथवा नए करों को लगाने से पूर्व राजस्व अथवा वित्त मन्त्री को अपने देश के नागरिकों की करदेय क्षमता का ज्ञान करना अत्यावश्यक है। उससे अपेक्षित है कि वह ऐसी कर-प्रणाली अपनाए जिससे देश मे शान्ति बनी रहे और कर की मात्रा अधिकतम हो सके। यह तभी सम्भव है जब वह करदेय क्षमता के अनुसार करारोपण करे। करदेय क्षमता का ज्ञान आर्थिक नियोजन के लिए वित्तीय साधन जुटाने की दृष्टि से लाभदायक है। युद्धकाल मे युद्ध जारी रखने के लिए सरकार को यह ज्ञात करना होता है कि जनता से अधिकतम कितनी राशि प्राप्त की जा सकती है। सामान्य काल मे लोगो की कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए करदेय क्षमता की सीमा की जानकारी

1 2 *प्रेम प्रकाश शर्मा* वही पृ 234

जरूरी है। करदेय क्षमता का उपयुक्त अनुमान होने से कर व्यवस्था को सुदृढ आधार पर खड़ा किया जा सकता है क्योकि ऐसी स्थिति मे कर आधिक्य की शिकायत नही हो सकती और करो की चोरी को प्रोत्साहन नहीं मिलता। फिण्डले शिराज ने लिखा है— लोगो की जेब मे वृद्धि के उद्देश्य से धन को पड़ा रहने देना एक मूर्खतापूर्ण कार्य होगा। किन्तु राज्य को कर-भार एक सीमा से ऊपर बढ़ाते समय उत्पादन की प्रतिक्रिया पर भी विचार करना चाहिए।

करदेय क्षमता की परिभाषाएँ

(Definitions of Taxable Capacity)

करदेय क्षमता की सकल्पना सुनिश्चित और सुस्थापित नही की जा सकती। करदेय क्षमता की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं जिनमे से अनेक आज भी अस्पष्ट है। महत्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख निम्न प्रकार है—

1 **सर जोशिया स्टैम्प** (Sir Joshiah Stamp) ने लिखा है कि उत्पादन की कुल मात्रा तथा उपभोग की मात्रा का अन्तर करदेय क्षमता है।[1] स्टैम्प के अनुसार किसी समुदाय व्यक्ति अथवा देश की करदेय क्षमता के दो निर्धारक तत्त्व हैं—उत्पादन और उपभोग। इसमे परिवर्तन करके करदेय क्षमता को बढाया जा सकता है। करदेय क्षमता की कोई निश्चित या निर्धारित मात्रा नहीं है।

सर जोशिया स्टैम्प ने एक अन्य स्थल पर लिखा है— करदेय क्षमता वह अधिकतम राशि है जो एक देश के नागरिक सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के लिए अपने जीवन को नीरस और कष्टप्रद बनाए बिना तथा आर्थिक सगठन को छिन्न-भिन्न किए बिना देने को तत्पर रहते है। यह परिभाषा अधिक व्यावहारिक नहीं है। कर का भुगतान करना कभी सुखद नहीं होता तथा ऐसा कोई पैमाना हमारे पास नही है जिससे यह पता चल सके कि नागरिक कर का भुगतान बिना कष्टप्रद जीवन बिताए कर रहे है अथवा नहीं। आनन्दमय और कष्टप्रद जीवन तो मानसिक परिस्थितियाँ है जिनसे यह पता लगाना असम्भव है कि व्यक्ति की कौनसी सीमा है जहाँ पर वह दु खी नही होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा अनिश्चित और भ्रामक है क्योकि नीरस एव कष्टप्रद जीवन बिताए बिना तथा आर्थिक सगठन को छिन्न-भिन्न किए बिना जैसे वाक्याशो का कोई स्पष्ट और व्यावहारिक अर्थ नही निकलता।

2 **फिण्डले शिराज** (Findlay Shiras) के अनुसार करदेय क्षमता वह बचत है जो उत्पत्ति मे से उस न्यूनतम उपभोग को जो इस उत्पत्ति को प्राप्त करने के लिए चाहिए घटाकर उपलब्ध होती है यदि जीवन-स्तर पूर्ववत् बना रहे। एक अन्य स्थान पर शिराज ने करदेय क्षमता को कर-निचोड की सीमा (Limit of Squeezability) भी कहा है। शिराज ने अपनी परिभाषा मे न्यूनतम उपभोग शब्दो का उपयोग किया है। इसमे उसने व्यक्तियो के जीवनयापन के लिए आवश्यक न्यूनतम धनराशि तथा उद्योग एव व्यापार के विस्तार के लिए पूँजी की पुन स्थापना तथा उसमे वृद्धि करने की धन-राशि सम्मिलित की है। आलोचको ने शिराज की परिभाषा के कुछ अशो के प्रति आपत्ति उठाई है। सिल्वरमैन के अनुसार यह परिभाषा प्रभावशाली है लेकिन बहुत अस्पष्ट है। आलोचको का मत है कि न्यूनतम उपभोग एव 'उद्योग तथा वाणिज्य के विस्तार के लिए पूँजी की पुन स्थापना तथा इसमे वृद्धि वाक्याशों से कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। न्यूनतम उपभोग क्या हो एव पूँजी मे वृद्धि कितनी हो ? इन प्रश्नो के उत्तर इस परिभाषा से प्राप्त नही होते। शिराज ने करदेय क्षमता की परिभाषा करते समय सार्वजनिक व्यय को ध्यान मे नहीं रखा जबकि यह सर्वविदित है कि सार्वजनिक व्यय से व्यक्तिगत करदेय क्षमता मे वृद्धि होती है।

3 **सर ड्रमण्ड फ्रेजर** (Sir Drummond Fraser) का मत है कि करदेय क्षमता उस समस्त आधिक्य का प्रदर्शन है जब उत्पादन और उस न्यूनतम उपभोग मे जो उस उत्पादन को बनाए रखने के लिए आवश्यक है अन्तर होता है लेकिन जीवन स्तर मे कोई अन्तर नही होना चाहिए। फ्रेजर ने करों की अधिकतम सीमा निर्धारित की है और कहा है कि जब करदाता कर देने हेतु बैको से उधार लेने को बाध्य हों तो करदेय क्षमता की सीमा आ जाती है। फेजर की परिभाषा भी स्पष्ट नही है क्योकि वर्तमान में व्यापारिक बैको से उधार कर चुकाने के लिए नहीं लिया जाता वरन् व्यापारिक कार्यों के लिए ही ऋण लिया जाता है।

1 *Sir Joshiah Stamp* Wealth and Taxable Capacity p 114

4. डॉल्टन (Dalton) **ने प्रो. ऐलिंगर** (Ellinger) के विचारो का विश्लेषण किया है। उन्होने ऐलिंगर के जो वाक्य दोहराए है वे इस प्रकार है— करदेय क्षमता की सीमा उस समय आ जाती है जब करदाताओं की जेब से इतना निकाल लिया जाए कि उनके उत्पादन करने का उत्साह (Incentive to Produce) कम हो जाए और क्षय की पूर्ति करने (To make up for Wastage) तथा बढती हुई जनसख्या मे नए श्रमिको को काम पर लगाने के लिए आवश्यक पूँजी उपलब्ध करने हेतु अपर्याप्त धन बचे।

अन्य परिभाषाओं की भाँति यह परिभाषा भी अनेक प्रश्नो को जन्म देती है जैसे आवश्यक पूँजी क्या और कितनी मानी जाए ? ऐलिगर का कहना है कि करदेय क्षमता की सीमा न आने तथा करारोपण की प्रवृत्ति उत्पादन को कम करने की नहीं होती। ये सब बाते नए-नए सवालो को जन्म देती है। इसलिए डॉल्टन का कहना है कि करदेय क्षमता वाक्याश को राजस्व के गम्भीर विवाद से पृथक् कर दिया जाए।

5 वाल्ड ने लिखा है क्रय-शक्ति की वह राशि जो आर्थिक लाभ के साथ निजी हाथो से सरकार को दी जा सके।[1] यहाँ यह स्मरणीय है कि वाल्ड ने क्रय-शक्ति का निजी हाथो से सरकार को अन्तरण आर्थिक लाभ के साथ होना कहा है अत यह विचार साधनो के इष्टतम आवटन से सम्बन्धित माना जा सकता है। समाज की करदान क्षमता उस स्थिति मे पूरी तरह प्राप्त हो जायेगी जबकि करारोपण इष्टतम आवटन लाने मे असफल रहे। जहाँ तक करारोपण के माध्यम से आवटन के इष्टतम होने मे सहायता मिलती है तब तक समाज में करदान क्षमता होती है।[2]

6. बरान[3] ने करदान क्षमता को आर्थिक अधिशेष से सम्बद्ध माना है व उसके अनुसार करदान क्षमता की सीमा आर्थिक अधिशेष से निर्धारित होती है। उसने अधिशेष के सम्बन्ध मे वास्तविक अधिशेष व सम्भाव्य अधिशेष की सकल्पना के आधार पर करदान क्षमता को मापा है। किसी अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक करदान क्षमता कम हो सकती है किन्तु उसकी करदान क्षमता भविष्य में बढ सकती है। बरान का करदान क्षमता का दृष्टिकोण गतिशील है व विकास के सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण है।[4]

7 साइमन कुजनेट्स[5] ने करदान क्षमता को राजकीय व्यय व राष्ट्रीय आय के आधार पर मापने का विचार दिया है। राज्य जिन आवश्यकताओं को पूरा कर रहा है तथा उस पर जितना राज्य को व्यय करना पडे उसे राजकीय व्यय की सीमा कहा जा सकता है व इसे करदान क्षमता के माप की विधि माना जा सकता है।

उपर्युक्त विचारो के बावजूद करदान क्षमता की सकल्पना का पूर्णतया स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है तथा जो कुछ ज्ञान हो पाया है वह यह है कि करदान क्षमता एक ऐसी सकल्पना है जिसका सार्वजनिक वित्त मे महत्त्व है। करदान क्षमता केवल आर्थिक शब्द नहीं है यह अन्य तत्त्वो से भी प्रभावित होती है। वस्तुत करदान क्षमता मे कोई निश्चित विचार देना इसलिए कठिन है कि अर्थ-व्यवस्थाओं या समुदायों की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। इसे प्रभावित करने वाले कई तत्त्व होते है।

सभी परिभाषाओं मे एक दोष यह है कि वे सार्वजनिक व्यय की ओर ध्यान नही देतीं। सार्वजनिक व्यय के उत्पादन तथा व्यक्तियो की करदेय क्षमता पर पडने वाले प्रभावो पर विचार न करने के कारण ये सभी परिभाषाएँ अस्पष्ट अनिश्चित और संदिग्ध है। आलोचको का मत है कि 'करारोपण राजकीय व्यय करदेय क्षमता मे और अधिक वृद्धि का क्रम बराबर चलता है जिसके कारण राजकीय आय' के विचार को भुला देने पर करदेय क्षमता का सम्पूर्ण विवाद निरर्थक हो जाएगा।

करदेय क्षमता की एक उपयुक्त परिभाषा यह हो सकती है कि करदेय क्षमता वह बचत है जो राष्ट्रीय आय मे से वह खर्च जो देश की पूँजी और जनता की योग्यता अक्षय बनाए रखने तथा रहन-सहन के स्तर को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है घटाकर प्राप्त होती है। यदि शेष (अथवा बचत) अधिक हो तो करदेय क्षमता अधिक होती है किन्तु यदि बचत कम हो तो करदेय क्षमता कम होती

1 *Wald H P* Taxation of Agricultural Land in Underdeveloped Economies p 138 139
2 *प्रेम प्रकाश शर्मा* वही पृष्ठ 235
3 *Baran Paul* The Political Economy p 22 23
4 *प्रेम प्रकाश शर्मा* वही पृष्ठ 235
5 *Kuznets Simon* National Income and Taxable Capacity American Economic Review Vol XXX II, No I Supplement, Part 2 March 1942 p 42

है।" सरकार बचत को कर के रूप मे वसूल करने की अधिकारिणी है। यदि इस सीमा से अधिक करारोपण किया जाता है तो समाज-हित की दृष्टि से इसे उचित नही कहा जा सकता। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारतीय करारोपण जॉच समिति ने करदेय क्षमता की एक अच्छी और विस्तृत परिभाषा दी हैं। इसके अनुसार करदेय क्षमता न्याय के सिद्धान्त की भॉति एक सापेक्षिक विचार है। आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से समाज के विविध वर्गों की करदेय क्षमता का अभिप्राय करारोपण के उस अश से होता है जिसके बाद समस्त उत्पादन क्रिया और कार्यकुशलता के प्रयत्न क्षीण होने लगते है तथा आर्थिक सीमाएँ राजनीतिक सीमाओं से प्रभावित होती है जो बहुत पहले ही प्राप्त हो जाती है—प्रधानत प्रजातन्त्र मे जहाँ अधिकतम व्यक्तियो को मताधिकार प्राप्त है। कभी-कभी ये दोनो सीमाएँ इसे लागू करने मे प्रशासनिक व्यवस्थाओं के कारण सीमित और सकुचित हो जाती है।[1]

करदेय क्षमता का ज्ञान आवश्यक क्यो ?

करदेय क्षमता को राजस्व विवाद से पृथक् कर देने के विचार को उचित नहीं ठहराया जा सकता इसके कई कारण है। भारत मे आय-कर और अन्य करो की चोरी प्राय ये धनी व्यक्ति अधिक करते हैं जिनमें करो का भुगतान करने की पर्याप्त क्षमता है। दूसरी ओर ईमानदार व्यक्ति करदेय क्षमता न रखते हुए भी किसी प्रकार करो को चुकाने का प्रयास करते है। करारोपण के सम्बन्ध मे सहन शक्ति के अनुसार नियम का पालन किया जाता है। जटिलताओं धूर्तताओं तथा भ्रष्टाचार मे बहुत अधिक वृद्धि हो गई है अत यह आवश्यक हो गया है कि सरकार की आय एव सुविधा के लिए करदेय क्षमता का अध्ययन किया जाए। आज की परिस्थितियो मे लोगो के विरोध करने की मात्रा से धन जनता के पास नहीं छोडा जा सकता।

करदेय क्षमता का वर्गीकरण (Classification of Taxable Capacity)

अथवा

निरपेक्ष एव सापेक्ष करदेय क्षमता (Absolute and Relative Taxable Capacity)

फिण्डले शिराज ने करदेय क्षमता को दो अर्थों मे प्रयुक्त किया है—

(i) निरपेक्ष करदेय क्षमता (Absolute Taxable Capacity) तथा

(ii) सापेक्ष करदेय क्षमता (Relative Taxable Capacity)।

निरपेक्ष करदेय क्षमता का अभिप्राय यह है कि समाज बिना अरुचिकर प्रभाव उत्पन्न किए हुए किस सीमा तक कर के रूप मे अशदान दिया जा सकता है। प्रो शिराज ने कहा है कि निरपेक्ष सामर्थ्य निचोडने की सीमा (Limit of Squeezability) है। अर्थात् निरपेक्ष करदेय क्षमता कर लेने की अन्तिम सीमा है। शिराज ने आगे लिखा है कि जब किसी देश के आर्थिक कलेवर की जॉच इस दृष्टिकोण से करते है कि वह देश कितना कर-भार वहन कर सकता है तो ऐसी स्थिति मे निरपेक्ष करदेय क्षमता नापने का प्रयत्न किया जाता है। कुल करदेय क्षमता को ज्ञात करने का उद्देश्य यही है कि उन परिस्थितियों में किस प्रकार कर मे वृद्धि कर अधिक आय प्राप्त की जा सकती है ऐसे समय मे निरपेक्ष करदेय क्षमता हमारी सहायता करती है।

दूसरी ओर जब हमे दो या अधिक वर्गों के मध्य व्याप्त करदेय क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन करना होता है तो सापेक्ष करदेय क्षमता उपयोगी होती है। प्रो शिराज के अनुसार सापेक्ष करदेय क्षमता स्पष्ट करती है कि एक राज्य दूसरे राज्य की तुलना मे सामूहिक कार्यों के लिए कितना योगदान दे अथवा कर-भार का वितरण एक सघ के अन्तर्गत विभिन्न राज्यो के मध्य किस प्रकार किया जाए।

डॉल्टन ने निरपेक्ष करदेय क्षमता की धारणा को स्वीकार नहीं किया है। डॉल्टन के अनुसार निरपेक्ष करदेय क्षमता एक भ्रम है जिससे भयानक भूल की सम्भावना है।

स्पष्ट विचारो के हित मे यह उचित होगा कि करदेय क्षमता वाक्याश को राजस्व के गम्भीर वाद-विवाद से निकाल दिया जाए। क्या निरपेक्ष करदेय क्षमता की माप सम्भव है—डॉल्टन इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देता है। उनके विचार मे "यदि दो देशों को सामान्य व्यय मे अपना अशदान देना हो तो वे अपने सापेक्ष करदेय क्षमता की तुलना में ही अंशदान दे। डॉल्टन ने बताया है कि यदि

1 Taxation Enquiry Committee Vol I p 190

सामान्य व्यय मे वृद्धि हो जाए तो धनी व्यक्तियो द्वारा दिए जाने वाले अशदान मे भी वृद्धि होनी चाहिए और निर्धनो का अशदान कम होना चाहिए। सामान्य व्यय मे कमी होने पर इसमे भी कमी होनी चाहिए।

डाल्टन ने स्पष्ट किया है कि सापेक्ष एव निरपेक्ष करदेय क्षमता के बीच कोई तर्कसगत सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है कि कोई समुदाय अन्य समुदायो के साथ अपनी सापेक्ष करदेय क्षमता से अधिक किसी सार्वजनिक लाभ के लिए कर देता रहा है। इसका अभिप्राय यह नहीं लगाया जा सकता कि वह अपनी निरपेक्ष करदेय क्षमता से अधिक कर देता रहा है। इसकी निरपेक्ष करदेय क्षमता का किसी न किसी परिभाषा के अनुसार उल्लघन किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह नहीं होगा कि वह अपनी सापेक्ष करदेय क्षमता से अधिक कर चुका रहा है। साधारण निष्कर्ष यह है कि सापेक्ष करदेय क्षमता एक सत्य है जो उचित रूप से दूसरे शब्दो मे व्यक्त की जा सकती है परन्तु निरपेक्ष करदेय की शक्ति एक कल्पना है जिसमे भयानक भूल होने की कम सम्भावना रहती है। शिराज कहता है कि सरकार के लिए सदैव बुद्धिमानी यही है कि वह यथासम्भव यह जान ले कि साधारण और असाधारण दोनो प्रकार की परिस्थितियों मे जनता पर अधिक से अधिक कितना करारोपण किया जा सकता है।

प्रो जे के मेहता ने निरपेक्ष करदेय क्षमता को इन शब्दो मे परिभाषित किया है— किसी देश की निरपेक्ष करदेय क्षमता को द्रव्य की उस अधिकतम मात्रा से मापना सम्भव है जो करो द्वारा जनता से वसूल की जा सकती है। अगर किसी समय विशेष के लिए गणना करनी हो तो निरपेक्ष करदेय क्षमता का माप मुद्रा की वह अधिकतम मात्रा होगी-जो करो द्वारा उस समयावधि मे जनता से प्राप्त की जा सकती है। निरपेक्ष करदेय क्षमता का माप वह अधिकतम मात्रा होगी जिससे भावी लोक आय के अधिक हित का ध्यान रखते हुए करो द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। प्रो मेहता के अनुसार सापेक्ष करदेय क्षमता उस मात्रा को तय करती है जो एक राज्य को दूसरे राज्य की तुलना मे कोई सामूहिक कर देने के लिए देनी चाहिए अथवा वह यह तय कर देती है कि किसी कर विशेष का लाभ सघीय शासन के अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रान्तो मे किस प्रकार बाटा जाए। इस प्रकार सापेक्ष करदेय क्षमता ज्ञात करके ही यह निश्चय किया जा सकता है कि किसी कर को किस प्रकार लगाया जाए कि विभिन्न राज्यो के मध्य कर भार का उचित वितरण हो सके।

निष्कर्ष यह है कि वास्तव मे दोनो प्रकार की करदेय क्षमता का अपना अलग अलग महत्त्व है। निरपेक्ष करदेय क्षमता से हम उस कुल राशि का पता लगा लेते है जो सकटकालीन परिस्थिति मे समाज से राज्य को मिल सकती है और करदेय क्षमता के अन्तर्गत उन सापेक्ष मात्राओं की जाच कर लेते है जो प्रत्येक राज्य या देश को किसी सामूहिक व्यय के लिए देना चाहिए। करदेय क्षमता की ठीक ठीक माप करना कोई सरल कार्य नही है तथा अर्थशास्त्रियो मे इसके मापने की विधि मे प्रचुर मतभेद है।

करदेय क्षमता के निर्धारक तत्त्व

(Factors Determining the Taxable Capacity)

करदेय क्षमता अनेक तत्त्वो पर निर्भर रहती है जिनमें से कुछ मुख्य निम्न प्रकार है—

1 **राष्ट्रीय आय और स्थिरता**—यदि राष्ट्रीय आय कम है तो इसका अभिप्राय यह है कि देश मे आर्थिक विकास नही हुआ है रोजगार की कमी है लोगो की बचत कम है और करदेय क्षमता भी कम होगी। राष्ट्रीय आय की अधिकतम के साथ आय मे स्थिरता होना आवश्यक है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश मे आय अनिश्चित रहती है करदेय क्षमता कम है। इसके विपरीत अमेरिका ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देशो की आय की स्थिरता के कारण करदेय क्षमता अधिक है। स्थिर आय पर ही दीर्घकालीन वित्तीय व्यवस्थाएँ आधारित हो सकती है।

2 **जनसख्या**—यदि देश की जनसख्या अधिक होगी तो करदेय क्षमता भी अधिक होगी। उत्पादन अथवा रोजगार मे वृद्धि से उपभोग मे वृद्धि होती है और सरकार को करों से अधिक आय प्राप्त होने लगती है लेकिन भारत की परिस्थितिया अपवाद लगती है। जनसख्या यहा तेजी से बढ रही है लेकिन करदेय क्षमता मे समानुपातिक रूप मे वृद्धि नही हो रही है। इसका बडा कारण प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग न होना है। प्रो मेहता ने लिखा है— जनसख्या के आकार का देश की करदेय क्षमता पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। ऐसी निश्चित सम्पत्ति को जब अधिक व्यक्ति बाट लेते है तो करदेय क्षमता

कम हो जाती है। फलत जनसख्या का आकार घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में करदेय क्षमता की निर्भरता इस पर है कि राष्ट्रीय आय की तुलना मे देश की जनसख्या कितनी है ? राष्ट्रीय आय जितनी अधिक तीव्रता से बढती है करदेय क्षमता उतनी अधिक होती जाती है।

3. धन का वितरण—देश मे धन वितरण पद्धति का और करदेय क्षमता का सीधा सम्बन्ध है। राष्ट्रीय आय का वितरण जितना असमान होगा समाज के कर देने की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। यदि देश में थोडे-से व्यक्ति बहुत धनी होगे और शेष निर्धन होगे तो सरकार अधिक धन एकत्रित कर सकेगी क्योकि—

(i) कर-वसूली का व्यय कम होगा।

(ii) धनी व्यक्ति सरलता से कर का भुगतान कर देते है। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार उनका त्याग कम होता है और कर देने की सामर्थ्य अधिक होती है।

(iii) देश मे धन का वितरण समान होने पर छोटी-छोटी आय वाले व्यक्तियो से कर वसूल करने में अधिक व्यय होता है और वे कर देने का विरोध करते है और सरकार को बहुत कम आय प्राप्त होती है।

लेकिन उपरोक्त तर्क दोषपूर्ण है क्योकि

(i) धन के समान वितरण मे सभी व्यक्तियो की आय बडी हो सकती है जिससे सभी लोग करदेय क्षमता के योग्य हो सकते है।

(ii) धन के समान वितरण से बहुसख्यक लोगो की कार्यक्षमता मे वृद्धि हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन बढेगा और अधिक सम्पत्ति का सृजन होने से सम्पूर्ण राष्ट्र की करदेय क्षमता में वृद्धि हो जाएगी।

(iii) सरकार को कुछ धनी व्यक्तियों से इतनी राशि प्राप्त नहीं हो सकती जितनी इसे बहुसख्यक निर्धन लोगो के सामाजिक सेवा प्रदान करने मे व्यय करनी पडेगी।

(iv) असमान वितरण मे ऊँची दर से करारोपण करने पर भी उतनी आय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी जितनी आय समान वितरण मे कर की नीची दर से प्राप्त हो सकती है।

(v) अन्त मे धन के वितरण की असमानता का समर्थन करना अनैतिक है।

4 करारोपण पद्धति— करदेय क्षमता कर-पद्धति के रूप और प्रकृति से प्रभावित होती है। यदि कर-व्यवस्था मे ऐसे कर है जो एक सहयोजित तथा सुविचारित नीति पर आधारित है तो करदेय क्षमता अधिक होगी। देश मे किस प्रकार की कर प्रणाली अपनाई जाए यह देश विशेष की परिस्थितियों को देख कर निर्धारित किया जा सकता है। करदान मे त्याग होता है अत इसका भार करदाता की मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर अधिक निर्भर करता है। यदि कोई कर सामाजिक धार्मिक एव राजनीतिक हितो के विरुद्ध होता है तो उससे अधिक आय प्राप्त नहीं हो सकती। थोडे-से निश्चित प्रगतिशील और सरल कर अधिक आय प्रदान करने मे सफल होते है। कर-प्रणाली का निर्धारण ऐसा हो कि लोगों को कर चुकाने मे न्यूनतम कष्ट का अनुभव हो और राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। एक अच्छी कर-प्रणाली मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो मे उचित सन्तुलन होना चाहिए ताकि लोग कर-भार से मुक्त न रह सकें और कर-वचन का प्रयास भी न करे।

5 आर्थिक विकास का स्तर—किसी भी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व्यय से आर्थिक विकास होता है व इससे करदान क्षमता मे वृद्धि होती है। विकासशील देशो मे यह एक सामान्य लक्षण दृष्टिगत होता है कि विकास के प्रारम्भिक चरणो मे इन देशो मे कर अनुपात बहुत कम होता है व जैसे-जैसे इन देशो मे आर्थिक विकास का स्तर बढता है करदान क्षमता की सीमा बढती जाती है क्योंकि कर-अनुपात बढता है। आर्थिक विकास से अर्थ व्यवस्था की सरचना में परिवर्तन आता है। इस सन्दर्भ में कुछ मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित है—

(1) विदेशी व्यापार मे वृद्धि होती है

(2) औद्योगिक क्षेत्र विकसित होता है

(3) अर्थ व्यवस्था मे मौद्रीकरण बढता है

(4) आय का स्तर बढता है।

इन सभी परिवर्तनों से आयात-निर्यात कर उत्पादन-कर आय-कर सम्पत्ति कर आदि के क्रियान्वयन मे सहायता मिलती है। वस्तुत जब आर्थिक विकास होता है तो उनका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पडता है। समस्त अर्थव्यवस्था मे एक नए परिवेश का प्रादुर्भाव होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि आर्थिक विकास का स्तर एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो न केवल करदान क्षमता को प्रभावित करता है अपितु इस तत्त्व का समस्त अर्थ-व्यवस्था के कार्यों पर प्रभाव पडता है।[1]

6. आपातकालीन परिस्थितियाँ—अर्थव्यवस्था मे युद्ध आदि की आपातकालीन परिस्थितियों मे करदान क्षमता स्वत गैर-आर्थिक कारण से बढ जाती है। यह स्वाभाविक है कि आपातकालीन परिस्थितियो मे करदान की अनुपयोगिता इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रहती व करदाताओं की प्रवृत्ति सामाजिक व राजनीतिक तत्त्वो से प्रभावित होती है व ऐसी परिस्थितियो में करदान क्षमता सामान्य से अधिक होती है। यह प्रवृत्ति अनेक देशो मे देखी गई है। इन परिस्थितियों मे करदान क्षमता को निर्धारित करने मे आर्थिक तत्त्व प्रभावशाली नहीं रहते व मनोवैज्ञानिक व राष्ट्रीय तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। आपातकालीन परिस्थितियो मे विरोधी दल अतिरिक्त करारोपण का विरोध नहीं करते क्योकि ऐसी स्थिति में सामूहिक प्रयत्न सफलता का आधार होता है किन्तु इस सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि यह करदान क्षमता को प्रभावित करने वाला एक आकस्मिक तत्त्व है व इस पर करदान क्षमता निर्भर नहीं रह सकती है।[2]

7. मौद्रिक दशाएँ—यदि कोई अर्थव्यवस्था मुद्रा-स्फीति अथवा मन्दी या मुद्रा-सकुचन से प्रभावित है तो उसकी करदेय क्षमता मे अन्तर आ जाता है। मुद्रा-स्फीति के समय वस्तुओं की कीमतें अत्यधिक बढ जाने से और लोगो की आय में उतनी वृद्धि न होने से क्रय-शक्ति घट जाती है। इसके फलस्वरूप करदेय क्षमता मे कमी आ जाती है। इसके विपरीत यदि किसी देश की मुद्रा के मूल्यो मे स्थिरता बनी रहती है तो जनता की करदेय क्षमता मे स्वाभाविक वृद्धि होती है। मन्दीकाल के निराशाजनक वातावरण में लोगों को कर का भार अधिक महसूस होता है अत उनकी करदेय क्षमता कम हो जाती है।

8 करदाताओं की मनोवृत्ति—एक देश की करदेय क्षमता बहुत कुछ वहाँ के नागरिकों की मनोवृत्ति पर निर्भर रहती है कि सरकार के प्रति जनता में श्रद्धा कितनी है। राष्ट्रीय सरकार मे जनता का विश्वास अधिक होता है अत एक पराधीन देश की तुलना मे एक स्वतन्त्र देश मे नागरिक स्वभावत अधिक कर-भार वहन करने के लिए तैयार हो जाते है। जनता का सरकारी नीतियो के साथ जितना समर्थन और सम्पर्क होगा उनकी करदेय क्षमता अधिक होगी। यही कारण है कि राष्ट्रीय सकट के समय लोगो की करदेय शक्ति मे आकस्मिक वृद्धि हो जाती है।

9 राजकीय व्यय की मात्रा, प्रकृति और उद्देश्य—किसी देश की करदेय क्षमता वहाँ के राजकीय व्यय की मात्रा प्रकृति और उद्देश्य पर निर्भर रहती है—

(i) सार्वजनिक व्यय का बहुत बडा भाग उत्पादन-योजनाओं मे लगा देने से लोगो की करदेय क्षमता में वृद्धि होती है यदि सार्वजनिक व्यय का अधिकाश भाग अनुत्पादक योजनाओं पर व्यय किया जाता है तो लोग सरकार को धन आसानी से देना नही चाहेगे जिससे देश की करदेय क्षमता कम हो जायेगी। प्रथम स्थिति में करारोपण न्यायोचित और द्वितीय स्थिति मे अनुचित होगा।

(ii) विदेशी पूँजी पर काफी बडी मात्रा मे ब्याज चुकाया जा रहा हो तो देश की करदेय क्षमता कम होगी।

(iii) जब सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य जनता का कल्याण करना होता है तब नागरिकों मे न तो कर चोरी करने की इच्छा होती है और न ही वे करो का विरोध करते है अत देश की करदेय क्षमता मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि सरकारी कर्मचारियो के वेतन या भत्ते मे वृद्धि पर अथवा विदेशियो के स्वागत-सत्कार पर या इसी प्रकार के अन्य कार्यों पर व्यय हो रहा हो तो करदाताओं में कर देने की इच्छा कम होगी जिससे देश की करदेय क्षमता को वर्तमान मे ही नहीं भविष्य मे ही आघात लगेगा।

---

1 2. *प्रेम प्रकाश शर्मा* वही पृ 239

10. प्रशासकीय प्रणाली की दृढ़ता—यदि सरकार की प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ है तो करदेय क्षमता अधिक होगी। भारत मे करदेय क्षमता कम होने का एक प्रधान कारण प्रशासनिक व्यवस्था का ढीलापन है। भ्रष्टाचार और शिथिलता का करदेय क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष मे यह कहना चाहिए कि विभिन्न कारणों, तत्त्वों और परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर करदेय क्षमता मे परिवर्तन आ जाते हैं। अत वह सीमा जिसके आगे करारोपण वाञ्छनीय नहीं होगा, केवल अनुभव के आधार पर और करारोपण से देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को देखकर निर्धारित की जा सकती है।

करदेय क्षमता की माप
(Measurement of Taxable Capacity)

पिछले पृष्ठो मे करदेय क्षमता पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहाँ संक्षेप में विचार प्रकट करना काफी होगा। करदेय क्षमता की माप एक कठिन प्रश्न है जो राष्ट्र की आय-गणना से सम्बद्ध है। प्रो. शिराज ने कहा है—' हम किसी वर्ष विशेष में उत्पन्न की गई कुल वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य से उनके बाजार मूल्य मापते है और जो योग प्राप्त होता है उसमें से देश की वस्तुओं (कच्चे माल तथा पूँजीगत वस्तुओं) के उस भाग का मूल्य कम कर देते है जो उत्पादन पर व्यय हो चुका हो। शेष राशि उस वर्ष की राष्ट्रीय आय है और यदि राष्ट्रीय आय मे से यन्त्रों की टूट-फूट तथा घिसावट आदि को निकाल दिया जाए तो जो शेष रह जाता है उसी पर देश विशेष की निरपेक्ष करदेय क्षमता निर्भर करती है।''

यह राष्ट्रीय आय की माप सही नही है क्योकि इसमे उत्पादन के उस भाग का कोई स्थान नहीं दिया गया है जो उत्पादन निजी उपभोग के लिए रख लेता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय को उन वस्तुओं तक सीमित करना जिनका मुद्रा मे विनियम होता है, उचित नहीं होगा बल्कि उन सभी वस्तुओं और सेवाओं का जिनका उत्पादन करके उपयोग कर लिया जाता है और मुद्रा का कहीं हस्तक्षेप नहीं होता उसे भी राष्ट्रीय आय मे समावेश करना चाहिए। जिस वर्ष मे विनियोग किए जाते हैं, उस वर्ष राष्ट्रीय आय में से विनियोग की राशि कम कर देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त एक देश द्वारा लिए गए विदेशी ऋण ब्याज-भुगतान तथा कुल धन का भुगतान आदि सभी भुगतानो को, शुद्ध राष्ट्रीय आय मालूम करने के लिए कुल आय में से घटा देना चाहिए और जो राशि ब्याज अथवा मूल धन के रूप में विदेशों से प्राप्त होती है उसे राष्ट्रीय आय मे जोड़ना चाहिए। शुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात करके करदेय योग्यता को ज्ञात किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि करदेय क्षमता का सही माप करना सरल नही है और अर्थशास्त्रियो मे इस सम्बन्ध मे मतभेद है।

कोलिन क्लार्क के विचार

करदेय क्षमता के सम्बन्ध में कोलिन क्लार्क का विचार है कि ''करारोपण की सुरक्षित उच्चतम सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का 25 प्रतिशत है।' यदि वार्षिक आय के 25 प्रतिशत से ऊपर करारोपण किया गया तो देश और जनता के लिए अनुकूल परिणामो की आशा नहीं की जा सकती क्योकि—(i) इसका काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिससे राष्ट्रीय आय का स्तर गिर जाएगा। मालिक और मजदूर दोनो भारी मात्रा मे कर लगने से यह सोचने लगेंगे कि अब अधिक काम करना उनके हित में नहीं होगा। (ii) बचत करने की इच्छा पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। पूँजी-निर्माण और आय का उत्पादन प्रतिकूल रूप मे प्रभावित होगा। व्यवसायी और पेशेवर लोग यह अनुभव करेंगे कि उनकी बचत का एक बडा प्रतिशत करों के रूप मे सरकार द्वारा ले लिया जाएगा अपनी आय को लापरवाही से खर्च करने लगेंगे। (iii) करारोपण की ऊँची दर का राजनीतिक दृष्टि से प्रतिकूल प्रभाव पडना सम्भव है। आय और वस्तुओं पर ऊँचे करारोपण से अधिक मजदूरियो और वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे स्फीति सम्बन्धी कठिनाइयाँ पैदा होंगी। इन्हीं सब कारणों से कोलिन क्लार्क का निष्कर्ष है कि ससार के अधिकाश देशो के लिए अधिकतम करदेय क्षमता राष्ट्रीय आय का 25 प्रतिशत हो सकती है। ब्रिटेन जैसे देशो के लिए करारोपण की यही सुरक्षित उच्चतम सीमा है। इसे बढाने पर मुद्रा के मूल्य में ह्रास और मुद्रा-स्फीति के प्रसार का निश्चित खतरा उत्पन्न हो जाएगा।

कोलिन क्लार्क के विचारों को अमेरिका और अन्य देशों मे काफी लोकप्रियता मिली लेकिन इसकी आलोचना भी कम नहीं हुई है। आलोचकों के अनुसार—

1 करदेय क्षमता देश-विदेश की परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर करती है। ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था पर लागू कैसे हो सकती है, एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आय तेजी से बढती है, अत. लोगों पर कर-भार सुगमता से बढाया जा सकता है।

2 करारोपण के प्रतिकूल प्रभावो पर सार्वजनिक व्यय के अनुकूल प्रभावो के साथ विचार करना होगा और इस स्थिति मे एक स्थिर सीमा सही नहीं हो सकती।

3 करारोपण की एक पद्धति मे जिस स्थिति को हम करारोपण की सुरक्षित सीमा माने सम्भव है वही करारोपण दूसरी पद्धति मे अनुपयोगी सिद्ध हो। उदाहरण के लिए यदि किसी देश मे करो का ढाँचा राष्ट्रीय आय का 10 प्रतिशत भाग लेता है तो इसमें देश की आर्थिक प्रगति अवरुद्ध हो सकती है जबकि यह सर्वथा सम्भव है कि करो का ढाँचा राष्ट्रीय आय का 25 प्रतिशत से भी अधिक भाग ले जिससे अर्थव्यवस्था पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। करदेय क्षमता वस्तुत विभिन्न प्रकार की कर-सरचना पर निर्भर करती है।

करदान क्षमता का माप व उसकी सीमाओं के निर्धारण का कार्य दोनो दुष्कर है किन्तु ये दोनो क्रियाएँ सार्वजनिक वित्त के सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है। इस दिशा मे अर्थशास्त्रियो का निरन्तर प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है। वस्तुत यदि किसी एक तत्त्व के आधार पर यह सीमा निर्धारित न की जा सके तो इसके लिए कुछ तत्त्वो के सयुक्त या मिश्रित सूचकाक बनाकर करदान क्षमता के निर्धारण के प्रयत्न किए जा सकते है। सभी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे यह विचारधारा प्रबल है कि उनकी करदान क्षमता बढ रही है किन्तु उसे सही रूप मे अवशोषित नहीं किया जा रहा है। विकास के लिए निरन्तर गति से व्यय आवश्यक है व साधनो की न्यूनता एक सतत समस्या बनी हुई है। अन्त मे यही कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रियो को करदान क्षमता को मापने के लिए अपनी विश्लेषणात्मक क्षमता बढानी होगी व उसकी सीमाएँ निर्धारित करने के लिए अपने विश्लेषण क्षेत्र की सीमाओं का विस्तार करना होगा।

भारत मे करदेय क्षमता

(Taxable Capacity in India)

भारत की करदेय क्षमता के सम्बन्ध मे दो परस्पर विरोधी धारणाएँ व्याप्त हैं। एक धारणा के अनुसार देश के नागरिको की (अति सम्पन्न वर्ग को छोडकर) करदेय क्षमता अपनी सीमा से आगे पहुँच चुकी है जबकि दूसरी धारणा के अनुसार देश के नागरिको मे अभी करदेय क्षमता शेष है। प्रख्यात विधिवेत्ता एन ए पालकीवाला ने कहा है कि भारत विश्व के उन देशो मे से है जहाँ कर-भार सबसे अधिक है। भारत सरकार और उसके अर्थ विशेषज्ञो का मत रहा है कि देश के नागरिकों पर अभी और कर लगाने की गुजाइश है। डॉ लोकनाथन की मान्यता है कि भारत मे करदेय क्षमता की सीमा नहीं आई है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था और अधिक करों को सहन कर सकती है। वास्तव मे देश मे निर्धन वर्ग पर परोक्ष करो का भार बहुत अधिक बढ गया है अत कुछ विद्वानो का विचार है कि अब देश मे वर्तमान कर-भार असहनीय है अथवा करारोपण करदेय क्षमता की उच्चतम सीमा को स्पर्श कर चुका है। जहाँ तक सम्पन्न वर्ग का सम्बन्ध है उन पर पडने वाला परोक्ष और प्रत्यक्ष करो का भार अभी उनकी करदेय क्षमता की तुलना मे बहुत कम है।

किसी देश की करदेय क्षमताओं की सीमाओं के अध्ययन मे यह पता लगाना बड़ा आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय मे कुल राजस्व का अनुपात क्या है। भारत का यह अनुपात विश्व के अनेक देशो के अनुपात स नीचा है। राष्ट्रीय आय म कर-राजस्व मे इस निम्न अनुपात से अर्थशास्त्रियो ने उपरोक्त दो अलग-अलग निष्कर्ष निकाले है। एक यह कि भारत मे करदय क्षमता अभी चरम सीमा से काफी दूर है अत अतिरिक्त करारोपण किया जा सकता है और दूसरा यह कि करारोपण का निम्न स्तर भारतीय जनता की भारी गरीबी का द्योतक है और अब अतिरिक्त करारोपण का कोई क्षेत्र नहीं बचा है।

भारत की विकासशील अर्थव्यवस्था का निष्पक्ष विश्लेषण करने पर यह मत तर्कसगत लगता है कि देश मे करदेय क्षमता अभी चरम-सीमा पर पहुँची है और अतिरिक्त करारोपण के लिए पर्याप्त क्षेत्र

विद्यमान हैं । इस पक्ष मे तर्क देने से पूर्व उन विभिन्न कारणों को जान लेना चाहिए जो देश में राष्ट्रीय आय में कुल कर-राजस्व के कम अनुपात के लिये उत्तरदायी हैं—

1. अधिकाश जनता का जीवन-स्तर बहुत निम्न है और उनकी करदेय क्षमता नगण्य है अत उनके लिए अतिरिक्त करारोपण की कोई गुजाइश नहीं है । ऐसे लोगों का प्रतिशत बहुत कम है जो आय-आधिक्य की स्थिति में हैं । यदि उन पर अतिरिक्त करारोपण किया गया तो उनकी काम और बचत करने की इच्छा तथा योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है । कहने का आशय यह है कि अधिकाश जनता की गरीबी देश में निम्न-कर राजस्व का एक बडा कारण है ।

2. भारत में मुद्रा-विहीन व्यय का एक बड़ा क्षेत्र विद्यमान है । एक अध्ययन के अनुसार लगभग 37 से 40 प्रतिशत उपभोग मौद्रिक अर्थव्यवस्था (Money Economy) के बाहर किया जाता है । खाद्यान्नों, दालों, दूध की वस्तुओं पर लगभग 65 से 75 प्रतिशत तक का ग्रामीण व्यय बिना द्रव्य के (Barter Trade) होता रहता है । उत्पादन का एक बडा भाग स्वय उत्पादको द्वारा उपभोग कर लिया जाता है । कई बार श्रमिकों को पारिश्रमिक मुद्रा के स्थान पर वस्तु के रूप मे चुकाया जाता है । मुद्राविहीन (Non-Monetary Sector) आदान-प्रदान के फलस्वरूप करारोपण की गुजाइश सीमित हो जाती है । उदाहरणार्थ, मुद्राविहीन क्षेत्र की वस्तुओं पर बिक्री कर जैसा कोई वस्तु-कर प्रभावशील नहीं होता ।

3 भारत का विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय का समानुपाती नहीं है । अत. करारोपण का क्षेत्र विपरीत रूप मे प्रभावित होता है । उदाहरणार्थ सीमा करों से अधिक आय प्राप्त नहीं हो पाती ।

4 उत्पादन की लघुस्तरीय इकाइयो की बहुलता के फलस्वरूप कर-अपवचन सरल हो जाता है पर कर-सग्रह करना कठिन और व्यय-साध्य बना रहता है ।

इन सभी कारणो से भारत मे राष्ट्रीय आय मे कर-राजस्व का अनुपात कम है । इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जनता की करदेय क्षमता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है अथवा अब करारोपण के लिए कोई क्षेत्र बाकी नहीं है । आगे उन तर्कों को लेंगे जो करदेय क्षमता की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाने के पक्ष में दिए जाते है । भारत मे करदेय क्षमता की अन्तिम सीमा छू लेने या उसका उल्लघन हो जाने के पक्ष में कहा जाता है कि—

(i) देश की करदेय क्षमता राष्ट्रीय अथवा इसे उत्पन्न करने वाले साधनों पर निर्भर होती है । जिस देश में राष्ट्रीय आय अधिक होती है वहाँ करदेय क्षमता भी अधिक होती है और जहाँ राष्ट्रीय आय कम होती है वहाँ यह क्षमता कम होती है । चूँकि भारत की राष्ट्रीय आय (अथवा प्रति व्यक्ति आय) बहुत कम है अत. यहाँ करदेय क्षमता की तुलना में करारोपण अधिक हो चुका है । एक ओर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कमी तथा दूसरी ओर जनसख्या में निरन्तर वृद्धि ने अतिरिक्त करारोपण के लिए अब कोई गुजाइश नहीं छोडी है ।

(ii) राष्ट्रीय आय की वृद्धि की तुलना मे करारोपण की वृद्धि बहुत अधिक रही है फलस्वरूप व्यक्तियों का कर-भार निरन्तर बढता जा रहा है । करदेय क्षमता की अन्तिम सीमा का उल्लघन होने के कारण देश में नए करो अथवा पुराने करो मे वृद्धि का विरोध निरन्तर बढता जा रहा है ।

(iii) करदेय क्षमता पर सार्वजनिक व्यय की मात्रा और प्रकृति का प्रभाव पडता है । भारत मे सरकार को अधिकाश आय सुरक्षा मद पर तथा नागरिक प्रशासन व ऋण सेवाओं पर और अनेक गैर विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय करनी पड रही है । सामाजिक सेवाओं पर अपेक्षाकृत बहुत कम व्यय हो रहा है जिससे करों का थोडा-सा भी भार नागरिको द्वारा बहुत अधिक महसूस किया जाने लगा है । विभिन्न योजना कार्यक्रमों के कारण सामाजिक सेवाओं पर व्यय, स्वतन्त्रता पूर्व की स्थिति की तुलना में बहुत अधिक बढा है, लेकिन देश के आकार और देश की जनसख्या को देखते हुए स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती । बढती हुई आर्थिक समस्याओं के कारण अब जनता की करदेय क्षमता समाप्त हो चुकी है ।

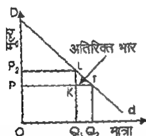
(iv) कर-प्रणाली दोषपूर्ण है । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो में उचित सन्तुलन न होने से कर-प्रणाली न्यायसगत नहीं है । भारत में अधिकाश कर प्रतिगामी (Regressive) है अत एक ओर सरकार को आय की प्राप्ति कम होती है, दूसरी ओर कर-भार समाज के निर्धन वर्ग को अधिक सहन करना पडता है ।

भारत में करदेय क्षमता की अन्तिम सीमा दूर है और अतिरिक्त करारोपण का काफी क्षेत्र विद्यमान है, उनका तर्क है कि—

(i) भारत में धन वितरण बहुत अधिक असमान है। सार्वजनिक व्यय का अधिकांश भाग सामाजिक कल्याण और आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय किया जा रहा है मुद्रा-स्फीति दशाएँ विद्यमान हैं जिनसे लोगों को लाभ और रोजगार के काफी अवसर प्राप्त हो रहे हैं आदि। इसी तत्त्व से प्रभावित हो कर जाँच आयोग ने कहा था कि—"यदि कर प्राप्तियों का वस्तुत समाज सेवाओं के विस्तार और आर्थिक विकास में उपयोग किया गया और इसकी स्पष्ट रूप मे कदर की गई तो सामर्थ्य मे अवश्य वृद्धि होगी। आयोग द्वारा बताई गई स्थिति स्पष्ट रूप से वही है जो आज भारत में गठित हो रही है।'

(ii) देश में कुल राष्ट्रीय आय में करारोपण का जो प्रतिशत है (12% के लगभग) वह फिलिपाइन्स, ब्राजील, क्यूबा, श्रीलंका, मिस्र आदि राष्ट्रों के प्रतिशत से कम है। भारत का आर्थिक स्तर इतना गिरा हुआ नहीं है। अत देश में करारोपण का स्तर अभी बहुत नीचा है और नए-नए कर लगाने की काफी गुंजाइश है। यह कहना उचित नहीं है कि भारत में करारोपण का प्रतिशत कुल राष्ट्रीय आय में पर्याप्त है तथा जनता की करदेय क्षमता अन्तिम सीमा तक नहीं पहुँच पाई है। बहुत बडी संख्या में ऐसे लोग हैं जो कर-अपवंचन कर रहे है।

(iii) क्लार्क का विचार है कि करारोपण की सुरक्षित ऊपरी सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का 25 प्रतिशत भाग होती है जबकि भारत मे अभी करारोपण राष्ट्रीय आय का प्रतिशत पूरा नहीं कर पाई है। अत देश में अभी काफी हद तक निरपेक्ष करदेय क्षमता विद्यमान है।



करो का अतिरिक्त भार (Excess Burden of Taxation)—करो के अतिरिक्त भार का तात्पर्य करों की कुशलता है। यदि करो का अतिरिक्त भार ज्यादा है तो कर अकुशल होते है अथवा नहीं। यह करो द्वारा उपभोक्ता बचत की हानि का वह भाग है जो करो से राजकीय आय में वृद्धि से अधिक होता है।

चित्र के अनुसार कर लगाने से वस्तु की कीमत P_1 से बढकर P_2 हो जाती है। P_1 कीमत पर उपभोक्ता की बचत P_1 TD क्षेत्र के बराबर होती है। कर लगाने से कीमत बढ जाने पर उपभोक्ता की बचत घटकर P_2 LD क्षेत्र के बराबर हो जाती है। $P_1 P_2$ LT क्षेत्र उपभोक्ता के बचत की हानि को दर्शाता है। कर लगाने से राजकीय आय मे वृद्धि होती है जो कि $P_1 P_2$ LK क्षेत्र के बराबर है। छायांकित क्षेत्र KLT उपभोक्ता के बचत की हानि के उस भाग का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी कोई भरपाई नहीं होती है। यह कर का अतिरिक्त भार है। करो के अतिरिक्त भार को निम्न विधि से नापा जाता है—

EB= (1/2 E + 2PQ) E = माँग की लोच

t = कर की दर

P = कर से पहले की कीमत

Q = कर से पहले की माग की मात्रा

जिस वस्तु की माँग लोच बेलोचदार होगी उसमे करों से अतिरिक्त भार पैदा नहीं होगा एव जैसे-जैसे माँग अधिक लोचदार होती जाती है, अतिरिक्त भार भी बढ़ता जाता है।

निष्कर्ष यह है कि करदेय क्षमता का विचार सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनों रूपो से महत्त्वपूर्ण है। करदान क्षमता का विचार सन्तुलित बजट के विचार का आधार है। यह बजट की सीमाओं का निर्धारण करता है। सापेक्ष करदेय क्षमता का विचार कर-भार के विभाजन में समानता के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है।

15

घाटे की वित्त व्यवस्था
(Deficit Financing)

किसी देश की केन्द्रीय सरकार जिन साधनो से अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है उनमे कर राजस्व और गैर-कर राजस्व का सर्वोपरि स्थान है। इन चालू आगमो से पर्याप्त आय प्राप्त न होने पर सार्वजनिक ऋण घाटे की वित्त व्यवस्था एव बाह्य सहायता आदि साधनो से पूर्ति की जाती है। इसे घाटे की व्यवस्था कहते है। प्रस्तुत अध्याय में घाटे की वित्त व्यवस्था का अध्ययन करेंगे तथा राजस्व व्यवस्था मे इसके महत्त्व पर प्रकाश डालेगे।

सार्वजनिक वित्त का यह सामान्य सिद्धान्त है कि सरकार बजट निर्माण करते समय पहले व्यय का अनुमान लगाती है और उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त करने के प्रयास करती है। पहले आय से अधिक व्यय करना सरकार की अयोग्यता और अपव्यय की नीति का द्योतक था किन्तु आधुनिक काल मे ऐसा नहीं समझा जाता। घाटे की पूर्ति सचित कोष मे से राशि निकाल कर और इससे काम न चलने पर केन्द्रीय बैको से ऋण लेकर व नोट छपवाकर की जाती है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मे व्यय-पूर्ति के लिए अत्यधिक नोट छापे गए जिसका परिणाम मुद्रा प्रसार हुआ। फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे बढ गए और सरकारो के घाटे बढते गए।

घाटे की वित्त व्यवस्था का अभिप्राय
(Meaning of Deficit Financing)

जब सरकार का व्यय आय से अधिक हो जाता है और इस घाटे की पूर्ति के लिए जो वित्तीय व्यवस्था अपनाई जाती है उसे घाटे की वित्त व्यवस्था कहा जाता है। इस घाटे को अनेक प्रकार से पूरा किया जा सकता है जैसे—विदेशो से ऋण लेकर आन्तरिक ऋण लेकर एव नोट छापकर लेकिन आय और व्यय की इस खाई को किस प्रकार पूरा किया जाए इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। घाटे की वित्त व्यवस्था शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जाता है। पश्चिमी देशो मे इसका अर्थ है— राजस्व प्राप्तियों की तुलना मे सरकार द्वारा व्यय की (जिसमे पूँजीगत व्यय भी सम्मिलित है) अधिकता चाहे इस व्यय की पूर्ति ऋणो द्वारा उपलब्ध प्राप्तियो से ही क्यो न की जाए। इस परिभाषा के अनुसार यदि बजट के घाटे की पूर्ति ऋणो द्वारा की जाए तो उसे घाटे की वित्त व्यवस्था ही माना जाता है। अमेरिका मे घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ सार्वजनिक ऋण से लिया जाता है। डॉ वी के आर वी राव ने इसे भली प्रकार समझाते हुए कहा है घाटे की वित्त व्यवस्था का पश्चिमी देशो मे प्रयोग उस वित्तीय प्रबन्ध के लिए किया जाता है जिससे सार्वजनिक-आय और सार्वजनिक-व्यय के मध्य जान-बूझकर रखे गए अन्तर अथवा बजट घाटे को पूरा किया जाता है। ऋण की ऐसी व्यवस्था की जाती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय स्रोत मे वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि ऋण द्वारा बैको अथवा निजी व्यक्तियो के पास बेकार पडे धन का उपयोग होने लगता है अथवा नवीन जमा का बैको के पास निर्माण सरकारी प्रतिभूतियो के कार्यरूप मे होता है। स्पष्ट है कि पश्चिमी राष्ट्रो मे सार्वजनिक ऋण द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था की जाती हो किन्तु इसका परिणाम मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करना है। यह वृद्धि व्यर्थ पडे धन को उपयोग मे लाने से हो या बैकों द्वारा साख निर्माण करने से हो।

भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ है कि सरकार अपने व्यय से अधिक नोट छापकर या केन्द्रीय बैक से ऋण लेकर पूरा करे। इसके लिए जनता से अथवा अन्य बैको से ऋण नहीं लिया जाता। भारतीय योजना आयोग ने घाटे की वित्त व्यवस्था की भारतीय स्थिति को स्पष्ट किया है कि—

घाटे की वित्त व्यवस्था शब्द बजट घाटे द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय मे प्रत्यक्ष वृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। ये घाटे चाहे आय खाते से सम्बन्धित हो अथवा पूँजी खाते से। ऐसी नीति अपनाने का सार यही होता है कि सरकार अपनी उस आय से अधिक मात्रा मे व्यय करती है जो उसे करारोपण सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त आय जनता से प्राप्त ऋण तथा अन्य मदो से उपलब्ध होती है। सरकार इस घाटे की पूर्ति या तो अपने संचित शेषो (Accumulated Balances) को काम मे लेकर करती है अथवा बैंको से उधार लेकर करती है।

भारत सरकार को बजट मे घाटे की पूर्ति के लिए कहीं से रकम नही मिल पाती तब वह अपनी प्रतिभूतियाँ या ऋण पत्र रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर देती है। इन प्रतिभूतियो अथवा ऋण-पत्रो के बल पर रिजर्व बैंक और अधिक मुद्रा जारी कर देती है दूसरे शब्दो मे नोट छापकर सरकार को देती है। इससे नई मुद्रा का निर्माण होता है। जब इस अतिरिक्त निर्मित पत्र-मुद्रा से सरकार अपने घाटे की पूर्ति कर बजट कार्यक्रमो को पूरा करती है तो यह घाटे की वित्त व्यवस्था कहलाती है। डॉ राव ने घाटे की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध मे कहा है कि जब सरकार जान बूझकर किसी उद्देश्य मे अपनी आय से अधिक व्यय करे और अपने घाटो की पूर्ति किसी ऐसी विधि से करे जिससे देश में मुद्रा की मात्रा बढे तो उसे घाटे की वित्त व्यवस्था ही कहना चाहिए।

निष्कर्ष रूप मे घाटे की वित्त व्यवस्था की पश्चिमी व भारतीय विचारधाराओं मे अन्तर यह है कि पुराने पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार इसका अभिप्राय सरकार द्वारा चालू राजस्व की तुलना मे किए जाने वाले अतिरिक्त व्यय या उस व्यय से है जिसे वित्तीय उधार लेकर किया जाता है। भारतीय दृष्टिकोण से इसका अर्थ सरकार की चालू प्राप्तियो की तुलना मे किए जाने वाले अतिरिक्त व्यय से है चाहे ये प्राप्तियाँ करारोपण अथवा राजस्व की अन्य प्राप्तियो के रूप मे हो या बाजार से उधार लेना आदि के रूप मे तथा केन्द्रीय बैंक से उधार द्वारा व सरकार के नकदी शेषो को कम करके।

घाटे की वित्त व्यवस्था मे दो संकेत मिलते है—

(i) सरकार जान-बूझकर बजट मे घाटा उत्पन्न करती है एव

(ii) देश मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था और घाटे के बजट मे अन्तर

(Deficit Financing and Deficit Budget)

घाटे की वित्त व्यवस्था और घाटे के बजट दो अलग अलग स्थितियाँ है। शब्द साम्य होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से दोनो मे अन्तर है हालांकि दोनो के मध्य समानता भी है क्योंकि दोनो को जोड़ने वाला आधार एक ही है।

सरकार के बजट का आय व्यय बराबर होता है तो उसे सन्तुलित बजट (Balance Budget) कहा जाता है। इसके विपरीत बजट मे विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होने वाली आय विभिन्न मदो पर किए जाने वाले व्यय की तुलना मे कम दिखाई जाती है। ऐसे बजट को घाटे का बजट (Deficit Budget) कहा जाता है। जब सार्वजनिक व्यय की मद सार्वजनिक आय से कम होती है तो उसे बचत का बजट (Surplus Budget) कहते है। बजट घाटे को पूरा करने के लिए जब सरकार अन्य साधनो का सहारा न लेकर अधिक नोट छापती है जिससे देश के मुद्रा परिमाण मे वृद्धि हो जाती है तब इसे घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) कहा जाता है। घाटे का बजट यदि एक आर्थिक स्थिति का निरूपण है तो घाटे की वित्त व्यवस्था उस स्थिति को दूर करने के व्यावहारिक साधन का रूप है।

घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्य एव प्रभाव

(Objectives and Effects of Deficit Financing)

उद्देश्य (Objectives)

घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय ससार के विभिन्न देशो मे भिन्न भिन्न समयो पर प्राय चार उद्देश्यो के लिए लिया गया है—

1 **मन्दी काल के दुष्परिणामो को दूर करने के लिए**—औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो में विशेषकर सयुक्तराज्य अमेरिका मे मन्दी के प्रभावो को दूर करने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लिया गया है।

2. निजी विनियोजन की कमी को दूर करने के लिए—जब देश मे निजी विनियोजन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं होता है और इस विनियोजन की कमी होने से उत्पादन क्रिया तेजी से नहीं चलती तो सरकार अधिक नोट छापकर या उधार लेकर स्वय सामान्य आय से अधिक व्यय कर सकती है ताकि निजी विनियोजन की कमी दूर हो जाए।

3. युद्धकालीन व्यय की पूर्ति के लिए—उत्पादन की हुई नई मुद्रा का उपयोग युद्ध की लागतों की आशिक वित्त व्यवस्था करने के लिए एव वस्तुओं व सेवाओं को अन्य उपयोगों से हटाकर युद्ध परिवर्तनो की ओर उन्मुख करने के लिए किया जा सकता है।

4. आर्थिक विकास के लिए—विकासशील देशो मे आर्थिक विकास के लिए विशाल कार्यक्रम बनाए जाते है जिन्हें पूरा करने के लिए उनके पास पर्याप्त साधन नहीं होते। ऐसी स्थिति मे इन विकास योजनाओं का अर्थ प्रबन्धन के लिए और आर्थिक विकास को तीव्र गति देने के लिए सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लेती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रभाव (Effects)

हमें यह देखना है कि क्या घाटे की वित्त व्यवस्था सदैव स्फीतिजनक होती है ? घाटे की वित्त व्यवस्था का उद्देश्य चाहे कुछ भी हो इससे देश मे मुद्रा की मात्रा अवश्य बढ जाती है जिससे मूल्यों में वृद्धि होने लगती है। विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है तथा पूँजी का निर्माण होता है। घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ-प्रबन्धन से प्रचलन में मुद्रा की मात्रा बढ जाने से अर्थव्यवस्था में स्फीतिजनक परिणाम उत्पन्न हो जाते है। ऐसा सदैव हो यह अनिवार्य नहीं है। स्फीति प्रारम्भ होना इस पर निर्भर करती है कि किस उद्देश्य के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग किया गया है।

1 मन्दी काल मे घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing during the Period of Depression)—मन्दी काल में घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति अत्यन्त सफल होती है। इस समय माँग बडी तेजी से गिरती है तथा लोगो के पास क्रय-शक्ति का अभाव होता है। परिणामस्वरूप उत्पादन और रोजगार मे उत्तरोत्तर कमी होती चली जाती है। कीन्स (Keynes) का यह मत सर्वथा उपयुक्त है कि मन्दी काल मे प्रभावपूर्ण माँग (Effective Demand) में कमी आ जाने से रोजगार (Employment) में गिरावट आती है जिससे उत्पादन से माँग पुन गिरती है। जब माँग कम हो जाती है तो उत्पादक पहले से कम उत्पादन करते है फलस्वरूप रोजगार और अधिक गिर जाता है। यह कमी का दुष्चक्र (Vicious Circle) बन जाता है। प्रभावपूर्ण माँग और रोजगार के निरन्तर गिरने से यह चक्र पोषित होता है।

समाज की इस दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने का एक ही उपाय है कि सार्वजनिक व्यय द्वारा उत्पादन क्रिया को गति प्रदान की जाए। सरकारी व्यय रोजगार सम्भाव्यता बढाने में एव लोगों के हाथो मे क्रय-शक्ति की मात्रा बढाने में सहायक होता है। सार्वजनिक व्यय से कमी के दुष्चक्र को तोडा जा सकता है माँग और रोजगार मे वृद्धि की एक क्रमिक श्रृंखला आरम्भ की जा सकती है। बढी हुई क्रय शक्ति से समाज मे माँग पैदा होती है माँग के बढने से उत्पादन प्रोत्साहित होता है। सरकार द्वारा उत्पादन वृद्धि से प्रोत्साहित होकर निजी उद्यमी भी उत्पादन बढा देते है जिससे रोजगार और माँग बढती है। इस तरह मन्दी काल की गिरावट के विरुद्ध वृद्धि का एक चक्र प्रारम्भ हो जाता है और देश मन्दी काल के दोषो से मुक्ति पाता है। सक्षेप मे राष्ट्रीय आय कुल माँग तथा रोजगार को ऊँचे स्तर पर बनाए रखने मे सरकारी व्यय एक सन्तुलन कारक का कार्य करता है लेकिन सरकारी व्यय की वृद्धि के लिए साधारण स्रोतो से आय प्राप्त नहीं हो पाती अत इस स्थिति में हीनार्थ-प्रबन्धन ही एक ऐसा साधन है जो उपयोगी हो सकता है। दूसरे शब्दों मे, सरकारी व्यय उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति में केवल तभी सफल हो सकता है जब उसकी वित्तीय व्यवस्था घाटे के द्वारा की जाए ताकि उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा या समाज के कुल व्यय किए जाने वाले धन मे वृद्धि हो सके ताकि माँग और रोजगार में भी वृद्धि हो सके।

उपरोक्त स्थिति के विपरीत यदि मुद्रास्फीति की अवस्था मे घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लिया जाता है तो स्फीतिकारक दशाओं से इसे और प्रोत्साहन मिलता है।

2. युद्धकाल में घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing during War Period)—युद्धकाल में बढ़े हुए सरकारी व्ययों की पूर्ति जब अन्य साधनों से नहीं होती तो सरकार के पास यही उपाय शेष रहता है कि वह घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय ले। इसका प्रभाव यह होता है कि वस्तुओं और सेवाओं के अन्य उपयोग को यह युद्धोन्मुख बना देती है। युद्धकाल में अतिरिक्त मुद्रा निर्माण करने का लाभ इसमें निहित है कि हीनार्थ प्रबन्धन से वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ़ जाते हैं जिससे आधारभूत आवश्यकताओं के लिए उन्हें सरलता से प्राप्त कर सकती है।

यह कहा जाता है कि युद्धकाल में किए गए हीनार्थ प्रबन्धन से गम्भीर स्फीतिकारक प्रभाव उत्पन्न होते हैं क्योंकि सरकार द्वारा युद्ध के लिए सामान और सेवाएँ प्राप्त करने से क्रय शक्ति अधिक मात्रा में जनता के पास चली जाती है तथा युद्ध काल में युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन को प्राथमिकता दी जाती है न कि जनता के उपभोग के लिए। इसका प्रभाव यह होता है कि एक ओर क्रय शक्ति बढ़ने से माँग में वृद्धि होती है दूसरी ओर युद्ध की आवश्यकताओं के पदार्थों के उत्पादन से सामान्य उत्पादन गिरता है और पूर्ति कम हो जाती है। इससे प्रतीत होता है कि घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण बहुत अधिक महँगाई बढ़ जाती है।

3. आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing for Economic Development)—विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में सुप्त और अविकसित साधनों का विदोहन करके आर्थिक विकास करने हेतु विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है। इस आवश्यक पूँजी की प्राप्ति के लिए जब अन्य आगम स्रोतों से काम नहीं चलता तो हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लिया जाता है। सरकार नोट छापकर विकास योजनाओं पर व्यय करती है। नई मुद्रा के सृजन से समाज में क्रय शक्ति का प्रसार होता है। समाज में नई माँग पैदा होती है यदि यह वस्तुओं की पूर्ति के बराबर हो तब स्फीति का कोई भय नहीं रहता किन्तु व्यवहार में होता यह है कि वस्तु की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम रहती है। फलस्वरूप हीनार्थ प्रबन्धन के तत्कालीन प्रभाव से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रवृत्ति को निम्न बिन्दुओं में स्पष्ट किया गया है।

(i) विकासशील देशों में लोगों के रहन-सहन का स्तर नीचा होता है अत अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति क्रय-शक्ति बचाने के स्थान पर व्ययशील हो जाती है और इससे अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कुल क्रय-शक्ति में और वृद्धि हो जाती है।

(ii) विकासशील देश में तत्कालीन उपलब्ध सहायता उत्पन्न सुविधाओं का पहले से ही पूर्ण उपभोग किया जा चुका होता है अत हीनार्थ प्रबन्धन के फलस्वरूप क्रय-शक्ति में होने वाली वृद्धि नहीं होती।

(iii) विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में सृजित मुद्रा का अधिकांश भाग उन दीर्घकालीन योजनाओं पर लगाया जाता है जिनसे दीर्घकाल के बाद प्रतिफल प्राप्त होते हैं। फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि (समाज में क्रय-शक्ति का प्रसार) वर्तमान समय में होती है जबकि उस व्यय के कारण उत्पादन में वृद्धि काफी समय बाद होती है

(iv) विकासशील देशों में विदेशी विनिमय की शून्यता रहती है अत विदेशों से उपभोग की वस्तुओं का अधिक मात्रा में आयात नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त घटकों से एक ओर तो अर्थव्यवस्था में क्रय-शक्ति का प्रसार होता है और दूसरी ओर उत्पादन या आयात में उतनी वृद्धि नहीं हो पाती। परिणाम यह होता है कि मुद्रास्फीतिजनक दबाव बढ़ जाते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि—(क) विनियोग और उसके प्रतिफल के मध्य समय का अन्तर जितना अधिक होगा स्फीति की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी एवं (ख) वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति में जितना अधिक असन्तुलन होगा वस्तुओं की कीमत में उतनी ही अधिक वृद्धि होगी।

विकासशील देशों में मुद्रास्फीति के प्राय बड़े विनाशकारी परिणाम प्रकट होते हैं जैसे—देश में सम्पत्ति का वितरण अधिक असमान हो जाता है लोगों में सट्टे की प्रवृत्तियाँ बल पकड़ती हैं बचतें हतोत्साहित होती हैं विदेशी मुद्रा कोष कम हो जाता है और विदेशी बाजारों में देश की साख गिर जाने का गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जाता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में स्फीतिकारक दशाओं से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और आर्थिक विकास के लिए किए गए प्रयत्न बेकार हो जाते हैं। घाटे की वित्त व्यवस्था से पैदा होने वाली मुद्रास्फीतिजनक स्थितियाँ निश्चय ही खतरनाक होती हैं। इस

स्थिति मे मुद्रास्फीति सम्बन्धी दबाव रूप मे तब परिणत होती है जब उन्हे राजकोषीय साधनो प्रत्यक्ष नियन्त्रण एव आयात आधिक्य द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता।

घाटे की वित्त व्यवस्था के फलस्वरूप जो मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव उत्पन्न होते है उन्हें सरकार निम्नलिखित उपायों द्वारा समाप्त कर सकती है—

(i) उन उत्पादन कार्यों पर व्यय किया जाए जिनसे उत्पादन वृद्धि साथ-साथ हो।

(ii) लोगो की बढी हुई क्रय-शक्ति को करो अनिवार्य बचतो सार्वजनिक ऋण आदि उपायों से कम किया जाए।

(iii) खाद्यान्न वस्त्र आदि आवश्यक उपयोग की पूर्ति मे वृद्धि की जाए ताकि उनका मूल्य अधिक न बढ पाए।

(iv) साख के विस्तार पर मौद्रिक नियन्त्रण लगाया जाए पूँजीगत वस्तुओं व उपभोग वस्तुओं की मुद्रा में विदेशी सहायता से वृद्धि की जाए।

(v) वस्तुओं के वितरण और यातायात पर नियन्त्रण किया जाए तथा राशनिग लागू किया जाए ताकि मूल्य वृद्धि कम हो।

(vi) जनता से अपील की जाए कि वह दैनिक व्यय को यथासम्भव कम करते हुए अपनी बचते बढाए।

इन विभिन्न तरीको से यह प्रभाव उत्पन्न होगा कि समाज की वर्तमान अतिरिक्त क्रय शक्ति सरकार के पास रह जाएगी जिससे मुद्रास्फीति कम हो जाएगी एव वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि होगी जिससे उनका मूल्य नहीं बढ पाएगा।

इस सम्पूर्ण विवरण से प्रकट है कि घाटे की वित्त व्यवस्था मुद्रास्फीतिजनक शक्तियों को उत्पन्न करेगी या नहीं करेगी यह विभिन्न बिन्दुओं पर निर्भर होगा जैसे—(क) वह उद्देश्य जिसके लिए हीनार्थ प्रबन्धन अपनाए गए है (ख) हीनार्थ प्रबन्धन की मात्रा व सीमा एव (ग) मुद्रा-स्फीतिक प्रभावो को रोकने के लिए अपनाए गए उपाय।

हीनार्थ प्रबन्धन से सदा मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-स्फीति के प्रभाव दिखाई दे यह आवश्यक नहीं है। लोक व्यय के उत्पादन होने पर यह प्रभाव प्राय समाप्त हो जाते है लेकिन जब तक लोक व्यय के फल प्राप्त नहीं होने लगते है तब तक मूल्य वृद्धि अवश्य होती रहती है। वस्तुत उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए और आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए कुछ सीमा तक मूल्य वृद्धि ठीक है किन्तु तीव्र मूल्य वृद्धि से परिणाम अवश्य घातक होते है। अन्त मे हम डॉ राव के इन शब्दो से सहमति प्रकट कर सकते है कि— घाटे का अर्थ प्रबन्धन अपने-आप मे न अच्छा है और न बुरा है और न ही घाटे के अर्थ प्रबन्धन मे मुद्रा-स्फीति स्वभावत निहित है।

घाटे की वित्त व्यवस्था किस सीमा तक अपनाई जाए ?

हीनार्थ प्रबन्धन के गम्भीर परिणामो को देखते हुए इसके महत्त्व की उपेक्षा नही की जा सकती। एक बडे लोक-आगम की पूर्ति करारोपण द्वारा नहीं हो सकती और सार्वजनिक ऋण एक सीमा तक ही प्राप्त किए जा सकते है। सकटकाल मे सार्वजनिक ऋण और असुविधापूर्ण हो जाते है। अत सार्वजनिक आगम की कमी को पूरा करने के लिए अन्तिम साधन के रूप मे हीनार्थ प्रबन्धन का प्रयोग कर सकटकालीन परिस्थितियो मे अथवा अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियो मे सरकार आर्थिक उद्धार हेतु कर सकती है। आवश्यकता केवल यह है कि नियत्रित रूप से इसका सचालन किया जाए।

प्रश्न यह उठता है कि हीनार्थ प्रबन्धन कहाँ तक अपनाया जाए अथवा इसकी सुरक्षित सीमा क्या हो ? एक समय विशेष मे अर्थव्यवस्था एक निश्चित मुद्रा तक हीनार्थ प्रबन्धन को सहन कर सकती है और इसके बाद मुद्रा प्रसार के प्रभाव दिखाई देने लगते है। यद्यपि मुद्रा के चलन-वेग उपभोग की प्रवृत्ति अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों आदि के कारण यह कठिन है कि किस सीमा विशेष मे हीनार्थ प्रबन्धन की सीमा कम होगी लेकिन हीनार्थ प्रबन्धन वहीं तक होना चाहिए जहाँ तक अर्थव्यवस्था स्थिर रहे तथा मुद्रा प्रसार का प्रभाव उत्पन्न न हो। स्फीतिक सम्भावनाए व्यय की प्रकृति अतिरिक्त क्रय-शक्ति को बटोरना (Mopping up Additional Money) अतिरिक्त क्रय-शक्ति को निष्क्रिय

करना (Sterlisation of Additional Money), अमौद्रिक अर्थव्यवस्था, जनता की मनोवृत्ति आदि बातें वित्त व्यवस्था की सुरक्षित सीमा का काफी हद तक निर्धारण करती हैं। वित्त व्यवस्था की सीमा विकास की आवश्यकता और उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर नियंत्रण करने की क्षमता पर निर्भर करती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग अर्थव्यवस्था में नियमित भोजन के तौर पर नहीं वरन् दवाई के तौर पर किया जाए।

भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था
(Deficit Financing in India)

भारत एक विकासशील देश है जहाँ आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए करारोपण और आय के अन्य साधनों से वांछित लोक-आगम की पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती। अतः लोक-व्यय और लोक-आगम के अन्तर को भारत सरकार हीनार्थ प्रबन्धन या घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा अतिरिक्त क्रय-शक्ति प्राप्त कर पूरा करने का प्रयास करती है। भारत में योजना आयोग ने हीनार्थ प्रबन्धन को विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए 'जादुई चिराग' समझ कर अपनाया है।

एण्डले, सुन्दरम् एवं अग्रवाल ने लिखा है—"घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय कहाँ तक लिया जाना चाहिए, इसका निश्चय अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को दृष्टिगत रख कर किया जाता है और योजनाओं में इसके लिए उचित सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है। घाटे की वित्त-व्यवस्था ऐसे किन्हीं वास्तविक साधनों (Real Resources) को उत्पन्न नहीं कर सकती जिनका अर्थ-व्यवस्था (Economy) में अस्तित्व न हो। यह केवल एक उपाय है जो सरकार की ओर से साधनों के स्थानान्तरण में सहायता करता है। आर्थिक विकास के लिए जिन वास्तविक साधनों की आवश्यकता होती है वे सामग्री (Materials), साजसज्जा (Equipment), चातुर्य (Spire) और श्रम (Labour) आदि होते है। ये चीजें नोट छाप कर या बैंक से उधार लेकर उत्पन्न नहीं की जा सकती। घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) सरकार को धन उपलब्ध कराती है जिसका उपयोग आवश्यक वास्तविक साधनों को प्राप्त करने में किया जा सकता है, बशर्ते कि वे देश में उपलब्ध हों तथापि एक सीमा ऐसी होती है जिसको लाँघ कर यदि घाटे का व्यय किया जाए।यह अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होता है, इससे कीमतों में स्फीतिजनक वृद्धि (Inflationary Rise) होने लगती है और घाटे का व्यय बहुत अधिक हो जाता है, मुद्रा से जनता का विश्वास उठ जाता है। इस स्थिति में घाटे की वित्त-व्यवस्था के प्रभाव अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी होते है।"

भारत सरकार और राज्य सरकारें लगातार घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेती रही हैं। यह व्यवस्था आर्थिक विकास की गति को तेज करने में सहायक हुई है लेकिन इसके अनेक ऐसे कुप्रभाव प्रकट हुए हैं जिनके कारण योजनाओं का सुफल अपेक्षित मात्रा में जनता को सुलभ नहीं हो सका है। भारत में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में घाटे की व्यवस्था का स्वरूप निम्न सारिणी से स्पष्ट है—

क्र. सं.	योजना	घाटा (करोड़ रुपयों में)
1.	प्रथम पंचवर्षीय योजना	330
2.	द्वितीय पंचवर्षीय योजना	950
3	तृतीय पंचवर्षीय योजना	1150
4	तीन एक-वर्षीय योजनाएँ (1966-69)	682
5.	चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	2060
6	पंचम पंचवर्षीय योजना	1350
7.	छठी पंचवर्षीय योजना	5000
8.	सातवीं पंचवर्षीय योजना	14,000
9.	आठवीं पंचवर्षीय योजना	15,000

प्रथम योजना काल मे घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ प्रबन्धन की पद्धति को अपनाया गया क्योकि देश के आन्तरिक साधनो तथा बाह्य सहायता से योजना की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करना सम्भव नहीं था।

द्वितीय योजना काल मे विभिन्न कारणो से मौद्रिक स्फीति के चिह्न प्रारम्भ से प्रकट हो गए और वस्तुओं के मूल्यो मे तेजी से वृद्धि हुई। मुद्रा स्फीतिक परिस्थितियो से विवश होकर घाटे की वित्त व्यवस्था की लगाम ढीली नही छोडी जा सकी।

तृतीय योजना काल में मुद्रा प्रसार के प्रभावो से आशकित होकर प्रारम्भ मे केवल 550 करोड रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन की व्यवस्था की गई लेकिन हुआ यह कि विभिन्न सकटो और मुख्यत बढते हुए प्रतिरक्षा व्यय के कारण हीनार्थ प्रबन्धन की वास्तविक धनराशि मूल अनुमान की तुलना में दुगुने से अधिक रही। अतिरिक्त करो के भारी बोझ जनता पर डाले गए।

चतुर्थ योजना काल मे यह प्रस्तावित किया गया कि योजना मे न्यूनतम स्तर पर घाटे की वित्त व्यवस्था की जायेगी। पाँच वर्षों (1969 70—1973 74) मे कुल 850 करोड रुपये की नई मुद्रा जारी की जायेगी लेकिन हुआ यह कि वास्तव मे कुल बजट घाटा 2060 करोड रुपये से अधिक रहा। इसके कुछ मुख्य कारण थे—बाग्लादेश के स्वतन्त्रता सग्राम मे भारत का सक्रिय योगदान 1971 मे भारत-पाक युद्ध निरन्तर परिवर्तनशील खाद्य नीति 1971 72 और 1972 73 मे निराशाजनक कृषि उत्पादन तेल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे लगभग तिगुनी वृद्धि आदि।

पाँचवीं योजनावधि मे 1000 करोड रु के हीनार्थ प्रबन्धन का प्रावधान किया गया था। यह योजना 4 वर्षों मे समाप्त कर दी गई और इन चार वर्षों मे 2584 करोड रु का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ। सामान्य कीमतो में 1973 74 मे ही लगभग 20 से 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना के लागत व्यय मे अप्रत्याशित वृद्धि ने सरकार को काफी अधिक घाटे की वित्त व्यवस्था के लिए मजबूर किया।

1979 80 के बजट मे 2700 करोड रु का घाटा दिखाया गया। इस प्रकार 5 वर्षों मे कुल मिलाकर 5284 करोड रु का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ।

छठी पचवर्षीय योजना (1980 85) मे हीनार्थ प्रबन्धन की राशि 5000 करोड रुपये अनुमानित की गई किन्तु प्रथम चार वर्षों मे क्रमश 1975 करोड रु 1700 करोड रु 1935 करोड रु और 1965 करोड रु का घाटा रहा। 1984 85 के बजट मे घाटा 1762 करोड रु का दिखाया गया था। इस प्रकार छठी योजना मे अनुमानत 9067 करोड रु के घाटे की वित्त व्यवस्था रही। सातवीं योजनाकाल मे भी बजट घाटे मे निरन्तर वृद्धि हुई।

1985 86 के बजट मे 3349 करोड रु का घाटा अनुमानित किया गया जिसके लिए कोई व्यवस्था नही की गई। 1986 87 मे यह घाटा 3650 करोड रु हो गया। 1988 89 में बजट घाटा 7940 करोड रु रहा। 1992 93 मे बजट घाटा 12312 करोड रु 1993 94 में 1096 करोड़ रु 1994 95 मे 961 करोड रुप 1995 96 मे 9807 रपोड रु 1996-97 मे 6900 करोड़ रु हो गया।

भारत में पिछले वर्षों मे हीनार्थ प्रबन्धन के जो दुष्परिणाम सामने आए है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अब यहाँ घाटे के वित्त प्रबन्ध का आगामी वर्षों मे कोई क्षेत्र नहीं है। फिर भी देश की आर्थिक परिस्थितियो मे विवश होकर सरकार को घाटे के बजट बनाने पड़ रहे है। हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था मे योजना के लिए साधनो की प्राप्ति की दृष्टि से और अर्थव्यवस्था की सुस्ती भगाकर उसे सक्रिय करने के लिए अभी घाटे की वित्त व्यवस्था के उपाय से तुरन्त बच निकलना सम्भव नही है। यदि घाटे के वित्त प्रबन्धन मे अचानक भारी कटौती कर दी गई तो आशका है कि अर्थव्यवस्था मे कुल माँग के घट जाने से सुस्ती की स्थिति (Recessionary Situation) पैदा हो जाएगी। यदि सरकार बहुत सावधानी और सयम के साथ उपयुक्त मात्रा मे हीनार्थ प्रबन्धन का आश्रय कुछ समय तक लेती रहे तब साधनो को गतिशील बनाने की दृष्टि से यह उपाय कारगर हो सकता है। वाछित उद्देश्यो को आघात न लगे और जनता मूल्य वृद्धि से परेशान

न हो, इसके लिए ऐसे समुचित प्रशासनिक और आर्थिक कदम उठाने होंगे जिससे कृत्रिम मूल्य वृद्धि न हो सके और स्फीतिजनक दबाव कम हो जाए।

आवश्यक नहीं है कि हीनार्थ प्रबन्धन के परिणामस्वरूप कीमत स्तर मे वृद्धि हो। यदि नई मुद्रा उत्पादक योजनाओं पर व्यय किया जाए तो रोजगार, उत्पादन तथा बचत का स्तर ऊपर उठ सकता है किन्तु विगत अनुभव बताता है कि हीनार्थ प्रबन्धन ने हमारी अर्थव्यवस्था मे दो स्पष्ट विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं—(अ) मुद्रा की पूर्ति पर गुणक प्रभाव (Multiplier Effect), (ब) कीमत स्तर पर त्वरक प्रभाव (Acceleration Effect)। ऊँची मुद्रा की पूर्ति तथा ऊँचे कीमत स्तर के मिले-जुले प्रभाव ने अर्थव्यवस्था मे दुर्लभ साधनों के बँटवारे में विकृति पैदा कर दी है। द्वितीय योजना मे तो तीव्र विदेशी विनिमय सकट आया था, तीसरी योजना की चतुर्मुखी विफलता, 1966 का अवमूल्यन तथा पचवर्षीय योजना के स्थान पर तीन वार्षिक योजनाओं का चालाना तथा आठवी पचवर्षीय योजना मे घाटे का प्रबन्धन—सब हीनार्थ प्रबन्धन का ही सचयी प्रभाव है।

सरकार हीनार्थ प्रबन्धन के दुष्प्रभाव को रोकने के लिए विभिन्न उपायो का सहारा लेती रही है, जिनमें कुछ मुख्य है—(i) साख का कठोरता से नियन्त्रण, (ii) भौतिक नियन्त्रण (Physical Control), (iii) जनता मे वितरण की पद्धति को मजबूत करना, (iv) बफर स्टॉक रखना (v) गुड, तिलहन तथा खाद्य तेलो मे सट्टे पर रोक, (vi) साधनो के जुटाने मे गैर-स्फीतिजनक उपायों पर बल, तथा (vii) ओवरड्राफ्ट पर अधिक कठोर नियन्त्रण। इन सभी उपायो के बाद दुर्भाग्यवश अपेक्षित परिणाम नही निकले हैं।

निष्कर्ष रूप में, "जितना शीघ्र घाटे की अर्थव्यवस्था और मूल्य वृद्धि चक्र को रोका जाएगा, उतना हमारे स्वस्थ आर्थिक विकास के लिए कल्याणकारी होगा।"

घाटे की वित्त व्यवस्था की सुरक्षित सीमा

घाटे की वित्त व्यवस्था की सुरक्षित सीमा क्या है ? अथवा घाटे की आदर्श मात्रा क्या होगी ? इस पर कभी कोई स्पष्टीकरण सरकार की ओर से नहीं दिया गया। सम्भवत इसकी कोई सीमा-रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती है क्योंकि घाटे की सुरक्षित मात्रा क्या होगी ? मुद्रा की पूर्ति और विस्तार की प्रक्रिया को एक सामान्य आधार माना जा सकता है और इसके अनुसार बजट घाटे का नियोजन किया जा सकता है। भुगतान सन्तुलन शेष जैसे मौद्रिक स्रोत अल्पकाल मे बाह्य तत्वों से प्रभावित होते है। यह शेष (ऋणात्मक अथवा धनात्मक) यदि स्थिर मान लें और गुणक प्रभाव को ध्यान मे रखा जाए तो बजट घाटा इतना होना चाहिए कि मुद्रा की वृद्धि वांछित मात्रा मे हो। यह पाया गया है कि सरकार या रिजर्व बैंक मुद्रा प्रणाली मे 100 करोड रु की वृद्धि बैंकिंग प्रणाली मे प्रचलन के बाद 160 करोड रु की हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा गुणक लगभग 1.6 हुआ। यह सख्या कई ढाँचात्मक प्राचलो से प्रभावित होती है। अब यदि यह मान लिया जाए कि मुद्रा की मात्रा मे 1000 करोड़ रु विस्तार वांछनीय है और यदि भुगतान शेष 200 करोड रु है तो बजट घाटा 400 करोड रु. निश्चित किया जाना चाहिए (1000 करोड रु . 1.6-200 करोड रु.)। यह एक अत्यन्त सरल मॉडल है और नीति-निर्धारण के लिए पर्याप्त है।[1]

16

संघीय वित्त

(Federal Finance)

किसी भी देश मे दो प्रकार की शासन-व्यवस्था हो सकती है—एकाकी (Unitary) और सघीय (Federal) । इसी आधार पर वित्त व्यवस्था को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—

1 एकात्मक वित्त (Unitary Finance) एव

2 सघीय वित्त (Federal Finance) ।

एकात्मक वित्त व्यवस्था मे देश की सारी मदो पर केवल केन्द्रीय सरकार व्यय करती है चाहे उस मद का सम्बन्ध केन्द्र से हो या प्रान्त से । समस्त स्रोतो से प्राप्त होने वाली आय केन्द्रीय सरकार के कोष मे जमा होती है । सघीय वित्त-व्यवस्था में आय और व्यय की समस्त मदो का केन्द्रीय प्रान्तीय और स्थानीय सरकारो के बीच विभाजन कर दिया जाता है । ये तीनो प्रकार की सरकारें अपनी-अपनी मदो पर व्यय करने मे अपने-अपने मदो से आय प्राप्त करने मे पूर्ण स्वतन्त्र होती है । सघीय वित्त-व्यवस्था के अपने कोई ऐसे विशेष सिद्धान्त नहीं है जो उन सिद्धान्तो से भिन्न हो जिनका राजस्व के सिद्धान्त के नाम से पूर्ववर्ती अध्यायो मे वर्णन किया जा चुका है । सघीय वित्त व्यवस्था का सीधा और सरल अर्थ सघ और राज्यो के वित्त तथा दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध से है ।

सघीय व्यवस्था मे कार्यों एव शक्तियो का वितरण

(Distribution of Functions and Powers in the Federal System)

सघीय और राज्य सरकारो मे कार्यों और अधिकारो का विभाजन एक जटिल कार्य है । यह समस्या सरल हो जाती यदि दोनो अधिकारियो के आय के साधनो को उनकी आर्थिक और वित्तीय आवश्यकताओं के अनुकूल अलग-अलग बाँटना सम्भव होता लेकिन सघीय सरकारो के अनुभव से पता चलता है कि ऐसा सम्भव नहीं है ।

सघीय और राज्य सरकारो मे कार्यों का विभाजन ऐसा करना चाहिए जिससे उनमे आपस मे किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता न हो । कुछ कार्य ऐसे होते है जिन्हे सघीय शक्ति द्वारा भली प्रकार सम्पादित किया जा सकता है । इसके विपरीत कुछ कार्य ऐसे होते है जिन्हे राज्य अथवा स्थानीय अधिकारी स्वतन्त्र रूप से अच्छी तरह कर सकते है । कार्यों के वितरण मे मुख्य विचार मितव्ययता (Economy) प्रशासनिक सुविधा (Administrative Convenience) और कार्यकुशलता (Efficiency) की रहती है । कार्यों व अधिकारो के वितरण के इन सिद्धान्तो ने केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण के परस्पर विरोधी दावो को स्पष्ट किया है । सघीय सरकार के अन्तर्गत उन सभी विषयो का प्रशासन सौपा जाता है जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के होते है और सामान्य रूप से सभी राज्यो अर्थात् सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित होते है जैसे—सुरक्षा विदेशी सम्बन्ध राष्ट्रीय सडके करेन्सी व सिक्के बैकिग व बीमा रेलवे डाक व सन्देशवाहन के साधन विदेशी विनिमय और व्यापार राष्ट्रीय निगम आदि के विषय । एकात्मक सरकार मे राज्य सरकारो को वे कार्य ही सौपे जाते है जो स्थानीय और राज्यो की सीमाओं के भीतर रहने वाले नागरिको के लिए तात्कालिक महत्त्व के हो जैसे—कृषि पुलिस शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि । कुछ ऐसे विषय होते है जिनके सम्बन्ध मे सघ सरकार और राज्य सरकारो का सयुक्त प्रशासन आवश्यक हो जाता है जैसे—खाद्य पदार्थो मे मिलावट रोकने के नियम श्रम अधिनियम मूल्य

नियन्त्रण नियम आदि। संघीय राजस्व के सिद्धान्तों के ख्यातिप्राप्त व्याख्याकार डॉ. बी. आर. मिश्रा ने लिखा है कि "संघीय सरकार में वास्तविक कार्यों का बँटवारा बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है। कुछ संघों में अत्यधिक केन्द्रीयकरण होता है जबकि कुछ में अत्यधिक विकेन्द्रीयकरण होता है लेकिन बचत प्रशासन की सुविधा और कार्यकुशलता के सामान्य सिद्धान्त हमारा मार्गदर्शन उस समय करते हैं जब कभी सीमावर्ती विषयों के प्रशासन में कठिनाइयाँ आती हैं।" यह ध्यान रहे कि संघीय वित्त का सम्पूर्ण ढाँचा प्रावैगिक (Dynamic) प्रवृत्ति का है इसलिए कार्यों के वितरण में समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ता है। वितरण में मितव्ययता, प्रशासनिक सुविधा और कार्यकुशलता के अलावा वाछनीयता का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

साधनों का वितरण (Distribution of Resources)

संघ और राज्यों के मध्य कार्यों तथा सेवाओं का बँटवारा होने के बाद यह आवश्यक है कि उनके पास पर्याप्त वित्तीय साधन हों जिनसे इन कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पादित किया जा सके। इस सम्बन्ध में दो समस्याएँ उपस्थित होती हैं—

1. विभिन्न सरकारों में आय के स्रोत किस प्रकार विभाजित किए जाएँ एवं
2. सरकारों की आय और आवश्यकता के बीच सन्तुलन किस प्रकार हो।

1. वित्तीय स्रोतों का विभाजन—साधनों के वितरण के सम्बन्धों में पहली समस्या है कि आय के कौन से साधन केन्द्रीय सरकार को सौंपे जाएँ और कौन से साधन राज्य सरकार को ? वितरण के लिए अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। डॉ. मिश्रा ने लिखा है कि साधनों का विभाजन उन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है जिनके अनुसार कार्यों का वितरण होता है। प्रो. सैलिगमैन ने तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—कार्यकुशलता, उपयुक्तता और पर्याप्तता। उन्होंने लिखा है— चाहे किसी नीति का उद्देश्य कितना ही अच्छा क्यों न हो या वह कितना ही न्यायसंगत क्यों न हो, यदि प्रशासन में व्यय नीति ठीक-ठीक काम नहीं करती तो वह असफल हो जाएगी। डॉ. बी. आर. मिश्रा के अनुसार— कार्यकुशलता और उपयुक्तता की सीमाएँ इस पर निर्भर करती हैं कि करों का आधार विस्तृत या संकुचित रखा जाए। कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि राष्ट्रीय एकरूपता के साथ प्रशासन पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण बना रहे, वहाँ कर का आधार विस्तृत होना चाहिए। जब कर स्थानीय दशाओं के साथ बदलता रहता है और उसको निर्धारित करने के लिए स्थानीय दशाओं के ठीक ज्ञान की आवश्यकता होती है तो वहाँ पर स्थानीय कर अधिक कार्यकुशल होगा। अन्य कर जिनकी प्रकृति कम स्थानीय होती है और जो राष्ट्रीय सरकार द्वारा लगाए जाने के लिए कम उपयुक्त होते हैं क्योंकि उनको लगाने में प्रशासनिक कठिनाइयाँ आती हैं, राज्यों द्वारा लगाए जाने के लिए उपयुक्त होंगी। कार्यकुशलता और उपयुक्तता के सिद्धान्तों के अनुसार एक देश में आय के साधनों को तीन भागों में बाँटा जाता है—संघीय सरकार की आय के साधन, राज्य सरकारों की आय के साधन और आय के समवर्ती साधन जिनमें दी गई सीमाओं के भीतर संघीय और राज्य सरकारें दोनों कर लगा सकती हैं।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत बड़ी स्पष्टता से आय के साधनों को केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच बाँटा गया है। यहाँ इतना जानना पर्याप्त है कि सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र के करारोपण का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दिया गया है और वे कर जिनका आधार स्थानीय है, राज्य सरकारों द्वारा लगाए जाते हैं।

2. वित्तीय समायोजन या वित्तीय साधनों में फेर-बदल (Financial Adjustments)—संघीय शासन प्रणाली में यह आवश्यक है कि संघ और राज्यों अथवा इकाइयों के बीच कार्यों तथा साधनों का विभाजन इस प्रकार किया जाए कि प्रत्येक इकाई आत्मनिर्भर हो सके, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता। यह एक सामान्य अनुभव है कि किसी एक इकाई के कार्यों को पूर्ण करने के लिए आवश्यक व्यय और उनके विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय में समानता नहीं होती। यह सम्भावना सदैव बनी रहती है कि एक राज्य या एक इकाई के पास धन की कमी हो जाए और दूसरे के पास धन का आधिक्य उत्पन्न हो जाए। यह भी अनुभव किया गया है कि आय के एक ही स्रोत से विभिन्न राज्यों को आर्थिक सामाजिक एवं अन्य परिस्थितियों के कारण असमान आय प्राप्त होती है। इन्हीं सभी कारणों का परिणाम

यही होता है कि जब तक केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच समुचित रूप से वित्तीय समायोजन न किया जाए तब तक संघीय शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती। केन्द्र को सम्पूर्ण देश का फिर से चिन्तन करना पड़ता है और वह सभी साधनयुक्त और साधनहीन राज्यों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर उनके बीच यथोचित सामजस्य अथवा फेर-बदल करता है। इस वित्तीय समायोजन अथवा सामजस्य के लिए मुख्यत निम्नांकित उपाय किए जाते हैं—

(क) कर आय का वितरण (Distribution of Tax Yields)—वित्तीय समायोजन का पहला उपाय यही है कि करो से प्राप्त आय का केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच वितरण किया जाता है। ऐसी व्यवस्था को अभिहस्ताकन (Assignment) की विधि कहते हैं जिसके अनुसार संघीय सरकार कर लगाती और एकत्रित करती है तथा प्राप्त आय का विभाजन अन्य सरकारो के बीच किया जाता है। प्राप्त आय का वितरण निम्न तरीको से किया जाता है—

(i) संघीय सरकार आय का प्रतिशत अपने पास रखकर शेष आय राज्य सरकारों में एक निश्चित अनुपात में बाँट दे। उदाहरण के लिए भारत मे आय-कर में होने वाली आय को निश्चित अनुपात से वितरित कर दिया जाता है।

(ii) सम्पूर्ण आय को एक निश्चित अनुपात मे राज्य सरकारों के मध्य बाँट दिया जाए।

(iii) संघीय सरकार के लिए एक निश्चित धनराशि निर्धारित कर दी जाए और शेष धनराशि का विभाजन अन्य राज्य सरकारो के बीच कर दिया जाए।

(iv) संघीय सरकार केवल करो का एकत्रीकरण करे, किन्तु सम्पूर्ण आय का विभाजन राज्य सरकारो के मध्य कर दिया जाए।

राज्य सरकारो के मध्य आय का वितरण कई आधारो पर किया जा सकता है, जैसे (1) जनसख्या के अनुपात मे, (2) क्षेत्रफल के अनुपात मे (3) अन्य स्रोतो से प्राप्त आय के अनुपात में, (4) करदेय क्षमता के अनुसार एव (5) राज्य की औद्योगिक प्रगति के आधार पर। स्मरण रहे कि इनमे से किन्हीं दो या दो से अधिक आधारो को मिलाकर आय का वितरण किया जा सकता है, जैसे—भारत में आयकर की राज्य से एकत्रित की गई राशि और जनसख्या दोनो के सम्मिलित आधार पर विभाजन किया जाता है।

सैद्धान्तिक रूप से अभिहस्ताकन या समर्पण की विधि सरल और न्यायसगत प्रतीत होती है लेकिन व्यवहार मे यह विधि अधिक सफल नहीं होती। इसके कारण निम्न है—

1 जब तक आय प्राप्तकर्त्ता सरकार को स्वय पूरी आय का उपयोग करने की स्वतन्त्रता नहीं होती तब तक वह कर एकत्रित करने मे पर्याप्त रुचि से काम नहीं करती।

2 यदि यह वितरण विभिन्न सरकारो को अन्य स्रोतों से प्राप्त आय के अनुपात में किया जाता है तब कठिनाइयाँ अधिक उत्पन्न हो जाती है, जैसे—कम आय वाली सरकार को कम और अधिक आय वाली सरकार को अधिक हिस्सा मिलेगा। इसके विपरीत यदि कम आय वाली सरकार को अधिक और अधिक आय वाली सरकार को कम हिस्सा दिया जाएगा तब असमानता बढ़ेगी। अधिक आय वाली सरकारें यह पसन्द नहीं करेगी कि उनका अशदान अधिक होते हुए उन्हे कम प्राप्त हो। उदाहरणार्थ भारत मे बम्बई और मद्रास के मामले मे आय-कर के वितरण पर इसी प्रकार की आपत्ति रही है।

3 कर-आय का अधिक भाग प्राप्त करने के लिए कोई राज्य सरकार अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को लापरवाही से एकत्रित करे और आय को कम करने का प्रयत्न करे जिससे सम्पूर्ण देश का अहित होने का भय पैदा हो जाए।

4 अधिकाधिक धन प्राप्त करने के लिए राज्यों मे आपस मे अस्वस्थ होड होने लगती है जिससे राजनीतिक अशान्ति फैल जाती है। विकासशील राज्य अधिक धन की माँग करते है जबकि पिछडे हुए राज्य आर्थिक साधनो का विकास करने के लिए अधिक धन चाहते है। इससे राजनीतिक कटुता का वातावरण व्याप्त होता है। कुछ राज्य अपने अनुकूल आधारो पर वित्तीय वितरण की माँग करते हैं। उदाहरण के लिए भारत मे घनी जनसख्या वाले राज्यो जैसे—उत्तर प्रदेश की माँग रही है कि वित्तीय वितरण की कसौटी जनसख्या को माना जाये जबकि विस्तृत क्षेत्र वाले राज्य माँग करते हैं कि वितरण का आधार क्षेत्र हो।

निष्कर्ष यही निकलता है कि चाहे आय वितरण की कोई विधि क्यों न अपनाई जाये, सभी में कुछ न कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं। वास्तव में कर-आगम वितरण के लिए कोई एक निश्चित फार्मूला नहीं बनाया जा सकता। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कब, किस प्रकार कर-आगम का वितरण किया जाये। विभिन्न राज्यों की विभिन्न आधारों पर अपनी विभिन्न माँगें होती हैं और सभी राज्यों का एक साथ सन्तुलन स्थापित करना टेढ़ी खीर है। इस स्थिति में विभिन्न सरकारों को नैराश्य से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि समय-समय पर विभिन्न राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं की जाँच कराई जाए और इसके लिए एक कसौटी को एकमात्र अथवा अन्तिम आधार न मानकर अन्य तथ्यों को यथाशक्ति ध्यान में रखा जाये ताकि परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ आय-वितरण के हिस्से में परिवर्तन किया जा सके। भारत में वित्तीय आयोग नियुक्त किए जाने की व्यवस्था है जो परिस्थितियों का अध्ययन करके यदि आवश्यक समझता है तो, कर आयोग के वितरण में परिवर्तन के सुझाव देता है।

(ख) अतिरिक्त कर (Supplementary Taxes)—संघ सरकार से प्राप्त होने वाली धनराशि या स्वयं राज्य की आय पर्याप्त न होने की स्थिति में और कर-आय के वितरण की कठिनाई को दूर करने के लिए एक और अन्य विधि का सहारा लिया जाता है जिसे अतिरिक्त कर-व्यवस्था कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब केन्द्र सरकार कोई कर लगाती है तो राज्य सरकारें कर के ऊपर एक अतिरिक्त कर (Surcharge) या विशिष्ट कर (Special Tax) लगाने अथवा इसके विपरीत राज्य सरकार द्वारा लगाए गये करों पर केन्द्रीय सरकार कोई अतिरिक्त या विशिष्ट कर (Surcharge or Special Tax) लगा दे।

अतिरिक्त करारोपण की पहली विधि सरल और उत्तम है, क्योंकि संघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कर की दरें सारे राज्यों में एक-सी होती है जिससे राज्य सरकारें अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार कर की दरें निश्चित कर सकती है। इसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कर का दोहरापन न हो जाए।

आलोचकों का कहना है कि इस प्रणाली से कर-भार अधिक हो सकता है और करदाता इसका बोझ सहन न कर सके अथवा कर की दर इतनी ऊँची हो सकती है जिससे देश के उत्पादन वितरण और बचत पर बुरा प्रभाव पड़ने लगे। यह सम्भव है कि अतिरिक्त कर से कुछ आय कम होने लगे और संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच इस कर से प्राप्त आय के उपयोग के सम्बन्ध में मतभेद हो जाए, क्योंकि प्रत्येक राज्य सरकार अपने लाभ के अनुसार कर लगाने का प्रयत्न करती है। हमारे देश में आय-कर अधिभार इसी विधि के अन्तर्गत लगाया जाता है।

(ग) संघीय आर्थिक सहायता (Federal Grant-in Aid)—विभिन्न राज्यों के बीच वित्तीय सन्तुलन स्थापित करने की अनेक विधियों में यह विधि अपना अलग महत्त्व रखती है। इस विधि के अनुसार केन्द्रीय सरकार अपने कोष में से अन्य सरकारों को निर्धारित आधारों पर और उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के अध्ययन के उपरान्त, उनकी आवश्यकतानुसार यथासम्भव आर्थिक अनुदान प्रदान करती है। इस विधि में निम्नांकित शर्तें ध्यान में रखना अपेक्षित है—

1 इस प्रकार की आर्थिक सहायता की मात्रा विधान के अनुसार निश्चित कर दी जाती है। साधारणतया तुलनात्मक रूप से विकसित राज्यों को कम और पिछड़े हुए राज्यों को अधिक आर्थिक सहायता दी जाती है।

2 ऐसी सहायता शर्त रहित या सशर्त हो सकती है। शर्त रहित सहायता प्रतिवर्ष राज्यों को मिलने वाली सामान्य आर्थिक अनुदान होती है। शर्त सहित या सशर्त अनुदान किन्हीं विशेष कार्यों के लिए दिये जाते है और केन्द्रीय सरकार यह देखती है कि उनका उचित उपयोग हो रहा है अथवा नहीं।

3 ऐसी सहायता 'निरावधि' (Perpetual) और 'सावधि' (Terminable) हो सकती है। निरावधि अनुदानों में केन्द्रीय सरकार तब तक आर्थिक सहायता देती रहती है जब तक परिस्थितियाँ बदल न जाएँ और राज्य सरकारों को ऐसे अनुदानों की आवश्यकता न रह जाए। सावधि अनुदान कुछ समय के लिए दिये जाते हैं।

4 संघीय अनुदानों का उद्देश्य राज्यों द्वारा प्राप्त अपर्याप्त आय की कमी को पूरा करना और विभिन्न राज्यों की वित्तीय स्थिति में एकरूपता लाना होता है।

5 राज्य सरकार की किसी विशेष योजना को कार्यान्वित करने के लिए सघ सरकार की ओर से आर्थिक सहायता के रूप मे अनुदान दिये जा सकते हैं। पिछड़े प्रदेशो के विकास और निर्माण सम्बन्धी कार्यों के लिए ऐसी आर्थिक सहायता दी जाती है जैसे—शिक्षा के विकास के लिए सड़कों नहरों व अन्य सिचाई साधनो या कृषि एव उद्योग के विकास के लिए।

6 राज्य सरकारों द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता के व्यय की देखभाल एव नियन्त्रण सघ सरकार स्वय करती है अत अपव्यय या धन के दुरुपयोग की सम्भावना बहुत कम रहती है।

7 अन्य विधियो की अपेक्षा आर्थिक और अन्य साधनों से आय प्राप्त करने में सहायता की मात्रा निश्चित करना और राज्य सरकारो को सन्तुष्ट रखना अधिक सरल होता है बशर्ते कि इसको मनमाने ढग से निश्चित नहीं किया जाए बल्कि राज्य की कृषि एव औद्योगिक उन्नति तथा उसके प्राकृतिक साधनों जनसख्या व आर्थिक उन्नति की दशा को ध्यान में रखते हुए आर्थिक सहायता की मात्रा का निर्धारण किया जाये।

8 केन्द्रीय सरकार द्वारा इन अनुदानों को राज्य सरकारों को देने मे एक सरल और कार्यशील नीति अपनाई जानी चाहिए ताकि आलोचना की सम्भावना कम से कम रहे। आर्थिक सहायता की राशि में प्रतिवर्ष परिवर्तन करना अच्छा नहीं होता क्योंकि इससे अनिश्चितता रहेगी राज्यों में विद्वेष की भावना बढेगी और वे असन्तुष्ट रहेंगे। सघीय आर्थिक सहायता की विधि इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है कि इससे एक तो राज्यो मे वित्तीय सन्तुलन स्थापित होने मे सहायता मिलती है दूसरे केन्द्र एव राज्य सरकारों में परस्पर सद्भावनाओं का विकास होता है। राज्य सरकारें केन्द्र की सहानुभूति से आश्वस्त होकर उसके प्रति सहयोगी रुख अपनाती है। जिन समस्याओं को हल करने के लिए अनुदान लिया जाये उनकी मान्यता और राष्ट्रीय महत्त्व सम्बन्धी कठिनाइयों को पूरा करना तभी सरल होता है जब सघ सरकार और राज्य सरकारो के बीच सहयोग से काम करने की भावना और तत्परता हो। कभी-कभी देश या अन्य राज्यो के अधिक हित में त्याग करना अधिक आवश्यक होता है। अत प्रत्येक सरकार को हर कदम पर समन्वय करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

जिस प्रकार सघ सरकारो की ओर से राज्य सरकारो को आर्थिक सहायता देने की विधि है ठीक उसके विपरीत इस विधि की बात की जाती है जिसमे राज्य सरकारें अपनी आय मे से सघ सरकार को अशदान देती हैं। यह विचार बडा अटपटा और अनुचित-सा लगता है कि राज्य सरकार की आर्थिक सहायता पर केन्द्रीय सरकार बनी रहे। अपेक्षा यही है कि सघ सरकार की आर्थिक स्थिति तो बहुत ही मजबूत होनी चाहिए क्योंकि उस पर सम्पूर्ण प्रशासन की बहुत बड़ी जिम्मेदारियाँ होती है और उसे राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनो महत्त्व के विभिन्न कार्य करने पडते है। यदि सामूहिक शक्ति कम होगी तो व्यक्तिगत शक्ति का क्या महत्त्व हो सकता है इसका अनुमान हम स्वय लगा सकते हैं। यदि सघ सरकार अपने कार्यों के सम्पादन के लिए वित्तीय दृष्टि से राज्यों पर निर्भर रहने लगेगी तो निश्चित रूप से कुशलता और तत्परता का ह्रास हो जाएगा। इसके अतिरिक्त राज्यो के आय के साधन इतने कम होते हैं कि यदि ये सघ सरकार को अपनी आय में से अशदान देने लगेंगे तो उनकी स्थिति और कमजोर हो जाएगी। इन्हीं सब बातो को देखते हुए राज्य सरकारो की ओर से सघ सरकार को आर्थिक अशदान देने की विधि न कहीं सफल हुई न लोकप्रिय।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि सघीय शासन प्रणाली में वित्त व्यवस्था का कार्य निश्चित ही बड़ा कठिन कार्य है। यदि सघ सरकार और राज्य सरकारें एक दूसरे के सहयोग से कार्य करती रहें तो ये कठिनाइयाँ बहुत हद तक समाप्त हो सकती हैं।

सघीय राजस्व के सिद्धान्त

(The Principles of Federal Finance)

सघीय वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित पूर्ववर्ती वर्णन मे प्रसगानुसार सघीय वित्त सिद्धान्त का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। सघीय राज्य के अन्तर्गत सघ और राज्य के वित्तीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए कुछ सिद्धान्तों पर आचरण करना आवश्यक है। ये मुख्यत पाँच सिद्धान्त हैं—

(1) स्वतत्रता का सिद्धान्त (The Principle of Freedom)

(2) एकरूपता का सिद्धान्त (The Principle of Uniformity)

(3) पर्याप्तता और लोच का सिद्धान्त (The Principle of Adequacy and Elasticity)

(4) प्रशासकीय मितव्ययिता अथवा कार्यकुशलता का सिद्धान्त (The Principle of Administrative Economy or Efficiency)

(5) हस्तान्तरणों का सिद्धान्त (The Principle of Transferences)

(1) स्वतंत्रता का सिद्धान्त (The Principle of Freedom)

संघीय वित्त व्यवस्था का पहला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि संघ में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक इकाई अपने आर्थिक क्षेत्र में स्वतत्र होनी चाहिए अर्थात् अपने आय और व्यय के स्वतन्त्र साधन और क्षेत्र होने चाहिए। संघ की प्रति इकाई अपनी इच्छानुसार कर लगाने ऋण उगाहने और आय को व्यय करने में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

विभिन्न देशों की संघीय वित्त व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता के इस सिद्धान्त पर यथासम्भव आचरण करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ भारत में आय कर केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र का विषय है जिसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकते और मनोरजन कर राज्य की आय के साधन हैं जिनमें केन्द्रीय सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती। व्यवहार में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता न कहीं पाई जाती है और न ही सम्भव है क्योंकि हर राज्य सरकार को संघ सरकार पर अनेक मामलों में निर्भर रहना पड़ता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—

(क) अधिकाशत संघ सरकार अपने लिए आय के अधिक स्रोत रख लेती है और वे भी ऐसे जो बड़े महत्त्वपूर्ण और अधिक लोचपूर्ण होते हैं एव

(ख) संघ सरकार आय के कुछ ऐसे स्रोतो को अपने पास रखती है जिनको विभाजित नहीं किया जा सकता और उनकी आय में से एक निश्चित प्रतिशत राज्य को दे देती है। संघ पर राज्यों की निर्भरता का एक कारण और है वह यह कि राज्यो के आय के साधन पर्याप्त न होने से विशेष परिस्थितियों में राज्यों को संघ की आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहती है। आज के बढते हुए कल्याणकारी कार्यों की पूर्ति के लिए एक प्रकार से राज्यो को आर्थिक सहायता के लिए केन्द्रीय सरकार का मुँह ताकना पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत में राज्य सरकारें प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में केन्द्रीय सरकार से ऋण और आर्थिक अनुदान प्राप्त करती हैं।

(2) एकरूपता का सिद्धान्त (The Principle of Uniformity)

संघीय वित्त व्यवस्था का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक इकाई संघ सरकार को किसी सामान्य महत्त्व वाले भार को सहन करने में समानता के आधार पर अपना अपना अंशदान दें। दूसरे शब्दों में सरकार अपनी वित्तीय नीतियों का सचालन इस प्रकार करे कि सदस्य राज्यों के प्रति उसके व्यवहार में एकरूपता दिखाई दे। संघ सरकार द्वारा लगाये गये करो का भुगतान करने के लिये किसी राज्य विशेष के व्यक्तियों को अन्य राज्यों के व्यक्तियों की तुलना में कुछ विशेष रियायतें न दी जाएँ बल्कि सभी नागरिको के साथ समान व्यवहार किया जाये।

संघीय वित्त व्यवस्था का एक उत्तम सिद्धान्त होते हुए व्यवहार में इस सिद्धान्त का पूर्ण पालन सम्भव नहीं है। समानता स्थापित करना इसलिये सम्भव नहीं होता क्योंकि देश के समस्त राज्यों की जनसंख्या और आर्थिक स्थिति में समानता नहीं पाई जाती। संघ की इकाई के पास साधन नहीं होने से और उनके व्ययों में समानता न होने से राजकोषीय नीति में समानता स्थापित करना असम्भव प्रतीत होता है। कतिपय सीमाओं के होते हुये संघ सरकार को राजकोषीय गतिविधियो के समय यथासम्भव समानता के सिद्धान्त को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

(3) पर्याप्तता तथा लोच का सिद्धान्त (The Principle of Adequacy & Elasticity)

इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सरकार को सौंपे जाने वाले साधन उन कार्यों के लिए पर्याप्त होने चाहिए जिन्हे पूरा करना है। संघीय राज्य की इकाई को आय प्राप्त करने के इतने साधन मिलने चाहिए कि वे न केवल अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा कर सके बल्कि भावी आवश्यकताओं को पूरा करने मे समर्थ हों। आय के साधन पर्याप्त लोचपूर्ण होने चाहिये ताकि आवश्यकताओं के बढने के साथ और सकटकालीन स्थितियों में विभिन्न इकाइयाँ अपनी आय मे वृद्धि कर सकें।

पर्याप्तता और लोच के इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक महत्त्व अधिक रह गया है क्योंकि व्यवहार में परिस्थितियाँ बिल्कुल इसके विपरीत पाई जाती है। होता यही है कि राज्यों अथवा इकाइयों को ऐसे कार्य सौपे जाते है जिनमे अधिकाधिक व्यय की आवश्यकता होती है। इन कार्यों में उनके व्यय इतनी तेजी से बढते हैं कि उनकी आय उन कार्यों के लिए शीघ्र ही अपर्याप्त हो जाती है। दूसरी ओर सघ सरकार के पास साधारणत ऐसे कार्य रहते है जिनमे सामान्य काल मे न्यूनाधिक रूप में स्थिर व्यय की आवश्यकता होती है. किन्तु युद्ध काल में अथवा विशाल पैमाने के आर्थिक नियोजन के समय उनमें भारी व्यय करने पड़ते है पर उनके आय-स्रोत इतने लोचदार होते है कि वह पर्याप्त मात्रा में आय को आवश्यकतानुसार बढाने मे सक्षम हो जाती है। भारत में यही स्थिति पाई जाती है। यहाँ राज्य सरकारो के पास शिक्षा, आन्तरिक शान्ति, सामाजिक सेवाएँ आदि ऐसी मदें है जिन पर प्रत्येक वर्ष देश की बढती हुई जनसख्या के साथ-साथ व्यय बढता जा रहा है लेकिन सरकार के आय स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय में कोई वृद्धि नहीं हुई है। दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के हाथ में पर्याप्त लोचपूर्ण आय स्रोत है। इस स्थिति का यह स्वाभाविक परिणाम है कि अपनी कठिनाइयों के समय राज्य सरकारो को आय देना, आर्थिक सहायता अथवा आर्थिक ऋण के लिए केन्द्रीय सरकार का मुँह ताकना पडता है।

उक्त समस्या को ध्यान में रखते हुए न्यायसगत यही है कि विभिन्न सरकारो में आय के स्रोतों का विभाजन इस ढग से हो कि—

(क) केन्द्रीय सरकार को आय के ऐसे स्रोत मिले जिनसे वह अपनी साधारण परिस्थितियो मे पर्याप्त आय प्राप्त करते हुए भविष्य के लिए भी कुछ बचा सके

(ख) राज्य सरकारो को भी आय के ऐसे स्रोत दिए जाएँ कि वे भी साधारण परिस्थितियो मे अपने कार्यों को पूरा कर सके और भविष्य मे भी आवश्यकतानुसार उनसे अतिरिक्त आय प्राप्त कर सके, एव

(ग) सरकारी वित्तीय ढाँचा इस ढग का हो कि आवश्यकतानुसार साधनों मे पुन वितरण या उलट-फेर सम्भव हो सके।

(4) प्रशासकीय मितव्ययिता या कार्यकुशलता का सिद्धान्त
(Principle of Administrative Economy or Efficiency)

सघीय वित्त व्यवस्था का अन्तिम किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि प्रशासन मे उच्च स्तर की कुशलता हो। सक्षेप में प्रशासन ऐसा हो कि करदाताओं के हितो की सुरक्षा होती रहे और करों की चोरी न हो। करो के सग्रह में अधिक से अधिक प्रशासनिक क्षमता प्राप्त की जाए और व्यय में मितव्ययिता प्राप्त की जाए। प्रशासन का उद्योग और व्यापार पर ऐसा प्रभाव पडे कि वे निरन्तर प्रोत्साहित हों। जो कर अन्तर्राज्यीय चरित्र के हों, उनका प्रबन्ध सरकार करे और स्थानीय महत्त्व के करों की व्यवस्था राज्य सरकारों द्वारा की जाए। इसके अतिरिक्त विभिन्न इकाइयो पर कर लगाए जाएँ कि उनका अन्य इकाइयो के लोगो पर विपरीत प्रभाव न पड़े। यह आवश्यक है कि जो राज्य जिस कर को लगाए और वसूल करे, वही राज्य उस प्राप्त आय को व्यय भी करे, नहीं तो प्रबन्ध में कुशलता नहीं आ सकेगी क्योकि केवल व्यय करने वाले राज्य अन्य राज्यों द्वारा कमाई हुई आय को लापरवाही के साथ व्यय कर सकता है। सक्षेप में, साधनो का सघ की विभिन्न इकाइयो के मध्य इस तरह वितरण होना चाहिए कि अधिकतम प्रशासनिक क्षमता और मितव्ययिता उपलब्ध हो सके। हमारे देश मे प्रति वर्ष लगभग 200-300 करोड रुपयो के करो की चोरी होती है। यदि करों की यह चोरी रुक जाए तो वर्तमान करों की सख्या कम हो सकती है और देश में नागरिको को राहत मिल सकती है। वर्तमान करो से इतनी आय हो सकती है कि अनेक कार्य सफलतापूर्वक हो सकें।

यदि उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार साधनों का विभाजन होकर सघीय वित्त व्यवस्था चलती रहे तो प्रत्येक सरकार स्वावलम्बी होकर अपनी कर-प्रणाली को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर सकती है। काम में दूसरे का हस्तक्षेप न होने से उस कार्य को अधिक कुशलता और दायित्व के साथ पूरा किया जा सकता है पर व्यवहार मे स्रोतों का इन सिद्धान्तो के अनुसार आदर्श विभाजन करना कठिन ही होता है। समवर्ती स्रोतों के कारण सरकारो के बीच प्राय मतभेद होते हुए देखे गए है। इसीलिए सविधान में, सघ सरकार व राज्य सरकारो के झगडो को निपटाने के लिए निश्चित धाराएँ

होती है। राष्ट्रों में इन झगड़ों का मौका न आने देने के उद्देश्य से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि केन्द्रीय सरकार कर के रूप, विधि और कर की व्यवस्था के सम्बन्ध में सामान्य शर्तें या ढाँचे का निर्धारण कर देती है और राज्य सरकारें उसी के अन्दर नियम बनाती है व कर लगाती है।

(5) हस्तान्तरणों का सिद्धान्त (The Principle of Transferences)

उपरोक्त चार सिद्धान्तों के अतिरिक्त हस्तान्तरण का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है। संघीय राजस्व के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाले अर्थशास्त्रियों में महत्त्वपूर्ण डॉ. बी. आर. मिश्रा का मत है कि सभी नागरिकों के लिए एक न्यूनतम स्तर स्थापित करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि धनी राज्यों से धन एकत्र करके निर्धन राज्यों में वितरित किया जाए। उन्हीं के शब्दों में, "संघ और राज्यों में साधनों का आदर्श विभाजन विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए 'राष्ट्रीय न्यूनतम' के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। संघीय राज्य में ऐसा करना धनी क्षेत्रों से निर्धन क्षेत्रों को वित्त का हस्तान्तरण करके सम्भव हो सकता है। इन हस्तान्तरणों का आधारभूत कारण राज्यों की आयों की अन्तर्राज्यीय असमानताओं को दूर करना है।" डॉ. मिश्रा ने आगे लिखा है—"यह राष्ट्रीय तथ्य याद रखने योग्य है कि विभिन्न राज्यों के बीच आय की गम्भीर असमानता का होना राष्ट्रीय समृद्धि के हित में नहीं है। राजस्व की क्रियाओं का प्रयोग हस्तान्तरण की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का पालन करके आय की इन विषमताओं को ठीक कर सकता है।"

डॉ. मिश्रा ने हस्तान्तरण के सिद्धान्त की वकालत करते समय यह ध्यान में रखा है कि जब एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में साधनों के हस्तान्तरण का प्रयत्न किया जाता है तो राज्यों में गम्भीर झगड़े होने लगते हैं। डॉ. मिश्रा ने इस स्थिति को बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण बताया है कि लोग सम्पूर्ण राष्ट्र के हित पर विचार करने के बजाय राज्य की कृत्रिम सीमाओं के सम्बन्ध में सोचते हैं। उन्होंने कहा है कि "भारत में राज्यों का वित्तीय इतिहास यह बताता है कि प्रत्येक नये बन्दोबस्त के समय राज्यों के बीच गम्भीर ईर्ष्या उत्पन्न हुई थी। संघ राजस्व की किसी अच्छी नीति का उद्देश्य लोगों को एक 'राष्ट्रीय न्यूनतम' (National Minimum) कार्यक्रम देने का होना चाहिए, चाहे लोग एक राज्य में रहते हो या दूसरे में।" श्री मिश्रा ने यह स्वीकार किया कि हस्तान्तरण की नीति को कार्यरूप देना सरल नहीं है। उनके अनुसार "संघीय सरकार को राज्यों के बीच प्राकृतिक दशाओं या जनसंख्या के कारण उत्पन्न होने वाली विषमताओं को दूर करने के लिए स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार निर्धन क्षेत्र प्राकृतिक साधनों की कमी, अधिक जनसंख्या या पूँजीगत साधनों की कमी के कारण, विशेष ध्यान दिए जाने के योग्य हैं। सामाजिक विचार के अतिरिक्त संघीय सरकार के लिए आर्थिक कारणों से भी विभिन्न राज्यों के बीच भेदभाव करने का उचित एवं स्पष्ट कारण है। अप्रत्यक्ष करों का भार निर्धन लोगों पर ही सबसे अधिक पड़ता है।" भारत में इसी सन्दर्भ में केन्द्रीय सरकार ने सरकारिया आयोग की नियुक्ति की थी।

डॉ. मिश्रा के अनुसार, "अन्तिम रूप से साधनों का विभाजन एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इस पर विभिन्न लोगों के विभिन्न विचार हैं। यह दावा किया जाता है कि एक योजना दूसरी योजना से अधिक अच्छी है। मेरी अपनी अत्यन्त विनम्र राय यह है कि बुद्धिमत्तापूर्ण आलोचना करने के लिए अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के गहन अध्ययन की आवश्यकता है। वित्त अधिकारी के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जिसके अनुसार उसे आदर्श रूप में साधनों का वितरण करना चाहिए यह है कि वह राष्ट्रीय न्यूनतम स्थिति को प्राप्त करने के लिए साधनों को धनी से निर्धन राज्यों में हस्तान्तरण करे।" उन्होंने भारत को इस व्यवहार में लाने की बड़ी विद्वतापूर्ण वकालत की है। इसे व्यवहार में लाने के लिए निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए—

(i) राज्य की वित्तीय स्थिति, (ii) प्राकृतिक साधन (iii) जलवायु व विकास (iv) जनसंख्या एवं (v) राज्य के आर्थिक विकास की अवस्था।

आर्थिक विकास व संघीय वित्त-व्यवस्था

आधुनिक समय में आर्थिक नियोजन को आर्थिक विकास का एक यन्त्र स्वीकार किया गया है व आर्थिक विकास सभी विकासशील संघों की एक प्राथमिक आवश्यकता है। सीमित साधनों से न्यूनतम समय में तीव्र आर्थिक विकास सभी विकासशील संघों का उद्देश्य है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व आर्थिक

नियोजन का इतना प्रचलन नहीं था न ही सघ सरकार का आर्थिक विकास के लिए इतना उत्तरदायित्व था किन्तु अब सभी सघीय व्यवस्थाओं मे आर्थिक विकास को सघ सरकार का एक आवश्यक कार्य माना गया है।

आर्थिक विकास के लिए पूरे देश में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता होती है। एक सघीय व्यवस्था में राज्य सरकारो को अपने स्तर पर आर्थिक नियोजन करने की स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उनका आर्थिक नियोजन वृहत् राष्ट्रीय हित के अनुकूल है या नहीं व विभिन्न राज्यो की नियोजन व्यवस्था में सामजस्य है या नहीं यह देखने के लिए केन्द्र सरकार को एक समन्वयकर्त्ता का कार्य करना पड़ता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसी व्यवस्था में केन्द्र सरकार का राज्य सरकारों की तुलना में अधिक महत्त्व है व राज्य सरकारों की निर्भरता केन्द्र सरकार पर बढती है। प्राचीन समय मे जब राज्य सरकारो को वित्तीय स्वतत्रता अधिक थी, उस समय सघ सरकार को आर्थिक विकास का जटिल कार्य नहीं करना पड़ता था। आधुनिक सघ व्यवस्थाओं व प्राचीन सघ व्यवस्थाओं में बहुत अन्तर है। तीव्र आर्थिक परिवर्तन ने, जैसे—तीव्र औद्योगीकरण, शहरीकरण, तकनीकी विकास आदि ने सम्पूर्ण आर्थिक सरचना को बदल दिया है। यह निश्चित है कि यदि थोडे समय मे तीव्र औद्योगीकरण व आर्थिक विकास करने का उद्देश्य प्राप्त करना है, तो एक निर्धारित आर्थिक अनुशासन के अनुसरण की आवश्यकता है। यह अनुशासन एक सघीय वित्त व्यवस्था मे केन्द्र सरकार ही प्रदान कर सकती है। राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन के लिए एक सशक्त व प्रभावशाली केन्द्र सरकार की आवश्यकता है।

आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि आर्थिक नियोजन से हुई राष्ट्रीय आय की वृद्धि का वितरण समान हो। देश मे क्षेत्रीय असमानताएँ न्यूनतम हो जाएँ इसके लिए साधनो के पुनर्वितरण की आवश्यकता होती है। "वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे आवश्यकता यह है कि राज्यो की स्वतन्त्रता को बढावा न देकर केन्द्र व राज्य सरकारो के मध्य सहयोग बढाया जाए।"

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत चालू किए गए कार्यक्रमो को चाहे जिस सस्था के द्वारा वित्त सुविधा प्रदान की जाए किन्तु उनके प्रशासन का कार्य उसी सस्था को दिया जाना चाहिए जो उसके प्रशासन के लिए सर्वाधिक कार्यकुशल हो। तात्पर्य यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि जो सस्था वित्त प्रदान कर रही है उसी का उस पर प्रशासन भी हो। वस्तुत: केन्द्र व राज्य सरकारो के मध्य किसी अनावश्यक बिन्दु पर वैमनस्य उपस्थित नही होना चाहिए। सहयोग की भावना से यदि कार्य किया जाएगा तब तो आर्थिक नियोजन के सभी कार्यक्रम सफल हो पाएँगे अन्यथा नहीं। सघ के एक 'सयुक्त परिवार' की भाँति कार्य करना चाहिए व केन्द्र को परिवार के 'मुखिया' की भाँति कार्य करना चाहिए जिसका कार्य अपने सदस्यो की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। आर्थिक विकास के लिए साधन-सग्रह का दुसाध्य कार्य केन्द्र सरकार राज्य सरकारो की तुलना मे अधिक कुशलता से कर रही है। विकास कार्य के लिए साधन-सग्रह के साथ-साथ विकास कार्यों के क्रियान्वयन की समस्या है। केन्द्र सरकार राज्य सरकारो को विकास कार्यों के लिए वित्त प्रदान करती है। विकास कार्यों को क्रियान्वित कर उन्हे सफल बनाने का काम राज्य सरकारों का होता है। आवश्यकता यह है कि दोनो सरकारे एक-दूसरे से सहयोग करें ताकि आर्थिक नियोजन सफल हो सके।

17

विकसित और विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए राजकोषीय नीति : प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कराधान, ऋण एवं वित्त-व्यवस्था द्वारा साधन-गतिशीलता के पक्ष में तर्क और सम्भावनाएँ

(Fiscal Policy for Developed and Developing Economics : Arguments and Prospects for Resource Mobilisation by Direct and Indirect Taxation, Borrowing and Financing)

अर्थव्यवस्था का विकास एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। यह अनेक प्रकार के भौतिक और मानवीय घटकों के अन्तर्सम्बन्धों एवं व्यवहार का परिणाम होता है। यही कारण है कि अविकसित या अल्प-विकसित या विकासशील अर्थव्यवस्थाओं का अन्तर स्पष्ट करना और उनके लक्षणों का उल्लेख करना बहुत कठिन है।

आर्थिक विकास आय की मात्रा अथवा लोगों के रहन-सहन के स्तर द्वारा मापा जाता है जोकि मुख्यतः प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों के उपयोग, औद्योगीकरण, राजकीय प्रयत्नों एवं पूँजी-निर्माण की दर पर निर्भर करता है। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में ये सब अपने अनुकूलतम या लगभग अनुकूलतम स्तर पर होते हैं और जन जीवन सुख तथा समृद्धि का अनुभव करता है। ऐसी दशाओं में आय बढ़ाने अथवा पूँजी-निर्माण में वृद्धि करने के लिए किन्हीं विशिष्ट प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि विकसित देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति आय, उपभोग और बचत बहुत कम होती है क्योंकि प्राकृतिक और मानवीय साधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता अतः इनमें वृद्धि करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता होती है।

विकसित अर्थव्यवस्थाओं के ज्ञान के सम्बन्ध में इतनी कठिनाई पैदा नहीं होती जितनी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के सम्बन्ध में। विकासशील व्यवस्था की कोई उत्तम परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। जिन अर्थशास्त्रियों ने विकासशील देशों की परिभाषाएँ देने की चेष्टा की है उन्होंने अपनी परिभाषाओं में विकासशील क्षेत्रों की उन्हीं विशेषताओं को गिनाया है जो उनके दृष्टिकोण से प्रमुख [illegible]। यहाँ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख निम्न प्रकार है—

संयुक्त राष्ट्र के कुछ सदस्यों के अनुसार, अर्द्ध-विकसित देश वह है जिसमें प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी यूरोपीय देशों के प्रति व्यक्ति आय से कम हो। इस अर्थ में अर्द्ध-विकसित देश और निर्धन देश पर्यायवाची शब्द हैं। यह परिभाषा विकसित और अर्द्ध-विकसित देशों की सीमा निर्धारण के लिए आधार प्रदान करती है किन्तु यह संकीर्ण है। केवल प्रति व्यक्ति आय ही किसी क्षेत्र के आर्थिक विकास का निर्देशक नहीं हो सकती। एक देश में प्रति व्यक्ति आय कम हो सकती है पर वह देश विकसित हो सकता है क्योंकि यह सम्भव है कि उस देश में साधन कम हों और उनका पूर्ण विदोहन हो गया हो।

योजना आयोग के अनुसार—"एक अर्द्ध-विकसित देश वह देश है जहाँ एक तरफ मानवीय शक्तियो का प्रयोग नहीं हुआ हो या कम हुआ हो और दूसरी तरफ प्राकृतिक साधनो का उपभोग नहीं हुआ हो।"

यह परिभाषा प्रथम परिभाषा की तुलना में अधिक उपयुक्त है किन्तु अपने मे पूर्ण नहीं मानी जा सकती है। इस परिभाषा मे प्राकृतिक साधनों के शोषण की ओर सकेत है किन्तु उनका शोषण क्यों नहीं हो सका, यह नहीं बताया गया है। आर्थिक मन्दी की स्थिति में किसी देश में, चाहे वह कितना पूर्ण विकसित क्यो न हो मानवीय शक्तियों का और प्राकृतिक साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया जा सकता है किन्तु केवल इसी कारण उसे विकासशील क्षेत्र की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता है।

प्रो. जेकोब वाइनर के अनुसार, "एक अर्द्ध-विकसित देश वह है जहाँ अधिक पूँजी श्रम शक्ति या उपलब्ध प्राकृतिक साधनों अथवा इन सभी के उपयोग करने की पर्याप्त सम्भावना है ताकि वर्तमान जनसख्या के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा किया जा सके और यदि प्रति व्यक्ति आय पहले से अधिक हो तो रहन-सहन के स्तर को कम किए बिना अधिक जनसख्या का जीवन-निर्वाह किया जा सके।"

प्रो. जेकोब वाइनर द्वारा इगित विशेषताओं के अतिरिक्त यह देखा जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशो मे रहन-सहन के स्तरो को ऊँचा उठाने और विकास करने की तत्परता रहती है। यदि इन तत्त्वों को परिभाषा मे सम्मिलित कर लिया जाए तो यह परिभाषा उपयुक्त कही जा सकती है।

उक्त सभी परिभाषाओं से अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं के निम्नलिखित लक्षणों का सकेत मिलता है—

(क) विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में प्रति व्यक्ति आय विकसित अर्थव्यवस्थाओं की अपेक्षा कम होती है।

(ख) विकासशील देशो मे केन्द्रीय समस्या वहाँ की व्यापक निर्धनता है जो उनके विकास के निम्न स्तर का कारण और परिणाम दोनो ही है।

(ग) विकासशील देशो मे व्यापक निर्धनता का कारण प्राकृतिक साधनो का अभाव नहीं बल्कि उत्पादन की पुरानी विधियो का प्रयोग और अनुपयुक्त सामाजिक सगठन है। यदि नई विधियो का प्रयोग किया जाए और सस्थात्मक ढाँचे में परिवर्तन कर दिए जाएँ तो विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे प्रति व्यक्ति आय बढने की पूरी सम्भावना है। यदि जनसख्या तीव्र गति से बढती है तब प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे कमी हुए बिना आर्थिक जनसख्या का भरण-पोषण किया जा सकता है।

वस्तुत. दुनिया मे जितने भी विकासशील देश है उन सभी की सम्मिलित ढग से एक प्रकार की विशेषताएँ बताना बडा कठिन है क्योंकि अलग-अलग देशों की आर्थिक, सामाजिक, औद्योगिक एव कृषि सम्बन्धी अवस्थाएँ व प्रवृत्तियाँ अलग-अलग है। इन देशो मे विकास की पद्धतियाँ, गतियाँ, जनसख्या की विशेषताएँ व आन्तरिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इन भिन्नताओं और भेदो के बावजूद अधिकाश परिस्थितियों मे एक बडी मात्रा तक उनकी विशेषताओं मे एकता व समानता पाई जाती है। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर हम विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को भली प्रकार पहचान सकते है। ये इस प्रकार हैं—(1) राष्ट्रीय आय का निम्न स्तर, (2) अप्रयुक्त प्राकृतिक साधन, (3) निर्यात पर निर्भरता, (4) साधनो मे असन्तुलन, (5) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता (6) जनसख्या की अधिकता और विकसित देशो की तुलना मे उनका तीव्र गति से बढना (7) कृषि का जीवन-निर्वाह स्तर और रोपण अवस्था में होना, ग्रामीण अल्प-रोजगार की स्थिति एव बेकारी, (8) लोगों मे यान्त्रिक ज्ञान की कमी (9) प्रशासन का कार्यकुशल न होना (10) व्यापक आर्थिक विषमता आदि।

जहाँ तक विकसित अर्थव्यवस्थाओं का प्रश्न है वह विवादास्पद नहीं है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं मे कृषि, उद्योग और यातायात के साधनो का समुचित विकास होता है। उत्पादन के

क्षेत्र में यन्त्रो, विद्युत और आधुनिकतम पद्धतियो का प्रयोग होने लगता है और प्राविधिक शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ होने लगती है। विकसित देशो को पूँजी, प्राविधिक ज्ञान और कच्ची सामग्री के लिए अन्य देशो पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। वस्तुत: ये देश पूँजी निर्मित माल और प्राविधिक कौशल को अन्य देशो को निर्यात करते है। कुछ देश कच्ची सामग्री और खाद्य-पदार्थों, रूई, कोयला आदि इतनी अधिक मात्रा मे उत्पन्न करते है कि उनका एक महत्वपूर्ण भाग अन्य देशों को सहायता के रूप में देना पडता है। इनका यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि विकसित देश की अर्थव्यवस्था बहुत सबल होती है और प्रति व्यक्ति आय का स्तर काफी ऊँचा होने के कारण जनता का भौतिक जीवन अधिक सम्पन्न और सुखी होता है।

विकसित और विकासशील दोनो अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण और निर्णायक भाग अदा करती है। इन दोनो अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति के क्या प्रमुख उद्देश्य होते है इसे अग्रिम पंक्तियों मे स्पष्ट करेंगे।

विकसित अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objectives of Fiscal Policy in Developed Economies)

कीन्स के आर्थिक विवेचन ने तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि सरकारी वित्त द्वारा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को इच्छित सीमा तक प्रभावित किया जा सकता है। प्रभावकारी माँग के स्तर को बढा कर या या घटा कर आर्थिक क्रियाओं के स्तर को अनुकूलतम सीमा पर बनाए रखा जा सकता है। विकसित राष्ट्रों मे सरकारी वित्त नीति के विकास का कारण कीन्स का उक्त आर्थिक विवेचन है। इस नीति मे अन्तर्निहित सिद्धान्त यह है कि सरकार के आय-व्यय कार्यक्रमो का समायोजन ऐसा किया जाना चाहिए कि एक ऊँचे स्तर की स्थायी आर्थिक स्थिति का निर्माण किया जा सके।

1. सरकार की वित्त-नीति या राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य विनियोजन के स्तर को अधिक से अधिक बढाना है किन्तु विनियोजन का यह स्तर इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उपभोग की वस्तुओं की उत्पादन क्षमता और अधिकतम उपभोग की प्रवृत्ति से विनियोजन का स्तर अधिक हो जाए।

उत्पादन क्षमता उपयुक्त रहती है और उत्पादन गिरने की स्थिति म नहीं आता है, तब तक न केवल अधिक विनियोजन, बिना प्रति व्यक्ति उपभोग या सम्पूर्ण उपभोग मे कमी किए बिना किया जा सकता है, बल्कि इस स्थिति मे अधिक उपभोग की प्रवृति को प्रोत्साहन दिया जाना आवश्यक हो जाता है।

जहाँ तक विकसित राष्ट्रो का प्रश्न है उनमे विनियोजन का कार्य प्रभावकारी माँग के प्रभाव को, उत्पादन क्षमता मे वृद्धि ~ ...नाव से अधिक बढाना होता है। ऐसे सरकारी उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जाता है जो निजी उद्योगो के साथ किसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते हैं। प्रभावकारी माँग के स्तर को बनाए रखना और आवश्यकतानुसार इसमे वृद्धि करते जाना विकसित राष्ट्रो की राजकीय वित्त नीति का मूल उद्देश्य होता है।

2. जहाँ तक रोजगार का प्रश्न है विकसित राष्ट्रो मे गुप्त बेरोजगारो की स्थिति नहीं होती । अपितु वहाँ अनिच्छाकारी बेरोजगारी पाई जाती है। रोजगार की स्थिति वहाँ होते हुए कतिपय लोग काम के प्रति या रोजगार के प्रति अनिच्छा रखते है। जहाँ तक गुप्त बेरोजगारी का प्रश्न है, यह स्थिति विकासशील राष्ट्रो में पाई जाती है और उसका मूल कारण उत्पादन के आवश्यक साधनो का अभाव है, किन्तु विकसित राष्ट्रो मे पाई जाने वाली अनिच्छाकारी रोजगार की प्रवृत्ति प्रभावकारी मौद्रिक माँग में उतार-चढ़ाव के कारण पाई जाती है। अत विकसित राष्ट्रो मे बेरोजगारी की इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए और पूर्ण रोजगार की स्थिति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी राजकीय वित्त नीति इस प्रकार की हो कि प्रभावकारी मौद्रिक माँग मे उतार-चढावो को रोका जा सके। इस प्रकार विकसित राष्ट्रो में सरकारी वित्त नीति का दूसरा बड़ा उद्देश्य मुद्रा की प्रभावकारी माँग में उतार-चढाव को रोकना है।

3. विकसित राष्ट्रों में बचत की मात्रा होती है और बचत की तुलना में उपभोग की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। आय मे अधिक वृद्धि हो जाने पर वृद्धि की तुलना मे उपभोग की मात्रा मे कम वृद्धि होती है। परिणाम यह होता है कि उपभोग मे कमी हो जाने से विनियोजन का स्तर कम हो जाता है जिससे आय का स्तर गिर जाता है। परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति जडवत् बन जाती है अथवा उनकी आर्थिक स्थिति मे गतिशीलता समाप्त हो जाती है। पूर्ण रोजगार का सन्तुलन बिगड जाता है, उत्पादन के साधन अप्रयुक्त रहते है, बेरोजगारी बढने लगती है और उत्पादन क्षमता और आय मे वृद्धि के बीच जो सन्तुलन ये देश कायम कर पाते है वह बिगड जाता है। अत. यह आवश्यक है कि वित्त नीति इस प्रकार की हो कि उपभोग का स्तर न गिर सके। यह तभी सम्भव हो सकता है कि जब अधिक आय वाले वर्ग से आय का रुख कम आय वाले वर्ग के व्यक्तियो की ओर हो। विकसित राष्ट्रों की राजकोषीय नीति का तीसरा बडा उद्देश्य अधिक आय वाले व्यक्तियो की ओर से कम आय वाले व्यक्तियो की ओर आय को मोडना होता है ताकि उत्पादन क्षमता के अनुरूप उपभोग प्रवृत्ति को कायम रखा जा सके।

4 स्मिथ, रिकार्डो, शुम्पीटर-हैरड-डोमर आदि अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि विकसित राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति अनिश्चित काल तक तेज रफ्तार से नहीं बढ सकती। एक ऐसा बिन्दु उनकी आर्थिक स्थिति मे अवश्यम्भावी है जिसके बाद इन देशों की आर्थिक स्थिति आगे नही बढ सकती है अपितु उसका अधोमुखी होना प्राय. निश्चित है। विकसित राष्ट्रो के लिए यह मन्दी की चेतावनी है और इस प्रकार की चेतावनी का परिणाम विकसित राष्ट्र 1930 की आर्थिक मन्दी के रूप मे भुगत चुके हैं, जिसमे इन देशों की आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो गई मौद्रिक नीति पूर्णतया असफल रही और परम्परागत मौद्रिक नीति के प्रत्येक उपाय या यन्त्र का प्रयोग करने के बावजूद स्थिति मे कोई सुधार नही आ सका। ऐसी स्थिति मे कीन्स जैसे अर्थशास्त्री ने इस मत का प्रतिपादन किया कि आर्थिक स्थिति में गतिशीलता लाने के लिए और भयकर मन्दी से मुक्ति पाने के लिए बाजार की क्रियाओं पर भरोसा छोडना पडेगा और स्वय सरकार अपने भारी विनियोजन के माध्यम से इस स्थिति पर नियन्त्रण कर सकती है। कीन्स के इस आर्थिक मत ने यह स्पष्ट किया कि विकसित राष्ट्रो को यदि भारी मन्दी से बचना है, यह तभी सम्भव है जबकि उनकी नीति स्वचालित बाजार क्रियाओं के प्रभाव पर पूर्ण आश्रित न होने की हो बल्कि उनकी नीति सरकारी आय-व्यय कार्यक्रमो द्वारा बाजार की अनिश्चितता पर नियन्त्रण पाने की हो, अत. विकसित राष्ट्रो मे राजकोषीय नीति का एक और बडा उद्देश्य बाजार की स्वचालित क्रियाओं पर सरकारी आय-व्यय कार्यक्रमो द्वारा नियन्त्रण रखना है।

5. विकसित राष्ट्रो में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'से' (Say) का यह सिद्धान्त कि 'पूर्ति अपनी माँग स्वय पैदा करती है', लागू नहीं होता है। माँग पैदा करने के लिए या माँग को बनाए रखने के लिए उचित राजकोषीय नीति अपनाया जाना आवश्यक है। विकसित राष्ट्रो की राजकोषीय नीति के उद्देश्य के रूप मे यह माना जाने लगा है कि पूर्ति अपनी माँग स्वय पैदा नहीं करती है अपितु आवश्यकता के अनुसार उत्पादन क्षमता के साथ सन्तुलन बनाए रखने के लिए अधिक से अधिक विनियोजन सरकार के द्वारा किया जाना आवश्यक है। केवल निजी विनियोजन आर्थिक स्थिति मे पूर्ण रोजगार की स्थिति और स्थायी सन्तुलन के स्तर को बनाए नहीं रख सकता है। निजी विनियोजन के पूरक के रूप मे भारी मात्रा मे सरकारी विनियोजन आवश्यक है। इसलिए राजकोषीय नीति का यह एक बडा उद्देश्य सरकारी विनियोजन की मात्रा को उचित दिशा देना है।

6 राजकोषीय नीति के प्रमुख अगो के रूप मे कर-नीति का बडा स्थान है। करारोपण का उद्देश्य मात्र राज्य के लिए मुद्रा के साधन जुटाना नहीं है, अपितु आर्थिक स्थिति मे स्थायित्व और गतिशीलता प्रदान करना है। विकसित अर्थव्यवस्था मे कर-नीति का उद्देश्य केवल बजट की कमियो को दूर करना नहीं है, बल्कि मुद्रा-स्फीति की स्थिति को दूर करना भी है अत. विकसित अर्थव्यवस्था में सरकारी वित्त नीति के एक बडे उद्देश्य के रूप मे उचित कर नीति का निर्माण करना है। उसके अतिरिक्त विकसित अर्थव्यवस्था में दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार के सन्तुलन को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार की कर-नीति साख निर्माण नीति ऋण नीति, व्यय नीति, आय के साधन जुटाने सम्बन्धी नीतियो मे परस्पर पूर्ण समन्वय हो। इसमे पूर्ण समन्वय रहने पर ही विकसित

अर्थव्यवस्थाओं का स्थायित्व सम्बन्धी बड़ा उद्देश्य पूरा हो सकता है। इसलिए विकसित राष्ट्रों की राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि सरकारी वित्त तन्त्र मे कर नीति साख नीति व्यय नीति आदि में सभी दृष्टियो से पूर्ण समन्वय हो।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति के उद्देश्य

(Objectives of Fiscal Policy in Underdeveloped Economies)

राजकोषीय नीति का प्रत्येक अर्थव्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण योगदान अविवादास्पद है चाहे वह विकसित अर्थव्यवस्था हो या विकासशील लेकिन इतना अवश्य है कि इस नीति के उद्देश्य और स्वरूप आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अलग-अलग होते है क्योंकि विकसित और विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की समस्याएँ अलग अलग होती है। जैसा कहा जा चुका है कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं की प्रमुख समस्या व्यापारिक चक्रो के परिवर्तन मे स्थायित्व लाना होता है अत ऐसी अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यही होता है कि व्यय को प्रोत्साहित करके प्रभावपूर्ण माँग द्वारा व्यापारिक चक्रों के परिवर्तनो मे स्थायित्व लाया जाए। इसके विपरीत विकासशील अर्थव्यवस्थाओ की मौलिक आवश्यकता तीव्र प्रगति और सरक्षणात्मक परिवर्तन करना होता है अत अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह पूँजी के निर्माण और पूजी की गति बढाने मे सहायक बने ताकि देश मे स्थायी वृद्धि (Stable Growth) की शक्तियो को प्रोत्साहन मिल सके।

कुछ लेखको का विचार है कि दोनो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के लिए राजस्व के उद्देश्य समान होते हैं उदाहरणार्थ प्रो हैन्सन का मत है कि राजस्व का एक उद्देश्य है—एक प्रगतिशील आय-कर प्रणाली जिसकी दर इतनी शून्य अवश्य हो कि पर्याप्त मात्रा मे निजी व्यय एव विनियोग प्रोत्साहित हो सके। इसके साथ ही व्यय की जाने वाली उन सम्पूर्ण व्यय-राशियों को देखते हुए उपभोग की वर्तमान प्रवृत्ति और विनियोग के स्तर को बनाए रखने के उद्देश्य से कुल माँग को सुरक्षित रखने के लिए सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता हो सकती है। यह उद्देश्य पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए तो ठीक है पर विकासशील अर्थव्यवस्थाओ के लिए उचित नही है। यदि राजकोषीय नीति का प्रयोग विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया गया तो वह तीव्र औद्योगीकरण और पिछडे हुए देशो के विकास के लिए एक कमजोर यन्त्र सिद्ध होगी। वास्तव मे अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक नीति का उद्देश्य प्राथमिक अवस्थाओ में उत्पादन वृद्धि का होना चाहिए और इस दृष्टि से राजकोषीय नीति को पूजी सग्रह के यन्त्र के रूप मे कार्य करना चाहिए। वस्तुत पूँजी निर्माण और पूँजी सग्रह के दृष्टिकोण से विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति का महत्त्व बहुत अधिक है।

1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी और प्रथम महायुद्ध की मुद्रास्फीति के बाद से तथा विशेषकर कीन्स के सामान्य सिद्धान्त के प्रकाशन के पश्चात् काफी सैद्धान्तिक वाद-विवाद के उपरान्त यह स्वीकार कर लिया गया है कि विशेष करो एव राजकीय व्यय के प्रभावो से सम्बन्धित विवेचना राजस्व सम्बन्धी अध्ययन का एक भाग है। सम्पूर्ण विषय के अन्तर्गत राजकोषीय क्रियाओं के आर्थिक प्रभावो और रोजगार पर पड़ने वाले प्रभावो की विस्तृत विवेचना सम्मिलित की जानी चाहिए। आर्थिक सिद्धान्तो के क्षेत्र में राजस्व नीतियों के महत्त्व को स्थापित करके कीन्स ने आर्थिक सिद्धान्तो के क्षेत्र मे एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। कीन्स की मान्यता है कि देश मे पूर्ण रोजगार स्थापित करने और अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ावों को नियन्त्रित करने के लिए राजस्व क्रियाओं का नियमन परमावश्यक है। कीन्स ने अपने विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि अधिक बचत और विनियोग से अधिक उत्पादन की सम्भावना रहती है जिससे उत्पादन आधिक्य के कारण अन्त मे माँग कम हो जाती है अत लोग उत्पादन एव विनियोग के लिए आकर्षित नहीं होते। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बेकारी फैलती है और अर्थव्यवस्था मे उतार-चढाव आने लगते है अत कीन्स के अनुसार राजस्व नीति ऐसी होनी चाहिए कि व्यय को प्रोत्साहन मिले जीवन स्तर ऊँचा उठे उपभोग सामग्री का उत्पादन बढे तथा पूर्ण रोजगार बना रहे।

विकासशील देशो के सन्दर्भ मे अर्थशास्त्रियों ने राजस्व के दो रूपो को अपनाने पर जोर दिया है—

(क) क्रियात्मक (Functional) स्वरूप एव

(ख) कार्यशील (Activating) स्वरूप ।

(क) क्रियात्मक (Functional) स्वरूप—अर्थशास्त्रियों का यही मत था कि राजस्व नीति आय-व्यय का एक ब्यौरा मात्र होनी चाहिए । उनका विचार था कि कर प्रणाली समानता पर आधारित न्यायोचित एव सुविधाजनक होनी चाहिए ताकि सरकार अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अधिकतम धन सग्रह कर सके । सार्वजनिक व्यय का सचालन इस प्रकार होना चाहिए जिससे लोक कल्याण अधिकतम हो सके और लाभ अधिकाशत उन्हीं लोगो को प्राप्त हो जो उसके योग्य हो । स्पष्ट है कि इन लेखकों के विचार विकसित राष्ट्रों के सन्दर्भ मे थे लेकिन उनकी मान्यताएँ विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के लिए विशेष उपयुक्त नहीं थीं । कीन्स वह पहला अर्थशास्त्री था जिसने इस पर बल दिया कि राजस्व नीतियो द्वारा अर्थव्यवस्था की प्रवृत्तियों को प्रभावित किया जा सकता है । कीन्स के बाद लर्नर ने इस विचारधारा को और आगे बढाया । उसने कहा कि करारोपण केवल धन-सग्रह के लिए ही नही बल्कि मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए भी होना चाहिए तथा व्यय रोजगार की अवस्थाओं को उत्पन्न करने के लिए होना चाहिए । इसी विचारधारा को क्रियात्मक वित्त सम्बन्धी विचार कहा जाता है । क्रियात्मक वित्त के सम्बन्ध में दो तथ्य ध्यान देने योग्य है—प्रथम सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देश में उन वस्तुओं और सेवाओं पर जिनका उत्पादन करना सम्भव है व्यय की सम्पूर्ण दर को उस स्तर तक रखे जिन पर उन सभी वस्तुओं और सेवाओं को वर्तमान मूल्य पर खरीदा जा सके द्वितीय सरकार ऐसा तभी कर सकती है जब वह राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं का प्रयोग करे ।

यह स्मरणीय है कि राजस्व के क्रियात्मक रूप का उद्देश्य विकसित विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए अलग-अलग होता है । विकसित अर्थव्यवस्थाओं मे इसका प्रयोग अर्थव्यवस्थाओं के स्थायित्व के लिए किया जाता है जबकि विकासशील देशो मे इसका प्रयोग आर्थिक विकास को तीव्रतर बनाने के लिए किया जाता है ।

(ख) कार्यशील (Activating) स्वरूप—राजस्व के कार्यशील या प्रोत्साहनात्मक स्वरूप से यह पता लगाया जाता है कि विभिन्न विधियाँ किस प्रकार अर्थव्यवस्था में स्फूर्ति पैदा करती है । विकसित देशों में व्यय का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है अत उनमे राजस्व के इस रूप का प्रयोग अर्थव्यवस्था मे स्फूर्ति उत्पन्न करने में नहीं होता । लर्नर ने कीन्स के पदचिह्नो पर चलते हुए बताया कि सभी प्रकार का व्यय बेकारी व मुद्रास्फीति को दूर करने मे सहायक होता है जबकि कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कीन्स और लर्नर के विचार केवल विकसित राष्ट्रों के लिए उपयोगी हैं और ऐसे राष्ट्रो के लिए व्यय का अधिक महत्त्व है । विकासशील देशो में अधिक बल बचत तथा विनियोग पर ही दिया जाना चाहिए । विकासशील देशो मे उत्पादन बढाना परमावश्यक है । इसलिए राजकोषीय नीति का निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि अधिकतम व्यक्तियो को काम करने की सुविधा और अवसर मिल सके ।

यदि ध्यान से देखा जाए तो क्रियात्मक और कार्यशील दोनो स्वरूपो में कोई विशेष अन्तर नहीं है । क्रियात्मक वित्त का सिद्धान्त यह बताता है कि वित्त अर्थव्यवस्था मे क्या काम करता है । दूसरी ओर कार्यशील वित्त का सिद्धान्त बताता है कि अर्थव्यवस्था में विकास के लिए वित्त नीति को किस प्रकार प्रभावशील बनाना चाहिए । स्पष्ट है कि दोनो ही सिद्धान्तों के लक्ष्य समान है केवल उनका उपयोग परिस्थिति के अनुसार बदलता जाएगा ।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजस्व के क्रियात्मक और कार्यशील दोनों ही रूपो का प्रयोग आवश्यक और हितकर है । जब विकासशील अर्थव्यवस्थाओं का विकास किया जाता है तो पहले राजस्व के कार्यशील रूप को स्वीकार करके वित्तीय नीति निर्धारित की जानी चाहिए और बाद मे राजस्व के क्रियात्मक रूप को अपनाया जाना चाहिए ।

विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति के उद्देश्य

यदि विकसित अर्थव्यवस्थाओं मे प्रमुख समस्या व्यापारिक चक्रों के परिवर्तन में स्थायित्व लाना है तो विकासशील राष्ट्रों की मौलिक आवश्यकता तीव्र प्रगति एव सरचनात्मक परिवर्तन करना है। राजकोषीय नीति का विकसित अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यय को प्रोत्साहित करके प्रभावपूर्ण माँग द्वारा व्यापारिक चक्रो के परिवर्तन मे स्थायित्व लाना होता है जबकि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह पूँजी-निर्माण और पूँजी की गति को बढाने मे सहायक बने ताकि वहाँ स्थायी वृद्धि (Stable Growth) की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिले।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति के निम्नांकित आधारभूत उद्देश्य होते हैं—

1. पूँजी-निर्माण

किसी देश के आर्थिक विकास में पूँजी-निर्माण एक रीढ की हड्डी की तरह कार्य करता है। यह आर्थिक विकास की एक केन्द्रीय समस्या है। विकासशील देशों मे पूँजी-निर्माण की गति अत्यन्त धीमी होती है, क्योंकि—(1) जनसख्या अधिक होती है, (2) आय बहुत कम होती है, (3) उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होती है, (4) माँग सीमित होती है, (5) अपव्यय अधिक होता है, (6) आधारभूत उद्योगों एव सेवाओं का अभाव होता है, (7) उत्पादकता कम होती है, (8) उत्पादन पिछडी रीतियों से होता है, (9) साहसियों की कमी होती है, (10) बैंक, बीमा, यातायात आदि अविकसित होते हैं, (11) पूँजी बाजार असगठित होता है, (12) शिल्प-निर्माण (Skill formation) की दर शून्य होती है, (13) कृषि मुख्य व्यवसाय होता है, आदि।

विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ निर्धनता के विषय-चक्रो अथवा विषैले वृत्तो (Vicious Circles) से पीडित रहती है। इन अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य 'निर्धनता के विषम चक्रों' को तोडना है। बचत पूँजी-निर्माण का एक प्रमुख साधन है, लेकिन पिछडी अर्थ-व्यवस्थाओं में राष्ट्रीय आय कम होने से बचत बहुत कम होती है और आय का अधिकाश भाग उपभोग में व्यय हो जाता है। अतः विकास की दर व गति मे वृद्धि करने के लिए अनिवार्य बचत एव विनियोग द्वारा पूँजी निर्माण करना होता है और इसके लिए राजकोषीय नीति का आश्रय सफलतापूर्वक लिया जा सकता है।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे ऐच्छिक व अनिवार्य (Voluntary and Compulsory) दोनों बचतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर चूँकि इन अर्थव्यवस्थाओं मे ऐच्छिक बचते अत्यत कम होती हैं, अतः प्रभावशाली राजकोषीय नीति द्वारा अनिवार्य बचतो को उत्पन्न करके पूँजी-निर्माण करना होता है। अनिवार्य बचतो मे राजकोषीय नीति का विशेष स्थान होता है। विकास की गति को तीव्र करने के लिए सरकार को अनिवार्य बचत योजना चालू करनी होती है जिससे पूँजी का निर्माण हो और उत्पादन प्रोत्साहित हो। सरकार को व्यक्तियो का इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना होता है कि उन्हें विनियोग के अवसर ज्ञात हो सकें, क्योंकि बचत व्यक्तियो की स्वेच्छा पर नहीं छोडी जा सकती। विकासशील देशों मे लोग पूर्ण विकसित देशो के लोगों की देखा-देखी करके अपने उपभोग और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए लालायित हो रहे हैं जिससे उनमे बचत घटती जा रही है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि राजकोषीय नीति का उद्देश्य अनिवार्य बचतो को सग्रह करना हो। चूँकि उपभोग पर रोक लगाए बिना बचतो मे वृद्धि सम्भव नहीं है अतः करारोपण द्वारा चालू उपभोग को कम करके बचत में वृद्धि की जा सकती है। सरकार विलासिता की वस्तुओं पर भारी कर लगा कर और आवश्यक होने पर उपभोग की अनिवार्यता पर कर लगा सकती है तथा अनावश्यक वस्तुओं के निर्यात को रोक सकती है। उपभोग की प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार व्यय-कर लागू कर सकती है। यदि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में उपभोग पर करारोपण द्वारा कुछ रोक नहीं लगाई जाए तो उसके कई घातक परिणाम हो सकते हैं, जैसे—(1) पूँजी निर्माण अत्यन्त धीमी गति से होगा, (2) आर्थिक विकास से होने वाली अतिरिक्त आय उपभोग मे चली जाएगी एव कीमतें मुद्रा के अभाव में बढ जाएँगी।

अतः आवश्यक है कि राजकोषीय नीति का उद्देश्य बचतें बढाना और उपभोग पर व्यय कम करना हो। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी निर्माण की दृष्टि से सरकार करारोपण के मामले में तटस्थ नहीं रह सकती। नर्क्स ने कहा है—"अब करारोपण का उद्देश्य राष्ट्रीय आय के उस अनुपात में वृद्धि करना है जो पूँजी निर्माण मे लगाया जाता है।"

प्रो मेयर व बाल्डविन ने समस्या का अध्ययन करते हुए लिखा है— यह आवश्यक है कि ऐसी कर-पद्धति अपनाई जाए जो गरीब राष्ट्र की शासन की क्षमता के होते हुए विकास के लिए किए गए व्ययों के फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी प्रभावो को रोक सके और प्रेरणाओं को नष्ट न करे तथा समानता की स्वीकृत विचारधारा को तोड न सके।

राजकोषीय नीति के पूँजी निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर-नीति के अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन राज्य-ऋण विदेशी बचत बीमा कम्पनियो सरकारी उद्योगो का लाभ बैकों व सरकारी सस्थाओं आदि का विशेष महत्त्व है। इन सभी उपायों की अपनी सीमाएँ है फिर भी प्रत्येक को आवश्यक नियन्त्रणो द्वारा पूँजी-निर्माण हेतु प्रयोग में लाया जा सकता है। जहाँ तक हीनार्थ प्रबन्धन के साधन का प्रश्न है विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे इसका प्रयोग यथासम्भव सीमित होना चाहिए क्योकि इन देशो के उत्पादन के साधनो की पूर्ति लोचपूर्ण नहीं होती। हीनार्थ प्रबन्धन पूँजी के लिए केवल एक उचित मात्रा मे ही सहायक हो सकता है। डॉ वी के आर वी राव के अनुसार जब घाटे की अर्थव्यवस्था मुद्रा-स्फीति की अवस्था का रूप ग्रहण करले उस समय इसके द्वारा न पूँजी का निर्माण होता है और न आर्थिक विकास होता है। घाटे की अर्थव्यवस्था अपन आप मे न अच्छी है और न बुरी और न ही घाटे के अर्थप्रबन्धन मे मुद्रा-स्फीति सम्भवत निहित है। सच यह है कि यह साधन अनुभवी एव निपुण कार्यकुशल हाथो मे वरदान सिद्ध हो सकता है अन्यथा घातक भी हो सकता है।

सक्षेप मे विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे हर सम्भव उपाय से पूँजी-निर्माण की गति को तीव्र करना राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि राजकोषीय नीति राष्ट्रीय स्तर पर निर्मित की जाए और यह तभी सम्भव है जब देश मे कार्यशील वित्त की नीति अपनाई जाए।

2. राष्ट्रीय आय मे वृद्धि

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे राष्ट्रीय आय अत्यन्त कम होती है अत इनमे स्थायी विकास के लिए आवश्यक है कि राजकोषीय नीति राष्ट्रीय आय की वृद्धि के उद्देश्य से कार्यान्वित की जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति कई प्रकार से सहायता कर सकती है जैसे—

1 ऐसी कर-प्रणाली लागू की जाए जिससे जो कुछ न्यून साधन उपलब्ध हैं उन्हे बचा कर विनियोग में लगाया जा सके।

2 सार्वजनिक व्यय एव सार्वजनिक ऋण को निर्माणात्मक दिशाओं में सचालित किया जाए जिनसे उत्पादन हो और विकास की गति तीव्र हो। सार्वजनिक व्यय और ऋण को निर्माणात्मक दिशा मे मोडने पर ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि सम्भव है। आधारभूत उद्योग और ऐसे उद्योग जिनका सामाजिक महत्त्व है उनका विकास सरकार को करना चाहिए।

3 सरकार निजी उद्यमकर्त्ताओं को उचित आर्थिक नीतियो द्वारा पूँजी विनियोजन के लिए प्रोत्साहित करे। आवश्यक विनियोग वातावरण प्रस्तुत करना राजकोषीय नीति का उद्देश्य रहे। सरकार व्यक्तिगत उद्योगो से कर हटाले या कम कर दे उन्हे आर्थिक सहायता प्रदान करे एव इसी प्रकार के विभिन्न उपाय करे ताकि आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिले और राष्ट्रीय आय व समृद्धि मे वृद्धि हो।

4 यह सम्भव है कि आय मे जो वृद्धि हो वह विनियोग मे न जाकर उपभोग मे लग जाए अत राजकोषीय नीति का उद्देश्य और निर्धारण ऐसा होना चाहिए कि व्यक्तियो मे बचत तथा विनियोग करने की प्रवृत्ति प्रोत्साहित हो। बैंक दर मे वृद्धि करके लोगो को बचत के लिए प्रोत्साहित किया जाए बचत योजनाओं और बीमा योजनाओं द्वारा बचतो को आकर्षित किया जाए आय-कर मे रियायते दी जाएँ और सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो के हिस्सेदारो द्वारा किए गए विनियोगो को कर रहित घोषित किया जाए तथा अन्य समुचित उपाय आवश्यकता और परिस्थि त के अनुसार अपनाए जाएँ।

3 आय तथा धन के वितरण की असमानता को कम करना

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे विकास की दर को अधिकतम करना राजकोषीय नीति का प्रमुख लक्ष्य होता है अत आय और धन के वितरण की असमानताओं को कम करने की दिशा मे राजकोषीय नीति को आगे आना होता है। सरकार द्वारा व्यय बढा कर अनुपार्जित आय को हतोत्साहित करके तथा

सामाजिक सेवाओं का विस्तार करके कम आय वाले व्यक्तियों की स्थिति ठीक की जा सकती है। धनी वर्ग पर ऊँची दर से प्रगतिशील करारोपण करके, निर्धनों पर कम दर से कर लगाकर अथवा उन्हें कर-मुक्त रखकर तथा विलासिता की वस्तुओं पर समुचित नियंत्रण रखकर धन के वितरण की विषमताओं को कम किया जा सकता है। संक्षेप में आय की असमानता को एक बड़ी सीमा तक पुनर्वितरण सम्बन्धी राजकोषीय नीति उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं और सार्वजनिक व्यय द्वारा दूर किया जा सकता है।

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति का प्रयोग आर्थिक असमानता को कम करने के साथ-साथ उत्पादन-वृद्धि के लिए करना चाहिए क्योंकि धन के पुनर्वितरण से आय उपार्जन और विनियोग करने वाले लोग हतोत्साहित होंगे और इस प्रकार औद्योगिक विकास अवरुद्ध होगा अथवा अत्यन्त मन्द गति से होगा। यह तर्क निःसन्देह सारपूर्ण है, विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में वस्तुतः दोनों बातें आवश्यक हैं।

4. बेकारी दूर करना

विकासशील देशों में बेकारी और अर्द्ध-बेकारी की समस्याएं विकराल रूप धारण किए रहती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन देशों में आर्थिक क्रियाओं के विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। कृषि प्रमुख व्यवसाय होता है किन्तु उसमें पूँजी की कमी होती है जनसंख्या आधिक्य होता है, ऋण-ग्रस्तता काफी ऊँचे स्तर पर होती है। इन विभिन्न कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश व्यक्ति वर्ष के अधिकांश भाग में बेकार रहते हैं। नगरीय क्षेत्रों में उद्योगों के अविकसित रहने के कारण व्यक्तियों को रोजगार नहीं मिल पाता।

अतः विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति का एक प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि बेकारी व अर्द्ध-बेकारी की समस्या का निराकरण किया जा सके। यह तभी सम्भव है जबकि राजकोषीय क्रियाओं का उद्देश्य पूँजी के विनियोग को बहुमुखी उत्पादन के क्षेत्रों में लगाना हो अर्थात् विनियोग को सुनिश्चित दिशाओं की ओर मोड़ा जाए तथा देश में बहुमुखी औद्योगिक विकास के प्रयत्न किए जाएँ। विकसित राष्ट्रों में बेकारी एक अल्पकालीन समस्या होती है जो व्यापार-चक्रों के प्रभाव में उत्पन्न होती है। इस समस्या को राजकोषीय क्रियाओं में परिवर्तन से दूर किया जा सकता है और रोजगार की स्थिति पुनः लाई जा सकती है। विकासशील देशों में बेकारी एक आधारभूत समस्या है जिसका समाधान एक दीर्घकालीन विकास नीति द्वारा हो सकता है। अतः देशों में राजकीय व्यय और ऋण सम्बन्धी नीतियों का यह उद्देश्य होना चाहिए कि बहुमुखी विनियोग को प्रोत्साहित किया जाए। करारोपण नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उपभोग नियन्त्रित हो और बचतों को प्रोत्साहन मिले।

5. मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव को रोकना

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में देश के सुप्त तथा अविकसित साधनों का विदोहन करके देश का आर्थिक विकास करने के लिए सरकार हीनार्थ प्रबन्धन का आश्रय लेती है और पत्र-मुद्रा निर्गमित करके विकास योजनाओं पर व्यय करती है। निर्गमित मुद्रा से नई माँग पैदा होती है। यदि यह माँग वस्तुओं की पूर्ति के बराबर होती है तब स्फीति का कोई डर नहीं रहता किन्तु व्यवहार में उन वस्तुओं की पूर्ति माँग की तुलना में कम रहती है इसलिए हीनार्थ प्रबन्धन का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि मूल्य बढ़ जाता है।

इन अवस्थाओं में राजकोषीय नीति का उद्देश्य मुद्रा-स्फीतिजनक प्रभावों को रोकना होता है। राजकोषीय नीति का प्रभावशील ढंग से प्रयोग करके प्रभावपूर्ण माँगों को कम किया जा सकता है और मुद्रा-प्रसार की गति को रोका जा सकता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय नीति का मुद्रा-प्रसार के प्रभावों को रोकने में प्रयोग बड़ी कठिनता से सार्थक हो पाता है। यदि राजकोषीय साधनों को निम्नांकित रूप में प्रयुक्त किया जाए तो उपयोगी परिणाम निश्चित रूप से निकल सकते हैं—

1. जनता की अधिक क्रय-शक्ति को करारोपण, अनिवार्य बचत, सार्वजनिक ऋण आदि रीतियों से कम कर दिया जाए।

2 विशेष प्रकार के मुद्रा स्फीति कर लगाए जाएँ जैसे—अधिलाभ-कर वस्तु कर (Commodity Tax) विलासिता की वस्तुओं पर कर आदि।

3 पूँजीगत कर लगा दिए जाएँ और नकदी शेषो (Cash balances) व तरल सम्पत्तियों पर करारोपण किया जाए।

4 ऐच्छिक बचतो पर अधिक जोर दिया जाए और एक निश्चित सीमा से ऊपर की क्रय शक्ति को खत्म कर दिया जाए। कर नीति इस ढग की निर्धारित की जाय कि वह स्वय ही मुद्रा-स्फीति की गति रोक सके। कर प्रगतिशील हो।

वास्तव मे मुद्रा-स्फीति की समस्या के परिणाम बडे घातक और गम्भीर हुए और ऐसी स्थिति मे राजकोषीय नीति स्वय मुद्रा-स्फीति को रोकने मे तभी सफल हो सकती है जबकि उसके साथ मौद्रिक बचत और उत्पादन के उपाय अपनाए जाएँ।

6 अन्य उद्देश्य

विकसित अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति के कुछ अन्य उद्देश्य होते है जैसे—उत्पादन बढाने की समस्या को हल करना देश का नियोजित आर्थिक विकास करना सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना आदि। विकासशील देशो की मुख्य समस्या उत्पादन वृद्धि की है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह वाछनीय है कि सरकार राजकोषीय उद्योगो और उपक्रमो का क्षेत्र बढाए ताकि देश के बढते हुए साधन कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित न हो। आय और उत्पादन मे वृद्धि होने से जो आर्थिक शक्तियाँ सृजित हो उन पर भी राज्य का स्वामित्व रहे जिससे देश मे आय का समान वितरण हो तथा सामाजिक कल्याण अधिकतम हो। इन्ही दिशाओं मे एक विकासशील देश की सरकार को अपनी राजकोषीय नीति का निर्माण करना होगा।

सक्षेप मे राजकोषीय नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहन मिले राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो धन एव आय के वितरण की विषमताएँ मिटे अथवा कम हो अर्थव्यवस्था मे स्थिरता पैदा हो पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो और विनियोजन अधिक हो। इन उद्देश्यो की पूर्ति मे ये वित्तीय तरीके सहायक हो सकते है—(i) कर-नीति (ii) सार्वजनिक व्यय नीति (iii) सार्वजनिक ऋण नीति एव (iv) हीनार्थ प्रबन्धन की नीति। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं मे राजकोषीय नीति की विभिन्न कठिनाइयाँ और सीमाएँ है किन्तु यह निश्चित है कि प्रभावशाली राजकोषीय नीति विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की उन्नति मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती है।

राजकोषीय नीति की सीमाएँ

राजकोषीय नीति विकासशील देशो मे आर्थिक नीति का एक ऐसा यन्त्र है जिससे चतुर्मुखी विकास सभव है किन्तु इसकी प्रभावशीलता को कमजोर बनाने मे कई तत्त्व सक्रिय रहते है जो निम्न प्रकार है—

1 राजकोषीय नीति के उद्देश्य विरोधाभासपूर्ण है। अधिकाश देशो मे आर्थिक विकास के लिए भारी मात्रा मे निवेश किया जाता है इसका स्वाभाविक परिणाम स्फीति होता है। अत स्थिरता व स्फीति दोनो उद्देश्य परस्पर विरोधी हे। अविकसित व अपूर्ण अर्थव्यवस्थाओं मे इन दोनो उद्देश्यो को एक साथ प्राप्त करना सम्भव नही है। इसी प्रकार वितरणात्मक न्याय व पूँजी निर्माण के उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी है। इन देशो मे जनता की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है व इसी कारण आम जनता बचत नही कर सकती। बचत ऊँची आय वाले व्यक्ति ही कर सकते है व उन्ही के माध्यम से निवेश को बढावा मिल सकता है। समाजवादी समाज व समानता के उद्देश्यो की प्राप्ति के उद्देश्य इन देशो मे बचत व निवेश की वृद्धि के उद्देश्यो के विपरीत जाते है। अनेक विकासशील देशो मे निजी क्षेत्र के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव मे देखा जाए तो निजी क्षेत्र ने इन देशो मे आधुनिक आर्थिक विकास का श्रीगणेश किया व अभी आर्थिक विकास मे निरन्तर सहायक हो रहा है।

2 राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता को कमजोर बनाने मे कई बार मौद्रिक नीति का भी हाथ रहता है। इन देशो मे आर्थिक विकास के लिए उद्योगो को आसान शर्तो पर ऋण आदि सरकार प्रदान

करती है इससे स्फीति को बढावा मिलता है। यदि राजकोषीय नीति स्फीति को नियन्त्रण करने का प्रयत्न करती है तो उसके प्रयत्न उदार मौद्रिक नीति के कारण विफल हो जाते हैं।

3 अधिकाश विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे विदेशी व्यापार क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है इसी कारण विकसित देशो में हो रहे उच्चावचनों का सीधा प्रभाव इन देशों पर पडता है। यही कारण है कि इन देशों में राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता सीमित होती है। इन देशो मे विदेशी निवेश का अनुपात काफी मात्रा में होता है। विदेशी उच्चावचनो का इसलिए इन देशो पर तुरन्त प्रभाव पडता है कि विदेशों पर ये औद्योगिक विकास की सामग्री व खाद्यान्नों के आगत आदि पर निर्भर करते हैं जो कि इन देशों के लिए अनिवार्यताएँ है। आयातों के लिए उनकी माँग बेलोच होती है अत राजकोषीय नीते के माध्यम से ये देश आत्मनिर्भर बनने का प्रयत्न करने पर सफल नहीं हो पाते। इन देशों को वस्तुत अपने उत्पादन व निवेश का स्वरूप विदेशी आवश्यकताओं के अनुसार बनाना पडता है। इन देशों में निर्यात के लिए कुछ निश्चित मद होते है व इन्हीं के माध्यम से ये अपने निर्यात को बढा सकते हैं क्योंकि औद्योगिक विकास का स्तर बहुत निम्न होता है तथा औद्योगिक विकास वैविध्य रहित होता है। यदि यह कहा जाए कि अप्रत्यक्ष रूप से विकसित देश इन देशों के आर्थिक विकास का दिशानिर्देश करते है तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

4 इन देशो में राजकोषीय नीति को प्रभावशील न होने देने में इन देशों के आर्थिक स्तर का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इन देशों मे उपयुक्त साख्यिकीय सगठनो राष्ट्रीय आय के माप व लेखाकन बाजार पूर्णताओं पूर्वानुमान तकनीक आदि आवश्यक सुविधाओं का अभाव होता है जिसके कारण राजकोषीय नीति को उपयुक्त रूप नहीं दिया जा सकता। वस्तुत नीति निर्धारण के लिए इन सब तथ्यो का होना एक पूर्ण आवश्यकता ह।

5 करारोपण के माध्यम से जब स्फीति को रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो इन देशों मे यह प्रभावशाली इसलिए नहीं हो पाता कि करो को अन्तरित किए जाने की प्रवृत्ति इन देशो मे प्रबल होती है क्योंकि ये देश मुख्यत अप्रत्यक्ष कर-प्रणाली पर आश्रित होते है।

6 राजकोषीय नीति के अन्तर्गत स्फीति के विरुद्ध अपनाए गए प्रयत्नो का बचत निवेश व उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

अन्त मे राजकोषीय नीति के द्वारा अवस्फीति के विरुद्ध किए गए प्रयत्नो के सम्बन्ध में पहले भी बताया गया है कि इनकी प्रभावकारिता सीमित होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि कीन्स द्वारा जिन परिस्थितियो मे इस नीति को अपनाने का सुझाव दिया गया था वे इन देशों मे उपलब्ध नहीं है। इसी कारण ये नीतियाँ प्रभावशाली नहीं हो पातीं।[1]

18

सार्वजनिक ऋण के सिद्धान्त, इनके आर्थिक प्रभाव, वित्त के रूप में ऋण और बचत, भारत के सार्वजनिक ऋण

(Theory of Public Debt, Its Economic Effects, Loans and Savings as Sources of Finance, Internal and External Public Debt of India)

सार्वजनिक आय के सन्दर्भ में साधारणतः यही समझा जाता है कि किसी वर्ष विशेष से सार्वजनिक आय की माँग पूरी करने के लिए जो ऋण लिए जाते हैं वे उस वर्ष की आय के एक अंग हैं। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से ऋण को सार्वजनिक आय में सम्मिलित करना भूल है। सार्वजनिक आय और *सार्वजनिक ऋण में आधारभूत अन्तर यही है कि आय की पूर्ति ऋण लेकर की जा सकती है पर* ऋण वापिस चुकाना पड़ता है। ऋण को चुकाने तथा उस पर ब्याज देने का भार सरकार पर आ पड़ता है अतः साधारण परिस्थितियों में ऋण न लेना ही उत्तम है। ऋण को सार्वजनिक आय की दृष्टि से 'असाधारण वित्त' भी कहा जाता है। यह एक अप्राकृतिक स्थिति है। डॉल्टन का विचार है "एक देश जो बड़ी मात्रा में ऋण संगृहीत कर लेता है एक अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाता है।

सार्वजनिक ऋण का अर्थ सरल शब्दों में राज्य का व्यय उसकी आमदनी से अधिक होने पर जब वह जनता से धन उधार लेकर अपना खर्च पूरा करती है तो उसे सार्वजनिक ऋण कहा जाता है। यह वह लोक-आगम है जो सरकार पर उसे ऋणदाता को वापिस करने का दायित्व डालता है। सरकार को न केवल ऋण वापिस करना होता है वरन् उसे ब्याज भी देना होता है। कुछ ऋण ऐसे हैं जो सरकार *को वापिस नहीं करने होते पर ब्याज उन पर भी देना होता है। डॉ. मेहता के शब्दों में* "सार्वजनिक आय वह प्राप्ति है जिसको ~ उसके देने वाले को वापिस करने के लिए सरकार बाध्य नहीं होती दूसरी ओर सार्वजनिक ऋण सरकार पर ऐसा बोझा डालता है कि जिसे लौटाना अनिवार्य हो।

सार्वजनिक ऋण का विकास, महत्त्व एवं उद्देश्य

(Development, Objects and Importance of Public Debt)

वैधानिक सरकार की उत्पत्ति और इन सरकारों की साख (Credit) में वृद्धि के साथ-साथ निजी धन का स्थान सार्वजनिक ऋणों ने ले लिया। मुद्रा बाजार व ऋण-पत्रों के क्रय-विक्रय के विकास तथा ऋण संस्थानों के निर्माण व विकास आदि से सार्वजनिक ऋणों के लेने का कार्य अधिक सुविधाजनक हो गया और इन अनुकूल परिस्थितियों में अब सार्वजनिक ऋणों का इतना विकास हो चुका है कि सम्भवतः कोई राज्य ऐसा नहीं है जिस पर थोड़ा-बहुत ऋण भार न हो। सभी सरकारें बहुत बड़े पैमाने पर ऋण लेकर इसे उत्पादक या अनुत्पादक कार्यों में लगाती हैं। इस कारण विभिन्न राज्यों के ऋण-भार में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। वास्तव में संसार के अधिकांश महत्त्वपूर्ण देशों के सरकारी ऋण युद्धों के कारण एक बड़ी सीमा तक 'फलहीन ऋण' (Dead Weight Debts) बन गए हैं और पिछले दो विश्व युद्धों एवं अनेक महायुद्धों से ऐसे ऋणों की राशि में बहुत वृद्धि हुई है।

परम्परावादी अर्थशास्त्री सार्वजनिक ऋण को अच्छा नहीं मानते थे। एडम स्मिथ का विचार था कि 'सार्वजनिक ऋण से फिजूलखर्ची, बेकार के युद्ध और बुरी आर्थिक दशा उत्पन्न होती है।' परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री सार्वजनिक ऋण की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। राज्य जिन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक ऋणों को आश्रय देता है उनसे सार्वजनिक ऋण की उपयोगिता और महत्त्व

पर समुचित प्रकाश पड़ता है। इसके बढ़ते हुए महत्त्व और उद्देश्यों को संक्षेप में निम्न रूप में प्रकट कर सकते हैं—

1 जब साधारण परिस्थितियाँ आकस्मिक रूप से आती हैं तब लोगों को सहायता व रोजगार देने के लिए कर-राजस्व से काम नहीं चलता है और अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है। सरकार द्वारा इस धन की पूर्ति सार्वजनिक ऋणों से की जाती है।

2 सरकार को विभिन्न सार्वजनिक कार्यों व उपक्रमों के लिए विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। जनता को अधिकतम लाभ पहुँचाने के लिए जनोपयोगी सेवाओं को निभाना होता है। अतः यदि इन व्ययों की पूर्ति साधारण लोक आगम द्वारा नहीं हो पाती तो सरकार ऋण लेती है। ये सभी कार्य उत्पादक होते हैं अतः सरकार इनकी आय से ऋण और ब्याज का भुगतान करती रहती है।

3 सरकार उत्पादक कार्यों के लिए अथवा देश के प्राकृतिक साधनों को अधिकाधिक विदोहन करने के लिए या अपने व्यावसायिक कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए ऋण लेती है। विकासशील देशों में जहाँ करारोपण से पर्याप्त आय सम्भव नहीं है विकास हेतु ऋण लेना एक अन्तिम मार्ग है। आज प्राचीन काल की वही व्यवस्था उपयुक्त नहीं मानी जाती जिसके अन्तर्गत संकटकालीन कोषों का निर्माण किया जाता था। प्रो मेहता ने लिखा है अब हम व्यापार और आर्थिक उद्देश्यों के लिए धन की आवश्यकता महसूस करते हैं। धन की यह आवश्यकता इतनी अधिक मात्रा में होती है कि इतनी सारी पूँजी को जमा रखना अपव्यय होगा। संचित राशि का अर्थ है धन को व्यर्थ में संग्रह कर रखना। इसलिए क्यों न पैसा मनुष्यों के पास रहने दिया जाए जिससे लोग उसका उपयोग करते रहें और जब राज्य को आवश्यकता हो तब जनता से उधार ले लिया जाए।

4 सार्वजनिक ऋणों का आश्रय जनमत को अनुकूल बनाने के लिए लिया जाता है। विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय और लोगों की करदेय क्षमता कम होती है। अतः वहाँ आवश्यकतानुसार कर-आय उपलब्ध नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में करारोपण में वृद्धि से जनता में अशान्ति रहती है अतः सरकार करों में वृद्धि न करके ऋण द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। कभी-कभी आर्थिक करदेय क्षमता होने पर भी सरकार जनमत को अनुकूल बनाए रखने के लिए ऋणों का सहारा लेती है। वह इन ऋणों को उत्पादक कार्यों में लगाती है। जनमत को इससे सन्तोष होता है कि सरकार न केवल प्रजा से पैसा लेकर बल्कि दूसरों से पैसा लेकर देश की आर्थिक प्रगति करने पर तुली हुई है।

5 प्रशासनिक कार्यों की पूर्ति के लिए सभी सरकारों को सार्वजनिक ऋणों का दरवाजा खटखटाना पड़ता है। राज्य को आय वर्ष के अन्त में प्राप्त होती है जबकि व्यय उसे वर्ष के प्रारम्भ से करना होता है। इस व्यय की पूर्ति वह ऋण लेकर करती है और आय उपलब्ध होने पर उसका भुगतान कर देती है। आधुनिक काल में युद्ध और रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था बड़ी व्यय साध्य हो गई है। जिसे बिना ऋणों की सहायता सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिए बड़े-बड़े देशों ने युद्ध-काल में ऋण प्राप्त किए हैं।

6 आजकल सरकार के कार्यों में देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखना विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्फीति काल अथवा मन्दी काल में लोगों के पास व्यय शक्ति को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से सरकार ऋण लेती है। इसके अतिरिक्त सरकार जब सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति साधारण सार्वजनिक आगम के द्वारा नहीं कर पाती तो घाटे के बजट को सन्तुलित करने के लिए सार्वजनिक ऋण लिए जाते हैं।

7 आज अधिकांश देश समाजवादी समाज की स्थापना में संलग्न हैं। वे उद्योगों व व्यापारों का राष्ट्रीयकरण करते जा रहे हैं और नए उपक्रमों की स्थापना कर रहे हैं। इस कार्य के लिए विशाल धन-राशि की आवश्यकता पड़ती है जिसकी बहुत कुछ पूर्ति ऋणों द्वारा की जाती है।

8 विश्व का प्रांगण दिन-प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा है और विश्व के विभिन्न देशों में मैत्री का प्रसार हो रहा है। सार्वजनिक ऋण इस मित्रता को अधिक गहरा करने में सहायता प्रदान करते हैं। इनसे लोगों में पारस्परिक सहयोग निर्भरता और भाईचारे की भावना उत्पन्न होती है।

इसका आशय यह नहीं है कि राज्य के लिए सार्वजनिक ऋण प्राप्त करना अनिवार्य है। चालू व्यय को करारोपण द्वारा पूरा किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से अपव्ययता कम होती है और आने वाली सरकारों पर ऋण-भार नहीं पड़ता। ऋणों की व्यवस्था आवश्यकता होने पर की जानी चाहिए और

इसका आकार यथासम्भव न्यूनतम होना चाहिए। यह प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए कि ऋण अनुत्पादक कार्यों मे लगाए जाएँ, क्योंकि इसका राष्ट्रीय उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आवश्यकता होने पर, चालू व्ययो को ऋणो द्वारा पूरा किया जा सकता है लेकिन इसे स्थायी नीति का रूप नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य है कि अस्थिर प्रवृत्तियो मे चालू व्ययो को ऋणो द्वारा पूरा किया जा सकता है। यहाँ यह देखना आवश्यक होगा कि सकटो की अवधि कितनी है। यदि सकट अल्पकालीन है तब ऋण द्वारा व्यय की पूर्ति करने मे कोई हानि नही है लेकिन सकट दीर्घकालीन है तो अवश्य ही कर-व्यवस्था मे उचित परिवर्तन करने होगे। युद्धग्रस्त अर्थव्यवस्था की स्थिति बिल्कुल अलग है, क्योंकि युद्ध तो एक राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न होता है अत देश के सम्पूर्ण साधनो को जुटाना पड़ता है। आधुनिक युद्ध-सचालन इतना अधिक खर्चीला होता है कि केवल राष्ट्रीय स्रोतो से काम नहीं चलता। युद्धकाल में ऋण लेने पडते है, नए कर लगाने पडते है और पुराने करो की दरो मे वृद्धि की जाती है। अभिप्राय यह है कि किसी एक उपाय पर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं होती और न ऐसा सम्भव होता है। साधारण काल मे यह वाँछित है कि सरकार यथासम्भव केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करे। किसी योजना को आरम्भ करने से पूर्व यह निश्चित कर लिया जाए कि उस योजना को पूरा करना देश के हित मे है अथवा नहीं और क्या उस उपक्रम को सरकार के अतिरिक्त कोई अन्य सस्था सफलतापूर्वक नही चला सकती। यदि ये दोनो तथ्य सरकार के पक्ष मे हो तो उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेना अनुपयुक्त न होगा। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक सेवाएँ एक प्रकार के चालू व्यय है जो बार-बार उत्पन्न होते है। अत ऐसे व्ययो को कर-आय द्वारा पूरा करना चाहिए।

सार्वजनिक ऋण और व्यक्तिगत ऋण
(Public Debt and Individual Debt)

प्रो. मेहता के अनुसार निजी ऋण और लोक ऋण का अन्तर इस पर आधारित है कि राज्य विभिन्न व्यक्तियो का सगठन है। इसमे सन्देह नहीं कि राज्य व्यक्तियो की तरह ऋण प्राप्त करता है परन्तु राज्य जो ऋण लेता है उसे समाज के हित मे व्यय किया जाता है। राजकीय और ऋणो की व्यवस्था और उपयोग के क्षेत्र मे मौलिक भेद निम्न प्रकार है—

1. ऋण लेने व भुगतान मे अनिवार्यता—राज्य सर्वप्रभुत्व सम्पन्न होने के कारण जनता को ऋण देने अथवा ऋण पर कम ब्याज देने के लिए बाध्य कर सकता है लेकिन व्यक्ति किसी व्यक्ति या सस्था को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता और न ही ऋणदाता की इच्छा के विरुद्ध ब्याज की दर को अपने अनुकूल परिवर्तित कर सकता है।

ऋण लेने के समान भुगतान मे अनिवार्यता का अन्तर है। कोई व्यक्ति राज्य को ऋण का भुगतान करने के लिए बाध्य नही कर सकता लेकिन ऋणदाता ऋणी को ऋण का भुगतान करने के लिए बाध्य कर सकता है। यह स्मरणीय है कि आज के प्रजातान्त्रिक युग मे कोई राज्य न तो जबरदस्ती ऋण लेता है और न ऋण का भुगतान करने से इन्कार करता है अन्यथा उसकी साख खत्म हो जाती है और जनता में असन्तोष व्याप्त होने का भय रहता है।

2. ऋण को स्वीकार करना—राज्य अपनी सार्वभौम शक्ति के बल पर ऋणो को अदा करने से इन्कार कर सकता है जबकि व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि ऋणदाता को कानून की सहायता प्राप्त हो सकती है। ऋणो के भुगतान से इन्कार नहीं किया जाता क्योंकि ऐसा करने से साख समाप्त हो जाने का भय रहता है। फिर विदेशी ऋणो के सम्बन्ध मे ऐसा करने पर युद्ध तक की नौबत पहुँच सकती है।

3. ऋण का उद्देश्य—व्यक्ति द्वारा ऋण लेने पर ऋणदाता उसके ऋण लेने के उद्देश्य को ज्ञात करना चाहता है लेकिन राज्य को ऋण देते समय इतनी गहराई मे जाने की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्तिगत ऋण के सम्बन्ध मे ऋणशोधन ऋण लेने वाले की स्थिति आदि पर विचार किया जाता है जबकि सरकार के सम्बन्ध मे यह आवश्यक नहीं होता। सरकार की स्थिति स्वय प्रकाशित होती है और उसके ऋण-शोधन के साधन विस्तृत होते है अत ऋणदाता को विश्वास रहता है कि उनका रुपया निश्चित शर्तों के अनुसार वापिस मिल जाएगा।

4. ऋण प्राप्ति का रूप—व्यक्ति की तुलना मे राज्य की साख बहुत अधिक होती है, अत. राज्य को कम ब्याज की दर पर रुपया उधार देना अधिक सुरक्षित समझा जाता है। सरकार बाहर के

व्यक्तियों से ऋण लेकर अथवा स्वय साख-पत्र निर्गमित कर सुगमतापूर्वक सार्वजनिक ऋण प्राप्त कर सकती है। सरकार पत्र-मुद्रा-निर्गमन करके काम चला सकती है लेकिन एक व्यक्ति इतने अधिकारो का प्रयोग नहीं कर सकता।

5. ऋण की मात्रा, जमानत और अवधि—व्यक्ति की तुलना मे राज्य के ऋण की मात्रा बहुत अधिक होती है। राज्य को बिना किसी जमानत के रुपया उधार मिल जाता है जबकि व्यक्ति को ऋण तभी मिलता है जब वह कोई अच्छी धरोहर प्रस्तुत करने के लिए तैयार होता है। सरकार स्थायी और दीर्घकालीन ऋण प्राप्त कर सकती है क्योकि सरकार एक दीर्घकालीन स्थायी ढॉचा है जिसमे कार्यकर्ता बदलते है परन्तु व्यवस्था स्थिर रहती है अत उन्हे दीर्घकालीन ऋण प्राप्त होता है। व्यक्तिगत ऋण का भार प्राय दूसरे व्यक्ति अपने ऊपर नहीं लेते अत उन्हे दीर्घकालीन ऋण नहीं मिलता।

6. भार का अन्तर—निजी ऋण मे ऋणदाता को ऋण की पूरी रकम वापस करनी होती है जबकि सार्वजनिक ऋण मे प्रत्यक्षत ऐसा ही होता है किन्तु वास्तव मे यह रकम कुछ कम होती है। कारण यह है कि निजी ऋणो का भुगतान अतिरिक्त करारोपण से किया जाता है जिसका भार ऋणदाताओ पर पडता है और उन्हे पूरी रकम वापिस नही मिलती।

7. ऋण का उपयोग—व्यक्ति ऋण को निजी लाभ के लिए व्यय करता है। व्यक्ति के व्यय में ऋणदाता को कोई लाभ नही पहुँचता बल्कि उसे तो वर्तमान आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से वंचित रहना पड़ता है। इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण का व्यय राज्य जन हित मे करता है जिसमे ऋणदाताओ को उस व्यक्ति से लाभ पहुँचता है।

8 ऋण का क्षेत्र—एक व्यक्ति देश की सीमाओ के अन्दर ऋण प्राप्त कर सकता है जबकि एक सरकार विदेशो से और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ से भी ऋण प्राप्त कर सकती है।

9. उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव—सरकारी ऋणो का देश की उत्पादन और वितरण व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पडता है परन्तु व्यक्तिगत ऋणो का ऐसा प्रभाव नहीं होता।

10 ऋणो का उद्देश्य—व्यक्ति तभी ऋण लेता है जब उसे धन की बहुत आवश्यकता होती है लेकिन सरकार बिना धन की आवश्यकता के ऋण लेती है। आधुनिक सरकारो का दायित्व समाज के सन्तुलित विकास के लिए आर्थिक स्थिरता बनाए रखने और आर्थिक व्यवस्था मे आवश्यक परिवर्तन करने की दृष्टि से सरकार ऋण ले लेती है। उदाहरण के लिए मुद्रा-स्फीति के समय जनता के पास क्रय-शक्ति कम करने की दृष्टि से सरकार ऋण ले सकती है और वह देश मे सामान्य मूल्य स्तर को नीचा गिराने में सफल हो सकती है। कभी कभी सरकार देश के उत्पादन अथवा वितरण मे मनोवांछित परिवर्तन करने के लिए ऋण लेती है जबकि व्यक्ति को ऐसे ऋणो की आवश्यकता नहीं होती।

सार्वजनिक ऋण तथा कर मे अन्तर

(Distinction between Public Debt and Tax)

सार्वजनिक ऋण करों की भाँति लोक-आगम का एक महत्त्वपूर्ण अग है। कुछ लेखको ने सार्वजनिक ऋणो की निंदा की है और करो से प्राप्त आय को अधिक अच्छा बताया है। इस विवाद पर विचार करने से पूर्व दोनो में से आय प्राप्त करने का कौन सा स्रोत अधिक अच्छा है हमें सार्वजनिक ऋण और करो के मौलिक अन्तर को समझ लेना चाहिए।

1 वापिस करने के दायित्व—कर प्राप्ति मे सरकार का कोई दायित्व नहीं रहता। करारोपण लोक-आगम के क्षेत्र मे आय का साधन है। इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण सरकार पर एक बोझ डालते है। ऋणो को वापस करने का ही नहीं वरन् उन पर ब्याज देने का दायित्व सरकार पर आ पडता है।

2 प्राप्ति के स्रोत—करारोपण देश की जनता पर होता है जबकि सार्वजनिक ऋण देश की जनता से लिया जा सकता है और विदेशो तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी लिया जा सकता है। विदेशो से ऋण प्राप्त करना प्राय अच्छा नहीं होता क्योकि विदेशी विनिमय एव अन्य आर्थिक दुष्परिणामो के अतिरिक्त इनसे देश की स्वतन्त्र नीति प्रभावित हो सकती है। ऋणदाता देश पर अप्रत्यक्ष दबाव डाल सकते है।

3. भार एवं लाभ—करारोपण का भार और लाभ दोनों वर्तमान पीढ़ी प्राप्त करती है । कर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में लिए जाते हैं और इनका उपयोग उन कार्यों व सेवाओं में किया जाता है जिनका प्रतिफल शीघ्र मिले लेकिन सार्वजनिक ऋण की स्थिति कुछ अलग होती है । सूखा, बाढ़, आदि की असाधारण परिस्थितियों में अथवा तुरन्त प्रतिफल देने वाले कार्य को पूरा करने के लिए ऋण लिये जाते हैं तब तो वर्तमान पीढ़ी लाभान्वित होती है लेकिन जब दीर्घकालीन योजनाओं के लिए ऋण लिए जाते हैं तो यह व्यापक सम्भावना रहती है कि पूरा लाभ आगामी पीढ़ी को ही मिले ।

4. स्वभाव—करों का स्वभाव नियमित होता है । साधारण वित्तीय व्यवस्था के संचालन के लिए सरकार करों द्वारा अपना कार्य चलाती है । इसके विपरीत ऋण प्राय असाधारण परिस्थितियों में लिए जाते हैं । संकटकाल में विशेष आय की आवश्यकता की पूर्ति सार्वजनिक ऋणों द्वारा की जाती है ।

5. मितव्ययिता—जब तक सरकार कर-आय से काम चलाती है वह सोच-विचार कर व्यय करती है परन्तु जब सरकार ऋण लेकर खर्च करने की आदी हो जाती है तो वह फिजूलखर्ची करती है । इससे सरकार की कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है । दूसरी ओर ऋणों का उपयोग सावधानी से किया जा सकता है यदि प्रशासन पर्याप्त कुशल हो । अत औचित्य एवं मितव्ययिता की दृष्टि से आवश्यकतानुसार दोनों साधन उपयोगी हो सकते हैं ।

सार्वजनिक ऋणों और करों के भेद को स्पष्ट कर देने के बाद अब यह निर्णय करना है कि सार्वजनिक आय के स्रोतों में कर अच्छे हैं या ऋण । वास्तव में ऋण और कर दोनों सार्वजनिक आय की पूर्ति करते हैं और दोनों ही सरकार के लिए उपयोगी हैं दोनों के उपयोग के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों की विभिन्न मान्यताएँ हैं ।

करारोपण आय का नियमित साधन है और यह उपयुक्त है कि सरकार प्रशासनिक अथवा साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करारोपण से करे । विशाल व्ययों के लिए करों का प्रयोग न तो वांछनीय है और न फलदायक । करों से जो अल्प आय प्राप्त होती है उससे पूँजीगत व्ययों की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता । करारोपण की एक सीमा होती है जिससे आगे बढ़ना जनता के असन्तोष को निमन्त्रण देना है । अब यह प्रश्न उठता है कि क्या सामान्य व्यय और प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति सार्वजनिक ऋणों द्वारा करना अनुचित होगा ? इसका उत्तर पूर्णत नकारात्मक नहीं हो सकता क्योंकि सरकार सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अल्पकालीन ऋण लेने को बाध्य हो जाती है । इसमें दो बातों का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए—एक यथासम्भव कराधान के माध्यम से इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेनी चाहिए और दूसरे यदि सार्वजनिक ऋण लिए जाएँ तो निकट भविष्य में कर-आय से उसका भुगतान कर देना चाहिए । विशेष परिस्थितियों को छोड़कर यही वांछनीय है कि राज्य अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए ऋण लेने का अभ्यस्त न हो अन्यथा ऋण व ब्याज की राशि का भुगतान करने के लिए ऊँची दर से करारोपण करना पड़ेगा और यदि बार-बार उत्पन्न होने वाले व्ययों के लिए बार-बार ऋण लिए जाते रहेंगे और हर बार कर लगाए जाते रहेंगे तो राजस्व का सम्पूर्ण ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जायेगा ।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहना उचित होगा कि उत्पादक सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति जो लम्बे समय में फैल जाती है ऋणों द्वारा की जानी चाहिए । विपरीत अल्पकालीन तथा अनुत्पादक स्वभाव के सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति करारोपण द्वारा की जानी चाहिए । तात्पर्य यह है कि परिस्थितियों के अनुसार आय के ये दोनों स्रोत उपयोगी और श्रेष्ठ है तथा दोनों ही एक-दूसरे के पूरक बन कर कार्य करें ।

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
(Classification of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण परस्पर स्वभाव गुण रूप भार आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हो जाते हैं अत समय प्रयोग बारम्बारता (Frequency) आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है ।

(1) अवधि के अनुसार अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋण
(Short Period Loans and Long Period Loans)

ऋण जब एक निश्चित समय के लिए होते हैं तो उनकी एक पूर्ण देय अवधि अथवा शोधन (Maturity or Redemption) होता है अन्यथा नहीं। जिन ऋणों के भुगतान करने की तिथि नहीं होती उन्हें कोषित ऋण (Funded Debt) कहते हैं। इनका मूलधन वापस करने का कोई वायदा नहीं होता केवल नियमित ब्याज भुगतान का दायित्व रहता है। जो ऋण लम्बे काल के लिए होते हैं उन्हें भी कोषित ऋण की श्रेणी में रख लिया जाता है। दूसरी ओर अकोषित अथवा चालू ऋण (Unfunded or Floating Debt) वे होते हैं जिनका न केवल ब्याज वरन् मूलधन भी निश्चित अवधि के बाद लौटाया जाता है। यह वर्गीकरण एकदम सुनिश्चित नहीं है।

अकोषित ऋणों को उनके वापस किए जाने के समय की अवधि के आधार पर अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों में बाँटा जाता है। दोनों ऋणों के मध्य कोई निश्चित विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। दीर्घकालीन ऋण वे होते हैं जिनकी शोधन तिथि (Date of Maturity) प्रायः 10 या इससे अधिक वर्षों के बाद आती है और अल्पकालीन ऋण वे होते हैं जिनकी शोधन तिथि (Date of Maturity) 10 वर्ष पूर्व ही होती है। जैसे—भारत में केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किए गए ट्रेजरी बिल जिनकी अवधि 3 या ■ मास की होती है अथवा रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को दिए जाने वाले अर्थोपाय उधार (Ways and Means Advances) जिनका भुगतान 90 दिन के अन्दर करना होता है। अल्पकालिक ऋणों को अकोषित ऋण (Unfunded Debt) या अस्थायी ऋण (Terminable Debt) या चल ऋण (Floating Debt) या शोध्य ऋण (Redeemable Debt) आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है और दीर्घकालीन ऋणों को कोषित ऋण (Funded Debt) या स्थायी ऋण या अशोध्य (Perpetual or Non terminable Debt) नाम दिया जाता है।

अल्पकालीन ऋण कम अवधि हेतु लिए जाते हैं। सरकार ऐसे ऋण अपने बजट में चालू खर्च या अल्पकालिक कमी या स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लेती है। अतः सरकार को इस ऋण के भुगतान हेतु किसी कोष की स्थापना करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इसे अकोषित ऋण (Unfunded Debt) कहा जाता है। सरकार अल्पकालीन ऋणों के ब्याज का भुगतान अपनी साधारण आय में से और समय आने पर मूलधन का भुगतान प्रायः अन्य ऋणों द्वारा प्राप्त रकम से कर देती है। इसलिए इन्हें चल ऋण (Floating Debt) कहा जाता है। इसके विपरीत दीर्घकालीन ऋण बहुत लम्बी अवधि हेतु लिए जाते हैं। सरकार इस प्रकार का ऋण नहर, रेल, विद्युत केन्द्र आदि बनाने के लिए लेती है। इस ऋण के भुगतान के लिए सरकार को पृथक् से एक कोष का निर्माण करना होता है। यही कारण है कि इस ऋण को कोषित ऋण कहते हैं। इस कोष में उस साधन की आय में से रुपया जमा किया जाता है जिसके लिए ऋण लिया गया है। ऐसे कोष का निर्माण कर देने से ऋण का भुगतान सुविधापूर्वक हो जाता है।

गुण-दोष—*अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋणों के अपने-अपने गुण-दोष हैं। बैंकों के लिए निजी विनियोग करने की दृष्टि से अल्पकालीन ऋण उपयुक्त हैं। मुद्रा बाजार में इनका स्वागत* किया जाता है क्योंकि बैंकों के लिए ये सबसे अच्छे विनियोग के साधन होते हैं। सरकार अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं ऋणों को लेकर करती है। इन्हें सुविधानुसार दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित किया जा सकता है। अल्पकालीन ऋण उस समय जारी किए जाते हैं जब ब्याज की दर ऊँची होती है। इसके विपरीत दीर्घकालीन ऋण उस समय जारी किए जाते हैं जब ब्याज की दर नीची हो जाती है। अतः कई बार समय-समय पर अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है। इन गुणों के साथ ही अल्पकालीन ऋणों के कुछ दोष भी हैं। अल्पकालीन ऋणों को प्राप्त करने में सुविधा न होने के कारण सरकार बिना किसी रुकावट के ऋण लिए चली जाती है। अप्रतिबन्धित रूप से ऋण प्राप्त करने की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति से अमितव्ययता को प्रोत्साहन मिलता है। जब इन ऋणों का नियमित ढंग से भुगतान करने का प्रबन्ध नहीं किया जाता तो सरकार ऐसे ऋणों को चुकाने के लिए पुनः ऋण ले लेती है और अल्पकालीन ऋणों का क्रम चलता रहता है और वे स्थाई ऋणों का रूप ले लेते हैं। जब ये अस्थाई ऋण स्थाई ऋणों में परिवर्तित हो जाते हैं तो समाज

और सरकार दोनों के लिए बहुत भारी सिद्ध होते है । बैकों के लिए पूँजी विनियोग की दृष्टि से अल्पकालीन ऋण उपयुक्त होते है लेकिन कभी-कभी बैको द्वारा इस प्रकार के विनियोग का परिणाम यह निकलता है कि व्यापार और उद्योगो के लिए रुपये की कमी हो जाती है ।

दीर्घकालीन ऋणों में गुण और दोष दोनों है । राज्य की दृष्टि से दीर्घकालीन ऋण अच्छे होते हैं क्योंकि सरकार को निकट भविष्य में ऐसे ऋणों के भुगतान की चिन्ता नहीं रहती । वह इनके भुगतान के लिए तब तक रुक सकती है जब तक कि वह सकट नियन्त्रित न हो जाए जिसके लिये ये ऋण लिए गए थे । दीर्घकालीन ऋणो के भुगतान की इस कठिनाई को अनुभव करके कुछ देशो मे अनिश्चित कालीन ऋण (Perpetual Debt) जारी होते है । इनकी कोई निश्चित शोधन तिथि (Date of Maturity) नहीं होती । उदाहरण के लिए इग्लैण्ड के ऋणो का एक बडा भाग इसी प्रकार का है । सरकार इन ऋणो का भुगतान तभी करती है जब उसके लिए ऐसा करना सुविधाजनक होता है । दीर्घकालीन ऋण इसलिए सुविधाजनक होते है कि इनका भुगतान करने के लिए एक पृथक् कोष बना दिया जाता है जिसमें उस साधन की आय मे से रुपया जमा किया जाता है जिसके लिए ऋण लिये गये है । इससे ऋण का भुगतान सुविधाजनक हो जाता है । सरकार को केवल ब्याज के भुगतान का दायित्व लेना होता है । दीर्घकालीन ऋण इसलिए भी अच्छे है कि ये कम ब्याज पर लिए जाते है । विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए दीर्घकालीन ऋण उचित माने जाते है । इनसे देश मे पूँजी सचय को प्रोत्साहन मिलता है । इन गुणों के साथ दीर्घकालीन ऋणो के कुछ दोष भी है । दीर्घकालीन ऋणो का प्रयोग स्वतन्त्रता से किया जाता है जिससे अपव्यय को बढावा मिलता है । विशेष परिस्थितियों मे सरकार के दीर्घकालीन ऋण इतने बढ जाते है कि इनसे उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर प्रभाव पडने लगता है । इसके अतिरिक्त विनियोगकर्त्ताओ की पूँजी एक लम्बे समय के लिए फँस जाती है जिसके कारण वे अपनी पूँजी के उपयोग में परिवर्तन नहीं कर पाते ।

(2) प्राप्ति के अनुसार आन्तरिक और बाह्य ऋण
(Internal Debt and External Debt)

ऋण प्राप्त करने की दृष्टि से सार्वजनिक ऋणो को दो भागो मे विभाजित किया गया है—आन्तरिक ऋण एव बाह्य अथवा विदेशी ऋण । आन्तरिक ऋण वे है जो देश के अन्दर की जनता बैक तथा अन्य सस्थाओं से प्राप्त किये जाते हैं । इसके विपरीत बाह्य ऋण वे है जो विदेशी ऋणदाताओं और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सस्थाओ से प्राप्त किये जाते है ।

आन्तरिक और बाह्य ऋणो की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार है—(i) सरकार यही प्रयास करती है कि उसे आन्तरिक ऋण पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हो जाएँ किन्तु जब वह इस प्रयास मे असफल रहती है तब से बाह्य ऋणों का सहारा लेना पडता है । विदेशी ऋण विकास कार्यों और सकटकालीन परिस्थितियों के अनुकूल होते है किन्तु देश के अन्दर इतनी बडी मात्रा मे और तत्काल ऋण की व्यवस्था नहीं हो पाती । (ii) सरकार को आन्तरिक ऋण अपने देशवासियो से अपनी ही मुद्रा मे मिलते है । अत विदेशी ऋणों का महत्त्व उस समय बढ जाता है जिस समय विदेशी भुगतान की असाम्यता (Disequilibrium) बढ जाती है तथा अन्य कोई आय न होने के कारण विदेशी विनिमय प्राप्त करना असम्भव हो जाता है । (iii) आन्तरिक ऋण इच्छित और निश्चित दोनो प्रकार के हो सकते है जबकि विदेशी ऋण केवल इच्छित होते है । (iv) आन्तरिक ऋणो से देश के आर्थिक साधनो और राष्ट्रीय आय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि आन्तरिक ऋण से धन समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग को हस्तान्तरित हो जाता है लेकिन बाह्य ऋणो मे ब्याज के रूप मे धन विदेशो को दिया जाता है जिससे राष्ट्रीय आय कम हो जाती है ।

आन्तरिक ऋणो का भार

आन्तरिक ऋणो मे धन देश के बाहर नहीं जाता । केवल विभिन्न आय वाले वर्गों के बीच क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण होता है अत इनका कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नही पडता । जहाँ तक इनके वास्तविक भार का सम्बन्ध है यह इस पर निर्भर है कि ऋण का उपयोग अनुत्पादक कार्यों मे किया जाता है अथवा उत्पादक कार्यों मे । देश मे धन का वितरण असमान होता है तो इनका वास्तविक भार

बहुत अधिक होता है। इसके विपरीत यदि इनका उपयोग उत्पादन कार्यों मे किया जाता है और धन की समानता को प्रोत्साहन मिलता है तो इनका वास्तविक भार कम होता है।

आन्तरिक ऋणों का प्रत्यक्ष वास्तविक भार इस पर निर्भर करता है कि ऋण समाज के किस वर्ग ने दिया है और उसका भुगतान किस वर्ग को करना पड रहा है। यदि ऋण निर्धन वर्ग देता है तो उसका भुगतान धनी वर्ग पर करारोपण करके किया जाता है तो ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार बहुत कम होता है। इसके विपरीत यदि ऋण धनी वर्ग द्वारा दिया जाता है और निर्धन वर्ग द्वारा करों के रूप में उनका भुगतान होता है तो ऋणो का प्रत्यक्ष वास्तविक भार बहुत अधिक होता है। व्यावहारिक जीवन में अधिकाशत ऋणों का वास्तविक भार बहुत अधिक होता है क्योकि ऋण धनी व्यक्तियो द्वारा खरीदे जाते है और कर निर्धन व्यक्तियो को भी देना पडता है।

एक अन्य स्वरूप के अन्तर्गत आन्तरिक ऋणो का प्रत्यक्ष वास्तविक भार अधिक होता है। इन ऋणों से धन का हस्तान्तरण नवयुवकों से वृद्धो की ओर होता है और धन सक्रिय उपयोगो से निकलकर निष्क्रिय उपयोगो मे चला जाता है। अधिकाश ऋण वृद्ध व्यक्तियो द्वारा प्रदान किए जाते है जबकि उनका भुगतान नवयुवको पर कर लगाकर किया जाता है। कर का भुगतान अधिकाश नवयुवको को अपनी वर्तमान आय में से करना पडता है जबकि वृद्धों ने यह ऋण पुरानी बचतो मे से खरीदे थे। ऋण एकत्रित धन में से दिया जाता है जबकि उसका भुगतान सक्रिय उपयोगो के धन मे से होता है। स्पष्टत इस स्थिति में ऋण का वास्तविक प्रत्यक्ष भार बहुत अधिक होता है।

आन्तरिक ऋणों का अप्रत्यक्ष भार समाज पर पडता है। राज्य ऋण चुकाने के लिए लोगो पर करारोपण करता है जिसका भार नागरिको को वहन करना पडता है। इससे नागरिको की कार्य करने व बचत करने की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है जिससे उत्पादन विपरीत रूप से प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त ऋण चुकाने के लिए धन को कभी-कभी ऐसे कार्यों मे लगाया जाता है जिनसे नागरिकों का हित तुरन्त आगे नहीं बढता। इसका प्रभाव नागरिको की कार्यकुशलता पर पडता है। ऐसी स्थिति मे एक ओर तो देश मे उत्पादन को धक्का लगता है और दूसरी ओर धन के वितरण की असमानता में वृद्धि होती है। फलस्वरूप ऋण-भार अप्रत्यक्ष रूप से नागरिको को वहन करना पडता है। यदि ऋणदाता वर्ग की बचत करने की इच्छा करदाता वर्ग की तुलना में अधिक है तो नागरिक ऋणो से बचत को प्रोत्साहन मिलता है।

युद्ध-सचालन के लिए प्राप्त किए गए आन्तरिक ऋणो का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वास्तविक भार बहुत अधिक होता है। युद्ध-काल मे वस्तुओ की कमी होने से मूल्य बढते है जिससे नागरिको का जीवन-स्तर गिर जाता है। युद्ध के बाद बेकारी का प्रसार होता है मूल्यो मे गिरावट आती है ब्याज की दर घट जाती है। फलस्वरूप वास्तविक भार और अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त बाजार में ब्याज की दर घटने के कारण सरकारी प्रतिभूतियो पर ऊँची ब्याज की दर होने से उनका मूल्य ऊँचा हो जाता है। इससे ऋण का भार और अधिक हो जाता है। आन्तरिक ऋणो का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार यद्यपि कुछ नहीं होता किन्तु उनका वास्तविक भार बहुत अधिक होता है।

बाह्य ऋणो का भार

बाह्य ऋणो का मौद्रिक व वास्तविक भार ऋणी देश के नागरिकों को वहन करना पडता है। इन ऋणों का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार उस राशि से नापा जाता है जो ऋणी देश मूलधन और ब्याज के रूप में ऋणदाता देश को देता है और प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस हानि से नापा जा सकता है जो ऋण का भुगतान करते समय आर्थिक कल्याण मे होती है। ऐसे भार ऋणदाता को धनिक वर्ग चुकाता है तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम होता है और इनका भुगतान निर्धन व्यक्तियो द्वारा किया जाता है तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार अधिक होता है। प्रत्यक्ष वास्तविक भार इस पर निर्भर करता है कि वस्तुओ और सेवाओ का उपयोग समाज के किस वर्ग द्वारा किया जा रहा है।

बाह्य ऋणो का अप्रत्यक्ष मौद्रिक और वास्तविक भार ऋणी देश के नागरिको पर उत्पादन की कमी के कारण पडता है। ऋणो के कारण उत्पादन हतोत्साहित होता है क्योकि मूलधन और ब्याज के भुगतान के लिए राज्य को अधिकाधिक करारोपण का आश्रय लेना पडता है। इससे सार्वजनिक व्ययो मे कमी आ जाती है। यदि बाह्य ऋणो को उत्पादक कार्यों मे लगाया जाता है तब यह धारणा सत्य नहीं

संसरती। उत्पादक कार्यों में ऋणों को लगाने से देश का उत्पादन बढ़ता है और बढ़ते हुए उत्पादन से ऋणों का भुगतान सरलता से किया जा सकता है। वहीं मौद्रिक भार कम हो जाता है। उत्पादन के बढ़ने से वस्तुएँ और सेवाएँ सस्ती हो जाती हैं। परिणामस्वरूप आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है और स्थिति में ऋणों का वास्तविक भार कम हो जाता है अतः यह सोचना कि बाह्य ऋणों से ऋणी देश के नागरिकों को अनिवार्यतः ऋण का अप्रत्यक्ष भार वहन करना पड़ता है भ्रामक है।

पक्ष में तर्क

इन ऋणों के पक्ष में दिए गए मुख्य तर्क ये हैं—

1 संकट या अन्य विपत्ति के समय जब देश के आन्तरिक साधनों से आवश्यक धन नहीं मिल पाता तो बाह्य ऋणों से ही सहायता मिलती है। यदि दुर्भिक्ष बाढ़ आदि आकस्मिक परिस्थितियों के लिए सरकार आवश्यक वित्त की व्यवस्था में असफल रहती है तो इससे सामान्यजन का जीवन-स्तर कम हो जाता है उसकी कार्यकुशलता घट जाती है फलतः उत्पादन गिर जाता है और अर्थव्यवस्था में असामंजस्य आ जाता है। आन्तरिक ऋण पाने में असफल रहने पर ऐसी परिस्थिति में राज्य विदेशी ऋणों के बल पर सन्तुलन बनाए रख सकता है।

2 आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों में आर्थिक विकास विदेशी ऋणों के अभाव में सम्भव नहीं होता क्योंकि ऐसे देशों के नागरिकों की आय बहुत कम होती है जिससे उनकी बचत कम रहती है। इसलिए विदेशी सहायता धन के रूप में एवं मशीन यान्त्रिक ज्ञान आदि के रूप में प्राप्त होती है।

3 युद्ध-काल में एक देश को विपुल व्यय करना पड़ता है अतः आन्तरिक साधनों से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में बाह्य ऋण लेकर काम चलाया जाता है जो नकदी के अतिरिक्त युद्ध-सामग्री खाद्यान्नों आदि के रूप में हो सकता है।

4 युद्ध विनिष्ठ देशों का पुनर्निर्माण बाह्य ऋणों से हो पाता है। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना इसी ध्येय से की गई है।

5 विदेशी विनिमय अथवा भुगतान की प्रतिकूलता को बाह्य ऋणों से अनुकूल बनाया जाता है। ये कर्ज विदेशी माल के आयात करने में काफी सहायता पहुँचाते हैं।

विपक्ष में तर्क

बाह्य ऋणों के विपक्ष में प्रधानतः निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

1 बाह्य ऋणों का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार अधिक होता है क्योंकि मूलधन तथा ब्याज के रूप में राष्ट्रीय धन का बहुत-सा भाग विदेशों में चला जाता है। बाह्य ऋणों के अभाव में इस धन का उपयोग राष्ट्रीय उत्पादन और आय की वृद्धि के लिए किया जा सकता है।

2 बाह्य ऋण लेने से बाह्य ऋणदाताओं अथवा विदेशी सरकारों द्वारा राजनीतिक तथा आर्थिक हस्तक्षेप की सम्भावना रहती है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सावधानी रखी जाए तो विदेशी ऋण हानिकारक नहीं हैं। यदि बाह्य ऋणों का प्रबन्ध और नियन्त्रण राष्ट्रीय सरकार के हाथों में है और इनका उपयोग उत्पादक कार्यों में किया जाता है तो इनसे देश को हानि होने की आशंका कम रहती है।

(3) प्रयोग के अनुसार उत्पादक ऋण व अनुत्पादक ऋण
(Productive and Unproductive Debts)

प्रयोग की दृष्टि से ऋण उत्पादक या अनुत्पादक हो सकते हैं। उत्पादक ऋण को सक्रिय ऋण (Active Debt) और अनुत्पादक ऋण को निष्क्रिय ऋण (Passive Debt) या मृत-भार (Dead Weight Debts) कहते हैं। उत्पादक ऋण वे हैं जिनका उपयोग उत्पादन करने वाले कार्यों में होता है। ये वे ऋण हैं जिनका उपयोग ऐसी योजनाओं में किया जाता है जिनसे आय प्राप्त होती है जैसे—विद्युत उत्पादन व वितरण की योजनाएँ परिवहन व सिंचाई की योजनाएँ आदि। इन उद्योगों और योजनाओं से होने वाली आय में से उनका ब्याज चुकाया जाता है और मूलधन चुकाने के लिए शोधन-कोष बनाया जाता है। दूसरी ओर अनुत्पादक ऋण वे हैं जिनका उपयोग ऐसे कार्यों के लिए होता है जिनसे सीधा आर्थिक प्रतिफल नहीं मिलता। परियोजनाओं से धन सम्बन्धी लाभ मिलता है। यह मात्रा में बहुत कम

होता है। इनका उद्देश्य आय उपार्जित करना अथवा लाभ कमाना न होकर लोकहित, सामाजिक प्रथा आदि होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, बाढ़, सूखा, युद्ध आदि परिस्थितियों में सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले ऋण अनुत्पादक ऋण कहे जाते हैं लेकिन अनुत्पादक ऋण की विचारधारा न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि युद्ध, अकाल, भुखमरी आदि के समय व्यय करना लोकतान्त्रिक सरकार का दायित्व है और शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर व्यय करने से चाहे वर्तमान में आर्थिक लाभों की प्राप्ति न हो किन्तु सामाजिक उन्नति और दीर्घ दृष्टिकोण से अप्रत्यक्ष रूप से निश्चित रूप से विशेष लाभ प्राप्त होता है। उत्पादक ऋणों से उत्पादकता एवं आय वृद्धि में विकास होता है जिसके कारण ऋण एवं ब्याज अदायगी सुविधाजनक हो जाती है और वित्त व्यवस्था पर अतिरिक्त भार नहीं पड़ता है। अनुत्पादक ऋणों के कारण वित्त व्यवस्था आन्तरिक संसाधन को जुटाने में असमर्थ हो जाती है अतः मूल एवं ब्याज चुकाने हेतु पुनः ऋण लिया जाता है। इस परिस्थिति में देश एक तरह के ऋण चक्र (Debt Trap) में फँस जाता है।

श्रीमती हिक्स ने उत्पादक ऋणों को सक्रिय ऋण का नाम दिया है क्योंकि इनसे देश में धनोत्पादक व धन उत्पन्न करने की क्षमता में वृद्धि होती है और सरकार की मौद्रिक आय बढ़ती है। श्रीमती हिक्स ने अनुत्पादक ऋणों को मृत भार ऋण (Dead Weight Debt) इसलिए कहा है कि इन ऋणों के उपयोग से न समाज की उत्पादन शक्ति बढ़ती है और न सरकार की मौद्रिक आय में वृद्धि होती है। चूँकि सरकार को अधिक करारोपण करके या व्यय घटाकर इस ऋण से सम्बन्धित व्यय का भुगतान करना होता है अतः ऋण सरकार पर एक मृत भार के रूप में पड़ जाता है। श्रीमती हिक्स ने ऐसे अनुत्पादक ऋणों को निष्क्रिय ऋण का नाम दिया है जिनके उपयोग से न तो देश में तत्काल उत्पादक शक्ति में वृद्धि होती है और न राज्य को तत्काल मौद्रिक आय ही प्राप्त होती है। इनके व्यय से नागरिकों को तुरन्त सन्तोष और आराम मिलता है जिनसे उनकी उत्पादन शक्ति और कुशलता में शनैः शनैः वृद्धि हो जाती है और उन्हें स्थाई लाभ प्राप्त होता है।

(4) स्वभाव के अनुसार : ऐच्छिक एवं बलात् ऋण

(Voluntary and Compulsory ? Debt)

स्वभाव के अनुसार सार्वजनिक ऋण को दो भागों में विभाजित किया जाता है—ऐच्छिक ऋण तथा अनिवार्य अथवा बलात ऋण। ऐच्छिक ऋणों से अभिप्राय उन ऋणों से है जो व्यापारिक लाभ या राज हित की दृष्टि से स्वेच्छा से सरकार को दिए जाते हैं। ये ऋण सरकार की घोषणा मात्र से प्राप्त हो जाते हैं उनकी ओर से कोई दबाव नहीं पड़ता। ये ऋण आन्तरिक और बाह्य होते हैं।

इसके विपरीत अनिवार्य या अनिच्छित ऋण वे होते हैं जो सरकार अपनी सर्वोच्च शक्ति के प्रयोग से नागरिकों से जबरदस्ती लेती है। जब सरकार को ऐच्छिक ऋण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता तब वह नागरिकों पर दबाव डालकर उनसे ऋण प्राप्त कर लेती है। सरकार ऐसे ऋणों को तभी एकत्रित करती है जब संकट काल होता है अथवा सरकार की साख काफी कम हो गई होती है। इस प्रकार अनिवार्य ऋण का रूप बहुत कुछ करों के समान होता है। दोनों में अन्तर यह है कि कर सदा के लिए ले लिये जाते हैं जबकि ऋणों को किसी न किसी रूप में लौटाना होता है। 17वीं व 18वीं शताब्दी में अनिवार्य ऋणों का प्रचलन था आधुनिक सरकार ऐसे ऋणों के स्थान पर कर लगाना अधिक उपयुक्त समझती है।

ऐच्छिक ऋणों की व्यवस्था प्रत्येक देश में पाई जाती है और ये बहुत सुविधाजनक होते हैं। किसी विशेष राष्ट्रीय कार्य के लिए या देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर नागरिक स्वेच्छा से सरकार को रुपया उधार दे देते हैं। ऐच्छिक ऋण व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए प्राप्त किए जाते हैं जैसे—आर्थिक नियोजन या औद्योगिक या व्यापारिक कार्यक्रम आदि। इसके विपरीत अनिवार्य ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त किए जाते हैं जैसे—युद्ध संचालन। अनिवार्य ऋण को जनता पसन्द नहीं करती। इनमें जनता का मानसिक त्याग काफी अधिक होता है।

(5) बारम्बार के अनुसार : लौटरी व वार्षिकी ऋण

(Lottery and Annuity Loans)

बारम्बारता की दृष्टि से ऋण लौटरी अथवा वार्षिकी हो सकते हैं। कुछ ऋण (जैसे लौटरी ऋण) ऐसे होते हैं जो समय विशेष पर अथवा कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु लिए जाते हैं। ये ऋण तत्काल लिए

जाते हैं उदाहरणार्थ, भारत सरकार द्वारा निकाले गए इनामी बॉण्ड। ऋणदाता सरकार को कुछ उधार देते हैं और बदले में प्रमाण-पत्र प्राप्त करते है। निश्चित अवधि में सरकार इन ऋणदाताओं की पर्चियाँ निकालती है। इनसे जिन ऋणदाताओ के नामो की पर्चियाँ निकल आती है उन्हे सरकार द्वारा घोषित इनाम की राशि दी जाती है। इसके विपरीत वार्षिक ऋण वे है जिन्हे वह ऋण की रकम को वार्षिक किस्तों में अदा करती है। वार्षिकी ऋण एक साथ प्राप्त किए जाते हैं, किन्तु उनका शोधन धीरे-धीरे किया जाता है। यह रकम ऋणदाता को आजन्म वार्षिकी के रूप में चुकाई जा सकती है या कुछ वर्ष तक इसका भुगतान करने की व्यवस्था की जा सकती है। यदि ऋणदाता शर्तों को स्वीकार करने के लिए उद्यत हो जाएँ तब ऋण-पद्धति सरकार की दृष्टि से उपयुक्त है।

लॉटरी ऋण के विपक्ष मे बहुत कुछ कहा गया है। यह योजना शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं मानी गई है, क्योंकि यह एक प्रकार का जुआ है। लाटरी न निकालने वाले व्यक्ति को मूलधन निश्चित समय में अवश्य प्राप्त हो जाता है लेकिन उसे कोई ब्याज प्राप्त नहीं होता। इस ऋण प्रणाली को अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त करने के लिए और अधिक समय के लिए ऋण लेने की दृष्टि से उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

(6) अन्य ऋण (Other Loans)

व्यवहार में ऋणो के कुछ और रूप देखने को मिलते है जैसे—(i) शोध्य व अशोध्य, (ii) क्रय योग्य व अक्रय योग्य, (iii) ब्याज सहित व ब्याज रहित आदि।

(i) शोध्य व अशोध्य ऋण—शोध्य ऋण (Redeemable Debt) वे है जिनका भुगतान करने के लिए कोई समय निश्चित नहीं होता। सरकार केवल यही गारण्टी देती है कि ऋणो पर ब्याज का नियमित भुगतान एक निश्चित समय पर (सामान्यत छमाही) किस्तों मे किया जाता रहेगा। दीर्घकालीन ऋण कभी-कभी इस श्रेणी मे आते है। विशेषत सकटकालीन परिस्थितियो में देय ऋणो को अशोध्य ऋण घोषित कर दिया जाता है। अशोध्य ऋण वर्तमान मे लोकप्रिय नहीं है।

(ii) क्रय योग्य व अक्रय योग्य ऋण—क्रय योग्य ऋण (Marketable Debt) वे होते है जिनमें ऋण पत्र खुले बाजार में खरीदे-बेचे जाते है जैसे—सरकारी प्रतिभूतियाँ। आज के अधिकाश ऋण इसी प्रकार के होते है। अक्रय योग्य ऋण (Non-marketable Debt) वे होते है जिनमे ऋण-पत्रो को खुले बाजार में बेचा नहीं जा सकता वरन् पुनर्निर्धारित दरो पर केवल सरकार द्वारा ही बेचा जा सकता है, जैसे—डाकखाने के बचत ऋण-पत्र (Postal Saving Certificate)। अक्रय योग्य ऋणों का विशेष लाभ यह है कि ये ऋण खुले बाजार की क्रिया (Open Market Operations) को प्रभावित नहीं करते अर्थात् अर्थव्यवस्था पर इन सार्वजनिक ऋणों से पडने वाले प्रभाव को यथासम्भव दूर रखा जा सकता है।

(iii) ब्याज सहित ऋण व ब्याज रहित ऋण*—नाम से ही स्पष्ट है कि ब्याज सहित ऋण* (Interest Bearing Loans) वे है जिन पर सरकार ब्याज देने की गारण्टी देती है जबकि ब्याज रहित ऋण (Non-Interest Bearing Debt) वे है जिन पर कोई ब्याज नही दिया जाता। अतिरिक्त ब्याज रहित ऋण प्राचीन काल में गिरी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले शासक लिया करते थे किन्तु ये लोक प्रिय नहीं हो सके। सरकार मे अगाध आस्था होने पर अथवा विशेष सकटो के अवसर पर ब्याज रहित ऋण दिए जा सकते है।

सार्वजनिक ऋणो के सम्बन्ध में इस विवरण से प्रो. मेहता का यह कथन ठीक है कि सार्वजनिक ऋण अनेक प्रकार के होते है ये परस्पर एक-दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलते क्योकि उनका आधार अलग-अलग है। परस्पर इनमें यह अन्तर बाजार, ब्याज चुकाने के ढग, प्रयोग करने के ढग आदि के कारण हो जाया करता है।

ऋण-शोधन पद्धतियाँ

(Methods of Debt Redemption)

जब ऋण लिया जाता है तब उसका भुगतान करना भी आवश्यक है। ऋण शोधन की जो विभिन्न पद्धतियाँ अपनाई जाती है, वे अग्राकित प्रकार से हैं—

(1) ऋण निषेध (Debt Repudiation)

कई राज्य अपने ऋणों के भुगतान को इन्कार कर ऋण-भार से मुक्त हो सकते हैं पर यह नीति व्यावहारिक नही है। केवल क्रान्ति द्वारा स्थापित कोई सरकार इस विधि को अपना सकती है। यह सरलता से सम्भव नही है क्योंकि इससे सरकार की साख गिर जाती है तथा लोग सरकार का विरोध करने लगते है। यदि ऋण विदेशी सरकार अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से लिया है तो सरकार के न केवल विदेशी सत्ता से सम्बन्ध बिगड जाएँगे बल्कि युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऋणी राज्य की प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे गिर जायेगी मौद्रिक क्षेत्र मे उसकी साख समाप्त हो जाएगी और उसे भीषण वित्तीय कठिनाइयो का सामना करना पडेगा।

(2) ऋण-परिशोधन कोष की स्थापना (Establishment of the Sinking Fund)

ऋणों की अदायगी ऋण-परिशोधन-कोष की स्थापना द्वारा की जा सकती है। जब सरकार को किसी भारी ऋण का भुगतान एक साथ करना होता है तब वह ऐसे कोष की स्थापना करती है। इस पद्धति द्वारा ऋण भुगतान करने का सर्वप्रथम प्रयत्न इंग्लैण्ड मे किया गया और तत्पश्चात् इस नीति को अन्य देशों ने अपनाया। इस कोष में धन आने के दो तरीके हैं– प्रथम वार्षिक आय मे से तथा द्वितीय नए ऋणों से। नए ऋण लेकर परिशोध कोष चालू करना एक प्रकार का ऋण परिवर्तन या ऋण रूपान्तरण (Conversion) कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ पर नए ऋण पुराने ऋण का स्थान ग्रहण कर लेते है।

आजकल कोष की विधि का प्रयोग पूर्णतया भिन्न है। जब इस पद्धति का उपयोग आरम्भ हुआ था उस समय अधिकाशत यह प्रथा थी कि प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धनराशि एक कोष में डाल दी जाती थी और इस राशि को किसी स्थान पर लगा दिया जाता था। अगले वर्ष उस वर्ष का मूलधन तथा पिछले वर्ष का मूलधन एव ब्याज फिर किसी स्थान पर लगा दिया जाता था। यह क्रम उस समय तक चलता रहता था जब तक कि मूलधन और ब्याज मिलकर ऋण की अवधि समाप्त होने तक ऋण की कुल मात्रा के बराबर न हो जाए। ऐसा हो जाने पर इस धन के उपयोग से ऋण का भुगतान कर दिया जाता था परन्तु आज परिशोधन कोषो का रूप बिल्कुल भिन्न हो गया है। आजकल न कोषो मे धन एकत्रित किया जाता है और न इस धन को एक वर्ष से दूसरे वर्ष मे लिया जाता है। इसके विपरीत प्रत्येक वर्ष कुछ निश्चित राशि अलग से रख दी जाती है और उसी वर्ष ऋण के एक भाग का भुगतान कर दिया जाता है। यह राशि पूर्व निश्चित होती है।

डॉल्टन ने परिशोध-कोषो को दो भागों मे बॉटा है—निश्चित तथा अनिश्चित। निश्चित ऋण परिशोधन कोष मे प्रतिवर्ष निश्चित धनराशि जमा कर दी जाती है किन्तु अनिश्चित ऋण परिशोध कोष में धनराशि तभी जमा की जाती है जब सरकार को अपने वार्षिक बजट मे से कुछ बचत प्राप्ति होती है। निश्चित ऋण परिशोध कोष की स्थापना मुख्यत तीन आधारो पर की जाती है--

(क) ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋण कोष बनाया जा सकता है। सरकार जितने कम समय के लिए ऋण लेती है उसकी आर्थिक स्थिति उतनी ही अच्छी होती है। सरकार को एक ही समय मे कई ऋणों का भुगतान करना पडे। ऐसी स्थिति मे सरकार दो तरीके अपनाती है—प्रथम किसी ऋण विशेष के लिए कोष को निश्चित कर दे द्वितीय ऋण विशेष का कुछ भाग कोषो मे से निश्चित कर दे।

(ख) ऋण भुगतान की अवधि निश्चित कर लेने के उपरान्त यह निश्चित किया जाना चाहिए कि भुगतान कोषो को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाए। ऐसा तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(i) ऋणों के वार्षिक भुगतान बढते रहते है अत सरकार कोष में न केवल धन की निश्चित मात्रा जमा करती है वरन् धनराशि से प्राप्त ब्याज कोष मे जमा कर दिया जाता है जिससे कोष की मात्रा तीव्र गति से बढती है।

(ii) दूसरी विधि मे वार्षिक ऋण के भुगतान की मात्रा एक समान रहती है। कोष पर ब्याज के रूप में जो आय प्राप्त होती है उसमे से ऋणदाताओ को ब्याज भुगतान के बाद जो शेष रहती है उसे कोष में जमा कर दिया जाता है।

(iii) तीसरी विधि के अनुसार भुगतान की मात्रा घटती जाती है। कोष की धनराशि पर जो ब्याज मिलता है उसे कोष में जमा नहीं किया जाता बल्कि उससे कहीं अधिक मात्रा मे ऋणदाताओं को भुगतान किया जाता है और ऋण भार प्रतिवर्ष कम होता जाता है।

उपर्युक्त तीनों विधियों में से तीसरी विधि सबसे उत्तम है यदि इसे कार्यान्वित करना व्यावहारिक हो ।

(ग) ऋण परिशोध कोष की स्थापना कर लेने के उपरान्त यह देखना पड़ता है कि विभिन्न प्रकार के ऋण में भुगतान का बँटवारा किस प्रकार किया जाए । यदि सभी ऋण समान प्रकृति के होते तो कोई कठिनाई नहीं होती पर व्यवहार में सभी ऋण समान प्रकृति के नहीं होते । उनके ब्याज की दर, भुगतान के समय और विधि आदि में काफी भिन्नता पाई जाती है । ऐसी स्थिति में ऋण परिशोध कोष का बँटवारा करने में काफी कठिनाई होती है । इस अवस्था में सरकार को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह जिस प्रकार चाहे उसका प्रयोग करे, जो तरीका उचित समझे अपनाए ।

कभी-कभी सरकार को एक समय में कई ऋणों का भुगतान करना पड़ता है । ऐसी अवस्था में सरकार प्रायः दो तरीके अपनाती है—(i) किसी ऋण विशेष के लिए कोष निश्चित कर दे और पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार भुगतान कर दे (ii) कोष का कुछ भाग विशेष प्रकार के ऋणों के लिए निश्चित कर दिया जाए और शेष भाग का उपयोग सरकार की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाए अर्थात् वह जिस प्रकार उपयोग करना चाहे वैसा करे । यह तरीका सर्वाधिक व्यावहारिक और न्यायसंगत है ।

प्रो. मेहता ने ऋण परिशोध कोष व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"परिशोध की पद्धति ऋण भुगतान का सबसे अच्छा तरीका है । यह अत्यन्त क्रमबद्ध है और इसे किसी विशेष ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति में समायोजित कर सकता है ।"

(3) क्रमानुसार भुगतान या लॉटरी द्वारा भुगतान
(Payment by Lottery Systematic Payment)

क्रमानुसार भुगतान की विधि में प्रतिवर्ष ऋण के कुछ भाग को क्रमानुसार चुका दिया जाता है । सरकार ऐसा प्रबन्ध करती है कि जारी किए गए बॉण्डों में से प्रत्येक की भुगतान की अवधि प्रतिवर्ष पूरी हो जाती है । ऐसे बॉण्डों का क्रम प्रारम्भ में निश्चित कर दिया जाता है और ऋण का एक भाग प्रतिवर्ष चुका दिया जाता है । अमेरिका में स्थानीय सरकारों द्वारा इस विधि का व्यापक प्रयोग किया गया ।

लॉटरी द्वारा भुगतान क्रमानुसार भुगतान की ही एक संशोधित विधि है । इसमें बॉण्डों की संख्या प्रारम्भ में क्रमानुसार निश्चित नहीं की जाती अपितु लॉटरी द्वारा प्राप्त की जाती है । इस विधि का मुख्य दोष यह है कि विनियोगकर्त्ताओं को इसका कोई पता नहीं लग सकता कि उन्हें ऋण कब वापिस मिलेगा । यह सम्भव है कि उन्हें ऋण ऐसे समय प्राप्त हो जब उसके पास विनियोग की गुंजाइश ही न हो और धन बेकार पड़ा रहे ।

(4) वार्षिक वृत्ति (Terminal Annuities)

जब ऋण का भार सरकार पर अधिक हो जाता है तब वह उसका भुगतान एकदम नहीं कर सकती क्योंकि ऐसा करने के लिए आय का व्यय से अधिक होना आवश्यक होता है । अतः ऋण का भुगतान सरकार वार्षिक वृत्ति अथवा किस्तों में करना शुरू कर देती है । यह नीति स्थाई अथवा दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में अपनाई जाती है । इसके अन्तर्गत सरकार ब्याज सहित मूलधन की एक निश्चित मात्रा लौटाती रहती है । इससे शनैः-शनैः सरकार पर ऋण का भार कम होता जाता है ।

(5) ऋण रूपान्तरण (Conversion of the Debts)

फ्यूहलर ने ऋण रूपान्तरण अथवा ऋण परिवर्तन को परिभाषित करते हुए लिखा है, "ब्याज की दरों में आई हुई कमी का लाभ उठाकर अपने ब्याज के भार को कम करने के उद्देश्य से चालू ऋणों को नए ऋणों में परिवर्तित करने को ऋण रूपान्तरण कहते हैं । ऋण परिवर्तन अथवा रूपान्तरण का ढंग वास्तव में ऋण शोधन नहीं है । यह सरकार द्वारा ऋण-भार को परिस्थितियों का लाभ उठाकर कम कर लेना है ।" इस विधि में सरकार वास्तव में पुराने ऋणों का भुगतान नहीं करती बल्कि उनका रूप बदल देती है । जब सरकार को ऋण की आवश्यकता होती है तब वह बड़ी मात्रा में, ऊँची ब्याज दर पर ऋण लेती है परन्तु परवर्ती काल में जब कम ब्याज दर पर ऋण मिलने लगते हैं, तो सरकार ऋणदाताओं से कहती है कि वे पुराने ऋण-पत्रों का नए ऋण-पत्रों में परिवर्तन करा लें । नए ऋण-पत्रों पर ब्याज दर पहले की अपेक्षा कम होती है । यदि ऋणदाता इस शर्त पर तैयार नहीं होते तो सरकार, नए सस्ते ब्याज दर पर ऋण प्राप्त कर पुराने ऋणों का भुगतान कर देती है । विनियोगकर्त्ता प्रायः अपने ऋण पत्रों को

पहले से कम ब्याज की दर पर भविष्य के लिए परिवर्तित कराने को सहमत हो जाते है क्योंकि वे जानते हैं कि सरकारी ऋण-पत्रों में धन का विनियोग करना अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद है।

स्मरणीय है कि ऋण परिवर्तन को उस समय अपनाया जाता है जब ऋण भुगतान का समय निकट आ जाता है और राज्य के पास भुगतान के लिए समुचित धन नहीं होता। अत. राज्य ऋण का भार टाल देता है। ऋण परिवर्तन से भविष्य मे ऋण का भार बढ़ जाता है। पुराने ऋण-पत्र रद्द कर दिये जाते हैं लेकिन उनके स्थान पर नए अधिक आकर्षक शर्तों वाले ऋण-पत्र जारी किए जाते है जिनको सरकार वास्तविक मूल्यों से कम मूल्य पर बेचती है अथवा ऋण की समयावधि पर लिखित धनराशि के भुगतान का वचन देती है। ऋण रूपान्तरण की यह विधि अपनाकर सरकार एक ओर ऋण के भुगतान को स्थगित करने में सफल हो जाती है और दूसरी ओर वह ऋण-भुगतान की व्यवस्था कर लेती है, जिससे ऋण का भुगतान सुविधाजनक हो जाता है। इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यही है कि इससे सरकार पर ऋणों के ब्याज का भार पहले से कम हो जाता है लेकिन सरकार इस नीति का प्रयोग तभी कर पाती है जबकि ऋणो में यह शर्त होती है कि सरकार इनका भुगतान जब चाहे तब कर सकती है। सामान्यत. ऋणो मे इस प्रकार की शर्तें नहीं पाई जाती हैं।

ऋण परिवर्तन से ऋण-भार कम नहीं होता। इसी आधार पर अधिकाश विद्वान भुगतान की इस विधि का समर्थन नहीं करते है। यदि ऋण परिवर्तन की विधि अपनाई जाती है तो ऐसा करते समय इन बिन्दुओं को ध्यान मे रखना उचित है—(i) मुद्रा की माँग एव पूर्ति का पूर्ण अध्ययन कर लिया जाए, (ii) भविष्य में सम्भावित ब्याज की दर, कर एव मूल्य स्तर की स्थिति के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाए, (iii) जब तक आवश्यक न हो नए ऋणों के मूलधन में वृद्धि न की जाए, एव (iv) ऋण परिवर्तन की रीति इतनी सरल हो कि नागरिक उसे आसानी से समझ सके।

(6) ब्याज दर मे कमी (Reduction in Interest Rate)

कभी-कभी जब सरकार पर ऋण-भार इतना बढ़ जाता है कि वह उसे वहन नहीं कर पाती तो वह अपने दायित्व को कम कर लेती है। इसका एक ढग यह है कि सरकार पूर्व निश्चित ब्याज दर पर भुगतान करके गिरी हुई दर पर ब्याज देने को तैयार होती है। यह ढग न्याय-सगत नहीं है। इससे सरकार मे जनता के विश्वास को आघात लगता है। कभी-कभी सरकार मुद्रा का अवमूल्यन करके अथवा अधिक पत्र-मुद्रा निर्गमित करके अपने ऋण-भार को अप्रत्यक्ष रूप से कम करती है किन्तु आधुनिक काल मे लोकतान्त्रिक सरकारो से यह आशा नहीं की जाती कि वे ऋणदाताओं के विश्वास को ठेस पहुँचाएँगी।

(7) बजट की बचत (Surplus Budget)

प्राचीन काल में सार्वजनिक ऋण के भुगतान का सबसे सरल ढग यह माना जाता था कि सरकार अपनी बचत राशि में से ऋणो का भुगतान करे लेकिन भुगतान का यह तरीका उचित नहीं माना जाता है। बजट मे बचत द्वारा ऋण शोधन का ढग यह है कि सरकार ऋणदाताओ को प्रत्यक्ष रूप मे भुगतान कर दे। दूसरा ढग यह हो सकता है कि सरकार अपनी आधिक्य आय से ऋण-पत्र खरीद ले। यह ढग धीमा होते हुए भी सुविधाजनक है क्योंकि जब सरकार अपनी बचत के अनुसार ऋण-पत्र खरीदती रहती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ऋण पूर्ण रूप से चुका नहीं दिया जाता।

(8) पूँजी-कर (Capital Levy)

ऋण के भुगतान के लिए सरकार पूँजी-कर लागू कर सकती है। रिकार्डो का विचार था कि ऋणी राष्ट्र को ऋण से जल्दी से जल्दी मुक्त होना चाहिए चाहे उसे अपनी सम्पत्ति के एक भाग का बलिदान ही क्यों न करना पड़े। इसलिए उसने ऋण के भुगतान के लिए पूँजी-कर का समर्थन किया है। पूँजी-कर लगाते समय एक निश्चित कर-रहित सीमा निर्धारित कर दी जाती है और उसके ऊपर की सम्पत्तियों पर कर लगाया जाता है। यह कर अति प्रगतिशील होता है। पूँजी-कर का निर्धारण पूँजी के अनुपात में किया जाता है।

पूँजी-कर का विचार व्यावहारिक रूप में प्रथम महायुद्ध के समय मे पनपा था। उस समय यह सुझाव दिया गया था कि युद्धजनित ऋणो के शोधन के लिए पूँजी-कर लगाया जाना चाहिए। उस समय पूँजी-कर के सम्बन्ध मे तीन पहलुओ पर विचार किया गया था—(i) करारोपण से पूर्व प्रत्येक

व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल्य द्रव्य मे निश्चित कर लिया जाए, (ii) एक न्यूनतम सीमा से ऊपर यह कर प्रगतिशील दर से लगाया जाए (iii) इस कर से प्राप्त आय का ऋणों के भुगतान के लिए सरकार प्रयोग करे। तत्कालीन परिस्थितियों में ऋण-शोधन के लिए किसी भी मात्रा में पूँजी को करों से प्राप्त कर लेना उचित समझा गया। पूँजी-कर की उपयुक्तता को इसके पक्ष-विपक्ष मे दिए गए तर्कों से ऑक सकते है।

पूँजी-कर के पक्ष मे तर्क

इस कर के पक्ष में प्रमुख तर्क इस प्रकार है—

1. धनी व निर्धन के त्याग मे समानता—युद्ध काल मे समाज के विभिन्न वर्गों के त्याग में असमानता होती है। धनी व्यक्ति और व्यापारी अधिकाधिक लाभ कमाते है। इसके विपरीत निर्धन सेना मे भर्ती होकर अपनी जान खतरे मे डालते है मरते है, अपग हो जाते है। अत यह अनुचित होगा कि ऐसे निर्धन व्यक्तियो या सैनिको को युद्ध से लौटने के बाद अपनी चालू आय मे से युद्ध सम्बन्धी ऋण के ब्याज और मूलधन का भार सहना पडे जबकि दूसरे बैठे-बैठे लाभ कमाने वाले धनी एव व्यापारी वर्ग को ऋण का भार सहना ही न पडे या बहुत कम सहना पडे। इस कर के समर्थको का कहना है कि चूँकि पूँजी-कर केवल धनिको की सम्पत्ति पर लगेगा। अत इससे धनिकों और निर्धनो के त्याग मे कुछ समानता अवश्य आ पाएगी।

2 ऋण शोधन मे शीघ्रता—युद्धकालीन परिस्थितियों मे बडी मात्रा मे ऋण ले लिए जाते है। यदि युद्धोत्तर काल मे अधिक मात्रा मे पूँजी-कर लगाए जाएँ तो ऋण का शीघ्र शोधन हो सकता है।

3. भावी कर-भार मे कमी—युद्धकाल में ली गई विशाल ऋण राशि का भुगतान यदि साधारण बजट में से अथवा सामान्य करो से किया जाए तो अनेक वर्षों तक इसका भार अर्थव्यवस्था पर बना रहेगा। इस भार को पूरा करने का एक श्रेष्ठ उपाय है कि पूँजी-कर लगाकर युद्धकालीन ऋणों को समाप्त कर दिया जाए। युद्धोत्तर काल मे मूल्य स्तर ऊँचे होते है अत ऐसे समय ऋण का भुगतान करने मे देशवासियो पर ऋण का भार कम पडता है जबकि युद्ध समाप्ति के बाद मूल्य स्तर गिरने लगता है जिससे युद्धकालीन ऋणो का भुगतान करने मे देशवासियो पर ऋण-भार अधिक पडता है। अत उचित है कि पूँजी-कर द्वारा युद्धकालीन ऋणो से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति पाई जाए।

4. कर-योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल—पूँजी कर मे समानता और योग्यता के सिद्धान्त की सन्तुष्टि होती है। यह कर युद्धकालीन ऋणो के शोधन के लिए लगाया जाता है। इसका भार धनी व्यक्तियो पर होता है जो अधिक सम्पत्ति अर्जित कर लेते है। यदि उस सम्पत्ति पर कर लगाकर युद्धकालीन ऋणो का भुगतान किया जाए तो यह न्यायोचित भार होगा।

5. उद्योग एव व्यापार का विकास—पूँजी-कर द्वारा देश जब ऋणो के भार से मुक्त हो जाता है तो उद्योगो और व्यापार पर भारी करारोपण की आवश्यकता नहीं रहती। फलस्वरूप इनके समुचित विकास होने मे सहायता मिलती है।

6. मुद्रा-स्फीति का प्रभाव—पूँजी-कर का एक लाभ यह कि युद्ध काल मे हुए मुद्रा-प्रसार में कमी आती है क्योकि एक ओर ऋण चुकाने के लिए सरकार को अधिक मुद्रा निर्गमित नहीं करनी पडती। दूसरी ओर करारोपण द्वारा सरकार क्रय-शक्ति खींच लेती है।

पूँजी कर के विपक्ष मे तर्क

इस कर के विपक्ष मे दिए जाने वाले प्रधान तर्क ये है—

1. अन्यायपूर्ण—पूँजी-कर अन्यायपूर्ण है। जो व्यक्ति उपभोग कम करके बचत करते हैं सम्पत्ति का सग्रह करते है उन पर सरकार कर लगाती है। इसके विपरीत जो अधिक व्यय करते है वे कर-भार से मुक्त रहते है। यह तो बचत का एक दण्ड सिद्ध होता है।

2. पूँजी का विदेशो को स्थानान्तरण—पूँजी-कर के कारण जनता का सरकार के प्रति विश्वास उठ जाएगा और देश की पूँजी विदेशो की ओर आकर्षित होगी जिससे देश के व्यापारिक विकास को क्षति पहुँचेगी। देश मे विनियोग का वातावरण अनुकूल न रहने से विदेशी विनियोग हतोत्साहित होगे।

3. सम्पत्ति के मूल्य मे विशेष कमी—यदि पूँजी-कर अधिक प्रगतिशील दर से लगाया जाएगा तो लोगों के पास रोकड़ का अभाव होने का भय हो जाएगा। फलस्वरूप कर के भुगतान के लिए सम्पत्ति को बेचने के अतिरिक्त कोई अन्य चारा नहीं रहेगा और ऐसे वातावरण में सम्पत्ति के विक्रेता अधिक हो जाने से, इसके मूल्य में विशेष कमी आने की सम्भावना हो जाएगी।

4. जनता में अविश्वास का प्रसार—पूँजी-कर लगाने से जनता का सरकार में विश्वास कम हो जाएगा। देश के विकास के लिए पूँजीपति आगे नहीं आएँगे क्योंकि यह भय रहेगा कि सरकार उनकी पूँजी को जब चाहेगी तब ले लेगी।

5. धनी वर्ग पर दोहरा भार—पूँजी-कर इसलिए भी अनुचित है कि इसमें धनी वर्ग पर दोहरा भार पड़ता है। युद्धकाल में धनी वर्ग सरकार की आर्थिक सहायता करता है और युद्धोत्तर परिस्थितियों में पूँजी-कर लगाकर उन पर भार डाला जाता है जो उचित नहीं है।

6. सामान्य परिस्थितियो के प्रतिकूल—पूँजी-कर केवल युद्धोत्तरकाल जैसी विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हो सकता है, सामान्य परिस्थितियों के लिए नहीं। पूँजी-कर के लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण की आवश्यकता होती है जो युद्ध के तुरन्त बाद मिल सकता है, सामान्य काल में यह वातावरण नहीं मिलता।

निष्कर्ष यही निकलता है कि पूँजी-कर युद्धकालीन ऋणों के भुगतान आदि विशेष परिस्थितियो मे उपयुक्त हो सकता है सामान्य परिस्थितियों में विकास कार्यों के लिए इसे लगाना उचित नहीं है। व्यक्तियो के पास यदि पूँजी बढेगी तो उसका लाभकारी उपयोग देश के व्यापार उद्योग के विकास मे किया जा सकेगा। सरकार सम्पत्ति पर यह कर लगा देगी तो इससे व्यापार और उद्योग का विकास अवरुद्ध होगा अत पूँजी-कर बडी सावधानी से लगाया जाना चाहिए।

सार्वजनिक ऋण के प्रभाव
(Effects of Public Debt)

सार्वजनिक ऋणो के ऋणदाताओ, उत्पादन, उपभोग, वितरण आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडते है अत. सरकार को इनके उपयोग मे विशेष सावधानी बरतना आवश्यक होता है।

जिस प्रकार कराधान और सार्वजनिक व्यय से समाज मे धन का हस्तान्तरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग को होता है, उसी प्रकार सार्वजनिक ऋण की कार्यवाहियो से क्रय-शक्ति लोगों के एक वर्ग से दूसरे वर्ग की ओर हस्तान्तरित हो जाती है। ऋण लेने के प्रभाव एक प्रकार के होते है और इनके भुगतान के लिए कर लगाये जाते हैं तो प्रभाव दूसरी प्रकार के होते हैं। इसी तरह जब ऋणी से प्राप्त रकम को व्यय किया जाता है तब इनके प्रभाव बिल्कुल ही अलग पडते है। जब सरकार ऋण चालू करती है तब धन (या क्रय-शक्ति) का हस्तान्तरण ऋणदाताओं की ओर से सरकार की ओर होता है। यह स्थानान्तरण उन लोगो की तरफ होता है जिनके लिए सरकार इस धन को व्यय करती है। सरकारी ऋण पर ब्याज अदा किया जाता है तो क्रय-शक्ति का हस्तारण उन लोगों की ओर से, ऋणदाताओ की ओर हो जाता है। अन्त में क्रय-शक्ति का हस्तातरण उस समय होता है जब ऋण चुकाया जाता है। करारोपण और सार्वजनिक व्यय की तरफ उसके सार्वजनिक ऋणों के लेन-देन से समाज मे धन का जो हस्तान्तरण होता है उससे देश मे व्यापार, उद्योग धनोत्पादन धन के वितरण तथा अन्यान्य आर्थिक क्रियाओ पर अच्छा-बुरा प्रभाव अवश्य पडता है। सार्वजनिक ऋणो के विभिन्न प्रभावो का अध्ययन निम्न प्रकार है—

1. उत्पादन पर प्रभाव (Effects on Production)

सार्वजनिक ऋणो के उत्पादन पर अच्छे प्रभाव पड सकते हैं और बुरे प्रभाव भी। इन प्रभावो की जानकारी तभी हो सकती है जब हम देखे कि इन ऋणो के प्रभाव (क) काम करने व बचत करने की शक्ति, (ख) काम करने व बचत करने की इच्छा एव (ग) साधनो के एक उपयोग से दूसरे उपयोग के स्थानान्तरण पर किस प्रकार पडते हैं।

(क) काम करने, बचाने व विनियोग करने की शक्ति पर प्रभाव—यदि सरकार ऋण लिए हुए धन का व्यय उत्पादक योजनाओं पर करती है या ऐसे कार्यों पर करती है जिनसे व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती हो तो ऋणों से व्यक्ति की क्रय करने बचाने और विनियोग करने की शक्ति पर

अनुकूल प्रभाव पड़ने की आशा की जाती है। उत्पादक कार्यों मे लगाए गए ऋणो के ब्याज और मूलधन के भुगतान के लिए करारोपण की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा भुगतान उत्पादक योजनाओं से प्राप्त प्रतिफलो से किया जा सकता है लेकिन ऋणो को अनुत्पादक कार्यों मे लगाया जाता है तो ब्याज तथा मूलधन के भुगतान के लिए करारोपण का आश्रय लिया जाता है जिससे काम करने बचाने व विनियोग करने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। कभी-कभी किसी ऋण के ब्याज अथवा मूलधन के भुगतान के लिए नए कर नहीं लगाए जाते बल्कि चालू व्यय मे कटौती करके इसका भुगतान कर दिया जाता है। यदि वह कटौती व्यय की उन मदो मे की जाती है जिनसे उत्पादन में सहायता मिलती है तब स्पष्टत इसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(ख) कार्य करने एवं बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—सार्वजनिक ऋण विनियोग के अच्छे और सुरक्षित अवसर प्रदान करते है। इनसे कुछ लोगो मे बचाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है और कुछ व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक बचाने लगते है। जब सरकार इन ऋणो के ब्याज और मूलधन के लिए करारोपण करती है तो व्यक्तियो के काम करने व बचाने की इच्छा पर अकुश लगता है। इसके अतिरिक्त ऋणदाता निरन्तर आय प्राप्त करने के सम्बन्ध मे आश्वस्त हो जाते है और वे कार्य करने और बचाने के प्रति कुछ उदासीन हो जाते है। निष्कर्षत सार्वजनिक ऋण का काम करने व बचाने की इच्छा पर अधिकाशत विपरीत प्रभाव पडता है बशर्ते कि ऋणो को उत्पादक कार्यों पर न लगाया जाए और ब्याज व मूलधन चुकाने के लिए करारोपण का आश्रय न लिया जाए।

(ग) साधन का एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे स्थानान्तरण—सार्वजनिक ऋणो से उत्पत्ति के साधनों का वर्तमान उपयोगो से नए उपयोगो की ओर स्थानान्तरण हो जाता है। यदि सरकार ऋणों से प्राप्त राशि को ऐसे उपयोगो मे लगाती है जिनमे व्यक्तियो ने धन नहीं लगाया है अथवा धन का ऐसा उपयोग हो जिससे व्यक्तियो की उत्पादन शक्ति बढती है तब साधनो के अन्तरण से उत्पादन प्रोत्साहित होता है। अत ऋण द्वारा प्राप्त धन का उपयोग न्यायोचित और वाञ्छनीय होता है। इसके विपरीत यदि सरकार ऋणो से प्राप्त धन को युद्ध सचालन के व्यय पूर्ति करने के लिए या अपने चालू व्यय के घाटो की पूर्ति के लिए काम मे लेती है तो धन का यह उपयोग अनुचित माना जाता है क्योकि इससे देश के विकास मे योगदान नहीं होगा। साधनो के इस अन्तरण से उत्पादन हतोत्साहित होता है।

2. वितरण पर प्रभाव (Effects on Distribution)

सार्वजनिक ऋणो से समाज मे धन का वितरण कई प्रकार से प्रभावित होता है। सार्वजनिक ऋण धनी या मध्यम वर्ग के सम्पन्न व्यक्ति से प्राप्त होता है। यदि सरकार ऋणो से प्राप्त इस धन को केवल निर्धन व्यक्तियो के लिए व्यय करती है अथवा ऐसी सेवाओ के प्रदान करने मे व्यय करती है जिनसे निर्धन व्यक्ति लाभान्वित हो तो धन (या क्रय-शक्ति) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर हस्तान्तरित होता है और समाज मे धन के वितरण मे समानता की प्रवृत्ति होती है। सार्वजनिक ऋणो का उत्पादक कार्य मे प्रयोग करने से निम्न वर्ग की जनता को रोजगार प्राप्त होता है और उनकी आय मे वृद्धि होती है जिससे समाज मे आर्थिक विषमता कम होने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत होती है क्योकि समाज मे धन की प्रचलित असमानताओ के कारण ऋण-पत्र अधिकाशत धनिको द्वारा खरीदे जाते है किन्तु इनके प्रयोजन और मूलधन के भुगतान के लिए सरकार करारोपण का आश्रय लेती है जिससे अधिकाश भार अन्तत निर्धन व्यक्तियो पर पडता है। सार्वजनिक ऋण व्यवस्था से धन की असमानताएँ कम होने के स्थान पर अधिक हो जाती है। सार्वजनिक ऋण का वितरण पर प्रभाव उस समय नए सिरे से पडता है जब ऋण का शोधन होता है। ऋण का भुगतान किए जाने पर न केवल मूलधन बल्कि ब्याज भी धनी वर्ग के पास चला जाता है जिससे आर्थिक विषमता की खाई और अधिक चौडी हो जाती है।

यदि सरकार द्वारा लिए गए ऋण छोटी बचतो के रूप मे होते है अथवा ऋण-पत्र छोटे मूल्यों के होते है जो प्रधानत छोटी आय वाले व्यक्तियो द्वारा खरीदे गये है ऐसे ब्याज का भुगतान समाज के निर्धन वर्ग के व्यक्तियो को प्राप्त होता है। इस प्रकार के ऋणो से समाज मे धन की प्रचलित असमानताएँ कुछ अश तक दूर होती है। स्मरणीय है कि सरकार के कुल ऋण-पत्रो मे इस प्रकार के

ऋण-पत्रों का अश बहुत थोड़ा-सा हुआ करता है। सरकारी ऋण पर दिए जाने वाले ब्याज के भुगतानों से समाज में धन की विषमता बढती है।

यदि सार्वजनिक ऋण की प्राप्ति युद्ध-सचालन या भूकम्प अकाल जैसे असामयिक कार्यों में किया जाता है तो आय-वितरण का क्रम धनिकों के पक्ष मे रहता है। ऋण धनी वर्ग की जेब से आता है और उससे उत्पादन क्रम में कोई सुधार नहीं होता है। उसका ब्याज तथा मूल चुकाने में करदाताओं को कष्ट उठाना पड़ता है। करदाताओं में सभी वर्गों के व्यक्ति होते हैं लेकिन विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में अप्रत्यक्ष करों की प्रधानता होने से ऋण भुगतान का अधिक भार निर्धन व्यक्तियों पर पड़ता है। दूसरी ओर ऋणों पर ब्याज की रकम धनी वर्ग की जेब में जाती है। इस प्रकार अनुत्पादक ऋणो का भार अन्ततोगत्वा निर्धनों को अधिक वहन करना पडता है और आर्थिक विषमता घटने के स्थान पर बढ़ती जाती है।

इसलिए यही उपयुक्त है कि सार्वजनिक ऋणो का उपयोग उत्पादन कार्यों में किया जाए जिससे सरकार की व्यावसायिक आय और करो से प्राप्त आय क्रमश बढे। इससे ऋण पर दिये जाने वाला ब्याज सरकार की अतिरिक्त आय में से चुकाया जा सकेगा। कालान्तर मे सरकार की आय और बढ जाने से ऋण की मूल रकम शनै-शनै नियमित आय मे से चुकाई जा सकेगी। अत सार्वजनिक ऋण यदि उत्पादक कार्यों हेतु प्राप्त किए गए है तो यह आशा की जाती है कि राष्ट्रीय आय के वितरण की विषमता क्रमश कम होने की ओर प्रवृत्त होगी।

3. उपभोग पर प्रभाव (Effects on Consumption)

उपभोग पर सार्वजनिक ऋण का प्रभाव कम पड़ता है यह इस पर निर्भर है कि जनता सार्वजनिक ऋण किस प्रकार देती है। आन्तरिक ऋण दो प्रकार से दिया जा सकता है—वर्तमान उपभोग मे कटौती करके और बचत मे से। यह सार्वजनिक ऋण बचत मे से दिए जाते है तो उपभोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह काफी हद तक सम्भव है कि सार्वजनिक ऋणो द्वारा भावी उपभोग प्रोत्साहित हो। जब इन ऋणों का उपयोग उत्पादक कार्यों मे किया जायेगा तो भविष्य में उत्पादन बढेगा वस्तुओं की पूर्ति बढेगी अथवा नए-नए उपभोग पदार्थ उपलब्ध होगे और उन का लाभ उपभोक्ता उठाएँगे। जब उपभोग की वस्तुएँ अधिक सुलभ होंगी तब उनका मूल्य नीचा होगा।

यह देखने में आता है कि सरकारी प्रतिभूतियों खरीदने के लिए जनता जब अपनी वर्तमान आय में कटौती करती है इसका उपभोग के स्तर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पूर्वापेक्षा कम वस्तुओं का उपभोग करने से ऋणदाताओं की मानसिक दशा और कार्यक्षमता का ह्रास होता है। इसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है जिससे वस्तुओ की पूर्ति कम होने लगती है और अन्तत उपभोग पर विपरीत प्रभाव पडता है। सार्वजनिक ऋणो का उपभोग पर प्रभाव तब अधिक स्पष्ट होता है जब इन ऋणों का शोधन किया जाता है। करारोपण के फलस्वरूप लोगो की आय कम होती है जिससे उपभोग-स्तर गिरने लगता है और विशेषत निम्न आय वाले पहले की तुलना में कम वस्तुओ का उपभोग कर पाते है।

4. व्यावसायिक क्रियाओ तथा रोजगार पर प्रभाव
(Effects on business Activity and Employment)

सार्वजनिक ऋणो का प्रभाव देश के सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे पर पडता है अत व्यावसायिक क्रियाओ रोजगार मूल्य-स्तर आदि का सार्वजनिक ऋण से अप्रभावित रहना असम्भव है। सरकार व्यय द्वारा देश के रोजगार और उद्योगो में वाछनीय परिवर्तन करती है तथा इन व्ययो के लिए ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने को आज की अर्थव्यवस्था मे विशेष महत्त्व दिया जाता है। आधुनिक 'हीनार्थ प्रबन्धन का सिद्धान्त' इसी विचारधारा पर आधारित है। मन्दी-काल में चारो ओर उदासीनता होती है। मूल्य उत्पादन व उपभोग का स्तर नीचा हो जाता है तब सरकार ऋण प्राप्त करके अर्थव्यवस्था को सुधार सकती है। सरकार ऋणों से प्राप्त धन को सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करती है जिससे देश मे अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है। रोजगार बढने पर लोगो की मुद्रा आय बढ जाती है। फलस्वरूप उपभोग की वस्तुओं की माँग अधिक हो जाती है जिससे एक ओर तो मूल्य स्तर ऊँचा होने लगता है दूसरी ओर आर्थिक जगत में स्फूर्ति आने लगती है। कीन्स ने इसे नल विस्फोटक क्रिया (Pump Priming) की सज्ञा दी है और इसे मन्दीकाल के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। मन्दीकाल में सार्वजनिक ऋणों अथवा

हीनार्थ प्रबन्धन की नीति द्वारा धन प्राप्त करके सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करने से रोजगार और व्यावसायिक क्रियाओ मे नवजीवन का सचार होता है। डॉल्टन ने इस नीति को करारोपण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बताया है। इसका कारण यह है कि करारोपण में जब धन जनता की ओर से सरकार को हस्तान्तरित होता है तो एक ओर सरकारी कार्यों एव रोजगार में वृद्धि होती है। दूसरी ओर निजी उद्योग के लिए पूँजी में कमी आ जाती है जिससे निजी उद्योगों में रोजगार कम हो जाता है। इसके विपरीत सार्वजनिक कार्यों के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर या 'हीनार्थ प्रबन्धन' नीति अपनाने पर सरकार द्वारा उद्योगो की ओर धन प्रवाहित होता है अथवा देश मे साख का प्रसार होता है जिससे उत्पादन प्रोत्साहित होता है और उद्योग-धन्धे बढते है। देश मे रोजगार और आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि हो जाती है।

तेजी काल (मुद्रा-स्फीति) के समय ऋणों द्वारा देश की व्यावसायिक क्रियाएँ व रोजगार प्रभावित होते है। मुद्रा प्रसार के समय वस्तुओ के भाव अधिक होते है, मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। ऐसे समय मे सरकार ऋण लेकर जनता की क्रय-शक्ति को कम कर देती है। इससे मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है और सरकार व्यावसायिक क्रियाओ मे वाछनीय परिवर्तन करने मे सफल हो जाती है।

स्पष्ट है कि कोई सार्वजनिक ऋण उचित है अथवा नहीं—इस प्रश्न का उत्तर ऋण के उत्पादन, वितरण, आर्थिक क्रियाओ, रोजगार, उपभोग आदि पर पडने वाले प्रभावों के आधार पर सम्भव है। यदि इन सब पर ऋण के अनुकूल प्रभाव पडते है तो वह ऋण वाछनीय है अन्यथा अवाछनीय है।

विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में ऋणो और छोटी बचतों का महत्त्व
(The Role of Loans and Small Savings in the Economy of Developing Countries)

आज विश्व के विभिन्न राष्ट्रो की आर्थिक स्थिति की जो तस्वीर हमारे समाने है उसमे विश्व के विकासशील देशो की स्थिति दयनीय है। इन देशो की उन्नति की समस्या गम्भीर बनी हुई है। अनेक देश जिनमे भारत भी है, ऐसे है जहाँ प्राकृतिक साधन और जनशक्ति पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है, किन्तु आवश्यक पूँजी के अभाव मे प्राकृतिक साधनो का पर्याप्त विदोहन नहीं हो पाया है। ऐसे देश सार्वजनिक ऋणों के माध्यम से काफी मात्रा मे धन प्राप्त करके प्राकृतिक साधनो का विदोहन करते हुए उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। आज विकासशील देशो के विकास में आर्थिक नियोजन का विशेष महत्त्व है। इसमें सबसे बडी बाधा पूँजी की कमी होती है। देश के साधारण आगम के स्रोतो और करारोपण मे वृद्धि द्वारा वाछित पूँजी नहीं जुटायी जा सकती क्योंकि निर्धन जनता पर उतना अधिक कर-भार नही डाला जा सकता। ऐसी परिस्थिति में ये राष्ट्र अपने आर्थिक निर्माण के लिए, सार्वजनिक ऋण लेने के लिए बाध्य होते है। सभी विकसित राष्ट्र अपने विकासकाल के दौरान सार्वजनिक ऋणों पर निर्भर रहते हैं।

विकासशील देशो के लिए सार्वजनिक ऋण प्राप्त करना इसलिए उचित है कि करारोपण द्वारा इन देशो मे वाछित आय प्राप्त नहीं की जा सकती। इन देशो मे धन का असमान वितरण होने पर यदि सरकार करो से आय प्राप्त करती है तो निर्धनो को बहुत अधिक कर-भार उठाना पडेगा—एक सीमा के उपरान्त उनके लिए कर देना असह्य भी हो सकता है। दूसरी ओर यदि अप्रत्यक्ष करारोपण किया जायेगा तो धनिक वर्ग पर कम प्रभाव पडेगा और करो से पर्याप्त आय प्राप्त नहीं हो सकेगी। यदि प्रत्यक्ष करारोपण किया जायेगा और करदेय क्षमता को ध्यान मे रखकर अधिक प्रगतिशील कर लगाए जायेंगे तो इससे एक सीमा तक आय प्राप्त हो सकेगी किन्तु इससे धनी वर्ग मे निराशा फैलेगी कि उन्हे त्याग करना पड रहा है, जिससे कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पडेगा। जब धनी वर्ग बचत करने के प्रति अधिक सचेष्ट नही होगा तब देश का भावी उत्पादन अवरुद्ध हो जायेगा जिससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडेगा, अत. यह स्वाभाविक है कि सरकार अधिक करारोपण का आश्रय न लेकर सार्वजनिक ऋणों के रूप मे धन प्राप्त करे। सार्वजनिक ऋणों का प्रभाव यह होगा कि लोग अधिक उद्यम करके बचत करना चाहेंगे और सार्वजनिक कार्यों मे वृद्धि होने से निजी व्यक्तियो को उत्पादन-उद्यम मे भाग लेने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिलेगा। कुल मिलाकर सार्वजनिक ऋण विकासशील देशो की विकास प्रक्रिया में तीन दृष्टिकोणो से विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते है—

प्रथम, लोगो के कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पडता है जिससे विकासशील अर्थव्यवस्था सुप्रभावित होती है।

द्वितीय सार्वजनिक ऋणो को बडी आर्थिक योजनाओ मे लगाया जाता है जो लम्बे समय के बाद भविष्य में लाभ प्रदान करती हैं अत इन ऋणों के शोधन के लिए जो करारोपण किया जाता है वह आगामी पीढी पर भार डालता है।

तृतीय सार्वजनिक ऋणो को लेकर जब विकास कार्य सचालित किए जाते हैं तो देश मे एक आशावान वातावरण बनता है तथा उद्योग-व्यापार की सुविधाओ का विस्तार होता है जिससे निजी उद्योगों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है।

सार्वजनिक ऋण एक ऐसा यत्र है जो देश को निर्धनता से ऊपर उठाता है नवीन उद्योगो की स्थापना करता है उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि करता है तथा अविकसित अर्थव्यवस्थाओ में शिक्षा और मानवता को गतिशील बनाता है लेकिन सार्वजनिक ऋण के ये लाभ तभी देखने को मिलते हैं जब इन्हें आवश्यक मात्रा में लिया जाए और इनका प्रयोग प्रशासनिक कुशलता के साथ उत्पादक कार्यों में किया जाये। यदि विदेशी ऋणो का भार अत्यधिक हो जायेगा तो ऋण चुकाने से देश मे काफी क्षति पहुँच सकती है क्योकि ब्याज के रूप मे बहुत बडी राशि से वचित होना पडता है। इन ऋणो की उपयोगिता वस्तुत उन वास्तविक परिस्थितियो पर निर्भर करती है जो देश मे विद्यमान होगी। अर्द्धविकसित देशो को विदेशी ऋण-व्यवस्था का आश्रय यथासम्भव तभी लेना चाहिए जब उनके यहाँ आन्तरिक साधन अपर्याप्त हो और विकास के लिए पूँजी का व्यापक अभाव हो। ऋण लेते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋण व्यय और ऋण के भुगतान मे उचित समन्वय स्थापित हो सके। ऐसा न हो कि देश की अर्थव्यवस्था पर भविष्य मे ऋण शोधन के समय अथवा वर्तमान मे ब्याज के भुगतान से इतना दबाव पड जाए कि अर्थव्यवस्था उस भार को सहन नहीं कर सके और अस्त व्यस्त हो जाए।

सार्वजनिक ऋण मे छोटी बचतो का महत्त्व

विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे छोटी बचतो का विशेष महत्त्व है क्योकि ये बचतें देश को बाह्य ऋणो की कठिनाइयों और दुविधाओ से मुक्त करती है। मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के व्यक्ति अपनी छोटी बचतों द्वारा देश के विकास मे काफी योगदान कर सकते है और स्वय को भी बहुत कुछ लाभान्वित कर सकते हैं। यदि सरकार पूँजीपति वर्ग से ऋण लेती है तो इससे देश मे धन की असमानता बढती है क्योकि सरकार इन्हे जो ब्याज का भुगतान करती है वह धनी वर्ग के पास जाता है। दूसरी ओर सरकार ब्याज का भुगतान अपनी आय से करती है जो अधिकाशत करो द्वारा प्राप्त होती है। ये कर निर्धन वर्ग पर लगाये जाते है। यह स्थिति न्यायोचित नहीं है। इसके विपरीत यदि सरकार छोटी बचतो को महत्त्व देते हुए मध्यम वर्ग व निर्धन वर्ग से ऋण प्राप्त करती है तो ब्याज के रूप में दिए जाने वाले धन का हस्तान्तरण धनी व्यक्तियो से निर्धनो की ओर होता है। इससे धनी व्यक्तियो की आय कम होती है और निर्धनो की आय बढती है। निर्धनो की आर्थिक स्थिति मे सुधार होने से देश मे धन के वितरण की असमानताओ में कमी आती है। छोटी बचतो का महत्त्व इस दृष्टि से है कि योजनाकाल मे उत्पादन मे वृद्धि करने के साथ-साथ उपभोग को नियन्त्रित करना होता है। जब छोटी बचत योजनाओं द्वारा मध्यम एव निम्न वर्ग के व्यक्तियो को बचत के लिए प्रोत्साहन मिलता है तो उसका उपभोग स्वत कम हो जाता है।

सार्वजनिक ऋण की सीमाये

(Limitations of Public Debt)

सरकार निर्बाध और असीमित रूप से ऋण नहीं ले सकती। वह सीमाओं से बँधी है जो मुख्यत तीन बिन्दुओं पर आधारित है—ऋण प्राप्ति के लिए सरकार या तो विदेशो पर निर्भर करती है या आन्तरिक स्रोतो पर या स्वय घाटे का बजट बनाकर ऋण पूर्ति करती है। इन तीनो साधनो से सरकार द्वारा ऋण लेने का क्षेत्र असीमित नहीं होता जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा—

(क) विदेशी ऋण—विदेशी ऋणो का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। ऋण देने से पूर्व विदेशी राष्ट्र ऋण लेने वाले देश की आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का प्रबन्ध व्यवस्था का मौद्रिक स्थिरता का ऋण की उद्देश्यता और ऋण भुगतान सम्बन्धी दशाओ का अध्ययन करके आश्वस्त होना चाहता है। भली प्रकार आश्वस्त होने पर वह ऋण देने को उद्यत होता है। फिर विभिन्न मुद्राएं

विनिमय सम्बन्धी विभिन्न कानूनो ब्याज की दर मे विभिन्नता बैंकिग सुविधाओं की भिन्नता, राजनीतिक व्यवधान आदि अनेक समस्याएँ है जो विदेशी ऋणो की मात्रा को सीमित कर देती है।

(ख) आन्तरिक ऋण—आन्तरिक ऋण की मात्रा विभिन्न स्थितियों पर निर्भर करती है—

1 सरकार को देश की राष्ट्रीय आय तथा सामान्य जीवन स्तर को ध्यान मे रखना होता है जिससे लोगो की बचत करने की शक्ति का अनुमान होता है। यदि बचत की शक्ति सीमित होती है तो सरकार को ऋण कम मात्रा मे मिल सकता है। इसके अतिरिक्त कोई सरकार सम्पूर्ण बचत को सार्वजनिक ऋण के रूप मे प्राप्त नही कर सकती अन्यथा समाज मे नई पूँजी का अभाव हो जायेगा। फलस्वरूप लोगों की आय और बचत घटने के साथ सार्वजनिक ऋण स्वत ही कम होते चले जाएँगे।

2 यदि देश मे उद्योग व्यापार और बैंकिंग व्यवसाय विकसित है तो सरकार को ऋण प्राप्त करने मे कम कठिनाइयाँ पैदा होगी किन्तु आर्थिक विकास कम हो रहा है तो ऋण प्राप्त करने में कठिनाई होगी।

3 यदि जनता को सार्वजनिक नीतियो मे विश्वास है तब सरकार को यथेष्ट मात्रा मे ऋण प्राप्त हो सकेगा।

4 किसी नए आन्तरिक ऋण की मात्रा इस पर निर्भर करेगी कि सरकार ने पहले कितने ऋण ले रखे हैं और उनके भुगतान का रिकॉर्ड कैसा है। यदि सरकार पहले से बहुत अधिक ऋणी है और उसकी भुगतान-व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं रही है तो नए ऋण प्राप्त करना कठिन होगा।

5 यदि देश मे राजनीतिक स्थिरता है तो सरकार की ऋण लेने की शक्ति अधिक उत्तम होगी अन्यथा नहीं।

6 विकासशील देशो मे प्रशासकीय योग्यता अथवा क्षमता सरकार के ऋण लेने की क्षमता पर प्रभाव डालती है। कुशल प्रशासन में ऋणदाताओ को यथा समय ब्याज मिलता रहता है और ऋण लेने ऋण देने व भुगतान लेने मे विशेष असुविधा नहीं रहती।

(ग) मुद्रा-स्फीति द्वारा—कभी-कभी सरकार घाटे के बजट बनाती है और आय की कमी नोट छाप कर पूरी कर लेती है। इस नीति को हीनार्थ अर्थ-प्रबन्धन कहते है। द्वितीय महायुद्ध से सम्बन्धित सभी देशों ने न्यूनाधिक रूप मे इस साधन को अपनाया। इग्लैण्ड और अमेरिका जैसे देशो में प्रचुर मात्रा मे पत्र-मुद्रा छापी गई। भारत मे इसने बहुत बडे रूप मे खतरे का आह्वान किया।

मुद्रा-प्रसार से राज्य की स्थिरता मे लोगो का विश्वास डगमगा जाता है। आगे चल कर स्वय सरकार एक भ्रष्ट चक्र में फँस जाती है जिससे निकलना आसान नहीं होता। नोटो को छापना कीमतों को बढाना है अत सरकार को अपने क्रय के लिए अधिक धन प्राप्त करने की आवश्यकता बनी रहती है फलस्वरूप और अधिक मुद्रा निकाली जा सकती है और यह क्रम जारी रहता है। वास्तव में यह एक बडा ही फिसलन का मार्ग है और अपने मुद्रा-चलन का विस्तार करने वाली सरकार आर्थिक तथा राजनीतिक विनाश की दिशा में बढ रही होती है।

मुद्रा-प्रसार की नीति अर्थव्यवस्था की सुदृढ नीतियो की विरोधी है। इसे अस्वाभाविक या विवश ऋण कहा जाता है और यह ब्याज-मुक्त भी है। सरकार पत्र-मुद्रा निर्गमन से स्वय की क्रय-शक्ति सम्पन्न करती है किन्तु लोगो की क्रय-शक्ति घटती है। यह केवल एक विवश ऋण ही नहीं बल्कि गुप्त ऋण है जिसे कुछ अर्थशास्त्रियो ने डकैती की सज्ञा दी है। अपने प्रभाव की दृष्टि से मुद्रा-प्रसार प्रतिगामी है। कीमते बढने से धनी और निर्धन सब ऊँची कीमते देते है और सब एक ही कीमत पर क्रय करते है। धनी ऊँची कीमते दे सकते है जबकि निर्धन नहीं अत उन्हें तुलनात्मक रूप से अधिक त्याग करना होता है। मुद्रा-प्रसार आनुपातिक कर-निर्धारण के समान है जो सहन करने की शक्ति का विचार नही रखता। सक्षेप मे मुद्रा प्रसार राजनीतिक दृष्टि से भयानक आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी और नैतिकता की दृष्टि से बुरा है। जब एक बार मुद्रा-प्रसार हो जाता है वह स्थायी बन जाता है और इसके दुष्परिणामों का लम्बा चक्र प्रारम्भ हो जाता है अत पत्र-मुद्रा निर्गमन द्वारा ऋण प्राप्त करने मे सरकार को अत्यधिक सावधानी और विवेक से काम करना पडता है।

निष्कर्ष यह है कि सरकार चाहे कितनी भी शक्तिमान क्यों न हो उसकी ऋण प्राप्त करने की सीमाएँ होती हैं। वास्तविक स्थिति यही है कि ऋण की उपयोगिता उसके प्रयोग करने के ढग पर निर्भर करती है।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण

(Public Debt of the Government of India Prior to Independence)

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में सार्वजनिक ऋणो का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से होता है जबकि कम्पनी को अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु 1773 में 17 लाख पौण्ड का ऋण लेना पड़ा। 1860 तक, जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति हुई, भारत का ऋण लगभग 10 करोड पौण्ड से भी अधिक हो गया था। इसमें से कुछ रुपया ऋण (Rupee Loans) थे और कुछ पौण्ड ऋण (Sterling Loans) थे। रुपया ऋणों पर सूद की दर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत थी तथा पौण्ड ऋणों पर 5 प्रतिशत।

अब तक सार्वजनिक ऋण मुख्यतः युद्ध लड़ने के उद्देश्य से लिए गए थे, 1860 के बाद से ब्रिटिश सरकार ने निर्माणात्मक कार्यों (रेलो का बनाना नहरे खोदना सड़के बनाना आदि) के लिए ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया। 19वी शताब्दी के अन्त मे भारत सरकार के ऋणो की रकम लगभग 231 करोड़ रुपये थी जो प्रथम महायुद्ध से पूर्व (1914) मे बढ़कर लगभग 510 करोड रुपये तक पहुँच गई। 1919-32 में विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी आई। इस समय सरकार को घाटे के बजट बनाने पड़े और 1934 तक सार्वजनिक ऋण की मात्रा बढ़कर 1212 38 करोड रुपये हो गई।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ऋणो के भुगतान के लिए तत्कालीन विदेशी सरकार ने निम्न तरीके अपनाए—(i) एक परिशोध कोष (Sinking Fund) खोला गया। इसमे रेलो से प्राप्त आय जमा की जाती थी और उसका उपयोग केवल रेलवे वार्षिकियो (Railway Annuities) का भुगतान करने के लिए किया जाता था। (ii) 10 लाख पौण्ड वार्षिक अकाल बीमा अनुदान (Famine Insurance Grant) के कुछ भाग का उपयोग ऋणो के भुगतान के लिए किया जाने लगा। (iii) अनुत्पादक ऋणो के भार को कम करने के लिए बजट की बचतो का प्रयोग किया जाने लगा किन्तु ऋणो के भुगतान के उपरोक्त उपायो को व्यवस्थित रूप से प्रयोग मे नही लाया गया जिसके फलस्वरूप अनुत्पादक ऋण पूर्णतया समाप्त नहीं हो सके।

द्वितीय महायुद्ध-काल मे सरकार के ऋण बहुत बढ गए जिनमे से अधिकाश की ब्याज दर 3 प्रतिशत थी। सार्वजनिक ऋणो मे वृद्धि का एक मुख्य कारण यह था कि जनता की बढ़ती हुई क्रय-शक्ति को कम करने के लिए सरकार ने अल्प-बचतो को एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध-काल मे सरकार ने पुन हीनार्थ प्रबन्धन की नीति अपनाई और घाटे के बजट बनाए गए। द्वितीय महायुद्ध के अन्त मे भारत सरकार का कुल सार्वजनिक ऋण 1860 44 करोड रुपये था। युद्ध-काल में भारत के सार्वजनिक ऋण की बनावट मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारत का स्टर्लिंग ऋण जो 1939 में 46 12 करोड रुपये था वह घटकर 1945 मे 34 19 करोड रुपये रह गया। दूसरे देशो की तुलना में भारत में युद्ध-काल मे ऋणो की बहुत कम वृद्धि हुई। इग्लैण्ड मे ऋण दुगुने और अमेरिका मे तिगुने हो गए थे।

स्वतन्त्र भारत मे सार्वजनिक ऋण

(Public Debt in India after Independence)

14 अगस्त, 1947 को भारत को भारतीय सघ तथा पाकिस्तान मे विभाजन कर दिया गया। फलस्वरूप सार्वजनिक ऋणो का बँटवारा भारत व पाकिस्तान के बीच हो गया। 19 दिसम्बर, 1947 को दोनों सरकारो के बीच एक समझौता हुआ। भारत सरकार ने विभाजन से पूर्व के सभी ऋणो को चुकाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और पाकिस्तान के हिस्से मे सिर्फ 300 करोड रुपये के ऋण आए जिनका उसने भारत सरकार को 3 प्रतिशत ब्याज की दर से 50 किस्तो मे भुगतान करने का वचन दिया। दूसरी किस्त 15 अगस्त 1952 को दिया जाना तय हुआ। कुल ऋण में से भारत और पाकिस्तान के हिस्से का निर्धारण निम्न आधारो पर किया गया—

(i) ब्याज देय धरोहरो के सम्बन्ध मे किए गए ऋण व दायित्वो के सम्बन्ध मे यह तय हुआ कि प्रत्येक देश अपनी-अपनी सीमाओ मे स्थित इन धरोहरो के मूल्य सीमा तक उत्तरदायी होगे।

(ii) नकदी और प्रतिभूतियो के ऋण मे पाकिस्तान का भाग 75 करोड रुपये तय किया गया। इसके बाद आरक्षित ऋणों मे पाकिस्तान का भाग 17 5 प्रतिशत होना निश्चित किया गया।

यह समझौता वास्तव मे भारत के हित मे नहीं था और भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। भारत सरकार ने सम्पूर्ण ऋण का भार अपने ऊपर ले लिया लेकिन पाकिस्तान ने अपने हिस्से के ऋण की पहली किस्त का भी भुगतान भारत को अभी तक नहीं किया है।

स्वतन्त्र भारत के इतिहास मे सार्वजनिक ऋण के क्षेत्र मे एक नया मोड़ आया। आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए सरकार ने पचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश का नियोजित विकास करने का निर्णय किया। इस विकास पद्धति के लिए आवश्यकता केवल आन्तरिक धन की न होकर बाह्य ऋण की थी। विकास कार्यों के लिए मशीनो तकनीकी सहायता कच्चे माल आदि आवश्यकताओ की पूर्ति विदेशो से हो सकती थी। इन्हे देखते हुए स्वतन्त्र भारत मे ऋणो को दो भागो मे विभाजित किया गया—आन्तरिक ऋण (Internal Debt) तथा बाह्य ऋण (External Debt)। आन्तरिक ऋण रुपयों मे था जबकि बाह्य ऋण पौण्ड डॉलर आदि विदेशी मुद्राओ मे।

देश मे आर्थिक नियोजन का जो मार्ग अपनाया गया उससे ऋण प्रति वर्ष तेजी से बढते गए। स्वतन्त्र भारत मे सघ सरकार के (क) आन्तरिक ऋणो और (ख) बाह्य ऋणों की जो स्थिति है उसे पृथक्-पृथक् शीर्षको मे स्पष्ट कर रहे है।

सांविधानिक स्थिति

उल्लेखनीय है कि भारतीय सविधान के अन्तर्गत ससद् की अनुमति से सरकार को भारत की एकीकृत निधि की जमानत पर समय-समय पर लोगो से ऋण लेने का अधिकार प्राप्त है। इसी तरह राज्य सरकारें अपने-अपने विधान-मण्डल द्वारा निर्धारित सीमाओ में ऋण ले सकती है। यदि किसी राज्य सरकार को भारत सरकार का कोई ऋण लौटाना बाकी है तो ऐसी स्थिति मे राज्य सरकार भारत सरकार की सहमति के बिना कोई ऋण नहीं ले सकती।

(क) भारत सरकार का आन्तरिक ऋण
(Internal Debt of Govt of India)

राष्ट्रीय सरकार ने देश की चहुँमुखी प्रगति के लिए नियोजन का मार्ग अपनाया और योजनाओ के वित्तीय साधन मे ऋणो को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। भारत सरकार के आन्तरिक ऋणो का वर्गीकरण इस प्रकार है[1]—

(1) स्थायी ऋण (Permanent Loans)—इन्हे तिथि दिनांकित ऋण (Dated Loans) या कोषित ऋण (Funded Debts) कहते है। ये ऋण निर्गमन तिथि से 12 महीने या अधिक के होते है। कोषित ऋण शब्द प्राय तब प्रयोग किया जाता है जब अल्पकालीन दायित्वो (जैसे—ट्रेजरी बिल्स) के स्थान पर इस लम्बी परिपक्वता वाले ऋणो को जारी किया जाता है। स्थायी ऋण ब्याज वाले ऋण होते है।

(2) अस्थायी अथवा फ्लोटिंग ऋण (Floating Loans)—भारत सरकार के ऋण दायित्वो के इस दूसरे वर्ग मे निम्नलिखित ऋण शामिल होते है।

(अ) उपायार्थ ऋण (Ways and Means Loans)—वित्त की अस्थायी आवश्यकता को पूरा करने के लिए यह रिजर्व बैंक से लिया गया अल्पकालीन ऋण है।

(ब) कोषागार जमा रसीदे (Treasury Deposit Receipts)—इन्हे 15 अक्तूबर 1948 से शुरू किया गया। इनका उद्देश्य अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकता को पूरा करना तथा व्यावसायिक बैंकों की अतिरिक्त तरलता को समेटना है। रसीदो पर ब्याज की दर नीची होती है तथा इन्हे 6 9 तथा 12 महीने की परिपक्वता के लिए केवल व्यावसायिक बैको को जारी किया जाता है।

(स) ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills)—ट्रेजरी बिल्स की 13 सप्ताह की परिपक्वता होती है। ये बट्टे पर जारी किए जाते है तथा समभूल्य (At par) पर अदा किए जाते है। ये बिल्स भारत सरकार के घाटा बजट की बिल व्यवस्था के मुख्य साधन है।

(द) विशेष फ्लोटिंग ऋण (Special Floating Loans)—ये सिक्यूरिटियाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् आदि विश्व वित्त सस्थाओ की और दायित्वो को पूरा करने के लिए जारी की जाती है।

1 *डॉ रामशरण कौशिक* वही पृ 526 27

(घ) अन्य दायित्व (Other Obligations)—इनमे क्षतिपूरक बॉण्ड जो बैको के राष्ट्रीयकरण पर जारी किए गए थे प्राइज बॉण्डस् लघु बचते राज्य प्रोविडेन्ट फण्ड इत्यादि दायित्व शामिल होते है।

योजना काल मे आन्तरिक ऋण

योजना काल मे भारत सरकार द्वारा लिया गया सकल आन्तरिक ऋण पचवर्षीय योजनावार निम्न प्रकार है—

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे आन्तरिक ऋण—प्रथम योजना काल मे सरकार ने 520 करोड रुपये के आन्तरिक ऋण प्राप्त करने का लक्ष्य रखा परन्तु वास्तव मे कुल 600 करोड रुपये प्राप्त किए गए। इनमें से 205 करोड रुपये बाजार ऋणो से 304 करोड रुपये छोटी बचतो तथा अनिधिजन्य ऋणो से और 91 करोड रुपये अन्य पूँजीगत प्राप्तियो से प्राप्त हुए।

द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे आन्तरिक ऋण—द्वितीय योजनावधि मे 1200 करोड रुपये के आन्तरिक ऋण प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। इसी अवधि में 430 करोड रुपये चुकाने थे। योजना अवधि में सरकार को 1180 करोड रुपये के ऋण मिले जिनमे 800 करोड रुपये बाजार ऋणो से और 380 करोड रुपये छोटी बचतो से प्राप्त हुए। ऋण लक्ष्यो की पूर्ति के लिए इस अवधि मे सरकार ने कई नई योजनाएँ चालू की जिनमे प्राइज बॉण्ड तथा प्रीमियम प्राइज बॉण्ड मुख्य है।

तृतीय योजनावधि मे आन्तरिक ऋण—तृतीय योजना मे आन्तरिक ऋणो की राशि 1400 करोड रुपये निश्चित की गई जिसमे से 800 करोड रुपए बाजार ऋण योजनाओं से और 600 करोड रुपये अल्प बचतो से प्राप्त हुए। योजना अवधि (1961 62 से 1965 66) मे जनता से 914 करोड रुपये के ऋण प्राप्त हुए अर्थात् लक्ष्य से 114 करोड रुपये अधिक मिल सके लेकिन छोटी बचतो से प्राप्त किए जाने वाले ऋण के लक्ष्य मे 17 करोड रुपए की कमी रही।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे आन्तरिक ऋण—चतुर्थ योजना मे कुल वित्तीय साधनो का लगभग 78 प्रतिशत घरेलू बजट के साधनो से प्राप्त किया जाना [redacted] जबकि तृतीय योजना मे यह प्रतिशत केवल 59 ही था। घरेलू वित्तीय स्रोतो का कुल साधनो मे अश बढने के साथ आन्तरिक ऋण के अश मे भी वृद्धि हुई। योजनाकाल मे 1415 करोड रुपये बाजार ऋणों से और 769 करोड रु अल्प बचतों से प्राप्त किए जाने थे अर्थात् योजनावधि मे कुल 2184 करोड रुपए आन्तरिक ऋण साधनो से एकत्रित किए जाने थे।

पाँचवीं योजना मे आन्तरिक ऋण—पाँचवीं योजना मे आन्तरिक ऋणों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। पाँचवीं योजना को जनता सरकार ने अवधि से एक वर्ष पूर्व समाप्त कर दिया अत यह योजना चार वर्ष की ही रही।

छठी पचवर्षीय योजना काल मे आन्तरिक ऋण—इस योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए साधनो का अनुमान लगाते समय यह माना गया कि पाच वर्षों मे सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम और स्थानीय सस्थाएँ अनुमान से अधिक ऋण प्राप्त करेगे। सरकार इसमे सफल रही।

सातवीं योजना काल मे आन्तरिक ऋण—इस योजना के 1985 86 से 1989 90 के वर्षों मे कुल मिलाकर 501208 83 करोड रु के आन्तरिक ऋण प्राप्त किए गए।

योजना काल मे राज्य सरकारो के ऋणो में काफी वृद्धि हुई है। इन ऋणो मे केन्द्रीय सरकार का बडा भाग है। 31 मार्च 1984 को राज्य सरकारो के पास बकाया ऋण 36 909 करोड रुपए था जिसमे से 26,246 करोड रुपये के ऋण केन्द्र सरकार द्वारा दिए गए थे अर्थात् इन ऋणो का लगभग 71 प्रतिशत भाग केन्द्र सरकार से लिया गया ऋण था।

(ख) भारत सरकार का बाह्य ऋण

(External Debt of Govt of India)

दूसरे देशो और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से जो ऋण लिया जाता है वह विदेशी या बाह्य ऋण कहलाता है और बजट के पूँजीगत खाते में प्राप्तियो की ओर दिखाया जाता है। भारत सरकार ने योजना काल में अमेरिका कनाडा जापान जर्मनी ब्रिटेन विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय विकास सगठन पूर्वी

यूरोप के विभिन्न देशों से प्रभूत मात्रा मे बाह्य ऋण लिया है। विदेशी ऋण के भार का प्रश्न अधिक गम्भीर है। भारत को सर्वाधिक विदेशी ऋण अमेरिका से प्राप्त हुआ है।

वर्ष	विदेशी ऋण (करोड रुपयों में)
1950-51	32 03
1960-61	760 96
1970-71	6576 79
1990-91	30,000
1994 95	50,000
1995 96	60,000

विदेशी ऋणो का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग डालर ऋण का है जिसमें अमेरिका, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से मिलने वाले ऋण शामिल है।

यदि हम भारत सरकार के आन्तरिक एव विदेशी ऋणो को मिलाकर सार्वजनिक ऋण पर दृष्टिपात करे तो 1950-51 मे यह 2054 33 करोड़ रुपये था जो 1960 61 मे बढकर 4738 96 करोड रुपये हो गया और 1995-96 मे यह 2,56,000 करोड रुपये हो गया।

सरकार के सामने अर्थव्यवस्था को तीव्र गति देने की समस्या रही है। आर्थिक विकास के आधार ढाँचे को तैयार करने के लिए एव नवीन उद्योग-धन्धों की स्थापना के लिए परिवहन सचार सेवाओं के विकास के लिए अन्य स्रोतो के अतिरिक्त ऋण लेकर वित्तीय साधन जुटाए गए है। केवल करो से विशाल राशि जुटाना असम्भव था। कीमतो मे लगातार वृद्धि के कारण विकास योजनाओ का व्यय बढा है जिससे ऋण आवश्यक हो गए है। केन्द्रीय सरकार का अधिकाश ऋण उत्पादक प्रकृति का है क्योकि यह विकास योजनाओं को चलाने के लिए लिया जाता है। जैसे ही विकास योजनाएँ पूरी हो जाती है, उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है और ऋणो का भुगतान सरल हो जाता है। विदेशो की तुलना मे भारत का सार्वजनिक ऋण काफी कम है एव इसका एक बडा हिस्सा (75%) उत्पादक कार्यों में काम आता है अत. यह चिन्ताजनक स्थिति नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण

1979-80 से भारत को भुगतान सतुलन की भारी कठिनाई अनुभव हो रही थी। 1979-80 मे व्यापार शेष घाटा 2449 करोड रुपये और 1980-81 में 5756 करोड रुपये रहा था। 1981-82 में भी इसके 5,000 करोड रुपये से ऊपर ही रहने की सम्भावना थी। यद्यपि सरकार आयात कम करके और निर्यात बढा कर भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयो को कम करने के लिए प्रयत्नशील थी, लेकिन भारी कठिनाई को देखते हुए भारत सरकार ने 1981-82 मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से एक्सटेण्डेड फण्ड फैसिलिटी' के अन्तर्गत 5 बिलियन एस डी आर. के लिए ऋण समझौता किया। मुद्रा कोष ने यह ऋण 10 नवम्बर, 1982 को स्वीकृत किया। यह ऋण 5 बिलियन एस डी आर. तथा 5 8 बिलियन डॉलर या 5220 करोड रुपये का था। मुद्रा कोष से अब तक स्वीकृत यह किसी भी ऋण से अधिक था। यह ऋण आगामी तीन वर्षों के दौरान दिया जाना था और उसके अगले चार वर्षों बाद अर्थात् 1987 से ऋण की अदायगी शुरू होना निश्चित हुआ था। अदायगी सात वर्षों में अर्थात् 1994 तक करनी होगी। इस ऋण की स्वीकृति के पूर्व पश्चिमी देशो विशेषकर अमेरिका ने अनेक बाधाएँ खडी की थीं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को यह अधिकार रहा कि वह निगरानी रखे कि जिस उद्देश्य के लिए ऋण दिया जा रहा है वह पूरा हो रहा है या नहीं।

भारत में विदेशी सहायता की समीक्षा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अपने आर्थिक विकास के लिए और विभिन्न सकटकालीन परिस्थितियो से उबरने के लिए भारत सरकार को बहुत बडी मात्रा मे विदेशी ऋण लेने पडे है। विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए, आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाने के कारण, यह स्वाभाविक था कि वह बडी

मात्रा में बाह्य ऋण लेती। यह कहना अनुचित न होगा कि बहुत कुछ बाह्य ऋणों के बल पर हमारा देश आर्थिक विकास के वर्तमान स्तर पर पहुँच सका है।

इसमे सन्देह नहीं कि बाह्य ऋण हमारे देश की वर्तमान अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार रहे हैं। अब स्थिति ऐसी आ गई है कि विदेशी सहायता पर अधिक निर्भर रहना हमारे लिए उचित नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम बाहय ऋणो के महत्त्व की पूर्ण उपेक्षा कर दे। आवश्यकता यह है कि उपलब्ध विदेशी सहायता का उपयोग निर्यात माल के उत्पादन बढाने और आयातो के प्रतिस्थापित पदार्थ उत्पन्न करने में किया जाए। अर्थव्यवस्था को अधिक से अधिक उत्पादक बनाएं ताकि भविष्य मे निर्यात बढाकर विदेशी पूँजी का ब्याज सहित भुगतान किया जा सके।

विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय यह है कि उसमे प्रोजेक्ट सहायता (Project Aid) का अनुपात अधिक रहा है। विदेशों से अब भारत की प्रोजेक्ट रहित सहायता की माँग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाने लगा है। प्रोजेक्ट रहित सहायता से हमे स्वतन्त्र सहायता अधिक मिलनी चाहिए ताकि मूलधन और ब्याज की किस्त चुकाने मे उसका उपयोग किया जा सके। बाह्य ऋणों पर कम से कम निर्भर रहना जरूरी हो गया है क्योंकि पिछले वर्षो मे सहायता की स्वीकृतियो (Authorisation of Aid) और सहायता के प्रयोगो (Utilisation of Aid) में काफी अन्तर रहा है। प्रयुक्त की गई सहायता स्वीकृत होने वाली सहायता की आधे से कुछ अधिक रही है। इसके अतिरिक्त विश्व के कुछ बडे राष्ट्र जो भारत को कभी उदार मन से सहायता दे रहे थे अब अपने राजनीतिक हितो के कारण भारत पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के दबाव डालने लगे है। भारत की दृढ नीति के कारण उन्हे अपने प्रयासों मे सफलता नही मिल पा रही है। डॉ के एन राज का यह कहना सही है कि हम एक ऐसी व्यवस्था मे पहुँच गए है जहा आर्थिक एव राजनीतिक कारणो से यह आवश्यक हो गया है कि बाह्य ऋणो पर अपनी निर्भरता को यथा शक्ति कम कर दे और विदेशी सहायता के पीछे ढकेलने वाले प्रभावो (Retarding Effects) से सावधान रहे। भारत में पिछले वर्षो से प्राप्त ऋण का कई दृष्टियों से प्रभावी उपयोग नहीं हो पाया है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए प्रो शेनाय ने कहा था कि इतनी विशाल सहायता के बावजूद देश मे जन साधारण का भला नही हो रहा है और आर्थिक विषमता बढती जा रही है। प्रो शेनाय का कहना था कि गति को तेज करने के बजाय सहायता और घरेलू विनियोग अनुत्पादक औद्योगिक नीति घाटे और अन्य विशाल परियोजनाओ मे लग गए है। इन्होंने उत्पादन क्षमता का आधिक्य उत्पन्न कर दिया है। इनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से भ्रष्टाचार विलासी जीवन और अनावश्यक शहरी सम्पत्ति की वित्तीय व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला है। सौभाग्यवश पिछले कुछ अर्से से सरकार आन्तरिक और विदेशी ऋणो के प्रभावी उपयोग के प्रति सजग होती जा रही है।

उत्पादन और निर्यात बढाना तथा विदेशी मुद्रा के कोष का निर्माण करना और आयात करना हमारे देश के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योकि देश के हित की दृष्टि से आत्म निर्भरता में वृद्धि और विदेशी सहायता मे निर्भरता से मुक्ति आज की और भविष्य की एक मात्र आवश्यकता है। आवश्यक सामान के आयात और कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रो की प्रगति को जारी रखने के लिए विदेशी सहायता से तुरन्त मुक्ति नहीं पाई जा सकती। हमारी तत्कालीन नीति विदेशी ऋणो को प्रभावपूर्ण ढग से नियन्त्रित करने की होनी चाहिए। इसके लिए कुछ सुझाव निम्न है—

(1) आयात निर्यात असन्तुलन को कम किया जाए।

(2) विदेशी दूतावास के खर्चों मे कटौती की जाए।

(3) पचवर्षीय योजनाओ को ज्यादा व्यावहारिक बनाया जाए।

(4) उत्पादन मे तीव्र वृद्धि की जाए।

(5) विदेशी सलाह के लिए जो बड़ी राशि दी जाती है उसमे कमी की जाए।

भारत के आर्थिक विकास मे विदेशी कर्ज की उपादेयता

हमे इस पर विचार करना चाहिए कि भारत के आर्थिक विकास मे विदेशी कर्ज की उपादेयता क्या है ? भारतीय आर्थिक विकास वस्तुत विदेशी ऋण पर पूर्ण निहित हो गया है क्योकि स्वतन्त्र उत्पादन एव निष्ठा की प्रवृत्ति परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील घटक मुद्रा को विशेष मानते हैं परन्तु स्वय की

शक्ति पर बल नहीं देते। यदि विदेशी ऋण का भारत की वास्तविक स्थिति के साथ मूल्याँकन किया जाए तो स्थिति सुदृढ नहीं जान पडती। स्वावलम्बी एव सीधे स्थिर खडे रहने की बात पूरे होते नहीं जान पड़ती। केवल दूसरो पर निर्भर रहना एक नियम-सा बन गया है। वैसे तृतीय विश्व के अनेक राष्ट्रो की यही स्थिति है।

अर्थशास्त्रियो का मत है कि आर्थिक विकास के क्षेत्र मे विदेशी वित्त केवल गौण स्थान ही प्राप्त कर सकता है। प्रो बुकानन और एलिस के अनुसार विदेशी तथा देशी वित्त एक-दूसरे के पूरक हैं परन्तु जब तक कि उपभोग तथा बचत करने की क्रियाओं को धन-सग्रह करने वाली सस्थाओं को कानूनी सरचना को तथा ऋण देने व विनियोग करने की क्रियाओ को पूँजी के निर्माण के अनुकूल नहीं बनाया जाता तब तक विदेशी सहायता से केवल क्षणिक लाभ प्राप्त हो सकते है। उच्च जीवन-स्तर हेतु एक स्थायी आधार का निर्माण तो देश के आन्तरिक प्रयत्नो से किया जा सकता है।

सैद्धान्तिक रूप मे विदेशी ऋण भारत की विकास व्यवस्था के लिए—

(1) लोगों की बचत करने व लोगो के कार्य करने की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव डालता है जिससे विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था सुप्रभावित नहीं होती है।

(2) विदेशी ऋणो से प्राप्त धन को बडी आर्थिक परियोजनाओ मे लगाया जाता है जिससे भविष्य में उत्पादन बढता है। फलत इस ऋण के शोधन के लिए जो करारोपण किया जाता है वह भी आगामी पीढी पर ही विशेषत भार डालता है।

(3) विदेशी ऋणो से प्राप्त धन से जब विकास-कार्य प्रारम्भ होता है तो देश मे उत्साहजनक वातावरण बनता है तथा उद्योग एव व्यापार की सुविधाओ मे विकास होता है जिससे निजी उद्योगो को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है।

(4) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है तथा ऋणो का भुगतान किया जा सकता है।

(5) आर्थिक विकास के दौरान जो मुद्रा-रफीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है उन्हे विदेशी ऋण द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि वर्तमान समय मे भारत की लगभग 48 प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा से नीचे है। जनसख्या वृद्धि की दर तुलनात्मक रूप से कम होने पर भी लोग गरीबी की रेखा से नीचे पहुँच रहे है (जो कि एक समय भोजन जुटा पाने मे असमर्थ है)।प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से विश्व में भारत का स्थान बहुत पिछडा हुआ है।

बढते हुए विदेशी ऋण की निरन्तरता दूसरो पर निर्भरता एक दयनीय दशा उत्पन्न कर रही है। यह थोडा-सा अन्तराल आर्थिक विकास की वृद्धि करने मे सहायक है लेकिन स्वतन्त्रता और साहस की प्रवृत्ति से हटकर चलायमान व्यवस्था है जो अस्थिर है। सगठन एकाग्रता एव उत्पादन बढाने की प्रवृत्ति आय मे वृद्धि करने मे परोक्ष रूप से सहायक बन सकती है।

भारत एक कृषि-प्रधान राष्ट्र है। यहाँ की लगभग 65 प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। अभी हमारे यहाँ रूढिवादी विधियो तथा प्राचीनकाल से उपयोग मे लाए जाने वाले यन्त्रो तथा जानवरो की सहायता से कृषि-कार्य किया जाता है। कृत्रिम उर्वरक तथा आधुनिक कृषि-यन्त्र जैसे—ट्रैक्टर थ्रेशर पावर ट्रेलर वगैरह महँगे होने के कारण तथा साहस के अभाव मे कृषक इनका उपयोग नही कर पाते। सिचाई के साधन सीमित है। कृषक वर्ष भर मे केवल दो-तीन माह कृषि-कार्य करते है शेष नौ-दस महीने बेकार बैठे रहते है। आर्थिक विकास के लिए कृषि मे समृद्धि आवश्यक है। इसके लिए विद्युतीकरण सडके सिचाई के साधनो मे वृद्धि तथा छोटे कृषको को आधुनिक स्वचालित कृषि-यन्त्र सस्ते कृषि-उर्वरक उपलब्ध किए जाने चाहिए तथा प्रत्येक 10 15 गाँवो के बीच छोटे-छोटे उद्योग स्थापित कराए जाने चाहिए जिससे अपने बेकार समय का सदुपयोग करने के साथ कृषक अपनी आय बढा सकेगे और राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि होगी। गाँव से नगरो की ओर आकर्षित होने की प्रवृत्ति मे कमी आएगी। उपलब्ध होने वाले विदेशी ग की राशि का योजनानुसार सही उपयोग होना चाहिए। अर्थव्यवस्था मे भ्रष्टाचार तथा अकुशलता का समापन होना चाहिए।

हमारे आर्थिक विकास मे आज विदेशी सहायता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विदेशी ऋण से प्राप्त होने वाली राशि का उपयोग किसी मद में करने से पूर्व यह तथ्य ध्यान में रखा जाए कि कर्ज कर्ज है, दान नहीं।

आर्थिक विकास के लिए वित्त

(Finance for the Economic Development)

आर्थिक विकास के लिए पूँजी अथवा पूँजीगत साधनो (Capital Resources) की प्राप्ति दो स्रोतो से हो सकती है—आन्तरिक स्रोत एव बाह्य स्रोत (Internal & External Resources) ।

आन्तरिक साधन (Internal Resources)

1. अनुत्पादक उपयोग साधनो को स्थानान्तरित करना—अधिकाश देशो में साधनो का एक बडा भाग बेकार पडा रहता है अथवा उसे अनुत्पादक कार्यो के उपयोग मे लाया जाता है। प्राकृतिक उपहार तथा मानवीय शक्ति का सदुपयोग नहीं हो पाता। बहुत-सी भूमि बेकार पडी रहती है, न उस पर कृषि की जाती है और न औद्योगिक कार्य। पानी, खनिज पदार्थ व अन्य उपयोगी वस्तुएँ भू-गर्भ में दबी पडी रहती हैं। विकासशील आर्थिक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि ऐसे व्यर्थ पड़े साधनों को उत्पादक कार्यों मे लगाया जाए।

2. वर्तमान आय उपभोग से हटाकर पूँजी निर्माण मे लगाई जाए—इस प्रक्रिया को बचत (Saving) या पूँजी निर्माण (Capital Formation) कहते है। यदि किसी देश मे समस्त चालू आय को उपभोग और तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति पर व्यय न किया जाए बल्कि इसके एक भाग को मशीन परिवहन के साधनो आदि के निर्माण मे लगा दिया जाए। तब वह आय जो इन उत्पादक उपयोगों मे प्रयुक्त होगी, 'बचत' (Saving) कहलाएगी। सक्षेप मे बचत वह क्रिया है जिसमे वर्तमान धन का वर्तमान समय मे उपभोग करने के बजाय उसे बचा लिया जाता है ताकि भविष्य मे और अधिक धन का उत्पादन करने मे और उसका अधिक उपयोग हो सके। कम उन्नत देशो मे निर्धनता के कारण व्यक्तियो की आय बहुत कम होती है। फलस्वरूप उनकी बचत करने की क्षमता कम होती है जिससे पूँजी-निर्माण कम या बिल्कुल नहीं हो पाता और धनोत्पादन कम होता है। इनकी वस्तुओं की माँग भी कम होती है जिससे उत्पादन करने व पूँजी विनियोग करने की प्रेरणा कम हो जाती है और उत्पादन मे कमी होने से पूँजी की माँग भी कम हो जाती है।

पूँजी की माँग-पूर्ति दोनो कम होने से पूँजी का निर्माण कम होने पर यदि सरकार उचित कदम उठाए तो आर्थिक विकास के लिए कुछ अश तक वित्तीय साधन प्राप्त किए जा सकते है। यदि व्यक्तियो के दीर्घ समूहो को किसी न किसी प्रकार बचत करने के लिए प्रेरित किया जाए तो काफी धन इकट्ठा कर सकते है। व्यक्तियो को ऐच्छिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु निम्नलिखित उपाय किए जा सकते है—

(i) यथासम्भव अधिकाधिक लोगो के लिए बैंकिंग सुविधाएं उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाए। देश में ऐसी उपयोगी सस्थाओ का विकास किया जाए जिनके द्वारा बडी मात्रा में विनियोग किया जा सके। बैंक, मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो विनियोग ट्रस्ट जैसी सस्थाओं के उद्देश्य से इग्लैण्ड और अमेरिका जैसे उन्नत राष्ट्रो में लोगो ने उक्त सस्थाओ मे अपनी आय का कुछ भाग ऐच्छिक रूप से जमा करके पूँजी निर्माण मे भारी योगदान दिया है।

(ii) जब ऐच्छिक रूप से सरकार को निर्माण कार्यों के लिए पर्याप्त पूँजी प्राप्त न हो तो सरकार व्यक्तियों को बचत करने के लिए प्रेरित करे। इस दृष्टि से वह देश मे 'बचत' और 'विनियोग' करने की अनेक सुविधाएँ उपलब्ध कराए ताकि नागरिक स्वत बचत और विनियोग करने के लिए प्रेरित हो जाएँ।

(iii) ग्रामीण क्षेत्रों की बचत का उपयोग उन्हीं क्षेत्रो मे किया जाए ताकि जनता पर उसका अच्छा प्रभाव पडे।

(iv) जनता में सादा जीवन, उच्च विचार और देशभक्ति की भावना का सचार किया जाए।

(v) सरकारी कर्मचारी कुशलता और ईमानदारी से कार्य करें ताकि जनता का विश्वास सरकार और विकास कार्यों में हो। ऐसा होने पर लोग अवश्य ही बचत और विनियोग करेंगे।

(vi) बचत करने के लिए प्रेरित करने का कार्य दो प्रकार से प्रभावशाली रूप में सम्पन्न किया जा सकता है—

(अ) व्यक्तियो को निजी उद्योगो मे विनियोग करने के लिए प्रेरणा दी जाए—यह प्रेरणा तभी मिलती है जबकि निजी उद्यम काफी सुरक्षित तथा लाभोत्पादक हों एव देश मे पर्याप्त सख्या के विनियोग के लिए सस्थाएँ उपलब्ध हो। निजी उद्योगो को लाभप्रद बनाने के लिए सरकार अनेक कदम उठा सकती है जैसे—उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना तकनीकी परामर्श देना वाणिज्यिक सूचनाएँ देना। जिन उद्योगों पर कर भार अधिक है उसे कम करना परिवहन व सवाद वहन के साधनो का विकास करना आदि।

(ब) व्यक्तियों से सरकार को रुपया उधार देने के लिए कहकर उन्हे बचत के लिए प्रोत्साहित किया जाए—यह कार्य देश मे सेविंग बैंक या अन्य किसी प्रकार की सस्थाओं की स्थापना करके सम्पन्न किया जा सकता है। अल्प बचत योजनाएँ (Small Saving Schemes) इस उद्देश्य की पूर्ति मैं महत्वपूर्ण योगदान करती है। छोटी बचतो से प्राप्त राशियाँ अन्तत एक बडी रकम के रूप मे परिणित हो जाती है जिसका प्रयोग उत्पादक योजनाओ की पूर्ति मे किया जा सकता है। इन अल्प बचतो को सग्रह करने और इनका यथासमय भुगतान करने मे सरकार को विशेष प्रयत्न करने चाहिए ताकि अल्प बचतो के प्रति जनता मे अच्छी भावनाएँ उत्पन्न हो।

3 बचत करने के लिए बाध्य करना अथवा अनिवार्य बचत (Compulsion to Save)—यह सम्भव है कि सरकारी प्रयत्नो के बावजूद ऐच्छिक बचते पर्याप्त मात्रा मे नही हो सके। ऐसा होने के कई कारण हो सकते है जैसे—नागरिको की आय इतनी कम हो कि वे कोई बचत कर पाने मे असमर्थ हो। व्यक्तियो के पास कार्यशक्ति बहुत कम हो जिससे वस्तुओ की माँग बहुत कम हो जाए और लोगों को विनियोजन करने का कम प्रोत्साहन मिले। यह सम्भव है कि व्यक्ति अपनी बचत को नकदी गाड़कर सोने को खरीदकर रखे। सुव्यवस्थित मुद्रा बचत के अभाव मे बचते हतोत्साहित हो सकती है अत ऐसी स्थिति में ऐच्छिक बचत न हो पाने या पर्याप्त न होने की दशा मे सरकार व्यक्तियों को बचत करने के लिए बाध्य कर सकती है। इस उद्देश्य की पूर्ति वह निम्न साधनो द्वारा करती है—

(क) करारोपण—अनिवार्य बचत मे सरकार नए कर लगाती है और पुराने करो मे वृद्धि करती है। सरकार प्रत्यक्ष और परोक्ष करो का आश्रय लेती है। करारोपण से व्यक्ति उपभोग कम करने के लिए बाध्य होते है। वे साधन जो पहले उपभोग के काम मे प्रयुक्त होते थे अब करारोपण के कारण पूँजी निर्माण की ओर अन्तरित कर दिए जाते है। करारोपण से पूँजी सचय तभी हो सकती है जब करो से प्राप्त आय को स्थायी और पूँजीगत व्यय मे लगाया जाए।

करारोपण द्वारा विकास हेतु वित्त की व्यवस्था करने मे कई लाभ होते है जैसे—

(i) आर्थिक नियोजन द्वारा राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है अत यह उचित है कि आर्थिक विकास के प्रयत्नो से जो कुछ आय मे वृद्धि हुई है उसे करारोपण द्वारा पुन वापिस ले लिया जाए ताकि उससे योजना कार्यक्रम पूरे किए जा सके।

(ii) आर्थिक विकास स्फीति-कारक दबाव उत्पन्न कर सकता है अत आवश्यक है कि व्यक्तियों के हाथ मे क्रय शक्ति की मात्रा कम करने के लिए करारोपण का प्रयोग किया जाए।

करारोपण से न केवल व्यक्तियो की बचतो का एकत्रीकरण होता है बल्कि यह स्फीति विरोधी यन्त्र का कार्य भी करता है। करारोपण द्वारा योजना के लिए धन जुटाने की नीति का सीमित सीमाओ के अन्दर प्रयोग किया जा सकता है। सरकार को करारोपण की नीति का सहारा तभी लेना चाहिए जब देश मे पूँजी-निर्माण की गति धीमी हो। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि करारोपण से नागरिकों की कार्य और बचत करने की इच्छा तथा शक्ति पर बुरा प्रभाव न पडे और धन की असमानता मे वृद्धि न हो। करो की एक सीमा है—करदेय क्षमता से अधिक कर नहीं लगाये जा सकते। यदि करदेय-क्षमता से अधिक कर लगाए गये तो देश की आर्थिक स्थिति खतरे मे पडती है अत करारोपण की नीति ऐसी होनी चाहिए कि जिससे एक ओर सरकार को अधिकाधिक धन प्राप्त हो सके और दूसरी ओर बचत एव

विनियोग हतोत्साहित न हों, उपयोग और उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पड़े तथा समाज में आर्थिक विषमता पैदा न हो। कर-नीति ऐसी बनाई जानी चाहिए कि वह मुद्रा-स्फीति की नीति को स्वयं रोक सके। कर-प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए और विशेष प्रकार के मुद्रा-प्रसार विरोधी कर लागू किए जाने चाहिए।

(ख) अनिवार्य बचत निक्षेप—आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार लोगों को बचत करने के लिए बाध्य करे और अनिवार्य बचत योजनाएँ चालू करे।

(ग) हीनार्थ प्रबन्धन—अनिवार्य बचत की एक महत्त्वपूर्ण रीति हीनार्थ प्रबन्धन या घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार घाटे की वित्त व्यवस्था का तात्पर्य बजट घाटों द्वारा कुल राष्ट्रीय खर्च में वृद्धि करने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है—ये घाटे चाहे आय खाते (Revenue Account) से सम्बन्धित हो अथवा पूँजी खाते (Capital Account) से। अतः ऐसी नीति अपनाने का सार यही होता है कि सरकार अपनी आय से अधिक मात्रा में खर्च करती है जो उसे करों सरकारी उद्यमो के लाभो जनता से प्राप्त कर्जों जमा एव निधियों तथा अन्य फुटकर साधनों के रूप मे प्राप्त होती है। सरकार बजट के घाटों की पूर्ति अपने सचित कोषों को काम मे लाकर करती है अथवा बैंकों से उधार लेकर (मुख्यत देश के केन्द्रीय बैंक से) द्रव्य निर्माण करके करती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था की स्थिति तभी पैदा होती है जब सरकार को ऋण व अन्य साधनों से प्राप्त होने वाली आय से अधिक व्यय करना पड़ता है। सरकार ऋण-पत्र जारी करके इन्हें केन्द्रीय बैंक को देती है और इनके आधार पर अधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा जारी कर देती है। इस अतिरिक्त मुद्रा के द्वारा सरकार विभिन्न साधनों का क्रय करती है ताकि पूँजीगत सामान में वृद्धि हो सके।

घाटे की वित्त व्यवस्था से देश मे मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न होने का भय पैदा हो जाता है। घाटे के वित्त प्रबन्धन से मुद्रा का विस्तार होता है जिससे कीमते बढ जाती है और मुद्रा-स्फीतिजनक परिणाम उत्पन्न हो जाते है।

हीनार्थ प्रबन्धन के प्रभाव स्फीति कारक होते है। यदि सरकार अतिरिक्त मुद्रा को उत्पादक कार्यों में विनियोजित करती है तो ये प्रभाव दृष्टिगत नही होते। विख्यात अर्थशास्त्री डॉ वी के आर राव का कहना है—"यह हीनार्थ प्रबन्धन नहीं जो भूतकाल की भाँति मुद्रा-प्रसार के लिए उत्तरदायी रहा है अपितु यह अनुत्पादक प्रकृति का व्यय तथा बढ़ते हुए व्यय के साथ-साथ काम व बचत के रूप में समुदाय का असन्तोषजनक दायित्व है जो मुद्रा-प्रसार के लिए उत्तरदायी है। अविकसित देश के लिए हीनार्थ प्रबन्धन उचित हो सकता है यदि सरकार इस पर उचित नियन्त्रण रखे।

घाटे की वित्त व्यवस्था से देश मे मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न होगी या नहीं यह कई बातों पर निर्भर रहता है, जैसे—घाटे की वित्त व्यवस्था के विस्तार की मात्रा जिस कार्य के लिए इस व्यवस्था का उपयोग किया जा रहा है उसका उत्पादक होना या अनुत्पादक होना एव मुद्रा स्फीति विरोधी विभिन्न उपायों को प्रयोग मे लाना जैसे—करारोपण तथा उधार की उपयुक्त नीतियाँ मूल्य नियन्त्रण की नीति आदि।

4 लोक ऋण—करारोपण मे वैधानिक दबाव द्वारा जनता से त्याग करवाया जाता है लेकिन लोक ऋण एक ऐसा साधन है जो जनता की निजी बचतो को स्वेच्छा से प्रभावित करता है। लोक ऋण पर ब्याज मिलने से जनता स्वत ही बचत करने को प्रेरित होती है। विकासशील अर्थव्यवस्था में धनी वर्ग बड़ी मात्रा मे ऋण देता है लेकिन मध्यम व निम्न श्रेणी के व्यक्ति अल्प बचत योजनाओं द्वारा सरकार को ऋण देते है। इसके दो मुख्य लाभ होते है—एक सरकार को धन मिलता है जिसका उपयोग विकास योजनाओं मे किया जाता है और दूसरे जनता का वर्तमान उपयोग कम हो जाता है जो कि विकासशील अर्थव्यवस्था का एक सुधारात्मक तत्त्व है।

5 सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त आय—विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए यही आवश्यक नहीं है कि सरकार उद्योग-व्यापार के विकास का उचित वातावरण बनाए और निजी क्षेत्र मे पूँजी विनियोग को प्रोत्साहित करे वरन् यह भी आवश्यक है कि वह सार्वजनिक व्यापारिक कार्य क्षेत्र मे वृद्धि करे।

नियोजित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उपक्रम आदि कुशलतापूर्वक चलाए जाएँ, तो लाभ के महत्त्वपूर्ण स्रोत हो सकते है। इन लाभों को देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में लगाया जा सकता है। पश्चिम के औद्योगिक देशों में सरकार द्वारा चलाई गई व्यापारिक संस्थाओं से सरकार की कुल आय का लगभग तिहाई भाग प्राप्त हो जाता है। अर्द्ध-विकसित एव विकासशील देशों में ज्यों-ज्यों सरकारी उद्योग बढाए जाएँगे त्यों-त्यों उनसे योजनाओं के लिए वित्त का प्रबन्ध किया जा सकेगा। यह आवश्यक है कि सरकार के अधीन उद्योगों से मिलने वाले लाभ को पुन उन्हीं के विकास के लिए अथवा नवीन उद्योगो की स्थापना के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए।

बाहय साधन (External Resources)

किसी देश की सरकार दो मुख्य कारणो से बाहय वित्त (External Finance) का सहारा लेती है—

(i) देश के विकास कार्यों के लिए आन्तरिक साधन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं हो पाते है।

(ii) अर्द्ध-विकसित देशो को अपनी विकास योजनाओं के लिए तकनीकी ज्ञान वैज्ञानिक जानकारी और मशीनो की व पूँजीगत साज सामान (Capital Equipments) की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों के पास विदेशी विनिमय के साधन (Foreign Exchange Resources) अपर्याप्त हुआ करते है।

किसी सरकार द्वारा विदेशी वित्त निम्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—

1 **विदेशी नागरिको से ऋण**—कई अविकसित देशो मे ऐसे ऋणो ने बडा योगदान प्रदान किया है। भारत मे रेलो व सिचाई योजनाओं पर निर्माण मुख्यत इसी प्रकार की पूँजी द्वारा हुआ है। वर्तमान काल मे बाह्य सहायता के इस साधन का महत्त्व कम होता जा रहा है क्योकि— (i) विदेशी व्यक्ति अविकसित देशो की राजनीतिक और आर्थिक दशाओ की अनिश्चितता व जोखिम के कारण पूँजी विनियोग करने मे हिचकिचाते है (ii) इस पूँजी को उन्नत देशो मे विनियोग करने के अधिक आकर्षक अवसर प्राप्त हो रहे है (iii) कुछ अर्द्ध-विकसित देशो ने व्यक्तिगत बाहय पूँजी के प्रति विरोधी नीति प्रदर्शित की है।

2 **विदेशी सरकारो से ऋण**—द्वितीय महायुद्ध के बाद ससार के बडे-बडे राष्ट्र अविकसित देशों को आर्थिक विकास के लिए अनेक प्रकार से ऋण देते रहे है। उदाहरणार्थ अमेरिका एव सोवियत सघ तकनीकी सहयोग तथा अन्य कार्यक्रमो की पूर्ति मे महत्त्वपूर्ण सहायता करते है। इनसे एक बडा खतरा यह बना रहता है कि कहीं विदेशी सरकारें का गुट मिलकर ऋणग्रस्त देशो से कुछ राजनीतिक लाभ न प्राप्त कर लें और इन देशो का अस्तित्व खतरे मे न पड जाए।

3 **प्रत्यक्ष विदेशी सहायता**—अनेक विकसित देशो की सरकारो ने अर्द्ध-विकसित देशो के लिए प्रत्यक्ष सहायता उपलब्ध की है। उदाहरणार्थ अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन के पाइन्ट फॉर प्रोग्राम (Point Four Programme) के अन्तर्गत तथा ब्रिटेन कनाडा आदि राष्ट्रो ने कोलम्बो योजना (Colombo Plan) के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न देशो की आर्थिक सहायता दी। गत वर्षों में कुछ देशो को सोवियत सघ ने ऐसी सहायताएँ प्रदान की है। विदेशी ऋणो की तुलना में प्रत्यक्ष विदेशी सहायता अधिक भारपूर्ण होती है क्योकि ऐसी सहायता मे राजनीतिक शर्तें अधिक होती है और सहायता नियमित नही होती।

4 **अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से ऋण**—विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ जैसे—विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) अन्तर्राष्ट्रीय विकास सस्था (International Development Association) सयुक्त राष्ट्र आर्थिक विकासार्थ विशेष कोष (United Nations Special Fund in Economic Development) आदि से अर्द्ध विकसित देशो को अपने आर्थिक विकास कार्यक्रमो की पूर्ति के लिए पर्याप्त वित्तीय एव तकनीकी सहायता प्राप्त होती है। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक ने कई देशो को सिचाई रेलो बिजली आदि योजनाओं के लिए ऋण दिए है। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ बडी-बडी धनराशियाँ पिछडे हुए देशो के आर्थिक विकास के लिए ऋण के रूप मे देती रही है। इन सस्थाओ से मुद्रा के रूप मे ही नहीं वरन् डॉक्टरो इन्जीनियरो वैज्ञानिकों सलाहकारो मशीनो कच्ची सामग्री आदि के रूप मे सहायता प्राप्त हुई है। आर्थिक विकास के लिए

व्यवस्था करने में इन संस्थाओं की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। डॉ. वी. के. मदान के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अन्ततः एक बैंक है जिसकी स्थापना उत्पादक कार्यों और लाभदायक परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था करने की एजेन्सी के रूप में की गई है। शिक्षा, चिकित्सा एवं जन-स्वास्थ्य तथा व्यक्तियों का तकनीकी प्रशिक्षण आदि विकास के मौलिक विस्तृत क्षेत्र हैं जिनमें विनियोग की आवश्यकता है और जो केवल दीर्घकाल में प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकीय हैं लेकिन जो अर्द्ध-विकसित देशों की क्षमता और आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।"

स्पष्ट है कि विदेशी ऋण और विदेशी सहायता पिछड़े हुए राष्ट्रों के लिए आर्थिक विकास की योजनाओं में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती है। इसके द्वारा कम उन्नत देशों को धन, विदेशी विनिमय, पूँजीगत माल और तकनीकी सहायता प्राप्त हो जाती है। आज संसार में जनसंख्या का लगभग दो-तिहाई भाग ऐसे क्षेत्रों में रहता है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इन क्षेत्रों के आर्थिक विकास का महत्त्व संसार में शान्ति बनाए रखने की दृष्टि से अनुप्रेक्षणीय है। यदि इसका समुचित आर्थिक विकास न किया गया तो ये क्षेत्र ज्वालामुखी बनकर सारे संसार की शान्ति में कभी भी आग लगा सकते हैं अतः विकसित देशों का स्वयं का हित इसी में है कि वे संसार के पिछड़े हुए क्षेत्रों को ऊँचा उठाने में ईमानदारी से भरसक चेष्टा करें।

विदेशी ऋणों के सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए—

(i) ऋणों का प्रयोग देनदार देश के निर्यात को बढ़ाने या आयात को घटाने के लिए किया जाना चाहिए।

(ii) निर्यात की वृद्धि और आयातों की कमी का समय व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि मूलधन और ब्याज का निर्धारित समय पर शोधन हो जाए।

(iii) ऋण की अदायगी के समय में लेनदार देशों को अधिक माल लेने के लिए राजी किया जाना चाहिए।

(iv) ऋण सम्बन्धी व्यय अधिक नहीं होने चाहिए अन्यथा उनके शोधन में राष्ट्रीय आय की वृद्धि का बहुत बड़ा भाग देश से बाहर चला जाएगा।

(v) ऋण उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त किए जाने चाहिए और प्रशासनिक कुशलता व मितव्ययिता पर पूरा बल दिया जाना चाहिए।

अन्त में "आर्थिक विकास के क्षेत्र में विदेशी वित्त केवल गौण स्थान ही प्राप्त कर सकता है।" अर्द्ध-विकसित देशों से आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाह्य ऋणों पर तभी तक निर्भर रहना चाहिए जब तक कि वे अपने आन्तरिक साधनों से पर्याप्त पूर्ति का निर्माण और संग्रह करने में समर्थ नहीं हो जाते। प्रो. बुचन एवं रेलिस (Buchann and Relis) के निष्कर्ष से सहमत हैं कि—"देशी तथा विदेशी वित्त एक-दूसरे के पूरक हैं, परन्तु जब तक उपभोग और बचत करने की क्रियाओं को, धन संग्रह करने वाली संस्थाओं को, कानूनी संरचनाओं से तथा ऋण देने और विनियोग करने की क्रियाओं को पूँजी-निर्माण के अनुकूल नहीं बनाया जाता तब तक विदेशी सहायता से केवल क्षणिक लाभ प्राप्त हो सकता है। उच्च जीवन-स्तर के लिए एक स्थायी आधार का निर्माण देश के आन्तरिक प्रयत्नों से किया जा सकता है।" विदेशी ऋण अथवा विदेशी सहायता पर पूर्णतः निर्भर रहना उचित नहीं है। इनकी प्राप्ति और मात्रा के सम्बन्ध में निश्चयात्मक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसी सहायता में राजनीतिक स्वार्थों के होने का बड़ा खतरा हमेशा विद्यमान रहता है। विदेशी ऋण प्रारम्भिक अवस्था में अपने आर्थिक विकास का आधार तैयार करने हेतु लिए जाने चाहिए और उनका उपयोग उत्पादक कार्यों में किया जाना चाहिए।

19

भारत सरकार की बजट नीति

(Budgetary Policy of the Govt. of India)

भारत सरकार का बजट : सामान्य परिचय

1 संविधान के अनुच्छेद 112 के अनुसार प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में जो 1 अप्रेल से 31 मार्च तक होता है भारत सरकार की अनुमानित आय और व्यय का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इस वार्षिक विवरण को केन्द्रीय सरकार का बजट कहते है और यह सबसे प्रमुख बजट-पत्र होता है। इसे बजट विवरण भी कहते है। इसमें सरकार की आय और व्यय को तीन भागों मे जिनके अनुसार सरकारी लेखे रखे जाते है दिखाया जाता है। ये भाग इस प्रकार है—(i) समेकित निधि (ii) आकस्मिक निधि और (ii) लोक खाता।

2 सरकार को मिलने वाले सभी राजस्वो से सरकार द्वारा लिए जाने वाले उधारों से और उसके द्वारा दिए गए ऋणो की वसूलियो से जो धनराशियाँ प्राप्त होती है वे सब समेकित निधि मे दिखाई जाती है। सरकार का सभी खर्च समेकित निधि से किया जाता है और जब तक ससद् की स्वीकृति नहीं मिल जाती तब तक इस निधि मे से कोई रकम खर्च नहीं की जा सकती।

3 कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते है जब सरकार को ससद् की स्वीकृति मिलने के पहले जरूरी खर्च करना पडता है जिसका पहले से अन्दाजा नहीं रहता। इस तरह का खर्च आकस्मिक निधि से किया जाता है। यह निधि अग्रदाय के रूप मे राष्ट्रपति के पास रहती है। इस प्रकार आकस्मिक निधि से जो रकम खर्च की जाती है उसका बाद मे ससद् से अनुमोदन करा लिया जाता है और ससद् की स्वीकृति से समेकित निधि में से उतनी ही रकम निकालकर वापस आकस्मिक निधि मे डाल दी जाती है।

4 सरकार की सामान्य प्राप्तियो और व्यय के अतिरिक्त जिनका सम्बन्ध समेकित निधि से होता है सरकारी खातो मे कुछ अन्य लेन-देनो जैसे—भविष्य निधियो के सम्बन्ध मे लेन-देन अल्प बचत सग्रह अन्य जमा आदि का हिसाब रखा जाता है। सरकार इन लेन-देनो के सम्बन्ध मे लगभग बैंकर के रूप में कार्य करती है। इससे जो रकम प्राप्त होती है उन्हे लोक खाते मे दिखाया जाता है और सम्बन्धित खर्च इसी मे से रकम निकाल कर किया जाता है। लोक खाते मे दिखाई जाने वाली रकम सरकार की आय नहीं होती क्योंकि इस धनराशि को किसी न किसी समय उन व्यक्तियो या प्राधिकारियो को जो इसे जमा कराते है वापस देना होता है। इसलिए लोक खाते से अदायगी करने के लिए ससद् की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। सरकार की आय का कुछ भाग मुख्य-मुख्य कार्यों के लिए जैसे—कोयला खान श्रमिक कल्याण के लिए या वाणिज्यिक उपक्रमों में जो मशीनरी पुरानी पड गई हो उसके स्थान पर नई मशीनरी आदि लाने के लिए अलग-अलग निधियो मे अलग निकालकर रख लिया जाता है। यह रकम ससद् की स्वीकृति लेकर समेकित निधि से निकाली जाती है और विशेष कार्यों पर खर्च किए जाने के लिए लोक खाते में जमा रखी जाती है। कार्य-विशेष पर जो खर्च किया जाता है उसे ससद् के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए फिर प्रस्तुत किया जाता है हालाँकि यह रकम निधियों को अन्तरित किए जाने से पहले ससद् द्वारा निर्धारित की हुई होती है।

5 सविधान के अनुसार खर्च की कुछ मदे जैसे—राष्ट्रपति की परिलब्धियाँ राज्यसभा के सभापति और उप-सभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते उच्चतम

न्यायालय के न्यायाधीशों और भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते और पेंशनें, सरकार द्वारा लिए गए उधारों के ब्याज और उनकी अदायगियों और अदालती डिक्रियों के सम्बन्ध में की गई अदायगियाँ, समेकित निधि पर भारित होती हैं। बजट विवरण में समेकित निधि पर भारित खर्च को अलग से दिखाया जाता है।

6. संविधान के अनुसार, बजट में राजस्व खाते के व्यय को अन्य व्यय से अलग दिखाना होता है। इसलिए सरकार का बजट (i) राजस्व बजट और (ii) पूँजी बजट, दो भागों में बाँटा जाता है।

7. राजस्व बजट में सरकार को राजस्व (कर-राजस्व और अन्य राजस्व) से होने वाली आय तथा इन राजस्वों से किए जाने वाला व्यय दिखाया जाता है। कर-राजस्व में केन्द्र द्वारा लगाए गए करों और अन्य शुल्कों से प्राप्त होने वाली आय शामिल की जाती है। राजस्व की आय के जो अनुमान बजट विवरण में दिए जाते है उनमें वित्त विधेयक द्वारा किए गए कर-प्रस्तावों से होने वाली आय शामिल होती है। सरकार की बाकी आय में मुख्य रूप से ब्याज, उसके द्वारा निवेशित पूँजी का लाभांश, फीस तथा सरकार द्वारा प्रदान की गई सेवाओं की आय शामिल होती है। राजस्व खाते से किया जाने वाला खर्च सरकारी कार्यालयों और विभिन्न सेवाओं में काम करने के लिए, सरकार द्वारा लिए गए कर्जों के ब्याज को चुकाने आदि के लिए होता है। ऐसा सभी व्यय जिससे किसी परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता, राजस्व से किया जाने वाला व्यय माना जाता है। राज्य सरकारों और अन्य स्वायत्त संस्थाओं आदि को दिए जाने वाले सभी अनुदान राजस्व व्यय में आते हैं।

8. पूँजी बजट में पूँजीगत प्राप्तियाँ और भुगतान शामिल हैं। पूँजीगत प्राप्तियों की मुख्य मदें ये हैं—सरकार द्वारा जनता से लिए गए उधार जिन्हें बाजार उधार कहा जाता है राजकोष हुण्डियों की बिक्री के जरिए (जिनकी अदायगी 91 दिनों के बाद करनी होती है लेकिन जिनका नवीनीकरण किया जा सकता है) सरकार द्वारा रिजर्व बैंक और अन्य पक्षों से लिए जाने वाले उधार, विदेशी सरकारों और संस्थाओं से प्राप्त उधार तथा राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारी और अन्य पक्षों को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए उधार की वसूली से होने वाली आय। पूँजीगत भुगतान में ये मदें शामिल होती हैं—जमीन, इमारतों, मशीनों, उपकरणों जैसी परिसम्पत्तियों की प्राप्ति पर किया जाने वाला पूँजी व्यय और शेयरों आदि में लगाई जाने वाली पूँजी, राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों, सरकारी कम्पनियों, निगमों, अन्य संस्थाओं आदि को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जाने वाले उधार और अग्रिम पूँजी बजट में लोक खाते के लेन-देन शामिल होते है।

वित्त विधेयक

9. सरकार द्वारा लगाए जाने वाले नए करों के प्रस्ताव वर्तमान करों में किए जाने वाले संशोधनों के प्रस्ताव या संसद् द्वारा स्वीकृत अवधि के बाद किसी वर्तमान कर को जारी रखने के लिए प्रस्ताव वित्त विधेयक के रूप में संसद् में प्रस्तुत किए जाते है।

अनुदानों की माँगे

10. बजट विवरण में समेकित निधि से किए जाने वाले व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। ये अनुमान संविधान के अनुच्छेद 113 के अनुसरण में अनुदानों की माँगों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और इनकी स्वीकृति लोकसभा से लेनी होती है। जिन मामलों में एक मन्त्रालय/विभाग कई अलग-अलग सेवाओं के लिए उत्तरदायी होता है वहाँ प्रत्येक सेवा के लिए एक अलग माँग प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक माँग में एक सेवा के लिए आवश्यक व्यवस्था दी गई होती है अर्थात् इसमें राजस्व से किया जाने वाला व्यय, पूँजी व्यय, राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों को दिए जाने वाले अनुदान और उस सेवा में उधारों और अग्रिमों के लिए की गई व्यवस्था शामिल होती है। विधान मण्डल रहित संघ राज्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में ऐसे प्रत्येक संघ राज्य क्षेत्र के लिए एक अलग माँग की जाती है। जिन मामलों में किसी सेवा से सम्बद्ध व्यवस्था पूर्ण रूप से समेकित निधि पर भारित व्यय के लिए होती है, जैसे—ब्याज प्रभार, तो उस व्यय के लिए, माँग से बिल्कुल भिन्न, एक अलग विनियोग प्रस्तुत किया जाता है और उसके लिए संसद् से स्वीकृति लेने की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसे किसी व्यय के मामले में, जिसमें स्वीकृत एवं भारित दोनों मदें शामिल हों तो उस सेवा के लिए प्रस्तुत की जाने वाली माँग में भारित व्यय शामिल कर लिया जाता है लेकिन स्वीकृत और भारित व्यवस्थाएँ अलग-अलग दिखाई जाती

हैं। विभिन्न माँगों और विनियोगों में सम्मिलित कुल स्वीकृत और भारित व्यवस्थाओं का सारांश 'अनुदानों की माँगों का सारांश' नामक पुस्तक में दिया गया है।

11 लेखा तथा बजट सम्बन्धी वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत एक प्रकार की आय को जैसे एक विभाग द्वारा दूसरे विभाग को दी गई अदायगी और पूँजी परियोजनाओं या योजनाओं से होने वाली आय को उस विभाग के खर्च में से जिसे यह रकम मिलेगी, घटा दिया जाता है। बजट विवरण में दिए गये अनुमान जैसा कि लेखों से पता चलता है, निबल व्यय के जो अनुमान होते हैं अर्थात् इसमें से आय को घटा दिया जाता है। अनुदानों की माँगों में व्यय के जो अनुमान दिए जाते हैं वे सकल व्यय के अनुमान होते हैं। बजट के व्याख्यात्मक ज्ञापन के अनुबन्ध 3 में विभिन्न अनुदानों की माँगों में दिखाए गए व्यय की सकल रकम, वसूलियाँ जो व्यय में से घटा दी जाती हैं और बजट विवरण में दिखाया गया निबल व्यय विश्लेषण के लिए एक साथ दिखाया जाता है।

12 अनुदानों की माँग बजट विवरण के साथ लोकसभा मे प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक माँग में ऊपर की ओर पहले 'स्वीकृत' और 'भारित' व्यय तथा माँग में सम्मिलित 'राजस्व' और पूँजी' व्यय अलग-अलग जोड़ कर दिखाये जाते हैं। इसके अलावा जिस खर्च के लिए माँग प्रस्तुत की जाती है उसका कुल जोड़ इसमें दिखाया जाता है। इसके बाद विभिन्न शीर्षों में व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। मुख्य कार्यक्रमों और सगठनों को जिनके लिए बजट में 10 लाख रुपये या उससे अधिक रकम की व्यवस्था की जाती है, अलग से दिखाया जाता है। प्रत्येक कार्यक्रम/सगठन के व्यय का आयोजना और आयोजना-भिन्न विभाजन दिखाया जाता है। खातों में व्यय में से घटाई गई वसूलियों के कुल जोड़ टिप्पणी में नीचे दिखाए जाते हैं। अगले वर्ष की अनुदानों की माँगों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं, जिनमें मन्त्रालय/विभाग के उद्देश्यों का सक्षेप में उल्लेख किया गया है। जहाँ कहीं सम्भव हुआ है, इन टिप्पणियों में मुख्य कार्यक्रमों के सम्बन्ध में लक्ष्यों और पूरे किए गए कार्यों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त, जहाँ आवश्यक समझा गया है, वहाँ इन टिप्पणियों में सक्षेप में यह बताया गया है कि चालू वर्ष के मूल और सशोधित बजट के बीच और विभिन्न माँगों में सम्मिलित बजट वर्ष की आवश्यकताओं के बीच अन्तर क्यों रह गया है। अनुदानों की माँगों में नई सेवा की मदों, जैसे नई कम्पनी का निर्माण, नई योजना का शुरू किया जाना आदि का विवरण दिखाया गया है जिसके लिए बजट में व्यवस्था की गई है।

13 अनुदानों की माँगों के बाद, अनुदानों की ब्यौरेवार माँगें लोक-सभा पटल पर बजट के प्रस्तुत किए जाने के कुछ समय बाद लेकिन अनुदानो की माँगो पर बहस शुरू होने से पहले रखी जाएगी। अनुदानों की इन ब्यौरेवार माँगो में अनुदानों की माँगों में प्रस्तुत धनराशि का और आगे ब्यौरा तथा पहले के वर्ष का वास्तविक व्यय दिखाया जाएगा। इन माँगों में प्रत्येक कार्यक्रम/सगठन से सम्बन्धित अनुमानों का ब्यौरा जहाँ-कहीं यह रकम 10 लाख रुपये से कम की नहीं होती, कई ब्यौरेवार शीर्षों के अन्तर्गत दिया जाता है जिससे उस कार्यक्रम पर किए गए व्यय की किस्म और स्वरूप का, जैसे—वेतन, मजदूरी, यात्रा-व्यय, सामग्री और उपकरण, सहायता अनुदान आदि का पता चलता है। इन ब्यौरेवार माँगों के अन्त में वसूलियों का ब्यौरा दिया जाता है जिन्हें व्यय में से घटाकर खातों में दिखाया जाता है। प्रमुख कार्यक्रमों और योजनाओं के भौतिक और वित्तीय पहलू कार्य-निष्पादन बजटों में दिए गए हैं जो मन्त्रालयों/विभागों द्वारा ससद् में अलग से प्रस्तुत किए जाएँगे।

लेखो का वर्गीकरण

14 बजट विवरण मे आय और व्यय के अनुमान तथा अनुदानो की माँगो मे व्यय के अनुमान लेखों के वर्गीकरण की उस प्रणाली के अनुसार दिखाए जाते है जो सविधान के अनुच्छेद 150 के अन्तर्गत विहित है। इस वर्गीकरण का उद्देश्य ससद् और जनता को यह समझने में सहायता देना है कि प्रत्येक कार्यक्रम पर कितना धन निर्धारित किया गया है और धनराशि खर्च करने में सरकार के उद्देश्य क्या हैं।

राज्यों को अन्तरिम साधन

15 राज्य सरकारों को विभिन्न आयोजना और आयोजना-भिन्न योजनाओं के लिए अनुदान और उधार दिए जाते हैं। इसके अलावा, केन्द्रीय सरकार द्वारा आय-कर, सघ उत्पाद-शुल्कों और

सपदा-शुल्क के रूप मे संगृहीत कर-राजस्व की अधिकाश राशि राज्य सरकारो को दी जाती है। कुल राज्यों को वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार उनके खर्च की कमी को पूरा करने के लिए अनुदान दिए जाते हैं। राज्यों और सघ राज्य क्षेत्रो को अन्तरिम कुल साघनो की जानकारी बजट का सार नामक पुस्तक के एक विवरण मे दी जाती है। बजट के व्याख्यात्मक ज्ञापन के भाग 1 और 2 में करों, सहायता अनुदानों और उधारों के रूप में राज्यों और सघ राज्य क्षेत्रों को दी जाने वाली राशियों का और अधिक ब्यौरा दिया जाता है। सघ उत्पाद-शुल्को का हिस्सा और अधिकाश अनुदान तथा उधार वित्त मन्त्रालय द्वारा दिए जाते हैं और ये इस मन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली 'राज्य सरकारों को अन्तरण' नामक माँग मे शामिल किए जाते है। जो अनुदान और उधार अन्य मन्त्रालयो द्वारा दिए जाते हैं, उन्हें इन मन्त्रालयो की माँगों मे दिखाया जाता है।

आयोजना परिव्यय

16. केन्द्रीय सरकार के कुल व्यय मे आयोजना व्यय का अनुपात अधिक होता है। विभिन्न मन्त्रालयो की अनुदानो की माँगो में, प्रत्येक शीर्ष के अन्तर्गत आयोजना व्यय को आयोजना-भिन्न व्यय से अलग दिखाया जाता है। आयोजना बजट नामक पुस्तक मे प्रत्येक मन्त्रालय के कुल आयोजना खर्च को विभिन्न विकास शीर्षों के अन्तर्गत दिखाया जाता है और आयोजना के महत्वपूर्ण कार्यक्रमो और योजनाओं के लिए बजट में की गई खर्च की व्यवस्था को स्पष्ट करके दिखाया जाता है। आयोजना मे सम्मिलित महत्वपूर्ण योजनाओं का विवरण प्रत्येक मन्त्रालय के कार्य-निष्पादन बजट मे दिया जाता है जिसमे इन योजनाओं का ब्यौरा दिया होता है अर्थात् इन योजनाओं के उद्देश्यो और लक्ष्यो की तुलना मे कितना कार्य पूरा कर लिया गया है।

कार्य-निष्पादन बजट

17. कार्य-निष्पादन बजट विकास सम्बन्धी कार्य कर रहे सभी मन्त्रालयों/विभागो द्वारा तैयार किए जाते हैं और उन्हे ससद् के सदस्यो मे परिचालित किया जाता है। यह बजट मन्त्रालय/विभाग के बजट को कार्यों, कार्यक्रमो और गतिविधियो के रूप मे प्रस्तुत करता है। 100 करोड़ रुपये से अधिक अनुमानित लागत वाली केन्द्रीय क्षेत्र की परियोजनाओं/कार्यक्रमों के सम्बन्ध मे अलग से मूल्यॉकन रिपोर्ट देता है। इसमें मन्त्रालय/विभाग के अधीनस्थ सरकारी क्षेत्र के विभिन्न उपक्रमो के कार्यक्रमो और उनके द्वारा सम्पन्न कार्य का विवरण दिया जाता है, जिसमें सस्थापित और उपयोग की गई क्षमता, भौतिक लक्ष्य और सफलताएँ, कार्यसचालन के परिणाम और पूँजी पर होने वाली आय आदि का ब्यौरा दिया जाता है। कार्य-निष्पादन बजट, विकास कार्यक्रम के कार्यान्वियन मे प्रबन्धक वर्ग के लिए प्रशासनिक और वित्तीय नियन्त्रण के साधन के रूप मे उपयोगी सिद्ध होता है।

सरकारी क्षेत्र के उपक्रम

18. केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाने वाले आयोजना व्यय का अधिकाश भाग सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों पर खर्च होता है। सरकार द्वारा इन उपक्रमो के परिव्यय की वित्त व्यवस्था के लिए उनकी शेयर पूँजी में धन लगाकर या उन्हें उधार देकर बजटीय सहायता दी जाती है। बजट के व्याख्यात्मक ज्ञापन में, सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो को चालू और बजट वर्षों मे आयोजना और आयोजना-भिन्न प्रयोजनों के लिए दी गई पूँजी और दिए गए उधारों के अनुमानों और इन उपक्रमो को अपनी आयोजनाओं के वित्त-पोषण के लिए उपलब्ध बजट मे बाह्य साधनों का ब्यौरा दिया जाता है। सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो के कार्य की विस्तृत रिपोर्ट, 'सरकारी उद्यम समीक्षा' नामक पुस्तक में दी जाती है जो वित्त मन्त्रालय द्वारा अलग से प्रकाशित की जाती है। विभिन्न मन्त्रालयो के नियन्त्रण मे काम कर रहे विभिन्न उपक्रमो के कार्य का विवरण इन मन्त्रालयों की वार्षिक रिपोर्टों मे दिया होता है जो ससद् सदस्यो मे वितरित की जाएँगी। प्रत्येक सरकारी कम्पनी की वार्षिक रिपोर्ट परीक्षित लेखो सहित ससद् मे अलग से प्रस्तुत की जाती है। इसके अलावा, सरकारी क्षेत्र के विभिन्न उपक्रमों के कार्य-विवरण भारत के नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक की रिपोर्ट ससद् में प्रस्तुत की जाती है।

19. रेलवे और डाक तथा दूर-सचार सेवाएँ (डाक-तार विभाग का दो अलग-अलग विभागो—डाक-विभाग और दूर-सचार विभाग—के रूप में पुनर्गठन किया गया है) सरकार द्वारा चलाए जाने वाले प्रमुख वाणिज्यिक उपक्रम हैं। रेलवे का बजट और रेल व्यय से सम्बन्धित अनुदानों की माँगों ससद् को अलग से प्रस्तुत की जाती हैं, लेकिन रेलवे की कुल आय और व्यय को भारत सरकार के बजट विवरण

में शामिल किया जाता है। डाक तथा दूर-सचार के दोनों विभाग की अनुदानों की माँगें केन्द्रीय सरकार की अन्य अनुदानों की माँगों के साथ प्रस्तुत की जाती है। इन दोनों विभागों के कार्य-सचालन के वित्तीय परिणामों का साराश बजट के व्याख्यात्मक ज्ञापन मे दिया जाता है।

20. राज्यों और सघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों से भिन्न निकायों को दिए जाने वाले अनुदानों का ब्यौरा, गैर-सरकारी निकायों को अदा किए जाने वाले सहायता अनुदानों के विवरण में दिया जाता है जो विभिन्न मन्त्रालयों की अनुदानों की ब्यौरेवार माँगों के साथ सलग्न होती है।

विनियोग विधेयक

21. लोक-सभा द्वारा अनुदानों की माँगों को स्वीकार किए जाने के बाद स्वीकृत रकमों को और समेकित निधि पर भारित व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक रकम को समेकित निधि से निकालने के लिए विनियोग विधेयक के जरिये ससद् का अनुमोदन माँगा जाता है। सविधान के अनुच्छेद 114 (3) के *अनुसार समेकित निधि से कोई रकम ससद् द्वारा ऐसा कानून बनाये बिना नही निकाली जा सकती।*

22 अनुदानों की माँगों पर विस्तृत विचार करने का कार्य मई के प्रथम सप्ताह में पूरा हो पाता है। पहली अप्रेल से 'विनियोग विधेयक' के अधिनियमित हो जाने तक, विनियोग (लेखानुदान) विधेयक के जरिए ससद् से लेखानुदान प्राप्त कर लिया जाता है ताकि इस अवधि मे सरकार अपना सामान्य कार्य चला सके।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत सरकार की बजट नीति

बजट प्रत्येक देश की आर्थिक नीतियो को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। देश की आर्थिक नीति उसमे परिलक्षित होती है। बजट नीति से देश मे वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग प्रभावित होती है और उसी पर देश में आय का स्तर, विनियोगों की माँग एव रोजगार का स्तर निर्भर करता है। बजट नीति में साधारण-सा परिवर्तन देश के सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे को प्रभावित कर देता है।

किसी देश की अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए बजट नीति का दीर्घकाल में सन्तुलित होना आवश्यक है। सन्तुलित बजट होने पर देश की आर्थिक क्रियाओं में परिवर्तन न्यूनतम होते हैं किन्तु जब सरकार आर्थिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करना चाहती है तब वह घाटे के बजट बनाती है। घाटे के बजट राष्ट्रीय आय और कुल माँग मे वृद्धि करके देश मे आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कारगर सिद्ध होते है और आधिक्य के बजट मुद्रा-स्फीति की दशाओं मे आर्थिक क्रियाओं के स्तर को गिराने के लिए बनाए जाते हैं।

विदेशी सरकार को भारत की आर्थिक उन्नति में कोई विशेष रुचि नहीं थी। अत. विदेशी शासन की बजट नीति का लक्ष्य और क्षेत्र सीमित था। आर्थिक प्रभावों की दृष्टि से तत्कालीन बजट नीति तटस्थ थी। ब्रिटिश सरकार ने निर्बाधावादी नीति (Laissez Faire) पर चलते हुए ऐसे प्रयत्नों में रुचि नहीं ली जिससे भारत औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध बने, देश में धन तथा आय की असमानताएँ घटे और कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में कदम उठाए जा सके। विदेशी सरकार की मूल नीति यही रही कि भारत के आर्थिक हितों के प्रति यथासम्भव उदासीनता बरती जाए और भारत पर भारी मात्रा में ऐसे सरकारी ऋण का भार डाल दिया जाए जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए व्यय किया गया था। कराधान का मुख्य उद्देश्य यही रहा कि राज्य के अनिवार्य कार्य को पूरा करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त किया जाए। सामान्य उद्देश्य 'बजट को सन्तुलित करना' रहा और सामाजिक तथा विकास कार्यों पर बहुत कम व्यय किया गया। बजट का एक बड़ा भाग प्रतिरक्षा और नागरिक प्रशासन मे व्यय होता रहा। वित्त नीतियों में समय-समय पर मामूली सशोधन किए गए जो जनमत के दबाव और महायुद्धजनित परिस्थितियों के परिणाम थे। कुछ सशोधन 1919 के सुधारों के बाद लोकप्रिय सरकारों की स्थापना के फलस्वरूप हुए। 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन लागू होने के बाद अनेक सशोधन हुए।

द्वितीय महायुद्ध काल में बजट सम्बन्धी नीति में काफी परिवर्तन किए गए। ब्रिटेन और भारत के बीच हुए एक वित्तीय करार के अन्तर्गत भारत सरकार पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वह भारत में होने वाले ब्रिटिश खर्चों के लिए रुपए में वित्त व्यवस्था करे। इसके फलस्वरूप भारत सरकार का प्रतिरक्षा व्यय 1939-40 में लगभग 50 करोड़ रुपए से बढ़कर 1944-45 में लगभग 460 करोड रुपये

हो गया। नागरिक अथवा असैनिक व्यय तेजी से बढ़ा। भारत में अमेरिकी फौजों पर व्यय करने के लिए रुपए में वित्त व्यवस्था का भार भारत को उठाना पड़ा। अनेक प्रशासनिक विभागों का विस्तार किया गया और अनेक नए विभाग खोले गए।

बढ़े हुए व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए भारत सरकार को आय वृद्धि के अनेक उपाय करने पड़े। अतिरिक्त करारोपण किया गया। उदाहरणार्थ, आय-कर, अति-कर (Super Tax) तथा निगम कर की दरें बढ़ा दी गईं, अतिरिक्त लाभ-कर (Excess Profit Tax) लगा दिया गया तथा सीमा शुल्कों व उत्पादन करों में परिवर्तन किए गए। बाजार ऋणों में वृद्धि की गई। अल्प बचतें प्राप्त करना, पत्र-मुद्रा छापना आदि उपायों का भरपूर आश्रय लिया गया। कर-भिन्न स्रोतों (Non-Tax Sources) में युद्ध काल में रेलों ने ठोस भाग अदा किया। युद्ध काल में सरकारी ऋण बहुत बढ़ गये। 1938-39 में यह 1,220 करोड़ रुपए का था जो बढ़कर 1944-45 में 2,300 करोड़ रुपए हो गया। मुद्रा-स्फीति (Inflation Currency) का इतना आश्रय लिया गया कि 1939-40 में लगभग 198 करोड़ रुपये के कागजी नोट चलन में थे जो बढ़कर 1945-46 में लगभग 1,163 करोड़ रुपए के हो गए। सरकार ने काफी समय पश्चात् मुद्रा-स्फीति विरोधी कुछ उपाय अवश्य अपनाए परन्तु उनमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

देश की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझा पड़ने से युद्ध समाप्ति तक स्थिति बहुत खराब हो गई और युद्धोत्तर काल में मूल्य-वृद्धि से जनता के कष्ट अत्यधिक बढ़ गये। देश में अकाल जैसी दशाएँ उत्पन्न हो गईं। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त स्थिति में पहुँच गई।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारत सरकार की बजट नीति

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार की बजट सम्बन्धी नीति ने एक नई दिशा ग्रहण की। देश की परिस्थितियों के अनुरूप और आर्थिक विकास को गति देने के लिए राष्ट्रीय सरकार ने प्रभावशाली ढंग से राजकोषीय नीति का संचालन किया। समय-समय पर बजट नीति को नए मोड़ दिए गए। इसका विवेचन निम्नानुसार शीर्षकों में करना उपयुक्त होगा—

आर्थिक नियोजन से पूर्व बजट नीति—स्वतन्त्र होते ही देश की आर्थिक नीति में व्यापक परिवर्तन के साथ-साथ बजट नीति में भारी परिवर्तन हुए। दृष्टिकोण और उद्देश्य बदल जाने से आर्थिक क्षेत्र में निर्बाधावादी नीति का परित्याग कर दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने देश की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा को सँवारने, भावी आर्थिक विकास की आधारभूमि तैयार करने की दिशा में ठोस आर्थिक नीति पर चलना शुरू कर दिया। संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में यह व्यक्त कर दिया गया कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस तरह करेगा कि धन का केन्द्रीयकरण न हो, उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए दुरुपयोग न हो, समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण बढ़े जिससे सामूहिक हित में सर्वोत्तम ढंग से वृद्धि हो, सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन मिलें आदि।

संविधान के निर्देशनों के अधीन राष्ट्रीय सरकार ने 'सुनियोजित आर्थिक विकास पर आधारित समाजवादी ढंग के समाज और कल्याणकारी राज्य की स्थापना' के आदर्श को अपनाया। अब बजट नीति इस लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अस्त्र बन गई। राष्ट्रीय सरकार को सर्वप्रथम मुद्रा-स्फीति के दबाव को नियन्त्रित करने हेतु देश के विभाजन से उत्पन्न अराजकता और शरणार्थियों की बाढ़ आदि की समस्याओं से जूझना था। खाद्य संकट को हल करने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' की नीति स्वीकार की गई। युद्ध काल में जो विशाल प्रशासकीय ढाँचा खड़ा हो गया था, वह न केवल जारी रहा बल्कि कई मामलों में उसका और विस्तार करना पड़ा। शरणार्थियों तथा विस्थापितों की सहायता और पुनर्वास पर विपुल धनराशि व्यय करनी पड़ी। एक स्वतन्त्र देश के अनुरूप संसद् और लोकतान्त्रिक प्रशासन के विविध साज-सामान और संस्थाओं पर किया जाने वाला व्यय बहुत बढ़ गया। विदेशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों की स्थापना का नया व्यय सिर पर आ पड़ा। विशाल और स्वतन्त्र देश के अनुरूप प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि हो गई।

इन सभी कारणों से स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय सरकारी व्यय में काफी वृद्धि हुई और सरकार को करों में वृद्धि करनी पड़ी। व्यय-वृद्धि से सरकारी आय में समवर्ती वृद्धि हुई। वस्तुतः सार्वजनिक व्यय, कराधान, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में भारी उथल-पुथल शुरू हो गई।

योजना-काल मे बजट नीति—1951 से सरकार की बजट नीति को आर्थिक नियोजन ने क्रान्तिकारी रूप मे प्रभावित किया। राजकोषीय नीति योजनाओं के कार्यान्वयन का महत्त्वपूर्ण अस्त्र बन गई। सम्पूर्ण योजना काल में केन्द्र सरकार के राजस्व और पूँजीगत दोनो खातो में आय तथा व्यय मे भारी वृद्धि हुई। पचवर्षीय योजनाओं में राजस्व खाते के आय और व्यय दोनों में ही कई गुना वृद्धि हुई जबकि पूँजीगत खाते की प्राप्तियों और भुगतानों में इससे अधिक वृद्धि हुई। समाजवादी समाज और कल्याणकारी राज्य के आदर्श को पाने के लिए सामाजिक एव आर्थिक सेवाओं तथा विकास प्रायोजनाओं पर अधिकाधिक व्यय किया गया। गैर विकास व्यय में प्रतिरक्षा तथा नागरिक प्रशासन में भारी वृद्धि हुई। सघ सरकार की भाँति राज्य सरकारों के आय-व्यय में काफी वृद्धि हुई। सरकारी व्यय में वृद्धि का अधिकाश भाग विकास कार्यों पर खर्च किया गया। केन्द्र और राज्य सरकारो की आय-व्यय की जो मुख्य प्रवृत्तिया रहीं उसका अध्ययन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। योजना काल मे सार्वजनिक व्यय की मात्रा और प्रतिरूप मे समयानुसार विविध परिवर्तन आए और भारत सरकार का व्यय बढता गया। आज प्रतिरक्षा व्यय सामाजिक सेवाओं पर व्यय आदि निरन्तर विद्यमान प्रकृति' के व्यय बन चुके हैं। भारत सरकार के पूँजीगत व्यय मे भी वृद्धि हुई। आर्थिक नियोजन आरम्भ होने के बाद पूँजीगत व्यय को अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति विकसित हुई। केन्द्र के समान राज्यो का राजस्व और पूँजीगत व्यय बढा। राज्यों में पूँजीगत व्यय के माध्यम से आर्थिक विकास पर अधिकाधिक व्यय करने की प्रवृत्ति विकसित हुई।

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के फलस्वरूप सार्वजनिक आय का स्वरूप बदल गया है। विकास की निरन्तर बढती हुई गति ने कर-भार मे भारी वृद्धि की है। विदेशी आक्रमणो से उत्पन्न राष्ट्रीय सकट और शत्रु देशो की अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियो के फलस्वरूप कर भार बढा है। कर-राजस्व में प्रत्यक्ष करो का प्रतिशत गिरने और परोक्ष कराधान पर निर्भरता बढने की प्रवृत्ति पाई गई है। सघ सरकार की सार्वजनिक आय में वृद्धि आशिक रूप से मूल्यो के बढने से उत्पन्न होने वाले लाभों के कारण हुई है। कर-भिन्न आय भारत सरकार का महत्त्वपूर्ण राजस्व स्रोत रहा है। आन्तरिक और बाह्य ऋणो की मात्रा बढी और विकास योजनाओं पर की गई अधिकाश व्यय की वित्तीय व्यवस्था उधार लेकर की जा सकी है। 1950 51 से अब तक सम्पूर्ण योजना काल मे घाटे की वित्त-व्यवस्था (हीनार्थ प्रबन्धन) का अधिकाधिक आश्रय लिया जाता रहा है।

भारत सरकार की नवीनतम बजट नीति—भारत सरकार की बजट नीति उसके द्वारा अनुमोदित राजकोषीय अनुशासन एव तर्कसगत आर्थिक नीति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। राजकोषीय समायोजन की इस प्रक्रिया के अतर्गत राजकोषीय घाटे को सकल घरेलू उत्पादन के 5% स्तर तक लाना एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। यह सरकारी फिजूल खर्च को न्यूनतम करके एव अन्य गैर योजना खर्चों पर नियत्रण कर प्राप्त किया जाना है। ब्याज अदायगी एव सब्सिडी में कमी करने से ही गैर योजना खर्चे पर नियत्रण पाया जा सकता है। 1996 97 एव 1997-98 बजटों मे इस दिशा मे कुछ महत्त्वपूर्ण लघु उपाय किए गए है।

राजकोषीय समायोजन की विशिष्टता महत्त्वपूर्ण है। 1996 97 मे राजकोषीय घाटे पर दबाव हटाने का प्रयास राजस्व की वृद्धि एव खर्चों मे कमी दोनो के सयोजन से किया गया है। बजट नीति के तहत ब्याज अदायगी आर्थिक राज्य सहायता (सब्सिडी) के कारण बहिर्प्रवाह मे वृद्धि हो गई। इसके बावजूद राजस्व व्यय मे कम दर से वृद्धि हुई है। यह मुख्यत ब्याज रहित आयोजना भिन्न व्यय पर अकुश लगाने से हुआ है।

बढती ब्याज अदायगियाँ वित्तीय उदारीकरण के कारण बढते ऋण एव उसी ब्याज दरो को प्रतिबिम्बित करते है। ब्याज अदायगियाँ जन ससाधनो का एक बडा हिस्सा हडप लेती है। नई बजट नीति में इस प्रकार के ऋणो पर अकुश लगाये जाने की इच्छा है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु भारत सरकार अपने कर राजस्व मे वृद्धि करने के प्रयास कर रही है जो कि उसकी बजट नीति मे प्रतिबिम्बित होता है। करो की दरों में कमी कर उसे सरल एव तर्कसगत बनाना इसी दशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम है। कर सुधार प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो के क्षेत्रो में किए जा रहे है। इस कार्य के लिए कर प्रशासन को मजबूत किया जा रहा है।

20

भारत में केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्ध, वित्त आयोग की रिपोर्टों में केन्द्रीय हस्तान्तरणों के आवंटन के लिए मुख्य मापदंड, योजना आवंटन के लिए एन. डी. सी. फार्मूला

(Financial Relations between the Central and State Governments in India, Major Criteria for Allocation of Central Funds in the Reports of the Finance Commission, N.D.C. Formula for Plan Allocations)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Historical Background)

भारत में केन्द्र एव राज्य सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालने से पूर्व पृष्ठभूमि के रूप मे इनका संक्षिप्त ऐतिहासिक अवलोकन कर लेना उपयोगी रहेगा।

1919 के सुधारों से पूर्व के वित्तीय सम्बन्ध

भारत मे 1833 से 1871 तक वित्त-शक्ति पूर्ण रूप से भारत सरकार के हाथो मे केन्द्रित रही और प्रान्तीय सरकार के व्यय की छोटी-छोटी बातो पर नियन्त्रण करती रही। 1860-61 से ही विकेन्द्रीकृत वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध मे विचार प्रारम्भ हो गया। 1871 में लॉर्ड मेयो (Lord Mayo) ने रेल, पजीयन (Registration), शिक्षा, पुलिस, सडकें, स्वास्थ्य सेवाएँ आदि विभाग पूर्ण रूप से प्रान्तीय सरकारो को सौप दिए। प्रान्तीय सरकारो को वित्त प्रशासन मे कुछ स्वतन्त्र अधिकार दिए गए ताकि वे स्वय आय एकत्रित कर स... ...र अपने उत्तरदायित्व को निभा सके। विशेष परिस्थितियो में वैयक्तिक अनुदान का प्रावधान रखा गया। यद्यपि लॉर्ड मेयो का कदम विकेन्द्रीकृत वित्त-व्यवस्था की आरम्भ की दिशा में उत्साहवर्द्धक था लेकिन इसे प्रान्तो को सौंप देने से व्यय आय से अधिक होने लगा और प्रान्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति केन्द्रीय कोषागार से मिलने पर भी पूर्ण नहीं हो सकी। फलस्वरूप प्रान्तीय सरकारें आर्थिक अभाव से ग्रस्त रहने लगी।

1877 में वायसराय लॉर्ड लिटन (Lord Lytton) के समय आय के प्रान्तीय प्रकृति के सभी साधन, जैसे—मालगुजारी, उत्पादन, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, न्याय आदि प्रान्तो को सौंप दिए गए। विभागों से प्राप्त आय और अनुदान के अतिरिक्त कुछ आय के अन्य साधन प्रान्तीय सरकारो को दे दिए गए।

1882 में लॉर्ड रिपन (Lord Ripon) ने वित्त सदस्य मेजर बेरिंग की सहायता से एक नवीन योजना वित्तीय प्रशासन के लिए बनाई। अब वार्षिक अभिहस्तांकन (Annual Assignments) के स्थान पर पचवर्षीय प्रबन्ध प्रणाली प्रारम्भ हो गई। पचवर्षीय प्रणाली में प्रान्तीय सरकारें पॉच वर्ष तक निश्चित ढग से आय प्राप्त करने के लिए आश्वस्त थीं। अब निर्धारित अनुदान को बन्द कर दिया गया और अप्रांकित प्रकार से आय के साधनो का पुन बँटवारा किया गया—

(i) **केन्द्रीय मदे** (Imperial Heads)—रेल तार डाक आय अफीम की आय निगम कर सीमा-कर उपहार व सार्वजनिक कार्य विनिमय से लाभ आदि।

(ii) **प्रान्तीय मदे** (Provincial Heads)—नागरिक वर्ग प्रान्तीय निर्माण कार्य और प्रान्तीय कर। कुछ विशेष प्रकार की आय विशिष्ट प्रान्तो को प्रदान की गई जैसे—बम्बई से आवागमन सेवा से प्राप्त आय मछलियो से प्राप्त आय।

(iii) **विभाजित मदे** (Divided Heads)—उत्पादन कर आरोपित कर स्टाम्प वन रजिस्ट्रेशन आदि। इन स्रोतो से प्राप्त आय केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के मध्य विभाजित रखी गई।

इस योजना के कार्यान्वित होने से पहले मालगुजारी केन्द्रीय सरकार के पास थी परन्तु नवीन योजना में प्रान्तो का घाटा पूरा करने के लिए निश्चित धन राशि का अनुदान देने के स्थान पर मालगुजारी का निर्धारित प्रतिशत दिया गया। लॉर्ड रिपन की योजना मे प्रान्तीय सरकार के पास निरन्तर रहने वाली आय की कमी को दूर करने का प्रयास किया गया। यदि कोई प्रान्तीय सरकार स्वीकृत राशि व्यय नहीं कर पाती थी तो केन्द्रीय सरकार उसे वापस ले लेती थी अथवा आगामी वार्षिक अभिहस्ताकन में से काट लेती थी।

पचवर्षीय प्रबन्ध 1882 में प्रारम्भ किया गया और प्रति 5 वर्षों के बाद क्रमश प्रबन्ध 1887 1892 और 1897 में उसमे कुछ न कुछ परिवर्तन किया गया फिर भी वित्तीय नीति की अनिश्चितता और निरन्तरता बनी रही। इस कमी को दूर करने के लिए पचवर्षीय समझौतों को लॉर्ड कर्जन (Lord Curzon) ने 1904 मे अर्द्ध स्थाई बना दिया अर्थात् पूर्व स्थिति में काफी परिवर्तन होने अकाल या युद्ध जैसे विपत्ति काल मे उन्हे बदला जा सकता था।

1912 मे विकेन्द्रीकरण पर शाही आयोग (Royal Decentralisation Commission) की सिफारिशो के आधार पर लार्ड हार्डिंग्ज (Lord Hardings) ने वित्तीय प्रबन्ध के लिए स्थायी प्रणाली को अपनाने की स्वीकृति दी जिसका उद्देश्य वित्तीय व्यवस्था मे अधिक लोच पैदा करना और प्रान्तो को अधिक अधिकार देना था। इस स्थायी समझौते में निम्नाकित विभाजन किया गया जहा तक आय से सम्बन्ध है केन्द्रीय सरकार ने आय के वे सब स्रोत जो बाटे नहीं जा सकते थे या किसी प्रान्त विशेष के नहीं थे अपने पास रखे। इनको साम्राज्य की आय स्रोत कहा गया जैसे—अफीम रेल निराक्राम्य कर नमक टकसाल विनिमय डाक तार सेवा द्वारा आय देशी रियायतो से प्राप्त धन आदि। बचे हुए आय स्रोतो मे से कुछ पूर्ण रूप से प्रान्तीय रखे गए जैसे—जगल उत्पादन कर शिक्षा न्याय आदि। बहुत महत्त्वशाली आय के स्रोत विभाजित मद मे थे जैसे—मालगुजारी आयकर उत्पादन कर (बगाल व बम्बई को छोडकर) सिंचाई और स्टाम्प।

1919 के सुधारो के अन्तर्गत वित्तीय प्रबन्ध

1919 मे वित्तीय प्रबन्ध के विकास मे विशेष परिवर्तन हुए। प्रान्तो मे दोहरी शासन प्रणाली आरम्भ कर दी गई। प्रान्तो के केन्द्रीय सरकार के साथ आर्थिक सम्बन्ध पूर्णत परिवर्तित हो गए और आय-व्यय का नवीन बँटवारा किया गया—

(क) केन्द्रीय आय के साधन—अफीम नमक निराक्राम्य कर (सीमा कर) आय कर रेल डाक और तार सेवा से आय।

(ख) प्रान्तीय आय के साधन—मालगुजारी (सिचाई को सम्मिलित करते हुए) स्टाम्प (व्यापारिक और न्यायिक) रजिस्ट्रेशन उत्पादन कर और वन। इस नवीन वितरण व्यवस्था से भारत सरकार को लगभग 13 63 करोड रुपए का घाटा होने का अनुमान लगाया गया। केन्द्र के इस घाटे को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारो से अपनी बचत मे से केन्द्र को धन देने की अपेक्षा की गई। प्रान्तीय अशदानो की मात्रा अतिरेक (Surplus) के 87 प्रतिशत निश्चित हुई तथा शेष 13 प्रतिशत उन प्रान्तो के विकास कार्यों के लिए छोड दी गई।

मैस्टन परिनिर्णय (Meston Award)

सैद्धान्तिक दृष्टि से उपर्युक्त परिवर्तन नि सन्देह महत्त्वपूर्ण थे लेकिन व्यवहार मे अनेक असुविधाए सामने आने लगीं। फलस्वरूप इन पर पुनर्विचार के लिए 1920 मे लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसे इन तथ्यो पर विचार करना था—

(i) चालू वित्तीय वर्ष (1921 22) में केन्द्र विभिन्न प्रान्तों को कितना अशदान दे और किस प्रकार दे
(ii) आगामी वर्षों में केन्द्रीय घाटे की पूर्ति के लिए भिन्न प्रान्तों की देयता कितनी रखी जाए
(iii) क्या बम्बई को उस प्रदेश से प्राप्त आय कर में से कुछ अश दिया जाए एव
(iv) आगामी वर्षों में प्रान्तीय ऋणों की व्यवस्था क्या हो।

मैस्टन समिति ने मार्च 1920 से अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर 1921 से 1935 तक केन्द्र और प्रान्तों के मध्य वित्तीय व्यवस्था रही। मैस्टन समिति के सामने विचार करने के लिए उपरोक्त चार तथ्य रखे गए थे उन पर समिति के सुझाव इस प्रकार दिए गए—

(i) 1921 22 की लगभग 963 लाख रुपये की वित्तीय हानि को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रान्तो के अशदान निर्धारित किए गए। मद्रास मुम्बई बगाल उत्तर प्रदेश पजाब म्यामार मध्य प्रान्त असम प्रान्तों के अशदान क्रमश 384 56 63 240 175 64 22 और 15 लाख निश्चित किए गए। इन अनुदानों को प्रारम्भिक अशदान कहा गया और इनका निर्णय करते समय प्रान्तो की वर्तमान आर्थिक स्थिति विशेषकर उनके बढते हुए व्यय को ध्यान में रखा गया।

(ii) आगामी वर्षों मे केन्द्रीय घाटे की पूर्ति के लिए प्रान्तों द्वारा निश्चित अशदान देने का सुझाव दिया गया। यह निश्चित देयता प्रान्तो की करदेय क्षमता (Taxable Capacity) व्यक्तियों की आय और प्रान्तों की लोच आदि को ध्यान में रखते हुए निर्धारित की गई।

(iii) प्रान्तीय ऋण लेखो को अविलम्ब बन्द कर देने की सिफारिश की गई। समिति ने विचार प्रकट किया कि केन्द्रीय सरकार को प्रान्तो को दिए गए ऋणों पर आगामी 12 वर्षों मे ब्याज सहित वापस ले लेना चाहिए।

(iv) समिति का अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णय यह था कि आय कर से प्राप्त सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार के पास रहे। समिति ने यह निर्णय दिया कि प्रान्तो की आय कम रह जाने पर प्रान्तो को सामान्य मुद्रा कर (General Stamp Duty) लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

विभिन्न क्षेत्रो में मैस्टन निर्णय की आलोचना की गई। यह योजना प्रारम्भ से ही धूमिल पडती गई कि अब वित्तीय व्यवस्था में स्थायित्व आ सकेगा और केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के बीच सहयोग तथा विकास का वातावरण बनेगा। मैस्टन निर्णय का विरोध मुख्यत निम्न बिन्दुओं पर किया गया—

1 केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के मध्य आय मदों का विभाजन असन्तोषजनक था। केन्द्र के पास आय के सारे लोचदार साधन रखे गये थे जबकि प्रान्तीय सरकारों को लगभग बेलोचदार स्रोत सौंप दिए गए थे।

2 केन्द्रीय सरकार के घाटे की पूर्ति के लिए प्रान्तो द्वारा देय प्रारम्भिक अनुदान राशि अनुचित थी। इससे केन्द्र और प्रान्त तथा विभिन्न प्रान्तीय सरकारो के मध्य वैमनस्य मे वृद्धि हुई।

3 मैस्टन निर्णय मे कर भार मे एकरूपता का अभाव रहा। विभिन्न प्रान्तो ने लोक आगम की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न स्रोत चुने गए जिससे समाज के विभिन्न वर्गों पर करो का असमान भार पड़ा।

4 मैस्टन निर्णय मे आशा प्रकट की गई थी कि निकट भविष्य मे प्रान्तीय सरकारों की आय बढेगी किन्तु व्यवहार में प्रान्तीय आगम में घाटे की प्रतिक्रिया हुई।

1935 के विधान के अन्तर्गत वित्तीय सम्बन्ध

प्रान्तों की आर्थिक स्थिति को 1929 30 की विश्वव्यापी मन्दी ने गम्भीर बना दिया। फलस्वरूप 1919 के सविधान को समाप्त कर केन्द्र और प्रान्तीय सरकारो को वित्तीय स्थिति पर पुनर्विचार की पुरजोर माँग की जाने लगी।

1935 के भारत सरकार के अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि कर का आरोपण और वसूली एक अधिकारी करे परन्तु उसे दूसरे अधिकारी को दिया जा सकता है। अब केन्द्र और प्रान्तो की मदे नए ढग से विभाजित की गईं—(क) पूर्णतया सघीय (ख) पूर्णतया प्रान्तीय एव (ग) वे मदें जिन्हें केन्द्रीय सरकार प्रारम्भ करती किन्तु उन्हे प्रान्तो में भी करना पडता।

पूर्णतया सघीय आय के स्रोत—आय कर (कृषि आय के अतिरिक्त) निगम कर रेलो से आय डाक तार टेलीफोन आदि से आय मुद्रा व सिक्के ढलाई से प्राप्त आय तटकर सेवा सम्बन्धी आय आदि।

पूर्णतया प्रान्तीय आय के स्रोत—मालगुजारी सिचाई शान्ति और न्याय पुलिस चिकित्सा शिक्षा सड़क पुल व शाखा रेल मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर कृषि आय कर भूमि व मकान आदि

पर कर, कृषि भूमि पर उत्तराधिकार कर, प्रान्तीय व्यापार, विज्ञापन कर, मनोरंजन कर, आन्तरिक जलमार्गों से आय, चुंगी, प्रान्तीय स्टाम्प कर आदि।

केन्द्र द्वारा आरोपित व एकत्रित और केन्द्र व राज्यो के मध्य विभाजित कर—सम्पत्ति के उत्तराधिकार कर (कृषि भूमि के अतिरिक्त कर), रेल, वायु एव जल मार्ग द्वारा ले जाए गए सामान तथा व्यक्तियो पर सीमा कर, साख पत्रो पर स्टाम्प कर, रेलवे किरायो एव भाडे पर कर आदि।

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय सरकार अपनी आय मे से नए प्रान्तों एव कम आय वाले प्रान्तों को सहायता दे सकती है। इस अधिनियम मे प्रान्तीय सरकारों को खुले बाजारों से कर्ज लेने की अधिक स्वतन्त्रता मिल गई।

ओटोनिमेयर निर्णय

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक ठहराया गया कि सरकार एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति करे जो *आय-कर (Income Tax), जूट निर्यात कर (Jute Export Duty) तथा उत्पादन कर* (Excise Duty) के केन्द्र और प्रान्तों के मध्य वितरण की विधि के सम्बन्ध में अपनी राय दे तथा अधिनियम की अन्य वित्त सम्बन्धी बातो की जॉच करे और अपनी रिपोर्ट दे। अत भारत मे इस कार्य के लिए सर ओटोनिमेयर को नियुक्त किया जिन्होने अपनी रिपोर्ट मे विशेष रूप से दो तथ्यो पर ध्यान दिया—प्रथम यह कि भारत सरकार की आर्थिक स्थिति और साख को कोई हानि न पहुँचे और द्वितीय यह कि प्रान्तो को आर्थिक सहायता दी जाए जिससे वे स्वावलम्बी हो जाएँ। सर ओटोनिमेयर ने अपने जो निर्णय दिए वे इस प्रकार थे—

1. ऋण की समाप्ति—ओटोनिमेयर निर्णय में यह सुझाव दिया गया कि असम, बगाल, बिहार, उडीसा और उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त का अप्रेल 1936 से पहले का सारा ऋण समाप्त कर दिया जाए तथा मध्य प्रान्तों का 1936 से पहले का और 1921 से बाद का 2 करोड़ रुपये का ऋण समाप्त कर दिया जाए।

2. आय-कर का वितरण—निर्णय मे यह कहा गया कि आय-कर की वास्तविक आय का 50 प्रतिशत भाग केन्द्रीय सरकार अपने पास रखे और शेष आधा भाग प्रान्तीय सरकारों के बीच बॉट दिया जाए। इस आय-कर की आय मे उन प्रान्तो से प्राप्त होने वाली आय-कर की आय शामिल नहीं थी जो केन्द्रीय शासित क्षेत्र थे। केन्द्रीय अधिकारियो से प्राप्त होने वाले आय-कर की राशि भी वितरित होने वाली राशि मे नहीं गिनी गई थी। उल्लेखनीय है कि आय-कर का विभाजन करते समय ओटोनिमेयर ने दो बातें अपने सामने रखी थीं—प्रान्त विशेष से कितना आय-कर इकट्ठा किया जाता है और उसकी जनसख्या कितनी है। इन पर विचार कर ओटोनिमेयर द्वारा विभिन्न प्रान्तों के लिए आय-कर वितरण के निम्नांकित प्रतिशत निश्चित किए गए—

प्रान्त	प्रतिशत
मुम्बई	20
बगाल	20
उत्तर प्रदेश	15
मद्रास	15
बिहार	10
पजाब	8
मध्य प्रान्त	5
असम	2
उडीसा	2
सिन्ध	2
उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त	1
योग =	100

3. जूट निर्यात-कर का वितरण—जूट निर्यात करने वाले प्रान्तो को पहले जूट निर्यात-कर का 50 प्रतिशत भाग मिल रहा था। ओटोनिमेयर निर्णय मे यह सिफारिश की गई कि यह भाग बढाकर 62 5 प्रतिशत कर दिया जाए ताकि प्रान्तों को आवश्यक आर्थिक सहायता मिल सके।

4. नकद आर्थिक सहायता—ओटोनिमेयर निर्णय में पिछडे हुए प्रान्तो को केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रत्यक्ष नकद सहायता देने का सुझाव दिया गया। बगाल, बिहार, मध्य प्रान्त को क्रमश 75 लाख 30 लाख व 15 लाख रुपये की आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की गई। सिन्ध को 105 लाख रुपये वार्षिक की आर्थिक सहायता आगामी 10 वर्षों तक देना और धीरे-धीरे कम कर देने का सुझाव दिया गया। यू पी को 25 लाख रुपये वार्षिक का 5 वर्ष तक अनुदान और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, उडीसा व असम को 100, 40 व 30 लाख रु. प्रति वर्ष अनुदान या सहायता देने का सुझाव दिया गया।

सर ओटोनिमेयर ने जो सुझाव प्रस्तुत किए उन्हे साधारण सशोधन सहित सरकार ने जुलाई, 1936 मे स्वीकार कर लिए लेकिन इससे कोई राज्य पूर्णत सन्तुष्ट नहीं हुआ। यू. पी., मुम्बई और बगाल पूर्णत असन्तुष्ट थे।

निमेयर-सूत्र मे संशोधन

फरवरी, 1940 मे आय कर मे से प्रान्तों को उनका भाग लेने के सम्बन्ध मे निमेयर के सूत्रो में ससद् ने सशोधन कर दिया। कौंसिल की सशोधित आज्ञा के अन्तर्गत जो 1 अप्रैल, 1939 से लागू हुई, रेल विभाग का अशदान पूर्ण रूप से केन्द्रीय धनराशि की गणना से (जो प्रान्तो को बॉटने के लिए प्राप्त था) अलग कर दिया गया और केन्द्र का भाग इस धनराशि मे पिछले तीन वर्ष के औसत पर नियत कर दिया गया।

स्वतन्त्र भारत मे केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध

(Union-State Financial Relations in Independant India)

15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता के साथ यह आवश्यकता महसूस हुई कि भारत का नवीन सविधान बनने व लागू होने तक वित्त के पुनर्वितरण की नई योजना तैयार की जाए। अत 17 मार्च, 1948 को दो वर्ष के लिए एक नई योजना घोषित की गई, जिसके अनुसार निम्नलिखित परिवर्तन किए गए—

1 भविष्य में प्रान्तो को आय-कर मे से प्राप्त होने वाले भाग का विभाजन इस प्रकार होगा—बम्बई 21 प्रतिशत, पश्चिमी बगाल 12 प्रतिशत पूर्वी पजाब 5 प्रतिशत, मद्रास 18 प्रतिशत बिहार 13 प्रतिशत, सयुक्त प्रान्त 19 प्रतिशत, मध्य प्रान्त एव बिहार 6 प्रतिशत, असम तथा उडीसा 3 प्रतिशत।

2. ओटोनिमेयर निर्णय के अनुसार जूट उत्पादक प्रान्तो को जूट निर्यात-कर का 62 5 प्रतिशत भाग से घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया गया।

3. केवल असम व उडीसा को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया। यह तय किया गया कि 1947-48 में असम व उडीसा को 18 75 लाख रुपये और 25 लाख रुपये तथा 1948-49 मे क्रमश 30 लाख व 40 लाख रुपये दिए जाएँगे।

4. यह निश्चित हुआ कि आय-कर का 1 प्रतिशत भाग चीफ कमिश्नर के प्रान्तो को दिया जाएगा।

1948 की इस योजना से कोई भी प्रान्त प्रसन्न नहीं हुआ। उनकी पारस्परिक ईर्ष्या बनी रही तथा योजना की कटु आलोचना की गई। अत. केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के मध्य वित्तीय व्यवस्था मे सुधार करने के लिए नवीन सुझाव प्राप्त करने की दृष्टि से भारत सरकार ने श्री एन आर सरकार (N. R. Sarkar) की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्ति की। इस समिति को आय-कर के भाग का केन्द्र व प्रान्तों के मध्य वितरण करने के सम्बन्ध मे सुझाव देने थे। चूँकि इस समिति के प्रस्ताव विशेषत प्रान्तों के पक्ष मे थे, अत. भारत सरकार ने इससे असहमति प्रकट की।

देशमुख निर्णय (Deshmukh Award)—आय-कर की आय को व जूट निर्यात की आय को विभाजित करने के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए सरकार ने श्री सी डी देशमुख (C D Deshmukh) को नियुक्त किया। देशमुख ने जो सुझाव दिए वे 1950-51 तथा 1951-52 के लिए थे अर्थात् देशमुख

निर्णयों को उस समय तक अपनाया जाना था जब तक कि भारत के नवीन सविधान के प्रावधानानुसार वित्त आयोग के सुझाव लागू नहीं किए जाते।

श्री देशमुख ने अपनी सिफारिशों को विशेष रूप से आय-कर के विभाजन के लिए विभिन्न राज्यों को मिलने वाले भाग तक सीमित रखा। उन्होने इसमे परिवर्तन की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की और ओटोनिमेयर की भाँति आय-कर की आय का 50 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में वितरित करने की सिफारिश की। देशमुख निर्णय के अनुसार आय-कर का विभाजन निम्नानुसार होना था—

राज्य	देशमुख निर्णय की व्यवस्था	1948 की अस्थायी अवस्था में अन्तर
बम्बई	21 0	–
मद्रास	17 5	(-) 0 5
उत्तर प्रदेश	18 0	(-) 1 0
पश्चिमी बगाल	13 5	(+) 1 5
बिहार	12 5	(–) 0 5
मध्य प्रदेश	6 0	—
पजाब	5 5	(+) 0 5
असम	3 3	–
उड़ीसा	3 0	–

देशमुख निर्णय के अनुसार सिन्ध एव उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के अश समाप्त कर दिए गए। पश्चिमी बगाल व पजाब के भाग मे वृद्धि की गई जबकि मद्रास बिहार व उत्तर प्रदेश के भागो मे कमी हुई। शेष राज्यो के भाग पहले के समान रहे।

जहाँ तक जूट निर्यात-कर का प्रश्न था नए सविधान मे जूट निर्यात-कर पूर्ण रूप से केन्द्रीय भाग में रखा गया था लेकिन केन्द्र यदि चाहे तो जूट उत्पादक प्रान्तो को आर्थिक सहायता दे सकता था। देशमुख निर्णय मे जूट उत्पादक प्रान्तो को आर्थिक सहायता की राशि निम्न प्रकार निश्चित की गई—

राज्य	अनुदान की राशि (रुपये में)
पश्चिमी बगाल	105 लाख रुपये
असम	40 लाख रुपये
बिहार	35 लाख रुपये
उडीसा	5 लाख रुपये

ये अनुदान जूट पर निर्यात-कर लगे रहने की स्थिति तक अथवा 10 वर्ष तक जो पहले हो मिलते रहने की सिफारिश की गई।

भारत सरकार ने देशमुख निर्णय को अक्तूबर 1950 में स्वीकार कर लिया लेकिन देशमुख निर्णय का राज्य सरकारो ने स्वागत नहीं किया। पिछडे हुए राज्यो का तर्क था कि आय-कर के वितरण मे उनकी विकास आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। मुम्बई ने कहा कि आय-कर से प्राप्ति उनके राज्य से अधिक होती है जबकि उसे भाग कम मिलता है।

भारतीय सविधान मे केन्द्र और राज्य सरकारो के वित्तीय सम्बन्ध

प्रत्येक सघात्मक सविधान यह व्यवस्था करता है कि वित्त के सम्बन्ध मे सघ सरकार और इकाई सरकारें परस्पर स्वतन्त्र रहें तथा उनके पास अपने उत्तरदायित्वो का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन हों। राज्यो के विधायी और प्रशासकीय प्राधिकार कायम रखने के लिए उनकी वित्तीय स्वतन्त्रता को आवश्यक माना जाता है लेकिन इस सघीय सिद्धान्त का पूरी तरह पालन विश्व के किसी सघात्मक सविधान में नहीं किया जा सका है। उदाहरणार्थ आस्ट्रेलिया और कनाडा के सविधानों में राज्यो को

दिए गए राजस्व साधन इतने अपर्याप्त है कि उन्हे एक बडी सीमा तक केन्द्रीय अनुदानो पर निर्भर रहना पडता है। स्विस सविधान मे वित्तीय साधनो का विभाजन इसके बिल्कुल विपरीत है। वहाँ केन्द्र इकाई सरकारों (कैण्टनो) पर निर्भर है क्योकि केन्द्रीय राजस्व का अधिकाश भाग उन्हीं से प्राप्त होता है। अमेरिकी सविधान मे वित्तीय साधनो के विभाजन को इस तरह लागू करने का प्रयास किया गया था कि केन्द्र और राज्य वित्तीय मामलो मे स्वावलम्बी रहते हुए सविधान द्वारा उल्लिखित अपने-अपने उत्तरदायित्वों का पालन करे, किन्तु यह कठोर व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी क्योकि लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के साथ-साथ राज्यो के कर्तव्यो मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई और उन्हे केन्द्र के अनुदान पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होना पडा जिससे अमेरिका मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ। इसने राज्यो की स्वायत्तता को कम कर दिया। विश्व के सघीय सविधानो के इस परिप्रेक्ष्य मे भारत मे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के विकास की आलोचना फीकी पड जाती है।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 264 से 291 मे केन्द्र तथा राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो का उल्लेख है। केन्द्र और राज्यो मे राजस्व वितरण की व्यवस्था भारत सरकार अधिनियम 1935 का अनुसरण है। सविधान-निर्माताओं ने किसी कठोर सिद्धान्त को लागू न करके लचीलेपन के तत्त्वो का समावेश किया है। सविधान में बदलती हुई परिस्थितियो के अनुकूल समय-समय पर वित्त-स्थिति पर पुनर्विचार करने और सशोधन एव परिवर्तन का सुझाव देने के लिए वित्त-आयोग की स्थापना का उपबन्ध किया गया। विश्व के किसी सघात्मक सविधान मे ऐसी कोई विस्तृत व्यवस्था नही पाई जाती जिसके माध्यम से सघ और इकाइयो मे राजस्व-वितरण का समयानुकूल समायोजन और वितरण होता रहे। यह व्यवस्था भारत का अपना मौलिक योगदान है जिसने केन्द्र और राज्यो के जटिल वित्तीय सम्बन्धो का सरलीकरण कर दिया है। सघ एव राज्यो के मध्य राजस्व-साधनो के विभाजन के सिद्धान्त के आधार हैं—कार्यक्षमता पर्याप्तता और उपयुक्तता। इन तीनो उद्देश्यो की एक साथ प्राप्ति कठिन कार्य है अत हमारे सविधान मे समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाई गई है। तदनुसार विषय को दो भागो मे विभक्त किया गया है—प्रथम सघ एव राज्यो के मध्य राजस्व का विभाजन, द्वितीय सहायक अनुदानो का वितरण।

सविधान की सातवीं अनुसूची मे केन्द्र और राज्य सरकारो के आय के साधनो का उल्लेख किया गया है। इसकी सूची एक मे सघ सरकार तथा सूची दो मे राज्य सरकारो का प्रावधान है।

1. सघ के राजस्व स्रोत (Sources of Revenue of the Union)—सूची एक मे सघीय अर्थात् केन्द्रीय सरकार के आय के साधन निम्नलिखित है—

(1) कृषि आय को छोडकर अन्य आय पर कर।
(2) सीमा-शुल्क।
(3) मुद्रा, मुद्रा-टकण (Coinage) निविदा (Legal Tender) तथा विदेशी विनिमय (Foreign Exchange)।
(4) निगम कर।
(5) तम्बाकू तथा भारत मे निर्मित व उत्पादित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क (Excise Duty)।
(6) कृषि योग्य भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति शुल्क (Estate Duty)।
(7) कृषि-भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार शुल्क।
(8) रेल समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं अथवा यात्रियो पर सीमा-कर रेल के जन भाडे और वस्तु भाडे पर कर।
(9) समाचार-पत्रो के क्रय या विक्रय पर तथा उनमे प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर कर।
(10) हुण्डियों, चैको, प्रोमिजरी नोटो पर मुद्राक-शुल्क।
(11) व्यक्तियों तथा कम्पनियो की कृषि-भूमि से भिन्न सम्पदा पर कर।
(12) शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के सौदो (Transactions) पर मुद्राक-शुल्क से भिन्न कर।
(13) समाचार-पत्रों से भिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर जिसमे ऐसा क्रय या विक्रय हो जो अन्तर्राज्यिक व्यापार या वाणिज्य की चर्चा मे हो।
(14) सघ सरकार की सम्पत्ति।
(15) विदेशी ऋण।

(16) भारत सरकार अथवा राज्य सरकारों द्वारा सगठित लॉटरियाँ ।
(17) डाकखाना-बचत बैंक ।
(18) डाक व तार टेलीफोन बेतार-प्रसार (Wireless Broadcasting) तथा अन्य सचार साधन ।
(19) सघ सरकार की सम्पत्ति ।
(20) सघ का सार्वजनिक ऋण ।
(21) भारत का रिजर्व बैंक ।
(22) न्यायालय हेतु लिए जाने वाले शुल्क (Fees) को छोड़कर सघ सूची मे प्रमाणित किन्हीं विषयो पर शुल्क ।

2 राज्यो मे राजस्व स्रोत (Sources of Revenue in the States)—राज्य सरकारों के आय के साधनो का वर्णन सूची दो मे निम्न प्रकार किया गया है—

(1) भू-राजस्व ।
(2) कृषि-आय पर कर ।
(3) कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय मे शुल्क ।
(4) कृषि-भूमि के विषय मे सम्पत्ति शुल्क ।
(5) भूमि और भवनो पर कर ।
(6) ससद् के विधि द्वारा खनिज विकास के सम्बन्ध मे लगाए गए परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज अधिकार-पत्र कर ।
(7) प्रति व्यक्ति पूँजी कर ।
(8) शराब अफीम आदि जो मादक द्रव्य राज्य मे उत्पादित अथवा निर्मित होते है उन पर उत्पादन कर ।
(9) न्यायालयो द्वारा लिए जाने वाले शुल्क को छोडकर राज्य सूची मे सम्मिलित विषय पर शुल्क ।
(10) सघ सूची मे वर्णित लेखो को छोडकर अन्य लेखो पर मुद्राक शुल्क ।
(11) किसी स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर ।
(12) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर ।
(13) सूची एक से सम्बन्धित उपबन्धो के अधीन रहते हुए समाचार-पत्रो से विभिन्न वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर ।
(14) समाचार पत्रो मे प्रकाशित होने वाली विज्ञप्तियो पर कर ।
(15) सडको तथा अन्तर्देशीय जल मार्गों पर लगाए जाने वाले माल तथा यात्राओं पर कर ।
(16) वाहनो पर कर ।
(17) पशुओं और नौकाओं पर कर ।
(18) वृत्तियो व्यापारो आजीविकाओं और नौकरियो पर कर (जम्मू और कश्मीर के अतिरिक्त) ।
(19) विकास वस्तुओं पर कर जिसमे मनोरजन जुआ कर सम्मिलित है ।
(20) चुगी कर ।
(21) पथ कर ।

3 सघ और राज्यो मे राजस्व वितरण—अनुच्छेद 268 सघ और राज्यो मे राजस्व के वितरण की व्यवस्था करता है । राज्य-सूची के विषयो पर राज्यो को कर लगाने का अनन्य अधिकार है और सघ सूची के विषयो पर केन्द्रीय सरकार को । समवर्ती सूची मे केवल कुछ ही करो का उल्लेख है ।

समवर्ती सूची मे निम्नलिखित कर है—

(1) न्याय सम्बन्धी स्टैम्प शुल्क के अतिरिक्त अन्य स्टैम्प शुल्क ।

(2) समवर्ती सूची के विषयो मे से किसी एक के सम्बन्ध मे शुल्क जिसमे किसी न्यायालय मे लिया जाने वाला शुल्क शामिल नहीं है ।

उल्लेखनीय है कि राज्य सूची में वर्णित विषयो पर लगाए गए करो को राज्य वसूल करके अपने पास रखते है जबकि सघ सूची मे वर्णित विषयो पर लगाए गए कुछ कर पूर्णतया अथवा अशत राज्यो मे

वितरित कर दिए जाते है । संविधान में ऐसे चार प्रकार के संघीय करो का उल्लेख है जो पूर्णतया या आंशिक रूप मे राज्यो को सौंप दिए जाते है—

(क) संघ द्वारा आरोपित तथा संगृहीत किन्तु राज्यो को सौंपे जाने वाले कर— अनुच्छेद 269 (1) के अनुसार निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और संगृहीत किए जाएँगे किन्तु राज्यो को खण्ड (2) मे उपबन्धित रीति से सौंप दिए जाएँगे—(1) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक शुल्क, (2) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति विषयक शुल्क, (3) रेल, समुद्र व वायुयान द्वारा ले जाए गए माल और यात्रियो पर सीमा कर, (4) रेल भाड़ो वस्तु भाड़ो पर कर, (5) शेयर बाजार और सट्टा बाजार के सौदों पर मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर, (6) समाचारपत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमे प्रकाशित विज्ञप्तियो पर कर एवं (7) समाचार-पत्र के अलावा अन्तर्राज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के माल के क्रय-विक्रय पर कर ।

(ख) संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यो द्वारा संगृहीत तथा विनियोजित किए जाने वाले शुल्क—अनुच्छेद 268 के अनुसार ऐसे मुद्रांक शुल्क तथा औषधीय एवं प्रसाधनीय सामग्री पर उत्पादन शुल्क, जो संघ सूची मे वर्णित है, भारत सरकार द्वारा आरोपित किए जाएँगे किन्तु ये शुल्क राज्य सरकार द्वारा वसूल किए जाएँगे और राज्य ही उनका विनियोजन करेगे ।

(ग) संघ द्वारा आरोपित और एकत्र कर, जिनका विभाजन संघ व राज्यो के मध्य होता है—अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि-आय के अतिरिक्त आय-कर (Income Tax) संघ द्वारा लगाया जाता है और उसी के द्वारा एकत्रित किया जाता है समय-समय पर निर्धारित रीति के अनुसार उसका विभाजन संघ और राज्यों के मध्य होता है । आय-कर मे निगम कर सम्मिलित नहीं है । आय-कर की प्राप्तियों का वितरण वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार किया जाता है ।

(घ) संघ उत्पादन शुल्को का वितरण—अनुच्छेद 272 के अनुसार संघ सूची मे वर्णित औषधीय और प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क के अतिरिक्त अन्य संघ उत्पादन शुल्क भारत सरकार द्वारा ग्रहण और संगृहीत किए जाएँगे, किन्तु इनके शुद्ध आगमो को संसद द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार संघ एवं राज्यों में वितरित कर दिया जाएगा ।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि कर निर्धारण शक्ति का विभाजन इस तरह किया गया है कि केन्द्र राज्यो की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों मे समन्वय स्थापित करने मे समर्थ रहे । यह समन्वय व्यवस्था नवोदित भारत के सन्तुलित और समन्वित विकास के लिए आवश्यक है । देश की एकता को बनाए रखने के लिए संविधान निर्माता केन्द्र को सबल बनाने के पक्ष मे थे अतः उन्होंने केन्द्र को विस्तृत और लचीले आय-स्रोत प्रदान किए जबकि राज्यों की आय के स्रोत कुछ कठोर और सीमित रह गए । इस तथ्य को ओझल नहीं किया जा सकता कि ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व का विशाल स्रोत राज्यों के लिए मुक्त रहा और इसे खेदजनक कहा जाएगा कि राज्य अपनी आय के स्रोत का पूर्ण लाभ उठाने की ओर से उदासीन रहे है ।

4. अनुच्छेद 274 का उपबन्ध ऐसे करो से सम्बद्ध विधेयकों से है जिनसे राज्यों के हितो पर प्रभाव पड़ता है । यह व्यवस्था की गई है कि कोई विधेयक जो कर अथवा शुल्क मे राज्यो का हित सम्बद्ध हो, उसको आरोपित या संशोधित करता है राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना संसद् के किसी सदन मे पुनः स्थापित व प्रस्तावित नहीं किया जाएगा । इसी प्रकार यदि कोई विधेयक जो भारतीय आय-कर के प्रयोजन से सम्बद्ध कृषि-आय की परिभाषा मे परिवर्तन लाना चाहेगा इसकी पुनः स्थापना के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश की आवश्यकता होगी । इस व्यवस्था से राज्यों के हितों की सुरक्षा करने का उद्देश्य प्रकट होता है क्योंकि राष्ट्रपति के माध्यम से संघ सरकार के लिए राज्य सरकार की सलाह लेना अनिवार्य कर दिया गया है ।

5. **केन्द्रीय अनुदान** (Grants-in-aid)—प्रत्येक संघात्मक व्यवस्था मे ऐसी व्यवस्था रहती है कि केन्द्र से राज्यों को अनुदान मिले ताकि राज्य अपने विशुद्ध कर्त्तव्यो का पालन कर सके और लोक-कल्याणकारी कार्यक्रमो को तेजी से आगे बढा सके । भारतीय संविधान इसका अपवाद नहीं है ।

(1) संविधान के अनुच्छेद 275 द्वारा संसद् को अधिकार दिया गया कि उन राज्यो को जिन्हें उसके अनुसार सहायता की आवश्यकता है, ऐसी राशि सहायक अनुदान के रूप मे प्रदान करेगी जो संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे । भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए भिन्न-भिन्न राशि तय की जा सकती है ।

(2) अनुच्छेद 273 मे पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क से प्राप्त होने वाली कुछ राशि का कुल अश असम उडीसा पश्चिमी बगाल और बिहार राज्यो को सहायक अनुदान के रूप मे दी जाने की व्यवस्था है। केन्द्रीय अनुदान की राशि राष्ट्रपति वित्त आयोग के परामर्श से नियत करता है।

(3) यदि राज्य केन्द्र की स्वीकृति से अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए कोई योजना प्रारम्भ करते है तो उसकी पूर्ति के लिए केन्द्र वित्तीय अनुदान प्रदान करता है। अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए केन्द्र द्वारा राज्यो को सहायक अनुदान दिए जाने का प्रावधान है।

(4) केन्द्र ऐसे विषय के सम्बन्ध मे अनुदान दे सकता है जिस पर विधि-निर्माण का आधार ससद् के पास नहीं है। विवेकाधीन अनुदानो का अनुपात दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है और राज्यो के बजट सम्बन्धी घाटो की पूर्ति के लिए केन्द्र से अनुदान दिए जाते रहे है।

वित्तीय अनुदान एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों मे नियन्त्रण रखने मे सहायता मिलती है और केन्द्र राष्ट्रीय विकास की योजनाओं मे सघ और राज्यो के बीच सहयोग और समन्वय ला पाता है। ये आरोप वजन नहीं रखते कि केन्द्रीय सरकार वित्तीय अनुदान की अपील शक्ति का प्रयोग राज्यो मे गैर-कॉग्रेसी सरकारो पर दबाव डालने के लिए करती रही है। केन्द्र ने स्वय की क्षमता और राज्य विशेष की आवश्यकता के सिद्धान्त के आधार पर यथासम्भव निष्पक्ष रूप मे वित्तीय अनुदान दिए है। धन मॉगने की कोई सीमा नहीं होती धन दिए जाने की सीमा अवश्य होती है। राष्ट्रीय विकास योजनाओं के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यो को बडी मात्रा मे अनुदान मिले है और राज्यो की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपने यहाँ किसी बडे उद्योग आदि की स्थापना के लिए केन्द्र पर दबाव डालते है।

केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारो के आग्रह पर सदैव सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। उसका भरसक प्रयत्न रहा है कि राज्यों के राजस्व (आय-व्यय) मे सन्तुलन लाने और विषमता की स्थिति में उन्हे व्यवस्थित करने मे सहायता अनुदान प्रभावित सिद्ध हो। राज्यो की आवश्यकता की कसौटी के लिए न केवल उसकी वित्तीय आवश्यकता बल्कि कर-प्रयत्न व्यय मे मितव्ययिता सामाजिक सेवाओं का स्तर विशिष्ट परिस्थितियाँ और राष्ट्रीय महत्त्व का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। भारत मे सघीय वित्त व्यवस्था के प्रारम्भ से राज्यो के उत्तरदायित्व और साधनो के मध्य असन्तुलन की स्थिति बनी हुई है और वित्त आयोगो ने इस खाई को पाटने मे उदारतापूर्वक सहायता अनुदान की सिफारिशे की है जिन्हे केन्द्र ने अधिकाशत माना है। केन्द्रीय सरकार राजनीतिक दलो राज्य सरकारो और बहुत से विद्वानों की इस मॉग के प्रति जागरूक है कि राज्यो को आर्थिक क्षेत्र में केन्द्र की दया पर अधिक निर्भर न रहना पडे।

6. केन्द्र एव राज्य ~ ..कारो के उधार लेने की शक्ति—सविधान के अनुच्छेद 292 के अनुसार केन्द्रीय सरकार ससद् द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर भारत की सचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकती है और इन सीमाओं तक किसी ऋण की गारण्टी दे सकती है। अनुच्छेद 293 के अनुसार कोई राज्य भारत की सीमाओं के अन्दर राज्य विधान-मण्डल द्वारा नियत सीमाओं मे रहते हुए राज्य की सचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकता है और इन्ही सीमाओं के भीतर किसी ऋण की गारण्टी दे सकता है। लेकिन राज्यो को धन उधार लेने की शक्ति पर ये प्रतिबन्ध है कि (i) कोई राज्य भारत के बाहर से कर्ज नही ले सकता (ii) किसी ऐसे राज्य को केन्द्रीय सरकार तब तक धन उधार देने से इन्कार कर सकती है जब तक कि पिछला उधार दिया हुआ धन राज्य ने लौटा नहीं दिया है, एव (iii) यदि पिछला कर्ज बकाया रहते हुए राज्य धन उधार लेने का आग्रह करे तो केन्द्रीय सरकार को अधिकार है कि वह उचित शर्तों के साथ धन उधार दे। भारत मे राज्य सरकारे सघ सरकार के ऋण-भार से दबी पडी है अत उन्हे सघ सरकार की शर्तों को अधिकाशत मानना पडता है लेकिन सघ सरकार गैर-वाजिब शर्ते लादने की प्रवृत्ति से सदैव बची रही है।

7. केन्द्र और राज्य सरकारो के अन्य वित्तीय सम्बन्ध निम्न प्रकार रखे गए है—

(i) किसी राज्य के किसी भाग मे स्थित केन्द्रीय सरकार की सम्पत्तियॉ राज्य या स्वायत्त शासन सस्थाओं के सभी करो से मुक्त रखी गई है।

(ii) केन्द्रीय सरकार द्वारा उपभोग की जाने वाली बिजली राज्य सरकार के कर से मुक्त है।

(iii) केन्द्र सरकार द्वारा नदी घाटी योजनाओं के अन्तर्गत उत्पन्न या वितरित जल अथवा बिजली पर साधारणत कोई राज्य कर नहीं लगा सकता है।

(iv) राज्य सरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति और आय केन्द्रीय कर से मुक्त है।

8. वित्त आयोग—संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग सम्बन्धी प्रावधान है। वित्त आयोग निम्नलिखित विषयों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है—

(क) सघ और राज्यो के बीच उन करों की विशुद्ध प्राप्तियो के वितरण के सम्बन्ध मे जो सघ एव राज्यो मे विभाजित होती है अथवा होगी और राज्यो के बीच ऐसे करो की प्राप्ति के उस अश के वितरण मे जो राज्यो को प्राप्त हो।

(ख) भारत की सचित निधि मे से राज्यों के राजस्व के लिए सहायता अनुदान के सिद्धान्तो को निर्धारित करने के सम्बन्ध मे।

(ग) अन्य विषयो में जो राष्ट्रपति सुव्यवस्थित वित्त-व्यवस्था के हित में आयोग को सौपे।

वित्त आयोग की व्यवस्था सविधान निर्माताओं के उच्च-कोटि के विवेक की परिचायक है। दोनो सरकारों के बीच जटिल वित्तीय समस्याओं को सुलझाने वाले एक साविधानिक उपकरण के रूप मे वित्त आयोग की भूमिका प्रमुख रही है। वित्त-वितरण-व्यवस्था पूर्णत वित्त आयोगो की सिफारिशो पर आधारित है। आयोग के कार्य का महत्त्व इसमे ही है कि वह सघात्मक शासन-पद्धति की वित्त-व्यवस्था को स्थिर बनाने मे निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। वित्त-वितरण के प्रश्न को सघ तथा राज्य के मध्य अन्य राजनीतिक विवादों से दूर रखने का श्रेय इसी को प्राप्त है। वस्तुत वित्त आयोग राज्यो तथा सघ के बीच एक ऐसे प्रत्यावरोध का कार्य करता है जो एक ओर निरन्तर अधिक वित्त की माँग करने वाले राज्यो के राजनीतिक दबाव से सघ की रक्षा करता है दूसरी ओर आवश्यकताग्रस्त राज्यो को यथासम्भव सहायता प्रदान करने के लिए सघ को विवश करता है। सघ के लिए वित्त आयोग की सिफारिशो की उपेक्षा करना असम्भव है।

9. वित्तीय आपात्कालीन शक्तिया एव अन्य व्यवस्थाएँ—केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो में वित्तीय सम्बन्धो के सन्दर्भ मे भारतीय सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को दी गई वित्तीय आपात्कालीन शक्तियाँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। यह व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाए कि भारत अथवा उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिति या साख सकट में है तो वह सविधान के अनुच्छेद 360 के अनुसार वित्तीय सकट की घोषणा कर सकता है। इस वित्तीय आपात् की घोषणा को ससद् की स्वीकृति आवश्यक है। वित्तीय सघ की घोषणा की स्थिति मे राष्ट्रपति किसी राज्य के सेवारत कर्मचारियो के वेतन तथा भत्ते मे कमी करने और सभी धन विधेयको और अन्य वित्तीय विधेयको को स्वीकृति के लिए अपने पास भेजने के लिए निर्देश दे सकता है। वह सविधान के उन अनुबन्धो को स्थगित कर सकता है जिनके सम्बन्ध अनुदानो से हो या सघ के करो को राज्यो मे बाँटने से हो। वह सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो सहित केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियो के वेतन और भत्तो मे कमी करने के आदेश दे सकता है। भारत के नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) द्वारा केन्द्रीय सरकार अपना नियन्त्रण दृढ करने मे समर्थ होती है। यह अधिकारी भारत सरकार और राज्य सरकारो के लेखा रखने के ढग और हिसाब-किताब की जाँच करता है। इस अधिकारी के माध्यम से ही ससद् राज्यो की आय पर अपना नियन्त्रण रखती है।

स्पष्ट है कि सघ एव राज्यो के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का विश्लेषण बड़ी जटिल समस्या है। सविधान मे यह विस्तृत उपबन्ध कठिन कानूनी भाषा मे है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सामान्य सिद्धान्त अपवादो तथा परिसीमाओं से घिरा है किन्तु इन विस्तृत उपबन्धो का यह परिणाम है कि पुरातन सघ राज्यो में होने वाली अत्यधिक मुकदमेबाजी से भारत बचा रह सका है। इसके अतिरिक्त भारतीय सविधान में इन विस्तृत उपबन्धो के द्वारा उन कमियो को मिटाने का प्रयत्न किया गया है जो अन्य सघात्मक सविधानो मे वित्तीय उपबन्धो मे पाई जाती है। यह कार्य सघ एव राज्यो के मध्य कर आरोपण करने की शक्ति के स्पष्ट विभाजन से सम्भव हो सका है। सक्षेप मे यह कहना होगा कि सम्पूर्ण वित्तीय ढाँचा सघ एव राज्यो के पारस्परिक सहयोग की भावना पर आधारित है और यह समुचित व्यवस्था की गई है कि सघ एव राज्यो के मध्य वित्तीय सम्पर्क सामजस्यपूर्ण हो।

केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो एव सघीय शासित प्रदेशो के बजट सम्बन्धी लेन-देन

1980-81 1990-91, 1995-96 में केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों एव केन्द्रशासित प्रदेशों में बजट सबधी जो लेन-दन रहे उन्हें आर्थिक समीक्षा 1995-96 में निम्न प्रकार दर्शाया गया है—

(करोड़ रुपयों में)

		1980-87	1990-91	1995-96 (बजट अनुमान)
(i)	कुल परिव्यय	36,845	1,76,548	3,39,485
	(क) विकास	24,426	1,05,922	1,90,398
	(ख) विकास भिन्न	12,419	70,626	1,49,087
(ii)	चालू राजस्व	24,563	1,10,607	2,31,018
	(क) कर राजस्व	19,844	87,723	1,65,435
	1 आयकर व निगम कर	2,817	10 712	29,000
	2 सीमा शुल्क	3,407	20,644	27,500
	3 सघ उत्पाद शुल्क	6,500	24,514	42,780
	4 बिक्री कर	4,018	18,228	34,706
	5 अन्य	3,100	13,625	29,449
	(ख) कर-भिन्न राजस्व	4,719	22,884	65,583
(iii)	अन्तर (i–ii) के द्वारा वित्तपोषित	12,282	65,941	1,08,467
(iv)	पूँजीगत प्राप्तियाँ निबल (क + ख)	8,831	54,455	1,01,848
	(क) आन्तरिक (निबल)	7 161	50,192	96,238
	(ख) विदेशी	1,670	4,263	5,610
(v)	कुल बजटीय घाटा	3,451	11,486	6 619

वित्त आयोग

(Finance Commission)

सविधान के अनुसार हर पाँचवें वर्ष या राष्ट्रपति की इच्छा होने पर उससे पहले वित्त आयोग गठित किया जाना चाहिए। आयोग की रिपोर्ट तथा उस पर की गई कार्यवाही से सम्बन्धित ज्ञापन ससद् के दोनों सदनों मे रखा जाता है। सविधान के लागू होने से अब तक 11 वित्त आयोग क्रमश 1951, 1956, 1960, 1964, 1968, 1971, 1977 1982 1987, 1992, 1997 मे नियुक्त किए जा चुके है।

प्रथम वित्त आयोग

(First Finance Commission)

राष्ट्रपति ने 22 नवम्बर 1951 को श्री के सी नियोगी की अध्यक्षता में प्रथम वित्त आयोग नियुक्त किया जिसकी रिपोर्ट सरकार द्वारा जनवरी 1953 मे लोकसभा के सम्मुख पेश की गई। लोकसभा ने आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया। आयोग द्वारा अपनी सिफारिशे तीन सिद्धान्तों पर की गईं—

(क) सघ और राज्यो के बीच साधनो का वितरण ऐसा हो कि सघीय सरकार रक्षा आर्थिक विकास और अन्य कार्यों को सफलतापूर्वक चला सके

(ख) साधनों के वितरण और अनुदानो के निर्धारण मे सभी राज्यो के लिए समान सिद्धान्त अपनाए जाएँ एव

(ग) साधन वितरण की योजना का उद्देश्य विभिन्न राज्यो के बीच विद्यमान असमानताओं को दूर करना हो।

आयोग की मुख्य सिफारिशें ये थीं—

आय-कर की प्राप्ति का वितरण—*आय कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में राज्यों का भाग* 50 से बढाकर 55 प्रतिशत कर दिया जाए । आय-कर की विभाज्य धनराशि का 80% भाग राज्य सरकारों में जनसख्या के आधार पर और शेष 20 प्रतिशत भाग आय-कर मे सापेक्षिक सग्रहो (Relative Collections) के आधार पर राज्यो मे वितरित किया जाए ।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्को का वितरण—*आयोग ने तीन उत्पादन शुल्को—तम्बाकू तथा उससे* निर्मित पदार्थों दियासलाई और वनस्पति से प्राप्त होने वाली आय का 40 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर बॉटने की सिफारिश की । राज्यो में इन वस्तुओं के उपभोग सम्बन्धी ऑकड़े इकटठे किए जाएँ ताकि वित्त आयोग उपभोग के आधार पर उत्पादन शुल्कों का वितरण कर सके ।

जूट निर्यात कर के बदले मे सहायक अनुदान—*आयोग ने पश्चिमी बगाल बिहार असम और* उडीसा को जूट निर्यात-कर के स्थान पर वार्षिक सहायता अनुदान देने की सिफारिश की । इन चारों प्रान्तो के लिए अनुदान की राशि क्रमश 150 75, 75 और 15 लाख रुपये प्रस्तावित की गई ।

राज्यो को आर्थिक सहायता—आयोग ने असम मैसूर उडीसा पश्चिमी बगाल पूर्वी पजाब सौराष्ट्र और ट्रावनकोर कोचीन राज्यो को विशेष अनुदान की सिफारिश की । इन्हें क्रमश 100 40 75, 80, 25, 40 और 45 लाख रुपयो की आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया गया । विभिन्न राज्यों को आर्थिक सहायता देने में आयोग ने कई तथ्यो को ध्यान मे रखा जैसे—राज्यो की बजट सम्बन्धी आवश्यकताएँ सामाजिक सेवाओं का स्तर राज्य के सामने सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित कोई विशेष उत्तरदायित्व राज्यो की तुलनात्मक आर्थिक स्थिति आदि । अपनी सिफारिशे करते समय वित्त आयोग ने न्याय-भावना का पूरा परिचय दिया ।

प्रारम्भिक शिक्षा अनुदान—*शिक्षा की दृष्टि से पिछडे हुए राज्यो (बिहार हैदराबाद मध्य प्रदेश* राजस्थान उडीसा पजाब मध्य भारत एव पेप्सू) को प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार के लिए विशेष अनुदान देने की सिफारिश की गई । यह कहा गया कि आर्थिक सहायता चार वर्ष तक बढती हुई मात्रा मे मिलनी चाहिए । इन सभी राज्यो को 1953 54, 1954 55 1955 56 1956-57 मे क्रमश 1 50 2 2 50 एव 3 करोड़ रुपये देने का सुझाव दिया गया ।

अन्य सिफारिशे—*प्रथम वित्त आयोग ने कुछ और सिफारिश कीं—(i) राज्यों की आर्थिक व्यवस्था* का निरन्तर अध्ययन करने के लिए सस्था स्थापित की जाए (ii) आय कर के मौजूदा ऑकडों में सुधार किया जाए एव (iii) केन्द्र से आर्थिक सहायता पाने वाले राज्यो की जॉच की जाए कि वे आत्मनिर्भर होने का प्रयत्न कर रहे है या नहीं ।

प्रथम आयोग ने इस पर विशेष बल दिया कि राज्यो की उन्नति एक सुदृढ और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न केन्द्रीय सरकार पर आधारित होनी चाहिए । आयोग ने अपनी सिफारिशे ऐसे समय दीं जब राज्यों की आवश्यकताएँ उनके राजस्व स्रोतों के अनुपात से अधिक बढ रही थीं । आयोग ने यद्यपि न्याय भावना से काम लिया परन्तु उसकी सिफारिशों की व्यापक आलोचना की गई क्योंकि राज्यो ने अपने हितों को सामने रखकर उन सिफारिशो को ऑका । सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशो को स्वीकार करने के फलस्वरूप राज्यो को मिलने वाले केन्द्रीय अशदान में 21 करोड रुपये की वृद्धि हुई । यह वृद्धि अशत आय-कर के भाग और अशत अनुदानो द्वारा हुई ।

द्वितीय वित्त आयोग

(The Second Finance Commission)

राष्ट्रपति ने जून 1956 मे श्री सन्थानम् की अध्यक्षता में द्वितीय वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने नवम्बर 1956 मे अपनी अन्तरिम रिपोर्ट और सितम्बर 1957 में अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की । सरकार द्वारा रिपोर्ट पर लिए गए निर्णय 1957 58 के वित्तीय वर्ष से लागू कर दिए गए । आयोग ने अपनी सिफारिशे करते समय इन बातो का विशेष रूप से ध्यान रखा—

(क) राज्यो को आय के इतने साधन उपलब्ध हो जाएँ कि वे अपने सामान्य खर्चों को पूरा कर सकें तथा द्वितीय पचवर्षीय योजना से सम्बन्धित व्यय निभा सके तथा

(ख) राज्यो की आधारभूत और विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं पर एक साथ विचार किया गया क्योकि पचवर्षीय योजनाओं का वित्तीय पहलू दोनों सरकारो (केन्द्र एव राज्य सरकारो) का प्रमुख अग बन चुका था।

आय कर का वितरण—आयोग ने सुझाव दिया कि आय-कर की शुद्ध आय में से राज्यों को मिलने वाला भाग 55 प्रतिशत से बढाकर 60 प्रतिशत कर दिया जाए। वितरण के आधार मे कहा गया कि 10 प्रतिशत भाग राज्यों मे एकत्रित की गई धनराशि के आधार पर बॉटा जाए और शेष 90 प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर। आयोग का विचार था कि वितरण का एक मात्र आधार जनसख्या होना चाहिए किन्तु यह परिवर्तन धीरे-धीरे किया जाना चाहिए। आयोग द्वारा राज्यो को दिए जाने वाले प्रतिशत निर्धारित कर दिए गए। आय-कर आय मे से 1 प्रतिशत भाग केन्द्र प्रशासित प्रदेशो को दिए जाने की सिफारिश की गई। वित्त आयोग ने पश्चिमी बगाल और मुम्बई का यह प्रस्ताव नहीं माना कि आय-कर की आय का वितरण राज्यो से एकत्रित की गई राशि के आधार पर किया जाय। आयोग का तर्क था कि भारत में अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न होने से व्यापारिक आय सम्पूर्ण देश की परिस्थितियो से उत्पन्न होती है अत इन आय पर लगा कर सारे देश की आय होना चाहिए किसी क्षेत्र-विशेष या राज्य विशेष की नहीं।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्को का वितरण—आयोग ने सुझाव दिया कि सघीय उत्पादन-शुल्को मे से अधिक भाग दिया जाना चाहिए। दियासलाई तम्बाकू तथा वनस्पति तेल के अतिरिक्त चीनी कॉफी चाय कागज और कुछ साधारण तिलहन से निकाले गये खाद्य तेलो या अन्य तेलो पर लगे सघीय उत्पादन-शुल्को की आय को राज्य सरकारो मे वितरण करने की सिफारिश की गई लेकिन साथ ही यह भी कहा गया कि इन शुल्कों से राज्य सरकारो को दिया जाने वाला हिस्सा कुल आय के 40% से कम करके 25 प्रतिशत कर दिया जाए। 15 प्रतिशत की इस कमी को उत्पादन शुल्को की सख्या वृद्धि करके पूरा किया जाए। वितरण मे आयोग ने जनसख्या को मुख्य आधार माना। प्रथम वित्त आयोग ने प्रस्ताव किया था कि भविष्य मे उपभोग को आधार बनाना अधिक उपयुक्त होगा लेकिन द्वितीय वित्त आयोग का मत था कि प्रथम उपभोग सम्बन्धी ऑकडे मिलना कठिन है और दूसरे जनसख्या अधिक उचित आधार है क्योकि उपभोग के आधार पर वितरण करने से नगरीकृत राज्य अधिक लाभ प्राप्त करेंगे। सघीय उत्पादन-शुल्को के बँटवारे के लिए आयोग ने राज्यों के प्रतिशत निर्धारित कर दिए।

जूट निर्यात कर के बदले मे आर्थिक सहायता—1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर से होने वाली आय का एक भाग जूट उत्पादक राज्यो को दिया जाता था। नए सविधान मे इस प्रकार के आय-कर वितरण की व्यवस्था समाप्त कर दी गई और 1959 60 तक उन्हे विशेष आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई। इस दृष्टि से आयोग ने असम बिहार उडीसा और पश्चिमी बगाल के लिए क्रमश 75 75 31 15 और 152 69 लाख रुपये की सहायता की सिफारिश की।

आयोग की सिफारिशे मुख्यत इस प्रकार थीं—

राज्यो की आर्थिक सहायता—आयोग ने राज्य सरकारो की अशात्मक आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए उनके लिए पहले से अधिक सहायक अनुदानो की सिफारिश की। यह स्पष्ट कर दिया गया कि सहायता कि राशि द्वितीय पचवर्षीय योजना के कारण बढाई गई थी और इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये राज्यो की स्थाई आवश्यकताएँ थीं। समस्त राज्यो को दिए जाने वाली कुल आर्थिक सहायता में प्रत्येक राज्य का अलग-अलग हिस्सा क्या होगा यह भी आयोग ने राज्य विशेष की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए निश्चित कर दिया।

मृत्यु-कर से प्राप्त आय का विभाजन—आयोग ने मृत्यु-कर से प्राप्त आय के विभाजन के सम्बन्ध में सुझाव दिया कि—(क) कर की वास्तविक आय का 99% भाग राज्यो मे बॉटा जाए और शेष 1 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार अपने द्वारा शासित क्षेत्रो के भाग के रूप मे रखे और (ख) चल सम्पत्ति पर कर की आय जनसख्या के आधार पर और अचल सम्पत्ति से आय स्थिति के आधार पर विभाजित हो। आयोग ने प्रत्येक राज्य का प्रतिशत भाग निर्धारित कर दिया।

भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारो को दिए गए ऋण—आयोग से कहा गया था कि वह राज्यो को दिए जाने वाले सघीय ऋणों पर अपनी सिफारिशे प्रस्तुत करे। मार्च 1956 मे ऋणो की कुल राशि

बढ कर 900 करोड रुपये हो चुकी थी। ऋणो की अवधि एक वर्ष से चालीस वर्षो के बीच थी। ब्याज की दर 1 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक थी। इन ऋणो की विविधता और शर्तों की विविधता के कारण केन्द्र और राज्य सरकारो के बीच वित्तीय सम्बन्धो मे कई प्रकार की कठिनाइयॉं उत्पन्न हो गई थी। इन्हे दूर करने के लिए आयोग ने सभी ऋणो के एकीकरण और ब्याज तथा भुगतान की शर्तों के समानीकरण की योजना सरकार के सम्मुख रखी। आयोग ने 15 अगस्त 1947 से 31 मार्च 1956 के मध्य दिए गए ऋणों के सम्बन्ध में ये सिफारिशे कीं—(1) 1 अप्रेल 1957 से राज्य केन्द्र को केवल वही धनराशियॉं लौटाए जो वे शरणार्थियो (Displaced Persons) से मूलधन और ब्याज के रूप मे (उस दिन तक के पिछले बकाया सहित) वसूल करें (2) अन्य ऋणो पर 3% की दर से ब्याज लिया जाए एव (3) ब्याज-मुक्त ऋणो के सम्बन्ध मे कोई परिवर्तन न किया जाए। आयोग ने राज्यो के ऋणो के पुनर्गठन और युक्तिकरण (Rationalisation) की सिफारिश की जिससे सयुक्त रूप में सभी राज्यो के ब्याज खर्च मे लगभग 5 करोड रु वार्षिक की कमी हो गई। आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यो को नियमित रूप से ऋण न दिए जाएँ बल्कि आवश्यकता के समय कुछ धन वैसे ही सहायता के रूप मे दे दिया जाए। प्रत्येक वर्ष के अन्त मे समस्त धनराशियो को मिलाकर दो ऋणों मे बॉंट दिया जाए। दीर्घकालीन (Long term Loan) और मध्यकालीन (Medium term Loan)। ब्याज की दर का निर्धारण उस अवधि से सभी सघीय उधारो की लागत का अनुमान लगा कर किया जाए।

अतिरिक्त उत्पादन-कर का विभाजन—भारत सरकार ने राज्य सरकारो से परामर्श करके यह निर्णय लिया था कि यदि राज्य सरकारे सूती वस्त्र चीनी और तम्बाकू पर बिक्री-कर समाप्त कर दे तो उनके स्थान पर भारत सरकार इन वस्तुओं पर अतिरिक्त उत्पादन-कर लगाए और उससे उत्पन्न सम्पूर्ण आय को राज्य सरकारो मे वितरित कर दे। द्वितीय वित्त आयोग को इन उत्पादन करो के वितरण मे अपने सुझाव देने थे। आयोग ने दो प्रकार के सुझाव दिए। तीन वस्तुओं की आय को अलग-अलग बॉंटने के सम्बन्ध में और एक साथ बॉंटने के सम्बन्ध मे यह सिफारिश की गई कि तीनो वस्तुओं से प्राप्त उत्पादन-कर राशि मे से 1 प्रतिशत तो केन्द्रीय सरकार अपने पास केन्द्र प्रशासित क्षेत्रो के भाग के रूप मे रख ले 1 25 प्रतिशत जम्मू-कश्मीर को मिले तथा शेष राशि राज्यो मे जनसख्या और इन वस्तुओं के उपभोग के मिले-जुले आधार पर वितरित की जाए। आयोग ने पहले तो प्रत्येक राज्य की बिक्री-कर से प्राप्त होने वाली आय को मालूम किया और तब प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित किया।

रेल किरायो पर लगे हुए कर का वितरण—रेल किरायो पर कर के सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्य के भाग का निर्धारण करते समय आयोग ने यह ध्यान मे रखा कि प्रत्येक रेलवे क्षेत्र का कौनसा भाग किस राज्य में है वहॉं कौन-कौनसी लाइने हैं और उन पर कितनी यात्रा सम्पन्न की गई है। आयोग ने पिछले तीन वर्षों की आय ज्ञात करके प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित किया। यह सुझाव दिया गया कि रेल किरायो से प्राप्त होने वाली आय का 0 25 प्रतिशत भाग केन्द्र अपने द्वारा शासित क्षेत्रो के भाग के रूप मे रखे और शेष भाग को विभिन्न राज्यो मे वितरित कर दिया जाए। राज्यो को प्राप्त होने वाली आय का प्रतिशत आयोग द्वारा निर्धारित कर दिया गया।

अन्य सिफारिशे—आयोग ने कुछ और भी सिफारिशे की जैसे—(1) राज्य कुछ कोष नियमित रूप से अलग रखे ताकि प्राकृतिक आपत्तियो के समय उनकी वित्तीय स्थिति अस्त-व्यस्त न हो सके (2) राज्य हिसाब-किताब रखने का समान तरीका अपनाएँ (3) वित्त मन्त्रालय पर्याप्त ऑंकडे एकत्रित करने और अन्य अनुसन्धान कार्यों के लिए उचित व्यवस्था करे ताकि भावी वित्त आयोगो को ऑंकडो से सहायता मिल सके एव (4) सभी सम्बन्धित सस्थाएँ पर्याप्त ऑंकडे एकत्रित करने की ओर विशेष ध्यान दें।

तृतीय वित्त आयोग

(The Third Finance Commission)

राष्ट्रपति ने 2 दिसम्बर 1960 को श्री ए के चन्दा की अध्यक्षता मे तृतीय वित्त आयोग नियुक्त किया जिसने अपनी रिपोर्ट 14 दिसम्बर 1961 को प्रस्तुत कर दी जिसे मार्च 1962 म ससद मे प्रस्तुत किया गया। आयोग की लगभग सभी सिफारिशे भारत सरकार द्वारा मान ली गईं। ये सिफारिशें मुख्यत अग्राकित प्रकार थीं—

आय-कर का वितरण—आयोग ने 1 अप्रैल 1962 से चार वर्षों की अवधि के लिए सुझाव दिया कि (क) कृषि-आय को छोड़कर अन्य आयों पर कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से 66 66 प्रतिशत भाग राज्यों में बाँट दिया जाए और 2 5 प्रतिशत केन्द्र-शासित प्रदेशों के लिए रखा जाए एव (ख) वास्तविक एकत्रित आय का 80 प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य-विशेष से एकत्रित किए गए आय-कर से प्राप्त आय के आधार पर वितरित किया जाए। आयोग ने आय-कर की शुद्ध प्राप्तियों के वितरण में जनसख्या को मुख्य तत्त्व स्वीकार करते हुए कर-सग्रह के तत्त्व पर द्वितीय वित्त आयोग की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया क्योंकि (1) विभाज्य-कोष (Divisible Pool) से कम्पनियों द्वारा अदा किए जाने वाले आय-कर के अलग हो जाने से अब आय-कर स्थानीय स्रोत की आमदनियों में से पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिशत से प्राप्त होता था एव (2) औद्योगिक राज्यों को जिन्हें प्रशासनिक और सामाजिक सेवाओं पर काफी व्यय करना पड़ता है कर-प्राप्तियों का अधिक भाग मिलना चाहिए। आयोग ने विभिन्न राज्यों के प्रतिशत भाग निर्धारित किए।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्को का वितरण—आयोग ने 35 अनुसूचित वस्तुओं पर लागू सघीय उत्पादन-शुल्कों की कुल शुद्ध आय मे से 20 प्रतिशत राज्यों में वितरित करने का सुझाव दिया किन्तु तब केवल 8 वस्तुओं से प्राप्त कर-आय का भाग बाँटा जाता था। इस राशि-विभाजन के लिए राज्यों की जनसख्या को मुख्य आधार माना गया लेकिन राज्यो की आर्थिक स्थिति विकास स्तर अनुसूचित जाति को प्रधानता और पिछडे वर्गों के अनुपात आदि को भी ध्यान मे रखा गया। राज्यो को प्राप्त होने वाले भाग का प्रतिशत निर्धारित कर दिया गया।

अतिरिक्त उत्पादन कर—तृतीय आयोग ने द्वितीय वित्त आयोग द्वारा की गई व्यवस्था में किसी परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। चूँकि अप्रैल 1961 से रेशमी कपडे पर बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन-कर लगा दिया गया था अत राज्य सरकारो को बिक्री-कर के स्थान पर भारत सरकार द्वारा गारण्टी शुदा रकम 32 5 करोड से बढाकर 32 54 करोड रुपये कर दी गई। तृतीय आयोग ने अतिरिक्त उत्पादन करो से प्राप्त होने वाली आयो मे से 1 प्रतिशत भाग केन्द्र शासित क्षेत्रो को और 1 5% भाग जम्मू व कश्मीर को देने की सिफारिश की। राज्यो को गारण्टी शुदा तथा जम्मू-कश्मीर को दी गई राशि के उपरान्त शेष रकम को राज्यों में अशत उनकी सापेक्षिक जनसख्या और अशत 1957 58 मे उनकी बिक्री-करो से होने वाली आय के आधार पर वितरित करने का सुझाव दिया गया। शेष आय के विभाजन के लिए राज्यो का अलग-अलग प्रतिशत निर्धारित कर दिया गया।

आस्ति-कर (Estate Duties)—आयोग ने आस्ति-कर के वितरण के सम्बन्ध में कोई नवीन सुझाव नहीं दिया। द्वितीय आयोग की मान्यताओं को यथावत रखा गया लेकिन 1961 की जनगणना की जनसख्या के आधार पर प्रत्येक राज्य को मिलने वाले अश के प्रतिशत को सशोधित कर दिया गया।

रेल भाड़ा-कर के स्थान पर अनुदान—1 अप्रैल 1961 से पाँच वर्षों की अवधि (1961 66) के लिए प्रतिवर्ष 12 5 करोड रुपये राज्यो में वितरित करने की सिफारिश की गई। राज्यो का प्रतिशत निर्धारित कर दिया गया।

आर्थिक सहायता—आयोग ने महाराष्ट्र को छोडकर अन्य समस्त राज्यो को 1 अप्रैल 1962 से 4 वर्षों के लिए प्रतिवर्ष 110 25 करोड रुपयो का आर्थिक अनुदान देने का सुझाव दिया जिसमे से 52 करोड़ रुपये राज्य के बजट घाटो को पूरा करने के लिए और 58 25 करोड रुपये राज्यो की योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए रखे गये। 10 राज्यो (आन्ध्र प्रदेश असम बिहार गुजरात, जम्मू व कश्मीर केरल मध्य प्रदेश मैसूर उडीसा व राजस्थान) को सवादवाहन के साधनो की उन्नति के लिए पृथक् से अनुदान दिया गया। राज्यो को मिलने वाली आर्थिक सहायता का वार्षिक निर्धारण कर दिया गया।

अन्य सिफारिशे—आयोग ने कुछ अन्य सिफारिशे भी कीं जैसे—(1) केन्द्र तथा राज्य सरकारो के बीच बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे एक स्वतन्त्र आयोग का गठन किया जाए जो प्रत्येक राज्य मे वहाँ की कर-सम्भावनाओं पर विचार करे विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत लगने वाली करों की दरो पर सुझाव दे कर की रूपरेखा पर विचार प्रस्तुत करे योजनाओं के कारण राज्यो के आय-व्यय साधनो के बीच बढते हुए अन्तर के कारणो पर प्रकाश डाले तथा केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों

पर यदि आवश्यक हो तो सशोधन के सुझाव दे एव (2) वित्त आयोग के कार्यों मे वृद्धि की जाए ताकि वह राज्यों की देय कुल आर्थिक सहायता को निश्चित कर सके और इतनी राशि का प्रबन्ध कर सके जो राज्यों के लिए योजना के लक्ष्यों को पूरा करने की दृष्टि से पर्याप्त हो।

तृतीय वित्त आयोग ने निम्नलिखित दो सिफारिशों को छोडकर जिन पर आयोग के एक सदस्य ने मतभेद प्रकट किया था शेष रिपोर्ट सर्वसम्मति से पेश की थी—

(i) सन्देश वाहन के विकास के लिए कुछ राज्यों को विशेष अनुदान दिए जाएँ एव

(ii) राज्य योजनाओं में 75 प्रतिशत आय मात्र (Revenue Component) को वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित निक्षपण योजना (Devolution Scheme) मे शामिल किया जाए।

भारत सरकार ने आयोग के सर्वसम्मति से पेश किए गए सुझावों को और बहुमत से पेश किए गए सन्देश वाहन के साधनों के सुझावों को स्वीकार कर लिया।

तृतीय वित्त आयोग की रिपोर्ट पर मूल्यांकन किया जाए तो यह कहना होगा कि आयोग ने राज्य सरकार की बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए उन्हें अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया। आयोग ने यह ध्यान रखा कि केन्द्र सरकार की आय में बहुत अधिक कमी न हो जाए। आयोग की सिफारिशो से राज्यो की आय में पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हुई तथा पिछडे हुए राज्यों को विशेष सुविधाए मिली। राज्य सरकारो के निरन्तर बढते हुए बजट के घाटों की स्थिति में उचित आर्थिक सहायता का प्रावधान कर आयोग ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

वित्त आयोग की कुछ सिफारिशो ने काफी विवाद उत्पन्न किया और कुछ राज्य उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए। इनमे सहायक अनुदानों और यातायात के साधनो की उन्नति के लिए विशेष अनुदानो से सम्बन्धित सिफारिशे विशेष आलोचना का शिकार बनीं। यह स्पष्ट नही हुआ कि आयोग ने किस आधार पर बिहार और उत्तर प्रदेश को जो अपेक्षाकृत अधिक धनी और औद्योगिक राज्य नहीं है सहायक अनुदान देने का सुझाव दिया। आयोग ने यह प्रभावपूर्ण दलीले नही दीं कि राज्य की योजनाओं के 75 प्रतिशत राजस्व भाग की पूर्ति के लिए सघ सरकार के अनुदान क्यो दिए जाएँ।

चतुर्थ वित्त आयोग
(The Fourth Finance Commission)

भारत के राष्ट्रपति ने 5 मई 1964 को एक आदेश जारी करके चतुर्थ वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष डॉ पी वी राजामन्नार (P V Rajamannar) थे तथा सर्वश्री मोहनलाल गौतम (उत्तर प्रदेश सरकार के भूतपूर्व मन्त्री) डा जी कर्वे (रिजर्व बैंक के भूतपूर्व डिप्टी गवर्नर) भामातोष दत्ता (सचालक सार्वजनिक निर्देशन प्रश्चिमी बगाल) एव पी सी मेथ्यू (सदस्य सचिव) को सदस्यो के रूप मे नियुक्त किया गया।

आयोग के विषय—सविधान के अनुच्छेद 280 भाग 3 के खण्ड (अ) तथा (ब) में दिये गये विषयों के अतिरिक्त वित्त आयोग से निम्नलिखित विषयो पर सिफारिश करने के लिए कहा गया—

1 आय कर और केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त शुद्ध प्राप्तियों को केन्द्र एव राज्यों में वितरित करने तथा राज्य के हिस्से निर्धारित करने के लिए सिद्धान्तों का निर्धारण।

2 राज्यों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तो का निर्माण।

3 सविधान के अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत जिन राज्यों को सहायता अनुदान दिए जाने है उनको इनका भुगतान किस प्रकार किया जाए।

4 सविधान के अनुच्छेद 269 के अनुसार कृषि भूमि को छोडकर अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर जो सम्पदा कर लगाया जाता है उसका राज्य के बीच वितरण के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता है अथवा नहीं।

5 रेल किरायो पर करो से प्राप्त आय की राज्यो के बीच वितरण से सम्बन्धित सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता है या नहीं।

6 सूती वस्त्र रेयन नकली रेशम का कपडा ऊनी कपडा चीनी तम्बाकू व उससे निर्मित वस्तुओं (जिसमें पहले राज्य सरकारे बिक्री कर लगाती थीं) पर अतिरिक्त उत्पादन कर से प्राप्त होने

वाली शुद्ध आय को राज्यो मे वितरित करने के सिद्धान्तो पर विचार करना और यदि आवश्यक हो तो उसमे परिवर्तन करने के सुझाव देना।

7 उन वस्तुओं मे उत्पादन, उपभोग और निर्यात (जिन पर लगने वाले उत्पादन-करो की आय का बँटवारा राज्यो मे किया जाता है) पर राज्य के बिक्री-करो एव केन्द्रीय सरकार के सामूहिक कर-भार के प्रभाव का अध्ययन करना।

चतुर्थ आयोग की सिफारिशे—आयोग ने अपनी रिपोर्ट अगस्त 1965 मे प्रस्तुत कर दी। आयोग की सिफारिशे जो आगामी 5 वर्षों के लिए दी गईं 1 अप्रैल 1966 से लागू की गईं। आयोग के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—

1. आय-कर (Income Tax)—आयोग ने कहा कि अभी तक राज्यो को आय-कर से प्राप्त होने वाले राजस्व का (जिसमे नगर-कर शामिल नहीं है) 66 66 प्रतिशत भाग बाँटा जाता है और राज्य के हिस्से का हिसाब लगाते हुए 80 प्रतिशत भाग उस राज्य की जनसख्या के हिसाब से है और 20 प्रतिशत उसके आय कर के एकत्रण के हिसाब से निकाला जाता है किन्तु अब राज्यो का हिस्सा 66 66 प्रतिशत से बढाकर 75 प्रतिशत कर दिया जाए। केन्द्र शासित राज्यो को 3 5 प्रतिशत भाग दिए जाने की सिफारिश की गई। आयोग ने कहा कि राज्यो का अनुपात पिछले 3 वर्ष (जो 1963-64 को समाप्त हुए) के अनुसार होगा।

2. संघीय उत्पादन-कर (Union Excise Duties)—आयोग ने सुझाव दिया कि उन सब उत्पादन करो को जो हाल मे लगाए गए है और जो आगामी 5 वर्षों मे लगाए जाएँगे से प्राप्त आय को केन्द्र और राज्य दोनो मे बाँटा जाना चाहिए। तृतीय वित्त आयोग की भाँति निश्चित वस्तुओं पर लगी शुद्ध सघीय उत्पादन करो की आय का 20 प्रतिशत भारत के सचित कोष मे से राज्यो को बाँटे जाने की सिफारिश की गई। इस बँटवारे का आधार मुख्यत जनसख्या को रखा जाता था किन्तु चतुर्थ आयोग ने राज्यो की आर्थिक स्थिति और सामाजिक दुरुपयोगिता को ध्यान मे रखा। आयोग ने सुझाव दिया कि सघीय उत्पादन करो की आय का 80 प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर बाँटा जाए और 20 प्रतिशत भाग राज्यो की आर्थिक दुर्बलता के आधार पर वितरित हो।

3. अतिरिक्त उत्पादन-कर (Additional Duties of Excise)—आयोग ने शुद्ध प्राप्तियो मे सघ क्षेत्रो का 1 प्रतिशत और जम्मू व कश्मीर का 1 5 प्रतिशत भाग निश्चित किया जैसा कि तीसरे आयोग का सुझाव था। तीसरे आयोग द्वारा प्रस्तावित विभिन्न राज्यो को दिए जाने वाली राशि को स्वीकार किया गया और शेष राशि के वितरण के सम्बन्ध मे सुझाव दिया गया कि इसका वितरण प्रत्येक राज्य मे वसूल की गई बिक्री-कर की आय और सभी राज्यो मे एकत्रित की गई बिक्री-कर की कुल आय (1961 62 से 1963 64 के वर्षों मे) के अनुपात के आधार पर होना चाहिए। सघीय क्षेत्रो के लिए 1 प्रतिशत जम्मू और कश्मीर के लिए 1 5 प्रतिशत और नागालैण्ड के लिए 5 प्रतिशत हिस्सो को निकाल कर आयोग ने विभिन्न राज्यो के प्रतिशत निश्चित किए।

4. सम्पदा कर या आस्ति-कर (Estate Duty)—इस सम्बन्ध मे आयोग का मत यह रहा कि पिछले आयोगो द्वारा दिए गए वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तो का पालन किया जाए। आयोग का सुझाव था कि केन्द्र शासित प्रदेशो का भाग शुद्ध आय के 1 प्रतिशत से बढाकर 2 प्रतिशत कर दिया जाए। जहाँ तक एक कोष की स्थापना का प्रश्न था आयोग ने यह मत प्रकट किया कि चूँकि सम्पदा-कर की शुद्ध आय मे से केवल 7 करोड रुपये राज्यो मे विभाजित किया जाना था अत ऐसे कोष की स्थापना का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं होगा।

5 रेलवे किरायो मे लगे हुए कर का वितरण (Grants in Lieu)—चतुर्थ वित्त आयोग ने तृतीय आयोग द्वारा निर्धारित नीति को अपनाया। आयोग ने निश्चित किया कि 1 अप्रैल 1966 से 5 वर्षों की अवधि के लिए प्रति वर्ष 12.5 करोड रुपये प्रति राज्य 1 प्रतिशत के आधार पर बाँटा जाए।

6. आर्थिक सहायता (Grants-in-Aid)—राष्ट्रपति ने वित्त आयोग को सहायता अनुदानो के वितरण के प्रश्न पर सिफारिशे करने को कहा था। चौथे वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा पिछले वित्त आयोगो ने सहायता अनुदानो मे जो सिद्धान्त निर्धारित किए थे वे सन्तोषप्रद है किन्तु इससे सहमत होना कठिन है कि योजना अनुदानो और विशेष उद्देश्यो के लिए दिए जाने वाले अनुदानो को सम्मिलित

किया जाए। इसका कारण बताते हुए चौथे आयोग ने लिखा कि सहायता अनुदानों को निश्चित करने और राज्य को इसको देने के लिए राष्ट्रपति ने आयोग को यह स्पष्ट बता दिया था कि आयोग को सहायता अनुदान निश्चित करते समय कुछ विशेष बिन्दुओं को ध्यान में रखना होगा जैसे—राज्यों को अपनी ऋण व्यवस्था के ऊपर कितना व्यय करना पड रहा है और राज्यों के प्रशासन व्यय में कार्यकुशलता बनाए रखने के साथ बचत लाने की कहाँ तक सम्भावना है एव सम्पदा कर की आय के एक भाग से एक कोष का निर्माण करना आदि।

चतुर्थ आयोग ने इस सब बातों को ध्यान में रखते हुए राज्यों को सहायता अनुदान दिए जाने के सम्बन्ध में सिफारिशें कीं। आयोग ने विभिन्न राज्यों की पिछली आय और व्यय को ध्यान में रखते हुए भविष्य में प्राप्त होने वाली आय और व्यय (योजना कार्यों पर होने वाले व्यय के अतिरिक्त) का अनुमान लगाया।

आयोग का अनुमान था कि 6 राज्यों (बिहार गुजरात महाराष्ट्र पजाब उत्तरप्रदेश व पश्चिमी बगाल) को केन्द्र करों से इतनी राशि प्राप्त हो जाएगी कि उनके पास भावी 5 वर्षों में अग्रिम आधिक्य रहेगा। अत उन्हें कोई अनुदान देने की आवश्यकता नहीं होगी।

7 सघीय उत्पादन कर व बिक्री कर के बीच समन्वय (Co ordination between Sales Taxes and Union Excise Duties)—सरकार द्वारा आयोग को बिक्री एव उत्पादन करों में समन्वय स्थापित करने के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट देने का आदेश दिया गया था किन्तु उचित आकडों के अभाव में आयोग इस विषय में अपना मत प्रकट करने में असफल रहा।

चतुर्थ आयोग की रिपोर्ट का मूल्याकन

पिछले वित्त आयोग की भाँति चतुर्थ आयोग ने केन्द्रीय और राज्य सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। चतुर्थ आयोग की सिफारिशें कुछ दृष्टियों से अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। राज्यों की बढती हुई जिम्मेदारियों और भावी योजनाओं पर होने वाले व्ययों को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ आयोग ने सघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का विशेष सावधानी से सिंहावलोकन किया है और उसका सुझाव नि सन्देह महत्त्वपूर्ण है। नवीन परिस्थितियों में आयोग का यह सुझाव एकदम उचित है कि सघीय करों में से राज्यों को देय हिस्से में सहायक अनुदान के रूप में दी जाने वाली धनराशि की मात्रा पहले की अपेक्षा बढाई जाए और आय कर में से राज्यों को प्राप्त होने वाले प्रतिशत को 66 66 से 75 किया जाए। राज्यों के वृद्धिमान व्ययों और उत्तरदायित्वों को समुचित महत्त्व देते हुए आयोग ने यह सिफारिश की कि उत्पादन करों से प्राप्त वर्तमान धनराशि में उन सब वस्तुओं से प्राप्त धनराशि को सम्मिलित किया जाए जिन पर आगामी 5 वर्षों में उत्पादन कर लगेंगे। प्रथम और तृतीय आयोग के इस सूत्र को कि राज्यों में आय कर का 80 प्रतिशत भाग जनसख्या व 20 प्रतिशत सग्रह के स्रोत के आधार पर बाँटा जाए पुन लागू करके चौथे आयोग ने राज्यों का बडा उपकार किया है। इससे उन राज्यों को जिनका औद्योगीकरण हो चुका है आवश्यकतानुसार लाभ पहुँचेगा।

निष्कर्ष रूप में चतुर्थ आयोग की सिफारिशें बडी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। सरकार ने आयोग की सिफारिशों को 1970 71 तक के लिए स्वीकार किया।

पाँचवाँ वित्त आयोग

(The Fifth Finance Commission)

1 मार्च 1968 को गठित पाँचवे वित्त आयोग[1] ने 31 जुलाई 1969 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट पेश की। आयोग की अन्तिम रिपोर्ट में निम्नाकित सिफारिशें की गईं—

आय कर

चौथे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार पाँचवे वित्त आयोग ने राज्यों का हिस्सा 75 प्रतिशत ही रखा किन्तु पाँच वर्षों की अवधि में हस्तान्तरित की जाने वाली रकमों की वास्तविक रकम पहले की

1 इस आयोग के अध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद त्यागी थे। आयोग के अन्य चार सदस्य थे—श्री पी स्वामीनाथन श्री एम शेषावलसायी श्री डी टी लकडावाला तथा बी एल गिडवानी।

अपेक्षा बहुत बढ गई, क्योकि अग्रिम कर-सग्रह की राशि, कर-सग्रह वर्ष की विभाज्य रकम में शामिल करली गई । आयोग ने राज्यो का हिस्सा 90 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर और 10 प्रतिशत कर-निर्धारण सम्बन्धी ऑकड़ो के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की । आयोग ने सघीय राज्य क्षेत्रो से प्राप्त होने वाले हिस्से की रकम 2.6 प्रतिशत निर्धारित की ।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्क

पॉचवें वित्त आयोग ने केन्द्रीय उत्पादन शुल्क के वितरण के सम्बन्ध मे निम्न सिफारिशे कीं—

1. 1969-70 से 1973-74 के पॉच वर्षों मे सभी वस्तुओं पर लगने वाले बुनियादी उत्पादन शुल्को से प्राप्त होने वाली शुद्ध रकमो का 20 प्रतिशत राज्यो को देय होगा, लेकिन अन्तिम दो वर्षों के लिए 1972-73 और 1973-74 के लिए यह सिफारिश की गई कि विशेष बुनियादी शुल्को से प्राप्त होने वाली उन रकमों मे राज्य का हिस्सा होगा, जिन्हें अब तक विभाज्य कोष मे अलग रखा जाता था ।

2. राज्यो के हिस्से के 80 प्रतिशत भाग का वितरण जनसख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत भाग का वितरण सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर करने का सिद्धान्त बनाए रखा गया लेकिन पिछड़ेपन के आधार पर नियत की जाने वाली 20 प्रतिशत रकम का दो-तिहाई भाग उनकी प्रति व्यक्ति आय के अन्तर वाले अनुपात से दिया जाएगा । शेष एक-तिहाई भाग सभी राज्यो मे पिछडेपन के एकीकृत सूचकाक के आधार पर बॉटा जाएगा ।

बिक्री-कर के बदले अतिरिक्त उत्पादन शुल्क

बिक्री-कर के बदले में उत्पादन शुल्क के सम्बन्ध मे पॉचवें वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि राज्य सरकारों के साथ विचार-विमर्श करके वर्तमान व्यवस्था मे उचित सशोधन किया जाना चाहिए । जब तक वर्तमान व्यवस्था जारी रहे, शुल्कों की दरे यथासम्भव मूल्यानुसार रखी जाएँ और समय-समय पर उन्हे सशोधित किया जाए ताकि प्रचलित मूल्यो और वस्तुओ पर राज्यो द्वारा लगाए जाने वाले बिक्री-कर के सामान्य स्तर का ध्यान रखते हुए उचित कर-भाग बनाए रखा जा सके । आयोग ने, अन्तिम निर्णय होने तक, अतिरिक्त उत्पादन शुल्को से प्राप्त होने वाली शुद्ध रकमो का वितरण की जाने की सिफारिश की कि—(i) जम्मू और कश्मीर, नागालैण्ड तथा सघीय राज्य क्षेत्रों का हिस्सा क्रमश 0 83 प्रतिशत, 0 09 प्रतिशत और 2 05 प्रतिशत, (ii) शेष 97 03 प्रतिशत अन्य राज्यों मे । आयोग ने यह भी सिफारिश की कि गारण्टी शुदा रकमों की अदायगी करने के बाद शेष रकम मे से 50 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर तथा 50 प्रतिशत 1965-66 से 1967-68 तक की अवधि मे सग्रह किए गए बिक्री-कर (केन्द्रीय बिक्री-कर को छोडकर) के आधार पर बॉटी जाए ।

सहायक अनुदान

आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट मे 13 राज्यो को वर्ष 1969-70 मे 176 81 करोड रुपये के सॉविधानिक अनुदान दिये जाने की सिफारिश की थी । आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट देते समय यह महसूस किया कि राज्यों के व्यय मे तेजी से होने वाली वृद्धि और उनके पूर्वानुमानो मे दिखाए गए बजट सम्बन्धी घाटों की बडी रकमो को ध्यान मे रखते हुए, अनुदान देने के प्रश्न पर विचार करते समय बजट आवश्यकताओं पर जोर देने के स्थान पर राज्यो की व्यापक वित्तीय आवश्यकताओ पर जोर दिया जाए । तदनुसार, आयोग ने राज्यो के पूर्वानुमानो के समान आधार पर मूल्याकन किया और बकाया करों के सग्रह, ब्याज की वसूलियाँ राज्यो के उद्यमों के सचालन महँगाई भत्ते के लिए व्यवस्था और ग्रामीण विद्युतीकरण के लिए राज-सहायता, दैवी विपत्तियो के सम्बन्ध मे राहत सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के लिए राज्यो की आवश्यकता अन्य तुलनीय राज्यो के मुकाबले व्यय के स्तर केन्द्र से प्राप्त ऋणों पर ब्याज की अदायगियो और ऋण-शोधन आदि के लिए व्यवस्था आदि कई प्रकार के मापदण्ड अपनाए ।

अतिरिक्त राजस्व की गुजाइश

समाचार-पत्रो के विज्ञापनो पर कर को छोडकर, आयोग को सविधान के अनुच्छेद 269 में गिनाए गए करों और शुल्को से जो इस समय नहीं लगाए जा रहे है, वर्तमान परिस्थितियो मे राजस्व प्राप्त करने की गुजाइश मे आयोग ने कई सुझाव दिए । इनमे कृषि क्षेत्र, सिचाई योजनाओं, बिजली प्रायोजनाओ, कर और ब्याज सम्बन्धी वसूलियो आदि से राजस्व प्राप्त करने के सुझाव शामिल है । आयोग की सिफारिशो की ओर राज्य सरकारो का ध्यान आकर्षित किया गया ।

रिपोर्ट का मूल्यॉंकन

पॉंचवें वित्त आयोग की रिपोर्ट का स्वागत हुआ। आयोग ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सुझाए। यह प्रस्ताव स्वागत योग्य था कि आस्ति-कर के बॉंटे जा सकने वाले भाग के विभाजन मे इस तत्त्व को लागू किया गया है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के सन्दर्भ मे राज्य की प्रति व्यक्ति आय कितनी है। इससे निर्धन राज्यों को अतिरिक्त सहायता प्राप्त हुई। अतिरिक्त उत्पादन शुल्को के सम्बन्ध मे आयोग राज्यों के इस आग्रह को मान गया है कि उत्पादन कर के स्थान पर राज्यो को पुन बिक्री-कर लगाने का अधिकार दे दिया जाए। आयोग का यह मत तर्कसगत था कि वर्तमान व्यवस्थाओं के अन्तर्गत राज्य सरकारों को जो साधन उपलब्ध है उनके गहन विदोहन की आवश्यकता है।

छठे वित्त आयोग की रिपोर्ट का साराश

(Summary of the Report of the Sixth Finance Commission)

छठे वित्त आयोग की स्थापना जून, 1972 मे की गई थी। इस आयोग को राज्यो के गैर-योजना पूँजीगत अन्तर के प्रश्न पर विचार और उनकी ऋणगत स्थिति की समीक्षा करने को कहा गया। आयोग ने 28 अक्टूबर 1973 को अपनी रिपोर्ट पेश की। सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया। आयोग की सिफारिशो के अनुसार आय के क्षेत्र मे राज्यो का हिस्सा 75 प्रतिशत से बढाकर 80 प्रतिशत कर दिया गया। आयोग ने बुनियादी उत्पादन शुल्क को बॉंटने की पद्धति में परिवर्तन की कोई सिफारिश नहीं की। केन्द्र सरकार के उपसगी उत्पाद शुल्क मे 1976 77 से राज्यो का हिस्सा बुनियादी उत्पादन शुल्क की तरह शुद्ध आय का 20 प्रतिशत रहा। राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान मे वृद्धि की गई। आयोग की सिफारिश थी कि 1973 74 की समाप्ति पर बकाया केन्द्रीय ऋण की अधिकाश श्रेणियों मे अदायगी की शर्तों को उदार बनाया जाए। राहत कार्यों मे होने वाले व्यय के लिए कोई राष्ट्रीय निधि बनाने का सुझाव आयोग ने नहीं दिया।

छठे आयोग की रिपोर्ट से सर्वाधिक धन उत्तर प्रदेश को प्राप्त हुआ। इस आयोग ने राज्यो के दावों को अधिकाधिक सहानुभूति से देखा और उनकी न्यायोचित मॉंगो को स्वीकार करके केन्द्र सरकार पर भार बढा दिया। इस आयोग की मुख्य सिफारिशो की व्याख्या नीचे की जा रही है—

निगम कर का प्रश्न (Question of Corporation Tax)

राज्यो की ओर से यह तीव्र मॉंग थी कि आय-कर के विभाज्य कोष में निगम कर की आय को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिसे कि 1959 मे अलग कर दिया गया था क्योंकि आय-कर प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि की दर निगम-कर से प्राप्त होने वाली आय मे वृद्धि से बहुत कम है। वित्त आयोग ने राज्यो की इस न्यायोचित मॉंग को स्वीकार कर लिया और सरकार को सलाह दी कि यह राष्ट्रीय विकास परिषद् के सम्मुख इस मामले को पेश करे।

आय कर विभाजन (Income Tax Distribution)

जैसा कि विदित है कि चौथे वित्त आयोग ने कुल आय-कर का 75% भाग राज्यो के लिए निर्धारित किया था और पॉंचवे वित्त आयोग ने राज्यों के प्रबल दबाव के बावजूद इसमे कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया। छठे वित्त आयोग के सम्मुख राज्यो ने कहा था कि आय कर से प्राप्त सम्पूर्ण राशि राज्यों के मध्य बॉंट दी जानी चाहिए परन्तु इसे आयोग ने पूर्णत स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत उसने आय-कर में राज्यों का भाग 75 प्रतिशत से बढाकर 80 प्रतिशत अवश्य कर दिया। आय-कर की आय मे से (i) 1 79 प्रतिशत केन्द्र शासित प्रदेशो के लिए (ii) 80 प्रतिशत राज्यो के लिए तथा (iii) शेष केन्द्र के लिए निर्धारित किया गया। राज्यो के इन प्रतिशतो को तय करते समय इस आयोग ने वही नीति और नियम प्रयुक्त किए है जिन्हे पॉंचवे वित्त आयोग ने बनाए थे।

केन्द्रीय उत्पादन-कर का आवटन (Allocation of Central Excise Duties)

पिछले आयोग ने धीरे-धीरे केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क में राज्यों को दिया जाने वाला प्रतिशत घटा दिया अत राज्यो की मॉंग थी कि सभी आधारभूत विशेष उत्पादन-करो को आवटित कोष मे रखा जाए तथा राज्यों का विभाज्य कोष से भाग 20% से बढाकर कम से कम 33 33% कर दिया जाए। आयोग ने इस ढॉंचे में कोई परिवर्तन नहीं किया और राज्यों की मॉंग अस्वीकृत कर दी लेकिन इसमें आय के

वितरण के आधार मे परिवर्तन किया जिससे राज्यो का पिछड़ापन दूर किया जा सके । विशेष उत्पादन-करो को विभाज्य कोष मे सम्मिलित कर लिया गया । राज्यो के भाग का 25% पिछड़ेपन के आधार पर आवंटित किया गया शेष 75% जनसंख्या के आधार पर बाँटा गया ।

अतिरिक्त उत्पादन-करो का आवटन *(Allocation of Additional Excise Duties)*

राज्य स्तर पर बिक्री-कर के स्थान पर 1957 से कुछ चयनित वस्तुओ पर केन्द्र उत्पादन-कर लगाता था । यह राशि आयोग द्वारा निर्धारित आधार पर राज्यो मे बाँटी जाती थी । इस राशि के आवटन को लेकर पांचवे आयोग के निर्णय पर कई राज्यो ने अप्रसन्नता व्यक्त की थी क्योकि उनका मत था कि केन्द्र सरकार अतिरिक्त उत्पादन करो की दर को स्थिर रखे हुए है और केवल केन्द्रीय उत्पादन शुल्को की दरो मे ही वृद्धि कर रही है । वस्त्र (Textile) शक्कर और तम्बाकू पर जहाँ उत्पादन शुल्क मे 1958 59 से 1967 68 के मध्य 70% वृद्धि की गई थी वहाँ इन पर लगे अतिरिक्त उत्पादन शुल्को मे वृद्धि सिर्फ 45% की थी अत छठे वित्त आयोग ने मत व्यक्त किया कि अतिरिक्त उत्पादन-करो के स्थान पर राज्यो को पुन बिक्री-कर लगाने का अधिकार दे दिया जाए । आयोग ने केन्द्र सरकार को सलाह दी कि वह इस सम्बन्ध में यथासम्भव शीघ्र राज्य सरकारो से विचार-विमर्श करे और तब इस प्रश्न पर पुन निर्णय ले कि इन अतिरिक्त उत्पादन-करो को जारी रखना उचित है अथवा नही ।

जब तक वर्तमान व्यवस्था चलती रहे वित्त आयोग ने राशि आवटन के आधार मे परिवर्तन कर दिए । कुल वितरण का 70% जनसख्या के आधार पर वितरित करने का निश्चय किया गया ।

रेलवे खाते का अनुदान (Grants on Railways Account)

इस मद के नाम पर राज्य सरकारो को वित्त आयोग अनुदान देता है । चौथे वित्त आयोग ने इस मद पर राज्यो को 16 50 करोड रुपये का अनुदान उपलब्ध करवाया । पॉचवे आयोग ने यह राशि बढाकर 50 करोड रुपये कर दी । छठे आयोग ने इस मद पर सिर्फ 16 25 करोड रुपये की राशि रखी जो 1972 73 के कर-सग्रहण का आधे से कम थी और यह राशि 1976 77 के सम्भावित कर-सग्रहण (55 58 करोड रुपये) से बहुत कम थी ।

अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत अनुदान (Grants in aid under Article 275)

सविधान के अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत अनुदान का निर्धारण करना वित्त आयोगो का एक महत्त्वपूर्ण काम रहा है । पॉचवे वित्त आयोग द्वारा निर्धारित ढाँचे मे कुछ राज्यो जैसे—बिहार गुजरात हरियाणा मध्य प्रदेश महाराष्ट्र पजाब और उत्तर प्रदेश को कोई अनुदान प्राप्त नहीं हुआ था क्योकि उनके बजट आधिक्य बजट थे । आयोग ने घाटे के बजट वाले राज्यो को 637 85 करोड रुपये के अनुदान दिये थे । अनुदान न पाने वाले राज्यो मे काफी असन्तोष फैला और उन्होने इसे मितव्ययता और अधिक साधन सग्रहण का दण्ड माना । छठे वित्त आयोग ने इस कमी को दूर करने का प्रयास किया ।

छठे आयोग का कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत था । कई नए विषय विचारार्थ सौपे गये जो पिछले आयोगो के विचार-विमर्श के बाहर थे । इस आयोग से कहा गया कि वह 1974 75 से 1978 79 के काल के लिए राज्यो की योजना से अलग (Non plan) पूँजीगत अन्तराल (Capital gap) के सजातीय और पूर्व आधार का निर्धारण करे । आयोग से यह आशा की गई थी कि वह राज्यो की ऋण स्थिति का अध्ययन करेगा और आवश्यक सुझाव देगा । आयोग से यह कहा गया कि वह प्राकृतिक विपत्तियो से निपटने के लिए राज्यो द्वारा किए जाने वाले व्ययो की नीति और प्रावधानों की विवेचना करे तथा एक राष्ट्रीय कोष की स्थापना की जाए जिसमे केन्द्र और राज्य सरकारें *अपनी-अपनी आय से अशदान करे ।*

राज्य सरकारो की ऋण-स्थिति (Debt Position of State Governments)

मार्च 1972 तक राज्य सरकारो का कुल ऋण-भार 9568 करोड रु था जो मार्च 1973 में बढकर 10,794 करोड रुपये हो गया और मार्च 1974 में बढकर 11,673 करोड रुपये हो गया ।

ऐसा अनुमान था कि 1972 73 मे राज्यो द्वारा केन्द्र को 1103 करोड रुपये का भुगतान किया गया जबकि ऋण के रुप में उन्हे 1091 करोड रुपए प्राप्त हुए । अधिकाश राज्य अतिरिक्त साधन जुटाने

में सफल नहीं हो सके और उनकी ऋणों पर निर्भरता बढ़ती गई। छठा वित्त आयोग इसी बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता के निष्कर्ष पर पहुँचा।

अकाल राहत सहायता (Famine-Relief Grant)

छठे वित्त आयोग ने अकाल सहायता के प्रश्न पर विचार किया, किन्तु इस हेतु एक राष्ट्रीय कोष स्थापित करने के विचार को अस्वीकृत कर दिया। उसमें पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान भारी अकाल राहत सहायता की सिफारिश की। वार्षिक प्रावधानों के अन्तर्गत आयोग ने 50.71 करोड़ रुपए का प्रावधान किया। सर्वाधिक अनुदान राजस्थान (10.19 करोड़ रुपये) के लिए रखा गया। बिहार के लिए 4.61 करोड़ रुपए, हरियाणा के लिए 1.4 करोड़ रुपए, हिमाचल प्रदेश के लिए 3 करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश के लिए 3.41 करोड़ रुपए, आन्ध्र प्रदेश के लिए 4.31 करोड़ रुपए, महाराष्ट्र के लिए 4.17 करोड़ रुपए, पश्चिमी बंगाल के लिए 6.61 करोड़ रुपए, तमिलनाडु के लिए 1.51 करोड़ रुपए, उड़ीसा के लिए 3.58 करोड़ रुपए और कर्नाटक के लिए 1.91 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई।

निष्कर्षतः छठे वित्त आयोग की रिपोर्ट ने कई क्षेत्रों में नए आयाम स्थापित किए।

सातवें वित्त आयोग की रिपोर्ट का सारांश

(Summary of the Report of the Seventh Finance Commission)

राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे उपराष्ट्रपति ने दिनांक 23 जून 1977 को संविधान के अनुच्छेद 280 के अनुसरण में दिए गए आदेश के द्वारा भारत के उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री जे. एम. शैलट की अध्यक्षता में सातवें वित्त आयोग का गठन किया गया। इस आयोग के अन्य चार सदस्य ये थे—

1. डॉ. राजकृष्ण — सदस्य (अंशकालिक)
   सदस्य, योजना आयोग, नई दिल्ली
2. डॉ. सी. एच. हनुमन्त राव — सदस्य (अंशकालिक)
   निदेशक, आर्थिक विकास संस्थान, दिल्ली
3. श्री एच. एन. रे — सदस्य (अंशकालिक)
   वित्त सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली
4. श्री वी. वी. ईश्वरन् — सदस्य (सचिव)
   वित्त मन्त्रालय, आर्थिक कार्य विभाग में विशेष कार्याधिकारी नई दिल्ली।

वित्त आयोग के साथ योजना आयोग का एक सदस्य रखा गया जिससे दोनों आयोगों के बीच समन्वय रखने में सुविधा हो। संविधान के अनुच्छेद 260 (3) खण्ड (ख-6) और (ख) के अन्तर्गत आयोग को निम्नलिखित विषयों में राष्ट्रपति को सिफारिशें प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया—

(क) संघ और राज्यों के बीच, परस्पर राज्यों के बीच उन केन्द्रीय करों, जैसे—आयकर (निगम-कर ख से भिन्न) और संघ उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली निबल राशियों का बँटवारा कार्य तथा

(ख) वे सिद्धान्त जिनके आधार पर भारत की समेकित निधि से राज्यों को राजस्व के सहायक अनुदान दिए जाने चाहिए।

आयोग जरूरतमन्द राज्यों को, संविधान के अनुच्छेद 275 (1) के मूल उपबन्ध के अनुसरण में उनके राजस्वों के सहायक अनुदानों के रूप में दिए जाने वाली धनराशियों को निर्धारित करना और सिफारिश करना था। आयोग केन्द्रीय सरकार के साधनों और राज्यों की आयोजनाओं के वित्त पोषण के लिए केन्द्रीय सहायता के निर्धारण और वितरण की वर्तमान पद्धति का ध्यान रखेगा। उसके अलावा आयोग प्रशासन-व्यय और अन्य आयोजना भिन्न वचनबद्धताओं को पूरा करने के लिए, राज्यों की राजस्व खाते से सम्बन्धित जो आवश्यकताएँ है उनका राष्ट्रीय नीतियों और प्राथमिकताओं को दृष्टि में रखते हुए ध्यान रखेगा।

सातवें वित्त आयोग ने अपने 260 पृष्ठों के प्रतिवेदन में जो सिफारिशें पेश कीं उन सभी को केन्द्र सरकार ने स्वीकार कर लिया। ये सिफारिशें एक अप्रेल, 1979 से लागू हुईं। सातवें वित्त आयोग की सिफारिशों का सारांश अग्र प्रकार है—

(क) केन्द्रीय करो और शुल्को मे हिस्से

1. आय कर—(1) प्रत्येक वित्तीय वर्ष में आय पर करो की निबल प्राप्तियो मे से 2 19 प्रतिशत के बराबर की राशि सघ-राज्य क्षेत्रों से प्राप्तियों की द्योतक समझी जानी चाहिए

(2) सघ-राज्य क्षेत्रों से सम्बन्धित प्राप्तियो के द्योतक अश को छोड़कर आय पर करो की निबल प्राप्तियों का राज्यो को सौपा जाने वाला प्रतिशत 85 होना चाहिए और

(3) प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे राज्यों को सौपे गए हिस्से का राज्यो के बीच वितरण सही प्रतिशत के आधार पर किया जाना चाहिए।

2. सघ उत्पाद शुल्क—(1) योजना अवधि के प्रत्येक वर्ष में किसी राज्य में बिजली उत्पादन पर सगृहीत सघ उत्पाद शुल्क की सम्पूर्ण निबल प्राप्तियो के बराबर की राशि उस राज्य को भारत की समेकित निधि से अदा करनी चाहिए और

(2) प्रत्येक वर्ष मे अन्य सभी वस्तुओं पर लगाए गए और वसूल किए गए सघ उत्पाद-शुल्कों की शेष निबल प्राप्तियो को जिनमें विशेष अधिनियमों के अन्तर्गत लगाए गए तथा विशिष्ट प्रयोजनो के लिए अलग रखे गए उपकरो की राशि शामिल नहीं होगी 30 प्रतिशत भाग भारत की समेकित निधि से राज्यो को अदा किया जाना चाहिए।

3 अतिरिक्त उत्पाद शुल्क—(1) अतिरिक्त उत्पाद शुल्कों की निबल प्राप्तियो मे से राज्यो के लिए कोई सुनिश्चित (गारण्टिड) राशियाँ अलग रखने की आवश्यकता नहीं है क्योकि आयोग के विचार से जिन वस्तुओ पर बिक्री कर के बदले मे अतिरिक्त उत्पाद शुल्क लगाया गया है उन पर बिक्री-कर लगाए जाने से किसी राज्य की राजस्व वसूली की रकम से उस राज्य का हिस्सा कम होने का कोई खतरा नहीं था।

(2) सिक्किम को इन शुल्को की निबल प्राप्तियों में से हिस्सा मिलना चाहिए सिवाय उन वस्त्रो के शुल्को के जिन पर राज्य बिक्री-कर लगाता है।

(3) प्रत्येक वर्ष चीनी पर अतिरिक्त उत्पाद शुल्क की निबल प्राप्तियो के 3 271 प्रतिशत के बराबर राशि को सघ राज्य क्षेत्रो को देने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा अपने पास रख लेना चाहिए।

(4) 1979 80 से 1983 84 के वर्षों मे प्रत्येक वर्ष वस्त्रो और तम्बाकू पर अतिरिक्त शुल्को की निबल प्राप्तियो के 2 192 प्रतिशत के बराबर राशि को सघ राज्य क्षेत्रो सें सम्बन्धित मानकर केन्द्रीय सरकार द्वारा अपने पास रखा जाना चाहिए।

(5) वस्त्र और तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्को की ऐसी निबल प्राप्तियो की बकाया 97 808 प्रतिशत राशि को रा[illegible]न बॉट दिया जाना चाहिए।

(6) किसी वर्ष जब सिक्किम की राज्य सरकार वस्त्रो पर बिक्री-कर को समाप्त कर देगी तो वह इस पर अतिरिक्त उत्पाद शुल्को की निबल प्राप्तियो मे से बिक्री-कर को समाप्त करने की तारीख से अपने हिस्से की हकदार हो जाएगी।

4 रेल यात्री किराए पर कर के बदले मे अनुदान—रेल यात्री किराया-कर अधिनियम 1957 के अन्तर्गत कर के बदले राज्यो को पॉच वर्षो मे प्रत्येक वर्ष दिया जाने वाला अनुदान राज्यो मे वितरित किया जाना चाहिए।

5 सम्पदा शुल्क—(1) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति मे सम्पदा शुल्क की निबल प्राप्तियों में से प्रत्येक वर्ष सघ राज्य क्षेत्रो को देय राशि का निर्धारण उन्हीं सिद्धान्तो के अनुसार किया जाना चाहिए जो प्रत्येक राज्य के हिस्सो का निर्धारण करने के लिए अपनाए गए हैं। इस प्रयोजन के लिए सघ राज्य क्षेत्रो को एकक माना जाए।

(2) प्रत्येक वर्ष मे सम्पदा शुल्क की निबल प्राप्तियो की शेष राशि को प्रत्येक राज्य मे स्थित अचल सम्पत्ति और अचल सम्पत्ति से भिन्न सम्पत्ति को इकट्ठा लेकर और उसका मूल्याकन कर निकाले गए सकल मूल्य के अनुपात मे राज्यों मे वितरित किया जाना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए राज्य के बाहर स्थित सम्पत्ति को उसी राज्य मे स्थित सम्पत्ति माना जाना चाहिए जहाँ उसका मूल्याकन किया गया है।

(3) योजना अवधि के दौरान जब सिक्किम राज्य मे शुल्क लगा दिया जाएगा उस तारीख से वह राज्य इस शुल्क की निबल प्राप्तियो के हिस्से का हकदार हो जाएगा और उसका हिसाब उसी प्रकार लगाया जाएगा जिस प्रकार अन्य राज्यों के लिए लगाया गया है।

6. कृषि-सम्पत्ति पर धन-कर के लेखे अनुदान—योजना अवधि के वर्षों मे प्रत्येक वर्ष मे राज्यो को दी जाने वाली अनुदान की रकम प्रत्येक वर्ष राज्य मे सगृहीत निबल राशि के बराबर होनी चाहिए। इस अवधि के दौरान जब सिक्किम मे धन-कर लगा दिया गया उसी आधार पर उसे प्रत्येक वर्ष इस अनुदान का हकदार बनाया गया।

(ख) सविधान के अनुच्छेद 275 के अधीन सहायता अनुदान

राजस्व खाते के आयोजना भिन्न अन्तर को पूरा करने के लिए सहायता अनुदान—सविधान के अनुच्छेद 275 के खण्ड (2) के मुख्य भाग के अन्तर्गत स्वीकृत की गई।

2. प्रशासन के स्तरो को ऊँचा उठाने के लिए अनुदान—आयोग ने सिफारिश की कि जिन राज्यों के आयोजना-भिन्न राजस्व खाते मे केन्द्रीय करों और शुल्को के अन्तरणन के बिना घाटे रहेंगे उन्हें निम्नलिखित विकास-भिन्न सेवाओं मे प्रशासन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सविधान के अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत सहायता अनुदान दिया जाए—

1 न्यायिक प्रशासन 2 राजस्व जिला और जनजाति प्रशासन 3 पुलिस प्रशासन 4 जेल प्रशासन 5 स्टाम्प पजीयन और खजाना प्रशासन।

(ग) अन्य विचारणीय विषयो पर सिफारिशे

1. राहत-व्यय का वित्त पोषण—राहत-व्यय के वित्त पोषण की वर्तमान नीति और प्रबन्धो के सम्बन्ध मे की गई समीक्षा तथा दैवी विपदाओ के बाद नि शुल्क राहत देने और लोक परिसम्पत्तियो को पहले की स्थिति मे लाने के लि किए जान वाले निर्माण कार्यों पर राज्य सरकारो द्वारा किए गए व्यय पर विचार करने के बाद आयोग ने विभिन्न राज्यो के लिए वार्षिक व्यवस्थाओ (मार्जिन) की सिफारिश की थी।

आयोग के विचार मे राहत व्यय के लिए दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता की वर्तमान नीति और प्रबन्धो मे सशोधन किया जाना चाहिए। सूखे की स्थिति मे राहत व्यय के लिए जो व्यवस्था है उससे अधिक होने वाले व्यय के लिए राज्य सरकार को राहत सम्बन्धी रोजगार की व्यवस्था करने के लिए अपनी आयोजना से अशदान देना चाहिए। केन्द्रीय दल को राज्य सरकार के साथ सलाह करके यह मूल्याकन करना चाहिए कि राज्य सरकार को किस सीमा तक अशदान दिया जाए और यह अशदान केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित होना चाहिए। यह वार्षिक आयोजना परिव्यय के पाँच प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिए। राज्य सरकार द्वारा दिए गए इस आयोजना-अशदान को उस वर्ष मे हुए आयोजना-परिव्यय के अतिरिक्त माना जाना चाहिए और वर्तमान योजना के अन्तर्गत दी जाने वाली अग्रिम आयोजना-सहायता मे उसे शुमार किया जाना चाहिए। राज्य की आयोजना के लिए दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता की अधिकतम सीमा के सन्दर्भ मे अग्रिम आयोजना सहायता का समायोजन सूखे की स्थिति की समाप्ति के बाद से शुरू करके पाँच वर्षों के अन्दर किया जाना चाहिए। यदि किसी विशेष मामले मे केन्द्रीय दलो और उच्चस्तरीय समिति द्वारा मूल्याकित व्यय की आवश्यकता को राज्य के आयोजना-अशदान को हिसाब मे लेने के बाद सन्तोषजनक रूप से पूरा नहीं किया जा सकता ऐसी स्थिति मे अतिरिक्त व्यय से यह सकेत लेना चाहिए कि यह विपदा की विशेष भयकरता के कारण हुआ है। बाढ बवण्डर और अन्य दैवी विपदाओ के बाद राहत-कार्यों तथा लोक-निर्माण कार्यों की मरम्मत और उन्हे पहले जैसा बनाने के लिए किए जाने वाले व्यय के सम्बन्ध में केन्द्रीय सहायता आयोजना भिन्न अनुदान के रूप मे उपलब्ध की जानी चाहिए जो निर्धारित मार्जिन के अतिरिक्त हुए कुल व्यय के 75 प्रतिशत तक राज्य की आयोजना तथा राज्य को आयोजना के लिए दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता के सन्दर्भ मे समायोजन न हो। जहाँ विपदा असाधारण किस्म की हो वहाँ केन्द्रीय सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्बन्धित राज्यो को आयोग द्वारा सुझायी गई योजना से बाहर सहायता दे।

2. ऋण राहत—आयोग ने 1983 84 को समाप्त होने वाले पाँच वर्षों मे राज्यो के आयोजना-भिन्न पूँजीगत अन्तर (गैप) को एक-समान तथा तुलनीय आधार पर ऑका। इस अनुमान के लिए आयोग ने जो पद्धति अपनाई उसे दृष्टि मे रखते हुए आयोग ने राज्यो की कर्ज की स्थिति को देखते हुए और 1978 79 के अन्त तक बकाया रहन की सम्भावना वाले केन्द्रीय ऋणो के विशेष सन्दर्भ मे सामान्य समीक्षा की तथा राज्यों द्वारा केन्द्रीय ऋणो की वापसी अदायगी के मामले मे राहत दिए जाने की सिफारिश की।

सातवे वित्त आयोग की रिपोर्ट का मूल्याकन

सातवें वित्त आयोग ने पाँच वर्षों (1979 84) के दौरान राज्यो को केन्द्र से कुल 20,842 97 करोड रुपये के हस्तान्तरण की सिफारिश कर एक साहसिक कदम उठाया। इन सिफारिशो के आधार पर राज्यो को केन्द्र से मिलने वाली राशि के बाद अधिकतर राज्यो के पास अपने नए विकास कार्यों के लिए राजस्व खाते मे पर्याप्त धन मिला क्योकि आयोग ने छठी पचवर्षीय योजना के दौरान केन्द्रीय कोष से राज्यों को मिलने वाली धनराशि डेढ गुना कर दी।

भारत मे केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध एवं आठवाँ वित्त आयोग

भारत मे केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धो के प्रश्न पर काफी विवाद पाया गया है। राज्य सरकारो पर योजना क सचालन की अधिक जिम्मेदारी रहती है लेकिन इसके अनुरूप काम करने के लिए उनके पास वित्तीय साधनो का अभाव पाया जाता है। इसलिए राज्यो मे विभिन्न दलो की सरकारो के सत्ता मे आने से वे अधिक वित्तीय स्वायत्तता (Financial Autonomy) की माँग करने लगते है। योजना के लिए वित्तीय साधनो के वितरण का कोई सूत्र सभी राज्यो को स्वीकार नहीं हो सकता क्योकि कुछ राज्य गरीब है और कुछ गरीब नही है। अत जनता शासन-काल मे गाडगिल फार्मूला कुछ सशोधन सहित जारी रखा गया। अगस्त 1980 मे कॉंग्रेस (इ) सरकार ने भी गाडगिल फार्मूला जारी रखा लेकिन निर्धन व पिछडे राज्यो को लाभ पहुँचाने के लिए सिचाई व विद्युत परियोजनाओ का 10 प्रतिशत भार समाप्त करके प्रति व्यक्ति आय के भार को 10 प्रतिशत से बढाकर दुगुना अर्थात् 20 प्रतिशत कर दिया गया।

केन्द्र व राज्यो मे अलग अलग राजनीतिक दलो की सरकारो के सत्तारुढ होने पर केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धी विवाद नया रूप धारण कर लेता है। राज्य अधिक वित्तीय साधन व अधिक वित्तीय स्वायत्तता चाहने लगते है। पश्चिमी बगाल के वित्त योजना व विकास मन्त्री श्री अशोक मित्र ने केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धो पर विचार प्रकट करते हुए कहा है कि केन्द्र के हाथो मे आर्थिक साधनो का केन्द्रीयकरण हो गया है राज्यो के लिये स्वतन्त्र रूप से साधन जुटाने का क्षेत्र सीमित है राज्यो को केन्द्र के पास वित्तीय सा के लिए जाना पडता है और जब राज्यो मे सरकारे केन्द्रीय सरकार से भिन्न विचारधारा वाले दल की होती है तो उन्हे योजना-हस्तान्तरणो की राशि कम मिल पाती है केन्द्र के पास अधिक साधन होने से उसका रुख तानाशाही का बन जाता है आय कर पर सरचार्ज की राशि राज्यो मे वितरित नही की जाती एव उनकी राय मे वस्त्र तम्बाकू व तम्बाकू की वस्तुओ तथा चीनी पर बिक्री कर का अधिभार राज्यो को मिलना चाहिए।

राष्ट्रपति ने 20 जून 1982 को श्री वाई वी चव्हाण की अध्यक्षता मे आठवाँ वित्त आयोग गठित किया था। इसके सदस्य इस प्रकार थे—श्री टी पी एस चावला डॉ सी एच हनुमन्थ राव श्री जी सी बावेजा तथा श्री ए आर शिराली श्री एन वी कृष्णन आयोग के सचिव रहे। आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट (Final Report) 30 अप्रैल 1984 को पेश की। सरकार ने रिपोर्ट पर अपने निर्णयो की घोषणा 24 जुलाई 1984 को ससद मे की। चूँकि 1984 85 के बजट पहले ही बन चुके थे इसलिए आयोग ने अपनी सिफारिशे 1985 86 के लिए लागू की जिसे लेकर देश मे काफी प्रतिक्रिया हुई। राज्यो का कहना था कि इससे उनको प्राप्त होने वाली राशि मे कमी हो गई क्योकि यदि आयोग की सिफारिशे 1984 85 की अवधि के लिए लागू की जाती तो उनके हिस्से मे ज्यादा धनराशि आती।

इस आयोग को केन्द्र व राज्यो के बीच करो की विशुद्ध प्राप्तियो के वितरण के प्रतिशत व आधार अनुदान सहायता (Grants in aid) के सिद्धान्त व राशि निर्धारण सम्पदा-शुल्क के वितरण वस्त्र चीनी व तम्बाकू पर लगे अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के वितरण रेल यात्री किराए की एवज में अनुदान की

राशि के वितरण तथा कृषिगत जायदाद पर धन-कर की एवज मे अनुदान के अलावा निम्न विषयों पर सिफारिशें करने के लिए कहा गया था—

1. आयोग को सविधान की धारा 269 के अन्तर्गत शामिल करों व शुल्को से राजस्व प्राप्त करने की सम्भावनाओं का पता लगाने का कार्य सौपा गया था जो अभी तक नहीं लगाए गए है। इसमे अखबारों में विज्ञापन पर कर, अखबारो पर कर, इनामी प्रतियोगिता पर कर, आदि शामिल है। धारा 268 में वर्णित शुल्को से राजस्व बढाने का मुद्दा शामिल था।

2. वित्त आयोग को गैर-योजना पूँजी-अन्तर (Non-plan Capital Gap) का निर्धारण करने व इसे दूर करने के उपाय सुझाने का कार्य सौंपा गया।

3 इसे प्राकृतिक विपदाओ से ग्रस्त राज्यो के राहत सहायता कार्यों पर व्यय की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। आयोग को अपनी रिपोर्ट 31 अक्तूबर, 1983 तक प्रस्तुत करनी थी लेकिन वह 30 अप्रेल, 1984 को ही अपनी रिपोर्ट पेश कर पाया।

आठवें वित्त आयोग की अन्तरिम रिपोर्ट (Interim Report) मे 1984-85 की अवधि के लिए 9 राज्यो को 494 83 करोड रुपये के सहायतार्थ-अनुदान (Grants-in aid) की व्यवस्था घाटे की पूर्ति के लिए की गई थी। अन्तिम रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार है—

1. **आय-कर**—आय कर की विशुद्ध प्राप्तियो मे 1 792 प्रतिशत अश सघीय प्रदेशो का माना जाएगा और शेष 85 प्रतिशत राज्यो मे वितरित किया जाएगा।

2. **संघीय उत्पादन शुल्क**—आठवे वित्त आयोग ने सघीय उत्पादन शुल्को की शुद्ध प्राप्तियो का 45 प्रतिशत अश राज्यो मे बॉटने की सिफारिश की है।

शेष 5 प्रतिशत राशि का वितरण घाटे के राज्यो में किया जाएगा। इसके लिए 1984 85 के लिए 11 राज्य इस प्रकार रखे गये है—असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर मणिपुर मेघालय नागालैण्ड उडीसा, राजस्थान, सिक्किम, त्रिपुरा व पश्चिम बगाल। सघीय उत्पादन शुल्को से प्राप्त राशियो के 5 प्रतिशत का घाटे के राज्यों मे वितरण एक नया कदम है जिससे कुछ घाटे के राज्यो को लाभ होगा।

3. **सहायतार्थ अनुदान** (Grants-in-aid)—उपर्युक्त सूची के 11 राज्यों के लिए 1984-89 के लिए 2200 22 करोड़ रुपये के सहायतार्थ अनुदान की सिफारिश की गई। 1984-85 के लिए 644 39 करोड रुपये की व्यवस्था होने से शेष अवधि (1985-89) के लिए यह 1555 83 करोड रुपये रह जाती है।

4. **प्रशासन को समुन्नत करने तथा विशेष समस्याओ के लिए**—1984-89 की अवधि के लिए 967 33 करोड रुपये सहायतार्थ अनुदान की व्यवस्था की गई है। 1985-89 के चार वर्षों के लिए यह 808 08 करोड रुपये आती है। प्रशासन को समुन्नत करने के लिए 16 राज्यो को अनुदान मिलेगा तथा विशेष समस्याओ के लिए 10 राज्यों को मिलेगा।

5. **राहत व्यय** (Relief Expenditure)—राहत व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए विभिन्न राज्यों के लिए प्रति वर्ष 120 375 करोड रुपये के मार्जिन मनी के सहायतार्थ अनुदान की व्यवस्था की गई है। मार्जिन मनी की वार्षिक व्यवस्था 240 75 करोड रुपये की रखी गई है।

6. **वस्त्र, चीनी व तम्बाकू पर लगे अतिरिक्त उत्पादन-शुल्को की प्राप्तियो का वितरण**—इनकी शुद्ध प्राप्तियों का 2 391 प्रतिशत सघीय देशो के लिए रखने के बाद शेष राशि विभिन्न राज्यो मे बॉटी जाएगी।

7. **रेल किरायो पर कर की एवज मे अनुदान**—इसके लिए प्रति वर्ष अनुदान की राशि 95 करोड़ रुपए कर दी गई है। यह 1984-89 के लिए उपलब्ध की गई है।

8. **गैर-योजना पूँजी-अन्तर** (Non-plan Capital Gap) **के लिए उपाय**—इस सम्बन्ध मे वित्त आयोग की सिफारिशे निम्नांकित है—

(अ) ऋण-राहत के लिए गैर-योजना अन्तर का अनुमान ओवरड्राफ्ट कर्जों के पुनर्भुगतान को टालकर लगाया गया है।

(ब) 1982-83 व 1983-84 के वर्षों मे राज्यो को दिए गए ओवरड्राफ्ट कर्जों के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की राहत की सिफारिश नहीं की गई।

(स) अल्प-बचत कर्जों के पुनर्भुगतान मे किसी प्रकार की राहत की सिफारिश नहीं की गई है। केवल इसके लिए 1984-85 मे कोई पुनर्भुगतान नहीं किया जाएगा।

(द) विस्थापित व्यक्तियों को फिर से बसाने व राहत देने सम्बन्धी कर्जों को समाप्त माना जाये।

(य) 1984-89 के वर्षों के लिए राज्यों को अनुमानित राहत की राशि 405 20 करोड़ रुपये के पुनर्भुगतानो को समाप्त करने (Writ off) सहित 2,285 39 करोड रुपये रखी गई है।

9 आयोग का मत है कि सविधान की धारा 268 के तहत कुछ दशाओ मे स्टाम्प शुल्को की दरो मे वृद्धि की गुजाइश है लेकिन दवा व टॉयलेट की वस्तुओ मे रेवेन्यू बढाने की गुजाइश नहीं है। धारा 269 के तहत अखबारो व पत्रिकाओ मे दिए गए विज्ञापनो पर कर लगा कर रेवेन्यू प्राप्त करने की सम्भावना है।

वित्त आयोग की सिफारिशो पर सरकारी निर्णय की समीक्षा

आठवे वित्त आयोग की सिफारिशो को 1985-86 से लागू किया गया है जिससे कुछ राज्य सरकारों ने गम्भीर आपत्ति उठाई। इससे घाटे के राज्यो को कम धनराशि मिल पाएगी। यदि 1984-85 से सिफारिशे लागू की जातीं तो उन्हे ज्यादा धनराशि मिलती।

पश्चिमी बगाल के वित्त मन्त्री श्री अशोक मित्र का कहना था कि केन्द्रीय सरकारो द्वारा आयोग की सिफारिशो को 1984 85 से लागू न करने से राज्य को इस वर्ष 300 करोड रुपए कम मिलेगे जो 1984-85 की वार्षिक योजना मे प्रस्तावित व्यय का 15 प्रतिशत अश है। राजस्थान सरकार के वित्त मन्त्री का कहना था कि राज्य को 1984-85 की अवधि मे 45 करोड रु की राशि से वचित कर दिया गया। राजस्थान की छठी योजना मे व्यय का लक्ष्य 2025 करोड रुपए का था, जो बदलती हुई परिस्थितियों मे घटकर 1729 करोड रुपए रह गया। इससे राज्य के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पडा।

सविधान के अनुसार आयोग की सिफारिशो को 1984-89 की अवधि के लिए लागू किया जाना चाहिए था। अब पूरक अनुमानो के जरिए घाटे के राज्यो की क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए, जो न्यायोचित मानी जाएगी।

आठवे वित्त आयोग ने केन्द्रीय सरकार की कुल राजस्व खाते की आय का 23 5 प्रतिशत राज्यों की तरफ हस्तान्तरित किया। जबकि पिछले तीन वित्त आयोगो ने कुल केन्द्रीय राजस्व का 26 प्रतिशत या अधिक अश आवटित किया था।

कुछ लोगो का मत है कि आठवे वित्त आयोग की सिफारिशे पिछले आयोगो की तुलना मे कम उदार रही। इस सम्बन्ध मे यह कहना उचित होगा कि स्वय केन्द्र की वित्तीय स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इस आयोग ने 38,500 करोड रुपए के हस्तान्तरणो की व्यवस्था की है जो सातवे वित्त आयोग से 17,500 करोड रुपए अधिक रही।

योजना आवंटन के लिए गाडगिल या एन. डी. सी. फार्मूला फार प्लान अलोकेशन
(N. D. C. Formula for Plan Allocation)

विभिन्न राज्यो के बीच क्षेत्रीय असन्तुलन मे सुधार लाने हेतु केन्द्रीय सरकार ने राज्यो को आर्थिक सहायता देने के लिए चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे एक नया फार्मूला अपनाया इसे गाडगिल फार्मूला कहा जाता है। इस फार्मूले का रूप इस प्रकार है—

(1) राज्यो की जनसख्या के आधार पर 60 प्रतिशत सहायता राज्यो की योजनाओ के लिए दी जाती है।

(2) सम्बन्धित राज्य के पिछडेपन को ध्यान मे रखा जाता है और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय से कम प्रति व्यक्ति औसत आय वाले राज्यो को 10 प्रतिशत सहायता दी जाती है (राष्ट्रीय विकास परिषद् ने दिनाक 31, अगस्त, 1980 की बैठक मे इसे 10 प्रतिशत के स्थान पर 20 प्रतिशत कर दिया है।

(3) अतिरिक्त वित्तीय साधन जुटाने के प्रयास के आधार पर 10 प्रतिशत सहायता दी जाती है।

(4) 10 प्रतिशत राशि बडी सिचाई और बिजली योजनाओ को जारी रखने के लिए दी जाती है। यह प्रावधान 1980-81 से समाप्त कर दिया गया।

(5) 10 प्रतिशत राशि राज्यो की विशेष समस्याओ के लिए दी जाती है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में सूखा क्षेत्र रेगिस्तान क्षेत्र आदिवासी क्षेत्र पहाड़ी क्षेत्र और बड़े शहरी क्षेत्रों से सम्बन्धित समस्याओं को विशेष समस्या माना गया था। पांचवी पंचवर्षीय योजना काल में केवल रेगिस्तान क्षेत्र की समस्याओं को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों की समस्याओं को हल करने के लिए केन्द्रीय शासन द्वारा राज्य की योजनाओं के बाहर केन्द्रीय क्षेत्र में विशेष योजनाएं लागू की गईं और उनके लिए सहायता दी गई। पंचम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम प्रारूप पर चर्चा करते समय कई मुख्य मन्त्रियों ने इस फार्मूले में संशोधन की आवश्यकता पर जोर दिया परन्तु योजना आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष श्री हक्सर ने सुझावों के परीक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित की और कहा कि अगले दो वर्षों तक इसी फार्मूले के अनुसार सहायता दी जानी चाहिए।

नवे वित्त आयोग (वर्ष 1989 90 के लिए) प्रथम रिपोर्ट और केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध

भारत के राष्ट्रपति ने 17 जून 1987 को भारतीय संविधान की धारा 280 के तहत नवे वित्त आयोग की स्थापना की जिसमें संसद सदस्य श्री एन के पी साल्वे अध्यक्ष थे। नवे वित्त आयोग के चार अन्य सदस्य न्यायमूर्ति श्री अब्दुल सत्तार कुरैशी डॉ राजा जे चेलैया श्री लालथनहवाला एवं श्री महेश प्रसाद थे। देश की राजकोषीय स्थिति के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न निष्कर्ष निकाले--

(अ) केन्द्रीय सरकार की राजस्व आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(ब) लेकिन केन्द्रीय सरकार के राजस्व व्यय में भी तेजी से वृद्धि हुई है। केन्द्रीय सरकार का व्यय और अनुदानों के अनुपात में यह काफी वृद्धि है।

(स) केन्द्रीय राजस्व के अनुपात में राज्यों के राजस्व में उतनी वृद्धि नहीं हुई।

(द) राज्यों के राजस्व व्यय में राज्यों की राजस्व आय की तुलना में तेजी से वृद्धि हुई जबकि केन्द्रीय राजस्व इतनी तेजी से नहीं बढ़ा है।

नवें वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि आय कर की संगृहीत राशि का 90 प्रतिशत तथा संघीय उत्पाद शुल्क की राशि का 40 प्रतिशत राज्यों में आयोग की सिफारिशों के अनुसार विभाजित किया जावे। इस सन्दर्भ में आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं—

(अ) 25 प्रतिशत भाग का वितरण राज्य की 1971 की जनसंख्या के आधार पर किया जायेगा।

(ब) 50 प्रतिशत भाग का वितरण राज्य के प्रति व्यक्ति आय एवं राज्य की 1971 की जनसंख्या के आधार पर होगा। आयोग ने पंजाब को अधिकतम प्रति व्यक्ति आय का राज्य माना है। पंजाब के हिस्से के निर्धारण के लिए महाराष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय से पंजाब की प्रति व्यक्ति आय की दूरी के आधार पर निकाला जायेगा।

(स) 12 5 प्रतिशत भाग का वितरण राज्य की प्रति व्यक्ति आय का इन्वर्स गुणा राज्य की 1971 की जनसंख्या के आधार पर होगा।

(द) 12 5 प्रतिशत भाग का निर्धारण 1983 84 के योजना आयोग के अनुमानों के अनुसार राज्य में गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों का कुल गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों के अनुपात के आधार पर होगा।

प्रथम रिपोर्ट में इन सिफारिशों के आधार पर चर्चा की गयी। राज्य की प्रति व्यक्ति आय के निर्धारण के लिए राज्य की 1982 83 से 1984 85 के उत्पादन के आकड़ों को आधार बनाया गया। आँकड़ों के अनुसार गोआ अधिकतम प्रति व्यक्ति आय वाला राज्य है परन्तु गोआ प्रतिनिधि राज्य न माना जाकर पंजाब को प्रतिनिधि राज्य माना गया है। पंजाब गोआ के बाद प्रति व्यक्ति आय में दूसरे स्थान पर आता है। अत सभी राज्यों की प्रतिव्यक्ति आय की पंजाब की प्रतिव्यक्ति आय से दूरी निकाली गयी। तीसरे स्थान पर महाराष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय है। अत पंजाब के हिस्से का निर्धारण करने के लिए महाराष्ट्र की प्रतिव्यक्ति आय को आधार माना गया है।

संघीय उत्पाद शुल्क की कुल राशि का 2 023 प्रतिशत केन्द्र अपने पास रखेगा तथा शेष विभिन्न राज्यों में वितरित होगा।

दसवॉं वित्त आयोग
(Tenth Finance Commission)

श्री के. सी पत की अध्यक्षता मे महामहिम राष्ट्रपति ने दसवे वित्त आयोग का गठन किया जिसका कार्यकाल 1 अप्रेल 1995 से 5 वर्षों का है। इस आयोग के अन्य सदस्य—डॉ डी पी. पाल, डॉ सी रगराजन श्री बी पी आर विट्ठल एव श्री एम. सी गुप्ता (सदस्य सचिव) है।

आयोग को निम्न विषयो पर कार्य करने को कहा गया—

(1) केन्द्र एव राज्यो के मध्य राजस्व का बॅटवारा निर्धारण करना एव विभिन्न राज्यो के मध्य इसको विभाजित करना।

(2) राज्यो को दिए जाने वाले केन्द्रीय अनुदानो हेतु नीति निर्देश निर्धारण करना।

(3) राज्यो के ऋणो के मामले मे सुझाव देना।

(4) अतिरिक्त निवेश हेतु राजस्व एव वित्तीय घाटे मे कमी की आवश्यकता पर ध्यान देना एव वित्तीय सतुलन को बनाना।

(5) राज्यों के द्वारा राजस्व मे वृद्धि के प्रयासो का निरीक्षण करना एव सुझाव देना।

दसवे वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशे—आयोग ने र या ‹ लिए आयकर प्राप्ति का 85% हिस्सा निर्धारित किया। आयोग ने केन्द्रीय उत्पादन शुल्क का 40% हिस्सा राज्यो के लिए निर्धारित किया। अतिरिक्त आबकारी कर के लिए आयोग ने 1 8% राशि केन्द्रशासित प्रदेशो के लिए एव शेष राज्य सरकारो मे विभाजित करने का सुझाव दसवे वित्त आयोग ने दिया। मृत्युकर की वितरण व्यवस्था का आधार शुद्ध आय वसूली को माना एव इस राशि को राज्यो के मध्य विभाजित करने का सुझाव दिया। रेलवे यात्री भाडे पर कर के बदले मे राज्य सरकारो को 180 करोड रुपये वार्षिक देने की सिफारिश इस आयोग ने की।

इसी प्रकार अनुदान (Grants-in aid) हेतु राज्यो की बजटीय आवश्यकताओ को ध्यान मे रखने का निर्णय आयोग ने लिया। आयोग ने व्यय का 70% भाग दिए जाने की सिफारिश की।

निष्कर्ष रूप मे दसवे वित्त आयोग की सिफारिशे मूल रूप से दो तत्त्वो से प्रभावित रही है। पहला केन्द्र व राज्यो को आयोग की नोर्मेटिव एप्रोच व उसके प्रभावो के समायोजन के लिए पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए। दूसरे वित्तीय मान्यताओ जिन पर पचवर्षीय योजना आधारित थी उनमे भारी परिवर्तन नहीं किए जाने चाहिए। राज्यो को गत वर्षों की तुलना मे अधिक राशि का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए क्योकि कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि हुई हो रही है।

21

भारत में सार्वजनिक व्यय की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(Major Trends of Public Expenditure in India)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ एवं राज्य सरकारों के बीच कार्य-विभाजन है। संविधान की सातवीं अनुसूची की प्रथम सूची के अनुसार संघ सरकार के व्यय की मुख्य मदें ये हैं—प्रतिरक्षा एवं सशस्त्र सेनाएँ, असैनिक प्रशासन, विदेशी मामले, जहाजरानी, विमान-चालन, रेलें, डाक-तार, राष्ट्रीय सड़कें आदि। द्वितीय सूची में राज्यों के व्यय की मुख्य मदें इस प्रकार हैं—सार्वजनिक शान्ति-व्यवस्था पुलिस, स्थानीय संस्थाएँ, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सड़कें, अस्पताल (औषधालय), कृषि, सिंचाई एवं वन आदि। समवर्ती सूची है जिसमें ऐसी मदें हैं जिन पर दोनों सरकारें मिलकर काम करती हैं, जैसे—आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन, श्रम-कल्याण, सामाजिक सुरक्षा आदि।

संघ सरकार के व्यय

(Expenditure of the Union Government)

संघ अथवा केन्द्र सरकार के बजट को राजस्व और पूँजीगत बजट (Revenue and Capital Budgets) के नाम से पुकारा जाता है, उसी तरह संघ सरकार के व्यय को राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय के रूप में विभाजित किया जाता है। राजस्व व्यय (Revenue Expenditure) की पूर्ति चालू आय में से की जाती है जबकि पूँजीगत व्यय की पूर्ति पूँजीगत मदों से होने वाली प्राप्तियों में से की जाती है।

1950 में भारत के नवीन संविधान के अन्तर्गत सरकार की नीति का मुख्य उद्देश्य देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना रखा गया। इसका अर्थ था कि कल्याणकारी सेवाओं को समुचित महत्त्व देते हुए देश के पिछड़े और गरीब तबके को ऊँचा उठाकर यथाशीघ्र सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को दूर करना। स्वाधीन भारत सरकार की इस परिवर्तित नीति, विभाजन-जनित कठिनाइयों और मूल्यों में वृद्धि के कारण सरकार के ऋणों में भारी वृद्धि हुई। एक स्वतन्त्र देश होने के नाते राष्ट्रीय सरकार को कुछ नए व्यय आरम्भ करने पड़े और पुराने व्ययों में वृद्धि करनी पड़ी। देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए विकास सम्बन्धी व्ययों को प्राथमिकता देना जरूरी था। संसद् सम्बन्धी व्यय, कूटनीति सम्बन्ध और प्रतिरक्षा पर पहले की अपेक्षा अधिक व्यय करना आवश्यक हो गया। 1951 से देश में पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ हुईं। फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय के आकार में निरन्तर वृद्धि होना शुरू हो गया।

1951 से भारत में सार्वजनिक व्यय निरन्तर बढ़ रहा है। निम्न तालिका में भारत सरकार के व्यय को दर्शाया गया है—

वर्ष	कुल व्यय (करोड़ रुपयों में)
1950-51	346 46
1960-61	826 21
1970-71	3142 20
1980-81	13682 00
1990-91	64,690 00
1994-95	151,699 00
1995-96	170,734 00

भारत सरकार के पूँजीगत एव राजस्व व्यय दोनों मे वृद्धि होती रही है। राजस्व व्यय पूँजीगत व्यय के मुकाबले काफी तीव्रता से बढा है।

अब हम राजस्व व्यय और पूँजीगत व्यय को पृथक्-पृथक् विस्तार से लेगे।

(क) सघ सरकार का राजस्व व्यय (Revenue Expenditure)

सघ सरकार के राजस्व व्यय को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) प्रतिरक्षा व्यय (Defence Expenditure) तथा (ख) नागरिक या असैनिक व्यय (Revenue Expenditure)। असैनिक व्यय के पुन चार भेद है—1 असैनिक प्रशासन पर व्यय 2 ऋण-भार (Debt Services) 3 समाज एव विकास सेवाएँ तथा 4 राज्य सरकारो को दिया जाने वाला धन।

भारत सरकार के बजट में राजस्व व्यय की मदो का वितरण निम्नानुसार किया गया है—

1 सामान्य सेवाएँ (General Services)—राज्य के अग राजकोषीय सेवाएँ ब्याज अदायगियाँ प्रशासनिक सेवाएँ पेंशने और विविध सामान्य सेवाएँ तथा रक्षा सेवाएँ (निबल)।

2 सामाजिक और सामुदायिक सेवाएँ (Social and Community Services)।

3 आर्थिक सेवाएँ (Economic Services)—सामान्य आर्थिक सेवाएँ कृषि और सम्बद्ध सेवाएँ उद्योग और खनिज जल और विद्युत विकास परिवहन और सचार तथा डाक सेवाएँ (निबल)।

4 सहायता अनुदान और अशदान आदि (Grants in aid and Contributions)—राज्यो और सघ राज्य क्षेत्रो की सरकारों को सहायता अनुदान अन्य देशो को सहायता तथा स्थानीय निकायों आदि को मुआवजा और समानुदेशन।

(ख) सघ सरकार का पूँजीगत व्यय

राजस्व खाते की मदो की पूर्ति जहाँ चालू आय से की जाती है वहाँ केन्द्रीय सरकार के कुछ खर्चे पूँजीगत व्यय की श्रेणी में आते है जिनकी पूर्ति ऋणो तथा अन्य कोषो से की जाती है। पूँजीगत व्यय से सरकार की आय पर कोई भार नहीं पडता। चूँकि 1948-49 से सरकार ने पूँजीगत व्यय का कुछ भाग आय बजट से प्राप्त करना शुरू कर दिया है अत करदाताओं पर भार बढा है।

भारत की विकासोन्मुखी अर्थव्यवस्थाओं मे पूँजीगत व्यय का भारी महत्त्व है। राष्ट्रीय उत्पादन आय एव रोजगार अभिवृद्धि के लिए तथा लोगो के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए और आर्थिक विकास की आधारशिला रखने के लिए यह आवश्यक है कि बडे पैमाने की पूँजीगत परियोजनाएँ प्रारम्भ की जाएँ। ये परियोजनाएँ काफी महँगी होती हैं और उन पर पर्याप्त मात्रा मे धन व्यय करना पडता है। इसमे कुछ ऐसी प्रकृति की है कि उनकी वित्तीय व्यवस्था राजस्व बजट से की जाती है। भारत में पिछले कुछ वर्षों से पूँजीगत व्यय मे काफी वृद्धि हुई है और सरकार को विकास कार्यों को पूरा करने के लिए दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक धन की आवश्यकता पड रही है। प्रशासनिक लापरवाही और अपव्यय के कारण भी पूँजीगत व्यय में वृद्धि हुई है।

भारत मे सघ सरकार के पूँजीगत व्यय मे दो प्रकार के व्यय सम्मिलित हैं—(क) विकास सम्बन्धी व्यय एव (ख) गैर-विकास सम्बन्धी या विकासोत्तर व्यय। विकास सम्बन्धी व्यय में रेल डाक-तार नागरिक विमानचालन सिंचाई तथा बहूद्देश्यीय योजनाएँ नागरिक निर्माण कार्य तथा औद्योगिक विकास आदि मे लगाई जाने वाली लागत सम्मिलित है। भारत मे विकास कार्यों पर लगाई जाने वाली पूँजीगत लागत में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। यह व्यय देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गैर-विकास सम्बन्धी व्ययो मे बाह्य और आन्तरिक ऋणो की अदायगी सम्बन्धी व्यय राज्यो को दिये जाने वाले अग्रिम धन राजकीय व्यय मुद्रा टकसाल सुरक्षा छपाई आदि से सम्बन्धी व्यय शामिल है।

भारत सरकार के बजट मे पूजीगत व्यय मे चार प्रमुख शीर्षक है—

1 सामान्य सेवाएँ रक्षा सेवाएँ तथा अन्य सामान्य सेवाएँ।

2 सामाजिक और सामुदायिक सेवाएँ।

3 आर्थिक सेवाएँ सामान्य आर्थिक सेवाएँ कृषि और सम्बद्ध सेवाएँ उद्योग और खनिज जल और विद्युत विकास परिवहन और सचार (रेलवे और डाक-तार को छोडकर) रेलवे तथा डाक-तार।

4 उधार और अग्रिम-राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों को उधार और अग्रिम, समाज और सामुदायिक सेवाओं के लिए उधार, आर्थिक सेवाओं के लिए उधार, विदेशी सरकारों को अग्रिम तथा अन्य उधार।

भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदों का विवरण

(A Description of the Expenditure of the Government of India)

भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है—

1. प्रतिरक्षा व्यय (Defence Expenditure)—खर्च की इस सबसे बड़ी मद में सेना, नौसेना, वायुसेना तथा अप्रभावित सेना पर किए जाने वाला व्यय सम्मिलित है। 1962 के बाद से चीन और पाकिस्तान के साथ सशस्त्र संघर्षों के कारण और इन दोनों देशों द्वारा परमाणविक तैयारियों के कारण चारों ओर बढ़ते शस्त्रीकरण के कारण देश की प्रतिरक्षा तैयारियाँ बहुत तेजी से बढ़ रही है और सरकार को प्रतिवर्ष विपुल धनराशि व्यय करनी पड़ती है। इसमें सैनिकों और सैनिक अधिकारियों के वेतन, पेंशन तथा उनको दी जाने वाली अन्य सुविधाएँ आदि भी सम्मिलित होती हैं। सशस्त्र सेनाओं का निरन्तर आधुनिकीकरण करना होता है। 1921 में सुरक्षा पर कुल व्यय का 63 29 प्रतिशत व्यय किया जाता था जो 1939 में बढ़कर 82 31 प्रतिशत हो गया और 1943-44 में यह 81 1 प्रतिशत था। इस व्यय की वृद्धि का मुख्य कारण दोनों अन्तिम कालों में महायुद्धों का होना था। स्वाधीनता के उपरान्त सुरक्षा व्यय प्रतिशत के रूप में कम हुआ है।

1950-51 में भारत का प्रतिरक्षा व्यय केवल 164 करोड़ रुपए था जो बढ़कर 1962-63 (चीनी आक्रमण के कारण) में 474 करोड़ रुपये हो गया। 1970-71 में यह 1199 करोड़ रुपए था जो बढ़कर 1972-73 में 1652 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह रहा कि पाकिस्तान के साथ भारत को दो मोर्चों पर भयकर युद्ध करना पड़ा। 1975-76 में भारत का प्रतिरक्षा व्यय 2472 करोड़ रुपये से बढ़कर 1980-81 में 3867 करोड़ रुपए तक जा पहुँचा और फिर सशस्त्र सेनाओं के तेजी से आधुनिकीकरण के कारण 1989-90 में यह व्यय 13,000 करोड़ रुपये तक जा पहुँचा।

यह व्यय प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। कुल बजट का 21% भाग प्रतिरक्षा सेवाओं पर व्यय किया जाता है। 1995-96 में रक्षा व्यय 25,500 करोड़ रुपये का था। इसमें अत्यधिक वृद्धि का कारण कश्मीर की समस्या के कारण पाकिस्तान से बढ़ती रक्षा समस्या एवं हथियारों के आधुनिकीकरण की आवश्यकता है।

2. नागरिक अथवा असैनिक व्यय (Civil Expenditure)—संघ सरकार के नागरिक अथवा असैनिक व्यय के चार उपभेद किए जाते हैं—असैनिक प्रशासन का व्यय ब्याज अदायगी, समाज तथा विकास सेवाएँ और राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान।

राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के फलस्वरूप असैनिक प्रशासन के व्यय में काफी वृद्धि हुई है। केन्द्र सरकार के विभागों के विस्तार, नवीन विभागों की स्थापना, सरकारी कर्मचारियों की वेतन-वृद्धि, विश्व के सभी देशों में राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिनिधि-मण्डल को भेजने, सरकारी ऋणों पर ब्याज की अदायगी, आर्थिक सेवाओं के निरन्तर विस्तार, सामाजिक सेवाओं के प्रसार आदि के कारण संघ सरकार का असैनिक व्यय बहुत बढ़ गया है।

सरकारी ऋणों पर की जाने वाली ब्याज की अदायगी असैनिक व्यय की एक महत्त्वपूर्ण मद है। भारत सरकार एक महत्त्वपूर्ण उधारकर्ता (Borrower) बनी हुई है जो व्यक्तियों, बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं आदि से उधार लेती है और ब्याज का भुगतान करती है। चूँकि सरकारी ऋण की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है अतः ब्याज की अदायगी सरकार पर एक बोझ बन गई है।

समाज तथा विकास सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय असैनिक व्यय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण मद है। विकास व्यय का दो दृष्टियों से राष्ट्र-निर्माण की दिशा में भारी महत्त्व है—(क) शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रम, रोजगार जैसी समाज-सेवाओं पर यह व्यय होता है, (ख) आर्थिक सेवा, यथा—कृषि और सम्बद्ध सेवाएँ उद्योग, निर्यात-वृद्धि, सिंचाई एवं विद्युत, सार्वजनिक निर्माण, परिवहन एवं संचार सेवाओं आदि पर यह व्यय किया जाता है। इन सेवाओं से श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ती है

जिससे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के फलस्वरूप सरकार समाज और विकास सेवाओं की व्यवस्था मे भारी रुचि ले रही है। केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों और सघ राज्य क्षेत्रो की सरकारो को सहायता अनुदान अरौनिक व्यय मे गिने जाते है।

3. आर्थिक सेवाओं (Economic Services)—आर्थिक सेवाओं पर व्यय किया जाने वाला विकास व्यय होता है। इसमे सामान्यत कृषि और सम्बद्ध सेवाएँ उद्योग और खनिज जल एव विद्युत विकास, परिवहन तथा सचार सम्मिलित है। राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के कारण आर्थिक सेवाओं पर व्यय का निरन्तर बढते जाना स्वाभाविक है। यह व्यय समाज को समृद्धि प्रदान करता है और राष्ट्र-निर्माण मे इसका भारी योगदान है।

विकास एवं गैर-विकास व्यय

(Development and Non-Development Expenditure)

केन्द्र सरकार के व्यय को विकास एव गैर विकास व्यय मे बाँटा गया है। विकास व्यय को 4 उपभागो एव गैर विकास व्यय को 10 उपभागों मे बाँटा गया है।

भारत सरकार के विकास एव गैर विकास व्यय दोनो मे निरतर वृद्धि होती रही है। भारत मे विकास व्यय गैर विकास व्यय से सदैव ही अधिक रहा है। निरतर विकास व्यय मे सापेक्ष एव निरपेक्ष वृद्धि होती रही है। इसका प्रभाव उत्पादन रोजगार एव मुद्रास्फीति पर घटनात्मक प्रभाव पडता है। निम्न तालिका भारत मे विकास एव गैर-विकास व्यय के विकास को व्यक्त करती है—

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	1970-71	1980-81	1890-91	1994-95 (स अ)	1995-96 (ब अ)
विकास व्यय	2659	24426	105922	172827	190398
गैर-विकास व्यय	2918	12419	70626	131508	149087

भारत मे केन्द्रीय सरकार के व्यय की नवीनतम प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार है—

(1) सार्वजनिक व्यय मे निरतर वृद्धि होना।

(2) विकास व्यय मे गैर-विकास व्यय के मुकाबले अधिक सापेक्ष वृद्धि।

(3) प्रतिरक्षा व्यय मे सापेक्ष रूप से कमी एव इसमे स्थिर भावो पर निरपेक्ष रूप से कमी।

(4) ब्याज अदायगी में निरतर वृद्धि हो रही है।

(5) सब्सिडी में सरकारी प्रयासों के बावजूद वृद्धि जारी, पर 1997-98 के बजट मे इसमे कमी आई है।

राज्य सरकारों के व्यय

(Expenditures of State Govts.)

सघ सरकार की तरह राज्य सरकारो के व्यय दो भागो मे विभक्त है—राजस्व खाते के व्यय और पूँजीगत व्यय। आय और व्यय की जो मदें राज्यो को सौपी गई है सघ सरकार की मदो से बिल्कुल भिन्न हैं। सघ सरकार की आय की मदे लोचपूर्ण है और व्यय की मदे बेलोचदार। इसके विपरीत राज्य सरकारों की आय की मदे बेलोचदार जबकि खर्चे की मदे लोचपूर्ण है। राज्यो को जो कार्य सौपे गए उनमें से अधिकाश पर खर्च होता है। आय होती नहीं है या इतनी कम होती है कि वह कोई महत्त्व नहीं रखती। राज्यो पर शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने तथा राष्ट्रीय निर्माण कार्यों जैसे—शिक्षा स्वास्थ्य, सामाजिक सेवा सहकारिता आदि की व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। ये कार्य ऐसे है जो अधिक व्यय-साध्य है।

राज्यो के राजस्व व्यय को तीन भागो में विभाजित किया जाता है—(i) विकास व्यय, (ii) गैर-विकास व्यय एव (iii) क्षतिपूर्ति समर्पण—स्थानीय एव पचायती राज सस्थाओं को। राजस्व खाते के विकास व्यय (Development Expenditure) को पुन दो भागो मे विभाजित किया जाता

है—(क) सामाजिक एव सामुदायिक सेवाएँ तथा (ख) आर्थिक सेवाएँ। गैर-विकास व्यय (Non-Development Expenditure) मे—(i) राज्य के अग, (ii) राजस्व सेवाएँ, (iii) ब्याज की अदायगी, (iv) रिजर्व समायोजन, (v) प्रशासकीय सेवाएँ एव (vi) पेंशन तथा सामान्य सेवाओं पर व्यय सम्मिलित किया जाता है।

राज्यो के पूँजी खाते के व्यय को पाँच भागों में विभाजित किया जाता है—

(i) कुल पूँजी व्यय—(क) विकास व्यय एव (ख) गैर-विकास व्यय, (ii) आन्तरिक ऋण का भुगतान, (iii) केन्द्र को पूर्ण भुगतान, (iv) ऋण एव अग्रिम तथा (v) अन्य।

राज्य सरकारो का कुल व्यय केन्द्रीय सरकार के व्यय की भाँति निरन्तर बढता जा रहा है।

(क) राज्य सरकारो के राजस्व खाते के व्यय

राज्यो के राजस्व खाते के खर्चों की पूर्ति राज्यो द्वारा लगाए जाने वाले करों, केन्द्रीय करो के भाग, सरकारी उद्यमो की प्राप्तियाँ, केन्द्र सरकार से मिलने वाले सहायक अनुदानो तथा कुछ अन्य मदो द्वारा की जाती है। राज्यो का राजस्व व्यय दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—सामाजिक एव विकास सेवाओं (Social and Developmental Services) पर व्यय तथा गैर-विकास या विकासोत्तर (Non Developmental) व्यय। सामाजिक एव विकास सेवाओं मे शिक्षा चिकित्सा एव सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि व सहकारिता, सिचाई, विद्युत योजनाएँ ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास, असैनिक निर्माण कार्य में उद्योग तथा रसद आदि सम्मिलित किया जाता है जबकि गैर-विकासोत्तर व्यय में नागरिक प्रशासन, ऋणभार, कर-सग्रह, अकाल आदि के खर्च शामिल है।

विकास व्यय (Development Expenditure)—भारत एक कल्याणकारी राज्य है जिसका उद्देश्य देश में एक समाजवादी समाज की स्थापना करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए राज्य सरकारों द्वारा अधिकाधिक विकासात्मक व्यय किया जा रहा है। विकास व्यय मे मुख्य मदें हैं—(1) शिक्षा, (2) चिकित्सा एव सार्वजनिक व्यय (3) कृषि सिचाई, सहकारिता, ग्रामीण विकास आदि, (4) चिकित्सा निर्माण कार्य, (5) उद्योग एव पूर्ति। ये विभिन्न सेवाएँ जन-समुदाय को ठीक लाभ प्रदान करती हैं। सेवाएँ जितनी अधिक विकसित होती है, जनता का उतना अधिक कल्याण होता है और वह अधिक सुखी तथा अच्छी दशा मे रहती है। राज्य नि शुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करते है, उच्च शिक्षा एव तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ उपलब्ध करते है। भारतीय सविधान के राज्य-नीति के निर्देशक तत्त्वो मे राज्यो को बच्चो और नवयुवको के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का भार सौंपा गया है परन्तु भारत की विशाल जनसख्या और अशिक्षा की व्यापकता को देखते हुए राज्य सरकारों द्वारा इस मद पर किया गया व्यय पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। राज्य सरकारो द्वारा औषधालयों, स्कूलो आदि की स्थापना की जाती है। राज्य सरकारें सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार पर काफी धन व्यय करती है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और राज्य सरकारो को कृषि के सुधार तथा उत्थान के लिए प्रतिवर्ष काफी व्यय करना पडता है। कृषि ग्राम विकास की सामुदायिक विकास योजनाओं और सहकारिता को अधिकाधिक महत्त्व दिया जा रहा है ताकि ग्रामीण जनता में अपने आप उन्नति करने की भावना जाग्रत हो सके। राज्य सरकारो द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर भारी व्यय किया जाता है। सडको, भवनो आदि पर व्यय देश की आर्थिक सम्पन्नता के लिए आवश्यक है। राज्य सरकारों ने अपने राज्य के उद्योगो के विकास के लिए छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योग-धन्धों को प्रशिक्षण तथा व्यय-सुविधाएँ प्रदान करती है। वास्तव मे देश मे जब से नियोजन (Planning) का प्रारम्भ हुआ है तब से राज्यों के विकास व्यय में निरन्तर वृद्धि होती गई।

गैर-विकास व्यय (Non Development Expenditure)—गैर-विकास व्यय की उल्लेखनीय मदें हैं—नागरिक या असैनिक प्रशासन, ऋण-सेवाएँ अकाल सहायता आदि। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने का दायित्व राज्य सरकारों का है जिसके लिए वे पुलिस, न्यायालयों और जेलों की व्यवस्था करती हैं। राज्यों के समक्ष साम्प्रदायिक दगो, औद्योगिक विवादों, छात्र आन्दोलनों आदि के रूप में कानून और व्यवस्था की अनेक गम्भीर समस्याएँ विद्यमान रहती हैं जिनसे सुलझने के लिए पुलिस शक्ति में काफी विस्तार और सुधार किया गया है। सरकारी कर्मचारियो की सख्या और वेतन मे वृद्धि के

फलस्वरूप असैनिक प्रशासन का व्यय बढा है। राजस्व की प्रत्यक्ष माँगो पर राज्य सरकारों का काफी व्यय होता है। राज्य सरकारे अपने-अपने क्षेत्रो मे कर-सग्रह मे पर्याप्त व्यय करती है। कर-एकत्रीकरण के लिए बडी सख्या मे कर्मचारी रखने पड़ते है जिनको वेतन और भत्ते के रूप मे बहुत बडी राशि देनी पड़ती है। राज्य सरकारो का ऋण सम्बन्धी व्यय काफी होता है। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार से ऋण लेती है जिन पर प्रतिवर्ष ब्याज का भुगतान करना पडता है और विविध प्रकार के गैर-विकासात्मक व्यय राज्य सरकारों को करने पडते हैं। वे विस्थापित व्यक्तियो के पुनर्वास के लिए व्यय करती हैं। निजी व्यक्तियो को ऋण राज्य सरकारों द्वारा दिए जाते है। उच्च तकनीकी शिक्षा और वजीफों की व्यवस्था करना एक व्ययकारी कार्य है।

(ख) राज्य सरकारो का पूँजीगत व्यय

सघ सरकार की भाँति राज्य सरकारो के पूँजीगत खर्च को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) विकास व्यय, (2) गैर-विकास व्यय।

बहुद्देश्यीय नदी घाटी योजनाएँ, सिचाई तथा नौ-चालन, कृषि-सुधार व अनुसन्धान की योजनाएँ, जल, विद्युत, सडके यातायात, औद्योगिक विकास और भवन आदि विकास-व्यय की मुख्य मदे है। पचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के फलस्वरूप तथा अधिकॉश खर्च पूँजीगत प्रकृति का होने के कारण इन सभी मदो के अन्तर्गत होने वाले पूँजीगत व्यय की वित्तीय व्यवस्था पूँजीगत प्राप्तियो (Capital Receipts) से विशेष रूप से राज्यो द्वारा लिए जाने वाले ऋणो तथा उधारो से और केन्द्र द्वारा राज्यो को दिए जाने वाले अनुदानो तथा ऋणो से की जाती है।

सरकारी व्यय का बदलता हुआ प्रतिरूप—सघ और राज्य सरकारो के कुल व्यय मे तेजी से विस्तार हुआ है किन्तु सभी प्रकार के व्ययो में परिवर्तन समान मात्रा मे हुआ हो, ऐसा नहीं है। सरकार मदो के महत्त्व को बदलती रही है। विभिन्न मदो के व्ययो मे समानुपातिक परिवर्तन (Proportionate Changes) हुए है उनमे भारी विभिन्नताएँ पाई जाती है। यही कारण है कि सरकार के व्यय के स्वरूप मे उल्लेखनीय अन्तर दिखाई देता है।

विकास कार्यों के अन्तर्गत कुछ व्यय अन्य के मुकाबले अधिक तेजी से बढ़ें है, उदाहरणार्थ, *शिक्षा-व्यय। राज्यो के व्यय मे वृद्धि की प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी कुछ प्रमुख कारण ये रहे है—योजना* कार्यक्रमो की पूर्ति मुद्रा-स्फीति के कारण कर्मचारियो के वेतन और वस्तुओं के मूल्य मे बढोत्तरी, नए-पुराने क्षेत्रो में नवीन विभागो की स्थापना और विस्तार। सघ सरकार के समान ही राज्य-वित्त की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति करों की दरो मे वृद्धि और नए करो को लागू किया जाना है। चौथी प्रवृत्ति सामाजिक सेवाओं पर अधिक खर्च करने की रही है। देश मे समाजवादी समाज स्थापित करने का उद्देश्य निश्चित करने के कारण सभी राज्यो को केन्द्र की तरह सामाजिक सेवाओं पर अधिकाधिक खर्च करना पड रहा है और आगामी वर्षों मे इस मद मे खर्च बढने की आशा है। पाँचवी मुख्य प्रवृत्ति केन्द्र और राज्यो में सहयोग वृद्धि की रही है। 1990 तक सभी राज्यो मे अधिकाश समय तक केन्द्र मे लगातार एक ही दल की सत्ता बनी रहने के कारण केन्द्र का प्रादेशिक, राजनीतिक और प्रशासन मे हस्तक्षेप बढने से केन्द्र और राज्यो की वित्त नीतियो मे सहयोग निरन्तर बढ रहा है। इस कारण राज्य की केन्द्र पर निर्भरता अधिक बढ़ी है। 1990 के बाद के काल मे राजनीतिक परिवर्तन हुआ। इस *राजनीति मे क्षेत्रीयता बढ़ी। इससे केन्द्र सरकार व राज्यो की सरकारो मे मतभेद बढे, क्योकि दोनो मे* अलग-अलग दल की सरकारे रही है अत इससे भी राज्यो का व्यय बढता रहा है।

सरकारी व्यय के आर्थिक प्रभाव

(Economic Effects of Public Expenditure)

निरन्तर बढते हुए सरकारी व्यय के अनेक लाभ प्राप्त हुए है जिनमे कुछ मुख्य निम्नाकित है—

1 कृषि एव उद्योग के विकास की गति बढी है और परिवहन एव सचार सेवाओं का विस्तार हुआ है। इन सभी दिशाओं मे ठोस सहायता मिली है, जिससे आर्थिक एव सामाजिक उच्च स्तरो का निर्धारण हुआ है।

2 शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि सामाजिक सेवाओं का विस्तार और उनमे उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। यद्यपि समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य अभी दूर है लेकिन इस दिशा मे प्रगति हुई है और देश का गरीब वर्ग ऊँचा उठा है।

3 राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई है और रोजगार के अवसर बडे है। जनसख्या में वृद्धि के कारण यद्यपि कुल बेरोजगारी बढी है लेकिन रोजगार के अवसरो मे काफी वृद्धि हुई है। लोगो के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठा है।

4. *पचवर्षीय योजनाओं की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हुआ है।*

5. आज राष्ट्र विकास की दिशा में तेजी से अग्रसर है और विश्व के अनेक देशो को अपनी प्राविधिक तथा अन्य सेवाये सुलभ करता है। वे आधारशिलाये बन चुकी है जिन पर निकट भविष्य मे ही राष्ट्र विकसित देशो की श्रेणी में आ खडा होगा परन्तु सरकारी व्यय में हुई वृद्धि के कुछ विपरीत परिणाम सामने आए हैं। मुद्रास्फीति (Inflation) मे निरन्तर वृद्धि हुई है और गत कुछ वर्षों से तो स्फीतिजनक दबाव (Inflationary Pressure) तीव्र गति से बढा है। स्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय तब सफल नहीं हो सकते, *जब तक कि सरकारी व्यय की वृद्धि पर रोक न लगा दी जाए।*

सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण और मितव्ययिता के उपाय

(Causes of Increase in the Public Expenditure and Measures for Economy)

वृद्धि के कारण

सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी आँकडों से स्पष्ट है कि इसमे निरन्तर तेजी से वृद्धि होती जा रही है। इस वृद्धि के कुछ कारण सक्षेप मे निम्नवत् रखे जा सकते है—

1 द्वितीय महायुद्ध के बाद से उत्पन्न हुई युद्धजनित परिस्थितियो ने भारत सरकार के सार्वजनिक व्यय को काफी बढा दिया। युद्धोत्तर वर्षों मे और उसके बाद तीव्र आर्थिक विकास से प्रेरित काल में मुद्रा-स्फीति के कारण सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्यो मे वृद्धि हो जाने से सरकार के व्यय में वृद्धि होती गई।

2. *स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में विभिन्न दिशाओं में बढते हुए अपने कर्तव्यो का पालन करने के उद्देश्य से सरकार को प्रशासनतन्त्र का पर्याप्त विस्तार करना पडा है। नए-नए मन्त्रालय स्थापित हुए* और लोकसेवको की सख्या मे भारी वृद्धि हुई है। नए-नए विभाग बडी सख्या मे खोले गए है। देश के विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करने राज्यो के पुनर्गठन आदि के सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्यो का पालन करने, राज्य के कल्याणकारी स्वरूप को वास्तविक रूप मे प्रतिष्ठित करने आदि के लिए सरकार को प्रारम्भ से ही प्रशासन व्यय में पर्याप्त वृद्धि करनी पडी और यह क्रम आज भी जारी है। ससार के अनेक देशों के साथ राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने विभिन्न देशो मे दूतावास स्थापित करने, *वाणिज्य दूतो तथा वाणिज्य आयुक्तो को नियुक्त करने,* अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं मे अपने प्रतिनिधि भेजने आदि *के कारण देश के प्रशासनिक व्यय मे काफी वृद्धि हुई।*

3. जन्म से पाकिस्तान के शत्रुतापूर्ण रवैए के कारण और चीन तथा पाकिस्तान दोनो देशो मे सशस्त्र सघर्षों के कारण भारत को बाध्य होकर अपने प्रतिरक्षा व्यय मे वृद्धि करनी पडी। विशेषकर 1962 में चीनी *आक्रमण के पश्चात् तो हमारे सैनिक व्यय मे बहुत अधिक* वृद्धि हुई और 1963 64 के बजट में कुल प्रतिरक्षा की मात्रा लगभग दुगुनी हो गई। 1965 और 1971 के भारत-पाक युद्धो के बाद देश की सशस्त्र सेनाओं पर व्यय काफी बढ गया। पिछले कुछ वर्षों से हमारे पडौसी देश किस प्रकार अपना शस्त्रीकरण कर रहे है, उसके कारण भारत को मजबूर होकर अपनी प्रतिरक्षा तैयारियाँ बढानी पडी हैं। नए डिविजनो के निर्माण, सेनाओं के आधुनिकीकरण आदि के कारण भारत को भारी प्रतिरक्षा *व्यय करना पड रहा है। भारत ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि उसकी प्रतिरक्षा आवश्यकताओं मे* कमी हो, क्योकि इस व्यय से उसके विकास कार्यों मे बाधा पडती है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भारत को अपनी प्रतिरक्षा तैयारियो को तेजी से बढाने के लिए विवश कर दिया है। वर्तमान परिस्थितियों का तकाजा है कि देश अपनी प्रतिरक्षा क्षमता मे कोई ढील न आने दे, विकास प्रयत्नो को पूर्ववत् उच्च स्तर पर बनाए रखना है अत सरकार को कराधान और उधार में वृद्धि करके अधिक साधन प्राप्त करने होते हैं।

4. भारत सहित ससार भर मे जो राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल हो रही है उसके कारण सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुई है।

5. सबसे महत्त्वपूर्ण 1950-51 से देश के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक योजनाओं के अन्तर्गत भारी व्यय करना पड़ रहा है। इन योजनाओं में बड़ी-बड़ी बहुमुखी नदी-घाटी योजनाओं, बडे-बडे उद्योगों और राजकीय उपक्रमों, सामुदायिक विकास योजनाओं, यातायात और संवादवाहन के साधनों तथा सामाजिक सेवाओं आदि पर किया जाने वाला खर्च बहुत अधिक हो रहा है। यद्यपि यह विकास खर्च सभी क्षेत्रों मे आशानुकूल अनुशासित रूप में नहीं हुआ है और जनता के धन का प्रशासनिक तथा अन्य कई कारणों से काफी अपव्यय हुआ है फिर भी इस अप्रत्याशित खर्च से अनेक अल्प-विकसित क्षेत्रों का प्रत्यक्ष विकास तो हुआ ही है। उन क्षेत्रों मे निजी पूँजीपतियो ने भी पर्याप्त मात्रा मे पूँजी लगाकर नवीन औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की है। इनका सामूहिक प्रभाव उत्पादन में वृद्धि के रूप में दृष्टिगोचर हुआ है। सामुदायिक योजनाओं और पचायती राज के माध्यम से अनेक सामाजिक सेवाओं की यथोचित व्यवस्था हुई है। इन सेवाओं से भारत के जन-मानस में एक नवीन चेतना प्रस्फुटित हो रही है जो विकासोन्मुखी और प्रगतिवादी है। इस चेतना से श्रमिको, किसानो और सर्वहारा वर्ग को अपने अधिकारों का एक नया सन्देश मिला है जो शोषण की समाप्ति की ओर एक कदम है। सामाजिक सेवाओं के माध्यम से सरकार द्वारा एक विकास युग का सूत्रपात किया गया है जो भावी प्रगति की आधारभूत भूमिका है।

6 बढ़ती हुई जनसख्या के लिए नागरिक व सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करने के प्रयासों मे भी सरकार को अधिक खर्च करना पड़ रहा है। सामाजिक सेवा शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य कर्मचारियों और श्रमिकों के लिए कल्याण योजनाओ विस्थापितों की सहायता तथा पुनर्वास और ऐसी अन्य सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय आधुनिक राज्य के व्यय का एक अनिवार्य अग है। सामाजिक सेवाएँ उतनी अनिवार्य नहीं होतीं जितनी कि सुरक्षा सेवाएँ होती हैं, तथापि जहाँ सुरक्षा सेवाओं पर किया गया व्यय नकारात्मक लाभ (Negative Benefit) प्रदान करता है वहाँ सामाजिक सेवाओं पर किया गया कार्य एव व्यय सकारात्मक लाभ (Positive Benefit) प्रदान करता है। सामाजिक सेवाएँ जितनी अधिक विकसित होती हैं, समाज के लोग उतने अधिक प्रसन्न और सुखी दिखाई देते है। एण्डले सुन्दरम् एव अग्रवाल ने लिखा है कि—"सामाजिक सेवाओं पर किया गया व्यय सुरक्षा सेवाओं पर किए जाने वाले व्यय को कम रखने में सहायक होता है क्योंकि सामाजिक सेवाओ की पर्याप्त एव उच्चकोटि की व्यवस्था होने से देश के लोगों का ईमानदारी एव नैतिकता का स्तर ऊँचा उठता है, जिसके फलस्वरूप पुलिस तथा कानूनी अदालतों आदि की कम आवश्यकता होती है। इस स्थिति में, लोगों मे अधिक सन्तोष बना रहता है, कानून तथा व्यवस्था भग करने की घटनाओं तथा इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ कम उत्पन्न होती है।" सामाजिक सेवाओं पर व्यय में वृद्धि करके सरकार सुरक्षा सेवाओ के व्यय मे किफायत कर सकती है, जिससे साधनों पर पड़ने वाला दबाव कम हो सकता है। भारत जैसे लोकतन्त्रीय देश मे, जहाँ का भाग्य वयस्क जनसख्या के हाथों में है यह अत्यावश्यक है कि देश की जनसख्या को शिक्षित किया जाए, चिकित्सा एव सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं को समुन्नत किया जाए और विभिन्न सेवाओं पर सार्थक व्यय किया जाए।

7. भारत मे पुलिस एव जेल राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित विषय है। पिछले वर्षों मे देश में पुलिस दल के विस्तार और उन्नत करने के काफी प्रयत्न हुए हैं, विशेष पुलिस सस्थानो की स्थापना हुई है। भारत में दण्ड-न्याय (Criminal Justice) पूर्णतया राज्य के खर्चे पर प्रदान किया जाता है। सिविल न्याय (Civil Justice) के लिए अवश्य अदायगियाँ की जाती है और फीस की मात्रा, मामले से सम्बद्ध धन अथवा सम्पत्ति के मूल्य पर निर्भर होती है। भारत मे जेलों मे काफी सुधार किए गए है, अत. व्ययों में वृद्धि हुई है। सामान्य प्रशासन से सम्बन्धित मशीनरी का काफी विस्तार हुआ है। इन सब सेवाओं से असैनिक प्रशासन के व्यय मे काफी वृद्धि हो रही है।

8. देश में सरकार स्वयं अनेक उद्योगों की स्थापना कर रही है। अनेक उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है जिससे सार्वजनिक खर्चे में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त सरकार उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए निजी सस्थाओं को आर्थिक सहायता, ऋण और अनुदान आदि देती है। इससे सार्वजनिक खर्च बढा है।

9 देश मे खाद्यान्नो का भारी मात्रा मे आयात सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का एक प्रमुख कारण रहा है। पिछले कुछ वर्षों से यह देश खाद्यान्नो के मामले मे आत्म-निर्भरता की ओर बढा है लेकिन अभी मानसून पर कृषि का निर्भर रहना और सम्बन्धित नीतियो मे तेजी से परिवर्तन से उत्पन्न अनिश्चितता से निपटने के लिए अनेक सामग्रियो का आयात किया जा रहा है।

10 देश के आर्थिक विकास की महत्त्वाकाक्षी योजनाओं और उनमे पर्याप्त अपव्यय के कारण सरकारी व्यय की मात्रा मे काफी वृद्धि होती रही है। सरकारी विभागो मे अकुशलता बढती जा रही है और अनेक खर्चे इस प्रकार किए जा रहे है जिनसे समाज को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता। प्रयोजनाओं के समुचित रूप से सचालन न हो पाने के कारण सरकारी व्यय बहुत कुछ अनावश्यक रूप से बढा है।

11 भाई-भतीजावाद रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार आदि सरकारी अपव्यय के अन्य कारण है। दुर्भाग्यवश उच्च-स्तरीय सरकारी अधिकारी और मन्त्री भी भ्रष्टाचार के आरोपो से मुक्त नहीं रह सके है।

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के विरुद्ध आपत्तियाँ

सार्वजनिक व्यय में होने वाले इन वृद्धियो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जाती रही है—

1 सरकारी विभागो मे अकुशलता बढ रही है। आवश्यकता से अधिक व्यक्ति भर्ती कर लिए जाते हैं और व्यय इस प्रकार किए जाते है जिनसे समाज को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता।

2 उपलब्ध साधनो का पूरा प्रयोग नही किया जाता।

3 जो लक्ष्य निर्धारित किए जाते है वे अनेक मामलो मे पूरे नही हो पाते। सार्वजनिक आय का अपव्यय होता है।

4 प्रशासनिक व्यय मनमाने ढग से बढाते रहने की प्रवृत्ति पैदा हो गई है। स्टेशनरी का अपव्यय होता है अनेक टयूर अनावश्यक रूप से किए जाते है मन्त्रियो और अधिकारियो के स्वागत सत्कार पर बेतहाशा राशि का अपव्यय होता है।

5 अनेक निर्माण कार्य ठोस और टिकाऊ नहीं किए जाते। फलस्वरूप वे शीघ्र नष्ट हो जाते है और उनके पुन निर्माण पर बार-बार व्यय करना पडता है।

6 भाई-भतीजावाद (Nepotism) रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार आदि सरकारी अपव्यय के अन्य कारण है।

एप्पले और सुन्दरम् ने लिखा है कि यह भारत का सौभाग्य है कि उसके पास प्रशासन के उच्च स्तरों पर सिविल सेवकों का एक ऐसा दल है जो ससार के किसी देश के सिविल सेवको के बराबर है परन्तु केवल उच्च स्तर के अधिकारियो से ही प्रशासन का सम्बन्ध होता है ऐसा नही है। वास्तविकता यह है कि सरकारी पद-सोपान (Offical Hierarchy) के सभी स्तरों पर ईमानदारी एव कुशल कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता होती है। यह भारत का दुर्भाग्य है कि उच्च स्तर के सरकारी अधिकारी तथा मन्त्री (Ministers) बेईमानी के आरोप से बच नहीं सके है। इसके कारण भारत मे लोकपाल की नियुक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई। यह हो सकता है कि इन आरोपो को लगाने समय सरकार के आलोचको ने कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया हो परन्तु उच्च स्तर के लोगों को सीजर की पत्नी की तरह सभी सन्देहों से परे रहना चाहिए। अत यह आवश्यक है कि सरकार किसी ऐसी प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना करे जो उच्च स्तर के व्यक्तियो के विरुद्ध लगाए गए भ्रष्टाचार तथा भाई भतीजेवाद के आरोपो एव शिकायतों की जॉच करे। ऐसी प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना करना बडा कठिन है जिससे उक्त लक्ष्य की पूर्ति हो जाए और न तो सरकारी कर्मचारियो का मनोबल (Moral) गिरे और न सरकार के कार्य-सचालन पर उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव पडे। इसने सरकार पर बडा बोझ डाला है और यही कारण है कि इस दिशा मे अब तक कुछ नहीं हो सका है।

मितव्ययिता के उपाय

सार्वजनिक व्यय में अनावश्यक वृद्धि और अपव्यय को रोकने के लिए सरकार समय-समय पर अनेक कदम उठाती रही है—

1 मार्च 1958 मे ससद् मे कॉग्रेस द्वारा स्थापित मितव्ययिता समिति (Economy Committee) ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि सरकारी विभागों मे अनावश्यक रूप से और छोटे-छोटे कारणो के आधार पर स्टाफ मे वृद्धि करने की सामान्य प्रवृत्ति बढ रही है अत सरकार को चाहिए कि प्रशासकीय अधिशासी लिपिकवर्गीय एव कुशल तथा अकुशल पदो की भर्तियों को बन्द कर दे तथा उन सभी पदों को समाप्त कर दे जो 6 माह अथवा अधिक समय से रिक्त हों केवल उन पदों को छोडकर जहाँ तकनीकी कर्मचारी आवश्यक हो। समिति द्वारा यह सिफारिश की गई कि स्टाफ से कर्मचारियो का एक केन्द्रीय पूल बनाया जाए और नई भर्तियाँ उसमें से की जाएँ। यह कहा गया कि सभी प्रकार की पुनर्नियुक्तियाँ बन्द की दी जाएँ तथा रिटायर होने वाले लोगों के सेवाकाल में वृद्धि न की जाए। सरकार ने समिति की सिफारिशो को ध्यान मे रखते हुए अनेक कदम उठाए और इसमें आवश्यकतानुसार अब उपाय किए जा रहे है।

2 सरकार के केबिनेट सचिवालय का सगठन और प्रणाली सम्भाग (Organisation and Method Division) कार्य करने के तरीको में सुधार और कार्यक्षमता तथा मितव्ययिता सम्भाग (Economy Division) उन सभी प्रस्तावों की जाच करता है जिन्हे वित्त मन्त्रालय की अनुमति आवश्यक होती है। यह सम्भाग अधिकाधिक मितव्ययिता लाने की दृष्टि से अपनी खोजबीन करता है। इसी सम्भाग की विशेष पुनर्गठन इकाई (Special Re organisation Unit) का पुनर्गठन 1964 में किया गया ताकि प्रशासनिक कार्यकुशलता के अनुरूप कर्मचारियो की सख्या में कमी का अनुमान लगाया जा सके और कार्य प्रतिमानो का निष्पादन-मानदण्ड निर्धारित किये जा सकें।

3 विभिन्न मन्त्रालयो और विभागो मे आन्तरिक मितव्ययिता समितियाँ (Internal Economy Committees) कार्य की प्रकृति किस्म और मात्रा की जाँच करके पता लगाती है कि सम्बन्धित कार्य को और अधिक शीघ्रता के साथ पूरा किया जा सकता है अथवा नहीं तथा स्टाफ पर किए जाने वाले व्यय में और सामान्य खर्चे मे कमी की गुजाइश है।

4 केन्द्रीय मितव्ययिता मण्डल (Central Economy Board) यह देखता है कि आन्तरिक मितव्ययिता समितियो की सिफारिशे लागू की जा रही है अथवा नहीं। यह भी जॉच की जाती है कि विशेष पुनर्गठन इकाई अथवा कर्मचारी निरीक्षण इकाई के प्रस्तावो पर कहाँ तक अमल किया जा रहा है।

5 प्रत्येक मन्त्रालय मे एक पृथक् आन्तरिक दल ऐसे मामलों के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट देता है जिनका सम्बन्ध अकुशलता आदि से होता है।

सार्वजनिक व्यय को प्रभावशील बनाने की दिशा में सरकार ने काफी प्रशासनिक मशीनरी आवश्यक जाँच-पडताल और सुझावो के लिये नियुक्त कर रखी है। इस बात का ध्यान रखने की चेष्टा की जाती है कि सार्वजनिक व्यय का उपयोग आर्थिक नीति के एक अस्त्र के रूप में सही ढग से हो सके और सार्वजनिक व्यय की योजनाये ऐसी बनें जिनसे राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा में अधिकतम वृद्धि की सम्भावनाए उज्ज्वल हो। लेकिन भारत जैसे विशाल आकार और विपुल जनसख्या वाले देश में यह अस्वाभाविक नहीं है कि अपव्यय और अकुशलता की घटनाए घटे विशेषकर उस अवस्था में जबकि देश राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में सक्रान्ति काल से गुजर रहा हो। विश्व के काफी विकसित राष्ट्र भी उन दोषों से बचे हुए नहीं है जिनसे भारत ग्रस्त है। आपातकाल के दौरान देश में चहुँमुखी सुधार की जो प्रवृत्ति विकसित हुई वह उत्साहवर्धक थी। एक ओर कर-चोरी और तस्करी के खिलाफ अभियान तेज करके सार्वजनिक आय मे वृद्धि के प्रयत्न किए गए तो दूसरी ओर प्रशासनिक अपव्यय को दूर करने राजकोषीय नीति को प्रभावशाली बनाने हर स्तर पर सार्वजनिक व्यय का समुचित लाभ उठाने की दिशा में प्रभावी कदम उठाए गए।

सरकार विभिन्न रचनात्मक और सगठनात्मक परिवर्तन लाकर सार्वजनिक व्यय के अपव्यय को रोकने का प्रयत्न कर रही है और इस दिशा मे कुछ सफलता भी मिली है।

———

ग्रन्थ-कोश
(Bibliography)

1 *A De Vitte Morce* First Principles of Public Finance
2 *Ambirajan S* The Taxation of Corporate Income in India
3 *Bastable* Public Finance
4 *Barna T* Redistribution of Income through Public Finance
5 *Bater F M* The Question of Government Spending
6 *Buchanan J.M* Fiscal Theory and Political Economy
7 *Buchanan J.M* The Public Finance—An Introductory
8 *Bombwall Raman* Federal Financial Relations in India.
9 *Black D* The Incidence of Income Taxes
10 *Bakal C N and Brahmanand P R* Planning on Expanding Economy
11 *Chelliah R.J* Fiscal Policy in Under developed Countries with special reference to India.
12 *Cauley T J* Public Finance and the General Welfare
13 *Copeland M.A* Trends in Government Financing
14 *Dalton H* Public F nance
15 *Duc J F* Government Finance
16 *Eldridge J.P* Politics of Foreign Aid in India
17 Government of India Report of the Finance Commission
18 *Graves H M* Post War Taxation and Economic Progress
19 *Hall C.A (Jr)* Fiscal Policy for Stable Growth
20 *Hansen A H* Fiscal Poncy and Business Cycles
21 *Hansen B* The Economic Theory of Fiscal Policy
22 *Leif Johansen* Public Economics
23 *Musgrave R.A* Theory of Public Finance
24 *Musgrave R.A and Peacock A T (ed)* Classics in the Theory of Public Finance
25 *Nicholas Kaldor* Report on Indian Tax Reform
26 *Nurkse R* Some Aspects of Capital Accumulation in Underdeveloped Countries
27 *Philip Kjeld* Inter government Fiscal Relations
28 *Prest A.R* Public Finance in Theory and Practice
29 *Pigou A C* A Study of Public Finance
30 *Rolph E.R and Break G F* Public Finance
31 *Sahota G S* Indian Tax Structure & Economic Development.
32 *Stamp J* Wealth and Taxable Capacity
33 *Shirras G F* Federal Finance in Peace and War
34 *Seligman* Studies in Public Finance
35 *Venkatasubbiah H* Indian Economy since Independence
36 *Wallich H C and Adler J H* Public Finance in a Developing Country
37 *Williams A* Public Finance and Budgetary Policy
38 India 1998

1998-99 का केन्द्रीय बजट

'बजट' शब्द का उद्‌गम फ्रान्सीसी शब्द 'Bougette' अर्थात् चमड़े के थैले से हुआ है। बजट मे आय एव व्यय के अनुमान लगाये जाते है। इसमे व्ययो को करने के लिए विभिन्न साधनो एव पद्धतियो का प्रयोग किया जाता है। यह आय एव व्यय का एक वार्षिक विवरण है। भारतीय सविधान के अनुसार यह वार्षिक लेखा, वित्त मन्त्री द्वारा लोक सभा एव राज्य सभा के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है। इस लेखे पर बहस के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है। पक्ष तथा विपक्ष के सभी सदस्य बहस मे भाग लेते है। हमारे देश के बजट मे गत वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष के सशोधित अनुमान तथा अगले वर्ष के अनुमान प्रस्तुत किये जाते है। वित्तीय वर्ष 1 अप्रेल से प्रारम्भ होकर 31 मार्च को समाप्त होता है।

बजट की परिभाषा (Definition of Budget)

विभिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बजट को परिभाषित किया है। *लेनॉय ब्यूलियो के अनुसार* बजट एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत होने वाली अनुमानित प्राप्तियो एव खर्चों का एक विवरण है।'

रीन स्टार्म के अनुसार, बजट एक लेखा पत्र है जिसमे सरकारी आय और व्यय की एक प्रारम्भिक अनुमोदित योजना है।'

जी. जीज के अनुसार बजट सम्पूर्ण सरकारी प्राप्तियों तथा खर्चों का एक पूर्वानुमान तथा अनुमान और कुछ प्राप्तियों का सग्रह करने तथा कुछ खर्चों के करने का एक आदेश अथवा प्राधिकरण है।'

विलोबी के शब्दो में ' इस प्रकार बजट आमदनियो तथा खर्चों के अनुमान मात्र से बहुत अधिक है। यह एक साथ ही, एक प्रतिवेदन है, एक अनुमान है तथा एक प्रस्ताव है अथवा उसे ऐसा होना चाहिये। वह एक ऐसा प्रलेख अथवा दस्तावेज है अथवा होना चाहिये जिसके द्वारा मुख्य कार्यपालिका धन प्राप्त करने वाली तथा व्यय स्वीकृत करने वाली सत्ता के समक्ष इस बात का पूर्ण प्रतिवेदन रखती है कि अपने और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों ने गत् वर्ष काम-काज की व्यवस्था किस प्रकार की सरकारी कोषागार की वर्तमान स्थिति क्या है, और इन सूचनाओं के आधार पर वह आगामी वर्ष के लिए अपने कार्यक्रम की घोषणा करती है और बतलाती है कि उस कार्य के लिए वित्त व्यवस्था किस प्रकार से की जायेगी।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि बजट राष्ट्रीय आय-व्यय का वार्षिक लेखा-जोखा है जो एक नियोजित एव वैज्ञानिक व्यवस्था है।

बजट के कार्य (Functions of Budget)

बजट के माध्यम से ही सरकार अपनी योजनाओं को क्रियात्मक रूप देती है तथा मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य पूरे करती है—

(i) राष्ट्रीय वित्त का सुव्यवस्थित रूप से सदुपयोग प्रशासन एव उपयोग करना है।

(ii) सार्वजनिक आय-व्यय के विभिन्न मदो का विस्तृत विवरण वैज्ञानिक एव सुव्यवस्थित विधि से कार्यपालिका द्वारा तैयार किया जाता है।

(iii) स्वीकृत बजट के अनुसार कार्यपालिका को आवश्यक आय व्यय करने के लिए बजट आधार पर अनुमति देना है।

(iv) सरकार की आर्थिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए बजट का एक साधन के रूप मे उपयोग किया जाता है।

(v) बजट द्वारा पिछले वित्तीय वर्ष मे किये गये कार्यों का सिंहावलोकन करना।

(vi) बजट द्वारा नवीन नीति का निर्माण करने के लिए पिछले वर्षों में किये गये कार्यों का ऐसा विवरण प्रस्तुत करना है जिसके आधार पर अगले वर्षों के लिए नीति सम्बन्धी निर्णय लिये जा सके।

(vii) बजट द्वारा विभिन्न विभागो पर इस विषय में मार्गदर्शन करना है कि उन्हें इस वर्ष कौन से कार्य कितनी धन राशि की सीमा के भीतर रहते हुए करने है।

इस प्रकार वर्तमान मे 'बजट' एक ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसके कारण बजट को समस्त वित्तीय प्रशासन तन्त्र का प्राण तथा लोकप्रिय शासन व्यवस्था के अस्तित्व का आधार माना जाता है।

बजट का निर्माण (Formation of Budget)

भारत मे बजट कार्यकारिणी सभा द्वारा बनाया जाता है। बजट तैयारी करने से पूर्व विभिन्न विभागो को एक नोट भेजा जाता है जिसमे विभागो के अध्यक्षो से यह अनुरोध किया जाता है कि वे अपने-अपने विभाग के आय व्यय लेखों का अनुमान लगाकर वित्त मन्त्रालय को भेजे। वित्त मन्त्रालय अगस्त तक विभिन्न मन्त्रालयो को एक अनुमान फार्म भेज देता है। अनुमान फार्म को दो भागो मे विभाजित किया जाता है। प्रथम भाग में वर्तमान आय तथा व्यय से सम्बन्धित अनुमान होता है जबकि दूसरे भाग मे आने वाले वर्ष के आय व्यय सम्बन्धी अनुमान होते हैं। इस प्रकार प्रथम भाग का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और दूसरे भाग का सम्बन्ध भविष्य से। अनुमान फार्म के मुख्य बिन्दु निम्न हैं—

(i) वर्तमान वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी स्वीकृत अनुमान

(ii) वर्तमान वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी अस्वीकृत अनुमान

(iii) वर्तमान वर्ष तथा गत वर्ष के वास्तविक आय व्यय सम्बन्धी आकडे

(iv) भावी वर्ष के बजट अनुमान

(v) वर्तमान वर्ष के दुहराये हुए आय अनुमान।

1998 99 का केन्द्रीय बजट

चालू वित्तीय वर्ष 1998 99 के लिए केन्द्र सरकार का नियमित बजट केन्द्रीय वित्त मन्त्री यशवन्त सिन्हा ने 10 जून 1998 को प्रस्तुत किया। इससे पूर्व 25 मार्च 1998 को ससद मे निम्न बजट प्रस्तुत किया—

सारणी[1] *(करोड रुपये मे)*

	मद विवरण	1996-97 वास्तविक	1997 98 बजट अनुमान	1997 98 सशोधित अनुमान	1998 99[2] बजट अनुमान
1	राजस्व प्राप्तियाँ	**1,26,279**	**1 53,143**	**1,38,514**	**1,61,994**
2	कर राजस्व	93 701	1 13 394	99 158	1 16 857
3	कर भिन्न राजस्व	32 578	39 749	39 356	45 137
4	पूँजी प्राप्तियाँ	**74,728**	**79,033**	**96,731**	**1,05,933**
5	ऋणों की वसूली	7 540	9 779	9 479	9 908
6	अन्य प्राप्तियाँ	455	4 600	907	5 000
7	उधारियाँ एव अन्य देयताएँ	66 733	65 454	86 345	91 025
8	कुल प्राप्तियाँ (1+4)	**2,01 007**	**2,32,176**	**2,35,245**	**2 67,927**
9	आयोजना भिन्न व्यय	**1,47,473**	**1,69,324**	**1 74 615**	**1,95,925**
10	राजस्व खाते पर	1 27 298	1 45 854	1 46 050	1 66 301
11	ब्याज अदायगियाँ	59 478	68 000	65 700	75 000
12	पूँजी खाते पर	20 175	23 470	28 535	29 624
13	आयोजना व्यय	**53,534**	**62,852**	**60,630**	**72,002**
14	राजस्व खाते पर	31 635	37 554	36 120	43 761
15	पूँजी खाते पर	21 899	25 298	24 510	28 241
16	कुल व्यय (9+13)	2 01 007	2 32 176	2 35 245	2 67 927
17	राजस्व व्यय (10+14)	1,58 933	1 83 408	1 82 200	2 10 062
18	पूँजी व्यय (12+15)	42 074	48 768	53 045	57 865
19	राजस्व घाटा (1 17)	32 654	30 265	43 686	48 068
20	राजकोषीय घाटा (1+5+6 16)	**66 733**	**65 454**	**86 345**	**91,025**
21	मौद्रिककृत राजकोषीय घाटा*	—	**16,000**	**13,000**	—
22	प्रारम्भिक घाटा (20+21)	**7,255**	**2 546**	**20 645**	16 025

* केन्द्र सरकार को भारतीय रिजर्व बैक द्वारा समर्थन दिये जाने का प्रत्याशित स्तर बजट अन्तरिम बजट था। अन्तरिम बजट के दो माह बाद प्रस्तुत इस बजट मे भाजपा की 'स्वदेशी' की नीति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

1 योजना मई 1998 पृ 2

2 प्रतियोगिता दर्पण जुलाई 1998 पृ 2058

नये कर प्रावधानो के पश्चात् बजट 1998 99 के दौरान केन्द्र की कुल प्राप्तिया एव व्यय 2 67 927 करोड़ रुपये अनुमानित किये गये है। इनमे से 1 61 994 करोड रुपये राजस्व प्राप्तिया एव शेष 1 05 933 करोड़ रुपये पूजीगत प्राप्तिया होगी। राजस्व प्राप्तियो मे 1 16 857 करोड रुपये कर राजस्व एव शेष 45 137 करोड रुपये गैर-कर राजस्व के रूप मे अनुमानित है जबकि पूँजीगत प्राप्तियों मे 9 908 करोड़ रुपये ऋणो की वसूली 91 025 करोड रुपये उधारियो तथा शेष 5000 करोड़ रुपये सार्वजनिक उपक्रमों मे अनिवेश से प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया है। 1 61 994 करोड़ रुपये की राजस्व प्राप्तियों की तुलना मे कुल राजस्व व्यय 2 10 062 करोड रुपये होने से राजस्व घाटा 48 068 करोड रुपये अनुमानित है जोकि समस्त घरेलू उत्पाद का 3% है। 1998 99 में राजकोषीय घाटा 91 025 करोड रुपये अनुमानित है जो कि समस्त घरेलू उत्पाद का 5 6% है।

सारणी[1] बजट का घाटा

वर्ष	राजकोषीय घाटा	राजस्व घाटा	प्रारम्भिक घाटा
1994 95[2]	57 705	31 029	1 36 55
1995 96	60 243	29 731	10 212
1996 97	66 733	32 654	7 255
1997 98 (सशोधित अनुमान)	86 345	43 686	20 645
1998 99 (बजट अनुमान)	91 025	48 068	16 075

बजट के मुख्य उद्देश्य[3]
(Main Objectives of Budget)

वित्त मन्त्री डॉ यशवन्त सिन्हा ने वर्ष 1998 99 के बजट के दस महत्वपूर्ण उद्देश्य स्पष्ट किए हैं जो कि निम्न प्रकार है—

(1) अन्तर्निहित अनिश्चित विदेशी वातावरण का प्रभावकारी रूप से सामना करने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था की बुनियाद को सुदृढ़ करना।

(2) कृषि में गिरावट को दूर करके तेजी लाना और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करना।

(3) औद्योगिक विकास विशेषकर लघु उद्यमो की प्रगति को पुन स्थापित करना और पूजी बाजार को पुनर्जीवित करना।

(4) आधारभूत सरचना के विकास मे तेजी लाना।

(5) रोजगार के अवसरो मे तेजी से विस्तार करना।

(6) सामाजिक क्षेत्र के विकास को विशेष रूप से गतिशील बनाना।

(7) निर्यातो की पुनर्स्थापना और उधार ली गयी निधियों पर निर्भरता कम करके भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति को सुदृढ करना।

(8) वृहद आर्थिक स्थायित्व को सुनिश्चित करना और मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण करना।

(9) आर्थिक राष्ट्रीय निवेश प्राप्त करने के लिए घरेलू बचतों की दर मे वृद्धि करना।

(10) भारतीय भूमि श्रम और पूँजी की उत्पादकता बढाने के लिए सुधार कार्य करना।

1 India 1998 p 314
2 India 1995 p 303
3 राजस्थान पत्रिका 2 जून 1998 के लेख — वित्तमत्री के बजट भाषण का मूल पाठ पर आधारित।

कृषि एव ग्रामीण विकास (Agriculture and Rural Development)

ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्थिति और उसकी गतिशीलता भारत की अर्थव्यवस्था और सामाजिक विकास की धुरी है। अत वित्तमन्त्री ने अपने बजट भाषण मे कृषि एव ग्रामीण विकास को विशेष महत्त्व दिया है।

भारत मे योजनाओं के 50 वर्षों के बाद भी कृषि योग्य क्षेत्र का केवल 37% भाग ही आश्वस्त सिंचाई के अन्तर्गत आता है जोकि भारत की कृषि व्यवस्था को स्पष्ट दृष्टिगत करता है। भारत सरकार के कई मत्रालयो एव विभागो मे फैले बजर भूमि विकास कार्यक्रम और आयोजन आवटन वर्ष 1997 98 मे सशोधित अनुमान को 517 करोड रुपये से बढाकर 677 करोड रुपये किया जायेगा। इसके अतिरिक्त त्वरित सिंचाई लाभ कार्यक्रम के लिए पिछले वर्ष की तुलना मे 58% की वृद्धि की गयी है।

पिछले तीन वर्षों मे ग्रामीण एव सरचना विकास निधियो के अन्तर्गत 7 500 करोड रुपये की एक सचित निधि बनायी गई है जिसमे 25 000 से अधिक स्कीमो को वित्त पोषण मे मदद मिली है। चौथी ग्रामीण अवसरचना विकास निधि के लिए आवटन को बढाकर 3 000 करोड रुपये किया जा रहा है। चालू वर्ष मे नाबार्ड की शेयर पूँजी मे 500 करोड रुपये की वृद्धि प्रस्तावित है जिसके अन्तर्गत सरकार 100 करोड रुपये बजट से आवटित करेगी और भारतीय रिजर्व बैक शेष 400 करोड रुपये का अशदान करेगा। इससे नाबार्ड कृषि की जरूरतो को पूरा करने के लिए बाजार से अतिरिक्त ससाधन जुटाने मे समर्थ हो सकेगा। नाबार्ड ने लघु उद्यमियो को निधियाँ उपलब्ध कराने के एक माध्यम के रूप मे स्वय सहायता समूहो को बढावा देने के लिए एक सीमित स्कीम शुरू की थी। वित्त मन्त्री ने नाबार्ड की इस स्कीम के कार्यक्षेत्र व दायरे को बढाने के निर्देश दिये जो कि लघु ऋण प्रदान करने की उस स्कीम के माध्यम से अगले पाच वर्षों मे 2 लाख स्वय सहायता समूहो को मदद दी जा सके जिससे 40 लाख परिवार लाभान्वित हो सके। 2 लाख परिवारो को लाभान्वित करने वाले 10 000 स्वय सहायता समूहो को इस वर्ष मदद दी जाएगी। भारतीय रिजर्व बैंक भी लघु उद्यमियो की जरूरतो को पूरा करने के लिए वाणिज्यिक बैको को विशेष ऋण पैकेज तैयार करने की सलाह दे रहा है।

वित्त मन्त्री ने राष्ट्रीय आवास बैक से स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण आवास वित्त योजना के तहत गत वर्ष 50 000 इकाइयो की तुलना मे इस वर्ष एक लाख ग्रामीण आवास इकाइयो को वित्त पोषित करने के निर्देश दिये। क्षेत्रीय ग्रामीण बैको (आर आर बी) के पुनर्गठन एव पुन पूँजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढाने के लिए 265 करोड रुपये का प्रावधान किया गया है जिससे क्षेत्रीय ग्रामीण बैको को प्रबन्धन प्रचालनात्मक और पुनर्सरचनात्मक सहायता मुहैया कराने मे प्रायोजक बैको की भूमिका मे बढोत्तरी की जा सके। नाबार्ड से किसानो के लिए किसान क्रेडिट कार्ड जिन्हे बैको द्वारा समान रूप से अपनाया जाएगा जारी करने की स्कीम का नमूना तैयार करने के लिए निर्देश दिये गये है ताकि किसान उनका उपयोग बीज खाद कीटनाशक आदि जैसी कृषि सम्बन्धी सामग्री की आसानी से खरीद करने और उनकी उत्पादन की जरूरतो के लिए नगदी प्राप्त करने में कर सके। भारत ने तिलहनो के उत्पादन मे सराहनीय प्रगति की है। एक सक्षम बाजार का माहौल कायम करने और इस क्षेत्र मे कीमतो मे अस्थिरता को कम करने के उद्देश्य से सरकार खाद्य तिलहनो उनके तेल और खली मे भावी व्यापार शुरू करने की योजना बना रही है।

वर्ष 1998 99 के बजट मे यूरिया और विनियन्त्रित फॉस्फेटी और पोटाशी उर्वरक दोनो के लिए वर्तमान सब्सिडी स्कीमों को जारी रखा गया है। पिछले कुछ वर्षों मे अधिकतम फसल की पैदावार प्राप्त करने के लिए तीनों पोषक साधनो नाइट्रोजन (एन) फारफोरस (पी) और पोटशियम (के) के प्रयोग मे सन्तुलन बिगडा है जो 1991 92 मे 5 9 2 4 1 था 1996 97 तक प्रतिकूल

रूप से बदल कर 10 2.9 2 हो गया है। वित्त मन्त्री ने इस अनुपात को व्यवस्थित करने के लिए यूरिया के मूल्य मे वृद्धि की घोषणा की। यह वृद्धि एक रुपया प्रति किलोग्राम बढाने का प्रस्ताव रखा था। विपक्ष के बढते दबाव के कारण इस वृद्धि को 50 पैसे प्रति किलोग्राम तक सीमित रखा गया है तथा बाद में इस बढोत्तरी को वापस ले लिया गया।

सरकार अगले पाँच वर्षों में ग्रामीण बस्तियो मे स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था (त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम) के लिए आवटन 1997 98 के सशोधित अनुमान मे 1302 करोड रुपये से बढाकर इसे नियमित बजट मे 1627 करोड रुपये किया जा रहा है। इस बढे हुए परिव्यय से लगभग एक लाख बस्तियाँ लाभान्वित होगी।

अत वर्ष 1998 99 के बजट मे वित्त मन्त्री ने कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन किया है जो कि भारतीय कृषि एव ग्रामीणो के जीवन स्तर की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण कदम है।

औद्योगिक विकास (Industrial Development)

लघु उद्योग क्षेत्र कुल विनिर्माण क्षेत्र उत्पादन मे लगभग 40 प्रतिशत निर्यातो मे 35 प्रतिशत का बहुमूल्य योगदान करता है और 160 लाख से अधिक कामगारो को रोजगार देता है।

वर्तमान मे 2 करोड रुपये तक की कार्यशील पूँजी आवश्यकताओं वाली लघु उद्योग इकाइयो के लिए कार्यशील पूँजी की सीमा उनकी वार्षिक कुल बिक्री के 20 प्रतिशत के आसान परिकलन के आधार पर बैको द्वारा निर्धारित की जाती है। इस सुविधा को दुगना कर 4 करोड रुपये किया जा रहा है। इससे लघु उद्योगो को बैक ऋण का मिलना सुविधाजनक हो सकेगा।

भारतीय लघु औद्योगिक विकास बैक (एस आई डी बी आई) भारतीय औद्योगिक विकास बैक (आई डी बी आई) की एक सहायक इकाई है और आई डी बी आई राज्य वित्त निगमो (एस एफ सी) मे प्रमुख शेयर धारक है। एस आई डी बी आई (SIDBI) को लघु उद्योगो की ऋण व्यवस्था में शीर्षस्थ भूमिका निभाने हेतु सक्षम बनाने के लिए SIDBI को IDBI से अलग कर दिया जायेगा और राज्य वित्त निगमो में IDBI की शेयर धारिता SIDBI को अन्तरित की जायेगी। लघु उद्योगो को प्राय बडी कम्पनियो से अपनी बकाया धन राशि प्राप्त करने मे विलम्ब के कारण अडचने आती है। इस समस्या के निवारण के लिए वित्त मत्री ने बजट मे भारतीय रिजर्व बैक से हुडियो को भुनाने के लिए लघु उद्योगों को उपलब्ध विद्यमान व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए निर्देश दिये है।

वित्तमन्त्री ने वर्ष 1998 99 के बजट मे उद्योगो मे विदेशी निवेश को बढावा देने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। वर्तमान सरकार ने बचे हुए औद्योगिक क्षेत्र मे कोयला और लिग्नाइट तथा पेट्रोलियम उत्पादों को लाइसेन्स मुक्त करने का निर्णय लिया है। विदेशी विनियम सवर्धन बोर्ड (FIPB) ने विदेशी निवेश को बढावा देने और केन्द्र सरकार के स्तर पर प्रक्रियाओं को सरल और कारगर बनाने मे अच्छा कार्य किया है। वर्ष 1997 98 में विदेशी निवेश प्रवाह 3 1 बिलियन डालर होने का अनुमान है। लगभग 60 प्रतिशत निवेश स्वीकृतियाँ ऊर्जा और आधारभूत सरचना क्षेत्रो मे ही लगभग दो वर्षों के भीतर विदेशी प्रत्यक्ष निवेश दुगुना करने का अनुमान है। विदेशी निवेशको को प्राय देश की व्यवस्था और सविधियो की जानकारी की कमी और राज्य स्तर पर विशेष समस्याओं के कारण काफी परेशानियो का सामना करना पडता है। इस कमी को दूर करने के लिए 100 करोड से अधिक के प्रत्येक विदेशी निवेश के प्रस्तावो के लिए केन्द्र और राज्य प्राधिकारियो के साथ मिलकर परियोजना की कार्यवाही और क्रियान्वयन में सहायता के लिए एक अधिकारी को मानिटरिंग अधिकारी के रूप मे नियुक्त किया जायेगा और निवेश प्रस्तावो पर निर्णय 90 दिन की अवधि के भीतर ले लिया जायेगा।

आवास व्यवस्था (Housing System)

वर्ष 1998 99 मे 20 लाख अतिरिक्त आवासीय इकाइयो का निर्माण किया जायेगा जिनमे 13 लाख ग्रामीण क्षेत्रो में एव 7 लाख शहरी क्षेत्रो मे होगी। इन्दिरा आवास योजना के लिए बजट आवटन

मे पर्याप्त वृद्धि कर इसे पिछले वर्ष के 114 करोड से 1600 करोड रुपये किया जा रहा है। इस योजना के दायरे का विस्तार करके इससे ऋण-सह-सब्सिडी कार्यक्रम को शामिल किया जा रहा है।

प्रयोज्य शहरी भूमि को आवासीय निर्माण के लिए मुक्त करने हेतु शहरी भूमि हद-बन्दी और विनिमय अधिनियम का निरसत किया जायेगा। आवास और शहरी विकास निगम के पूँजी आधार को बजट से 110 करोड रुपये की व्यवस्था कर बढाया जा रहा है ताकि यह आवास निर्माण के लिए अधिक निधियाँ दे सके।

इन्फ्रास्ट्रक्चर व्यवस्था (Infra structure System)

ऊर्जा परिवहन और सचार के प्रमुख आधारभूत सरचना क्षेत्र के लिए 1997 98 के सशोधित अनुमानो मे आयोजन परिव्यय 45 252 करोड रुपये था जो कि चालू वर्ष में परिव्यय 61 146 करोड रुपये होगा। यह वृद्धि 35 प्रतिशत की है। कुछ फास्ट ट्रेक विद्युत परियोजनाओं जो लम्बे समय से रुकी थी के लिए सम्प्रभु काउटर गारटियाँ प्रदान करने के लिए प्रक्रियाओं को भी सरल बनाया गया है।

विद्युत मत्रालय के लिए कुल आयोजन परिव्यय 1996 97 के सशोधित अनुमान मे 6738 करोड रुपये और अन्तरिम बजट मे 9185 करोड की तुलना मे 9500 करोड रुपये किया जा रहा है। प्रमुख सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो पर राज्य विद्युत बोर्डों की बकाया देयताएँ लगभग 10 000 करोड बन्ती हैं। यह भारी बकाया देयताये सम्बन्धित सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो द्वारा निवेश मे गम्भीर रुकावटे है। सरकार ऐसी देयताओं को शामिल करने के लिए एक गारटी की योजना का क्रियान्वयन करेगी जिसमें सरकारी क्षेत्र के उपक्रम इन ऋणो की समीक्षा करके अथवा ससाधन जुटाने मे समर्थ हो सकेगे। इससे इन उद्यमो को विद्युत और कोयला क्षेत्र मे विशाल परियोजनाओं हेतु निधि पोषण के लिए ससाधन जुटाने मे मदद मिलेगी। इसके परिणामस्वरूप होने वाला निवेश सयोजित प्रभावो के माध्यम से औद्योगिक विकास और निवेश को भी बढावा देगा।

वर्ष 1998 99 के बजट में भारतीय राष्ट्रीय राज मार्ग प्राधिकरण के लिए 500 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी है। निजी क्षेत्र मे आधारभूत सुविधा निवेश के लिए दीर्घकालीन वित्त बढाने हेतु आधारभूत विकास वित्त कम्पनी (IDFC) को 1997 मे एक सरकारी कम्पनी के रूप मे स्थापित किया गया था जिसने 1000 करोड रुपये की प्रदत्त इक्विटी पूँजी को सयोजित कर दिया है जिसके अन्तर्गत 9 विदेशी निवेशो की इक्विटी भागीदारी भी शामिल है और अब इसने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है।

शिक्षा (Education)

सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा महत्त्वपूर्ण साधन है। प्राथमिक शिक्षा को सभी के लिए पाँचवी कक्षा और बालिकाओं के लिए कॉलेज स्तर तक नि शुल्क एव अनिवार्य बनाने हेतु सावैधिक उपबन्ध को कार्यान्वित करने की योजना है। इस बजट में शिक्षा के लिए कुल बजटीय आवटन मे लगभग 50% की वृद्धि की गयी है क्योकि 1997 98 के सशोधित अनुमानो मे यह आवटन 4716 करोड रुपये का था जिसे बढाकर इस वर्ष 7047 करोड रुपये कर दिया गया है। सरकार सकल घरेलू उत्पाद का 6% शिक्षा के लिए कुल ससाधन आवटन बढाना चाहती है। महिला शिक्षा म तेजी लाने के लिए कस्तूरबा गाँधी शिक्षा योजना और महिला समृद्धि योजना के अन्तर्गत आवटनो का एकीकरण किया जायेगा।

सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology)

सूचना एव प्रौद्योगिकी विश्व अर्थव्यवस्था की तरह वास्तव मे भारतीय अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक तेजी से बढता हुआ क्षेत्र है। यह क्षेत्र करोडो कुशल महिलाओं के लिए रोजगार भी प्रदान कर सकता है। सरकार ने दस वर्षों के अदर भारत को विश्व सूचना प्रौद्योगिकी शक्ति बनाने और साफ्टवेयर के सबसे बडे उत्पादक एव निर्यातक के रूप मे स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया है। एक राष्ट्रीय

आम सूचना नीति तैयार करने के लिये योजना आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय सूचना प्रौद्योगिकी कार्यबल का गठन कर दिया गया है जो इन उद्देश्यों को प्राप्त करने मे सहायता करेगा।

बीमा, बैंकिंग एवं पूँजी बाजार (Insurance, Banking & Capital Market)

सरकारी क्षेत्र के बैंकों मे गैर-निष्पादनकारी परिसम्पत्तिया जो 1996-97 मे औसतन 9 प्रतिशत थी, सरकार उन्हे वर्ष 2000-2001 तक 5% से नीचे के स्तर पर लाने के लिए प्रयासरत् है। गैर-निष्पादनकारी परिसम्पत्तियो (NPA) को कम करने के लिए ऋण वसूली न्यायाधिकरणों को सुदृढ किया जाएगा और सभी राज्यो को इनके अन्तर्गत लाने के लिए अधिक न्यायाधिकरण स्थापित किये जायेगे। बैंकों के गिरते हुए स्तर को सुदृढ करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक, बैंको के लिए न्यूनतम आवश्यक पूँजी पर्याप्तता अनुपात 31 मार्च, 2000 तक वर्तमान 8% से बढाकर 9% और इसके पश्चात् यथा शीघ्र 10% कर रहा है।

बैंकिंग क्षेत्र मे सुधार के साथ-साथ बीमा क्षेत्र को भी सुधार की ओर आगे बढाना आवश्यक है। इस क्षेत्र में अब तक सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार रहा है। इस बजट मे नागरिको को बेहतर बीमा कवच उपलब्ध कराने और आधारभूत सरचना के वित्त पोषण हेतु, दीर्घकालीन ससाधनो के प्रवाह को बढ़ाने के लिए बीमा क्षेत्र को भारतीय निजी कम्पनियो के साथ प्रतियोगिता के लिए खोलने का प्रावधान है।

वर्तमान विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम, 1973 (फेरा) को निरस्त कर उसके स्थान पर एक नया विदेशी मुद्रा-प्रबन्ध अधिनियम (फेमा) लाने का निर्णय लिया है जो आधुनिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप होगा। यह नया विधेयक ससद के इस सत्र मे पेश किया जायेगा।

भारतीय प्रतिभूति एव विनिमय बोर्ड (सेबी) ने बाजार मे अधिक नगदी की सुरक्षा एव प्रवाह के लिए अधिक अवसर प्रदान करने के उपाय के रूप मे 'स्टाक इडेक्स फ्यूचर्स' में व्यापार शुरू करने का अनुमोदन कर दिया है। सरकार प्रतिभूति सविदा (विनियमन) अधिनियम मे आवश्यक सशोधन लायेगी ताकि व्युत्पन्न विलेखों को प्रतिभूतियो के रूप में माना जा सके। वर्तमान मे विदेशी सस्थागत निवेशको (एफ. आई. आई) की ऋण निधियों को केवल सूचीकृत ऋण प्रतिभूतियों मे निवेश करने की अनुमति है। इस बजट में उन्हें असूचीकृत घरेलू ऋण प्रतिभूतियो मे भी निवेश करने की अनुमति प्रस्तावित है। चूक के मामले में जोखिम विदेशी सस्थागत निवेशको द्वारा वहन किया जायेगा। दलालो की सेवाये आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए पूँजी अनुलाभ कर लगाये बिना अपने कारोबार के निगमीकरण के लिये शेयर दलालो को गत वर्ष तक एक बार की अनुमति दी गयी थी। सरकार इस छूट को एक वर्ष तक बढाना चाहती है।

व्यक्तिगत अनिवासी भारतीय के लिए कम्पनी की कुल इक्विटी के एक प्रतिशत और एन आर.आई. विदेशी कम्पनी निकाय के लिए कपनी मे कुल एन आर आई/ओ सी बी निवेशो के लिए 5% सीमा की शर्त पर द्वितीयक बाजार मे भारतीय कम्पनियों के शेयर खरीदने के लिए NRI को स्वीकृति दी। इस बजट में व्यक्तिगत निवेश सीमा 1% से बढाकर 5% करने और कम्पनी मे सभी NRI निवेशो के लिए 5% से बढाकर 10% करने का प्रस्ताव रखा गया है। भारतीय यूनिट ट्रस्ट एक 'न्यु इण्डिया मिलेनियम योजना' आरम्भ करेगा जो केवल NRI द्वारा डालरो मे अशदान के लिए खुलेगी। इस योजना के अन्तर्गत सग्रहित धन का भारतीय कम्पनियो के शेयरो में निवेश किया जायेगा जिसकी वृद्धि की काफी क्षमता होगी और अच्छे किस्म के भारतीय ऋण की सुविधा होगी। इस योजना के ब्यौरे की घोषणा शीघ्र की जायेगी।

भारतीय स्टेट बैंक NRI द्वारा अशदान के लिए विदेशी मुद्राओं के रूप मे एक नया 'रिसरजेंट इण्डिया बाण्ड' शुरू कर रहा है। इससे अनिवासी भारतीयों को हमारे देश के विकास विशेषकर आधारभूत सरचना निर्माण के लिए ससाधनों की प्राप्ति मे योगदान करने मे मदद मिलेगी। यह बाण्ड पूर्ण रूप से स्वदेश लौटाने योग्य होगे और सरकार इन बाण्डों के लिए वही रियायतें देगी जो NRI जमा राशियों पर इस समय उपलब्ध है। सरकार ने विदेश में रहने वाले और विदेशी पासपोर्ट रखने वालों के

लिए भारतीय मूल का व्यक्ति (PIO) कार्ड जारी करने की एक योजना तैयार करने का निर्णय लिया है। ये कार्ड वीसा मुक्त प्रणाली शुरू करने के अतिरिक्त कुछ विशेष आर्थिक शैक्षणिक वित्तीय और सांस्कृतिक लाभ भी प्रदान करेगी।

विनिवेश/निजीकरण/लोक उद्यम से सम्बद्ध सुधार

(Reforms Related to Invest/Privatization/Public Sector)

नियमित बजट को चालू वर्ष मे विनिवेश से 5000 करोड़ रुपये प्राप्ति का श्रेय जाता है। प्रक्रिया मे तेजी लाने के लिए सरकार ने IOC गेल VSHL और कॉनकर से इक्विटी के विनिर्दिष्ट भाग का विनिवेश करने का निर्णय लिया है। इंडियन एयरलाइन्स की पुनर्संरचना करने की समग्र नीति के रूप मे और उनकी क्षमता के विस्तार के लिए सरकार ने इंडियन एयरलाइन्स की पूजी को पुनर्गठित करने और साथ ही इस कम्पनी मे तीन वर्षों मे चरणबद्ध विनिवेश करने और सरकार की इक्विटी धारिता 49% तक नीचे लाने का निर्णय लिया है।

वर्तमान मे जब कोई इकाई बन्द होती है तो उसमें कार्यरत कामगार उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम के अन्तर्गत केवल छटनी के लिए प्रति पूर्ति प्राप्त करने के हकदार है जो सेवा के प्रत्येक पूर्ण वर्ष के सम्बन्ध मे केवल 15 दिन की मजदूरी के बराबर है। इस प्रति पूर्ति पैकेज को आकर्षक बनाने के लिए स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना पैकेज के लाभों को लागू करने का प्रस्ताव है अर्थात् सेवा के प्रत्येक पूर्ण वर्ष के लिए 45 दिवसों की मजदूरी प्रदान की जायेगी जो इन सरकारी क्षेत्र की इकाइयो के बन्द होने के समय सभी कामगारो के सम्बन्ध में उनके बकाया सेवा वर्षों के आधार पर अधिकतम मजदूरी अथवा सचित वेतन के अधीन होगी। पैकेज और सुधार के रूप में इन इकाइयों के कामगार यदि उन्होने अधिकतम 30 वर्षों की सेवा पूर्ण कर ली है तो वे अधिकतम 60 महीनों अथवा 5 वर्ष का वेतन अथवा मजदूरी प्राप्त करने के पात्र होगे।

वर्ष 1998 99 का बजट अनुमान

(Budget Estimate of Year 1998 99)

वर्ष 1998 99 के लिए कुल व्यय का अनुमान 2 68 107 करोड रुपये लगाया गया था। इसमे 72 002 करोड़ रुपये केन्द्रीय राज्यो एव सघ राज्य क्षेत्रो की आयोजना के सम्बन्ध मे बजटीय सहायता के रूप मे उपलब्ध कराये गये हैं और शेष 1 96 105 करोड रुपये की राशि आयोजना भिन्न व्यय के लिए है। बजट सहायता 1997 98 के सशोधित अनुमानो मे मौजूद 60 630 करोड रुपये से बढाकर 11 372 करोड रुपये हो गयी है जो अब तक की सर्वाधिक बढोत्तरी है यहा तक कि प्रतिशतता के रूप मे 18 8 प्रतिशत की यह बढोत्तरी एक वर्ष को छोडकर पिछले दशको मे सर्वाधिक रही है।

आयोजना व्यय (Planning Expenditure)

1 05 187 करोड रुपये का उक्त केन्द्रीय आयोजन परिव्यय पिछले वर्ष के 81 033 करोड रुपये के स्तर की तुलना मे 24 154 करोड रुपये अधिक है। केन्द्रीय आयोजना व्यय से सम्बद्ध सकल बजटीय सहायता को 1997 98 के सशोधित अनुमानो मे 33 629 करोड रुपये से बढाकर 42 464 करोड रुपये किया जा रहा है। इस बकाया राशि की पूर्ति केन्द्रीय सरकारी क्षेत्र के उद्यमो के आन्तरिक तथा बजट बाह्य ससाधनो से की जायेगी। केन्द्रीय आयोजना के लिए सकल बजटीय सहायता मे विदेशी सहायता प्राप्त परियोजनाओं के लिए की गयी 5741 करोड रुपये की व्यवस्था भी की जायेगी।

कृषि मत्रालय के लिए आयोजना आवटन मे 58% की वृद्धि करके उसे 1 807 करोड रुपये से बढाकर 854 करोड रुपये कर दिया गया है।

ग्रामीण क्षेत्र और रोजगार मत्रालय के लिए आयोजना आवटन की राशि को बढाकर 9912 करोड रुपये की जा रही है जो वर्ष 1997 98 की सशोधित अनुमान की 8 536 करोड रुपये की राशि से 1 556 करोड रुपये अधिक है।

स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मत्रालय के लिए आयोजना आवटन राशि बढाकर 3,684 करोड रुपये है जो वर्ष 1997-98 के सशोधित अनुमान 2,747 करोड रुपये की तुलना मे 34% की वृद्धि है।

शिक्षा विभाग के लिए आयोजना आवटन की राशि 3,351 करोड रुपये से बढाकर 4,215 करोड रुपये कर दी गयी है।

कल्याण मत्रालय के लिए आयोजना आवटन की 804 करोड रुपये की राशि मे 91 प्रतिशत की वृद्धि करके उसे 1,539 करोड रुपये किया जा रहा है। इससे राष्ट्रीय पिछडा वर्ग वित्त और विकास निगम के लिए 92 करोड़ रुपये, राष्ट्रीय अल्पसख्यक विकास और वित्त निगम के लिए 41 करोड रुपये राज्य अनुसूचित जाति विकास निगमो के शेयर पूँजी अशदान के लिए 60 करोड रुपये, राष्ट्रीय विकलाग वित्त और विकास निगम के लिए 28 करोड रुपये और राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी विकास और वित्त निगम के लिए 10 करोड रुपये की राशि शामिल है।

परमाणु ऊर्जा विभाग के लिये आयोजना आवटन की राशि मे 68% की वृद्धि करके 828 करोड रुपये से 1,391 करोड रुपये की जा रही है और अतरिक्ष विभाग के लिए आयोजना आवटन में 62% की वृद्धि करके इसे 850 करोड़ रुपये से 1,381 करोड रुपये किया जा रहा है।

गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों की क्षमता का पता लगाने के लिए गैर पारम्परिक ऊर्जा मत्रालय का आयोजन आवटन 190 करोड रुपये से दुगुने से अधिक बढाकर 404 करोड रुपये किया जा रहा है।

पर्यावरण एव वन मत्रालय के लिए आयोजना आवटन व्यय की 440 करोड रुपये की राशि मे 60% वृद्धि करके उसे 704 करोड रुपये किया जा रहा है।

नागर विमानन और पर्यटन मत्रालय के लिये बजटीय समर्थन 122 करोड रुपये के तिगुने से भी अधिक बढाकर 379 करोड़ रुपये किया जा रहा है।

महिला और बाल विकास विभाग के लिए आयोजना आवटन 1,026 करोड रुपये से बढाकर 1,226 करोड़ रुपये किया जा रहा है।

वर्ष 1997-98 के सशोधित अनुमानो मे 27,001 करोड़ रुपये की तुलना मे वर्ष 1998-99 के बजट अनुमानों मे केन्द्रीय आयोजना सहायता के रूप मे राज्यो एव सघ राज्य क्षेत्रो को 28,538 करोड रुपये दिये जायेंगे। राज्य की आयोजनाओ के लिए सामान्य केन्द्रीय सहायता 12,888 करोड रुपये से बढाकर 15,037 करोड रुपये किया जाना प्रस्तावित है। जन-जातीय उप-आयोजना के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता 330 करोड रुपये से बढाकर 380 करोड रुपये की जानी प्रस्तावित विदेशी सहायता प्राप्त परियोजनाओं के लिए अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता की राशि 5,000 करोड रुपये रखी गई है। बुनियादी न्यूनतम सेवाओ और गदी बस्तियो के विकास की स्कीमो के लिए सहायता की राशि 2,873 करोड़ रुपये से बढाकर 3,760 करोड रुपये की जानी प्रस्तावित है।

100 करोड रुपये की व्यवस्था सहित गैर ऋणी किसानो को शामिल करने के लिए 24 चुनिंदा जिलों में एक नई प्रायोगिक फसल बीमा योजना प्रारम्भ की जा रही है।

60 करोड रुपये की व्यवस्था सहित कपास या प्रौद्योगिकीय मिशन की एक नयी योजना प्रारम्भ की जा रही है।

25 करोड रुपये की व्यवस्था सहित राष्ट्रीय उद्यानो और परियोजना क्षेत्रो से विस्थापित जनजातियो के पुनर्वास की एक नयी योजना प्रारम्भ की जा रही है।

वर्ष 1998-99 में कुल आयोजना भिन्न व्यय वर्ष 1997 98 के सशोधित अनुमानों मे 1,74,615 करोड़ रुपये की तुलना में 1,96,105 करोड रुपये होना अनुमानित है।

ब्याज भुगतानों के लिए प्रावधान वर्ष 1997-98 के सशोधित अनुमानो मे 65,.00 करोड़ रुपये से बढकर 75,000 करोड रुपये हो गया है।

रक्षा व्यय के लिए प्रावधान वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमान मे 36,099 करोड रुपये से काफी बढ़ाकर 41,200 करोड़ रुपये हो गया है।

वर्ष 1998-99 में खाद्य सब्सिडी के लिए 9,000 करोड रुपये की राशि निर्धारित की जा रही है, जो वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानों की तुलना मे 1,500 करोड़ रुपये की वृद्धि प्रदर्शित की गयी है। चीनी के लिए सब्सिडी हेतु प्रावधान 400 करोड़ रुपये रखा गया है।

यूरिया की बिक्री मूल्य मे परिवर्तन के अनुसरण मे देशी नाइट्रोजनी उर्वरको पर सब्सिडी वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमान की 6,600 करोड़ रुपये की राशि से घटाकर 6,000 करोड रुपये की जा रही है। फॉस्फेटी और पोटाश उर्वरको पर सब्सिडी वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानों में 2,600 करोड़ रुपये की राशि से बढाकर 3,000 करोड रुपये की जा रही है।

वर्ष 1998-99 मे राज्यो मे अनुदान की राशि वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानों में 4,114 करोड़ रुपये से बढाकर 6,314 करोड रुपये की जा रही है, जो 2,200 करोड रुपये की वृद्धि प्रदर्शित करती है। इसमे से 950 करोड रुपये की वृद्धि विश्वविद्यालयो और कॉलेजो के शिक्षकों के वेतन और भत्तो मे सुधार के लिए राज्यो को सहायता देने के कारण हुई। शेष वृद्धि दसवे वित्त आयोग की सिफारिश के अधिक अनुदान के कारण है।

पेंशन के लिए प्रावधान वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानो की तुलना मे केवल 459 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 7,342 करोड़ रुपये किया जा रहा है। यह व्यवस्था करते समय सेवा निवृत्ति की आयु सीमा को 58 से बढाकर 60 वर्ष करने के सरकारी निर्णय के प्रभाव को ध्यान मे रखा गया है।

मुख्यत रुग्ण और स्थिति सुधार रहे सरकारी क्षेत्र के उपक्रमो के कर्मचारियो को वेतन और मजदूरी के भुगतान के लिए सरकारी क्षेत्र के उद्यमो की आयोजना भिन्न ऋण हेतु 1,482 करोड रुपये का प्रावधान किया गया है।

राजस्व प्राप्तियाँ
(Revenue Collection)

कराधान की मौजूदा दरो पर सकल कर राजस्व 1,48,506 करोड रुपये होना अनुमानित है। स्वैच्छिक आय प्रकटीकरण योजना 1997 की आय मे राज्यो के हिस्से के लिए 1997-98 के संशोधित अनुमान मे 7,594 करोड़ रुपये का प्रावधान किया था क्योकि 31 मार्च 1998 तक 10,050 करोड रुपये का संग्रहण अनुमानित था तथापि वास्तविक संग्रहण लगभग 1,000 करोड रुपये कम हुआ है। राज्यो को अदा किये गये अधिक हिस्से के लिए समायोजन करने के बाद में राज्यो को करो के हिस्से के रूप मे 39,074 करोड रुपये प्रदान किये जायेगे। अत वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानो मे 9,158 करोड रुपये की तुलना मे केन्द्र का कर राजस्व 10,943 करोड रुपये होगा। कर भिन्न राजस्व का वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमानो मे 39,356 करोड रुपये से बढकर इस वर्ष 45,137 करोड रुपये होना अनुमानित है। भिन्न प्राप्तियाँ सहित केन्द्र की निवल राजस्व प्राप्तियाँ वर्ष 1997-98 के संशोधित अनुमान में 1,38,574 करोड रुपये से बढाकर वर्ष 1998-99 में 1,54,569 करोड रुपये होने की आशा है। पूँजी प्राप्तियो के क्षेत्र मे बाजार उधार की राशि 55,931 करोड रुपये ऑकी गयी। निवल विदेशी सहायता 2,337 करोड रुपये होना अनुमानित है।

अतिरिक्त साधन संग्रह एवं कर प्रस्ताव
(Extra Resources Collection and Tax)

वित्तमन्त्री के द्वारा दिये गये बजट वर्ष 1998-99 मे कहा कि पिछले वर्ष लागू की गई कर दरे काफी संतुलित है। व्यक्तिगत कर या कपनी के किसी भी कर ढॉचे मे कोई परिवर्तन लागू नहीं किया जायेगा।

(i) प्रत्यक्ष-कर (Direct Tax)

वित्तमन्त्री द्वारा सीमान्त स्तर पर करदाताओं द्वारा अनुभव की जा रही कठिनाइयो पर विचार करते हुए कर सम्बन्धी छूट का स्तर 40,000 रुपये की वर्तमान सीमा से बढाकर 50,000 रुपये किया जा रहा है।

वेतनभोगी, जिनकी आय 1 लाख रुपये तक है उनकी मासिक कटौती की उच्चतम सीमा 20,000 रुपये से बढाकर 25,000 रुपये करने का प्रस्ताव है। वेतनभोगी जिनकी आय 1 लाख रुपये और 5 लाख रुपये के बीच हो के लिए वर्तमान स्थिति मे कोई परिवर्तन प्रस्तावित नहीं है।

चिकित्सा व्यय की कर मुक्त प्रतिपूर्ति की उच्चतम सीमा को भी 10,000 रुपये से बढाकर 15,000 रुपये करने का प्रस्ताव है।

भारत में कर निर्धारितियो की कुल सख्या देश की जनसख्या की 1 25% से भी कम है। इस समस्या को हल करने के लिए वित्तमन्त्री ने एक योजना बनायी है जिसके अन्तर्गत कर जाल के दो अतिरिक्त मानदण्ड जैसे -- क्रेडिट कार्ड रखना और महँगे क्लबो की सदस्यता शामिल करने के लिए बढाया जा रहा है जिससे कुल पैरामीटर छ हो जायेंगे। यदि कोई व्यक्ति इन छ मानदण्डो में से एक की पूर्ति करता है तो उसे आयकर विवरणी में दाखिल किया जायेगा। यह सशोधित योजना छ मे से एक" नाम से ज्ञात होगी।

वित्तमन्त्री ने कर अपवचन को एक गभीर बाधा माना है। उन्होने उच्च मूल्य के लेन देनो के सबध में निर्धारितियो के लिए अपनी 'पैन' अथवा 'GIR' सख्या बताना अनिवार्य करना प्रस्तावित किया है। ये लेन-देन निम्न है—

— अचल सम्पत्ति की खरीद व बिक्री
— मोटर वाहनो की खरीद व बिक्री
— 50,000 रुपये से अधिक शेयरो का लेनदेन
— बैंक का नया खाता खोलना
— 50,000 रुपये से अधिक की सावधि जमा राशियाँ
— टेलीफोन कनेक्शन आपटन के लिए आवेदन
— होटलो को 25,000 रुपये से अधिक का भुगतान

आयकर सबधी प्रपत्रो की जटिलता को समाप्त करने के लिए वर्ष 1998-99 के बजट मे वित्तमत्री ने साधारण एक पत्र वाला विवरणी-पत्र जारी किया है जिसे 'सरल' के नाम से जाना जायेगा।

मुकदमेबाजी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों दोनो के लिए अभिशाप रहा है। इसको समाप्त करने के लिए वित्तमत्री ने 'समाधान' नामक योजना शुरू करने का प्रस्ताव रखा है। यह योजना प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर दोनों पर लागू होगी और वर्तमान दरो पर प्रत्यक्ष कर के बकाया भुगतान पर ब्याज तथा जुर्माने की माफी तथा मुकदमा चलाने से मुक्ति प्रदान करेगी। अप्रत्यक्ष करों के मामलो में जहाँ पिछले वर्षों में दरों का समायोजन अधिक रहा है, ब्याज और जुर्माने की माफी और मुकदमा चलाने की मुक्ति सहित शुल्क की 50% छूट उपलब्ध होगी।

वित्तमन्त्री ने 30 सितम्बर, 1998 के बाद दिये गये उपहारो पर कर लगान समाप्त करने का प्रस्ताव रखा तथापि बैंकिंग माध्यमो से प्राप्त होने वाले अनिवासी भारतीयो सहित अनिवासियो से उपहारों पर मौजूदा छूट जारी रहेगी।

आवास निर्माण सम्बन्धी कार्यकलापो को बढावा देने के लिए निम्न प्रस्ताव रखे गये है—

— अनुमोदित आवास परियोजनाओं के लिए कर अवकाश प्रथम पाँच वर्षों के लिए लाभो मे 100% कटौती और परवर्ती पाच वर्षों के लिए 30% कटौती।
— आवास सपत्ति से आय की एवज में वर्धित कटौतियाँ-मरम्मतों तथा सग्रहण प्रभारों के लिए कटौती 1/5वे हिस्से से बढाकर एक चौथाई करना और स्वय कब्जा की गयी सपत्ति के

मामले मे उधार ली गयी पूजी पर ब्याज के लिए कटौती को 15 000 रुपये से बढाकर 30 000 रुपये करना।

— आवासीय सम्पत्ति से हुई हानियो को भावी आय मे इसी शीर्ष के अधीन 8 वर्ष तक आगे लाने की अनुमति दी जायेगी।

— विश्व बैंक से सहायता प्राप्त आवास परियोजना मे सलग्न कम्पनियो के लिए होने वाले लाभों में 50% के बराबर कटौती।

— अदा किये जा रहे किराये के लिये कटौती के सम्बन्ध में धारा 80 को पुन लागू किया जा रहा है।

— धन कर अधिनियम के अधीन वाणिज्यिक परिसरो जैसी कतिपय निर्दिष्ट सम्पत्तियो को छूट।

पर्यावरण के सुधार के लिए जैव अपशिष्ट उत्पाद सग्रहण और प्रससकरण मे लगे उपक्रमो को 100 प्रतिशत कटौती जिसकी अधिकतम सीमा 5 लाख रुपये होगी की अनुमति का प्रस्ताव रखा है।

देश मे खेलकूद को बढावा देने के लिए राष्ट्रीय क्रीडा निधि की स्थापना की योजना है जिसमे दिये गये दानों पर 100% कटौती की सुविधा प्रदान की जायेगी।

औद्योगिक रूप से पिछडे राज्य या जिले मे स्थित औद्योगिक उपक्रमो को प्रदत्त करावकाश को वर्ष 2000 तक बढाने का प्रस्ताव रखा है तथा इसी प्रकार विद्युत क्षेत्र के लिए वर्ष 2003 तक और 1 अक्टूबर 1998 के बाद स्थापित नई शोध शालाओं को कर मुक्त करने का प्रस्ताव रखा गया है।

वित्त मन्त्री ने इसके अतिरिक्त रेडियो पेजिंग सेवाओं और दूरसचार के लिए उपग्रह स्वामियो द्वारा प्रदत्त सेवाओं के लिये करावकाश लाभो का प्रस्ताव रखा है।

यदि कोई फिल्म वाणिज्यिक आधार पर पूर्व वर्ष की समाप्ति से कम से कम 180 दिन पूर्व रिलीज की जाती है तो फिल्म निर्माण या फिल्म के वितरण अधिकारी के अधिग्रहण और लागत पर रीलिज किए जाने वाले वर्ष मे ही पूर्ण परिशोधन की अनुमति दी जाती है जबकि फिल्म बाद मे रिलीज होती है तो पूर्ण परिशोधन की अनुमति नही दी जाती है। वित्त मन्त्री ने 180 दिनो की अवधि को घटाकर 90 दिन करने का प्रस्ताव रखा है। फिल्म निर्माताओं जिन्हे किसी वित्तीय वर्ष मे 5 000 रुपये से अधिक की सभी अदायगियो के सम्बन्ध मे जानकारी देनी होती थी अब केवल 2 500 रुपये से अधिक की अदायगियो मे ऐसा करना होगा।

व्यय कर लगाने के प्रयोजनार्थ होटलो मे कमरे के किराए की सीमा 1 200 रुपये से बढाकर 2 000 रुपये करने का प्रस्ताव है।

भारत मे ईमानदार करदाताओं द्वारा गर्व की अनुभूति और उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की सामाजिक मान्यता की सस्कृति अभी विकसित नहीं हुई है। इस मनोवृत्ति मे परिवर्तन लाने के लिए वित्त मन्त्री ने सम्मान नामक योजना प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखा है। करदाताओं और स्थायी खाता सख्या धारको को प्रदत्त सुविधाओं और मान्यताओं के ब्यौरे अलग से घोषित किये जायेगे।

(ii) अप्रत्यक्ष कर (Indirect Tax)

सभी उत्पादो को बढावा देने के लिए सभी आयातो पर 8% कर गैर आशोधित मूल्य योजित कर आरोपित किया गया है। एक विशेष टैरिफ सरचना के तहत कच्चे तेल अखबारी कागज पूजीगत माल यात्रियों व नामित एजेंसियों द्वारा आयातित सोना चाँदी तथा सीमा शुल्क से मुक्त जीवन रक्षक औषधियो पर यह विशेष शुल्क लागू नहीं होगा।

स्वर्ण के आयात पर आयात शुल्क को मौजूदा 220 रुपये प्रति 10 ग्राम के स्थान पर 250 रुपये प्रति 10 ग्राम किया जा रहा है। तीन दिन से अधिक समय तक विदेश में रहने के बाद यात्रियो द्वारा अपने साथ लाए सामान पर शुल्क मुक्ति की सीमा को 6 हजार रुपये से बढाकर 12 हजार रुपये (नेपाल भूटान म्यामार या चीन से 3 दिन के प्रवास के बाद विमान द्वारा लौट रहे यात्रियों के लिए 3 000 रुपये) करने का प्रस्ताव बजट में किया गया है।

नये बजट मे कच्चे तेल के आयात पर आयात शुल्क 27% से घटाकर 22% किया गया है। इसे सन् 2001 तक 5% तक लाने का लक्ष्य है। इसके विपरीत मोटर स्थिरीत के आयात पर आयात शुल्क 20% से बढाकर 35% तथा समानातर विपणन के लिए आयातित केरोसिन पर 2% के विशेष शुल्क सहित 32% सीमा शुल्क का प्रस्ताव किया गया है।

लघु उद्योगों को राहत प्रदान करने के लिए इनके लिए केन्द्रीय उत्पाद शुल्क से छूट की सीमा को पूर्व के 30 लाख रुपये से बढाकर 50 लाख रुपये करने का प्रस्ताव रखा गया है।

पैकेट बद चाय ब्राडेड मक्खन पनीर और घी ब्राड युक्त मसालों मास और मछली 1800CC तक के ट्रेक्टर एव चश्मो के शीशो एव फ्रेम सहित कुछेक वस्तुओं पर 8% उत्पाद शुल्क आरोपित किया गया है।

चिकित्सा यन्त्रो एव प्रदूषण नियत्रक उपकरणो पर उत्पाद शुल्क 5% से बढाकर 8% व माल्ट कुछ प्रकार के डिब्बों धूप के चश्मो तथा गैर रिकार्डेड आडियो कैसिटो आदि पर यह 8% से बढाकर 13% किया गया था।

हथियारो एव गोला बारूद पर यह 18% से बढाकर 25% किया गया है। बहुप्रयोजनीय वाहनो पर उत्पाद शुल्क को 25% से बढाकर 30% सगमरमर की टाइल्स पर 35 रुपये प्रति वर्गमीटर से बढाकर 40 रुपये प्रति वर्ग मीटर किया गया है। सिगरेटो पर भी उत्पाद शुल्क मे वृद्धि की गई है।

10 अश्वशक्ति तक के डीजल इजनो पर उत्पाद शुल्क 13% से घटाकर 8% चिकित्सा दस्तानो पर 18% से घटाकर 8% इलैक्ट्रानिक कैलकुलेटरो पर 18% पेजर पर 18% से घटाकर 13% सेल्युलर फोन पर 25% से घटाकर 18% PVC यौगिक पर 25% से घटाकर 18% करने के प्रस्ताव बजट मे किये गये है।

फ्लापी डिस्क ड्राइब्स हार्डडिस्क ड्राइव्स और सीडीटोम ड्राइव्स पर शुल्क 12% से घटाकर 5% एक हजार रुपये से अधिक आई सी पर शुल्क कम करके 5% कम्प्यूटर पुर्जों पर PPCB को छोड़कर शुल्क 15% से घटाकर 12% PPCB पर शुल्क 25% से घटाकर 22% कम्प्यूटर के रगीन मानिटरो के लिए कैथोड किरण ट्यूबो पर शुल्क 15% से घटाकर 5% और दूरसचार साफ्टवेयर पर शुल्क 40% से घटाकर 30% करने के प्रस्ताव बजट मे किये गये हैं।

माचिस नाइलॉन फिलामेंट व एल्कोहल आधारित प्रसाधन निर्मितियो आदि पर भी उत्पाद शुल्क में कमी की गई है। रिकार्डेड आडियो कैसिटों को उत्पाद शुल्क से छूट दी गई है। भारतीय राष्ट्रीय हाइवे प्राधिकरण के ससाधनो मे वृद्धि करके सडको के विकास के लिए राशि जुटाने को पेट्रोल पर 1 रुपये प्रति लीटर का अतिरिक्त कर लगाया गया है। इससे 790 करोड रुपये प्राप्त हो सकेगे।

1998 99 के बजट मे चाकलेट माल्टयुक्त खाद्य निर्मितियो काचित टाइल्स रेजर ब्लेड रेडियो सेट घरेलू विद्युत उपकरणो और पान मसालो जैसी कुछ और वस्तुओं का भी अधिकतम खुदरा मूल्य (M R P) आधारित शुल्क प्रणाली के दायरे में लाया गया है तथा वास्तुकार आन्तरिक सज्जाकार प्रबन्ध परामर्शदाता चार्टर्ड लेखाकार लागत लेखाकार कम्पनी सचिव निजी सुरक्षा सेवाए स्थावर सम्पदा ऐजेंट बाजार अनुसधान एजेंसियों व बडे पशुओं के लिए यत्रिकृत साधनो का प्रयोग कर रहे बुचड़खाने की सेवाओं पर 5% सेवा कर के दायरे मे लाया गया है जबकि अन्य 3 सेवाओं माल ढुलाई आउटडोर केटरिंग व पडाल निर्माण को इस कर के दायरे से बाहर रखा गया है।

डाक दरो मे भी वृद्धियाँ की गयी हैं। इनमें प्रतियोगिता पोस्ट कार्डों का मूल्य 2 रुपये से बढाकर 3 रुपये अन्तर्देशीय पत्र का 1 रुपये से बढाकर 1 50 रुपये लिफाफे का 2 रुपये से बढाकर 3 रुपये करना शामिल है।

बजट में प्रस्तावित सीमा शुल्क सम्बन्धित प्रावधानो से 3 304 करोड़ रुपये उत्पाद शुल्क सम्बन्धी प्रस्तावों से 5 009 करोड रुपये सेवा कर सम्बन्धित प्रस्तावों से 220 करोड रुपये तथा डाक दरों की पुनर्सरचना से 270 करोड रुपये की अतिरिक्त प्राप्तिया अनुमानित की गयी है।

सीमा शुल्क व उत्पाद शुल्क से सम्बन्धित कतिपय श्रेणियो के विवादो को निपटाने के लिए एक समझौता आयोग गठित करने का प्रस्ताव भी बजट मे दिया गया है ।

बजट के महत्त्वपूर्ण विन्दु
(Main Points of Budget)

बजट के निम्न प्रमुख उद्देश्य निश्चित किए गये है—

1 ग्रामीण आधारित सरचना विकास निधि (RIDF) के लिए 3 000 करोड़ रुपये आवटित किये गये है ।

2 चालू वित्त वर्ष से नाबार्ड की शेयर पूँजी मे 500 करोड रुपये की वृद्धि का प्रस्ताव जिसमें 100 करोड़ रुपये केन्द्र सरकार द्वारा एव शेष 400 करोड रुपये रिजर्व बैंक द्वारा उपलब्ध कराए जायेंगे ।

3 स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण आवास योजना के तहत राष्ट्रीय आवास बैक द्वारा गत वर्ष की 50 हजार इकाइयो की तुलना मे चालू वित्त वर्ष में 1 लाख आवासीय इकाइयो को वित्त पोषित करने का लक्ष्य है ।

4 क्षेत्रीय ग्रामीण बैक के पुनर्गठन और पुनर्निर्माण के लिए 265 करोड रुपये का आवटन प्रस्तावित है ।

5 यूरिया का बिक्री मूल्य 1 रुपये प्रति कि ग्रा बढाने का प्रस्ताव जिसे घटाकर 50 पैसे प्रति किग्रा कर दिया गया । विपक्ष के बढ़ते दबाव के कारण वित्तमन्त्री ने यूरिया पर बढ़े हुये बिक्री मूल्य को पूर्णत समाप्त कर दिया ।

6 ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम के लिए आवटन 1997 98 के 1,302 करोड रुपए (सशोधित अनुमान) से बढाकर 1998-99 में 1,627 करोड़ रुपये प्रस्तावित हैं ।

7 भारतीय लघु उद्योग विकास बैक (SIDB) को भारतीय औद्योगिक विकास बैक (IDBI) की सहायक इकाई के स्थान पर स्वतत्र भूमिका राज्य वित्त निगमो (SFCS) मे आई डी बी आई की शेयर धारिता SIDBI को हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव रखा गया है ।

8 1997 98 वर्ष मे विदेशी प्रत्यक्ष निवेश 3 1 अरब डालर रहने का अनुमान है ।

9 हुडको के पूँजी आधार सम्वर्धन हेतु बजट में 110 करोड रुपये का प्रावधान है ।

10 चालू वित्त वर्ष मे 20 लाख आवासीय इकाइयों के निर्माण के लक्ष्य जिसमे 13 लाख ग्रामीण क्षेत्रो एव शेष 7 लाख इकाइयाँ शहरी क्षेत्रो मे होगी । इन्दिरा आवासन योजना के लिए 1998 99 मे 1,600 करोड रुपये का आवटन है ।

11 1998 99 की केन्द्रीय योजना का परिव्यय 1 05 187 करोड रुपये है ।

12 अनिवासी भारतीयो (NRI s) के लिए कम्पनियो मे निवेश की व्यक्तिगत सीमा कम्पनी की इक्विटी के 1% से बढाकर 5% तथा कम्पनी मे सभी N R I निवेशो के लिए यह 5% से बढाकर 10% का प्रस्ताव है ।

13 भारतीय यूनिट ट्रस्ट द्वारा न्यू इडिया मिलेनियम स्कीम प्रारम्भ करने की घोषणा जो NRI s द्वारा डालरो मे खुली रहेगी ।

14 भारतीय स्टेट बैक द्वारा NRI's के लिए विदेशी मुद्राओं के मूल्य मे एक द सर्जेन्ट इडिया बाण्ड शुरू करने की योजना है ।

15 विदेशो मे रहने वाले तथा विदेशी पासपोर्ट रखने वाले भारतीय मूल के लोगो के लिए भारतीय मूल का व्यक्ति (P I O) कार्ड जारी करने की योजना है ।

16 पूर्वोत्तर क्षेत्र के राज्य वित्त निगमो/औद्योगिक विकास निगमों के औद्योगिक ऋणो के लिए पुनर्वित्त कार्य IDBI/SIDBI के स्थान पर 1995 मे गठित पूर्वोत्तर विकास निगम (NEDFC) को सौपने का निर्णय लिया गया है ।

17 शिक्षा के लिए बजटीय आवटन 1997 98 के 4716 करोड रुपये से बढाकर 1998 99 में 7,047 करोड रुपये करने का प्रस्ताव है ।

18 VDIS से वास्तविक प्राप्तियाँ पूर्व अनुमानित 10 050 करोड रुपये से 100 करोड़ रुपये कम है ।

19 बीमा क्षेत्र में घरेलू निजी कम्पनियो के प्रवेश की अनुमति प्रदान की गयी है ।

20 बैंकों के लिए पूजी पर्याप्तता अनुपात को वर्तमान के 8% से बढाकर 31 मार्च, 2000 तक 9 प्रतिशत व इसके बाद यथाशीघ्र 10% करने का लक्ष्य है।

21 बैंको की गैर-निष्पादनकारी परिसम्पत्तियों को 1996-97 मे औसतन 9% से वर्ष 2000-2001 तक 5% से नीचे लाने का लक्ष्य रखा गया है।

बजट का आलोचनात्मक मूल्यॉकन

(Critical Evaluation of Budget)

वर्ष 1998-99 का बजट विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रस्तावो मे समन्वय स्थापित करके बनाया गया है। इस बजट मे भाजपा की 'स्वदेशी' की नीति की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वित्त मन्त्री ने इस बजट में कृषि-क्षेत्र एव लघु-उद्योगो को बढावा दिया है जिससे देश को मजबूत व आत्मनिर्भर बनाया जा सके। लघु-उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए बजट में कई महत्त्वपूर्ण घोषणाऐं की गयी है तथा बीमा क्षेत्र को निजी कम्पनियों के लिए खोलना भी उदारीकरण की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम है। फिर भी इस बजट मे मदी और महँगाई तथा ऋणग्रस्तता जैसी जटिल समस्याओं को नजरान्दाज किया गया है। इसलिए आगामी वर्ष भी विकास की दृष्टि से चुनौती पूर्ण होगे और सरकार को प्रस्तावित कार्यक्रमो को यथासम्भव शीघ्रता से एव सर्वाधिक कार्यकुशलता से लागू करना होगा तभी अर्थव्यवस्था पर गहरा व सकारात्मक प्रभाव पड सकेगा। वर्ष 1998 99 के बजट की विभिन्न क्षेत्रो मे की गयी आलोचनाये निम्न प्रकार है—

(1) बजट में निर्यातों को बढावा देने के लिए ठोस कदम नहीं उठाये गये है। वर्ष 1991 से 1995 तक रुपये की विनिमय दर घटती रही है और हमारे निर्यात बढे है, लेकिन 1996 के बाद रुपये के वास्तविक मूल्य मे वृद्धि हुई है और हमारे निर्यात की वृद्धि दर मे गिरावट आ गई है। वित्तमन्त्री ने बजट मे इसके लिए महत्त्वपूर्ण प्रावधान नही किये है।

(2) औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाये गये। यह भी सही नही है कि सभी आयातो पर 8% आयात कर आरोपित करने से घरेलू उद्योगो की परेशानियाँ दूर होगी। जैसे विदेशी टेलिविजन कम्पनियो के उत्पाद देश के उत्पादो से महगे होगे जिससे घरेलू औद्योगिक उत्पादन तो बढेगा परन्तु विदेशी कम्पनियो के उत्पाद को काफी धक्का लगेगा। साथ ही वित्तीय दबावो के बावजूद सरकारी खर्च मे कटौती नहीं की गयी है और अर्थतन्त्र के आधारभूत क्षेत्रों मे खर्च बढाया गया है। इससे भी माँग में वृद्धि होगी।

(3) आर्थिक प्रतिबन्धो के प्रभाव का सही ऑकलन नहीं किया गया है। ये आर्थिक प्रतिबन्ध मूल रूप से ऋण तथा निवेश पर लगेंगे। बजट मे आशा व्यक्त की गई है कि अगले दो वर्षों मे विदेशी निवेश दुगुना हो जायेगा। वित्तमन्त्री का मानना है कि जो निवेश अनुबन्धित हो चुका है वह तो आना ही चाहिये। सम्भव है ऐसा हो लेकिन यह भी सभव है विदेशी निवेश क्षीण हो जाये। अत वित्त मन्त्री ने इन आर्थिक प्रतिबन्धो से सामना करने के लिए कोई नीति नहीं बनायी है।

(4) व० 1998 99 के बजट से महँगाई बढेगी। अनेक वस्तुओं पर टैक्स लगाये गये है जैसे - पैट्रोल, सिगरेट, अन्तर्देशीय-पत्र, लिफाफे व यूरिया तथा रेल किराया भी बढा है। इससे मुद्रा-स्फीति को बढावा मिलेगा और महँगाई बढेगी।

(5) वित्त-मन्त्री ने बजट मे सरकारी खर्च के रिसाव को रोकने के लिए कोई प्रावधान नही रखा और इसे नहीं रोका गया तो मदी और महँगाई की समस्या बने रहने की पूरी आशका है। सरकार को चाहिये कि इसके लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाये।

(6) बजट में देश पर लदे हुये विकराल ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट सोच नहीं दिखाई देती है। आज परिस्थिति यह है कि टैक्स द्वारा वसूल किये गये प्रत्येक रुपये मे 40 पैसा इस ऋण पर ब्याज की अदायगी मे ही लग जाता है। देश की ताकते पुराने ऋणो की अदायगी के भार से कमजोर हो रही है। रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 1997-98 मे सरकार का कुल ऋण 7,34,000 करोड रुपये था, जिसमे 56,000 करोड रुपये विदेशी ऋण था। यदि सरकार इस ऋण को अदा करदे तो प्रति वर्ष 68,000 करोड रुपये की ब्याज की बचत हो जायेगी।

(7) वित्त-मन्त्री का मानना है कि घाटा कम हो जायेगा और 5.6% तक आ जायेगा। यह सम्भव ही नहीं है क्योंकि रक्षा पर व्यय बढाया गया है। हो सकता है कि उसे और भी बढाना पड़े। सार्वजनिक वितरण प्रणाली से वितरित किये जाने वाले प्रावधान और किसानों को राज-सहायता बढ़ाने के दबाव तथा सार्वजनिक निजी दोनो क्षेत्रों मे सगठित कर्मचारियो की वेतन वृद्धि की मांगों से जितना व्यय बढेगा तो कम होने का ख्याल ही पैदा नहीं होता है।

(8) उ ग्या जबकि समाज के त आय तथा पैतृक सम्पि ो आकर्षक योजनाएँ करो

(9) वर्तमान में ूल त बाजारोन्मुख तथा निजीकरण की पक्षधर राजस्व नीति है जिनके तहत विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए अतिरिक्त छूटो तथा रियायतो पर अनावश्यक जोर दिया गया। वित्त-मन्त्री ने इस विपरीत परिणाम देने वाली राजस्व नीति में न तो कोई फेर-बदल किया और न ही उन्होने भारतीय अर्थव्यवस्था की जड़ता तथा मुद्रा स्फीति के दलदल से निकलने के लिए सार्वजनिक निवेश को बढावा देने के लिए ससाधन जुटाने की दिशा मे कोई सार्थक पहल की है।

(10) आयकर में दी गयी छूट विशेष महत्व नही रखती है क्योकि इससे मध्यम वर्ग को कोई लाभ नहीं होगा। एक तरफ वेतनमानों मे भारी वृद्धि हुई है तथा सामान्य व्यक्ति भी आयकर की गिरफ्त मे आ गया है। इस पर आयकर की छूट सीमा 40 हजार से बढाकर 50 हजार करना तथा मानक कटौती को 20 हजार से बढाकर 25 हजार करने से मध्यम वर्ग की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। मुद्रा-स्फीति के बढने से यह एक कागजी प्रावधान रह जायेगा क्योकि शिक्षा स्वास्थ्य ग्रामीण सरचना आदि पर व्यय अधिक दर्शाया गया है जिससे मुद्रा स्फीति मे वृद्धि होगी और महँगाई बढेगी।

(11) कर सुधार प्रक्रिया के जनक डॉ राजा ती चैलेया के अनुसार वर्ष 1998 99 के बजट में 40 से भी अधिक कर दरे लगाई गयी है जिससे पूरा कर ढॉचा जटिल हो गया है तथा नये नये विवादों को जन्म मिलेगा।

(12) उन्होने कहा कि बजट राजस्व जुटाने वाले विभिन्न प्रावधानो को वापस लिये जाने से वित्तीय घाटा नौ खरब दस अरब से बढकर 10 खरब तक पहुचने को आ गया है जिससे मुद्रा-स्फीति 10 प्रतिशत से भी अधिक होगी।

बजट-निष्कर्ष

वर्ष 1998 99 का बजट स्वदेशी की नीति पर आधारित है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण विकास की ओर ध्यान देने से ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगार के अवसर उपलब्ध होगे। लघु-उद्योगो को प्रोत्साहित करने की घोषणा व्यक्तियो को स्वरोजगार की ओर प्रेरित कर पूर्ण स्वदेशी की परिकल्पना को साकार करने में कारगर सिद्ध होगी। आयकर की सीमा मे छूट कम होते हुए भी विशेष रूप से मध्यम वर्ग के नौकरीपेशा व्यक्तियो के लिए राहत कार्य आर्थिक प्रतिबन्धो के बावजूद सरकार द्वारा सतुलित बजट की घोषणा करना इसका साहसिक एव सराहनीय कदम देश के विकास के लिए निर्णायक साबित होगा।